—: परमार्थ :—

दैवी गुण विकाशक, शान्ति संस्थापक, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार आदि अध्यात्मवाद प्रकाशक

[श्री दैवी सम्पद् महामण्डल का प्रमुख सचित्र मासिक पत्र]

का पञ्चम विशेषाङ्क

चरित्र निर्माण अंक

संस्थापक

पूज्य श्री १०८ श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज

पूज्य श्री १०८ श्री स्वामी भजनानन्द जी महाराज

सम्पादक

स्वामी सदानन्द सरस्वती

सम्पादक मण्डल

सर्वश्री 'मञ्जुल', रामाधार पाण्डेय 'राकेश' साहित्य-व्याकरणाचार्य, पं० गयाप्रसाद त्रिपाठी साहित्यरत्न, पं० हृदयनाथ शास्त्री साहित्यरत्न, रामशंकर वर्मा एम० ए० साहित्यरत्न, रामस्वरूप गुप्त

मुद्रक—अध्यक्ष

परमार्थ प्रेस,

मुमुक्षु आश्रम शाहजहाँपुर

वार्षिक मूल्य—
भारत में ४।)
विदेश में ८)

केवल चरित्र निर्माणाङ्क का मूल्य
भारत में ३।)
विदेश में ५)

आवश्यक-निवेदन

'परमार्थ' के पञ्चम वर्ष का विशेषांक 'चरित्र-निर्माण अंक' आप के कर कमलों में है। इसमें कई रंगीन और सादे चित्र प्रकाशित हुए हैं विगत वर्ष के विशेषांक (दुःख निवारण अंक) के समान ही इसका भी कलेवर रक्खा गया है।

२—जो सज्जन ५।।) अग्रिम भेजकर पूरे वर्ष के ग्राहक बन जायेंगे, उनकी सेवा में ३।।) का रंग बिरंगे चित्रों वाले 'चरित्र निर्माण अंक व परिशिष्टांक' के साथ-साथ शेष दस साधारण अङ्क (मासिक अङ्क जिनकी प्रति का मूल्य ।।) है ऐसे दस अङ्क) प्रति माह मिलते रहेंगे, इस प्रकार यह विशेषांक तो मुफ्त में ही मिल जायगा।

३—'परमार्थ' में किसी प्रकार का विज्ञापन प्रकाशित नहीं होता, इसलिये आर्थिक दृष्टिकोण से इसमें प्रति वर्ष कुछ न कुछ घाटाही रहता है। सार्वजनिक-धार्मिक संस्था की वस्तु होनेकेनाते 'परमार्थ' की हानि आप की निजी हानि है। ऐसी भावना से इसे घाटे से बचाकर स्वावलम्वी बनाना आप का भी नैतिक कर्त्तव्य हो जाता है। आप के यथायोग्य सहयोग से इसकी उन्नति बड़ी सरलता से हो सकती है। लगन और साधारण प्रयत्न से ही आप को अपने परिश्रम में सफलता मिल सकती है। यह कोई बड़ी बात भी नहीं। प्रेमी ग्राहक यदि एक-एक ही नवीन ग्राहक और बना दें तो 'परमार्थ' अपने पैरों पर खड़ा होकर जनता-जनार्दन की अधिक सेवा करता रहेगा। जो प्रेमी सज्जन इसे भगवान् का कार्य समझ कर निःस्वार्थ भाव से 'परमार्थ' के ग्राहक बना रहे हैं उनके हम आभारी हैं।

४—गत वर्ष के अन्तिम अङ्क में प्रकाशित विज्ञप्ति के अनुसार जिन ग्राहकों के मनीआर्डर अथवा ग्राहक न रहने की सूचना पत्र द्वारा नहीं मिली है उनकी सेवा में 'चरित्र निर्माण अङ्क' वी० पी० द्वारा भेजा जा रहा है। यह भी सम्भव है, आप ने उधर से यहाँ मनीआर्डर भेजा हो और इधर से आप की सेवा में वी० पी० पहुँच जावे, ऐसी स्थिति में आप से विनम्र प्रार्थना है कि आप कृपा करके वी० पी० लौटायें नहीं, प्रयत्न करके एक नवीन ग्राहक और बना दें और वी० पी० अवश्य छुड़ालें नवीन ग्राहक का नाम और पता साफ-साफ यहाँ लिख भेजें। आप की इस कृपा से 'परमार्थ' व्यर्थ की हानि से बच जायगा और आप 'परमार्थ' के प्रचार में सहायक बनकर पुण्य के भागी बनेंगे, यह सूचना 'परमार्थ' के अन्य ग्राहकों को भी दे दें।

५—प्रत्येक मास की १५ तारिख को 'परमार्थ' का अङ्क प्रकाशित हो जाता है। ग्राहकों की सेवा में शीघ्र भेजने की चेष्टा करने में भी प्रायः एक सप्ताह तो लग है। कार्यालय से बड़ी सावधानी से अं भेजे जाते हैं किन्तु कभी-कभी डाक विभाग की गड़बड़ी से ग्राहकों को अङ्क नहीं मिलते, ऐसी स्थिति में यदि प्रत्येक मास के अन्त तक अङ्क न मिले तो पोस्ट आफिस में लिखित शिकायत करनी चाहिये। वहाँ से जो उत्तर मिले उसे यहाँ भेज देना चाहिये। कुछ लोग चार-चार पाँच-पाँच अङ्कों की शिकायत एक साथ लिखते हैं। अधिक बिलम्ब होने से पोस्ट आफिस पर शिकायतों का प्रभाव नहीं पड़ता, अतएव इस विषय में सावधानी की आवश्यकता है। जिनके अङ्क बराबर गुम होते रहें उन्हें अपने डिवीजन के 'सुपरिटेन्डेंट आफ़ पोस्ट-आफिसेज' से लिखा पढ़ी करनी चाहिये।

६—विशेषाङ्क के इसी लिफ़ाफे पर आप का जो पता लिखा गया है, उसे कृपया देखलें। इसमें यदि कोई त्रुटि हो और आप कुछ परिवर्तन करना चाहें तो कृपया शीघ्र ही पत्र द्वारा कार्यालय को सूचित कर दें। पत्र व्यवहार में ग्राहक नम्बर लिखना आवश्यक है।

व्यवस्थापक

'परमार्थ' मासिक पत्र के नियम

(१) दैवी-गुणपूर्ण, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य सदाचार समन्वित विचारों द्वारा जनता को परमार्थ पथ पर पहुँचाने का प्रयत्न करना ही इसका उद्देश्य है।

(२) 'परमार्थ' का नया वर्ष १५ जनवरी से आरम्भ होकर १५ दिसम्बर को समाप्त होता है, अतः ग्राहक जनवरी से ही बनाये जाते हैं। वर्ष के किसी भी महीने में ग्राहक बनाये जा सकते हैं किन्तु जनवरी के अङ्क के बाद निकले हुए तब तक के सब अङ्क उन्हें लेने होंगे 'परमार्थ' के बीच के किसी अङ्क से ग्राहक नहीं बनाये जाते; छः या तीन महीने के लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते।

(३) इसका विशेषाङ्कसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्ष में ५॥) और भारतवर्ष से बाहर के लिये ८) नियत हैं। विना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता।

(४) ग्राहकों को चंदा मनीआर्डर द्वारा भेजना चाहिये। वी० पी० से अङ्क बहुत देर से जा पाते हैं और वी० पी० खर्चा ग्राहक को देना पड़ता है।

(५) इसमें बाहर के विज्ञापन किसी भी दर पर प्रकाशित नहीं किये जाते।

(६) कार्यालय से 'परमार्थ' दो तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहक के नाम से भेजा जाता है। यदि किसी मास का अङ्क मास के अन्तिम सप्ताह तक न पहुँचे तो अपने डाकघर से फौरन लिखा पढ़ी करनी चाहिये। डाकघर का उत्तर शिकायती पत्र के साथ न आने से दूसरी प्रति विना मूल्य मिलने में अड़चन हो सकती है।

(७) पता बदलने की सूचना कम से कम १५ दिन पहले कार्यालय में पहुँच जानी चाहिये। लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना व नया नाम-पता साफ-साफ लिखना चाहिये। महीने-दो महीने के लिये पता बदलवाना हो, तो अपने पोस्ट मास्टर को ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये। पता बदलने की सूचना न मिलने पर अङ्क पुराने पते से चले जाने की अवस्था में दूसरी प्रति विना मूल्य न भेजी जा सकेगी।

(८) ग्राहकों को अपना नाम-पता स्पष्ट लिखने के साथ-साथ ग्राहक संख्या अवश्य लिखनी चाहिये। पत्र में आवश्यकता का उल्लेख सर्वप्रथम करना चाहिये।

(९) पत्र के उत्तर के लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है। एक बात के लिये दुबारा पत्र देना हो तो उसमें पिछले पत्र की तिथि तथा विषय भी देना चाहिये।

(१०) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होने की सूचना मनीआर्डर आदि व्यवस्थापक "परमार्थ" मुमुक्षु आश्रम शाहजहाँपुर के नाम से और सम्पादक से सम्बन्ध रखने वाले पत्रादि, सम्पादक "परमार्थ" मुमुक्षु आश्रम शाहजहाँपुर के नाम से भेजने चाहियें।

(११) पुस्तकों सम्बन्धी पत्र मैनेजर पुस्तक विक्रय विभाग के नाम भेजना चाहिये। तथा पुस्तकों का मूल्य अग्रिम भेजना चाहिये।

(१२) स्वयं आकर ले जाने या एक साथ एक से अधिक अङ्क रजिस्ट्री से या रेल से माँगने वालों से चंदा कम नहीं लिया जाता।

(१३) भगवद्भक्ति, भक्तचरित्र, ज्ञान, वैराग्यादि, दैवी गुण विकासक परमार्थ मार्ग में सहायक अध्यात्म-विषयक, आक्षेपरहित लेखों के अतिरिक्त अन्य विषयों के लेख भेजने का कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखों को घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापने का सम्पादक को पूर्ण अधिकार है। अमुद्रित लेख विना माँगे लौटाये नहीं जाते। लेख में प्रकाशित मत के लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं।

विषय-सूची

परिशिष्टाङ्क

चित्र-सूची

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तुनिरामयाः । सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग्भवेत् ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा, बुद्ध्यात्मना वानुसृतःस्वभावात् ॥
करोमि यत्यत् सकलं परस्मै, नारायणायेत्र समर्पयेतत् ॥

वर्ष ५ | मुमुक्षु आश्रम, शाहजहाँपुर १५ जनवरी १९५४ | अङ्क—१
पौष शुक्ला ११ शुक्रवार, सम्वत् २०१०

प्रार्थना

परिमाऽग्ने दुश्चरिताद्बाधस्वामा सुचरिते भज ।
उदायुषा स्वायुषोद स्थाममृतार्थं अनु ॥
(शुक्लयुजुर्वेदीय संहित ४।२८)

परम प्रकाशक जगप्रेरक प्रभु ! कृपा करो अब ऐसी नाथ !
दुराचरण से रोको मुझको सदा चरण से करो सनाथ ॥
उन्नत जीवन लक्ष्य बने मम, दीर्घ आयु प्रभुवर ! पाऊँ ।
योग त्याग युत शोभनायु से दिव्य तत्व तक उठ जाऊँ ॥

परमार्थ-बिन्दु

विचार करो—सुन्दर वस्त्र-आभूषणों से सुसज्जित टी० बी० के रोगी के बीमार-फेंफड़े साधारण केमरे द्वारा खींचे गये फ़ोटो में भले ही न दिखाई दें; परन्तु क्या वे डाक्टर के केमरे (XRay मशीन) द्वारा खींचे गये फ़ोटो में छिपे रह सकते हैं? कदापि नहीं। डाक्टर के केमरे के सामने चाहे तुम सुन्दर रेशमी वस्त्र पहने जाओ—चाहे साधारण खद्दर के, उसके लिये दोनों बराबर हैं—उसे तो फेफड़े स्वस्थ चाहिये। इसी प्रकार, याद रक्खो, इन तेल-साबुन पाउडर-लिपस्टिक तथा फैशनेबुल डिजायनदार वेष-भूषा से शरीर को सजाकर, या इधर-उधर देख-दाखकर रट-रटाकर कितने ही सुन्दर गद्य व पद्य लिखकर अथवा सुनाकर भले ही अपने मन को धोखा दे दो अथवा दुनियाँ से मान-प्रतिष्ठा प्राप्त कर लो परन्तु, निश्चय रक्खो, सुख-शान्ति तो तभी प्राप्त होगी जब आप का चरित्र उच्च होगा।

विचार करो—यों तो लोहा सेरों के भाव से बिकता है पर जब वही मशीन का पुर्जा बन जाता है तो एक-डेढ़ छटाक के पुर्जे की कीमत १००) हो जाती है। जानते हो क्यों? इस लिये कि उसे ऐसा पुर्जा बनने के लिये भट्टी की तपन, घन की चोटें तथा रेती की रगड़ आदि अनेक कष्ट सहन करने पड़े। यदि इस निर्माण काल में वह कष्ट सहन न करके बिखर जाता तो इसकी कीमत १००) क्या एक पैसा भी नहीं होती और मार्ग में पड़ा इधर से उधर ठोकरें खाता रहता। इसी प्रकार, विश्वास रक्खो, मानव शरीर के रहते-रहते यदि सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि दैवी गुणों के धारण तथा झूठ, चोरी, ईर्ष्या, दम्भ, छल-कपट राग द्वेष, आदि दुर्गुणों के त्याग द्वारा अपना चरित्र-निर्माण कर लिया तब इस संसार में तो श्रेय, धन, यश, बल आदि तो प्राप्त होगा ही साथ ही भगवत्प्राप्ति भी हो जायगी, अन्यथा निश्चय जानों, इधर के उधर ठोकरें खाते फिरोगे।

विचार करो—स्वाति नक्षत्र के वर्षा की बूँदें सीप के संग से मोती, केले के संग से कपूर, सर्प के संग से विष हो जाती हैं। इसी प्रकार खूब समझलो कि यह मनुष्य संत के संग से संत, विद्वान के संग से विद्वान, लोभी के संग से लोभी, चोर के संग से चोर बन जाता है। अर्थात बनना और बिगड़ना इसके हाथ में है। यदि बुरे संग का त्याग करके संत विद्वानों का संग करता रहे तो निश्चय ही इसका चरित्र निर्माण हो जायगा।

विचार करो—माली यदि किसी झुके हुए बड़े पेड़ को सीधा करना चाहे तो क्या वह उसे सीधा कर सकता है? कदापि नहीं! यदि वह किसी पेड़ को सीधा चाहता है तो उसे चाहिये कि जब तक वह पौधे रूप में है तभी तक उसे इधर-उधर झुकने न दे; वह यदि झुक जाय तो सहारा देकर सीधा करदे—बस फिर सीधा ही रहेगा। इसी प्रकार निश्चय रक्खो, यदि तुम चाहते हो कि मेरी सन्तान सदाचारी हो तो बचपन से ही उनको सम्हालो—उन्हें बुरे मनुष्यों, बुरी पुस्तकों, बुरे दृश्यों (सिनेमा आदि) तथा बुरे खेलों से बचाओ तथा सत्पुरुषों के सत्संग में रक्खो। देखो! बच्चों में अनुकरण करने की शक्ति प्रबल होती है अतएव उन पर सबसे अधिक असर स्वयं माता-पिता के चरित्र का पड़ता है। इस लिये सबसे पहले तुम अपने निजी चरित्र को ठीक करो। समझे!

"आनन्द"

आर्ष ग्रन्थों में चरित्र महिमा

ॐ यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवेति दूरं गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।
(शुक्ल यजुर्वेदीय ३४।१)

जो जाग्रत और सुप्त दोनों अवस्था में मेरे समीप रहता है। जो समस्त ज्योतियों का ज्योति है वह ईश्वर मेरे मन में शुभ भावनायें उत्पन्न करें जिससे मेरा चरित्र शुद्ध बने।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्, युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम। (ईशावास्योपनिषद्)

हे अग्नि स्वरूप सर्व प्रकाश देव ! हमको परमधन रूप ईश्वर की सेवा के लिये सुन्दर शुभाचरण के मार्ग से ले चलो। हे देव ! आप सम्पूर्ण कर्मों को जानते हो हमारे मार्ग के प्रति बन्धक पापों को दूर कीजिये, हम आप को प्रणाम करते हैं।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥
(गीता ३।२१)

श्रेष्ठ पुरुष जो जो आचरण करते हैं, सामान्य पुरुष भी वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो प्रमाण करता है संसार भी उसी के अनुसार चलता है। अतः तू ऐसे सदाचार का पालन कर, जिस से लोक सुधार हो।

न मानयन्ति ये शास्त्रं नाचारं न बहुश्रुतान् ।
विहितातिक्रमं कुर्युः ते प्राप्नुवन्ति नोन्नतिम् ॥
(ब्रह्मपुराण)

अर्थात्—जो पुरुष शास्त्रों को नहीं मानते और न ज्ञानी पुरुषों की आज्ञानुसार शुभाचरण ही करते हैं तथा वेद विहित कर्मों का अतिक्रमण भी करते हैं वे कभी भी उन्नति को नहीं प्राप्त कर सकते।

ये नराः सत्यमाधत्ते कुर्वन्ति करुणां मुदा ।
चरन्ति शुभाचरणं ते च स्वर्गाधिकारिणः ॥
(मार्कण्डेय पुराण)

अर्थात् जो पुरुष सत्य का आश्रय लेते हैं, समस्त जीवों पर प्रसन्नता पूर्वक दया करते हैं तथा शुभाचरण का पालन करते हैं वे ही स्वर्ग के अधिकारी हैं।

स एव धन्यः पुरुषः स च प्राप्नोति सम्पदाम् ।
स एव पूज्यः जगति चरित्रं यस्य विद्यते ॥
(वाल्मीकीय रामायण)

वह ही पुरुष धन्य है और वह ही संसार में सम्पत्ति पा सकता है। और वह ही जगत् में पूज्य है जो चरित्रवान् है।

चलं वित्तं चलं चित्तं प्राणश्चपलश्च विद्यते ।
चलाचले हि संसारे सच्चरित्रं हि निश्चलम् ॥
(सूक्ति संग्रह)

संसार का समस्त ऐश्वर्य चञ्चल है अर्थात् क्षणभंगुर है मानव की चित्त वृत्तियाँ भी चंचल है प्राण भी चंचल ही है अर्थात् पता नहीं किस समय प्राण निकल जायँ इस चंचल शील संसार में केवल सच्चरित्र ही अचल है। चरित्रवान् पुरुष का नाम ही अजर अमर रहता है।

शरीरस्य गुणानान्तु दूरमत्यन्तमन्तरम् ।
शरीरं क्षणविध्वंसि कल्पान्तस्थायिनो गुणाः ॥
(हितोपदेश)

शरीर और सद्गुण में जमीन आसमान का अन्तर है, शरीर तो क्षण भर में विध्वंस हो सकता है परन्तु सद्गुण कल्पान्त तक स्थित रहेंगे। अतः शरीर को सजाने की अपेक्षा सद्गुणों का संग्रह विशेष करो।

मांस मूत्र पुरीषास्थि निर्मितेऽस्मिन् कलेवरे ।
विनश्वरे विहायाऽऽस्थां यशः पालय मित्र मे

हे मित्र ! इस मल मूत्र भरे हुए तथा मांस हड्डियों से बने हुए क्षणस्थायी शरीर की आसक्ति छोड़कर सच्चरित्रता रूपी यश प्राप्त करो।

श्लाध्यः स एको भुविमानवानाम्,
स उत्तमः सत्पुरुषः स धन्यः ।
यस्यार्थिनो वा शरणागता वा,
नाशाभिभंगाद्विमुखा प्रयान्ति ॥
(पञ्चतन्त्र)

पृथ्वी पर मनुष्यों में वही मनुष्य धन्य है वही उत्तम सत्पुरुष है, जिस के पास आशा कर के आये हुए शरणागत एवं याचक गण विमुख होकर वापस नहीं लौटते ।

आचाराल्लभते ह्यायुराचाराल्लभते श्रियम् ।
आचाराल्लभते कीर्तिः पुरुषः प्रेत्य चेह च ॥
(महाभारत)

इस संसार में आकर मनुष्य को आचार से ही आयु प्राप्त होती है और आचार से लक्ष्मी प्राप्त होती है तथा कीर्ति भी शुभाचरण से ही मिलती है ।

दुराचारो हि पुरुषो नेहायुः विन्दते महत् ।
यस्मात् त्रसन्ति भूतानि तथा परि भवन्ति च ॥
(महाभारत)

जिस पुरुष से प्राणी भयभीत और तिरस्कृत होकर दुःख पाते हैं वह दुराचारी पुरुष यहाँ दीर्घायु नहीं प्राप्त कर सकता ।

विशीला भिन्नमर्यादा नित्यं संकीर्णमैथुनाः ।
अल्पायुषो भवन्तीह नराः निरयगामिनः ॥
(महाभारत)

शील सदाचार रहित मर्यादा का उल्लंघन करननेवाले नित्य मैथुनादि कुकर्मों में लगे रहने वाले मनुष्य अल्पायु होते हैं ।

अक्रोधनः सत्यवादी भूतानामविहिंसकः ।
अनसूयरजिह्मश्च शतवर्षाणि जीवति ॥
(महाभारत)

क्रोध न करने वाला, सत्य बोलने वाला प्राणियों पर अहिंसा करने वाला, ईर्ष्या न करने वाला, कुटिलता रहित व्यक्ति १०० वर्ष तक जीता है ।

परापवादं न ब्रूयान्नप्रियं च कदाचन ।
न मन्युः कश्चिदुत्पाद्यः पुरुषेण भवार्थिनः ॥
(महाभारत)

दूसरे की निन्दा नहीं करनी चाहिये और न कठोरता पूर्वक तथा क्रोध पूर्ण बात ही करनी चाहिये, ऐसा करने वाला आचार से गिर जाता है ।

चरित्रेण न किं लभ्यं येन किन्नैव सिध्यति ।
न हि चरित्रेण सदृशं किञ्चिदिह विद्यते ॥

चरित्र से क्या नहीं प्राप्त हो सकता ? और इससे क्या सिद्ध नहीं होता ? अर्थात् धर्म, अर्थ काम, मोक्ष, सभी पदार्थ प्राप्त हो सकता है । वास्तव में चरित्र के समान इस संसार में कोई भी वस्तु नहीं ।

सुखं शान्ति स प्राप्नोति सर्वे च वशवर्तिनः ।
सिद्धिः करतले तस्य चरित्रं यस्य शुध्यति ॥
(मनुस्मृति)

वह ही सुख शान्ति पाता है, उसी के सब वश में हैं और समस्त सिद्धियाँ उसी के करतल गत हैं जिस का चरित्र शुद्ध है ।

महापुरुषों के दिव्य-सन्देश

दुर्जन यदि विद्वान हो तो भी उसका संग नहीं करना चाहिये क्योंकि मणि से सुशोभित सर्प क्या भयानक नहीं होता ?

—श्री भर्तृहरि

जिस गृहस्थ में सत्य, धर्म, धृति और त्याग ये चार गुण होते हैं उसे इस लोक से जाकर परलोक में शोक नहीं करना पड़ता ।

—भगवान बुद्ध

अपना हित अथवा अनहित मनुष्य स्वयं करता है । आलसी मनुष्य का सर्वस्व नष्ट होजाता है और बुरी संगति से देखते देखते सब कुछ डूब जाता है जिसके मन में कुछ और हो और बाहर कुछ और हो उसका परलोक कैसे सुधर सकता है ? जो दूसरों को तो अच्छे उपदेश देता है, पर स्वयं उसके अनुसार आचरण नहीं करता उसे पठित मूर्ख जानो । —समर्थ स्वामी रामदास

इस देश में हमने दूसरों के अनेक उपदेश सुने। अपने समय के चाहे सबसे महान वक्ता आ जायें, चाहे स्वयं श्रीकृष्ण, बुद्ध और ईसा आकर व्याख्यान दें। किन्तु दूसरे के उपदेशों से तब तक कोई लाभ नहीं हो सकता जब तक तुम अपने आप को स्वयं उपदेश करने को उद्यत नहीं होते। वही अपने को उन्नत कर सकता है जो स्वयं अपने को उपदेश करता है।

—स्वामी रामतीर्थ

नीति अथवा सदाचार का धर्म नित्य है किन्तु दुष्ट और लोभियों के समाज में नीति धर्म पूर्णता से पाले नहीं जा सकते; पर इसका दोष इन नित्य नीति धर्मों को देना उचित नहीं है। सूर्य की किरणों से किसी पदार्थ की परछाई चौरस मैदान पर सपाट और ऊँचे-नीचे स्थान पर ऊँची नीची पड़ती है। किन्तु इससे यह अनुमान नहीं होता कि यह परछाई मूल में ही ऊँची-नीची होगी। इसी प्रकार जब दुष्टों के समाज में नीति-धर्म का शुद्ध स्वरूप नहीं पाया जाता तब यह नहीं कह सकते कि अपूर्ण अवस्था के समाज में पाया जाने वाला नीति-धर्म का अपूर्ण स्वरूप ही मूल का है। यह दोष समाज का है, नीति का नहीं। इसी से चतुर पुरुष शुद्ध और नित्य नीति धर्मों से झगड़ा न मचाकर ऐसे प्रयत्न किया करते हैं कि जिनसे समाज ऊँचा उठता हुआ पूर्ण अवस्था में जा पहुँचे।

—लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक

नीति को जानने वाले, प्रारब्ध को जानने वाले वेदज्ञ और शास्त्रमर्मज्ञ तो बहुत हैं। ब्रह्म को जानने वाले भी मिल सकते हैं। परन्तु अपने अज्ञान को जानने वाले तो विरले ही होते हैं।

—अप्पय दीक्षित

तुम्हारा मित्र ज्यों ही तुम्हें मिले, तभी उसका आदर करो, पीछे उसकी प्रशंसा करो और जरूरत के वक्त बिना संकोच सहायता करो

—अरस्तू

आदमी वह काम तो नहीं करता जो उसके वश में है, परन्तु वह करना चाहता है जो दूसरों के वश में है। अर्थात् वह अपने दोषों का त्याग तो नहीं करता परन्तु दूसरों के दोष छुड़ाना चाहता है।

—मार्क्स ऑरिलियस

यदि हम अपने आसुरी गुणों से ही दूसरे के साथ बर्ताव करेंगे, तो उसके अन्दर से भी वे आसुरी गुण ही निकल कर हम से बर्ताव करने लगेंगे।

—राल्फ वाल्डो ट्राइन

नम्र व्यक्ति का कोई कुछ भी नहीं कर सकता, जैसे कपास की रुई तलवार से भी नहीं कटती।

—रन्नु बाबा

जो मनुष्य दूसरों के सामने तो भगवान की बातें करता है और अपने मन में सदा मान प्राप्त करने की तथा दूसरी सांसारिक चिन्ताओं में लगा रहता है वह कभी न कभी बेइज्जत होकर जरूर आफत में पड़ जाता है। फिर जब कभी वह अपनी कपट भरी चाल को समझ कर अपने को अयोग्य मान कर पश्चाताप करता है और कपट तथा चालाकी को छोड़ कर भगवत्परायण होता है तभी वह समस्त संकटों से छूट जाता है।

—इब्राहीम खैयास

स्वार्थ ही सारे अपराधों और पापों की जड़ है और स्वार्थ की जड़ अज्ञान है।

—राल्फ वाल्डो ट्राइन

सच्ची माता वह है जो अपने बालकों को क्रोध द्वेष और ईर्ष्या रूपी रोगों को प्रेम रूपी दवा से नष्ट करना सिखाती है और असली वैद्य वह है जो आनन्दी-स्वभाव, शुभ-भावना और उत्तम कर्म करने की शिक्षा देता है, जिनसे शरीर और हृदय को बल मिलता है। क्योंकि आनन्दी स्वभाव ही सबसे श्रेष्ठ दवा का काम देता है।

—राल्फ वाल्डोट्राइन

सबके साथ दयालुता का बर्ताव करो, चाहे वे किसी दशा में क्यों न हों। क्रोध की अवस्था में भी दयापूर्ण शब्दों का ही प्रयोग करो।

—जे० सी० बी० बोडे

जो दूसरों को बदनाम करके अपना नाम कमाना चाहते हैं, उनके मुँह पर ऐसी कालिमा लगेगी जो मरने पर भी नहीं धुलेगी ।

—गोस्वामी तुलसीदास जी

सहन शीलता, समय का सदुपयोग, भोगासक्ति का नाश, इष्टदेव का निरन्तर चिन्तन और सद्गुरु की शरण, ये पाँच बातें शीघ्र ही भगवान् से मिलाप करा देती हैं ।

—श्री उड़िया बाबा

जिसमें तुमको नीचा देखना पड़े ऐसा काम मत करो ।

—स्वामी एकरसानन्द जी सरस्वती

दुराचारी से सदाचारी

एक महात्मा जी के पास एक दुराचारी व्यक्ति आया और बोला "महाराज ! आपका जीवन तो बड़ा शान्त एवं निष्पाप है । आप न किसी पर क्रोध करते हैं न किसी से राग द्वेष ! आपका स्वभाव भी कितना सरल प्रेमपूर्ण एवं परोपकारी है । क्या मेरा भी यह पापमय स्वभाव बदल सकता है ? भजन-वजन तो मुझ से होता नहीं महाराज !

महात्मा जी बोले, "मेरी बात तो जाने दे, तुम्हारे मस्तक की रेखा तथा आँखों की पुतलियों को देखने से मालुम होता है कि आज से सात दिन के भीतर ही भीतर तुम्हारी मृत्यु हो जायगी !"

बस अब क्या था ! उसने सोचा इन महात्माजी की बात तो कभी झूठी हो नहीं सकती ! अब क्या करें ? वह दौड़-दौड़ा घर गया—श्रद्धापूर्वक दान-पुण्य करने लगा । बाजार से गीता-रामायण लाकर पाठ-पूजा करने लगा । पंडित जी को बुलाकर श्रीमद्भागवत का सप्ताह बिठादिया । बड़े सोच विचार कर उसने उन सात दिनों को बिताया कि कहीं झूठ-बेईमानी छल-कपट, ब्लेक-मिलावट, चोरी-जारी आदि किसी प्रकार का पाप न हो जावे अन्यथा नरक का अत्यन्त कष्ट भोगना पड़ेगा । न रात को चैन न दिन को हर वक्त मौत का ख्याल बना रहने लगा और हाथ में माला के गुड़िये खटकने लगे । सातवां दिन निकल जाने पर उसने सोचा हो न हो आज रात्रि में मेरी मौत अवश्य हो जायगी । कुटुम्ब परिवार से मोह ममता छोड़कर वह मन्दिर में भगवान के सामने जा बैठा और रात भर "हे नाथ मुझे बचाओ—मैं आपकी शरण हूँ । आप शरणागत वत्सल हैं । मैंने जिन्दगी भर झूठ बोला, चोरी की, गरीबों को सताया, परस्त्री में कुभावना की, दम्भ-छल कपट किया, कहाँ तक गिनाऊं भगवान ! मैं बड़ा पापी हूँ । क्षमा करो नाथ अब भविष्य में नहीं करूंगा । दीनबन्धु, दयासिन्धु मुझे बचाओ मुझे बचाओ ! मैं आपकी शरण हूँ ! इत्यादि" कहता रहा ।

प्रातःकाल सूर्योदय होने पर भी जब उसकी मृत्यु नहीं हुई तो आठवें दिन वह पुनः उन्हीं महात्मा जी के पास गया और बोला, "महाराज ! आप तो कहते थे कि मैं सात दिन में ही मर जाऊँगा; परन्तु आज तो आठवाँ दिन हो गया—मैं मरा तो नहीं ।

महात्मा जी बोले—"भाई ! तुम तो वास्तव में मर चुके । अब तुम वह नहीं हो । तुम अब दूसरे ही हो । बोलो इन सात दिनों में तुमने कितने पाप किये ? कितने दुराचरण किये ? भजन में मन लगा कि नहीं ? मैंने तो तुम्हारे प्रश्न का क्रियात्मक उत्तर दिया था !

"मेरे गुरुदेव" कहते हुए वह उनके चरणों में गिरपड़ा ।

(आनन्द)

सद्व्यवहार से चरित्र-निर्माण

व्यवहार में जिससे जिनका जितना अधिक सम्बन्ध होता है उसे उसका उतना ही निभाना आवश्यक है। किन्तु इन सब सम्बन्धों की अपेक्षा भगवन्मार्ग के पथिकों की मित्रता बढ़कर है। उसकी अनेक युक्तियाँ बतायी गयी हैं। इसके सिवा जो ऐसे लोग हैं, जिनके साथ गहरी प्रीति तो नहीं है, किन्तु सामान्यतया एक सात्त्विक धर्म सम्बन्ध है, उनसे मेल मिलाप रखने की भी कुछ युक्तियाँ हैं। उनका वर्णन नीचे किया जाता है:—

१—जो पदार्थ अपने को अभीष्ट न हो उसकी प्राप्ति दूसरे के लिये भी न चाहें। महापुरुष ने कहा है कि सब जीवों का सम्बन्ध एक शरीर के अंगों की तरह है। यदि एक अंग को कष्ट पहुँचता है तो सारा शरीर ही दुःख पाता है। इसी प्रकार उचित है कि किसी भी जीव के लिये दुःख का संकल्प न करे।

२—कर्म और वचन द्वारा भी किसी को दुःख न दे। किसी महापुरुष ने भी कहा है कि जिस पुरुष की जिह्वा और हाथों से किसी को दुःख नहीं पहुँचता वही धर्मात्मा है। अतः जिह्वा और कर्म को ऐसी मर्यादा में रक्खें कि किसी को किसी भी प्रकार का कष्ट न हो।

३—अभिमान वश अपने को किसी से बड़ा न समझें, क्योंकि अभिमानी पुरुष भगवान् से विमुख होता है। इस विषय में महापुरुष को आकाशवाणी हुई थी कि दीनता और नम्रता को अंगीकार करो तथा अभिमानी न बनो। अतः उचित यही है कि किसी को नीच न समझे। सम्भव है जिसको तुम नीच समझते हो वह कोई सन्त ही हो और तुम उसे पहचानते न हो, क्योंकि बहुत सन्त ऐसे गुप्तरूप से रहते हैं कि भगवान के सिवा और कोई उन्हें पहचान नहीं सकता।

४—यदि तुम्हारे आगे कोई किसी की निन्दा करे तो तुम उसे सुनो मत। विश्वास तो उसी पुरुष का करना चाहिये जो सत्यनिष्ठ हो। निन्दक तो कभी सत्यनिष्ठ होता ही नहीं। एक सन्त का कथन है कि पिशुन(चुगलखोर)और निन्दक अवश्य नरकगामी होते हैं। इसके सिवा यह भी निश्चय जानों कि जो बिना कारण ही तुम्हें दूसरों के दोष सुनाता है वह तुम्हारे दोष भी दूसरों को अवश्य सुनावेगा।

५—सब को पहले ही प्रणाम करो, किसी के भी साथ विरोध न रक्खो और न क्रोधवश किसी से मौन गाँठ कर ही बैठ जाओ। यदि कभी किसी से कोई अवज्ञा भी हो जावे तो क्षमा ही करदो।

६—सबके साथ यथाशक्ति सद्भाव और उदारता का ही बर्ताव करो। किसी की अच्छाई या बुराई की ओर मत देखो। हो सकता है कोई पुरुष तुम से उपकार पाने का अधिकारी न हो, किन्तु तुम्हें तो सबका उपकार करने का अधिकार है ही, अतः तुम तो उपकार ही करो। धर्म की मर्यादा तो यही है, कि सभी पर दया करें।

७—जो अपने से बड़ा हो उसका बड़प्पन रक्खो और जो छोटा हो उसपर दया करो। इसी पर महापुरुष ने कहा है कि जो दूसरों का बड़प्पन रखता है उसका बड़प्पन भगवान दूसरों से रखते हैं।

८—सब से प्रसन्न मुख से मिलो और वचन भी मीठा ही बोलो।

९—जिसे कोई वचन दो उसका अवश्य पालन करो। इस विषय में सन्तों का कथन है कि यदि कोई पुरुष व्रत और भजन में सावधान भी हो, किन्तु उसमें मिथ्या-भाषण, वचन का निर्वाह

न करना और चोरी ये तीन दोष हों तो उसे प्रीतिमान नहीं कह सकते, उसका भजन भी पाखण्ड के लिये ही होता है।

१०—किसी के दोषों को प्रकट मत करो, दोषों को गुप्त रखने से उसके पाप भी पर्दे में रहेंगे। इसी पर महापुरुष ने कहा है कि तुम्हारा धर्म तभी पक्का होगा जब तुम लोगों के दोषों को छिपाओगे और किसी की त्रुटियों को न खोजोगे, क्योंकि जब कोई पुरुष किसी के दोषों को उखाड़ता है तो भगवान् उसकी त्रुटियों को उखाड़ देते है। देखो यदि कोई किसी से किसी के पापों का वर्णन कर रहा हो तो तुम उस ओर कान लगा कर मत सुनो।

११—तुम स्वयं दूषित कर्म न करो, क्योंकि जब तुम्हारा अपकर्म प्रकट होगा तो लोग तुम्हारी निन्दा करेंगे अथवा तुम्हें देखकर ही उनका चित डाँवाडोल होगा। इससे तुम्हें और भी अधिक पाप का भागी होना पड़ेगा।

१२—यदि तुम्हारे बचनों से किसी को शान्ति प्राप्त होती हो तो तुम आलस्य न करो।

१३—यदि कोई व्यक्ति किसी को कष्ट पहुँचाता हो तो तुम उस दुःखी पुरुष की सहायता करो और यदि कोई किसी के पीछे उसका धन चुराता हो तो उस धन की रक्षा करो, क्योंकि जो किसी दीन पुरुष की सहायता करता है भगवान उसकी सहायता करता है।

१४—यदि कोई पुरुष कुसंग में फँस गया हो और तुम वहाँ से छुड़ाना चाहो तो उसे कोमल वचनों से समझाओ, उसे देखकर कठोर बचन मत बोलो।

१५—निर्धनों के साथ प्रीति रक्खो, क्योंकि धनवानों का संग करने से मनुष्य प्रमादी हो जाता है। कहते हैं—एक संत ने भगवान् से प्रार्थना की कि प्रभो! मैं तुम्हें कहा ढूँढ़ूँ? तब आकाशवाणी हुई कि जिनके हृदय में आधीनता है उन्हीं के हृदय में मेरा निवास है।

१६—सबको सब प्रकार सुख पहुँचाओ और उद्यम करके भी अभाव ग्रस्तों की आवश्यकताएँ पूरी करो क्योंकि उनकी सेवा भी भगवान् की ही सेवा है। किसी अभाव ग्रस्त के कार्य में एक मुहूर्त भी तत्पर रहना सौ वर्ष की समाधि से बढ़कर है। इसी विषय में महापुरुष ने कहा था कि सबल और निर्बल की सहायता करो। लोगों ने पूछा कि सबल की सहायता कैसे की जा सकती है? तब महापुरुष बोले कि उन्हें निर्बलों को कष्ट पहुँचाने से रोको। यही उनकी सहायता है। कहीं ऐसा भी कहा है कि किसी के चित्त को प्रसन्न रखने के समान और कोई भजन नहीं है। तथा ऐसा भी कहते हैं कि दो लक्षण सम्पूर्ण गुणों के मूल हैं। (१) हृदय का विश्वास और (२) जीवों को सुख पहुँचाना। इसी प्रकार दो दोष सम्पूर्ण पापों के मूल हैं। (१) हृदय का अविश्वास (२) दूसरों को दुःख पहुँचाना। कहते हैं, कोई भगवत्प्रेमी रुदन कर रहा था। उससे पूछा कि तुम क्यों रोते हो? तब वह बोला, "एक मनुष्य ने मुझे कष्ट पहुँचाया है सो मैं इस लिये रोता हूँ कि जब परलोक में उससे इस विषय में पूछा जायगा तो वह बेचारा क्या जवाब देगा।

१७—यदि किसी को कोई रोग हो जाय तो उसके पास जाकर इस विषय में कुछ पूछताछ करनी चाहिये। उससे यदि कोई मित्रता न हो तो भी रोगी की सुधि लेना बहुत आवश्यक है। अतः रोगी की सब प्रकार सेवा और सहायता करनी चाहिये। तथा रोगी को भी उचित है कि जब कोई उससे कुछ पूछे तो भगवान् को धन्यवाद करे और दुःख का विशेष वर्णन न करे, ऐसा समझे कि इस दुःख द्वारा मेरे सभी पाप नष्ट होंगे। रोग का नष्ट होना

सर्वथा औषधि पर ही अवलम्बित नहीं है। अतः सब प्रकार भगवान का भरोसा करे।

१८—मैने जिस प्रकार ये युक्तियाँ वर्णन की हैं इनको *यथावत् ध्यान रक्खो और अपने* पड़ोसियों के प्रति प्रेम का सम्बन्ध रक्खो, क्योंकि जिनके साथ व्यवहार में विशेष सम्पर्क रहता है। उन के साथ प्रेम और मेल जोल का भाव रखना चाहिये। अतः अपने समीप रहने वालों को भी किसी प्रकार कष्ट न पहुँचाओ, सर्वदा उनकी भलाई में तत्पर रहो और उनमें जो धन हीन हों, उनकी सुधि लेते रहो। इस प्रकार अपने अन्य सम्बन्धियों और दास दसियों के प्रति भी मेल मिलाप और दया का भाव रखो।

तात्पर्य यह है कि सब मनुष्यों का अधिकार देख कर उनके *साथ* यथायोग्य वर्ताव करो। उनमें से जिनके साथ परमार्थ या व्यवहार की निकटता हो उनके अनुरूप युक्ति का विचार करो कि यह कितने भाव और सत्कार का अधिकारी है तथा किस रीति से इसका उपकार होसकता है। फिर उसी प्रकार उसके साथ वर्ताव करो तथा ईर्ष्या, अभिमान और कृपणता आदि मलिन भावों से दूर रहो। कभी किसी के प्रति कृतघ्नी मत होओ तथा अपनी सारी आयु सद्भाव, दया और सहनशीलता में व्यतीत करो। इसी पर महापुरुष ने भी कहा है कि यदि तुम्हारा कोई विरोधी हो तो भी तुम उसके साथ भलाई ही करो और यदि तुम्हें कुछ भी न देता हो तो तुम्ही उसे कुछ दो। (*पारसमणि से*)

नीति-अनुसार आचरण करो

(*विश्ववन्द्य महात्मा गाँधी*)

"मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह शरीर, मन और मस्तिष्क इन तीनों की अलग-अलग जाँच करे, परन्तु उसे इतने पर ही निर्भर न रह जाना चाहिये। यदि वह जाँच मात्र पर ही निर्भर रह जाय, तो उसने जो कुछ ज्ञान-लाभ किया है, उससे वह कुछ लाभ नहीं उठा सकता। उसे जानना चाहिये कि अन्याय, दुष्टता, अभिमान आदि के कैसे परिणाम होते हैं। इतना ही नहीं, उसे यह भी जानना चाहिये कि इन तीनों के एकत्र मिल जाने से कैसी खराबियाँ होती हैं। केवल इनको जानकर बैठने से ही कुछ लाभ नहीं है। तदनुसार आचरण भी करना चाहिये। नीति का विचार मकान के नक्शे जैसा है। नक्शा बताता है कि घर किस तरह बनाना चाहिये, परन्तु जिस प्रकार नक्शे के अनुसार मकान न चुनवाने पर नक्शा व्यर्थ हो जाता है उसका कोई उपयोग नहीं होता, उसी प्रकार नीति के विचारों के अनुसार जो आचारण न किया गया हो, तो नीति के विचार भी व्यर्थ हो जाते हैं। बहुत से मनुष्य नीति के वाक्य याद करते हैं, उन पर भाषण देते हैं और बड़ी-बड़ी बातें करते हैं, परन्तु वे उसके अनुसार चलते नहीं और चलने की इच्छा भी नहीं रखते। और कुछ लोग ऐसे कहते हैं कि नीति के विचार इस दुनियाँ में आचरण करने के लिये नहीं होते, मरने के बाद जिस दुनियाँ में हम जाते हैं, उसमें करने के लिये होते हैं। मगर उनका यह कथन प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता। एक विचारक व्यक्ति ने कहा है कि हमें सम्पूर्ण मनुष्य बनना हो तो, आज ही से —चाहे जितना कष्ट उठाकर—नीति के अनुसार आचरण करने लग जाना चाहिये। ऐसे विचार से हमें भड़कना नहीं चाहिये, किन्तु अपनी जवाबदारी समझ कर उसके अनुसार चलने में प्रसन्नता माननी चाहिये।"

आदर्श चरित्रवान्–भरत

भरत जी का चरित्र बड़ा ही उज्ज्वल और आदर्श है। उस में कहीं कुछ भी दोष नहीं दीख पड़ता। भरत जी की महिमा अपार है। बाल्मीकीय रामायण में आप को श्री विष्णु का ही अंशावतार बताया गया है। साथ ही उनका चरित्र उन्हें एक साधु–शिरोमणि, आदर्श स्वामि-भक्त, महात्मा, निःस्पृह और भक्ति-प्रधान कर्मयोगी सिद्ध करता है। भरत जी धर्म और नीति के जानने वाले, सद्‌गुणसम्पन्न, त्यागी, संयमी, सदाचारी, प्रेम और विनय की मूर्ति, श्रद्धालु और बड़े बुद्धिमान् थे। वैराग्य, सत्य, तप, क्षमा, तितिक्षा, दया, वात्सल्य, धीरता, वीरता, गम्भीरता, सरलता, सौम्यता, मधुरता, अमानिता और सुहृदता आदि गुणों का इनमें विलक्षण विकास हुआ था। भ्रातृ-प्रेम की तो आप मानों सजीव मूर्ति ही थे।

भरत की पितृ–भक्ति

विवाह के बाद भरत जी शीघ्र ही अपने मामा के साथ ननिहाल चले गये थे; इस कारण रामायण में इनकी पितृ-भक्ति का विशेष वर्णन नहीं आता। परन्तु नाना के घर रहते हुए एक दिन इन्होंने मित्रगोष्ठी में अपने दुःस्वप्न की बात कह कर जो पिता के लिये दुःख प्रगट किया है और अयोध्या में लौटनेके बाद माता से पिताजी के स्वर्गवास का समाचार पाने पर शोक के कारण इनकी जो दशा हुई है तथा इन्होंने पिता के लिये जिस प्रकार विलाप किया है, उससे इन के श्रद्धा-समन्वित सच्चे पितृ-प्रेम का पता चलता है। जब माता ने इनसे धैर्य धारण करने के लिये कहा, तब उसके उत्तर में आप कहते हैं—

'मैंने तो यह सोचा था कि महाराज श्रीराम का अभिषेक करेंगे और स्वयं यज्ञ की दीक्षा लेंगे। इसी विचार से मैं वहाँ से प्रसन्नता पूर्वक चला था; किन्तु यहाँ आने पर वे सभी बातें विपरीत ही दिखायी दीं। आज जो मैं सर्वदा अपना प्रिय और हित करने वाले पिताजी को नहीं देखता, इससे मेरा हृदय विदीर्ण हो रहा है'—इत्यादि।

भ्रातृ–भक्ति

उपर्युक्त ढंग से पिता के लिये शोक करते-करते ही भरत के हृदय में श्री रामचन्द्र जी का प्रेम उमड़ पड़ता है और वे कहने लगते हैं—

'जो मेरे भाई, पिता और बन्धु हैं, जिनका मैं परम प्रिय दास हूँ और जो पवित्र कर्म करने वाले हैं, उन श्री रामचन्द्र जी को आप शीघ्र मेरे आने की सूचना दें। धर्म को जानने वाले श्रेष्ठ मनुष्य के लिये बड़ा भाई पिता के समान ही होता है। मैं उनके चरणों में प्रणाम करूँगा। अब वे ही मेरे आश्रय हैं।'

इसपर कैकेयी ने उन्हें सारी घटना कह सुनायी और राज्य स्वीकार करने के लिये कहा।

कैकेयी के मुख से इस प्रकार भाइयों के वन-गमन की बात सुनकर भरत जी महान् दुःख से सन्तप्त हो जाते हैं। वे व्याकुल हृदय से माता को बहुत-कुछ बुरा-भला कहते हैं और यह भी कहते हैं—

'मैं समझता हूँ, लोभ के वश में होने के कारण तू अब तक यह न जान सकी कि मेरा श्रीरामचन्द्रजी के प्रति कैसा भाव है। इसी कारण तूने राज्य के लिये इतना बड़ा अनर्थ कर डाला।'

इसके सिवा और भी बहुत-सी बातें भरतजी ने माता के प्रति कहीं। उसके बाद भरतजी माता कौशल्या से, जो उनसे मिलने के लिये आ रही थीं,

रास्ते में ही मिले और उनकी गोद में लिपट कर रोने लगे। इसके अनन्तर वे अनेक प्रकार से शपथ करके माता कौशल्या को विश्वास दिलाते हैं कि रामजी के वनवास में उनकी सम्मति नहीं थी।

इसके बाद मुनि वशिष्ठजी के आज्ञानुसार राजा दशरथ के अन्त्येष्टि-कर्म की तैयारी होती है। उस समय राजा के शव को देखकर भरत जी फिर विलाप करते हुए कहते हैं—

'राजन्! मैं तो परदेश गया हुआ था, आपके पास पहुँचने भी नहीं पाया; उसके पहले ही धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्र जी को और महाबली लक्ष्मण को वन में भेजकर आपने यह क्या विचार किया?'

भरतको इस प्रकार विलाप करते देखकर महामुनि वशिष्ठजी फिर समझाते हैं। उसके बाद विधि विधान से राजा दशरथ की अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न होती है। नगर में आकर दस दिनोंतक भूमि पर शयन करते हुए भरत बड़े दुःख से समय बिताते हैं।

श्राद्ध आदि से निवृत्त हो जाने पर राजसभा में श्रीवसिष्ठजी तथा अन्य सभी सभासद् भरतजी को समझाकर आग्रह पूर्वक राज्य स्वीकार करने के लिये कहने लगे। तब भरतजी ने कहा—

'मैं और यह राज्य दोनों ही श्रीराम के हैं। आपलोग मुझे धर्म का उपदेश दीजिये। श्रीरामचन्द्र जी सब प्रकार मुझसे बड़े हैं; इसीलिये—

'पुरुषोत्तम श्रीरघुनाथजी अयोध्या की तो बात ही क्या, त्रिलोकी के भी राजा होने योग्य हैं; मैं उन्हीं का अनुसरण करूँगा। आप जैसे गुणवान् श्रेष्ठ साधु पुरुषों के सामने ही उन्हें बलपूर्वक लौटा लाने के लिये मैं सब प्रकार के उपाय करूँगा। इसपर भी यदि आर्य श्रीरामचन्द्रजी को वनसे लौटा लाने में समर्थ नहीं हुआ तो जैसे श्रेष्ठ भाई लक्ष्मण रहते हैं, उसी तरह मैं भी वहीं वन में निवास करूँगा।' भरत के ऐसे भ्रातृ-प्रेम में सने वचन सुनकर वहाँ बैठे हुए सभी सभासदों की आँखों से आनन्द के आँसू बहने लगते हैं।

श्रीराम को लौटा लाने के लिये जब भरत दल-बल के साथ चित्रकूट के लिये प्रस्थान करते हैं, उस समय रास्ते में उनकी निषादराज गुहसे भेंट होती है। इनके साथ चतुरङ्गिणी सेना देखकर गुह के मनमें सन्देह हो जाता है और वे अपना सन्देह इनके सामने प्रकट कर देते हैं। उस समय भरत निषाद से कहते हैं—

'निषादराज! ऐसा अवसर न आये जो इस प्रकार दुःखदायक हो। तुमको मुझपर शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि रघुकुलभूषण श्रीराम मेरे बड़े भाई हैं और मैं उनको पिता के समान समझता हूँ। मैं उन वनवासी श्रीराम को वनवास से लौटाने के लिये जा रहा हूँ।' भरतकी बात सुनकर निषाद-राज का मुख प्रसन्नता से खिल उठा। वह हर्ष में भरकर कहने लगा—

'आप धन्य हैं, जो बिना प्रयत्न के मिले हुए राज्य को त्याग देना चाहते हैं; अतः इस भूमण्डल में आपके समान मुझे कोई दूसरा नहीं दिखायी देता।'—इत्यादि।

इस प्रकार दोनों में बड़ी देर तक बातें होती रहीं। श्रीराम के वियोग में उन्हीं का चिन्तन करते-करते शोकाग्नि से सन्तप्त हो जाने के कारण भरतजी सहसा मूर्च्छित हो गये। पास में बैठे हुए शत्रुघ्न भी उनको पकड़कर रोने लगे और बेहोश हो गये। यह देखकर निषादराज मुग्ध हो गया। थोड़ी देर बाद चित्त स्वस्थ होने पर भरतजी ने फिर गुह से पूछा—

''निषादराज! उस दिन रात को मेरे भाई श्रीराम, सीता और लक्ष्मण के साथ यहाँ किस जगह ठहरे थे तथा उन्होंने क्या भोजन करके

कैसे बिछौनों पर शयन किया था ? सब बातें मुझे बताओ।'

भरत के इस प्रकार पूछने पर गुह बहुत प्रसन्न हुआ और उसने सारी घटना ज्यों-की-त्यों सुना दी। उसने उन्हें वह इंगुदी वृक्ष और कुशका बिछौना दिखाया, जहाँ पर श्रीराम ने सीता के साथ रात्रि में शयन किया था। उस स्थान को देखकर भरत जी की विचित्र दशा हो गयी, वे भाँति-भाँति से विलाप करने लगे—

'हाय ! मैं मारा गया। मैं बड़ा क्रूर हूँ, जिसके कारण श्री रघुनाथ जी को सती सीता के साथ अनाथ की भाँति ऐसी शय्या पर सोना पड़ता है। जो सम्राटके वंशमें उत्पन्न, सब लोकों को सुख देने वाले और सबका प्रिय करने वाले हैं, जिनका वर्ण नील कमलके समान है, नेत्र लाल हैं, जो सब प्रकार से सुख भोगने के योग्य और दुःखके अयोग्य हैं। वे प्रिय दर्शन श्री रघुनाथ जी अत्युत्तम प्रिय राज्य को छोड़कर किस प्रकार पृथ्वीपर शयन करते हैं। उत्तम लक्षणों वाला लक्ष्मण ही धन्य और बड़भागी है, जो संकट के समय बड़े भाई श्रीराम के साथ रहकर उनकी सेवा करता है।' भरत जी ने विलाप करते हुए इसी प्रकार की और भी बहुत सी बातें कहीं।

आगे चलकर जब भरत जी महर्षि भरद्वाज के आश्रम में पहुँचते हैं, उसी समय महर्षि कुशल पूछने के बाद उनके हृदय पर गहरी चोट पहुँचाने वाला प्रश्न कर बैठते हैं। वे कहते हैं—'तुम्हारा यहाँ बन में किस निमित्त से आना हुआ ? तुम निरपराधी धर्मात्मा राम और लक्ष्मण का कोई अनिष्ट तो नहीं करना चाहते ?' यह सुनकर दुःख के कारण भरत की आँखों में जल भर आया। वे लड़खड़ाती हुई वाणी में बोले—

'मुने ! मुझसे कोई अपराध नहीं हुआ है फिर भी आप यदि मुझे इतना अपराधी समझते हैं, तब तो मैं हर तरह से मारा गया। अतः आप मुझसे ऐसी कठोर बातें न कहें। मेरी अनुपस्थिति में मेरी माता ने जो कुछ कहा या किया है, वह मुझे अभीष्ट नहीं है। मैं उससे तनिक भी प्रसन्न नहीं हूँ और न मैंने उसकी बात को माना ही है। मैं तो उन नरश्रेष्ठ श्रीराम को प्रसन्न करके अयोध्या लौटा ले आनेके लिये और उनके चरणों की वन्दना करने के लिये वन में आया हूँ। अतः मुझे इस प्रकार आया हुआ समझ कर आप मुझपर कृपा कीजिये और बतलाइये कि इस समय महाराज श्री रामचन्द्र जी कहाँ हैं ?'

यह सुनकर भरद्वाज जी बड़े प्रसन्न हुए और भरत जी की प्रशंसा करके बोले—

'भरत ! मैं तुम्हारे मन की बात जानता हूँ; तथापि उसे दृढ़ करने के लिये और तुम्हारी कीर्ति का अधिक विस्तार करने के लिये ही मैंने तुमसे ये सब बातें पूछी हैं।'

इसके बाद और भी बहुत सी बातें हुईं। भरद्वाज जी के अधिक आग्रह से उनका आतिथ्य भरत को स्वीकार करना पड़ा। ऋषिराज ने बड़े ही विचित्र ढंग से सेना और परिवार सहित भरत का अतिथि सत्कार किया। बड़े ही आनन्दसे वह रात्रि व्यतीत हुई। उसी प्रसङ्ग में यह बात भी आयी है—

'भरत ने उस राजमहल में (जिसे मुनि ने अपने योगबल से रचा था) दिव्य राज्यसिंहासन, छत्र और चंवर भी देखे तथा मन्त्रियों के साथ उन्होंने राजा श्रीराम की भाँति उनका सम्मान किया। श्रीराम को प्रणाम करके उस आसन की पूजा की और स्वयं हाथ में चँवर लेकर मन्त्री के आसनपर जा बैठे।' देखिये, कितनी ऊँची भावना और भक्ति है ! कैसा पवित्र भाव है ! कितनी निरभिमानता और कितना त्याग है !

जब भरत चित्रकूटके निकट पहुँच जाते हैं, उस समय आकाश में धूल उड़ती हुई देखकर श्रीराम लक्ष्मण से उसका कारण जानने के लिये कहते हैं। लक्ष्मण पेड़ पर चढ़कर देखते हैं और यह निश्चय करके कि सेनासहित भरत आ रहे हैं, उनके प्रति सन्देह प्रकट करते हुए कठोर वचन कहने लगते हैं। तब श्रीरामचन्द्र जी भरत के गुण और प्रेम की बड़ाई करते हुए कहते हैं—

'जिस प्रकार इस समय यह भरत हमलोगोंसे मिलने के लिये आ रहा है, यह सर्वथा उचित है। हमलोगोंके अहितका आचरण तो वह कभी मनसे भी नहीं कर सकता। भरतने तुम्हारा कब और क्या अपकार किया है, जिसके कारण तुम आज उनसे ऐसा भय, इस तरह की आशंका कर रहे हो? (भरत के आनेपर) तुम उसे कोई कठोर या अप्रिय वचन न कहना। यदि तुमने उसके साथ कोई प्रतिकूल बर्ताव किया या अप्रिय वचन कहे तो वह बर्ताव मेरे ही साथ किया समझा जायगा। यदि तुम राज्य के लिये ऐसी कठोर बात कहते हो तो भरत से मिलने पर मैं उसे कह दूँगा कि यह राज्य लक्ष्मण को दे दो! मेरे ऐसा कहनेपर वह अवश्य ही मेरी बातका अनुमोदन करेगा और तुमको राज्य दे देगा।'

इस प्रकार यद्यपि भरत जी सर्वथा साधु और निर्दोष थे, तथापि उनको सबके सन्देह का शिकार बनना पड़ा। भरत के सदृश सर्वथा निःस्पृह धर्मात्मा एवं त्यागी महापुरुष का इस प्रकार सबके सन्देह का शिकार बनना जगत के इतिहास में एक अनोखी बात है। इतने पर भी भरत सब कुछ सहते हैं। धन्य उनका प्रेम! धन्य उनकी स्वामिभक्ति!! और धन्य उनकी सहिष्णुता!!!

इधर भरत भाई शत्रुघ्न, गुह और प्रधान-प्रधान मन्त्रियों को श्रीराम के आश्रम को खोजने के लिये आज्ञा देकर कहने लगते हैं—

'जब तक भाई श्रीरामचन्द्र के कमलदल सदृश विशाल नेत्रों के और चन्द्रमा के समान सुशोभित उस मुख कमल को न देख लूँगा तब तक मुझे शान्ति नहीं मिलेगी। जब तक अपने भ्राता के राज चिह्नोंसे युक्त युगल चरणों में मस्तक रखकर प्रणाम न कर लूँगा, तब तक मुझे शान्ति नहीं मिलेगी। जब तक राज्य के सच्चे अधिकारी भगवान् श्रीराम अभिषेक के जल से सिक्त होकर अपने पिता पितामहों के साम्राज्य पर प्रतिष्ठित न हो जायँगे तब तक मुझे शान्ति नहीं मिलेगी।'

इसप्रकार बहुत कुछ कहकर पुरुषश्रेष्ठ भरत जी ने पैदल ही श्रीरामकी खोज करने के लिये उस गहन वन में प्रवेश किया। ऊँचे वृक्षपर चढ़कर उन्होंने दूरसे श्रीरामके आश्रम को और उसमें बैठे हुए श्री रामचन्द्र जी को पहचाना; इससे उनमें नया जीवन आगया। वे बड़े प्रसन्न हुए और गुह को साथ लेकर आश्रम की ओर चल दिये।

श्रीरामकी कुटिया के पास पहुँचकर भरत देखते हैं कि समस्त पृथ्वीके स्वामी धर्मपरायण भगवान श्रीरामचन्द्र जी सीता और लक्ष्मण के साथ एक चबूतरे पर बैठे हैं। उन्होंने कृष्ण मृगचर्म और वल्कल-वस्त्र धारण कर रक्खे हैं। उनके मस्तक पर जटाएँ शोभा दे रही हैं तथा सिंहके से कंधे, बड़ी बड़ी भुजाएँ और कमल के समान नेत्र हैं! श्रीराम को इस अवस्था में देखकर महात्मा भरत शोक में निमग्न होजाते हैं। भाई की ओर दृष्टि पड़ते ही आर्त्तभाव से विलाप करते हुए गद्गद् वाणी से कहने लगते हैं—

'हाय! जो राजसभा में बैठकर प्रजा और मन्त्रि-वर्ग के द्वारा सम्मान पाने योग्य हैं, वे ही ये मेरे बड़े भाई यहाँ जंगली पशुओं से घिरे बैठे हैं। जो महात्मा पहले हजारों की लागत के वस्त्रों का

उपयोग करते थे, वे आज यहाँ धर्माचरण करते हुये केवल दो मृगचर्म धारण करके रहते हैं। हाय! जो सब प्रकार से सुख के योग्य हैं, वे श्रीराम मेरे ही कारण इतना दुःख उठा रहे हैं, मैं कितना क्रूर हूँ! मेरे इस लोक-निन्दित जीवन को धिक्कार है।'

इस प्रकार विलाप करते-करते भरत जी दुःख से व्याकुल हो गये। उनके मुख-कमल पर आँसुओं की धारा बहने लगी। वे अत्यन्त दुःख से विह्वल हो जाने के कारण श्रीराम के चरणों को छू सकने के पहले ही 'हा आर्य!' कहकर उनके पास दीन की भाँति गिर पड़े। शोक से उनका गला रुंध गया, कुछ भी बोल नहीं सके। फिर शत्रुघ्न ने भी रोते-रोते श्रीराम के चरणों में प्रणाम किया। जटा और वल्कल धारण किये भरत को हाथ जोड़े पृथ्वी पर पड़ा देख श्रीराम ने बड़ी कठिनता से पहिचाना। उन्होंने दोनों भाइयों को उठाया और छाती से लगा लिया। भरत का वर्ताव देखकर समस्त बन-वासी रोने लगे।

तदनन्तर भाई भरत को गोद में बैठाकर श्री रामचन्द्र जी ने पूछा—'भाई! तुम राज्य छोड़कर वल्कल-वस्त्र; मृगचर्म और जटा धारण करके यहाँ क्यों आये?' इस पर भरत जी ने पिता की मृत्यु का समाचार सुनाकर कहाः—

'सब को सम्मान देने वाले रघुनन्दन! परम्परा-नुसार तथा योग्य होने के कारण भी इस राज्य के अधिकारी आप ही हैं। अतः न्याय से इस राज्य को आप धर्मानुसार ग्रहण करके अपने सुहृदों का मनोरथ पूर्ण करें। मैं आप का छोटा भाई, शिष्य और दास हूँ। इन मन्त्रियों के साथ आप के चरणों में मस्तक झुकाकर प्रार्थना करता हूँ, मुझ पर कृपा करें।'

इसी तरह की और भी बहुत सी बातें कहकर भरत जी नेत्रों से आँसू बहाते हुये पुनः श्रीराम के चरणों में गिर पड़े और राज्यभिषेक के लिये उनसे प्रार्थना करने लगे। तब श्रीराम जी ने बहुत सी शास्त्रोक्त बातें कहकर और पिता की आज्ञा का महत्व दिखाकर भरत को राज्य ग्रहण करने के लिये बहुत कुछ समझाया, परन्तु उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने कहा—'भगवन्! आप की बराबरी कौन कर सकता है; आप के लिये सुख-दुःख, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति—सब समान हैं। जिसको आप की तरह ज्ञान है, वह सङ्कट पड़ने पर भी विषाद नहीं करेगा; परन्तु मैं ऐसा नहीं हूँ। अतः मैं बारम्बार आप के चरणों में माथा टेककर याचना करता हूँ, आप दया कीजिये! आप पुरुषों में श्रेष्ठ हैं, मेरा और मेरी माता का कलङ्क धोकर पूज्य पिता जी को भी निन्दा से बचाइये।' इत्यादि—

भरत के इस प्रकार कहने पर सम्पूर्ण ऋत्विज पुरवासी, भिन्न-भिन्न समुदाय के नेता और माताएँ—ये सब अचेत से होकर आँसू बहाते हुये उनकी प्रशंसा करने लगे और सभी ने अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार श्रीरामचन्द्र जी से लौटने की प्रार्थना की।

तदनन्तर श्रीराम ने फिर बहुत से न्याय और धर्म से पूर्ण वचन कहकर भरत को समझाया। इस प्रकार बात होते होते जब श्रीरामचन्द्र जी ने किसी तरह भी स्वीकृति नहीं दी, तब भरत जी के मन में बड़ा दुःख हुआ; वे बोले—'जब तक मेरे स्वामी मुझ पर प्रसन्न नहीं होंगे, तब तक मैं बिना कुछ खाये-पिये यहीं इनके सामने बैठा रहूँगा।' इतना कहकर वे दर्भासन बिछा कर जमीन पर बैठ गये। तब श्रीरामचन्द्र जी ने फिर भरत को समझाया कि 'भाई! तुम्हारा यह कार्य धर्म के विरुद्ध है। अतः तुम इस दुराग्रह का त्याग करो।' यह सुनकर भरत तुरन्त खड़े होकर पुनः सबके सामने कहने लगे कि 'यदि पिता की आज्ञा पालन करने

लिये इनका वन में रहना अनिवार्य हो तो इनके बदले में ही चौदह वर्ष तक वन में निवास करूँगा। इस पर फिर श्रीराम ने भरत को समझाया कि 'भाई भरत ! इस प्रकार बदला करने का हम लोगों को अधिकार नहीं है।' इसके बाद सबके सामने भगवान् श्रीराम ने कहा—

'मैं जानता हूँ भरत बड़ा क्षमाशील और गुरुजनों का सत्कार करने वाला है। इस सत्य-प्रतिज्ञ महात्मा में सभी कल्याणकारी गुण वर्तमान हैं। वनवास की अवधि समाप्त करके फिर जब मैं लौटूँगा, तब मैं अपने इस धर्मशील भाई के साथ इस पृथ्वी का प्रमुख राजा बनूँगा। कैकेयी ने राजा से वर माँगा, मैंने उनकी आज्ञा को स्वीकार कर लिया। इसलिये भाई भरत ! अब तुम मेरा कहना मान कर उन पृथ्वीपति राजाधिराज पिता जी को असत्य के बन्धन से मुक्त करो।'

उन अतुलित तेजस्वी भाइयों का वह रोमाञ्चकारी संवाद सुनकर और आपस का प्रेम-पूर्ण बर्ताव देखकर वहाँ आये हुये जन-समुदाय के साथ सभी महर्षि विस्मित और मुग्ध होगये। अन्तरिक्ष में अदृश्य भाव से खड़े हुये मुनि और वहाँ प्रत्यक्ष बैठे हुये महर्षि उन दोनों भाइयों की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे।

इसके बाद सब महर्षियों ने भरत को श्रीराम की बात मान लेने के लिये समझाया। इससे श्रीराम को बड़ी प्रसन्नता हुई, परन्तु भरत को सन्तोष नहीं हुआ। वे लड़खड़ाती हुई जबान से हाथ जोड़कर फिर श्रीराम से कहने लगे—'आर्य ! मैं इस राज्य की रक्षा नहीं कर सकता। आप इस राज्य को स्वीकार करके दूसरे किसी को इसके पालन का भार सौंप दीजिये।' यह कहकर भरत अपने भाई के चरणों में गिर पड़े। तब श्रीरामचन्द्र ने उनको उठाकर गोद में बैठा लिया और मधुर स्वर से बोले—

'प्यारे भाई ! तुम्हें स्वभाव से ही तथा शिक्षा के फलस्वरूप जो यह विनययुक्त बुद्धि प्राप्त हुई है, इससे तुम सारी पृथ्वी की रक्षा करने में भी पूर्णतया समर्थ हो।'

सूर्य-तुल्य तेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी के ये प्रेम और शिक्षा भरे वचन सुनकर और उनकी दृढ़ता देखकर भरत ने कहा—

'आर्य ! ये दो स्वर्ण भूषित पादुकाएँ हैं, आप इन पर अपने चरण रक्खें। ये ही सम्पूर्ण जगत के योग-क्षेम का निर्वाह करेंगी।

धन्य है भरत के उच्चतम भाव को !

भगवान श्रीरामचन्द्र जी ने उन पादुकाओं पर अपने मङ्गलमय चरण-युगल रखकर उन्हें भरत को दे दिया। उन पादुकाओं को प्रणाम कर भरत ने श्रीराम से कहा—

'वीर रघुनन्दन ! मैं भी चौदह वर्षों तक जटा और चीर धारण करके फल-मूल का आहार करूँगा और आप के आने की बाट जोहता हुआ नगर से बाहर ही रहूँगा। परंतप ! इतने दिनों तक राज्य का सारा भार आप की इन चरण-पादुकाओं पर ही रहेगा। रघुश्रेष्ठ ! चौदह वर्ष पूरे होने के बाद, उसी दिन यदि मुझे आप के दर्शन नहीं मिलेंगे तो मैं धधकती आग में प्रवेश कर जाऊँगा।

भरत की यह प्रतिज्ञा सुनकर भगवान् ने प्रसन्नता पूर्वक उनका अनुमोदन किया। तदनन्तर दोनों भाइयों को माता कैकेयी के साथ अच्छा व्यवहार करने की शिक्षा देकर और दोनों को हृदय से आलिङ्गन करके बिदा किया। उस समय भाई भरत के वियोग में श्रीरामचन्द्र जी की आँखों में जल भर आया।

तदनन्तर भरत जी भगवान् की पादुकाओं को मस्तक पर धारण करके बड़ी प्रसन्नता से रथ पर सवार हुए तथा रास्ते में भरद्वाज जी से मिलकर,

उनसे सारी बातें कह कर और आज्ञा लेकर शृङ्गवेरपुर होते हुए अयोध्या पहुँचे। फिर माताओं को महल में रखकर भरत ने सब गुरुजनों से कहा—

'अब मैं नन्दिग्राम को जाऊँगा, इसके लिये आप सब लोगों की आज्ञा चाहता हूँ। बहुत दुःख की बात है, महाराज तो स्वर्ग सिधार गये और मेरे परम पूज्य गुरु श्रीराम बन में निवास करते हैं। अतः मैं वहीं रह कर श्रीराम-वियोग के इन सब दुःखों को सहन करूँगा और राज्य के लिये श्रीरामचन्द्र जी की प्रतीक्षा करूँगा, क्योंकि महायशस्वी श्रीराम ही हमलोगों के राजा हैं।'

भरत की ऐसी बात सुन कर मन्त्रियों सहित पुरोहित श्रीवशिष्ठजी ने कहा—

'भरत! भ्रातृ-भक्ति से प्रेरित होकर तुमने जो वचन कहा है, वह अत्यन्त प्रशंसनीय है। वास्तव में वह तुम्हारे ही योग्य है। तुम अपने भाई के दर्शनार्थ सदा ही लालायित रहते हो, उन्हीं के हित में संलग्न हो और अत्यन्त उत्तम मार्ग पर चल रहे हो; अतः तुम्हारे विचार का अनुमोदन कौन पुरुष नहीं करेगा।'

इस प्रकार सबकी आज्ञा लेकर भरत श्रीरामचन्द्र जी की पादुकाओं को सिर पर रक्खे शत्रुघ्न के साथ नन्दिग्राम चले गये। वहाँ रथ से उतर कर सब गुरुजनों से बोले—

'मेरे भाई ने यह राज्य मुझे उत्तम धरोहर के रूप में दिया है। उनकी ये सुवर्ण-भूषित पादुकाएँ ही सबका योगक्षेम निबाहने वाली हैं। मैं इन्हें आर्य श्रीरामचन्द्र के साक्षात चरण मानता हूँ। आप लोग शीघ्र ही इनपर छत्र लगायें।। मेरे गुरु की चरणपादुकाओं के प्रभाव से ही इस राज्य में धर्म की स्थापना होगी। उन्होंने प्रेम के कारण ही मुझे यह अमूल्य धरोहर सौंपी है। अतः मैं उनके लौटने तक इसकी भली भाँति रक्षा करूँगा। तथा उनके आने पर शीघ्र ही उनको पुनः भगवान् के चरणों से युक्त कर इन पादुकाओं से सुशोभित आर्य के चरणों का दर्शन करूँगा। श्रीरघुनाथजी के आते ही उनकी सेवा में यह राज्य समर्पित कर दूँगा; फिर मेरा सब भार हल्का हो जायगा। मैं उनकी आज्ञा के अधीन रहकर उन्हीं की सेवा में लग जाऊँगा। मेरे पास धरोहर के रूप में रक्खे हुए इस राज्य को, इन पादुकाओं को और अयोध्या को भी श्रीराम की सेवा में समर्पित करके मैं सब प्रकार के दुःख और पापों से मुक्त हो जाऊँगा।'

फिर धैर्यवान् भरत जी जटा-वल्कल धारण किये मुनि का वेष बनाकर नन्दिग्राम में रहने लगे। वे राज्य-शासन का समस्त कार्य भगवान् की चरण पादुकाओं को निवेदन करके करते थे। उनके ऊपर स्वयं छत्र लगाते और चँवर डुलाते थे। इस प्रकार उन्होंने बड़े भाई श्रीरामचन्द्रजी की चरण-पादुकाओं का राज्याभिषेक किया। राज्य का जो कोई कार्य उपस्थित होता, जो भी बहुमूल्य भेंट आती, भरत जी वह सब पहले उन पादुकाओं को अर्पण करते और पीछे उसका यथायोग्य प्रबन्ध करते।

लङ्का विजय के बाद विभीषण को राज्य देकर, सीता और लक्ष्मण के साथ भगवान् श्रीराम अयोध्या लौटने के लिये तैयार हुए। उस समय विभीषण ने श्रीराम जी से स्नान आदि करके वस्त्रालङ्कार धारण करने की प्रार्थना की। तब भगवान् भरत की भक्ति याद करके कहते हैं—

'सत्यपरायण, धर्मात्मा, महाबाहु, सुकुमार भरत सब प्रकार के सुख-भोगों के योग्य होकर भी मेरे लिये दुःख भोग रहा है। उस धर्मचारी कैकेयी पुत्र भरत के बिना मुझे स्नान और वस्त्राभूषण धारण करना रुचिकर नहीं है। उस भाई भरत को देखने के लिये तो मेरा मन छटपटा रहा है।'

इससे मालूम होता है कि भरत का श्रीराम में कितना प्रेम था।

उसके बाद श्रीराम सीता, लक्ष्मण और सब समुदाय के साथ पुष्पक-विमान पर बैठकर अयोध्या के लिये चले और भरद्वाज आश्रम पर पहुँचकर अपने आने का शुभ संवाद देने के लिये हनुमान को प्यारे भरत के पास भेजा। हनुमान जी नन्दिग्राम में पहुँचकर क्या देखते हैं—

श्री हनुमान ने देखा कि भरत शहर के बाहर आश्रम में रहते हैं। भाई के वियोग से उन का शरीर दुर्बल होगया है। उस पर मैल जम गया है। उन का मुख सूख गया है, उस पर दीनता का भाव झलक रहा है। वे केवल फल-मूल का ही आहार करते हैं। इन्द्रियाँ उनके वश में हैं। वे मस्तक पर लम्बी जटाओं का भार तथा शरीर पर वल्कल और मृगचर्म धारण किये धर्माचरणपूर्वक तपस्या कर रहे हैं। उनका मन सब ओर से संयत और ध्यानमें निमग्न है। उनका तेज ब्रह्मर्षियों के समान है। वे श्रीराम की चरण-पादुकाओं की सेवा करते हुए पृथ्वीका शासन कर रहे हैं। हनूमानजी ने यह भी देखा कि भरत के प्रेम और व्यवहार से आकर्षित होकर काषाय-वस्त्र धारण किये हुए मन्त्री, पुरोहित और सेना के प्रधान-प्रधान वीर भी उन्हीं के पास रहते हैं। पवन पुत्र हनुमान जी ने भरत जी को श्रीराम के आगमन का समाचार सुनाया।

हनुमान के मुखसे भगवानके आनेका समाचार सुनकर भरत जी हर्ष से विह्वल होगये। उनको शरीर की सुधि नहीं रही। थोड़ी देर में स्वस्थ होनेपर उन्हों ने हनुमान को हृदय से लगा लिया और प्रेमाश्रुओं से भिगोते हुए उनसे कहने लगे—

'मुझ पर दया करके आनेवाले तुम कोई देवता हो या मनुष्य ? सौम्य ! तुमने मुझे बड़ा ही प्रिय सन्देश दिया; इसके बदले में तुम्हें जो कुछ प्रिय हो वह मैं दे सकता हूँ। मेरे स्वामी को गहन बन में गये हुए बहुत वर्ष बीत गये। आज ही मैं अपने नाथ का आनन्द दायक समाचार सुन रहा हूँ।'

इसके बाद भरत जी ने बानरों के साथ श्रीराम की मित्रता होने के विषय में पूछा। इसपर हनुमान ने बन-गमन से लेकर लंका से लौटते हुए भरद्वाजके आश्रम में पहुँचने तक की सारी बातें कह सुनायी। यह सुनकर भरत जी बड़े ही प्रसन्न रहते हुए और पास ही खड़े हुए शत्रुघ्न को नगर की सजावट करने और सबको श्रीराम की अगवानी के लिये तैयार होने की सूचना देने को कहा। समाचार सुनते ही सारे नगर में हर्ष और प्रेम की बाढ़ आगयी। सभी भगवान के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे। धर्मज्ञ भरतजीने श्रीराम की पादुकाओं को सिरपर रखकर उन्हें सुन्दर मालाओं से सुशोभित किया और उनपर स्वर्णछत्र लगाकर स्वर्ण-भूषित सफेद चँवर डुलाते हुए चले। थोड़ी दूर जानेपर जब उन्हें श्रीरामचन्द्र जी आते हुए नहीं दिखायी दिये, तब वे प्रेमाकुल होकर हनुमान जी से पूछने लगे— 'हनुमान ! क्या बात है ? अभी तक रघुकुल-भूषण आर्य श्रीराम मुझे दिखायी नहीं दे रहे हैं।' इतने में ही श्रीभरत जी ने विमान को आते हुए देखा और उसपर बैठे हुए श्रीराम को भक्तिपूर्वक प्रणाम किया। फिर श्रीराम की आज्ञा से वह विमान पृथ्वी पर उतरा। श्री भरतजी विमान के भीतर श्रीराम को देखकर हर्ष से भर गये और पुनः उनके चरणों में गिर पड़े। श्रीरामचन्द्रजी ने बहुत दिनों के बाद दृष्टिगोचर हुए भाई भरत को उठा गोद में बैठाकर प्रेम और हर्षपूर्वक हृदय से लगाया। इसके बाद भरत ने भाई लक्ष्मण से मिलकर सीता के चरणों में प्रणाम किया।

तदनन्तर धर्मज्ञ श्री भरत जी ने श्रीराम की उन दोनों पादुकाओं को हाथ में लेकर श्रीराम के चरणों

...आ और हाथ जोड़कर कहा—

...हररूप में रक्खा हुआ आपका सम्पूर्ण राज्य मन आज आपको लौटा दिया। आज मेरा जन्म सफल हो गया और मेरे समस्त मनोरथ पूर्ण हो गये, जो मैं अयोध्या में लौटकर आये हुए आप को देख रहा हूँ—इत्यादि।'

—इस प्रकार कहते हुए भ्रातृप्रेमी भरत को देखकर राक्षसराज विभीषण और सुग्रीवादि वानरों की आँखों से आँसुओं की धारा बह चली।

श्रीराम का राज्याभिषेक हो जाने के बाद भरत भी लक्ष्मण की भाँति ही श्रीराम की सेवा में रहने लगे। कुछ दिन बाद श्रीराम ने भरत के मामा का समाचार पाकर गन्धर्वों पर विजय करने के लिये भरत को भेजा। भरत ने भगवान् की आज्ञा पालन करने के लिये ही वहाँ जाकर गन्धर्वों पर विजय प्राप्त की। पुनः भगवान् के आज्ञानुसार वहाँ के राज्य पर अपने पुत्रों का अभिषेक करके वे शीघ्र ही भगवान् के पास लौट आये और उनसे सब बातें कह दीं। पूरी बातें सुन लेने पर श्रीराम ने भरतकी प्रशंसा की और बहुत प्रसन्न हुए।

इसके बाद लक्ष्मण का त्याग करने पर श्रीरामचन्द्रजी ने परमधाम पधारने की इच्छा से भरत का राज्याभिषेक करने की बात कही, परन्तु भरत ने उसे स्वीकार नहीं किया। वे इस तरह की बात सुनते ही अचेत हो गये और चेत होने पर राज्य की निन्दा करते हुए बोले—

'राजन्! मैं निश्चपूर्वक सत्य तथा स्वर्ग की शपथ करके कहता हूँ कि मैं आपसे अलग रहकर राज्य भी नहीं चाहता।'

तब श्रीराम ने भरत की सलाह से कुश और लव को राज्य पर अभिषिक्त किया और शत्रुघ्न को बुलाकर सब के साथ परमधाम पधार गये।

वास्तव में भरत की राम-भक्ति जगत् के इतिहास में अद्वितीय है। इनका त्याग, संयम, व्रत, नियम—सभी सराहनीय और अनुकरणीय हैं। इनके चरित्र से स्वार्थ-त्याग, विनय, सहिष्णुता, गम्भीरता, सरलता क्षमा वैराग्य और स्वामिभक्ति आदि सभी गुणों की शिक्षा ली जा सकती है। भक्ति-सहित निष्काम भाव से गृहस्थ में रहते हुए प्रजा पालन करने का ऐसा सुन्दर उदाहरण अन्यत्र मिलना कठिन है।

रे मन मूरख जनम गँवायो।

रे मन मूरख जनम गँवायो।
कर अभिमान विषय सों राच्यो नाम सरनि नहिं आयो॥
यह संसार फूल से को, सुन्दर देखि लुभायो।
चाखन लग्यो रुई उड़ि गई, हाथ कछू नहिं आयो॥
कहा भयो अबके मन सोचे, पहिले नाहिं कमायो।
'सूरदास' हरि-नाम भजन बिनु, सिर धुनि-धुनि पछितायो॥

—सूरदास जी

पूर्वजों के आदर्श चरित्रों से संयम-शिक्षा

श्री मत्परमहंस परिव्राजकाचार्य, श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ १०८ स्वामी महेश्वरानन्द जी महाराज मह
सन्यासाश्रम-विले-पारला बम्बई ;)

वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां, गृहेऽपि पंचेन्द्रिय निग्रहस्तपः ।
अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्तते, निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम् ॥

संयम-सदाचार का महत्व

'आचारः प्रथमो धमः' सदाचार ही मुख्य धर्म है । निषिद्ध प्रवृत्तियों से मन का संयम ही सदाचार है । जिसमें आचार एवं विचार का योग है, उसका नाम सदाचार है । इसका मूल बीज ब्रह्मचर्य है । जिस प्रकार बीजके सूक्ष्म अवयव समग्र वृक्ष में ओत-प्रोत होते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य ही समग्र आचारणों में सूक्ष्म रूप से ओत-प्रोत रहता है । ब्रह्मचर्य बिना कोई भी आचरण शुभ एवं सफल नहीं माना जाता । इसलिये हमारे शास्त्रों में कहा है कि—

'ब्रह्मचर्येस्थितोधर्मो ब्रह्मचर्ये स्थितं तपः ।
ब्रह्मचर्यात्परं नास्ति धर्मसाधनमुत्तमम् ।

ब्रह्मचर्य व्रत में ही धर्म तथा तप अवस्थित रहते हैं । ब्रह्मचर्य बिना धर्म तथा तप की सिद्धि ही नहीं होती । इसलिये ब्रह्मचर्य से बढकर और कोई भी धर्म का उत्तम साधन नहीं माना गया है । अर्थात् सदाचारादि धर्मों का उत्तम साधन ब्रह्मचर्य ही है ।

वीर्यका संरक्षण करना, उसका धर्मविरुद्ध अपव्यय न होने देना, यही ब्रह्मचर्य का स्वरूप है । इसलिये कहा है कि—

'आहारस्य परं सारं शुक्रं तद्रक्ष्यमादरात् ।
क्षये ह्यस्य बहून् रोगान् मरणं वा नियच्छति ॥
तस्माद्वीर्यं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ।
यावद्वीर्यं स्थिरं देहे तावद्रोगभयं कुतः ॥

आहार का उत्तम सार शुक्र है—जिस प्रकार पुष्पों का सार इत्र और दुध का सार मक्खन, अतएव उसका आदरपूर्वक संरक्षण करना चाहिये । इसका व्यर्थ क्षय होने पर बहुत रोग तथा अकाल मरण भी प्राप्त हो जाते हैं । इसलिये वीर्य का तथा मनका, बुरी संगति, बुरे विचार, खराब आहार आदि से प्रयत्न पूर्वक संरक्षण करना चाहिये । जब तक शरीर में वीर्य स्थिर एवं सुरक्षित रहता है तब तक रोगों का भय कैसे हो सकता है ? इसलिये—

मृत्युव्याधिजरानाशि पीयूषं परमौषधम्
ब्रह्मचर्यं महद्बलं सत्यमेव वदाम्यहम् ॥
शान्ति कान्ति स्मृतिं, ज्ञानमारोग्यं शुभसन्ततिम्
यदीच्छति महद्धर्मं ब्रह्मचर्यं चरेदिह ॥

ब्रह्मचर्य मृत्यु व्याधि एवं बुढ़ापे का नाशक श्रेष्ठ औषध है, अमृत के समान सुख दाता है । ब्रह्मचर्य ही शारीरिक बौद्धिक एवं आत्मिक बल है । यह मैं सत्य ही कहता हूँ । यदि तू मन की शान्ति, शरीर की कान्ति, बुद्धि की स्मृति एवं ज्ञान शक्ति, आरोग्य तथा शुभ सन्तान चाहता है तो महान धर्मरूप ब्रह्मचर्य का पालन कर ।

कुछ लोग कहते हैं कि-हम तो गृहस्थ हैं, विवाहित हैं, इसलिये हमारे लिये ब्रह्मचर्य कैसा ? साधु

न्यासी त्यागी ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये। हमारे लिये तो किसी प्रकार का संयम का बन्धन नहीं होना चाहिये। अर्थात् हम मनमाना जैसा चाहे वैसा उच्छृङ्खल जीवन व्यतीत कर सकते हैं। उनका ऐसा कहना भ्रान्तिपूर्ण है। उनको समझ लेना चाहिये कि विवाह क्या चीज है? उसका क्या उद्देश्य है? विवाहका उद्देश्य अनर्थकारी विलास कदापि नहीं। वह विवाहित स्त्री, भोगपत्नी नहीं-किन्तु धर्मपत्नी मानी गई है, जिसके द्वारा धर्म का पालन कर अभ्युदय एवं निःश्रेयस प्राप्त किया जासके। इसलिये शास्त्रों में कहा है:-

'विवाहो न विलासार्थः, प्रजाय एव केवलम्।
तेजोबुद्धिबलध्वंसो विलासात्प्रभवेत्खलु॥
अतएव परित्यज्य विलासं मोहकारणम्।
संभियम्येन्द्रियग्रामं विचारेण सुखी भवेत्॥'

विवाह, विलास के लिये नहीं है, किन्तु योग्य-प्रजा की उत्पत्ति के लिये है। विलास से तेज, बुद्धि एवं बल का निश्चय ही विध्वंस हो जाता है। इस लिये मोहरूपी कारण से होने वाले विलास का परित्यागकर, इन्द्रिय समुदाय का संयमकर, विचारद्वारा सुखी होना चाहिये।

धर्मशास्त्र के अनुकूल जो काम है, वह गृहस्थके लिये एक प्रकार का ब्रह्मचर्य है। इसलिये हमारे शास्त्रों में कहा है कि:-

'परदारपरित्यागात्, स्वदारपरितुष्टितः।
ऋतुकालाभिगामित्वात् ब्रह्मचारीगृहीरितः॥'

गृहस्थ परदारा का सर्वथा त्याग करे, उसमें भूल से भी कभी राग न करे। अपनी विवाहित भार्या में ही सन्तुष्ट रहे, और योग्य सन्तान की उत्पत्ति के लिये ऋतुकाल में ही भार्या से सम्बन्ध करे, ऐसे धर्मशास्त्रीय—नियमका पालन करनेवाला सद्गृहस्थ ब्रह्मचारी है, उसका संयमपूर्ण काम, धर्मशास्त्रके अविरुद्ध है। उस रूपसे वह भगवदीय दिव्य-आनन्द का उपभोग कर सकता है। इसलिये हमारे धर्मशास्त्रों ने ब्रह्मचर्य का बड़ा महत्त्व बतलाया है कि:—

'अधीहि भो! किं पुण्यं इति, ? ब्रह्मचर्यमिति,
किं लोक्यमिति ? ब्रह्मचर्य एवेति।'
(अथर्ववेदीय-गोपथ-ब्राह्मण-२।५)

गुरुदेव से शिष्य प्रश्न करता है—कृपया कहिये भगवन्! इस लोक में पुण्य क्या है? गुरुदेव उत्तर देते हैं कि—ब्रह्मचर्य। यही एक बड़ा प्रत्यक्ष पुण्य है, जिसका महान प्रशस्त फल शीघ्र यहाँ ही मिल जाता है। फिर शिष्य पूछता है—कृपानिधान जी! उत्तम लोक की प्राप्तिका साधन क्या है? गुरुदेव कहते हैं—ब्रह्मचर्य। ब्रह्मचर्य ही एक ऐसा प्रशस्त साधन है कि—जिसके द्वारा इस लोक में या परलोक में मानव प्रचुर-सुख-शान्ति का लाभ प्राप्त कर सकता है।

इस विषय में हमारे विशुद्ध चरित-मान्य-पूर्वजों का कैसा उत्तम आदर्श था। वे शास्त्रीय मर्यादाओं में रहकर किस प्रकार अपने मनको संयत रखते थे। अतएव उनके शिक्षाप्रद कुछ प्रशस्त चरित्रों का यहाँ अनुसंधान किया जाता है—

भगवान् श्रीराम का आदर्श चरित्र।

विश्वामित्र महर्षि के साथ भगवान श्रीराम एवं श्रीलक्ष्मण, महाराज जनककी मिथलापुरी में जब धनुष-यज्ञ देखने गये थे, तब किसी समय भगवान श्रीराम, लक्ष्मण जी को साथ लेकर जनककी पुष्पवाटिका में टहलने गये थे। उससमय वहाँ गौरीपूजन के लिये सखियों के सहित आई हुई भगवती जनकनन्दिनी सीताजी को देखकर भगवान श्री रामने लक्ष्मण जी से इस प्रकार कहा था कि:—

तात! जनक तनया यह सोई, धनुषजग्य जेहि कारण होई।
पूजन गौरी सखी लै आईं, करत प्रकासु फिरई फुलवाईं॥

जासु विलोकि अलौकिक शोभा,
सहज पुनीत मोर मनु छोभा।
सो सबु कारण जान विधाता,
फरकहिं सुभद अंग सुनु भ्राता॥

हे तात लक्ष्मण ! यह वही जनक जी की कन्या है, जिसके लिये धनुपयज्ञ हो रहा है। सखियाँ इसे गौरी पूजन के लिये ले आयी हैं; यह फुलवाड़ी में अपने अनुपम-सौन्दर्य का प्रकाश करती हुई फिर रही है। जिसकी अलौकिक सुन्दरता देखकर स्वभाव से ही पवित्र मेरा मन क्षुब्ध होगया है; अर्थात् उसमें अनुराग उत्पन्न हो गया है, उसका सब कारण तो विधाता जाने किन्तु हे भाई ! सुनो, मेरे मंगलदायक दाहिने अंग फड़क रहे हैं।

रघुवंसन्ह कर सहज सुभाऊ,
मनु कुपंथ पगु धरइन काऊ।
मोहि अतिशय प्रतीति मन केरी,
जेहि सपनेहुं परनारी न हेरी॥
जिन्हके लहहिं न रिपु रन पीठी,
नहिं पावहि परतिय मनु डीठी।
मंगन लहहि न जिन्हके नाहीं,
ते नरवर थोरे जग माहीं॥

रघुवंशियों का यह सहज अर्थात् जन्मगत स्वभाव है कि, जिनका मन कभी कुमार्ग पर पैर नहीं रखता। मुझे तो अपने मन का अत्यन्त ही विश्वास है कि—जिसने जाग्रत की कौन कहे ? स्वप्न में भी पराई स्त्री पर दृष्टि नहीं डाली है, रण में शत्रु जिनकी पीठ नहीं देख पाते, अर्थात् जो युद्ध के मैदान से भागते नहीं, पराई स्त्रियाँ जिनके मन और दृष्टि को नहीं खींच पातीं, और भिखारी जिनके यहाँ से 'नाहीं' नहीं पाते, अर्थात् खाली हाथ नहीं लौटते, ऐसे श्रेष्ठ पुरुष संसार में थोड़े हैं।

भगवान् श्रीराम का, विदेह कुमारी—श्रीजानकी में इसलिये ही अनुराग उत्पन्न हो गया था, कि वह भविष्य में उनका पाणिग्रहण करेगी—धर्म पत्नी बनेगी। यदि वह धर्मपत्नी न बनती, तो भगवान् श्रीराम के पवित्र मन में उसके सौन्दर्य के प्रति कदापि आकर्षण या अनुराग उत्पन्न नहीं होता। अनुराग द्वारा तथा अंग-फड़कन द्वारा भगवान् श्री रामने परोक्ष रूप से लक्ष्मण जी को यह सूचित कर दिया था कि, उसके साथ मेरा विवाह अवश्य होगा।

पवित्र एवं संयमी अन्तःकरण की गवाही सर्वथा निर्भ्रान्त होती है। अतएव इस विषय में महाकवि कालिदास ने अपने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाम के नाटक में ऐसा कहा है कि—

सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु
प्रमाणमन्तः करणप्रवृत्तयः ॥

अर्थात् संदेहयुक्त वस्तुओं के निर्णय के लिये सतपुरुषों के पवित्र अन्तःकरण की वृत्तियाँ ही प्रमाण भूत हो जाती हैं। क्योंकि संयमी महापुरुषों के हृदय के शुद्धभाव कभी मिथ्या नहीं हो सकते। यह है आर्यवीर भगवान् मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम का संयमपूर्ण धर्माविरुद्ध मर्यादा का विशुद्ध आदर्श, उनके हृदय में काम है—अनुराग है परन्तु धर्म की मर्यादा से अविरुद्ध।

श्री लक्ष्मण जी का आदर्श चरित्र

एवं श्री लक्ष्मण जी का जीवन भी कितना आदर्श पूर्ण था। श्री राम की सेवा के लिये ही वे अपनी नवयुवती धर्म पत्नी का चौदह मास नहीं किन्तु चौदह वर्ष के लिये-परित्याग कर कैसा अच्छा प्रशंसनीय संयम पूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं। यह उनके एक चरित्र से आप समझ सकते हैं, जिस समय दुष्ट-रावण, भगवती जगदम्बा श्री सीता जी को आकाश मार्ग से ले जा रहा था, उस समय भगवती ने परिचय के लिये अपने कुछ आभूषण नीचे

डाल दिये थे । भगवान श्रीराम, लक्ष्मण श्री सीता जी को इधर उधर ढूंढते हुए उस जगह पर आये जहाँ वे आभूषण पड़े थे। आभूषणों को देखकर उस समय भगवान श्रीराम ने लक्ष्मण जी से कहा था कि—हे प्रिय भाई ! देखो तो ये आभूषण किसके हैं ? जानकी के तो नहीं हैं, इनको पहिचानो, उस समय श्री लक्ष्मण जी ने आभूषणों को देखते हुए इस प्रकार कहा था—

नाहं जानामि केयूरे, नाहं जानामि कुण्डले ।
नूपुरे त्वभि जानामि, नित्यं पादभिवन्दनात् ॥

मैं श्री सीता जी के केयूरों को नहीं पहिचानता क्यों कि ये हाथ के आभूषण हैं, मैं कुण्डलों को भी नहीं पहिचानता, क्योंकि ये-कान के आभूषण हैं इसलिये नहीं पहिचानता हूँ कि-वहाँ तक मेरी दृष्टि जाती ही नहीं थी। मैं केवल इन चरणों के आभूषण नूपुरों को पहिचानता हूँ-क्योंकि-मैं नित्यप्रति श्री जानकी माता के चरणों का वन्दना करने जाता था, इसलिये मेरी दृष्टि चरणों की तरफ जाती थी इसलिये निश्चय से मैं कह सकता हूँ कि ये नूपुर भगवती श्री सीता जी के हैं।

प्रिय सज्जनों ! ध्यान देवें कि श्री लक्ष्मण जी का और स्त्रियों की तो क्या बात ? किन्तु अपने भ्राता की पत्नी के विषय में भी कितना अच्छा ऊँच कोटि का प्रशंसनीय मनःसंयम था। यह है सनातन धर्म की प्रशस्त मर्यादा तथा आर्य जातिका धर्मानुकूल पवित्र आचरण। इस वर्तमान समय के देवर भावज आदि में हँसी ठट्ठा दिल्लगी आदि असभ्य-व्यवहार की उस पावन व्यवहार से तुलना करें तो आपको जमीन आसमान का अन्तर मालूम पड़ेगा, स्वर्ग का वह पावन दृश्य, नरक के वीभत्स दृश्य से परिणत हुआ प्रतीत होगा।

श्री अर्जुन का आदर्श चरित्र ।

आइये, अब आप अर्जुन के पावन चरित्र को सुनें। अर्जुन गृहस्थ था, अतएव वह सर्वथा निष्काम तो नहीं था। उसके हृदय में काम था परन्तु वह धर्मविरुद्ध नहीं था। धर्मविरुद्ध कामको वह सर्वथा निन्द्य एवं हेय समझता था। और धर्मानुकूल काम को ही वह स्तुत्य एवं उपादेय मानता था।

जिस समय भगवान कृष्णद्वैपायन वेदव्यास की शुभ प्रेरणा से महारथी वीर अर्जुन स्वर्ग में देवाधिपति इन्द्र से धनुर्विद्या सीखने के लिये गया था देवराज इन्द्रने अर्जुन से तब कहा था कि—आप यहाँ स्वर्ग में कुछ रोज निवास करें, यदि आपको उस विद्या के लिये योग्य अधिकारी समझूंगा तो अवश्य उसकी शिक्षा मैं दूंगा। अर्जुन वहाँ देवराज की सम्मति के अनुसार एकान्तकी एक अच्छी जगह पर रहने लगा। इन्द्रने उस समय अर्जुन के संयम सदाचार की परीक्षा के लिये उर्वशी नाम की अप्सरा को अर्धरात्रि के समय भेजा था। उर्वशी समस्त अप्सराओं में से परम रूपवती एवं युवती थी। उसको अपने सौन्दर्य एवं यौवन का बड़ा घमण्ड था। वह समझती थी कि मुझे देखकर बड़े-बड़े देव भी सुध बुध खो बैठते हैं, तो इस भूतल-वासी साधारण मानव को अपने चंगुल में फँसाना कौनसी बड़ी बात है ? इसलिये वह इन्द्र की प्रेरणा से विविधि प्रकारके वस्त्राभूषणों से समलंकृत होकर अर्जुन को मोहित करने के लिये उसके निवास स्थान पर पहुँची। वहाँ जाकर उसने द्वार खट-खटाया। आवाज सुनकर उसने दरवाजा खोला। वह देखता है कि दरवाजे पर एक रूपवती युवती खड़ी है। उस समय अर्जुन ने एक साथ उससे इस प्रकार अनेक प्रश्न कर डाले कि—

का त्वं शुभे ! कस्य परिग्रहोऽसि ? किंवा मदभ्यागम कारणम् ते ?

हे शुभे ! तू कौन है ? किसकी भार्या है ? इस समय मेरे समीप आने का तुम्हारा क्या प्रयोजन है ? यह सब मुझे स्पष्ट बतलायें।

उर्वशी अप्सरा अर्जुन के समीप कुछ विलक्षण भाव लेकर ही आई थी। उसके विलक्षण हाव-भाव एवं कटाक्ष देखकर बुद्धिमान अर्जुन तुरन्त ही समझ गया कि अवश्य कुछ दाल में काला है। किसी बुरी नियत से यह यहाँ आई मालूम होती है। उस समय अर्जुन गम्भीर एवं शान्त होकर वीर रस से सने हुए शब्दों से इस प्रकार कहने लगा कि—

'आचक्ष्व मत्वा वशिनां कुरूणां
मनः परस्त्रीविमुख प्रवृत्तिः।

हे देवि ! तुझे यह भी याद रखना चाहिये कि हम भारतवासी हैं, आर्य सन्तान हैं, और इसमें भी हम पवित्र कुरुवंश में उत्पन्न हुए हैं, इसलिये हमारे मन दूसरों की स्त्रियों की तरफ कदापि नहीं झुक सकते।

इतना कहने पर भी उर्वशी ने जब निर्लज्ज होकर शब्दों द्वारा भी अपना गन्दाभाव प्रकट किया और अपने मायाजाल में फँसाने के लिये कामुकता-पूर्ण-ढंग से अनेक प्रकार के स्पष्ट हाव-भाव भी किये, तो भी शान्त स्वभाव से सिर को नीचाकर अर्जुन चुपचाप खड़ा रहा। उसके पवित्र मन में किसी भी प्रकार का विकार न होता देखकर उस समय हताश होकर उर्वशी कहने लगी कि—हे अर्जुन ! मेरी बात न मानकर तू बड़ी मूर्खता कर रहा है, तू मुझे पहिचानता तो ऐसी कभी मूर्खता न करता। मैं स्वर्गलोक की सभी अप्सराओं में से श्रेष्ठ अप्सरा हूँ। मेरी जैसी रूपयौवन-सम्पन्ना सुन्दरी तीनों लोकों में भी और कोई नहीं है। बड़े-बड़े देव भी मेरी कृपा दृष्टि की चाह रखते हैं। मैं त्रैलोक्य सुन्दरी उर्वशी हूँ। भूतलवासी मनुष्य के लिये मेरी प्राप्ति तो दूर की बात रही, परन्तु मेरा दर्शन भी दुर्लभ है। अतः तू मेरा अनादर कर अपनी मूर्खता का ही प्रदर्शन कर रहा है।" उसकी ऐसी बात सुनकर 'मातृवत् परदारेषु' का भाव प्रकट करता हुआ अर्जुन कुछ आश्चर्य के साथ उसके प्रति इस प्रकार कहने लगा कि "हे देवि ! मैं अभी तक तो यही मानता था कि—तीनों लोकों में मेरी माता कुन्ती देवी के समान सुन्दरी स्त्री और कोई नहीं है, इसलिये मुझे इस बात पर बड़ा गर्व था कि मैं एक परम-रूपवती त्रैलोक्य—सुन्दरी माता का पुत्र हूँ। यदि तू मेरी माता से भी अधिक सुन्दरी है तो जगन्नियन्ता भगवान तुम्हारे उदर से मेरा जन्म करता तो, मैं अपने को और भी अधिक गौरवान्वित एवं धन्य मानता।"

अर्जुन के ऐसे मार्मिक वचन सुनकर उर्वशी लज्जित हो गई। उसका खिला हुआ चेहरा मुरझा गया। कुत्सित—भाव प्रकट करने के लिये अब उसके मुख में तालासा लग गया। सिर नीचाकर चुपचाप खड़ी हुई उर्वशी के प्रति अर्जुन ने फिर भी मातृ भाव प्रकट करते हुए इस प्रकार कहा—

गच्छ मूर्ध्नि प्रपन्नोऽस्मि पादौ ते वरवर्णिनि,
त्वं हि मे मातृवत्पूज्या रक्ष्योऽहं पुत्रवत् त्वया।

हे अत्यन्त रूपवती देवि ! कृपया तू यहाँ से लौट जा। मैं तुम्हारे चरणों में अपने मस्तक को रखकर उनकी शरण लेता हूँ। तू मेरी माता के समान पूज्य है, इसलिये मैं तुम्हारे द्वारा पुत्र के समान रक्षण करने योग्य हूँ।

तुम जिस निन्दनीय इच्छा को लेकर यहाँ आई हो, उसकी पूर्ति मेरे द्वारा तीन काल में भी नहीं हो सकती। हे दयाशीले देवि ! हम भारतवासी हैं, आर्य-सन्तान हैं, शुद्ध क्षत्रिय वंश में उत्पन्न हुए हैं जिसमें—विश्वविख्यात बाल ब्रह्मचारी भीष्म जैसे धर्मवीर पैदा हुए हैं, इसलिए मैं धर्मविरुद्ध—आचरण द्वारा अपने पावन देश, पवित्र आर्य जाति एवं

विशुद्ध-क्षत्रिय वंश को कभी कलंकित नहीं होने दूँगा। ऐसा निन्दित आचरण करने पर तो मैं सदा के लिये नरक का कीड़ा बन जाऊँगा, लोग मेरी मुक्त कण्ठ से निन्दा करते रहेंगे। इसलिये तू मुझे अपना पुत्र समझ मेरे पर कृपा दृष्टि रख, आशीर्वाद देकर यहाँ से विदा हो।" अर्जुन के ऐसे पवित्र निःस्पृह एवं धर्मयुक्त वचन सुनकर उर्वशी अपना सा फीका मुँह लेकर इन्द्र के समीप वापस लौट गई, और इन्द्र के समक्ष आर्यवीर अर्जुन के धर्मानुकूल-पवित्र-आचरण की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगी।

सम्राट्-विक्रमादित्य का आदर्श चरित्र।

अर्वाचीन युगके भारत-सम्राट विक्रमादित्य को कौन नहीं जानता? वे बड़े प्रजावत्सल, परोपकारी एवं धर्मनिष्ठ थे। अतएव उनको जनता जनार्दन ने 'परदुःखभञ्जन' ऐसा प्रशंसनीय विरुद (टाईटल) प्रदान किया था। इसलिये वह बड़े हर्ष के साथ परदुःखभञ्जन-विक्रमादित्य के नाम का जयकारा लगाती रहती थी। उनके पावन नाम की स्मृति के लिये विक्रम संवत को चालू कर दिया था, जो अभी तक चलता आ रहा है। स्वदुःखभञ्जन करना कौन नहीं जानता? सभी जानते हैं, परन्तु परदुःखभञ्जन करना, साधारण व्यक्ति का काम नहीं है। परदुःखों का भञ्जन वही नरवर कर सकता है जो कि —धर्मनिष्ठ संयमी एवं भगवद्भक्त है। विक्रमादित्य इसलिये परदुःखभञ्जन हो सके थे कि वे धर्मनिष्ठ संयमी एवं भगवद्भक्त थे। ये सद्गुण आप उनके चरित्र से समझ सकते हैं—जब वे नवयुवक थे, उनके बड़े भाई भर्तृहरि जी राज्यसिंहासन पर आरूढ थे। वे केवल नवयुवक ही नहीं थे, किन्तु मन को मुग्ध करने वाले उत्तम कोटि के परम-सुन्दर भी थे। लोग उत्तम-मध्यम-एवं कनिष्ठ तीन कोटि के सुन्दर होते हैं। कनिष्ठ कोटि का सुन्दर है—जो शरीर से ही सुन्दर है—मन से नहीं। उसकी सुन्दरता इस प्रकार की है:—

मन मलिन तन सुन्दर कैसे?
विष-रस भरा कनक घट जैसे॥

जो शरीर से सुन्दर नहीं है—काला कलूटा है—परन्तु मन से बड़ा सुन्दर है, जिसके मन में पवित्र विचारों की पावन मंदाकिनी हरदम बहती रहती है—वह मध्यम कोटि का सुन्दर माना गया है। तथा जो शरीर से भी सुन्दर है, तथा मन से भी, वह उत्तम कोटि का प्रशस्ततम सुन्दर माना गया है। हमारे विक्रमादित्य भी ऐसे ही सुन्दर थे।

उनकी सुन्दरता देखकर उनके बड़े भ्राता—महाराज भर्तृहरि की महारानी पिंगला भी मोह मुग्ध हो गई थी। इसलिये उनको अपने फँदे में फँसाने के लिये उसने बहुत अनुनय विनय की। अनेक उपाय किये, तो भी वह किसी प्रकार सफल न हो सकी। आखिर उसने महाराणीत्व के गर्व से धमकी भी देना शुरु किया; परन्तु विक्रमादित्य उस अपने ज्येष्ठ-भ्राता की पत्नी में मातृभाव प्रगट करते हुए विनय के साथ इस प्रकार कहने लगे कि—"हे माता के समान पूजनीय देवि! इस विक्रमादित्य के द्वारा चाहे प्राण भी चले जाँय तो भी धर्मविरुद्ध निन्दनीय आचरण कदापि नहीं हो सकता। प्राण समर्पण करने पर भी यदि धर्म का पालन होता है तो—बड़े हर्ष के साथ धर्म रक्षा के लिये प्राणों का उत्सर्ग कर देना चाहिये। प्राण बचाने के लिये भी कभी धर्म का नाश नहीं होने देना चाहिये। इसलिये—हमारे प्रामाणिक-धर्मशास्त्रों में ऐसा ही कहा है कि:—

न जातु कामान्न लोभान्न मोहात् धर्मं।
जह्यात् जीवितस्यापि हेतोः॥

काम, लोभ, एवं मोह के वश में होकर कभी भी धर्म का त्याग नहीं करना चाहिये। और तो क्या? जीवन के लिये भी धर्म का नाश नहीं होने

देना चाहिये । जीवन जाता है तो जाने देना चाहिये परन्तु धर्म को किसी कष्टमयी दशा में भी नहीं जाने देना चाहिये । अतः हे देवि ! तुम भी धर्म-विरुद्ध निन्दनीय आचरण मत करो, मेरे तथा अपने पर कृपा दृष्टि रक्खो ।"

अपने देवर विक्रमादित्य के ऐसे धार्मिक वचन सुनकर भी उनके हृदय में शान्ति के बदले अपनी मूढ़ता के कारण 'सर्प के पयःपान के समान' क्रोध उत्पन्न हुआ । और उसने अपने पति महाराज भर्तृहरि के प्रति निर्दोष विक्रमादित्य की झूठी शिकायत कर उसको वन में निवास करने की आज्ञा दिलाई । विक्रमादित्य अपने ज्येष्ठ भ्राता की आज्ञा शिरोधार्य कर प्रसन्न मन से वन में चले गये। वहाँ भी वे पावन नदी-पुलिन के किसी एकान्त स्थान में निवास करने वाले वीतराग विद्वान् महात्माओं के दर्शन एवं सत्संग, तथा शिवभक्ति एवं तत्वविचार करते हुए अपने को धन्य समझते थे, और अपने आराध्य देव से कहते थे कि:—

राज़ी हैं हम उसीमें, जिसमें तेरी रज़ा है।
यहाँ यूं भी वाह वाह है, और त्यूं भी वाह वाह है ॥

वन में इधर-उधर भ्रमण करते हुए-वे किसी समय एक आरण्यक भील-राजा के अतिथि हुए थे । वे सुन्दर एवं युवक तो थे ही, इसलिये उस भील राजा की राणी भी उनके प्रति आकृष्ट होकर एकान्त में प्रेम प्रकट करती हुई इस प्रकार प्रार्थना करने लगी थी कि "मैं बहुत दुखिनी हूँ, दुःख-निवारण के लिये आपसे आपके जैसा सुन्दर पुत्र उत्पन्न करना चाहती हूँ, अतः आप इसमेरी प्रार्थना को अवश्य सफल करें। उसकी ऐसी धर्मविरुद्ध अनुचित बात सुनकर धर्मनिष्ठ, जितेन्द्रिय, शिवभक्त विक्रमादित्य ने एक श्लोक बोलकर उसके विह्वल मनको इस प्रकार शान्तकर दिया था कि:—

'माता च पार्वती देवी, पिता देवो महेश्वरः ।
बान्धवाः शिवभक्ताश्च स्वदेशो भुवनत्रयम् ॥'

मेरी माता भगवती पार्वती देवी हैं, और पिता भगवान महेश्वर हैं। शिव के भक्त मेरे बान्धव हैं, और तीन भुवन मेरा स्वदेश है ।

मेरी माता का नाम पार्वती है, और तेरा भी नाम पार्वती है, इसलिये तू निश्चय से मेरी माता हो गई । सम्भव है कि—मेरे द्वारा मेरे जैसा पुत्र उत्पन्न न भी हो सके—तथा उसके लिये धर्म-विरुद्ध, निन्दित कार्य भी करना पड़ता है—जिसकी मेरे लिये स्वप्नों में भी कल्पना नहीं हो सकती। तुझे मेरे जैसे पुत्र की आवश्यकता है, तो 'जैसे' को छोड़ कर साक्षात् मुझे ही तू अपना पुत्र मान ले। आज से मैं तेरा पुत्र हो गया । इसलिये मैं पुत्र के समान तुझ माता के चरणों में श्रद्धा पूर्वक वन्दना करता हूँ। विक्रमादित्य की ऐसी—धर्म एवं युक्तियुक्त बात सुनकर वह लज्जित हो गई और वह कुत्सित भाव परित्यागकर विक्रमादित्य को तब से अपने पुत्र के समान निर्दोष प्यार करने लगी । इस प्रकार विक्रमादित्य बड़े संयमी थे, धर्मविरुद्ध निन्दनीय काम का मर्दन कर वे सदा पवित्र धर्म का ही पालन करते थे, यह था उनका उच्चकोटि का आदर्श चरित्र ।

आदर्श-चरित्र लाभ एवं उच्छृङ्खल काम मर्दन के उपाय

धर्म विरुद्ध निन्दनीय उच्छृङ्खल काम का मर्दन करने के लिये तथा आदर्श चरित्र लाभ के लिये शुद्धवातावरण, सात्त्विक आहार, शुभसंगति, भगवद्भक्ति, विवेक, विचार आदि अनेक साधनों की आवश्यकता होती है। इन साधनों के विना कोई भी धर्म विरुद्ध काम का मर्दन नहीं कर सकता। यह प्राणी काममय है। पद पद पर काम आकर

खड़ा हो जाता है। अतः उसके निवारण के लिये प्रतिपल पवित्र विचारों की मन्दाकिनी बहाते रहना चाहिये । जिसकी आपातरमणीयता पर तथा सुख भावना पर मानव आकृष्ट होकर धर्म विरुद्ध आचरण कर पाप एवं अपयश का संचयकर बहुत दुःखी होता है । अतएव कवि कुलगुरु कालिदास ने भ्रान्त मानवों को अनयोक्ति के द्वारा उपदेश देने के लिये भ्रान्त भ्रमर के वृतान्त का वर्णन इसप्रकार किया है ।

'गन्धाश्चास्या भुवनविदितः केतकी स्वर्णवर्णा,
पद्मभ्रान्त्या चपलमधुपः पुष्पमध्येपपात ।
अन्धीभूतः कुसुमरजसा कण्टकैर्लूनपक्षः,
स्थातुं गन्तुं द्वयमपि सखे ! नैव शक्तो द्विरेफः ॥'

केतकी-पुष्प सुवर्ण के समान पीतवर्ण है, और उसकी सुगन्धि अत्यन्त उत्कृष्ट विश्व विदित है। इसलिये पुष्पमधुलुब्ध भ्रमर उस पुष्प के बीच कमल की भ्रान्ति से कूद पड़ता है। अर्थात् उसका आपात-रमणीय रंग देखकर; तथा उसकी सुगन्धि से आकृष्ट होकर उसकी वास्तविकता को न जान कर उसमें गिर जाता है, और उसको सुख के बदले मिलता है दुःख । उस पुष्प के पराग, उसकी आँखों में घुस जाते हैं, इस लिये वह अन्धा बन जाता है। तथा उसके काँटों से उसकी पाखें छिद जाती हैं। ऐसी हालत में वह भ्रान्त-भ्रमर बैठने एवं चलने के लिये समर्थ नहीं होता, वहाँ ही उसे अनेक—प्रकार का कष्ट भोगकर मर जाना पड़ता है । उसी प्रकार यह भ्रान्त मानव भी शब्दादि विषयों की आपात रमणीयता को देखकर तथा उनमें सुख भावनाकर अपना सर्वनाश कर बैठता है— भ्रान्ति से समझता है कि इनके द्वारा मुझे बड़ी तृप्ति एवं बड़ा सुख मिलेगा । परन्तु उसे तृप्ति के बदले बड़ी-तृष्णा और सुख के बदले प्रचुर-दुःख ही मिलता है ।

अतएव श्रीमद्भागवत के सप्तम-स्कंध में भगवान् श्रीनृसिंह की स्तुति करते हुए भक्त प्रवर प्रह्लाद जी ने कहा था कि:—

'यन्मैथुनादि गृहमेधिसुखं हि तुच्छं,
कण्डूयनेन करयोरिव दुःखदुःखम् ।
तृप्यन्ति नेह कृपणा बहुदुःखभाजः,
कण्डूतिवन्मनसिजं विषहेत धीरः ॥'
(७/९/४५)

हे प्रभो ! गृहस्थ के जो मैथुनादि विषय-सुख हैं, वे खुजली के समान हैं । जिस प्रकार हाथों से खुजलाने पर खुजली में प्रथम कुछ चैन पड़ने पर भी फिर अधिकाधिक जलन का दुःख ही बढ़ता है । उसी प्रकार ये विषय भोग, अत्यन्त तुच्छ एवं दुःखों के ही बढ़ाने वाले हैं । किन्तु भ्रान्त-जन, अनेकों दुःख भोगने पर भी इनसे तृप्त नहीं होते । परन्तु इनके लिये तृष्णावश दीन ही बने रहते हैं । अतः धीर-विवेकी पुरुष विचार द्वारा खुजली के समान कामादिक वेगों को सहन कर लेता है—उनके वश में नहीं होता है ।

इस प्रकार जो मानव विवेक, वैराग्य-विचारादि द्वारा धर्मविरुद्ध काम का मर्दन करता है, एवं अपने चरित्र को आदर्श बनाता है । उसका मानव जीवन धन्य एवं प्रशंसनीय हो जाता है । उसे अवश्य ही अनन्य भक्ति एवं अद्वैत-ज्ञान का लाभ होता है, एवं उनके द्वारा वह मोक्ष सिद्ध कर लेता है । इतिशम् ।

चरित्र-निर्माण से चतुर्वर्ग की प्राप्ति

(श्रीमद् उदासीन परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ श्री १०८ श्री स्वामी सुरेश्वरानन्द जी महाराज मण्डलेश्वर, न्याय वेदान्ताचार्य, कनखल हरिद्वार)

परात्पर प्रभु की अपार अनुकम्पा का ही फल है, आज पंचम वर्ष का विशेषांक "चरित्र-निर्माण अंक के रूप में जनता-जनार्दन के सम्मुख प्रसरित हो रहा है। जिस चरम अभिप्रेत को लेकर दैवी सम्पद् मण्डल की स्थापना हुई है, अपने उस वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति 'परमार्थ' मासिक पत्र द्वारा भक्ति ज्ञान वैराग्य सदाचार आदि गुणों के विकास द्वारा व्यक्ति-देश व राष्ट्र में अध्यात्मवाद के प्रचार-प्रसार के एक अभिनव मार्ग को अपना कर विज्ञान प्रचुर विश्व को बौद्धिक कुशलता का परिचय दिया। और आशा है इसी प्रकार उत्साहपूर्वक कार्य होता रहा तो अल्प समय में ही एक अनुपम साहित्य का सञ्चार संसार में होगा और संसार उसको अपना कर अपने को कृतकृत्य मानेगा।

परमार्थ के सहृदय उत्साही बन्धुओं को धन्यवाद, जिन्होंने चरित्र निर्माण अंक निकालने का प्रयास किया है। अर्वाचीन समय में इसकी महती आवश्यकता है क्योंकि राष्ट्र का निर्माण और परमार्थ वस्तु की प्राप्ति का मूल कारण चरित्र निर्माण पर ही अवलम्बित है।

चरित्र-निर्माण

हम मानव हैं, मनु की सन्तान हैं। हमारे पूर्वज सनक सनन्दन सनत्कुमार ऋषि महर्षि आदि हैं। वेद-उपवेद, दर्शन-पुराण, स्मृति-इतिहास आदि वैदिक वाङ्मय हमारे धर्म ग्रन्थ हैं जिन पर हमारी संस्कृति आधारित है। हमारे वाङ्मय ने हमें मर्यादा के सूत्र में इस प्रकार ग्रथित कर रक्खा है कि हम एक क्षण भी अमर्यादित नहीं हो सकते।

सुन्दर प्रासाद को स्थायी रखने के लिये उसकी नींव की परिपुष्टि का विशेष ध्यान रक्खा जाता है। सुना है न्यूयार्क के मकान ५६-५६ मंजिल(खंड) के होते हैं और जितनी मजबूती मकानों की होती है उससे भी अधिक उनकी नींवों की भराई पर विशेष ध्यान दिया जाता है। यही कारण है वे मकान सैकड़ों वर्ष पर्य्यन्त ज्यों के त्यों खड़े रहते हैं। यह नियम है कि आधेय वस्तु की स्थायिता आधार वस्तु की स्थायिता पर आधारित रहती है। ठीक इसी प्रकार हमारा वैदिक साहित्य चरित्र-निर्माण को प्रधान मानकर इसी की सुदृढ़ता की शिक्षा दीक्षा देता है।

चरित्र-निर्माण मूल स्तम्भ है। चरित्र-निर्मित हो जाने पर उसके सहारे से होने वाले समस्त धार्मिक मर्यादित श्रेय-प्रेय कार्य भी सुगमता से हल किये जा सकते हैं। भारतीय संस्कृति के अनुसार परिपोषित माता-पिता के शुभ संस्कारों से समन्वित धार्मिक संस्कारों को लेकर पुत्र जन्मता है और मर्यादित संस्कृति में शिक्षित-दीक्षित हो चरित्र निर्माण कर धर्म-अर्थ, काम-मोक्ष के साधने में समर्थ होता है। भारतीय वैदिक वाङ्मय चरित्र की प्रधानता को महत्व देता है। व्यक्ति के निर्माण से परिवार का निर्माण, परिवार के निर्माण से कुटुम्ब-ग्राम-देश-जन पद और राष्ट्र का निर्माण अवश्यंभावी है। संस्कृति के निर्माण में केवल व्यक्ति

ही मूल कारण है और व्यक्ति को सुसंस्कार सम्पन्न बनाने में हमारा धार्मिक साहित्य ही साधक है। सच्चारित्र्य मानव का दूषण नहीं अपितु भूषण है और राष्ट्र के अपकर्ष की नहीं अपितु उत्कर्ष की कुञ्जी है। चरित्र-निर्माण ही सच्चा राष्ट्र निर्माण है ऐसा कह दिया जाय तो मेरे विचार से कोई अत्युक्ति नहीं है। आर्ष साहित्य का मूल मन्त्र और निष्ठभूत सिद्धान्त—'आचारः प्रथमो धर्मः'—है जो चरित्र-निर्माण का एक प्रधान अङ्ग है। यही तो प्रातः कमनीय वेला से लेकर साय शयन पर्य्यन्त व्यक्ति को मर्यादित सूत्र में आवद्ध कर सदाचार के मार्ग का पथिक बनाता है और व्यर्थ की बातों से हटाकर व्यक्ति के चरित्र के स्तर को ऊँचा बनाता है।

मानव गृहस्थ जीवन के समस्त कार्यों को मर्यादित रूप से करता हुआ और अपने चरित्र बल को बढ़ाता हुआ उन्नत होता है। शास्त्र आदेशानुसार अपनी वैयक्तिक दिनचर्य्या का सदुपयोग कर ऊँचा उठता है। 'सत्यं वद' 'धर्म' चर' यह उसका मुख्य कर्तव्य कार्य हो जाता है। चरित्र-निर्माण का प्रयोजन केवल एक अंश को लेकर नहीं है अपितु समस्त वैदिक मर्यादित धार्मिक शास्त्र प्रतिपादित पद्धति से है। खाना-पीना, उठना-बैठना, बोलना-चालना, आहार-विहार सद्व्यवहार, शौचाचार-स्नान-ध्यान, मातृ सत्कार, पितृसत्कार, आचार्यसत्कार, अतिथि सत्कार, शिक्षा-दीक्षा, दान-धर्म, तप-त्याग, सन्तोष अहिंसा, सत्यवादिता, सत्य कारिता मधुर भाषिता, धर्मनिष्ठा शिष्टजन आदित समयोपयोगी कार्य शीलता आदि ये समस्त कार्य चरित्र निर्माण में उपादेय हैं। धर्मशास्त्र में धर्म के दश लक्षण बताए हैं:—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

धृतिः-धैर्य को अपनाना, क्षमा-क्षमाशीलता, दमः-अन्तरिन्द्रिय निग्रह, अस्तेयं-पराई वस्तु का अपहरण नहीं करना, शौचं-शुद्धाचार-विचार शीलता इन्द्रियनिग्रह-बाह्येन्द्रिय निग्रह धीः-निश्चयात्मिका बुद्धि, विद्या-सद्विद्या का आदान-प्रदान, सत्यं-सत्यशीलता, अक्रोधः-क्रोध का त्याग—ये सब चरित्र निर्मित होने के परम साधन हैं। यम-नियम आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान समाधि ये योग-साधन के अंग हैं, इनसे भी चरित्र गठन होता है। यम-नियम के जो पाँच भेद बताये गए हैं जैसे यम-ब्रह्मचर्य-अहिंसा-सत्य-अस्तेय तथा अपरिग्रह और नियम-शौच-सन्तोष-तप-स्वाध्याय-ईश्वर प्रणिधान ये सब सद्गुण चरित्र बल के प्रोज्ज्वलित करने में परम सहायक हैं। जब तक मनुष्य उपर्युक्त बातों को नहीं अपनाता, तब तक सदाचार-सम्पत् सम्पन्न बन नहीं सकता। अशन वसन जिसको अंग्रेजी में कहा है—Simple living and high thinking सादा जीवन उच्च विचार-विमर्श चरित्रवान् व्यक्ति का प्रोज्ज्वल भूषण है। धार्मिक शिक्षा में दीक्षित पुरुष का अन्तःकरण निर्मल एवं उसका आचार विचार परिशुद्ध और चित्ताकर्षक होता है। वह सद्गुणों का केन्द्र बन जाता है। चरित्र को कलुषित करने वाले कुत्सित विचार उसके समीप नहीं आने पाते। एक अंग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक ने लिखा है—Empty mind is a devil's work shop—शुभ विचार रहित मन अशुभ विचार वृन्द का निलय होता है। शास्त्रीय सद्विचार गुम्फित मन में अशास्त्रीय कुत्सित विचार को रहने का स्थान ही कहाँ? सच्चारित्र्य स्वास्थ्य सम्पत्ति का सम्पादक है। चारित्र्य-बल से मनुष्य कठिन से कठिन कार्य को भी सरलता से साध सकता है। चरित्र के बल से ही योग-जप-तप में सिद्धियाँ तत् क्षण हो जाती हैं। चरित्र निर्माण केवल व्यक्ति के ही निर्माण का नहीं अपितु समाज देश और राष्ट्र के निर्माण का अनैकान्तिक साधन है। सच्चारित्र्य सार्वभौम धर्म

एवं सर्वाङ्गीण सौन्दर्य का प्रद्योतक और संवर्द्धक है। चरित्रवान् व्यक्ति कुसंगति-विलासिता चलचित्र आदि व्यर्थ के आडम्बरों से सदा बचा रहता है। जिन दुर्व्यसनों से वित्त व्यय, मानसिक शक्ति का ह्रास और मनोभाव विकृत होते हैं ऐसे आविल (दुष्ट) शिष्ट-सन्त असमादृत व्यसनों को कदापि अपनाना नहीं चाहता चरित्रवान् अपनी रक्षा, जाति देश की रक्षा समझता है और अपनी रक्षा अपनी संस्कृति की रक्षा समझता है एवं संस्कृति की संरक्षा वैदिक-सनातन धर्म की सुसंरक्षा समझता है। अभिप्राय यह है कि मूल चरित्र रक्षित हो जाने पर उसके आधार पर आधारित रहने वाली समस्त वस्तुओं की रक्षा अपने आप हो जाती है।

संसार में वही जाति, देश राष्ट्र समुन्नत हो सकता है जहाँ पर सचारित्र्य एवं सदाचार को महत्व दिया जाता है। आज जितने भी देश-राष्ट्र समादरणीय एवं पूजनीय हो सके हैं उसका एक मात्र कारण सच्चरित्रता सम्पत्ति की सम्वृद्धि है। विश्व में आज कोई आदरणीय संस्कृति है तो वह भारतीय संस्कृति है क्योंकि इसकी अपनी शिक्षा दीक्षा में प्रारम्भ से चारित्र्य बल का संवर्द्धन ही मुख्य अभिप्रेत है। वैदिक वाङ्मय का यह अटल सिद्धान्त है कि—"आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः" सदाचार विचार विहीन व्यक्ति को वेद पवित्र नहीं करते हैं इसलिये वैदिक संस्कृति में परिपोषित मानव, आचार-विचार की आवश्यकता को मूल कारण समझता है और इसी से अभ्युदय एवं निःश्रेयस की सिद्धि मानता है। लोक वेद सांव्यवहारिक ज्ञान-विज्ञान विधुर भौतिक विज्ञान के समुपासक भारतेतर राष्ट्रवर्ती वैयक्तिक आचार-विचार की धारा को विशेष महत्व नहीं देते हैं। यही कारण है कि भौतिक वैज्ञानिक अन्वेषणा से आगे जो आध्यात्मिक सूक्ष्मतम विज्ञान है उससे वे सदा रहित हैं।

संसार में सिरमौर सब देशों का मुकुटमणि भारतवर्ष Goldon India के नाम से अब भी कहा जाता है। यहाँ पर स्वर्ण का पर्वत होने के कारण ऐसा नाम-करण नहीं हुआ, अपितु यह अपने सच्चरित्र्य बल से गौरवान्वित होकर चमका। इसके अपने सर्वाङ्गीण सुन्दर साहित्य में किसी भी विषय की अपूर्णता देखने में नहीं आती। इसका भौतिक विज्ञान और आध्यात्मिक विज्ञान इतना बढ़ा चढ़ा है कि आज भी संसार मुक्त-कण्ठ से गद्गद् होकर भूरि-भूरि प्रशंसा करता है।

यह वही पवित्र भूमि है जहाँ पर सनक-सनन्दन-सनत्कुमार आदि के पद चिह्न पड़े हैं। वेदाङ्ग के निर्माता, आचार-विचार के संनियामक ऋषि-महर्षि-व्यास-शुक प्रभृति अलौकिक कृतियों के कारण सुप्रसिद्ध हैं। अद्वैत-मत-मार्तण्ड आचार विचार की मूर्ति भगवत्पादाद्य शंकर, भगवान बुद्ध देव, भीष्म, श्रीराम भक्त हनुमान आदि अपने सच्चारित्र्य के प्रभाव से संसार के इतिहास में तब तक चमकते रहेंगे जब तक सूर्य-चन्द्र अपने प्रकाश से संसार को प्रकाशित करते रहेंगे।

समय का प्रभाव बड़ा बली है। सभी के ऊपर इसका आधिपत्य होता है—'समय एव करोति बला बलं' भासमान भानु प्राची से उदित होकर प्रतीची में जाकर विलीन हो जाता है पुनः प्राङ् दिक् की ओर निकलते हुए दृष्टिगोचर होता है। चारों युगों का क्रम विन्यास भी क्रमिक उत्कर्ष और अपकर्ष का ही द्योतक है। रात्रि के अनन्तर दिन और दिन के अनन्तर रात्रि यह क्रम अनादि सनातन शास्त्र मर्यादा से निर्धारित है। इसी प्रकार से युग-धर्म के के अनुसार ही व्यक्ति का वृद्धि-ह्रास, उत्थान पतन उन्नति-अवनति निसर्ग सिद्ध है। जनिमत जीव पुण्य पुञ्ज का एक पुतला है। जनन-मरण शील प्राणी का अभ्युदय अनभ्युदय होना स्वभाव सिद्ध है।

चारित्र्य दोष व्यक्ति का स्वभाव और व्यक्ति के अपकर्ष उत्कर्ष से देश का अपकर्ष उत्कर्ष और देश के अपकर्ष-उत्कर्ष से राष्ट्र का अपकर्ष उत्कर्ष निर्विचिकित्सित सिद्ध है। अतः भारत के पतन-उत्थान का परिचायक और अन्य समृद्ध शाली राष्ट्र के उत्थान का पतन प्रकृति जन्य है।

अमर गंगा का निर्मल नीर भी वर्षा ऋतु के जल से आविल हो जाता है परन्तु अल्प समय के लिये। साधु पुरुष भी कुसंग से असाधु बन जाता है। धार्मिक शिक्षा के अभाव से अधार्मिक शिक्षा का परिणाम चारित्र्य निर्माण का नितान्त बाधक है। वर्तमान पाश्चात्य शिक्षण पद्धति एवं अनभ्यस्त अनुशासन से भी चरित्र सुसंयत नहीं हो सकता अर्थात चरित्र निर्माण में अभिभावकों का अनुशासन भी अत्यावश्यक होता है। "संसर्गजाः दोष गुणाः भवन्ति" के अनुसार कहीं गुण भी बुद्धिमान्द्य और भाग्यमान्द्य के कारण दूषण रूप हो जाते हैं।

ईख के निष्पीड़न से मधुर रस की निष्पत्ति होती है, स्वर्ण को तपाकर पीटने से स्वर्ण की कान्ति बढ़ती है, काष्ठ के अन्दर अग्नि है परन्तु संघर्ष से प्रकट होती है, दूध में मक्खन विद्यमान है मथानी से मन्थन करने से प्रकट होता है, मेंहदी में लाली है परन्तु पीसने से अरुणिमा का प्राकट्य होता है। ठीक इसी प्रकार "सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते" विपत्ति ही स्वास्थ्य सम्पत्ति की अवबोधिका है। चरित्र हीनता ही सच्चारित्र्य का अवद्योतक है और पतन ही उत्थान का सूचक है।

चतुर्वर्ग की प्राप्ति—विश्व प्राङ्गण में वही व्यक्ति सफल सिद्ध हो सकता है जिसने सच्चरित्रता की कठिन साधना में सफलता प्राप्त की है। धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ संसार में सुप्रसिद्ध एवं सर्वमान्य हैं। इन सब साध्यों की सिद्धि का मूल श्रेय चरित्र-निर्माण पर ही आधारित है। प्रत्येक मानव संस्कारवैचित्र्य और ज्ञान वैचित्र्य के अनुरूप यथा शक्ति धर्म-अर्थ और काम की साधना में व्यापृत दृष्टिपत पर आता है और इस अशाश्वत सांव्यवहारिक संसार में सातिशय सुख शान्ति का अधिकारी बनकर पुण्य पुञ्ज की समाप्ति पर्य्यन्त आपात रमणीय पदार्थ का सुख पूर्वक उपभोग कर 'जायस्वमियस्व' के अनुसार जन्म-मरण के चक्कर में पड़ा रहता है। कालान्तर में वही मानव संयत चारित्र्य भूषण भूपित होकर पुण्य पुञ्ज के प्राचुर्य्य से सद्दैशिक की अपार अनुकम्पा का भाजन बन त्रिवर्ग से ऊपर चतुर्थ वर्ग का भी अधिकारी बनकर प्रेय से आगे श्रेय जो मोक्ष है उसका अधिकारी हो उस स्थान का भोक्ता बन जाता है जहाँ से आने जाने की आवश्यकता ही फिर नहीं होती। जैसे कि गीता में श्री भगवान ने कहा है—'यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम" और फिर उस आप्त कामपुरुष की ऐसी गति हो जाती है जैसे कि उपनिषद् में कथन किया—"यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।।" जिस प्रकार गंगा यमुनादि नदियाँ बहती हुईं समुद्र में मिलकर अपने नाम रूप को त्याग देती हैं इसी प्रकार विद्वान् दिव्य पुरुष को प्राप्त कर अपने नाम रूप का परित्याग कर देता है। इसी प्रकार से चरित्र निर्माण परम्परा से चतुर्वर्ग का साधक एवं प्रापक है।

श्रीरामचरित्र की एक कसौटी

(श्री मज्जगद्गुरु श्रीरामानुज सम्प्रदायाचार्य आचार्यपीठाधिपति स्वामी श्री राघवाचार्य जी महाराज)

वेदवेद्य परब्रह्म भगवान नारायण ने धर्मसंस्थापनार्थ मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम के रूप में अवतार ग्रहण कर जिस आदर्श को सामने रक्खा उसकी भली भाँति परीक्षा उनके अवतार काल में ही हो

चुकी है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि भगवान् के चरित्र की उदात्तस्थिति परीक्षा लेने में किसी ने कसर नहीं की। दशरथ ने उनकी परीक्षा ली, विश्वामित्र ने उनको परखा, विदेह जनक ने उनको तोला, परशुराम ने उनके बल को जाँचा, कौशल्या ने, सुमित्रा ने, केकयी ने, उनको कसा, दण्डकारण्य के ऋषियों ने पद-पद पर उनका अनुशीलन किया, सुग्रीव ने उनको वार-वार जाँचा, विभीषण ने भी उनको परखने से छोड़ा नहीं। अन्य राक्षसों की बात ही क्या ? उन्होंने तो परीक्षा के लिये अपने जीवन की बाजी लगाई थी। किन्तु इन सभी परीक्षाओं में एक परीक्षा इतनी महत्त्वपूर्ण है कि जिस पर अनन्त काल तक मानव जीवन को परीक्षा होती रहेगी। सीधे एवं सरल शब्दों में इसे यदि मानव-जीवन की कसौटी कहा जाय तो अनुचित न होगा।

दण्डकारण्य की वात है—भगवान् श्रीराम ने राक्षसों के द्वारा ऋषियों के उत्पीड़न को देखकर अत्यन्त वेदनापूर्ण हृदय से:—

तपस्विनां रणे शत्रून्हन्तुमिच्छामि राक्षसान्

कहकर यह इच्छा प्रकट की थी कि मैं तपस्वियों के शत्रुजनों अर्थात् राक्षसों को रणाङ्गण में मारना चाहता हूँ। इन शब्दों की जानकी के मस्तिष्क पर क्या प्रतिक्रिया हुई इसका रामायण-कार वाल्मीकि जी ने उल्लेख किया है। इस उल्लेख के अध्ययन से यह स्पष्ट होजाता है कि जानकी जी कितनी गम्भीरता के साथ भगवान् श्रीराम के चरित्र का अनुशीलन किया करती थीं।

अवसर मिलते ही जानकी ने भगवान् से कह डाला कि—

त्रीण्येव व्यसनान्यत्र कामजानि भवन्त्युत।
मिथ्यावाक्यं तु परमं तस्माद्गुरुतरावुभौ॥
परदाराभिगमनं विना वैरं च रौद्रता॥
(वा० रा० ३।९।३)

आशय यह कि कामना वश मनुष्य तीन धर्म विरुद्ध कार्य करने के लिये तैयार होता है। एक मिथ्या भाषण, दूसरे परदाराभिगमन और तीसरे विना वैर के हिंसा। अधर्मानुष्ठान के इन तीन लक्षणों पर जानकी ने भगवान् राम के आज तक के चरित्र की परिपूर्ण परीक्षा की थी। आज जानकी ने कहा कि "मैं जानती हूँ कि आप कभी मिथ्या नहीं बोले। भविष्य में भी आप झूँठ न बोलेंगे ऐसा मुझे विश्वास है। परायी स्त्रियों की कामना यह दोष भी आप में नहीं है। मुझे मालूम है कि आप में इस प्रकार का दोष कभी नहीं रहा। मैंने आपके मन की कठोर परीक्षा की है और इस आधार पर मेरा कहना है कि आपके मन में भी कभी ऐसी अनुचित कामना नहीं उठी। आप सत्य-सन्ध हो, धर्मिष्ठ हो, किन्तु किसी कारण के बिना आप जो राक्षसों के साथ वैर करने जा रहे हो, यह देखकर मेरा मन चिन्ता-युक्त होगया है। मुझे आप का दण्ड-

कारण्य की ओर प्रयाण रुचिकर नहीं मालूम होता। तपस्या और शस्त्र धारण दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। आप तपस्वी के वेष में वन आये हो। स्नेह और बहु मान के साथ मेरी विनम्र प्रार्थना है कि वैर के बिना राक्षसों का वध उचित नहीं प्रतीत होता। मैं आप को शिक्षा नहीं देती केवल याद दिलाती हूँ कि जब तक राक्षस आप का अपराध न करे आप उनको न मारें।"

जानकी के इन शब्दों से प्रकट हो जाता है कि जहाँ तक सत्य भाषण और परायी स्त्रियों के प्रति पवित्र बुद्धि का प्रश्न है भगवान् श्रीराम पूर्णतया सत्य भाषी और पवित्र बुद्धि वाले हैं। जहाँ तक राक्षसों का वध करने की इच्छा का प्रश्न है भगवान श्रीराम के शब्दों पर भी विचार करना होगा। श्री राम ने बताया है कि क्षत्रिय लोग शस्त्र इसलिये नहीं धारण करते कि आपत्ति पड़ने पर अपनी रक्षा कर ली जाय। यदि ऐसा होता तो राक्षसों से झगड़ा मोल लेने की कोई आवश्यकता न थी किन्तु जैसा कि श्रीराम ने कहा है:—

क्षत्रियै धार्यते चापो नार्त्त शब्दो भवेदिति ।

"क्षत्रिय शस्त्र इसलिये धारण करते हैं कि कहीं आर्त्त-शब्द अर्थात् दुखिया की आवाज न सुनाई दे। आर्त्त होकर जब मुनिजन मेरे पास आये, तो मेरा कर्त्तव्य था कि मैं उनके दुःख को दूर करता। इसलिये मैंने उनकी रक्षा करने के उद्देश्य से राक्षसों का वध करने की प्रतिज्ञा कर डाली।" इन शब्दों से श्रीराम का जो पक्ष सामने आता है वह जानकी के लिये अभिमत न हुआ हो ऐसी बात नहीं है। भगवान् श्रीराम के इन शब्दों के द्वारा जानकी ने यह निश्चय कर लिया कि भगवान् राक्षसों के प्रति जैसा व्यवहार करने जा रहे हैं वही कर्त्तव्य है।

जानकी के विचारों में बिना वैर किसी को कष्ट न पहुँचाने की बात ठीक ही थी। यह स्वाभाविक नियम है, किन्तु ऋषि लोग तो इसके अपवाद थे। वे राक्षसों के सारे अत्याचारों को सहन कर रहे थे उनके इस व्यवहार की जो प्रतिक्रिया एक समाज रक्षक पर होनी चाहिये वही हुई। और इसी कारण अपने लिये नहीं प्रत्युत ऋषियों के लिये भगवान श्रीराम राक्षसों का विरोध लेने को तैयार हुए। अस्तु

कहना यह है कि श्रीराम के चरित्र में जहाँ सत्य भाषण और पवित्र आचरण की सर्वाङ्गीण प्रतिष्ठा है वहाँ उनकी प्रतिज्ञा में तथा उसकी पूर्ति के लिये किये गये व्यवहार में समाज हित का भाव निहित है। इस तरह श्रीरामके आदर्श से यह शिक्षा मिलती है कि चरित्र-निर्माण में जहाँ व्यक्तिगत सत्यता एवं पवित्रता की आवश्यकता है, वहाँ समाजहित का भाव भी अनिवार्यतया अभिप्रेत है।

आश्चर्य !

मूढ़ मनुष्य पुण्य का फल—सुख चाहते हैं परन्तु सुख-जनक पुण्य-कर्म करने की इच्छा नहीं करते; और पाप का फल—दुःख नहीं चाहते पर दुःख जनक पाप कर्म छोड़ते नहीं—यत्न से करते हैं।

पवित्रता के प्रयोग

(श्री स्वामी अखण्डानन्द जी सरस्वती महाराज, वृन्दावन)

"भगवन्, कई वार अपमान का बड़ा कटु अनुभव होता है, लोग तरह तरह से अपमान कर देते हैं, क्या करूँ ?"

"जब तुम्हें अपमान का अनुभव होता है, तब तुम ऐसी भूमि में उतर आये रहते हो, जहाँ अपमान तुम्हारा स्पर्श कर सकता है। तुम ऐसी भूमि में—ऐसी स्थितियों में रहा करो, जहाँ अपमान की पहुँच ही नहीं है।

मैं सोचने लगा, जब मुझे अपमान की अनुभूति होती है, तब मैं कहाँ रहता हूँ ? अपमान होता हो किसका है ?

१—मैं उस समय सम्मान या और किसी कामना के पाश में बद्ध रहता हूँ। उस समय मेरा निवास स्थान होता है—काम; राम नहीं।

२—मैं उस समय शरीर, मन और बुद्धि, इनके अभिमान में मत्त रहता हूँ या इनके विलासों में भूला रहता हूँ।

३—मैं अपने भगवान् को भूलकर, आत्मा को भूलकर, अहङ्कार या ममकार के अधीन रहता हूँ।

अपना अपमान मैं स्वयं ही करता हूँ, मुझे स्वयं अपने को ही दण्ड देना चाहिये। दूसरों के द्वारा हुआ अपमान मेरा स्पर्श नहीं कर सकता।

'ठीक है गुरुदेव ! अपमान मेरा स्पर्श नहीं करता।'

'इतना ही नहीं बेटा! अपमान तो तुम्हारी आत्म ज्योति को जाग्रत करने वाला है। तुम्हारी विस्मृति को नष्ट करके स्मृति को ताजी बनाने वाला है। अपमान क्षोभ का नहीं, प्रसाद का जनक है। अपमान होते ही प्रसन्नता से खिल उठना चाहिये कि मेरी स्मृति ताजी करने के लिये साक्षात् भगवान के दूत, नहीं—नहीं स्वयं भगवान् आये हैं। महान सौभाग्य है—जीवन में यह अपूर्व अवसर है।'

'ठीक है गुरु देव ! आपकी कृपा और आशीर्वचन सर्वदा मेरे साथ हैं।'

(२)

मुझे तो कभी कभी क्रोध आजाता है प्रभो ! मैं दूसरों के उद्वेग का कारण बन जाता हूँ।'

'दूसरों के उद्वेग से पहले अपने उद्वेग के कारण यह आग है—आग, पहले अपनी जन्म-भूमि को जलाकर तब दूसरे को जलाती है।'

(४)

'गुरुदेव' जब प्रलोभन सामने आता है तब एकाएक मैं पराजय के स्थान पर पहुँच जाता हूँ। पता ही नहीं चलता कि मैं कब, कैसे, कहाँ आगया।'

'परन्तु उन प्रलोभनों की स्मृति कौन करता है ? उन्हें सामने कौन लाता है ? लोभ उन प्रलोभक वस्तुओं में है या तुम्हारे अन्दर ? वे जड़ वस्तुएँ तुम्हें पराजित करने की शक्ति कहाँ से प्राप्त करती हैं ?'

[वास्तव में दृश्य पदर्थों में सुन्दरता और रमणीयता का आरोप मन ही करता है। भावना ही उन्हें आकर्षक बनाती है। सौन्दर्य की कल्पना देश, समय, व्यक्ति और रुचि के भेद से भिन्न भिन्न प्रकार की होती रहती है। मेरे मन ने ऐसी वस्तुओं को सुन्दर मान रखा है जो जीवन को परमात्मा से विमुख बनाने वाली हैं। इच्छा से उन वस्तुओं के सान्निध्य की अनुभूति होती है। लोभ मन में ही रहता है उन वस्तुओं में नहीं। जिन वस्तुओं को देखकर बालक, वृद्ध, ज्ञानी, दूसरी जाति और देश के

लोग आकृष्ट नहीं होते उन्हीं को देखकर मेरा मन आकृष्ट हो जाता है। इसलिये उनमें आकर्षण नहीं मेरे मन में ही उन्हें पाने की ललक है। मन का अन्धापन ही पराजित करता है। वही विवश और अज्ञान बन जाता है। वही तन्मय होकर उन्हें प्रलोभक भी बनाता है]

'हाँ भगवान! दोष तो सब अपना ही है। उन्हें स्वयं ही नष्ट करना चाहिये। परन्तु करूँ क्या? अपना किया तो कुछ होता नहीं।'

'करना क्या है? न विषयों—प्रलोभनों को नष्ट करना है और न तो मन को ही। विषय रहेंगे ही और मन भी रहेगा ही। केवल भावना का परिवर्तन करना है। किसी भी सुन्दर वस्तु को देखकर उसमें योग्य भावना न हो। सब सुन्दर और मधुर वस्तुएँ इसलिये सामने आती हैं कि उन को देखकर सुन्दरतम एवं मधुरतम भगवान् की स्मृति हो। केवल उतने से ही सन्तुष्ट हो जाना, उनमें ही रम जाना तो महान् हानि है। उन्हें देखते ही अनन्त सौन्दर्य एवं अनन्त माधुर्य की स्मृति में मस्त हो जाओ। उन वस्तुओं का सामने आना विक्षेप नहीं प्रसाद है। प्रसाद भी ऐसा जो, साधारण नहीं, अनन्त शान्ति और अनन्त आनन्द का उद्गम है। तुम अपने मन को उस महात्मा के मन-सा बनालो, जो एक वेश्या के आने पर मातृ-स्नेह से मुग्ध और सामाधिमग्न हो गया था।'

'मैं आपके अनन्त दया-समुद्र में डूब-उतरा रहा हूँ।

(४)

भगवन्! अमुक व्यक्ति तो सन्यासी होकर संग्रह करते हैं, अमुक व्यक्ति गृहस्थ होकर सन्यासियों की निन्दा करते हैं, बड़ा क्षोभ होता है।"

'नारायण' नारायण, तुम बड़ी भूल में हो। सन्यासी और कहाँ गृहस्थ? यह सब तुम्हारे मन की कल्पना है। यह सब नारायण का नाटक है। वे ही कहीं सन्यासी बने हैं, कहीं गृहस्थ। संग्रह भी नाटक, निन्दा भी नाटक। तुम अपनी दृष्टि नट पर जमाये रखो, मस्त रहो। दूसरे की कल्पना ही मत आने दो।

श्रवण, मनन और निदिध्यासन से जब यह निश्चय होचुका है कि सब कुछ परमात्मा ही है, तब यह भला है, यह बुरा है, इस प्रकार की दृष्टि ही क्यों होती है? यह भला है—इस प्रकार की दृष्टि तो यथा कथञ्चित् क्षम्य भी है परन्तु बुरे की कल्पना तो सर्वथा विपर्यय है। यदि सर्वथा समत्व [illegible] षम्य हो ही जाय तो अपनी दृष्टि भले पर ही जानी चाहिये। परन्तु भले-बुरे की भावना और सत्ता को दृढ़ करने की क्या आवश्यकता, उन्हें तो शिथिल ही करना चाहिये। यदि प्रतीत होता है भला-बुरा, तो वह लीलाविलास ही है, नाटक मात्र है। नाटकके भीम और दुर्योधन दोनों ही मनोरञ्जन के लिये हैं। नाटक की मृत्यु, रोग और उत्पीडन रसानुभूति के लिये हैं। अद्भुत, रौद्र भयानक और वीभत्स भी तो रस ही हैं तब इनको देखकर क्षुब्ध होने का क्या कारण है?

'हाँ भगवन्! यह सब है तो नाटक ही।'

यह भी आवश्यक नहीं कि नाटक को नाटक के रूप में स्मरण रक्खा ही जाय, नाटक देखते देखते उसका नाटकत्व भूलजाना तो नाटक की अपूर्व सफलता और मनोहरता का चिह्न है। उस विस्मृति में भी यह निश्चय अडिग रहे कि यह नाटक है। जो अभिनय अपने को मिले उसको पूर्ण करो और खूब सफलता के साथ। वैसे कठोर कर्त्तव्यों का भी पालन करो, भगवान् श्री कृष्ण के प्रति जिनका पालन भीष्म को करना पड़ा था। फिर भी एक दृश्य समाप्त होने पर और बीच में भी उस सत्यरूप से प्रतीयमान नाटक का नाटकत्व तो ध्यान में आ ही जाता है।

दिनचर्या से चरित्र-निर्माण

प्रातः पितु-माता पदवन्दन अरुणोदय से पहले स्नान।
कर बलि वैश्व कर रहे भोजन प्रभु प्रसाद ही उसको जान॥
निज जीविका वृत्ति फिर करने प्रतिक्षण रख उर में हरि ध्यान।
सपरिवार हरि कथा सुन रहे बनता इससे चरित महान॥

बात तो ऐसी ही है। पहले अपने ही कलेजे में जलन होती है। चेहरा तमतमा उठता है। आँखें लाल हो जाती हैं। ऐसे शब्दों को मुँह में स्थान मिल जाता है जिन्हें हम सुनना नहीं चाहते। ऐसे कृत्य हो जाते हैं जिनकी स्मृति भी दुःखद है।

मैं क्रोध क्यों करता हूँ?

अपनी क्रिया, कामना, कल्पना और विचारों पर ठेस लगने से। और जब मैं दूसरों के विपरीत आचरण कर बैठता हूँ तब? तब तो मुझे अपने पर क्रोध नहीं आता। कैसा मोह है?

अपना है ही क्या?

क्रिया, सो तो भगवान् की इच्छा से, समष्टि के प्रवाह में, प्राकृत कर्मानुसार स्वयं हो रही है। अपने सिर पर कर्तृत्व का भार? हरे राम, हरे राम!

कामना और कल्पना, ना, ना, ऐसी कामनाएँ और कल्पनाएँ तो न जाने कितने लोगों ने की हैं। किसी की पूर्ण हुईं, किसी की अपूर्ण और किसी की अधूरी। इनका परिणाम अपने हाथ में नहीं। इनसे ममता करने वाले, इन्हें अपनी समझने वाले मारे गये, मारे जाते हैं।

विचार? विचार अपने हैं, यह तो सबसे उपहासास्पद बात है। ऐसे विचार अब तक न जाने कितनों की बुद्धि में आये और गये। उनसे ममता—ये विचार मेरी बुद्धि की मौलिक देन है—मूर्खता है।

तब फिर मैं क्रोध क्यों करता हूँ? केवल अविचार से, अज्ञान से, मूर्खता से। अपने को जलाने के लिये—अपने को ही उद्विग्न करने के लिये।

'ठीक है, महाराज? क्रोध से पहले मैं ही उद्विग्न होता हूँ।'

उद्विग्न होने की आवश्यकता नहीं। क्रोध आने का अवसर देखते ही प्रसन्नता से फूल उठो, खिलखिलाकर हँसो, तुम्हारी प्रसन्नता की बाढ़ में क्रोध बह जायगा और तुम्हारी शान्ति आनन्द के रूप में परिणत हो जायगी।'

'गुरुदेव! आप का प्रेम अनन्त है।'

(५)

'प्रभो! स्वाद वृत्ति के कारण कभी-कभी बड़ा विक्षेप होता है। कई वस्तुओं के तो स्मरण मात्र से ही जीभ पर पानी आजाता है। कितना कमजोर मन है?

इसी कमजोर मन से तो काम निकालना है, बलवान् मन कहाँ से लाओगे? प्रसाद की भावना करो, प्रसाद का निश्चय करो, ऐसा न होसके तो भगवान् को नैवेद्य लगाकर खाओ, भगवान् को ही खिलाओ। तुम्हारी यह जिह्वा लोलुपता अथवा मन की कमजोरी साधन बन जायगी और अधिकाधिक भगवान् का स्मरण होने लगेगा। फिर तो यह 'भोजन' का रस 'भजन' बन जायगा।

[मेरे गुरुदेव की वाणी कितनी अद्भुत है। मैं जिस अवस्था में हूँ, जहाँ हूँ, वहीं वे भगवान् का दर्शन करा देते हैं। वे कहते हैं—प्रसाद की भावना और निश्चय करने को। यह सारा जगत्, जगत् की सारी वस्तुएँ भगवान् का प्रसाद ही तो हैं। वही एकमात्र भोक्ता है और सब भोग्य। सबका रस वास्तव में अपना रस वे स्वयं अपने आप ही ले रहे हैं। किसी भी वस्तु का रस भगवान् का रस है, ऐसा स्मरण ही साधन है। दूसरी वस्तु हो तब न? वस्तु तो केवल भगवान् ही हैं। यदि भगवान् और प्रसाद का विस्मरण हो गया है तो स्मरण कर लें, स्मरण में सन्देह हो तो पुनः नैवेद्य लगालें और यह भी न हो तो भगवान् को ही खिलावें। जब मैं स्वादिष्ट ग्रास उठाता हूँ तब नन्हें से भगवान् अपनी हथेलियाँ फैला देते हैं और उन नन्हीं-नन्हीं लाल-लाल हथेलियों पर—हृदय में ही ग्रास लेकर जल्दी से खा जाते हैं। बच्चे हैं न, खाने के

लिये मचलते रहते हैं। इस प्रकार स्वादिष्ट वस्तुएँ ही खिलाना चाहिये। भाव ही सब कुछ है, जिसे वह प्राप्त है उसे कभी विक्षेप नहीं होता। भाव 'कु' में भी 'सु' की सृष्टि कर लेता है। मैं प्रसाद की भावना कभी न छोड़ूँ।]

'भगवन्! वास्तव में भगवान् का—प्रसाद ही है सब। कहीं भी विक्षेप की सम्भावना नहीं है।'

'बेटा! विक्षेप की तो सत्ता ही नहीं है। उसका उद्गम है—अज्ञान, मोह या मूर्खता। उस पर तूने विजय प्राप्त की है। तुम प्रसाद का अनुभव करते हो यही तुम्हारा सहज स्वरूप है।'

'प्रभो! भगवान् का आपका प्रसाद ऐसा ही है।'

सरलता सच्चारित्र्य की कुञ्जी है।

(श्री स्वामी आत्मानन्द जी 'मुनि' पुष्कर)

संसार में सभी मत-मतान्तरों क्या हिन्दू, क्या मुस्लिम, क्या ईसाई, क्या मूसाइयों ने मुक्तकंठ से मनुष्य-योनि को सर्वोपरि स्थान दिया है। यहाँ तक कि हिन्दुओं ने तो इसे देव-योनि से भी श्रेष्ठ माना है और कहा है कि देवता भी इस योनि की प्राप्ति के लिये लालायित रहते हैं। इस योनि को श्रेष्ठता इसी दृष्टि से दी जाती है कि प्रथम तो यह कर्म अर्थात् पुरुषार्थ-भूमि है। जैसा भी जीव इस योनि में पुरुषार्थ करे, यहाँ उसी पथ पर आरूढ़ हो सकता है। ब्रह्मा से लेकर वृक्षादि तृणपर्यन्त जड़-चेतन योनियों एवं स्वर्ग-नरकादि की प्राप्ति उसके यहीं के पुरुषार्थ का फल है। दूसरे, भगवान् ने अपनी अपार कृपा से यहाँ इस जीव को बुद्धिरूपी ऐसा रत्न प्रदान किया है कि यदि मनुष्य इस रत्न का सदुपयोग करे और सही पुरुषार्थ-पथ को पकड़े तो जैसा भी पुरुषार्थ का बल हो, यहीं और अभी 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' अर्थात् उस अविनाशी परमपद को प्राप्त हो सकता है कि जहाँ जाकर आना नहीं होता, अथवा अभी उस पद को पाकर उसकी प्राप्ति के लिये उस पथ को पकड़ सकता है और पीछे न हटकर 'अनेक जन्म संसिद्धिस्ततो याति परां गतिम्' अर्थात अनेक जन्म से सिद्धि को प्राप्त करके उस परमगति को प्राप्त हो सकता है। इसके विपरीत माया के आवेश में यदि सही पुरुषार्थ का बल न पकड़ कर और बुद्धि का सदुपयोग न करके मनुष्य भोगरूपी खुजली को खुजलाता हुआ चला जाय तो इस मोक्षद्वार से छूट सकता है और अपने को जन्म-मरण के अधिक प्रवाह में डाल सकता है, क्योंकि यह बात तो निर्विवाद ही है कि जन्म मरण के प्रवाह के मूल में कारण रूप से एकमात्र विषय आवृत्ति ही हुआ करती है, और कुछ नहीं। अपने सिंहासनरूढ़ होने के उपरान्त भगवान् श्रीराम अपनी प्रजा को साररूप से यही शिक्षा देते हैं—

बड़े भाग्य मानुष तन पावा।
सुर दुर्लभ सद्ग्रन्थन गावा॥
साधन धाम मोक्ष कर द्वारा।
पाय न जेहि परलोक सँवारा॥
सो परत्र दुख पावहिं सिर धुनि-धुनि पछिताहिं।
कालहिं कर्महिं ईश्वरहिं मिथ्या दोष लगाहिं॥
यहि तन कर फल विषय न भाई।
स्वर्गहु स्वल्प अन्त दुखदाई॥
नर तनु पाय विषय मन देहीं।
पलटि सुधा ते शठ विष लेहीं॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई।
गुंजा गहइ परसमनि खोई॥

आकर चार लाख चौरासी।
योनि भ्रमत यह जिव अविनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा।
काल कर्म स्वभाव गुण घेरा॥
कबहुँक करि करुणा नर देही।
देत ईश विनु हेतु सनेही॥
नर तनु भव वारिधि कहुँ वेरो।
सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो॥
कर्णधार सद्गुरु दृढ़ नावा।
दुर्लभ साज सुलभ करि पावा॥
जे न तरें भव सागरहिं नर समाज अस पाइ।
सो कृतनिन्दक मन्दमति आत्माहन गति जाइ॥

सारांश, जहाँ देव-योनि से लेकर वृक्षादि,जड़ योनि पर्यन्त सभी योनियाँ एक मात्र इस जीव के भोग के लिये ही रची गई हैं, वहाँ इस मानव-योनि में इस जीव के लिये भोग के साथ-साथ पुरुषार्थ का क्षेत्र भी खोला गया है कि यदि वह पुरुषार्थ परायण हो तो अपना परमार्थ भी बना सकता है और जन्म-मरण के बन्धन से छूट सकता है। यही इस योनि की विलक्षणता है। यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस मनुष्य योनि में जितनी भी चेष्टाएँ प्रकट होती हैं, उनमें कितना भाग भोग अर्थात् प्रारब्ध का है और कितना भाग पुरुषार्थ का? विचार से इसका यही समाधान बनता है कि जो चेष्टाएँ सुख दुःख के भोग में सहायक होती हैं वे सब तो प्रारब्ध के हिस्से में आती हैं और जो चेष्टाएँ जन्मान्तर में सुख-दुःख के बीज बनती हैं, बीज रूप होने से यद्यपि वे पुरुषार्थ के हिस्से में तो आजाती हैं, तथापि वे सही पुरुषार्थ न बनकर दुष्ट पुरुषार्थ रूप ही बनती हैं, क्योंकि जिस पुरुषार्थ द्वारा जीव सुख दुःख के स्वरूप जन्म-मरण के प्रवाह में पड़े, वह 'पुरुषार्थ' 'परमार्थ' नहीं कहला सकता। पुरुषस्य अर्थः = पुरुषार्थ, अर्थात सभी पुरुष निर्विवाद रूप से जिस एक वस्तु की इच्छा रखते हैं, उसके सही साधन का नाम ही पुरुषार्थ हो सकता है। अतः जिस चेष्टा रूप व्यापार द्वारा यह पुरुष सुख-दुःख के फल स्वरूप जन्म-मरण के बन्धन को काट सके, अथवा काटने के मार्ग पर चल सके, वे ही वास्तव में पुरुषार्थ के हिस्से में आ सकती हैं। गीता अ.४ श्लोक १७ में श्री भगवान् इसी सिद्धान्त के अनुसार कर्म की गहन गति को मानते हुए सभी चेष्टा रूप व्यापारों को कर्म, विकर्म और अकर्म रूप से तीन भागों में विभक्त करते हैं और आज्ञा देते हैं:—

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥

आशय यह कि कर्म की गति गहन है, इसलिये 'कर्म' क्या है, 'विकर्म' क्या है और 'अकर्म' क्या? यह हमको भली भाँति जानना चाहिये। अतः ऊपर कथनानुसार जो चेष्टाएँ वर्तमान में सुख-दुःख का भोग भुगाने में सहायक होती हैं, अथवा भविष्य में सुख-दुःख के बीज बनती हैं, ऐसी प्रारब्ध रूप तथा दुष्ट पुरुषार्थ रूप चेष्टाओं को तो 'विकर्म' ही कहा जा सकता है कामना के फल स्वरूप चाहे वे स्वर्ग-पर्यन्त भोग देने वाली ही क्यों न हों, क्योंकि उनका फल नाशवान है और संसार बन्धन में बाँधने वाला ही है। 'कर्म' रूप तो वही व्यापार होगा जो इस जीव को संसार-बन्धन से छुड़ाने के मार्ग पर ले जाय। संसार बन्धन का जो हेतु हो भला ऐसे कर्म को 'कर्म' क्यों कर कहा जा सकता है? वह तो 'विकर्म' ही बनकर रहेगा। 'अकर्म' उस चेष्टा रूप व्यापार का नाम है, जो उन तत्त्व वेत्ताओं द्वारा प्रकट होता है जिनका देहाभिमान गलित हो जाने से अहंकर्तृत्वाभिमान ही ज्ञानाग्नि से भस्म होगया है और जो सब कुछ करते हुए भी कुछ नहीं करते और अपने लिये किसी फल के बन्धन में नहीं आते यद्यपि वे चेष्टाएँ दूसरों की क्रियाओं की प्रतिक्रिया में हेतु रूप तो बन जाती हैं, तथापि उनके अपने लिये कुछ भी नहीं।

उपर्युक्त रीति से यह बात सर्वथा स्पष्ट हो जाती है कि मनुष्य जीवन का फल एक मात्र मोक्ष ही है, भोग नहीं और निष्काम भाव से आचरण में आई हुई वे चेष्टाएँ ही जो मोक्ष में सहायक हों 'कर्म' रूप बन सकती हैं, अन्य नहीं। अब देखना यह है कि मुख्यतया वे कौन-सी चेष्टाएँ हो सकती हैं, जो मोक्ष में सहायक सामग्री रूप से ग्रहण की जानी चाहिये और जिनके बिना मोक्ष की सिद्धि असम्भव है। उत्तर एक ही है 'चरित्र निर्माण'। प्रथम जब तक इसको साङ्गोपाङ्ग न अपनाया जाय तब तक न तो अन्त:करण की शुद्धि हो सकती है, न सही तत्त्व-जिज्ञासा ही उत्पन्न हो सकती है। और फिर न तत्त्व विचार ही हृदय में ठहर सकता है। यदि मिट्टी के तेल के डिब्बे में शुद्ध मक्खन भर दिया जाय तो क्या वह खाया जा सकता है, अथवा उससे बल प्राप्त किया जा सकता है? कदापि नहीं। खाने और बल पाने की तो बात ही क्या है वह तो उलटा विषरूप सिद्ध होगा। हाँ, यदि उस डब्बे को भली भाँति शुद्ध किया जाय और फिर उसमें वह नवनीत भरा जाय तो अवश्य वह मजा देगा, बारम्बार रुचि को बढ़ायेगा और बल की वृद्धि करेगा। ठीक इसी प्रकार जब तक हृदय सच्चरित्रता द्वारा सांसारिक कामना-बासना रूपी मिट्टी के तेल की दुर्गन्ध से निर्मल न किया जाय, उसमें तत्त्व जिज्ञासा रूपी नवनीत भरा नहीं जा सकता। यदि भरा गया तो न तो वह तत्त्व-जिज्ञासा रूपी रुचि को ही उत्पन्न कर सकेगा और न तत्त्व-साक्षात्कार में उपयोगी बल को ही पैदा कर सकेगा, बल्कि ज्ञान के अभिमान रूपी विष को ही ऐसा भरपूर कर देगा, जिसका फिर निकालना ही असम्भव हो जायगा और बिल्ली निकाल कर घर में ऊँट घसा लेने की वार्त्ता ही सिद्ध होकर रहेगी। अतः हृदय में तत्त्व का ज्ञान भरने के लिये सच्चारित्र्य सर्वश्रेष्ठ, सर्वोपरि और सबसे प्रथम साधन है। इसके बिना जीव को न इस लोक ही सुख शान्ति मिल सकती है, न इस लोक में मान-मर्यादा ही प्राप्त किया जा सकता है और न परलोक अथवा परमार्थ का मार्ग ही खुल सकता है। संसार में मनुष्य मात्र अपनी शुभाशुभ भिन्न भिन्न चेष्टाओं में एकमात्र लक्ष्य यही बनाते हैं कि (१) हमको यहाँ सुख शान्ति मिले (२) संसार में हम भले कहलायें, हमारा मान बढ़े और (३) परलोक में हम सद्गति को प्राप्त हों। यद्यपि सभी मनुष्यों की अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार चेष्टाएँ तो न्यारी-न्यारी हो रही हैं, परन्तु लक्ष्य तो निर्विवाद रूप से सब का यही है जो ऊपर वर्णन किया गया, इसके सिवा अन्य कुछ भी नहीं। मानना चाहिये कि चरित्र निर्माण के द्वारा इन सभी लक्ष्यों की अनायास सिद्धि हो सकती है और इसके बिना ये तीनों ही नहीं। इतना ही नहीं, कौटुम्बिक सामाजिक, नैतिक, व दैशिक आदि सभी उन्नतियाँ एकमात्र सच्चारित्र्य की नींव पर ही खड़ी की जा सकती हैं और सच्चारित्र्य के बिना वे सभी इसी प्रकार खोखली रहती हैं जिस प्रकार बिना नींव का भवन।

ऊपर सच्चारित्र्य की उपयोगिता वर्णन की गई। अब प्रश्न होता है कि सच्चारित्र्य का लक्षण क्या है और फल क्या है? उत्तर स्पष्ट है कि इन्द्रिय मन-वाणी का वह चेष्टा रूप व्यापार जो हमारे मन-इन्द्रियों को सांसारिक भोग-विषयों से उपराम करके और भगवत्-चरणारविन्दों से नाता जोड़कर विवेक-वैराग्य आदि की साक्षात् उत्पत्ति करा सके, अथवा उत्पत्ति में सहायक हो सके, वही सच्चारित्र्य कहा जा सकता है। यही सच्चारित्र्य का लक्षण है और यही फल। वह सच्चारित्र्य क्या है? इस विषय में तो भगवान स्वयं श्रीमुख से गीता अ० १६ श्लो० १ से ३ में दैवीसम्पद् का वर्णन करते हैं, दैवीसम्पद् व सच्चारित्र्य को विलग नहीं किया जा सकता—

अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥

भावार्थ—(१) अन्तःकरण में कम्पन भय कहाता है, जिसके अभाव को 'अभय' कहते हैं। (२) व्यवहार में दूसरों के साथ छल-कपट आदि अवगुणों को छोड़कर शुद्ध भाव से आचरण, अन्तःकरण की सामन्य निर्मलता है तथा हृदय से संसार सम्बन्धी आसक्ति का निकल जाना, यथार्थ 'सत्त्व-संशुद्धि' कहा जाता है। (३) गुरु-शास्त्र द्वारा आत्मादि पदार्थों को जानने का नाम 'ज्ञान' है और जाने हुए को यथार्थ अनुभव कर लेना 'योग्य' है। (४) शक्ति के अनुसार अन्नादि पदार्थों के त्याग का नाम 'दान' है। (५) इन्द्रिय-संयम को 'दम' कहते हैं। (६) अग्निहोत्रादि व देव-पूजनादि 'यज्ञ' कहाता है। (७) परमार्थ सम्बन्धी सच्छास्त्रों का विचार पूर्वक पाठ करना 'स्वाध्याय' है। (८) शरीर मन व वाणी को स्वाधीन रखना 'तप' कहा जाता है। (९) शरीर मन व वाणी की सरलता को 'आर्जवता' कहते हैं। (१०) शरीर मन वाणी से किसी को कष्ट न देना 'अहिंसा' (११) अप्रियता व असत्य से रहित यथार्थ वचन 'सत्य' (१२) अपने मन की प्रतिकूलता से मन में क्षोभ का नाम 'क्रोध' और उसका अभाव 'अक्रोध' (१३) शरीर सम्बन्धी स्वार्थों को छोड़ना 'त्याग' (१४) 'अन्तःकरण की अचलता 'शान्ति', (१५) पराये छिद्रों को प्रकट करना 'पैशुन्य,' उसका अभाव 'अपैशुन्य', (१६) अन्तःकरण का द्रवीभूत होना 'दया', (१७) विषयों में विशेष आसक्ति का नाम लोलुपता, उसका अभाव-'अलोलुप्त्व', (१८) कोमलता का नाम 'मार्दव', (१९) लज्जा का नाम 'ह्री', (२०) व्यर्थ चेष्टाओं का अभाव 'अचपलता' (२१) हृदय वाणी व मुख पर सत्य का वह प्रभाव जिसके द्वारा दूसरे सत्य मार्ग पर चलने के लिये बाध्य हों, 'तेज' (२२) अपराधी के प्रति बदला न चाहना 'क्षमा' (२३) धैर्य का नाम 'धृति', (२४) मिट्टी-जलादि से शरीर की शुद्धि बाह्य शौच तथा राग द्वेषादि से मन की निर्मलता आन्तरिक शौच कहा जाता है, (२५) किसी के प्रति द्वेष न करना 'अद्रोह' (२६) अपने में अतिशय पूज्य भावना का अभाव 'नातिमानिता' कहा जाता है।

यूँ तो सच्चरित्रता का क्षेत्र विशाल है। भगवान् ने गीता अ० १३ श्लो०-७ से ११ पर्यन्त जो अमानित्व—अदम्भित्वादि ज्ञान के साधन वर्णन किये हैं वे सभी सच्चारित्र्य के अन्तर्गत आ जाते हैं। क्योंकि जैसा पीछे सच्चारित्र्य का लक्षण किया गया है, वे सभी सांसारिक विषयों से मुँह मोड़कर भगवत्-चरणारविन्दों से साक्षात नाता जोड़ने वाले हैं। तथापि अब हमारे लिये विशेषतया यह विचार कर्तव्य है कि उपर्युक्त इन दैवी-सम्पद् के २६ अंगों में से किसी एक को मुख्य रूप से ग्रहण किया जाना चाहिये, जिसके यथावत् धारण कर लेने से शेष २५ अपने आप इसी प्रकार खिंचे चले आते हैं, जिस प्रकार चारपाई का एक पाँव पकड़ कर खैंचने से शेष तीन पाँव और पूरी चारपाई खिंची चली आती है, अथवा जञ्जीर की एक कड़ी पकड़ कर खैंचने से सारी की सारी जंजीर खिंची चली आती है। लेखक के अपने विचार से वह मुख्य एक अंग 'आर्जवता' ही हो सकता है। अर्थात छल कपट से रहित मन बुद्धि और इनके भावों में ऐसा सीधापन स्वभाव सिद्ध हो जाय जिससे शरीर, वाणी व इन्द्रियों की सभी आहार-विहार आदि चेष्टाएँ ऐसी सरल बन जायँ कि जिसको देखकर दूसरे भी उसी प्रकार आकर्षित होने लगें जिस प्रकार दीपक पर पतंगा। विचार से देखिये तो जो आकर्षण इस एक आर्जवता में है वह शेष २५ में नहीं।

चाहिये कि यथार्थ रूप से एक आर्जवता के हृदय में घर कर लेने से शेष २५ अनायास सफल होजाते हैं। इसके विपरीत आर्जवता के बिना यदि शेष २५ भी आ जायँ तो वे स्वयं सफल नहीं होते। अब हमें इसी विषय को विचार की कसौटी पर जाँचना चाहिये। यह बात तो निर्विवाद है कि आर्जवता पूर्ण सत्त्वगुण का परिणाम है और वह निवृत्ति प्रधान है। प्रवृत्ति प्रधान नहीं, क्योंकि मनादि की वक्रता व कठोरता को निकालकर ही इसका उद्‌बोध होता है।

(१) भय का हेतु नियम से मन की वक्रता व कठोरता ही हुआ करती है, इसके अभाव से अभयता तो स्वतः ही सिद्ध होती है।

(२) आर्जवता के विकास के फल स्वरूप जब वक्रतादि का लोप हुआ तो छल-कपट का व्यवहार तथा पदार्थों में आसक्ति स्वतः ही कूँच कर जाती है और अन्तःकरण आन्तर-बाह्य दोनों शुद्धियों का पात्र होता है।

(३) ज्ञान-योग-व्यवस्थिति तथा इसकी जिज्ञासा के लिये सरलता तो प्रथम सोपान ही है।

(४) सरलता के फल-स्वरूप किसी वस्तु की पकड़ न रहने से चित्त-वृत्ति का दानपरायण रहना निश्चय ही है।

(५) सरलता के आने पर इन्द्रिय-निग्रह तो स्वाभाविक ही होता है।

(६) सरलता के फल-स्वरूप सांसारिक पकड़ न होने से परलोक सम्बन्धी शास्त्र में विश्वास और इसके परिणाम में यज्ञादि प्रवृति तथा स्वाध्याय अनायास हो सकता है।

(७) सरलता स्वयं ही तप है। जैसा गीता अ० १७ श्लोक १४ से १६ में त्रिविध तपों का वर्णन किया गया है (१) देवद्विजादि का पूजन व शौच (२) अनुद्वेग, सत्य-प्रिय व हितकारी वाक्य तथा(३) मन की प्रसन्नता व सौम्यता इसी प्रकार तीनों तप तो सरलता का अङ्ग ही हैं।

(८) हिंसा, झूठ, क्रोध पैशुन्यता व पकड़ तो मन की कठोरता व वक्रता के ही परिणाम हैं। इस लिये सरलता द्वारा इनके अभाव में अहिंसा, सत्य अक्रोध, अपैशुन्यता व त्याग तो स्वतः सिद्ध ही हैं

(९) शान्ति तो सरलता का स्वरूप ही है।

(१०) कठोरता व वक्रता के अभाव में दया, अलोलुप्त्व, कोमलता रूप मार्दव, लज्जा, अचपलता, तेज, क्षमा, धृति, शौच, अद्रोह तथा नातिमानिता तो इस सरलता पूर्ण भद्र की दास-दासियों की भाँति सेवा करती ही हैं।

निष्कर्ष यह है कि सभी आसुरी सम्पति का मूल एक मात्र परिच्छिन्न अहंकार ही है। जितनी मात्रा में वह बढ़ा-चढ़ा होगा. उतनी ही अधिक मात्रा में इस आसुरी सम्पति का बोल-बाला रहेगा इसके विपरीत जितनी मात्रा में यह गलित होगा, उतनी ही मात्रा में दैवी-सम्पति का उदय होगा। प्रकृति-राज्य में यह तो स्वाभाविक ही है कि यह आर्जवता प्रकट होकर इस परिच्छिन्न अहंकार को पिघलाने में सीधा (Direct) प्रभाव डालती है। इसके अतिरिक्त आर्जवता के बिना ये दूसरे अभय दान, दम, यज्ञ, तप, अहिंसा सत्य आदि अपने अभिमान को ही बढ़ा देते हैं और फिर वे दैवी सम्पद् व सच्चारित्र्य की कोटि से भी निकल जाते हैं तथा सत्व सशुद्धि, क्षमा, अलोलुप्त्व, शौच अद्रोह अक्रोध अचपलता व नातिमानिता आदि तो इस आर्जवता के साक्षात् परिणाम ही हैं। इस विचार से यदि इस आर्जवता को सच्चारित्र्य की कुञ्जी कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

इसका साधन क्या है ? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में दृष्ट व अदृष्ट दो ही प्रकार के साधन हो सकते

हैं। यहाँ हमें दृष्ट-साधन का ही विचार कर्तव्य है क्योंकि पुरुपार्थ साध्य यही है। यह बात तो मान्य ही है कि यह आर्जवता प्रकृति के केवल ठोस सत्व गुण का ही परिणाम है। अतः जिन साधनों द्वारा सत्त्वगुण का विकास हो वे ही आर्जवता के साधन हो सकते हैं। श्रीमद्भागवत् एकादश स्कन्ध अध्याय १३ में श्री भगवान श्रीमुख से उद्धव के प्रति प्रत्येक तीनों गुणों की उत्पत्ति व वृद्धि में ये दस वस्तु हेतुरूप से कथन करते हैं और आज्ञा देते हैं कि ये दस जिस पुरुष के सत्त्व, रज व तम में से जिस गुण वाले होंगे वैसे ही गुण का विस्तार करेंगे। अतः ये दसों सात्त्विक गुण वाले सेवन करना यही आर्जवता का मुख्य साधन है। वे दस ये हैं—

(१) सात्त्विक संगति (२) पवित्र देश (३) पवित्र काल (४) शुद्ध आहार (५) पवित्र तीर्थों का सेवन (६) परमार्थ सम्बन्धी सद्ग्रन्थों का अभ्यास (७) सात्त्विक कर्म व जीविका (८) भगवत् चरणारविन्दों का ध्यान व विश्वास (९) गर्भाधानादि सात्त्विक संस्कार (१०) सात्त्विक मन्त्र जाप।

सारांश मानव जीवन का फल परमार्थ रूप मोक्ष है, भोग नहीं। परमार्थ की नींव सच्चारित्र्य है। सच्चारित्र्य का प्राण आर्जवता है और आर्जवता का साधन उपर्युक्त दस सात्त्विक पदार्थों का सेवन है।

वड़ा कौन ?

"पूर्ण गुणवान वन जाना ही जीव का लक्ष्य है" इसी उद्देश्य से काशी-नरेश महाराज वोधिसत्व अपने दुर्गुणों की खोज करने लगे। वे प्रत्येक व्यक्ति से आग्रहपूर्वक अपने दुर्गुण पूछते. लेकिन सभी लोग उनके गुणों का ही वर्णन करते, कोई भी बुराई न कहता। महाराज ने अपने मन में विचार किया कि ये सव मुझे पहचान कर मुख देखी बड़ाई करते होंगे अतः उन्होंने वेप वदल कर राजधानी—अन्य नगर तथा सम्पूर्ण राष्ट्र में अपने दुर्गुणों की खोज की परन्तु किसी ने उनकी बुराई नहीं वताई। अस्तु, इसी धुन में महाराज अपना राज्य छोड़ कर दूसरे राज्य 'कोशल-राज्य' में अपने दुर्गुणों का अन्वेपण करने चले।

उधर से वहाँ के नरेश भी इसी हेतु आरहे थे। दोनों के रथ एक दूसरे के अभिमुख एक ऐसे संकीर्ण मार्ग पर पहुँचे जहाँ दो रथ एक साथ नहीं आ-जा सकते थे। अतः दोनों को ठहर जाना पड़ा और मल्लिक और वाराणसी दोनों नरेशों के सारथियों में विवाद छिड़ गया।

को० न० सारथी—अपने रथ को लौटालो।

बा० न० सारथी—तुम अपना रथ लौटालो।

को० सारथी—इस रथ में "कोशल नरेश" महाराज विराजमान हैं, अतः जाने का मार्ग पहले हमें दो।

बा० सा०—मेरे रथ में श्री "काशी नरेश" वैठे हैं—इन्हें पहले जाने का मार्ग दो।

वाराणसी महाराज के सारथी ने विचारा कि समस्या वड़ी कठिन है क्या किया जाय? वे भी नरेश—ये भी नरेश। अन्त में उसने विचारा कि इनकी आयु, गोत्र, राज्य, कोष आदि पूछा जाय, जो अधिक अधिकारी हो उसे मार्ग पहले मिलना चाहिये। (अधिकतर संसारी लोग तो इन्ही वातों से वड़ा छोटा मानते हैं) तदनन्तर सव वातें पूछी गईं तो गोत्र-जाति, आयु राज्य, कोप आदि सव वरावर निकली फिर क्या किया जाय? अव उनको वास्तविक वड़प्पन की खोज करनी पड़ी। अस्तु वाराणसी नरेश के सारथी ने पूछा, "तुम्हारे महाराज में कितने गुण हैं?"

इस पर कोशल नरेश का सारथी बोला—

दलनं दलनस्य क्षिपति मल्लिको मृदुना मृदुम् ।
साधुमपि साधुना जेति असाधुमप्यसाधुना ॥
एतादृशोऽयं राजा मार्गं उज्जहि सारथि !

अर्थात्—कोशल नरेश कठोर के साथ कठोरता का व्यवहार करते हैं और मृदु-स्वभाव वाले के साथ कोमलता का। भलेमनुष्य को भलाई से जीतते हैं और बुरे को बुराई से। हे सारथी ! ऐसे गुणयुक्त महाराज के लिये तुम मार्ग छोड़ दो।

कोशल नरेश के सारथी के यह वचन सुनकर वाराणसी नरेश का सारथी कहने लगा "बस, क्या तुम अपने महाराज के गुण कह चुके ?
"हाँ।"

"यदि ये ही गुण है तो दुर्गुण कैसे होते हैं ?"

"अस्तु, ये दुर्गुण ही सही-परन्तु तुम अपने स्वामी के भी तो कुछ गुण कहो"

वाराणसी महाराज के सारथी ने कहा—सुनो

अक्रोधेन जितं क्रोधं, असाधु साधुना जितम् ।
जितं कदर्यं दानेन सत्येनालीक वादिनम् ॥
एतादृशोऽयं राजा मार्गं उज्जहि सारथि ! ।

अर्थात—हमारे महाराज क्रोधी को अक्रोध से, बुरे को भलाई से, लोभी को दान से, झूठ को सत्य से जीतते हैं। अतः ऐसे नरेश के लिये हे सारथी ! तुम तुरन्त मार्ग छोड़ दो:—

यह सुन कोशल नरेश स्वयं रथ से उतर कर श्री बोधिसत्व के चरणों पर आ गिरे और निश्चय हो गया कि वास्तव में सुन्दर तन, विपुल धन, श्रेष्ठ गोत्र, अथवा महान राज्य आदि से मनुष्य बड़ा नहीं कहलाता अपितु बड़ा वही है जो गुण अधिक हों, जिनका चरित्र-महान हो।

तू कर फ़ैसल हिसाब अपना।

गुज़ारी उम्र झगड़ों में बिगाड़ी अपनी हालत है।
हुआ ख़ारिज अपील अपना, अजायब यह वकालत है ॥ १ ॥
मुक़दमे ग़ैर लोगों के हज़ारों कर दिये फ़ैसल।
न देखा मिसल अपनी को, अजायब यह अदालत है ॥ २ ॥
दलीलें दे के ग़ैरों पर किया साबित उसूल अपना।
दिल अपने का न शक टूटा, अजायब यह दलालत है ॥ ३ ॥
बना हाफ़िज़ १, पढ़े मसले २, सुनाये दूसरों को भी।
वले टूटा न कुफ़्र ३ अपना, अजायब यह मसालत है ॥ ४ ॥
तू कर फ़ैसल हिसाब अपना, तुझे औरों से क्या 'गोविन्द'।
न क़िस्सा तूल दे इतना, फ़ज़ूल ही यह तवालत है ॥ ५ ॥

१. कंठस्थ करने वाला २. प्रमाण ३. अज्ञान

चरित्र-निर्माण ही राष्ट्र निर्माण है।

(श्री स्वामी शिवानन्द जी सरस्वती ऋषिकेश)

राष्ट्र का निर्माता है व्यक्ति और व्यक्ति का व्यक्तित्व निहित है उसके नैतिक विकास में, उसकी चारित्रिक दृढ़ता में-इसलिये चरित्र का महत्व राष्ट्र निर्माण की योजना में सर्व प्रथम विचारणीय है। निर्वल ईंटों से बने हुए प्रासाद सहज ही गिरने की अवस्था को प्राप्त होते हैं वैसे ही निर्वल मानव के स्कन्धों पर समाज का बोझ देर तक नहीं रहता, पतित होता है और अति शीघ्र ही पतित होता है। इसलिये राष्ट्र की आधारशिला पर जो व्यक्तिगत उत्तरदायित्व का स्तम्भ है. वह केवल चरित्र की महत्ता को ही लेकर है। कहने के लिये तो चरित्र एक ही शब्द है पर वह कितने दिव्य गुणों का समुदाय है, हम विचार करें तो जानेंगे कि चरित्र निर्माण का अर्थ कितना गूढ़ और अव्यक्त है। इसका स्पष्टीकरण यों होता है कि हम में सत्य-वादिता, श्रद्धा, धर्म-प्रियता, अहिंसा, अस्तेय, प्रेम, समदर्शिता आदि गुणों का समावेश हो और ऐसा हो जैसा क्षीर नीर का सम्बन्ध होता है। ये दिव्य गुण हममें इस प्रकार प्रवेश कर जावें कि हम इनमें तद्रूप होकर अभिन्न होजावें। यदि व्यक्ति इतने दिव्यत्व को हृदय का आभूषण बना लेता है, फिर वह किससे क्यों और कैसे. राग करेगा और कहाँ किस हेतु द्वेष ? आज जैसे अनेक व्यक्तियों की अनेक दुनिया बनी हुई है, एक एक मस्तिष्क से एक एक प्रकार के विचार उठते हैं। और विश्व तज्जन्य शुभाशुभ भार बाधा से प्रभावित हो रहा है, ऐसा तो तब नहीं हो सकेगा जब हम एक को ही अनेकों में मूर्त मानने लगें। "तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः"

राष्ट्र में आतंक क्यों फैलता है ? कारण यही है कि व्यक्ति का असंतोष, ऐसा क्यों ? इसका समाधान है—राग और प्रलोभन, मिथ्याचार और भ्रष्टाचार ब्रह्मचर्य के अतिशय अभाव में मन और मस्तिष्क दोनों दूपित रहते हैं। बात-बात पर काम-क्रोध का शत्रु हमें परास्त कर देता है और बात-बात में हम उद्वेग को प्राप्त होजाते हैं। शिक्षालयों में शिक्षा लेकर विद्यार्थी सब के सब उपन्यास और सिनेमा सम्बन्धी चर्चाओं में तन्मय रहते हैं और ऐसे अवसर पर स्वतः कामना की पूर्ति के अभाव में उद्वेग आजाता है, कहा भी है:—

ध्यायतो विषयान्पुंसःसंगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृति विभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

अर्थात विषयों में ध्यान करने से उसके प्रति आसंग की उत्पत्ति होती है और आसंग के द्वारा काम-पूर्ति की अभिलाषा होती है, फिर काम पूर्ति में विघ्न रूपेण कुछ आने से क्रोध होता है और क्रोध के परिणाम रूप मोह और फिर मोह से स्मृति का नाश पुनः बुद्धिनाश और इस प्रकार सर्वनाश ही हो जाता है।

क्या इन गीता जी के उपदेशों को किसी भी मात्रा में कोई पालन करने के लिये तैयार हैं, नहीं रहेगा शोक, और कदापि नहीं रहेगा आतंक। इन विचारों को करते ही लोग मौन हो जाते हैं। चाहे

जो कुछ भी हो, उमर खैयाम के सिद्धान्त पर चलने वाले संयत चरित्र को तो प्राप्त नहीं कर सकते हैं। वे राष्ट्र के निर्माण को हाथ में लेकर पता नहीं क्या कर देंगे। राष्ट्र के निर्माण के लिए सत्य और अहिंसा का प्रतीक एक महात्मा गाँधी ही चाहिये और एक युधिष्ठिर ही चाहिये। एक आस्तिक व्यक्ति ही राष्ट्र का निर्माण कर सकता है न कि एक नास्तिक और व्यभिचारी। उनकी बातों का कोई हिसाब नहीं और न कोई करने को प्रक्रिया ही जानता है। पशुओं की प्रवृत्ति का अनुसरण करने वाला जड़-पाषाण मानव भला कैसे अपने जीवन को वास्तविक सुख की ओर अग्रसर देख सकता है? असम्भव ही है।

राष्ट्र के होनहार आज के नौनिहाल बच्चे और उनके माता-पिता को देखिये वे अहोरात्र अश्लील चर्चाओं में ही समय काटा करते हैं। फिर वह बालक भला धर्म के मर्म को समझने या अभ्यास में लाने के लिये प्रयत्न ही क्यों करें। जो कुछ भी हो जब तक समाज आध्यात्मिक अस्तर पर नहीं आ जाता है तब तक हम किसी भी प्रकार उस सुख और उस रामराज्य की कल्पना को नहीं कर सकते, जहाँ शत्रु और मित्र दो प्रकार की दो संज्ञा नहीं रह जाती है। जहाँ राग और द्वेष, इस प्रकार के दो गुण नहीं रहजाते हैं। जब तक सरयू की घाटी की तरह शेर और शशक जलपान के लिये प्रस्तुत नहीं हो जाते हैं, कहो! और विचारकर कहो, भला वहाँ सच्ची सुख-शान्ति और सच्चा सुख किसी को भी कैसे मिल सकता है? इसलिये अनिवार्य तो इतना है कि हम अपने जीवन की आलोचना करें और निश्चय करें कि एक मानव बनेंगे और मानवता के जो गुण होने चाहिये, उन्हें अपनायेंगे। बातें बनाने से चरित्र का विकास होता नहीं, होगा तो वैसे सत्य भावना और सच्ची लगन से। सर्व दिव्य गुणों को, सर्व दैवी सम्पदाओं को आने के लिये हृदय-द्वार खोल दो और उन्मुक्त खोल दो हृदय को इतना विस्तीर्ण होने दो कि विश्व बन्धुत्व का सिद्धान्त ही नहीं वरन् वास्तविक रूप तुम्हारे हृदय में प्रवेश कर जाय। यह शास्त्रों का घोर डिण्डिम है कि बिना दैवीगुणों के विकास के व्यक्ति का निर्माण होता नहीं और उसके बिना फिर राष्ट्र निर्माण की नींव और समस्या यों ही पोली रह जायगी। जैसे भी हो सन्त महात्माओं के चरित्र पढ़ो और उनके पथ का अनुसरण करने की चेष्टा करो। तुम जो बनना चाहते हो वही हो। तुम्हारा जीवन और तुम्हारा राष्ट्र तुम्हारे हाथ में है परन्तु बिना सात्विक प्रवृत्तियों को हृदय में समासीन किये अपना उद्धार और उपकार नहीं है, और न अपने समाज या संघ का ही। आज तक जितने महापुरुष हुए वे धर्म की प्रियता के कारण ही भारत के इतिहास में आये, इसलिये धर्म के प्रति श्रद्धा तो परमावश्यक है। धर्म द्वारा ही जो रक्षित है वही रक्षित है।

"व्यास" बड़ाई जगत की, कूकर की पहिचान।
प्यार करै मुख चाटई बैर करे तन हानि॥

जो सुख चाहो देह का तो छोड़ो ये चारि।
चोरी चुगली जामनी और पराई नारि॥

चरित्र-निर्माणही मानव का परम पुरुषार्थ है।

(एक ब्रह्मनिष्ठ सन्त)

हम किसी के ऋणी न रहें, हमारी प्रसन्नता किसी अन्य पर निर्भर न रहे, अपने को इतना सुन्दर बना लेना ही चरित्र-निर्माण है। चरित्र-निर्माण के बिना सुन्दर समाज का निर्माण तथा अपने अभीष्ट की प्राप्ति सर्वथा असम्भव है। इस दृष्टि से चरित्र-निर्माण ही प्राणी का वास्तविक पुरुषार्थ है।

चरित्र-निर्माण के लिये किसी अप्राप्त परिस्थिति की अपेक्षा नहीं है, प्रत्युत प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना है। वह तभी सम्भव होगा जब प्राणी प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपने दोषों का यथेष्ठ अवलोकन कर उनको पुनः न दोहराने का व्रत लेकर अपने को निर्दोष बनाने के लिये अथक प्रयत्नशील बना रहे। अपने दोषों का दर्शन वही कर सकता है जो पर-दोष दर्शन नहीं करता, अर्थात् जिसने विवेक का उपयोग केवल अपने पर ही और क्षमा तथा प्रेम का उपयोग दूसरों पर किया हो; क्योंकि अपने प्रति न्याय और दूसरों के प्रति प्रेम करने से ही अपने दोष देखने की योग्यता प्राप्त होती है। उस प्राप्त योग्यता के सदुपयोग से ही प्राणी बड़ी ही सुगमता पूर्वक अपने चरित्र का निर्माण कर लेता है। जिस प्रकार सुगन्धित पुष्प से सुगन्धि स्वतः फैलती है, उसी प्रकार चरित्रवान् प्राणियों से सच्चरित्रता अपने आप प्रसारित होती है, क्योंकि व्यक्ति निर्माण से ही सुन्दर समाज का निर्माण होता है।

ज्यों-ज्यों प्राणी अपना सुधार करता जाता है, त्यों-त्यों समाज का सुधार अपने आप होने लगता है। एक एक चरित्रवान् व्यक्ति ने अनेकों व्यक्तियों को चरित्र का पाठ पढ़ाया है, और करोड़ों व्यक्ति मिलकर भी एक व्यक्ति का निर्माण नहीं कर पाते हैं। इससे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि अपने सुधार से ही संसार का सुधार होगा। इस महामन्त्र को जो अपना लेते हैं वे ही प्राणी अपनी सुन्दरता से सुन्दर समाज का निर्माण कर सकते हैं।

सच्चरित्रता को सुरक्षित रखने के लिये यह जान लेना अत्यन्त अनिवार्य हो जाता है कि दूसरों के प्रति जो कुछ किया जाता है वह कई गुना अधिक होकर अपने को ही प्राप्त होता है। इस दृष्टि से दूसरों के प्रति बुराई अर्थात् जो नहीं करना चाहिये उसके करने की आवश्यकता ही नहीं रहती, और भलाई अर्थात् जो करना चाहिये उसका करना अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि दूसरों के हित में ही अपना हित निहित है। इस प्राकृतिक विधान को जो भली भाँति जान लेते हैं, वे कभी किसी के प्रति वह नहीं करते जिसे दूसरों के द्वारा अपने प्रति नहीं कराना चाहते प्रत्युत् वह दूसरों के प्रति अवश्य करते हैं जो अपने प्रति दूसरों से कराना चाहते हैं। प्राणी अपने प्रति वही कराना चाहता है जिसमें उसका हित तथा प्रसन्नता निहित है, अतः हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति में दूसरों का हित तथा प्रसन्नता निहित रहनी चाहिये। जब उन सभी प्रवृत्तियों का अन्त हो जाता है जिनमें दूसरों का अहित निहित है तब चरित्रबल उत्तरोत्तर स्वतः वृद्धि को प्राप्त होता जाता है।

चरित्रबल के समान और कोई बल नहीं है। चरित्रवान प्राणियों का जीवन ही समाज के लिये वास्तविक विधान है। चरित्रवान् प्राणियों का शासन बिना किसी भौतिक बल के मानव के हृदय पटल पर अंकित हो जाता है, अर्थात् चरित्रवान् प्राणी का शरीर रहने पर भी उसकी सच्चरित्रता

मानव-हृदय पर सर्वदा राज्य करती है। इससे यह भली भांति सिद्ध हो जाता है कि चरित्र का कभी नाश नहीं होता, प्रत्युत वह विभु हो जाता है।

सच्चरित्र जीवन बन जाने पर हृदय तथा मस्तिष्क में एकता हो जाती है, अर्थात् मन-बुद्धि में विलीन हो जाता है। मन के विलीन होते ही इन्द्रियाँ विषयों से विमुख हो जाती हैं, और फिर प्राणी सहज भाव से जितेन्द्रियता प्राप्त कर लेता है जो महान् बल है। जितेन्द्रियता आजाने पर स्वार्थ-भाव मिट जाता है। स्वार्थ भाव गलते ही सेवा की सद्भावना स्वतः जाग्रत होती है। सेवा भाव आ जाने पर विषय चिन्तन मिट जाता है। विषयचिंन्तन मिटते ही सार्थक चिन्तन उदय होता है। सार्थक चिन्तन उदय होने पर भक्त भगवान् से, योगी योग से एवं जिज्ञासु तत्त्वज्ञान से अभिन्न हो जाता है; अथवा यों कहो कि योग, बोध तथा प्रेम की उपलब्धि होती है जो मानव की वास्तविक आवश्यकता है।

अतः चरित्र-निर्माण ही मानव जीवन का परम पुरुषार्थ है।

चरित्र निर्माण में गरीबी का स्थान

(श्री बाबा राघवदास जी)

भारत का सबसे प्राचीन कार्यक्रम रहा है कि मनुष्य स्वेच्छा से गरीबी स्वीकार करे। इससे समाज का प्रत्येक व्यक्ति अधिक परिश्रम करता रहे पसीना बहाये और अपने मन तथा शरीर को स्वस्थ रखकर जनता को भगवत् स्वरूप मानकर सेवा करे। समाज की सेवा में परिवार भी आता था।

"चौथेपन नृप कानन जाहीं"

यह पद्धति भारत में ही थी। आज जहाँ ६० वर्ष के बाद और भी नौकरी करने की और उससे पैसा पैदा करने की हवस है प्राचीन आश्रम प्रणाली में उसको स्थान नहीं था।

आज हम वर्णाश्रम की बहुत चर्चा करते हैं, उसके नाम पर संघ बनाते हैं पर अपने हृदय पर हाथ रखकर हम ही अपने से पूछें कि क्या हम आश्रम की थोड़ी भी कदर करते हैं? क्या आपके सौ वर्ष में जो पचीस वर्ष ब्रह्मचर्याश्रम, वानप्रस्थ तथा सन्यास के हैं उनमें स्वेच्छा से ग़रीब बनकर सतत परिश्रम करना है—उसका पालन हमने कभी किया? फिर क्यों वर्णाश्रम की बात? क्या आश्रम विहीन वर्ण भारतीय है? वह वर्ण तो विदेशी है जहाँ वर्गवाद जोरों से चलता है। उधर आश्रम सहित वर्ण कायम रख सके तो संसार की सभी आर्थिक समस्याएँ शीघ्र से शीघ्र हल होकर भारत में चरित्र-निर्माण का महान कार्य हो जायगा। आज अर्थ लिप्सा तो हमसे काला बाजार करवाती है, हमारा नैतिक स्तर गिराती है—हमें चरित्र विहीन बनाती है। अगर प्राचीन भारतीय पद्धति से हम स्वेच्छा से गरीबी अपनाने वाले आश्रमों को अपना सके तो हमारी अर्थ की आसक्ति खत्म हो जायगी और सच्चरित्र हो जायगें।

इसलिये वर्तमान युग की माँग है भूमिदान की—सम्पत्ति दान की—बुद्धि दान की। हम अब निर्णय करें कि हमें क्या करना है?

भक्ति से चरित्र निर्माण

(श्रद्धेय श्री १०८ श्री ब्रह्मचारी प्रभुदत्त जी महाराज)

जिन कर्मों के द्वारा मन कृष्ण-चरणों में लगे, वास्तव में वे ही तो कर्म हैं, शेष सब अकर्म हैं, मिथ्या कर्म हैं। अज्ञान जनित मोह का नाश बिना भगवद्भक्ति के नहीं हो सकता। जीव किसी के लिये तड़फड़ा रहा है, वह किसी की खोज में है। जहाँ उसका मन रमता है जिधर आकर्षित होता है, किन्तु कुछ दिनों में वहाँ से भी मन हट जाता है, फिर दूसरी वस्तु की ओर मन आकर्षित होता है, दूसरी से तीसरी, तीसरी से चौथी ऐसे ही इधर से उधर भटकता रहता है कहीं शान्ति नहीं पाता। जहाँ जाकर भटकना बन्द हो, जिसे पाकर कृतार्थ होजाय फिर किसी अन्य को पाने की इच्छा ही न हो वही वास्तविक तत्व है, वही मनुष्य का परम साध्य है।

प्रह्लाद जी असुर बालकों से कह रहे हैं :—"देखो भैया! सब साधनों का एक मात्र उद्देश्य यही है कि प्रभु के पाद पद्मों में अनुराग हो। जिन साधनों से भगवान विष्णु में स्वभाविकी रति हो उन-उन कार्यों को सदा सर्वदा तत्परता के साथ करते रहना चाहिये।"

असुर बालकों ने कहा —'ऐसे कुछ कर्मों का निर्देश तो कीजिये किन-किन कर्मों के करने से कृष्ण पादपद्मों में रति होती है।"

प्रह्लाद जी बोले:—"देखो, प्रधान कर्म है गुरुदेव की प्रेम-पूर्वक पूजा करना। जिसकी गुरु में और गोविन्द में एक सी भक्ति नहीं जो गुरु को मनुष्य करके नहीं मानते। जो उनकी सेवा में सर्वदा तत्पर रहते हैं उनके लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं। भगवान उनके वश में होजाते हैं। गुरु की जिस पर प्रसन्नता नहीं हुई उसने कितनी भी सम्पत्ति प्राप्ति की हो उसे कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ। जिसे गुरु की कृपा प्राप्त है वह निर्धन होने पर भी सब से बड़ा धनी है, उसे प्राप्त करने को कुछ शेष रहा ही नहीं।"

यह संसार गुण-दोषों से व्याप्त है। दोनों के मिश्रण से ही इसकी स्थिति है। संसार में ऐसा कोई प्राणी नहीं जिसमें गुण ही हों और कोई ऐसा भी नहीं जिसमें अवगुण ही अवगुण हों। इस गुण दोष से पूर्ण संसार में श्रीहरि सर्वत्र रम रहे हैं। जो गुण-दोष सहित मोहवश जिस वस्तु में आसक्ति करता है तो वह उसी का रूप होजाता है उसे दोष दीखते ही नहीं। प्रेमवश श्रद्धावश किसी से प्रेम करता है तो भगवान वहीं प्रगट हो जाते हैं। जैसे कोई स्त्री है वह अपनी कामना पूर्ति के लिए पति के शरीर में भोग बुद्धि से आसक्त रहती है, तो उसे सर्वदा संसार में ही भटकते रहना पड़ता है। पैदा होना, पैदा करते रहना यही क्रम लगा रहेगा। यदि वह पति में ईश्वर बुद्धि करके प्रेम करती है तो उसी में से भगवान प्रकट होते हैं। सदा के लिये उसका जन्म मरण छूट जाता है और लक्ष्मी की तरह वह सदा बैकुन्ठ में जगत पति के साथ दिव्यानंद का अनुभव करती है।

प्रेम में दोष नहीं दिखते। जहाँ दोष बुद्धि है वहाँ प्रेम नहीं। यदि हमें दोष ही देखने की टेव पड़ जायगी तो संसार में सभी में दोष ही दिखाई देगें। दोष तो ऊपर तैरते रहते हैं। उन्हें देखने के लिये अधिक प्रयास नहीं करना पड़ता। गुण गर्भ में छिपे रहते हैं, अतः गुण ग्रहण के लिये गहरे में पड़ना पड़ता है। अपने आप को भूलकर उसी में निमग्न होना पड़ता है। ढूँढना पड़ता है, तब गुण

प्राप्त होते हैं। इसीलिये स्त्रियों के लिये पति, शिष्यों के लिये गुरु, ईश्वर रूप ही बनाये गये हैं। यह संभव हो सकता है कि सती का जो पति है शिष्य का जो गुरु है हम अन्य लोगों की दृष्टि में उससे बढ़कर ज्ञानी-ध्यानी, सदाचारी अन्य भी पति या गुरु कहलाने वाले हो सकते हैं, किन्तु उनका उद्धार तो उन्हीं से होगा जिनका उन्होंने पल्ला पकड़ा है। पार जाने के लिये छोटी, बड़ी, सुन्दर-असुन्दर सजी, बिना सजी, दृढ़, जर्जर अनेक प्रकार की नौकायें हैं। किन्तु हम सबसे तो पार जा नहीं सकते किसी एक से ही पार जायँगे। जिसमें बैठकर हम चल रहे हैं, वही नौका हमें पार करेगी हमारा प्रयोजन तो उसी नौका के मल्लाह से है। इसी प्रकार जिससे गठबन्धन हो चुका है वह पति कैसा भी हो उसी के साथ जीवन बिताना है उसी के द्वारा पार होना है। यह अच्छा नहीं दूसरा चाहिये, दूसरा नहीं तीसरा चाहिये, इसमें तृप्ति नहीं, शान्ति नहीं, उद्धार नहीं पार होने की आशा नहीं। हाँ यदि पति पतित होजाय परधर्मावलम्बी होजाय तब उसके परित्याग में शास्त्रकारों ने दोष नहीं बताया। अन्य समय उनकी सभी आज्ञाओं को बिना विरोध यथाशक्ति पालन करना चाहिये। सतियों के ऐसे असंख्यों दृष्टान्त हैं। एक बात में यदि आज्ञा उल्लंघन भी हो जाय तो कोई दोष नहीं। पति कहे तुम भगवान् की सेवा-पूजा मत करो, तो यदि यह आज्ञा न भी मानी जाय तो कोई पाप नहीं। इसी प्रकार गुरु की सभी आज्ञा को बिना विरोध श्रद्धा सहित मानना चाहिये। किन्तु यदि वह भगवान के भजन को मना करे तो उसे न माने तो कोई दोष नहीं लगता। क्योंकि भगवत्भक्ति ही तो जीव का प्रधान लक्ष्य है। इसीलिये तो गुरु किये जाते हैं। गुरु दो कार्य करते हैं, हमें मंत्र की दीक्षा देते हैं, परमार्थ की शिक्षा देते हैं। कभी-कभी शिक्षा कोई दूसरे गुरु देते हैं, दीक्षा दूसरे। ऐसी दशा में दोनों में ही श्रद्धा रखनी चाहिये। किन्तु दीक्षा-गुरु की अपेक्षा शिक्षा-गुरु ही अधिक सम्मानीय और श्रेष्ठ हैं।

धर्मराज युधिष्ठिर से नारद जी कह रहे हैं—'राजन्! प्रह्लाद जी अपना शिक्षा गुरु मुझे ही मानते थे। इसीलिये आत्मानुभव के सैकड़ों उपायों में से गुरु सुश्रूषा को उन्होंने सर्व प्रथम स्थान दिया है। इसी प्रसंग को नैमिषारण्य के शौनकादि मुनियों के सम्मुख सूत जी कह रहे हैं "मुनियों! शिष्यों ने गुरु की आज्ञा पालन के लिये किस प्रकार अपने जीवन की भी चिन्ता नहीं की, इस विषय के अनेकों दृष्टान्तों में से कुछ आप को सुनाता हूँ।

एक गुरु के समीप तीन शिष्य पढ़ते थे। एक शिष्य से एक दिन गुरु ने कहा—' देखो, तुम जाकर खेत की मेड़ बना आओ जिससे खेत में से पानी बहने न पावे।" शिष्य गुरु की आज्ञा से खेत की मेड़ बनाने चला, जाकर उसने खेत की मेड़ बनाई। मेड़ बनाते-बनाते वर्षा होने लगी। एक ओर पानी खेत की मेड़ को काट कर बहने लगा। शिष्य ने जाकर देखा खेत से पानी निकल रहा है। गुरु जी की आज्ञा है पानी खेत से न निकले उसने इधर-उधर से मिट्टी लाकर कटे हुए स्थान पर रक्खी। ज्यों ही वह मिट्टी रखता त्यों ही पानी का प्रवाह उसे बहा ले जाता। बहाव का स्थान भी धीरे-धीरे बढ़ने लगा। नियम ऐसा है कि बहते हुए पानी को रोकने के लिये पहिले फूटे हुये स्थान से पूर्व के स्थान को रोकते हैं, उतनी देर में फूटे हुए स्थान पर यथेष्ट मिट्टी रख देते हैं जब तक पहिले रोके स्थान को काटकर पानी आता है तब तक वह फूटा हुआ स्थान यथेष्ट मिट्टी रखने से दृढ़ हो जाता है इससे पानी निकलने नहीं पाता किन्तु यहाँ पानी का प्रवाह इतना तीव्र था कि उसमें ऊपर रोकने को अवसर ही नहीं था। जब शिष्य ने अपना सम्पूर्ण श्रम व्यर्थ हुआ समझा तब वह स्वयं फावड़े को डालकर उस कटे हुए स्थान पर लेट गया। इससे

जल रुक गया खेत पानी से भर गया। वर्षा भी बन्द हो गई, किन्तु शिष्य उठा नहीं। उठता है तो खेत का समस्त पानी निकल जायगा। गुरु-आज्ञा का उल्लंघन हो जायगा। यही सोचकर वह सूर्यास्त तक बिना खाये पिये यों ही पड़ा रहा।

रात्रि में जब गुरु ने देखा शिष्य अभी तक नहीं लौटा तो उन्हें बड़ी चिन्ता हुई शिष्य-वत्सल गुरु ने सोचा मैंने उसे खेत की मेड़ बनाने के लिए भेजा था। अभी तक लौटा नहीं क्या कारण है ? शिष्य के स्मरण से उनका हृदय भर आया। हाथ में लाठी लेकर दोनों शिष्यों को लिए हुए खेत पर पहुँचे। वहाँ देखा शिष्य नहीं हैं। तब वे बड़े चिन्तित हुए। उच्चस्वर से पुकारने लगे "बेटा आरुणी ! तुम कहाँ हो। जहाँ भी हो शीघ्रता से मेरे समीप चले आओ शिष्य तो यहाँ पानी रोके पड़ा हूँ यदि अब गुरु बुला रहे हैं तो मुझे तत्क्षण गुरु के समीप जाना चाहिये। यह सोच कर वह वहाँ से उठकर उसी समय गुरु के समीप गया और हाथ जोड़कर बोला गुरुदेव ! मैं यहाँ उपस्थित हूँ मेरे लिए क्या आज्ञा होती है।"

गुरु ने पूछा—बेटा ! तुम अब तक कहाँ थे ?"

शिष्य ने कहा—भगवन ! आपकी आज्ञा थी मैं खेत के पानी को मेड़ बनाकर रोकूं जब मैं किसी प्रकार रोकने में समर्थ न हुआ तो स्वयं मेड़ बनकर पानी रोक कर पड़ा था। अब आपकी आज्ञा पाकर पानी को बहता हुआ छोड़कर चला आया।

गुरु उसकी आज्ञाकारिता पर बड़े प्रसन्न हुए और आशीर्वाद देते हुए बोले—तुमने निष्कपट भाव से गुरु शुश्रुषा की है अतः बिना पढ़े ही तुम्हें समस्त विद्या आजायगी और संसार में तुम बड़े यशस्वी होगे। वे ही महानुभाव गुरु-कृपा से संसार में परम तेजस्वी-यशस्वी तथा मृत्यु को जीतने वाले उद्दालक ऋषि के नाम से विख्यात हुए।

इस प्रकार शास्त्रों में गुरु-शुश्रुषा के उत्कृष्ट से उत्कृष्ट उदाहरण भरे पड़े हैं। वे शिष्य धन्य हैं जो अपने शरीर के सुखों की तनिक भी चिन्ता न करके सदा गुरु-शुश्रुषा में लगे रहते हैं।

आत्मानुभव के उपाय बताते हुए प्रह्लाद जी असुर बालकों से कह रहे हैं—"गुरु-शुश्रुषा से जनार्दन भगवान अत्यन्त शीघ्र सन्तुष्ट हो जाते हैं। दूसरा उपाय है सर्व लब्धार्पण। जो भी कुछ प्राप्त हो उसे भगवान के अर्पण कर देना। मन में ऐसी धारणा सर्वथा जाग्रत रखनी चाहिये कि सब के स्वामी श्रीहरि ही हैं। जीव व्यर्थ में मेरी मेरी करता है। यह मेरा है, मैं इसका स्वामी हूँ, यह मेरा निज का उपार्जित धन है। अरे भैया ! तू क्या उपार्जित कर सकता है। तू तो एक जल की बिन्दु एक पृथ्वी का कण, एक नन्हा सा बीज भी नहीं बना सकता है। भगवान् की बनाई गुठली को, भगवान् की बनाई भूमि में उनके ही दिये हाथों से तू गाड़ देता है। उनके ही बनाये जल को उनकी प्रेरणा से ही उसमें डालता है। उन्हीं की कृपा से वृक्ष बढ़ता है, फलता-फूलता है। उन फलों में तेरा क्या ? तू क्यों उसमें अपनेपन का अभिमान करता है। जो भी भोग्य पदार्थ सामने आवे उसी को देखकर कहना चाहिये—हे गोविन्द ! यह तुम्हारी वस्तु है, तुम्हीं को इसे समर्पित करता हूँ। समर्पित वस्तु को क्या कर सकता हूँ, इसमें जो मेरा मिथ्या ममत्व हो गया है, उस ममत्व को तुम्हें देता हूँ। आप इसमें से मेरेपन को ग्रहण कर लीजिये, मेरे ऊपर होइये, इसी का नाम है सर्व-समर्पण।

अन्न आवे तो पहिले भगवान् का भोग लगाकर उन्हें अर्पित करके तब प्रसाद पाओ। जल आवे तो उसे प्रसादी बनाकर अच्युत को अर्पण करके पीओ। शय्या, पान, वस्त्र, गंध, जो भी सामग्री हो

सब अर्पण करके ग्रहण करो। अप्रसादी किसी भी वस्तु को ग्रहण करना पाप को ग्रहण करना है।

एक भगवद्भक्त थे, वे बिना भगवान को अर्पण किये किसी वस्तु को ग्रहण नहीं करते थे। एकबार वे किसी विपत्ति में भूले-भटके किसी अरण्य में पहुँचे, भूख से व्याकुल थे। एक सुन्दर फल उन्हें मिला, मुँह में अकस्मात डाल लिया। जब वह कन्ठ के नीचे उतर गया, तभी उन्हें स्मरण हुआ, मैंने इसे भगवान् को भोग नहीं लगाया, प्रभु के अर्पण नहीं किया, अब क्या करते। दृढ़ता के साथ गले को पकड़े हुए रह गये। उन्हें भय था, कहीं यह अनर्पित वस्तु मेरे पेट में न चली जाय। अतः एक तीक्ष्ण शस्त्र लेकर उन्हों ने ज्यों ही कंठ को काटना चाहा कि तत्क्षण भगवान उनकी निष्ठा से प्रसन्न होकर प्रकट होगये। यह सब से श्रेष्ठ साधन है, कि किसी भी वस्तु को बिना भगवद्-अर्पण किये ग्रहण न करना।

सूत जी कहते हैं मुनियो! बताइये, इसमें लगता ही क्या है। भगवान के सम्मुख रख दिया उस में तुलसीदल छोड़ दिया, विनती करली प्रभो! इसे स्वीकार करलो।' इतने से ही भगवान प्रसन्न हो जाते हैं। आगे प्रह्लाद जी कहते हैं— "तीसरा साधन है साधु और भक्तजनों का संग करना।'

मुनियों! सत्संग से बढ़ कर परमार्थ की कोई दूसरा साधन नहीं भक्तों का संग करने से मनुष्य की तो बात ही क्या पशु, पक्षी, वृक्ष तक तर जाते हैं। साधु के संग से आज तक संसार में किसी का अकल्याण हुआ हो इसका एक भी उदाहरण नहीं मिलता। दुष्टों के संग से अच्छे-अच्छे महात्मा लांछित हो जाते हैं। क्षण भर के साधु-संग से तो ..को पढ़ाने वाली वेश्या भी तर गई। जड़ भरतजी पालकी ढुलाने में रहूगण राजा तर गया। हनुमान जी का मुक्का खाकर उसी सत्संग से लंकिनी तर गई। नारदजी के क्षण भर के सत्संग से असंख्यों प्राणी तर गये। सो मुनियों! जिन्हें परमार्थ पथ का पथिक बनना हो, उन्हे विषयों का संग सर्वथा छोड़ कर साधुओं का संग करना चाहिये। सत्संगति मनुष्यों को क्या से क्या नहीं बना देती। इसके अनेकों दृष्टांत हैं।

प्रह्लाद जी बता रहे हैं—'चौथा साधन है भगवान् की उपासना करना।" भगवान की उपासना से मन के सभी प्रकार के मल दूर हो जाते हैं, हृदय पवित्र हो जाता है। मन में विषयों के प्रति श्रेष्ठ बुद्धि है, वह हट जाती है। अन्तःकरण विशुद्ध हो जाता है। विशुद्ध अन्तःकरण में परमात्मा का स्वयं साक्षात्कार होने लगता है। श्रीहरि की उपासना के द्वारा ही असंख्यों भक्त इस भवसागर को बात की बात में पार कर गये। भगवान् की उपासना के अनेकों भेद हैं—उनमें से जो भी अपने अनुकूल हो, जिस पद्धति की गुरु ने शिक्षा दी हो, उसी के अनुसार उपासना करनी चाहिये। उपासना करते-करते उपासना से उपास्य वश में हो जाते हैं। फिर उपासक उनसे जो भी कराना चाहे, भगवान् उसी को करते हैं। भगवान् अपने उपासकों की बड़ी चिन्ता रखते हैं। जो उन्हीं के ऊपर निर्भर रहता है, ऐसे उपासक की वे सब भाँति से रक्षा करते हैं कि हमारे सच्चे उपासक को कोई कभी भी किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचा सके भगवान् ने अपने परमप्रिय आयुध सुदर्शन-चक्र को यही आज्ञा दे दी है, कि तुम अपने तेज से मेरे भक्तों की रक्षा करते रहो। तभी से सुदर्शन-चक्र भक्तों की सदा रक्षा करता रहता है। उन्हें बड़े-बड़े संकटों से बचाता है। परमभक्त अम्बरीष को महामुनि दुर्वासा के शाप से सुदर्शन ने ही तो बचाया था। यह सब महाराज अम्बरीप की दृढ़ भक्ति और भगवान् यज्ञ-पुरुष की उपासना का ही तो एकमात्र

फल था। अतः आत्मानुभव के इच्छुकों के लिये भगवान् की उपासना करना परम आवश्यक है।

भक्ताग्रगण्य प्रह्लाद जी असुर बालकों से कह रहे हैं—"भाइयों ! आत्मानुभव के मैंने कुछ उपाय बताये अब और बताता हूँ। जो आत्मसाक्षात्कार करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि निरन्तर वे नियम से भगवान् की कथाओं को सुना करें। जिनके कानों को भगवद् कथा का रस मिल गया है, जो भगवद् कथा के बिना रह नहीं सकते, ऐसे लोगों से असत् कार्य हो ही नहीं सकते। उनकी बात तो जाने दो; एक बार भी जिनके कानों में नाम पड़ गया है, महात्माओं के मुख से, उनकी भी दुर्गति नहीं हो सकती।

यह सुनकर शौनक जी ने पूछा—"सूत जी ! नित्य प्रति कथा-श्रवण से ही संस्कार बनते हैं किंतु एक बार प्रसंग वश कथा-श्रवण से क्या लाभ हो सकता है ?"

इस पर सूत जी बोले महाभाग ! कब कौन सी बात हृदय में चुभ जाय। जीवन भर पुण्य करते हैं किसी बुरी बात से, दुःसंग से मन में पाप आजाता है। देखिये ! अजामिल कैसा शान्त दांत-तपस्वी सदाचारी ब्राह्मण था। उसका एकान्त में एक वेश्या से समागम हो गया संस्कार जाग उठे, पतित हो गया। इसी प्रकार कभी-कभी संतों के यहाँ जाने से शठ भी सुधर जाते हैं; दुराचारी भी सदाचारी हो जाते हैं। इस विषय में एक दृष्टान्त सुनिये।

कोई एक नामी चोर था, बहुत सा धन चुरा-चुरा कर माता को दिया करता था। उसकी माता कहा करती थी, देख बेटा ! कथा में कभी मत जाना यदि कहीं कथा हो रही हो तो कानो में उँगली देकर उधर से निकल जाना। मातृ-भक्त बालक ऐसा ही करता, कभी भी किसी कथा में नहीं जाता।

एक दिन दैवयोग से वह कहीं जा रहा था, रास्ते में कथा हो रही थी, वह नियमानुसार कानों में उंगली देकर निकल रहा था, कि वहीं उसे एक बहुत बड़ा काँटा लग गया, काँटा निकालने के लिये ज्यों ही उसने हाथों से पैर पकड़ा, त्यों ही उसके कानों में यह शब्द सुन पड़ा, कि सदा सत्य बोलना चाहिये। सत्य बोलने से कभी किसी की हानि नहीं होती।" यह बात उसके मन में बैठ गयी काँटा निकल गया और वह चलने लगा।

अब तो वह यही सोचने लगा, मैं झूठ क्यों बोलूँ ? सत्य ही का आश्रय क्यों न लूँ ? सत्य बोलने से हानि भी नहीं होती है फिर मैं तो रात्रि में चोरी करता हूँ बोलने का मुझे काम ही नहीं आज से मैं सत्य ही बोलूँगा। मन ही मन उसने ऐसी प्रतिज्ञा की और वह शक्ति भर सत्य ही बोलने लगा।

एक दिन वह राजा के यहाँ चोरी करने गया। बहुत सुन्दर मूल्यवान वस्त्र पहिने हुए था। रात्रि में राजा की ड्योढ़ी पर गया। प्रहरी ने पूछा—"आप कौन हैं ? उसने स्पष्ट कहा—"हम चोर हैं" उन्हीं दिनों रानी के भाई आये हुए थे। प्रहरी ने सोचा सम्भव है वही हों, चोर ऐसे थोड़े ही कह सकता है, उन्होंने सत्कार पूर्वक रास्ता दे दिया। वह भीतर घुस गया। राजा देख रहे थे, उन्होंने भी यही समझा कि रानी का भाई होगा। कुछ बोले नहीं। रानी का एक नौलखा हार टँगा था। उसे लेकर चोर महाशय चम्पत हुए। घुड़सार से एक बहुत बड़ा सुन्दर लाल रंग का घोड़ा लिया और उस पर चढ़कर नौ दो ग्यारह हुए। जिसने पूछा उसी से कह दिया कि हम चोर हैं। कुछ काल में रानी आईं, उन्होंने हार नहीं देखा। इससे पूछ उससे पूछ, सम्पूर्ण महल में खलबली मच गयी। प्रहरियों ने बताया—"अन्नदाता एक

मनुष्य आया तो था, वह अपने को चोर बताता था; हमें उसकी बात पर विश्वास नहीं हुआ। वह लाल घोड़े पर चढ़कर चला गया राजा ने तत्त्वण बहुत से सवारों को भेजा। चोर एक स्थान में घोड़े को बाँधकर मन्दिर में दर्शनार्थ चला गया। राज-सेवक वहाँ जा पहुँचे। देखा घोड़ा तो वही है किन्तु उसका रंग सफेद हो गया है। सेवक कुछ निर्णय न कर सके, कुछ काल में चोर लौटा। उससे राज सेवकों ने पूछा—"आप कौन हैं? उसने कहा—"हम चोर हैं।"

सेवकों ने फिर पूछा—"आप यह घोड़ा कहाँ से लाये ?,,

चोर ने कहा—"राजा के यहाँ से चुरा कर लाये हैं।"

सेवकों ने पूछा—"घोड़ा ही चुरा कर लाये हैं या और भी कुछ लाये हैं।

चोर ने कहा—नहीं, हम एक हार भी चुरा कर लाये हैं।

तब सेवकों ने कहा—हमारे यहाँ का घोड़ा तो लाल था। इसके और सब लक्षण तो वैसे ही है पर इसका रंग तो सफेद है ?

चोर ने कहा—मैं लाया था, तब भी इसका रंग लाल था, अब पता नहीं सफेद क्यों होगया ?

राज सेवकों पर उसकी इन स्पष्ट और सत्य बातों का बड़ा ही प्रभाव पड़ा। वे विनीत भाव से बोले—आप हमारे साथ महाराज के समीप चलें।

उसे राजकर्मचारियों ने राजा के समीप उपस्थित किया। राजा के पूछने पर भी उसने सभी सच-सच बातें कह दीं। उसकी ऐसी निष्ठा और सत्यप्रियता को देख कर राजा ने पूछा—महाभाग! "आप में यह नैतिक बल किस साधन से आया ?"

उसने कहा—"राजन्! यह प्रसंगवश एक बार अनिच्छा से कथा श्रवण करने का फल है—मेरी माँ मुझे कथा सुनने के लिये मना किया करती थी। एक बार दैववशात् काँटा लगने से कथा में सत्य की महिमा मेरे कानों के द्वारा हृदय में चली गई। हृदय में न जाती, इस कान से सुनकर उस कान से निकल जाती तब तो कोई बात ही नहीं थी। उसने मेरे हृदय में घर कर लिया। उसी दिन से मैंने सत्यबोलने की प्रतिज्ञा की। महाराज! सत्य का जब इतना प्रभाव है कि लाल रंग का घोड़ा सफेद हो सकता है तो कोई कारण नहीं कि मेरा काला हृदय स्वच्छ न हो सके। सत्य की बड़ी महिमा है। कथा श्रवण कभी व्यर्थ नहीं जाता।" उस चोर की ऐसी निष्ठा देख कर राजा उस के पैरों पर पड़ गये और कहने लगे—महाभाग! तुम ही धन्य हो तुम्हारा ही कथा सुनना सार्थक है। अब तुम चोरी का काम छोड़ दो हम तुम दोनों मिलकर यहीं भगवान की कथा नित्य नियम से सुना करें। उस दिन से दोनों ही नियम से भगवान की कथा सुनने लगे और निरन्तर भगवद् स्मृति में ही अपना समय व्यतीत करने लगे। सो महाराज, जब अकस्मात कथा का एक शब्द कान में पड़ने से यह फलहुआ तो जो नित्य कथा सुनते हैं उनका तो कहना ही क्या ?" (*भागवती कथा से*)

नर की अरु नल नीर की, एकै गति करि जोय।
जेतो नीचो ह्वै चलै, ते तो ऊंचौ होय ॥

—*बिहारी*

चित्र से चरित्र रक्षा

कई वर्ष पहिले की बात है, उस समय मेरा विवाह नहीं हुआ था, मैं बीस बाईस वर्ष का नवयुवक था। उस समय आज कल की तरह ट्रेन में भीड़ नहीं हुआ करती थी। रेलगाड़ी के जिस डिब्बे में बैठा उसमें कुछ लोग पहिले से ही विद्यमान थे। एक ओर एक नवयुवती अपने बिस्तर पर विचित्र ढंग से लेटी हुई थी। वह न तो बहुत सुन्दर थी और न असुन्दर। उस समय मेरे मन में एक हलकी सी लहर दौड़ गई कि इस प्रकार इसका लेटना उचित नहीं।

आगे चल कर एक छोटे स्टेशन पर गाड़ी रुकी, जहाँ सभी यात्री उतर गये। रह गया मैं और वह युवती। उस समय मैंने चाहा तुरन्त उतर कर किसी अन्य डिब्बे में बैठ जाऊँ। मैंने शास्त्र और सन्तों से पढ़-सुन कर यह जान लिया था कि किसी भी स्त्री के साथ एकान्त में नहीं रहना चाहिये इसी संस्कार वश मेरे मन में वहाँ से अन्यत्र बैठने की इच्छा हुई। परन्तु स्टेशन बहुत छोटा था और गाड़ी चलने वाली थी। इतने कम समय में सामान लेकर दूसरे डिब्बे में बैठना असम्भव मालूम हुआ। अतः अगले स्टेशन पर डिब्बा बदलने का निश्चय किया। इतने में ही गाड़ी ने सीटी दी और ट्रेन फक्-फक् करती हुई चल पड़ी और हवा से बातें करने लगी।

इसके बाद एक ऐसी घटना घटी जिसे यदि कोई दूसरा सुनाता तो मैं उसे उपन्यास की गप ही समझता। गाड़ी चलते ही युवती की नींद खुल गई मेरे और उसके बीच पूरी तीन सीटें खाली पड़ी हुई थीं। उठते ही उसने प्रश्न किया—'क्या सब लोग चले गये? मैंने इशारे से उत्तर दिया—'हाँ।' तत्पश्चात् वह शौच—गृह में गयी और फिर आ-कर अपने स्थान पर बैठ गयी। उसने वहीं से बैठे-बैठे मुझे अपनी सीट पर आकर बैठने के लिये संकेत किया। उसके संकेत से मैं कुछ सतर्क होगया, किन्तु मैंने उसे कुछ उत्तर नहीं दिया और उसकी ओर पीठ करके और मुँह फेर कर बैठ गया। सोचा इस समय भगवान् ही बचाये तो बच सकता हूँ।

मेरी जेब में जर्मनी आर्ट का कार्ड साइज का लार्ड कृष्ण का सुन्दर चित्र था जो उस समय दो आने में मिला करता था। उसमें भगवान् का अति भोला और मनोहर मुखारविन्द था। उनकी बड़ी-बड़ी सुन्दर आँखें थी। जो मुझे अपनी ओर आकर्षित कर लिया करती थीं। भगवान के ऐसे चित्र को मैंने जेब से निकाल लिया और देखने लगा। सोचा इनकी सुन्दरता से बढ़कर स्त्री का तुच्छ और घृणित सौन्दर्य क्या चीज है? उस चित्र को देखते हुए भी मैं नहीं कह सकता था कि मेरा मन पूर्णतः मेरे वश में था, किन्तु इतना विश्वास तो अवश्य था कि इस विकट परिस्थिति से भगवान् ही रक्षा करेंगे।

ऐसी निर्लज्ज युवती की मैंने कल्पना भी नहीं की थी। दो ही चार मिनट बाद ही वह मेरे पास आ गयी और मेरे बायें घुटने से अपने दाहिने घुटने का स्पर्श कराती हुई तिरछी होकर खड़ी हो गयी और तुरन्त मेरे हाथ से वह श्यामसुन्दर का चित्र छीनकर फेंक दिया। चित्र फेंकते ही मुझे बड़ा क्रोध हो आया और उसे नालायक और निर्लज्ज कहते हुए मैंने डाँटा। बस, तुरन्त ही वह अपने सीटपर जाकर बैठ गयी और फिर मुझसे नहीं बोली।

यदि वह मुझसे हँसकर चित्र माँगती कि यह

बड़ा सुन्दर है, इसे मुझे दे दीजिये। तो सम्भव था कि मैं पिघल जाता। परन्तु ऐसा होता कैसे जब कि भगवान् ने उस समय भी मुझे बहुत कुछ अपना रक्खा था।

सीमि कि चाँपि सकइ कोउ तासू।
बड़ रखवार रमापति जासू॥

उर-प्रेरक रघुवंश विभूषण भगवान् ने ही उसके हृदय में वैसी प्रेरणा की होगी कि वह चित्र छीन कर फेंक दे। निश्चय ही उस दिन मुझे भगवान श्रीकृष्ण के सुन्दर चित्र ने ही बचाया। चित्र ही चरित्र रक्षा में सहायक हुआ। तब से मेरा विश्वास और बढ़ गया कि मैं जब भी गिरना चाहूँगा तब भी भगवान् निश्चय ही मेरी रक्षा करेंगे। इस घटना को सुनकर अविश्वासियों को विश्वास नहीं हो सकता। परन्तु जिनके हृदय में कुछ भी विश्वास हो और ऐसे दो चार व्यक्तियों के हृदय में यदि भगवद् विश्वास और बढ़ा तो मैं अपनी इस घटना का प्रकाशन, जिसे मैंने अब तक प्रकाश में लाना उचित नहीं समझा था—सार्थक समझूँगा। (एक अकिंचन)

यही बड़ा उपदेश है

गर्व न कीजै बावरे, हरि गर्व अहारी।
गर्वहिं ते रावण गया, पाया दुःख भारी॥
जरन खुदी रघुनाथ के, मन नाहिं सुहाती।
जाके जिय अभिमान है, ताकी तोरत छाती॥
एक दया और दीनता, ले रहिये भाई।
चरन गहो जाय साधु के रीझैं रघुराई॥
यही बड़ा उपदेश है, पर द्रोह न करिये।
कहि मलूक हर सुमिरि के, भौसागर तरिये॥

—बाबा मलूकदासजी

मनन कीजिये

क्या-क्या बीत गया? और आगे कैसे, क्या होगा? इसका मनन-चिन्तन न कीजिये, जो कुछ सामने हो उसे देखिये और कर्त्तव्य-कर्मों को पूरा करते चलिये। जो वर्तमान कर्त्तव्यों में पूर्णतया नहीं लगा हुआ है। वही भूत, भविष्य के चिन्तन मनन में अपने समय का अपव्यय करता है। जो वर्तमान को देखता है उसे भूत भविष्य याद नहीं आता।

—एक सन्त

चरित्रबल ही सफलता की कुञ्जी है

(श्री स्वामी जगदीश्वरानन्द वेदान्त शास्त्री, संचालक प्राकृतिक चिकित्सालय मेरठ)

जीवन-संग्राम में विजय प्राप्त करने के लिये जितने साधन हैं, उनमें चरित्र-बल का आसन बहुत ऊँचा है। इतना ही नहीं बल्कि यह कहने में भी कोई अत्युक्ति न होगी कि इस विजय के लिये बुद्धिमत्ता उच्चाधिकार, धन संपत्ति की अपेक्षा भी उत्तम चरित्र अधिक आवश्यक है।

चरित्र शब्द व्यवहारार्थक 'चर' धातु से निष्पन्न होता है। चरित्र-आचरण अथवा शील ये सब मन से उद्भव होने वाले हैं। जिन-जिन संस्कारों से मन रंजित होता है, वैसा ही व्यवहार होने लगता है।

यन्मनसा ध्यायति तद्वाचावदति यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति ॥

मनुष्य जो कुछ मन से विचारता है वही वाणी से बोलता है, जैसा बोलता है वैसा कर्म करता है। मन में विचारा गया ही वाणी व व्यवहार में आता है।

पश्चिमी विद्वान 'लाक' का कथन है—"मन अपनी प्रथमावस्था में कोरी पट्टी के जैसा है उसका कोई आकार-प्रकार नहीं, कोई विचार नहीं भविष्य के अनुभव से बुद्धि ज्ञान आते हैं" अतः मन का सुसंस्कृत होना ही चरित्र बल की मूलभित्ति है। मन के सुसंस्कारार्थ सत्संग एवं धर्मग्रंथानुशीलन ही दोनों महान साधन हैं।

मानव अनुकरणशील प्राणी है, जैसे वह दूसरों को करते देखता है वैसे ही वह करने लगता है। रागद्वेषशून्य सत्पुरुषों का संग ही वस्तुतः सत्संग है। ऐसे आदर्श पुरुषों के आचरण का अनुकरण हृदय पर अंकित होने लगता है।

श्रवण की अपेक्षा प्रत्यक्ष दर्शन का प्रभाव अधिक पड़ता है। जिस कोटि के सत्पुरुष का संग होगा उसी प्रकार की छाप पड़ेगी। सत्संग शीघ्र फलदायी अचूक साधन है। उसी से सम्यक विचार होता है, सद्विचार से ही सद्व्यवहार होगा, सद्व्यवहार से मन का विस्तार व सफलता मिलेगी। तभी तो गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है:—

बिनु सत्संग विवेक न होई।
राम कृपा बिनु सुलभ न सोई॥

सत्संग मनुष्य को उन्नत करता है, पर वह सत्संग भी क्या यों ही प्राप्त हो जाता है? बिना प्रभु-कृपा के सत्पुरुषों का संग भी नहीं मिलता। मानसिक विचार शमनार्थ सत्संग ही प्रमुख औषधि है—"सतां संगोहि भेषजम्" मन की पवित्र दशा ही उन्नति का मूल है।

दूसरा साधन है सद्ग्रन्थ का अध्ययन—सद्ग्रंथ का अध्ययन मनुष्य के सामने उच्चादर्श की कल्पना लाता है, एक अपूर्व झाँकी उपस्थित करता है बुद्धि की वृद्धि करता है, सफलता के अन्यान्य साधन दिखाता है:—

बुद्धि वृद्धि करण्याशु धान्यानि च हितानि च,
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान्।

शास्त्र एवं वेद का नित्य स्वाध्याय करना चाहिये क्योंकि ये सब बुद्धि वर्द्धक एवं हितकारक हैं।

यथा यथाहि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्यरोचते ॥

जैसे-जैसे मनुष्य शास्त्रानुशीलन करता है वैसे-वैसे अधिकाधिक जानता है एवं विज्ञान की अभिरुचि बढ़ने लगती है। जब कि सद्ग्रन्थ से उच्चादर्श का अध्ययन व मनन चलता है तब सत्संग उसे निदिध्यासन के रूप में परिणत कर देता है। व्यवहार योग्य बनाता है—(अमली जामा पहनाता है।)

मानव के श्रेयार्थ शासन करने वाले शास्त्रों की मूलजननि भगवति उपनिषत् आचरण का उपदेश करती हुई जो कुछ कहती है बस वही *मानव सफलता की कुञ्जी है*। सफलता का रहस्य उसी में निहित है।

शिष्य को निमित्त बनाकर मानवमात्र की सफलता के लिये आचार्य उपदेश करते हैं— वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति——सत्यंवद, धर्मंचर, स्वाध्यायान्मा प्रमदः, मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव,········ एष आदेश, एष उपदेश, एषा वेदोपनिषत् एतदनुशासनम्।"

वेद पढ़ाने के अनन्तर आचार्य प्रिय शिष्य को अनुशासन करता है, अवश्य पालने योग्य धर्मों को अपनी विशेषाज्ञा से कराना चाहता है। सत्य बोलो, धर्माचरण करो प्रमाद रहित होकर पढ़ो, माता, पिता, आचार्य, एवं अतिथि सेवा परायण हो। इस प्रकार का अनुशासन ही आचार-सद्-आचार है। इसी की प्रशंसा में मनु जी कहते हैं—

"आचारः परमोधर्मः" इस प्रकार से आचरण वाले मनुष्य की उन्नति के विषय में कहा है—

अभिवादन शीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥

जो सदा नम्र है, सुशील है, एवं विद्वान तथा वृद्धों की सेवा करता है, उसके आयु, विद्या, यश एवं बल सदैव बढ़ते रहते हैं। जो ऐसा नहीं करते उनके आयु आदि चारो घटते हैं। "आचारहीनं न पुनन्तिवेदाः" आचरण भ्रष्ट पुरुष को वेद भी पवित्र नहीं कर पाते।

मनुष्य की परिभाषा व्यक्तित्व गर्भित ही तो है। केवल हाड़-माँस का ढाँचा ही तो मनुष्य नहीं है। मनुष्य की सफलता भी उसके व्यक्तित्व के आश्रित है। शिक्षित मनुष्य भी अपनी उद्दण्डवृत्ति के कारण उत्तम शील के अभाव में अपमानित और नष्ट हो जाता है। धनहीन एवं अल्पशिक्षित होने पर भी शीलवान्-समाज में पूज्य माना जाता है। उत्तमशील पुरुष को अपने विषय में दूसरों की सिफारिश की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि उसे करने वाला स्वयं उसका शील है। अमुक मनुष्य कैसा है? यह बात यों नहीं जानी जा सकती कि वह क्या कहता है या क्या काम करता है। इसे जानने के लिये यह देखना होगा कि वह मनुष्य किस काम को किस रीति से करता या कहता है। उसके कहने या करने की रीति से उसके चरित्र का चित्रण हो जायगा।

"श्रद्धामयोऽयं पुरुषः" पुरुष श्रद्धामय है, जैसी जिसकी श्रद्धा होती है वैसा ही वह है। आचरण का व्यवहारिक चोला पहनाती हुई स्मृति उपदेश करती है—

दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं पिवेज्जलम् ।
सत्यपूतं वदेत्वाक्यं मनः पूतं समाचरेत् ॥

चलो भी सावधानी से ठीक से देखकर, वस्त्र से छानकर जल पियो, बोलो पर सत्य बोलो, पवित्र मन से व्यवहार करो। मन-वाणी-कर्म तीनों पवित्र हों। यही उन्नति का मन्त्र है—

"मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्ये महात्मनाम्"।

महान् पुरुषों के मन वाणी एवं शरीर में एकता

होती है। सब प्रकार के धर्मों को सुनकर अन्तिम पालनीय आचार को थोड़े में कह दिया—

"आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्"।

अपने को प्रतिकूल जान पड़ने वाले व्यवहार को दूसरों के प्रति न करे। चरित्रबल का निर्माण करने वाले अनेक शास्त्रीय अनुशासन मिले हैं साथ ही आयु विद्याबलादि के बढ़ाने के रोचक वाक्य भी दिखाई देते हैं। अनुशासन वाक्यों में कठिनता न मानें तथा दूसरे वाक्य को केवल रोचक समझ कर उपेक्षा न करें। तनिक विचार करने से रहस्य खुलने लगेगा कि इस प्रकार के आचरण से किस प्रकार हमें सर्वतोमुखी सफलता प्राप्त होगी। चरित्र बल ही क्योंकर सफलता की कुञ्जी है। चरित्रनिर्माण करने वाले इन वाक्यों के साथ सफलता का कैसा घनिष्ट सम्बन्ध है। अब क्रमशः उन्हीं वाक्यों को मननात्मक ढंग से दुहराते जाँय—"सत्यं वद" सत्य बोलना सहज है, स्वाभाविक है। सत्य-भाषण में एक प्रकार का ओज रहता है। बोलने वाले का प्रभाव पड़ता है। विपरीत इसके झूठ बोलने में भी मस्तिष्क की नाड़ियों में तनाव आता है। कँप कँपी होती है। झूठ बनाने में हलचल मच जाती है। पर्दा खुलने पर तो और अधिक धक्का लगता है। यह मनुष्य सत्यवादी है यह जान लेने पर समाज उस पर विश्वास करने लगता है। इतना ही नहीं उसकी वाणी में शक्ति आ जाती है महर्षि पातंजलि कहते हैं—

"सत्य प्रतिष्ठायां क्रिया फलाश्रयत्वम्"

सत्य में प्रतिष्ठा होने पर यथार्थ सत्यवादिता आजाने पर तो तदनुकूल क्रिया एवं फलोत्पत्ति भी होने लगती है। सत्यनिष्ठ महापुरुष ने किसी को कहा तुम धर्मनिष्ठ हो जाओ, या दीनदुःखियों को आशीर्वाद दिया सुखी हो जाओ तो उसके कथना नुसार ही फल एवं क्रिया होती है।

सत्यवादी पुरुष जिस अनुपात से 'स्व' के ऊपर नियन्त्रण या काबू पाता है उसी के अनुपात से दूसरों पर काबू पाता है। इस प्रकार भीतर बाहर से विकसित होने लगता है। सच्चा मनुष्य ठीक समय पर अपने कर्त्तव्य कर्म को करेगा। सत्य सब धर्मों का मूल है, तो झूठ सब पापों का आश्रय दाता है। झूठ की उत्पत्ति पाप, कायरता, कुटिलता से होती है। अत झूठ पतन की ओर ले जाता है।

बहुत से लोग किसी बात को सत्य तो कहते हैं पर उसे घुमा फिरा कर कहेंगे कि सुनने वाले समझ जाते हैं कि यह सत्य नहीं है। कुछ लोग छोटी छोटी बातों में नीति की रक्षा के बहाने झूठ बोल जाते हैं ऐसे ही अन्य अनेक रूप झूठ के रूप में देखने में आते हैं जैसे किसी बात को जानते हुए प्रकट करने की आवश्यकता होते हुए भी चुपचाप रहना। किसी बात को बढ़ाकर कहना, किसी बात को छिपाना; वेश बदलना. झूठमूठ दूसरों की हाँ में हाँ मिलाते जाना। प्रतिज्ञा कर के उसे पूरा न करना। सत्य को छिपाना। मिलने का समय निर्धारित कर न जाना ऐसे लोग भले ही कुछ सफल होते जान पड़ें अन्त में भेद खुलने पर तो महान् संताप होता है। सत्यवादी का सन्तोष और आनन्द उत्तरोत्तर वृद्धिगत होता है। अतः शास्त्र आज्ञा देता है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।

अर्थात् सर्वदा सत्यभाषण करो, प्रिय बोलो। सत्य हो परन्तु श्रवण कटु हो, अप्रिय हो, ऐसा भी न बोलो। सत्य बोलने का ही केवल ध्यान रखा, कटुशब्द बोले गये जिससे सुनने वाले को संताप हुआ ऐसा भी न हो—

"सत्य वचन अरु पियारो जोई। बुद्धिमान् जन भाषे सोई"

भद्रं भद्रमिति ब्रूयात्..............

शुष्कवैरं विवादं च न कुर्यात्केनचित्सह।

कल्याण कारक शब्द ही बोलो, शुष्क वैर व विवाद किसी के संग न कर बैठो।

सत्य की जड़ पुष्ट होती है उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है जिससे सत्यवादी को चारों ओर सफलता प्राप्त होने लगती है।

"धर्मं चर" धर्म का पालन करो, यह हुआ आदेश। धम-कर्म, या पुण्य कर्म भीतरी उत्साह युक्त होते हैं। पाप-कर्म के लिये स्वतः ही भीतर से फटकार पड़ती है। हमारी आत्मा (अन्तर्मन) कोसती है। हमारा धर्म है हमारी आत्मा जो कुछ कहे तदनुसार करें। यह दृढ़ निश्चय जानो जिस काम के करने से मन हिचकिचाये, दूर भागे, उसे न करो।

धर्म-पालन करने में बहुधा कष्ट उठाना पड़ता है। क्या हुआ पड़ोसी ठग विद्या असत्यता व वेईमानी से धनाढ्य हो गया और तुम कंगाल रह गये। क्या हुआ दूसरे लोगों ने झूठी चाटुकारिता खुशामद से बड़ी नौकरियाँ पालीं और आप ज्यों के त्यों रह गये कुछ न मिला। क्या हुआ यदि दूसरे नीच कर्म करके सुख भोगते हैं और तुम सदा कष्ट ही उठाते रहते हो। तुम अपने कर्त्तव्य धर्म को कभी न छोड़ो देखो इससे बढ़कर सन्तोष व आनन्द क्या हो सकता है कि तुम अपने धर्म का पालन कर सकते हो।

धर्म-पालन करने के मार्ग में अधिक बाधा चित्त की 'चंचलता' उद्देश्य की 'अस्थिरता' और मन की 'निर्बलता' से पड़ती है। इसमें आलस्य और स्वार्थपरता अधिक प्रबल बाधक होते हैं जब धर्म करने का स्वभाव बन जाता है तो फिर किसी बात का भी भय नहीं रहता, सभी क्रियायें जीवन का अंग बन जाती हैं उनसे जीवन उज्ज्वल होने लगता है निखरने लगता है। संसार में जितने बड़े-बड़े लोग हुए हैं वे धर्म-मार्ग पर चलकर ही महान नेता बने हैं। क्योंकि—

"धर्म एव हतो हंति धर्मो रक्षति रक्षितः"

धर्म के हनन करने से, त्याग देने से, धर्म भी मनुष्य का हनन करता, अवनति करता है। सुरक्षित धर्म मानव को बचाता है। अतः धर्म मानव का उत्थान करने वाला है। धर्मानुसार चलकर ही मनुष्य वास्तविक सफलता प्राप्त करता है। आगे "स्वाध्याय" का नम्बर आता है। स्वाध्याय से मनुष्य का ज्ञान बढ़ता रहता है। ज्ञान के विकास से मनुष्य विकसित होने लगता है। स्वाध्याय ही मनुष्य का सच्चा मित्र है। स्वाध्याय अनेक सुन्दर मार्गों का दर्शक बनता है, जिससे मनुष्य देश काल योग्यतानुसार कर्तव्य का निर्णय कर उसपर चल सफल बनता है।

आचार्य, माता, पिता, विद्वान गुरुजनों की सेवा से उसे आशीर्वाद प्राप्त होता है। आशीर्वाद जहाँ भाग्य को चमकाता है वहाँ दुरित का भी नाश करता है। सेवा से नम्रता आती है, अभिमान गलित होता है। अभिमान-शून्य नम्र मनुष्य ही उन्नत होता है। नम्रता और सहिष्णुता शील के प्रधान अंग हैं। सच्चा शीलवान् पुरुष वही है जो दूसरों की छोटी-छोटी बातों और नाम-मात्र के अपराधों को उदारता पूर्वक क्षमा कर दिया करें। जो दूसरों की तुच्छ और भूल जाने योग्य बातों पर झट क्षुब्ध और क्रुद्ध हो जाये, उसे इस बात की आशा कभी नहीं करनी चाहिये कि दूसरे लोग उसकी उद्दण्डता तथा उच्छृङ्खलता पर क्षमा प्रदान करेंगे।

मनुष्य समाज एक वृहत न्यायालय है जहाँ थोड़े दिनों में ही किसी मनुष्य की योग्यता का सच्चा निर्णय कर दिया जाता है।

उत्तम शील एक ऐसा गुण है जिससे मनुष्य किसी व्यवसाय या जीवन यात्रा में सफल मनोरथ हो सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि चरित्र-बल सभी कार्य क्षेत्रों में सफलता दिलाता है। तब

आवश्यक यह है कि इस सफलता की कुञ्जी को हम ठीक से समझ लें, इसकी व्यापक व्याख्या व्यवहारिक रीति से जानलें जिससे योग्य व्यवहार करके शीघ्र सफल बनें।

शीलवान् मनुष्य में यह विशेषगुण होता है कि वह स्वयं प्रफुल्लित रहकर अपने साथियों को भी प्रफुल्लित रखता है। प्रत्येक मनुष्य को उचित है कि वह ऐसा व्यवहार करे कि दूसरे उसे स्वार्थी या नीचवृत्ति वाला कह कर उपेक्षा न करें। दूसरों की गुप्त बातों को जानने का प्रयत्न करना, जान लेने पर उन्हें प्रकट कर देना सम्भाषण करते समय अपनी ही खिचड़ी पकाते रहना और अपनी तारीफ़ करते जाना, किसी की कुछ न सुनना, बहुत जोर से हँसना, पूज्यजनों का अपमान और हँसी करना, नये आये अतिथि से असभ्यता का आचरण करना या उसकी ओर टकटकी लगाये रहना, दूसरों की ग़लतियों पर हँसना, इनाम या सम्मान पाने पर कृतज्ञता न प्रकाशित करना। दूसरे से किये गये प्रश्न का स्वयं उत्तर दे बैठना इत्यादि बातें मनुष्य के चरित्र में बाधा डालती हैं। अपना हित चाहने वाले को इन असभ्य व्यवहारों से बचना चाहिये।

बहुत से होनहार पुरुष समाज में केवल इस लिये घृणित और अपमानित होते हैं कि उन्हें दूसरों पर टीका-टिप्पणी करने की आदत पड़ जाती है। इन्हीं छोटी-छोटी बातों की अधिकता या न्यूनता पर चरित्र अवलम्बित है। जैसे कौड़ी-कौड़ी बचाकर मनुष्य कुछ समय में धनवान् हो जाता है वैसे ही मनुष्य इन छोटी छोटी बातों पर ध्यान रखकर, सज्जन और चरित्रवान् हो जाता है। छोटी बातों की उपेक्षा कर बड़ी की राह देखने वाले मनुष्य यों ही रह जाते हैं।

मनुष्य का सचा शील ही उसके सांसारिक और पारलौकिक कल्याण का मुख्य साधन है। सच्चे शील की सहायता से मनुष्य को धर्म, यश, सम्पत्ति ऐश्वर्य ज्ञान वैराग्य आदि सब गुणों की प्राप्ति होती है। महाभारत के शान्तिपर्व में एक प्राचीन कथा है जिसे भीष्मपितामह ने युधिष्ठिर से कहा था—इन्द्र स्वयं ब्रह्मचारी था उसने बहुतों को ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया था, परन्तु जब वह अपने राज्य से भ्रष्ट होगया और प्रह्लाद त्रिलोकी का स्वामी हुआ, तब उसने गुरु बृहस्पति से यह पूछा—"मुझे बताइये कि मेरा श्रेय किसमें है गुरु ने इन्द्र को आत्मज्ञान का उपदेश देकर कहा कि श्रेय इसी में है। इस उत्तर से इन्द्र का समाधान नहीं हुआ। उसने फिर प्रश्न किया "क्या और भी कुछ अधिक है?" तब गुरु ने उसे शुक्राचार्य के पास भेज दिया। वहाँ भी वही हाल हुआ। शुक्राचार्य ने कहा मैं कुछ अधिक नहीं जानता, तुम प्रह्लाद के पास जाओ। अन्त में राज्यभ्रष्ट इन्द्र ब्राह्मण वेषधारी हो प्रह्लाद के पास शिष्य बनकर सेवा करने लगा। एक दिन प्रह्लाद ने इन्द्र से कहा —शील ही त्रैलोक्य का राज्य पाने की सच्ची कुञ्जी है और यही श्रेय है" बस इन्द्र का काम हो गया। प्रह्लाद इन्द्र की सेवा से प्रसन्न होगये थे उन्होंने कहा "वर माँगो" ब्राह्मण वेष-धारी इन्द्र ने यह वर माँगा कि आप अपना शील दे दीजिये। प्रह्लाद के "तथास्तु" कहते ही उनके शील के साथ धर्म सत्य, व्रत, श्री ऐश्वर्य आदि सब उनके शरीर से निकलकर इन्द्र के शरीर में प्रविष्ठ होगये। फलतः इन्द्र अपने राज्य को पागया। इस कथा से शील का महत्व भली भाँति मालूम हो जाता है।

सारांश यही है कि जीवन-संग्राम में सफल मनोरथ होने के लिये चरित्र ही महान् सहायक है। वह है भी मनुष्य के अधीन। अतः सफलता चाहने वालों को उसकी कुञ्जी "चरित्र बल को" अपनाना चाहिये।

चरित्र निर्माण का अद्भुत उपाय

महामन्त्री की अत्यन्त रूपवती नवयुवती कन्या अपने महल पर खड़ी एक दिन अपने बाल सुखा रही थी, कि वहाँ के राजकुमार की उस पर दृष्टि पड़ गई। उसके अनुपम सौन्दर्य को देखकर राजकुमार उस पर मोहित होगया और उससे विवाह करने की युक्तियाँ सोचने लगा। महाराज तथा महामंत्री इस बात को सुनकर चिन्तित रहने लगे क्योंकि क्षत्रिय राजकुमार का विवाह ब्राह्मण कन्या के साथ होना नीति विरुद्ध था। होते-होते यह बात उस मन्त्री-कन्या को भी मालूम होगई। वह बड़ी चतुर थी। उसने अपने पिता के पास लिख भेजा कि "पिता जी मुझे सारी बात का पता लग गया है—आप व महाराज किसी प्रकार की चिन्ता न करें। राजकुमार को मेरी ओर से यह सन्देश भिजवा दें कि वह आज से आठवें दिन अमुक समय पर सहर्ष मेरे यहाँ पधारें। उनकी आज्ञानुसार जैसा वह चाहेंगे वैसा ही स्वागत करने को मैं तैयार हूँ।"

महामन्त्री जी को कन्या के इस सन्देश से बहुत आश्चर्य हुआ परन्तु उसे बुद्धिमान एवं योग्य समझ कर वह सन्देश राजकुमार के पास भिजवा दिया। राजकुमार समाचार पाकर बड़े प्रसन्न हुए और उस समय की प्रतीक्षा में पल-पल गिनने लगे। उधर मन्त्री-कन्या ने चार पीतल की बल्टियाँ तथा उनपर ढकने के लिये रेशमी कपड़ा और कुछ जमाल गोटा मँगवा लिया। जमाल गोटे को पिसवाकर उसके चूर्ण (Powder) की फंकी गर्म पानी के साथ वह मन्त्री-कन्या सात दिन तक लगाती रही। फल वही हुआ जो होना चाहिये—सात दिन तक लगातार उसे दैनिक पाँच-पाँच, सात-सात दस्त होते रहे, महतरानी ने आदेशानुसार वे दस्त फेंके नहीं बल्कि उन पीतल की बाल्टियों में भर दिये।

किसी हट्टे-कट्टे पहलवान को भी चार पाँच दिन तक इस प्रकार दस्त होते रहें तो वह बहुत [illegible]ल और कमजोर हो जाता है फिर भला इस कोमलाङ्गी का क्या हाल हुआ होगा ? पाठक वृन्द स्वयं समझ लें। आठवें दिन निर्धारित समय पर राजकुमार आये। मन्त्री का भृत्य उन्हें महल के उस कमरे में ले गया जिसमें मन्त्री-कन्या एक सुन्दर पलंग पर हल्की सी चादर ओढ़े लेटी थी। कमरे के भीतर कदम रखते ही राजकुमार की आँखें उस अनुपम सौन्दर्यमयी नवयुवती को ढूंढने लगी। कमरे में पलंग पर एक बहुत दुर्बल सा कोई लेटा हुआ तथा पास ही एक सोफे के अतिरिक्त और कुछ न देखकर क्रुद्ध होते हुए राजकुमार भृत्य से कहने लगा—

"तुम मुझे कहाँ ले आये भृत्य! कहाँ हैं वे ?"

भृत्य ने पलंग पर लेटे हुए व्यक्ति की चादर हटाई तो बहुत धीमें स्वर में शब्द सुनाई पड़े—

"इस सोफे पर बैठो राजकुमार ! वह मैं ही हूँ जिसके लिये आप यहाँ पधारे हैं—कहिये—क्या आज्ञा है ?"

"आप"—राजकुमार अपनी पैनी दृष्टि से उस के चेहरे को पहिचानते हुए आश्चर्य-चकित भाव से बोले—"परन्तु आपका उस दिन का वह अनुपम सौन्दर्य ?"

"अच्छा ! मेरे उस सौन्दर्य पर रीझे हो राजकुमार ! तो लो वह रक्खा है उन रेशमी कपड़ों के नीचे मेरा वह सारा सौन्दर्य।"

"सौन्दर्य और रेशमी कपड़ों के नीचे?" राजकुमार कुछ समझ नहीं पाये इस पहेली को और उत्सुकता पूर्वक झट से उन रेशमी कपड़ों को हटाकर देख ही तो लिया। बस फिर क्या था—दुर्गन्ध के मारे खड़े नहीं रह सके वह वहाँ। फौरन ही बाल्टियों का मुँह ढक दिया गया उन सेंट-इतर सने रेशमी वस्त्रों से।

राजकुमार का चेहरा मुरझा गया और "मुझे क्षमा करो बहिन" कहते हुए वह उसके चरणों पर गिर पड़ा। 'मैं आज से प्रतिज्ञा करता हूँ कि भविष्य में सदैव परस्त्री को माता, बहिन और कन्या की भावना से ही देखूँगा।"

(आनन्द)

चरित्र रक्षा की विचित्र युक्ति

क्षीण कंठ से बाला बोली, !खोज रहे क्या राजकुमार।
जिस सौन्दर्य सुधा पर रीझे, भरा बाल्टियों में तैयार ॥

चरित्र निर्माण से सर्वांगीण उन्नति

(पूज्य श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज)

चरित्र ही मानव को सच्चे अर्थों में मानव बनाता है। देव-दुर्लभ नर-देह को प्राप्त करके भी जो व्यक्ति अपने चरित्र की ओर से उदासीन रहता है वह नर से नर-पशु अथवा असुर बनकर स्वयं ही अपने पतन का कारण बन जाता है। हमारे तत्त्वदर्शी पूर्वजों ने वेदों के इस भेद का पता लगाकर मनुष्य मात्र को सुखद सन्देश और आदेश दिया, कि तुम्हारी वास्तविक उन्नति चरित्र-निर्माण में ही सन्निहित है। इसीलिये उन्होंने चरित्र-निर्माण के उद्देश्य से, सबसे प्रथम 'ब्रह्मचर्याश्रम' का विधान बनाया था। ब्रह्मचर्य की सुदृढ़ नींव पर आधारित बालक जब युवा बनकर, मानव-धर्म को हृदयङ्गम कर, सद्गृहस्थ बनता था तब वही राष्ट्र का सच्चा नागरिक माना जाता था। जगद्गुरु-भारत की आध्यात्मिकता में, चरित्र-बल को ही सर्वोपरि स्थान मिला है, इसीलिए वह सदैव से संसार में वन्दनीय रहा।

अनादि काल से सृष्टि का इतिहास साक्षी रूप में हमें सावधान करता रहा है कि, संसार में मानव ने जब कभी उन्नति की है तो अपने चरित्र के बल से ही की। विशाल गगनचुम्बी अट्टालिका के निर्माण में उसकी सुदृढ़-गम्भीर नींव ही मूल कारण है। नींव में यदि कमी रह गई, सावधानी न बरती गई तो भूकम्प के हल्के झोंके में ही वह अद्वितीय महल, वह ऊँची इमारत, दम की दम में धराशायी हो जायगी, धूल में मिल जायगी। मकान चाहे जितना सुन्दर और सुडौल बना हो किन्तु यदि नींव कमजोर है तो वह स्वयं तो एक न एक दिन गिरेगा ही साथ ही अनेकों के नाश का कारण भी बनेगा। रावण, हिरण्यकश्यप, कंस तथा दुर्योधनादि के उदाहरणों से तो पाठक-पाठिकाएँ भलीभाँति परिचित ही हैं। समस्त संसार ही नहीं वरन् समस्त ब्रह्माण्ड को अपने दुर्दमनीय बल-पौरुष से कम्पायमान करने वाले अमित बलशाली रावण ने भौतिक उन्नति की पराकाष्ठा प्राप्त करली थी। किन्तु चरित्र बल का उसमें नितान्त अभाव था। इस अभाव ने, इस मौलिक दुर्बलता ने ही उसका सर्वनाश किया। कविकुल-चूड़ामणि, प्रातःस्मरणीय गोस्वामी जी ने उसकी चरित्र-हीनता के परिणाम का कितना सुन्दर दिग्दर्शन श्री रामचरित मानस में जानकी-हरण के प्रसंग में किया है:—

जाके डर सुर असुर डराहीं।
निसि न नींद दिन अन्न न खाहीं॥

वही रावण जब परस्त्री हरण के जघन्य कुकृत्य में तत्पर हुआ तो:—

सो दससीस श्वान की नाईं।
इत उत चितै चला भड़िआईं।

अपने बाहुबल से संसार को कम्पित करनेवाले दुर्दान्त-दानव की उस समय ऐसी मानसिक दुर्दशा क्यों हुई? क्यों कि—

जिमि कुपन्थ पग धरइ खगेसा।
रहइ न तेज बुद्धि लवलेसा॥

भौतिक दृष्टि से विश्व के सर्वोन्नत पुरुष की उपमा गोस्वामी जी ने कुत्ते से दे डाली! इसके मूल कारण में प्रवेश करने पर आपको स्पष्ट रूप से चारित्रिक पतन ही दृष्टिगत होगा। चरित्र-हीनता

की कलुषित भावनाएँ मनुष्य के संचित बल और बुद्धि का सर्वनाश कर डालती हैं—

महाबली दुर्योधन और गाण्डीवधारी अर्जुन के ज्वलन्त उदाहरण से भी ऐसा ही स्पष्ट संकेत मिलता है:—

भगवान श्रीश्यामसुन्दर के निकट सम्पर्क में रहने वाले अर्जुन जब शस्त्रास्त्र की गुह्यतम विद्या में पारंगत होने के निमित्त इन्द्रलोक को गये, तो उनके चरित्र-बल की परीक्षा के निमित्त, देवराज इन्द्र ने, स्वर्ग की सर्वोत्तम अप्सरा को, अर्जुन के समीप भेजा। धीर-वीर अर्जुन के एकान्त शयन कक्ष में अर्द्धरात्रि को कुत्सित हाव-भाव और कटाक्ष करती, वह स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ वाराङ्गना प्रविष्ट हुई। उर्वशी के कामोद्दीपक प्रहारों को अपने चारित्र्य की ढाल से निवारण करते हुए उन्होंने भारत के मुख को उज्ज्वल किया। विफल-मनोरथा अप्सरा, हताश होकर क्रुद्ध सर्पिणी सी फूत्कार करने लगी। उसके श्राप को भी महावीर अर्जुन ने नतमस्तक होकर स्वीकार कर लिया किन्तु अपने चरित्र पर आँच नहीं आने दी।

देवताओं ने दृढ़-व्रती पाण्डुनन्दन की वन्दना की, सुर बालओं ने फूलों की वर्षा की और देवराज ने उन्हें आशीर्वाद सहित अलौकिक शस्त्रास्त्र प्रदान किये। स्वदेश लौटने पर विश्वन्द्या भारत-माता ने अपने सपूत का हार्दिक अभिनन्दन किया। अर्जुन की जय-जयकार से समस्त राष्ट्र गुञ्जरित हो गया। संसार ने उनके चरित्रबल की प्रशंसा की। लीलापुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण ने उनके चरित्र-बल से प्रसन्न होकर अपनी लीला में उन्हें निमित्त बनाया और संसार को गीता-ज्ञान का अमर सन्देश दिया। अन्त में वे महाभारत के भयानक समर में विजयी हुए। आज भी घर-घर में उनका विमल-यशोगान बड़ी श्रद्धा और भावना से होता है। समस्त अलौकिक मान-वैभव एवं ऐश्वर्य की प्राप्ति में चरित्र बल ही छिपा हुआ है।

इसके विपरीत दुर्योधन की बात लीजिये, भरी सभा में पूजनीय गुरुजनों सामने भी उस निरंकुश-निर्लज्ज ने पति परायणा द्रौपदी की दुर्दशा करने में कोई कसर नहीं छोड़ी थी। दुर्योधन की ऐसी पराकाष्ठा की चरित्र हीनता का, उसके आतङ्क से मोहित होकर किसी ने भी विरोध नहीं किया। भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य जैसे विश्व-विख्यात महापुरुष भी मुँह लटकाये मौन बैठे रहे। तब द्रौपदी की करुण-पुकार से अथवा विश्व को चारित्रिक पतन के भयानक परिणाम से सावधान करने के निमित्त लीलामय प्रभु ने अपार वस्त्र रूप में प्रकट होकर अलौकिक चमत्कार दिखाया। पतनोन्मुखी दुर्योधन इस अघट-घटना से भी सावधान नहीं हुआ। उसने अपने साथ ही समस्त कुरुकुल एवं विश्व के वीरों को महाभारत की समर ज्वाला में भस्मीभूत कर दिया। इस भयंकर सर्वनाश कारणों पर विचार करने से आप को मूल रूप में दुर्नीत दुर्योधन का चारित्रिक पतन ही दिखाई देगा। इस प्रकार के असंख्य उदाहरण अपने उज्ज्वल इतिहास में मिलेंगे जिनके अध्ययन से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि चरित्र के उत्थान से राष्ट्र की उन्नति और चारित्रिक पतन से ही देश अवनति के गर्त्त में गिरता गया। अर्थात् मानव चरित्र के उत्थान और पतन से ही सदा देश का उत्थान और पतन हुआ।

तात्पर्य यह कि चरित्र के उत्कर्ष से देवत्व और ब्रह्मत्व को प्राप्त कर सकने वाला मानव-समाज आज पतन की पुनरावृत्ति में पूर्ण मनोयोग से अधिकांशतः संलग्न है। परिणाम स्वरूप अविराम गति से दुःख और दैन्यता का प्रबल पाश समस्त संसार को संतप्त कर रहा है। इस संताप से छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय चरित्र-निर्माण के अमोघ मन्त्र में बीज रूप से समाया हुआ है।

शताब्दियों की राजनीतिक दासत्व शृंखला तो भगवत्कृपा से टूट चुकी किन्तु मानव की मानसिक दासता में लेश-मात्र भी परिवर्तन नहीं हुआ। चारित्रिक पतन की लोमहर्षक घटनाएँ नित्य नये रूप में सभी को देखने-सुनने को मिलती ही रहती है। दैनिक समाचार पत्रों में एक न एक डकैती अथवा हत्या का समाचार अवश्य मिल जायगा। चालाकी मक्कारी, वेईमानी, घूसखोरी आदि की अनैतिक घटनाएँ प्राय: नित्य ही अखबारों में पढ़कर और कुढ़ कर हम चुपचाप बैठ जाते हैं। अधिक से अधिक गवर्नमेंट को कोसने लगते हैं। किन्तु अपने स्थान से हमारा क्या और कितना दायित्व है? इस प्रश्न पर तो स्वप्न में भी ध्यान नहीं जाता। देश के चरित्र का पतन इस रूप में क्यों हो रहा है? पतनोन्मुखी मानव को कैसे सावधान किया जाय? कैसे हृदय का परिवर्तन होना संभव है? "क्यों और कैसे" को इस व्यापक समस्या का समाधान करने के लिये आज क्या हमारा कोई भी कर्त्तव्य नहीं है? वस्तुतः सामाजिक प्राणी होने के नाते प्रत्येक मनुष्य का यह मुख्य कर्त्तव्य है कि वह स्वयं अपने चरित्र का निर्माण करने के लिये प्रयत्नशील हो एवं अपनी परिस्थिति के अनुसार जैसा क्रियात्मक सहयोग राष्ट्र की सर्वाङ्गीण उन्नति के निमित्त कर सके वैसा पुरुषार्थ करे। किन्तु दूसरों का सुधार करने से पहले मनुष्य को अपने चरित्र की ओर ध्यान देना आवश्यक है। यदि अपने चरित्र में त्रुटियाँ हैं तो उनका प्रभाव दूसरों पर अच्छा नहीं पड़ेगा। सच्चरित्रता एक ऐसा अमर वरदान है जिसका नाश कभी नहीं हो सकता। अनादि काल से लेकर आज तक चरित्रवान पुरुषों की मधुर-अमिट स्मृति ही मानव का पथ-प्रदर्शन करती आई है और सदा करती रहेगी। भगवान श्रीराम और श्रीकृष्ण ने भी अपनी लीला और उपदेशों में चरित्र-निर्माण की ही शिक्षा दी है। उनकी शिक्षाओं से प्रेरणा लेकर अनेकों महापुरुषों ने अपने आदर्श चरित्रों से भारत के गौरव को बढ़ाया है। सुधी पाठक ऐसी असंख्य गाथाओं से सुपरिचित हैं ही। वस्तुतः मानव-जीवन का चरम लक्ष्य चरित्र-निर्माण ही है।

शारीरिक, सामाजिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक उन्नति की प्राप्ति चरित्र-निर्माण के द्वारा ही हो सकती है। देश काल-परिस्थिति के अनुसार वर्त्तमान समय में निम्नलिखित उपायों से हमारे देशवासियों को चरित्र-निर्माण में बहुत कुछ सहायता मिल सकती है, ऐसा हमारा अनुमान है:—

१—आहार-विहार, इन्द्रिय-निग्रह, नियमित व्यायाम और मादक वस्तुओं के त्याग से अपने शरीर की रक्षा में दृढ़ प्रतिज्ञ हों।

२—अपने घर, मुहल्ला, नगर में सामूहिक-सत्संग के लिये यथासम्भव प्रयत्नशील हों। सत्संग में, आसुरी सम्पत्ति के अवगुणों के परित्याग एवं दैवी सम्पत्ति के सद्गुणों का ग्रहण हो, ऐसी योजनाओं में सत्संग का कार्य-क्रम स्थिर हो। सामाजिक उन्नति के लिये यह अचूक और अनुभूत प्रयोग है।

३—माता-पिता, गौ एवं गुरुजनों की सेवा-पूजा करते हुए अपने अन्तःकरण की शुद्धि के लिये विशेष प्रयत्न करना एवं नियमित रूप से दैनिक प्रार्थना, सत्संग और अपने पथ-प्रदर्शक के आदेशानुसार भगवत्प्रीत्यर्थ भजन आदि साधन करना, मानसिक उन्नति का यही सर्वोत्तम उपाय है।

४—दुर्गुणों के त्याग और सद्गुणों के ग्रहण के निमित्त अहर्निश प्रयत्नशील रहते हुए नियमित साधन से अपने स्वभाव का परिवर्तन करें और फिर विकसित बुद्धि के सद्विवेक से दृढ़ निश्चय पूर्वक ईश्वर में विश्वास के साथ अपने यथार्थ स्वरूप का बोध करते हुए आध्यात्मिक उन्नति में अग्रसर हों।

इस प्रकार के उपायों से स्वयं अपने चरित्र निर्माण के साथ-साथ, ग्राम नगर और देश के चारित्रिक उत्थान में प्रत्येक व्यक्ति अपना सहयोग दे सकता है—आवश्यकता है केवल दृढ़ निश्चय की। दृढ़ निश्चय की भावना के लिये सत्संग एक प्रमुख साधन है। अस्तु अपने प्रेमी पाठकों से हमारा तो यही विनम्र निवेदन है कि 'मनुष्य की सर्वाङ्गीण उन्नति उसके चरित्र निर्माण में ही सन्निहित है।"

आज कहने की नहीं, करके दिखाने की आवश्यकता है।

(सन्त-प्रवर, आचार्य तुलसी राजस्थान)

आज जन जीवन बुराइयों और दुष्प्रवृत्तियों से जर्जरित हुआ जा रहा है। मानव के जीवन से नैतिकता और ईमानदारी का लोप हुआ जा रहा है। मनुष्य नगण्य स्वार्थों के वशीभूत हो बड़े से बड़ा अपराध करता भी नहीं सकुचाता। यह पतन की पराकाष्ठा नहीं तो क्या है ? दूसरी ओर आज का सुधारक सभा मंचों पर खड़ा होकर लच्छेदार भाषा में, लम्वे-लम्वे वक्तव्य देना खूब जानता है। राष्ट्र व समाज के उत्थान के राग अलापने में भी वह कुछ कसर नहीं छोड़ता पर अपने सुधरने की बात जव आती है तो बगलें झाँकने लगता है। सोचता है—समाज सुधर जाये, राष्ट्र सुधर जाये, फिर कहीं मेरा नम्बर आये। यह आज की दयनीय स्थिति का एक नमूना है। सही वात तो यह है कि सुधार का कार्य सवसे पहले अपने से शुरू करना होगा। हर व्यक्ति को आत्मनिष्ठा के साथ यह ठान लेना होगा कि उसका सवसे पहला और जरूरी कार्य है—अपने जीवन को बुराइयों के गड्ढे से वाहर निकाल कर भलाइयों, सद्वृत्तियों एवं सद्गुणों में डालना। आज के सुधारक या कार्यकर्त्ता जव तक इस मार्ग का अवलम्वन नहीं करेंगे, कुछ वनने का नहीं।

व्यक्ति-व्यक्ति में आत्मश्रद्धा आये, वह चरित्रनिष्ठ वने, उसका जीवन सचाई, सादगी और नैतिकता से ओतप्रोत हो यही एक उद्देश्य है जिसे लक्षित कर अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्त्तन हुआ। जव तक व्यक्ति सुधरेगा नहीं, 'समाज और राष्ट्र सुधार का नारा' क्या अर्थ रखेगा ? आज व्यक्ति-व्यक्ति को नैतिक उत्थान और चरित्र विकास के इस पुनीत कार्य में, अपने को लगा देना है। व्यक्ति ही समष्टि का मूल है। व्यक्ति-व्यक्ति सुधरेगा तभी समाज में एक नई चेतना आयेगी; आज का धूमिल वातावरण उजला वनेगा।

खेद है, बुराइयों में जितनी परस्पर मिलने की ताकत है, भलाइयों में नहीं। चोरों, डाकुओं और शरावियों के टोले के टोले आपस में मिल जाते हैं—कोई दिक्कत नहीं होती। भली प्रवृत्तियों को लेकर चलने वाले लोग छत्तीस के अङ्क की तरह मिल नहीं पाते। यह एक ऐसी त्रुटि है जिसे आपको मिटाना है। नैतिकता और चरित्रनिष्ठा में विश्वास रखने वाले एक सूत्र में आवद्ध होकर कार्यक्षेत्र में उतर पड़ें। तभी आज की समस्याओं से उत्पीड़ित जनजीवन राहत पा सकता है।"

चरित्र निर्माण मानव का चरम लक्ष्य है

(पूज्य श्रीस्वामी भजनानन्द जी महाराज)
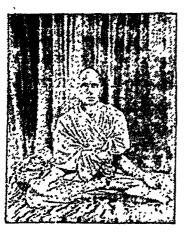
कम्पनी के मालिक नई-नई औषधियों अथवा उपयोगी वस्तुओं को बनाकर, उन्हें आकर्षक पैकिंग में बन्द करके बाजार में भेजते हैं। सुन्दर पैकिंग से आकर्षित होकर जनता बड़े चाव से उन वस्तुओं को खरीदती है। जैसा बढ़िया ऊपर से पैकिंग का डिब्बा होता है, यदि उसी के अनुसार भीतर की वस्तु भी बढ़िया निकली तब तो जनता में उसका खूब आदर हो जाता है। खरीदने वाले स्वयं ही उसकी एक-दूसरे से चर्चा करते हैं और वस्तु की प्रशंसा को सुन-सुन कर अपने आप उसका सब जगह विज्ञापन हो जाता है, जनता बड़े चाव से उसे पेटेन्ट कहकर विना मोल भाव किये खरीद लेती है। किन्तु इसके विपरीत यदि ऊपर के बाहरी पैकिंग के अनुसार भीतर की वस्तु न हुई, ठीक न निकली तो शीघ्र ही उस माल की निन्दा होने लगती है। लोग कहते हैं कि "बाहर कुछ और भीतर कुछ और" "ऊँची दुकान फीका पकवान" इत्यादि कहकर उल्टा विज्ञापन करते हैं। जब कोई खरीदने के लिये तैयार भी होता है तो उसे सावधान कर देते हैं कि भाई ऊपरी चमक-दमक देखकर धोखे में न फँस जाना। क्योंकि भीतर बिलकुल कूड़ा भरा हुआ है। इस प्रकार की धोखेबाजी से वह कम्पनी फेल होजाती है और तब ऐसे परिणाम को देखकर, कम्पनी का मालिक सिर धुन-धुन कर पछतावा करता है कि

अगर मैं पहिले से ही सावधान होजाता, मेरी नियत में बेईमानी न होती तो आज अमुक कम्पनी की भाँति मेरे माल की भी शोहरत होती।

यदि कम्पनी ने ऊपरी चमक-दमक के पैकिंग की ओर ध्यान न देकर यह निश्चय किया कि हम भीतरी माल बढ़िया देंगे पैकिंग चाहे जैसा हो, यद्यपि ऐसा होने से प्रारम्भ में तो उस माल के बाजार में बिकने में कठिनाई अवश्य होगी किन्तु कुछ दिनों में उस वस्तु का प्रयोग करते हुए जनता को लाभ होने पर स्वाभाविक ही उसकी प्रशंसा होने लगेगी और फिर खूब बिकेगी। कम्पनी मालामाल होजायगी, जनता में उस कम्पनी की साख होजायगी- विश्वास की जड़ सुदृढ़ हो जायगी।

इस दृष्टान्त से हमारा तात्पर्य यह है कि जिस मनुष्य ने अपने शरीर रूपी पैकिंग को तो खूब सजाया बनाया सँवारा और हृदय को वस्तु रूपी चरित्र-बल से यदि नहीं सजाया तो उसका यह जीवन बिल्कुल व्यर्थ और अनर्थ ही में गया। संसार को ऐसी बनावट और सजावट से भले ही तुम कुछ दिनों तक धोखा देकर अपना उल्लू सीधाकर सकते हो किन्तु भगवान तो इस बाहरी आडम्बर से प्रसन्न नही होंगे वे तो ऊपरी पैकिंग नहीं देखेंगे उन्हें तो भीतर की वस्तु अच्छी चाहिये। अन्तर्यामी प्रभु तो चरित्र-बल के ग्राहक हैं, चरित्र-हीन को तो वे कदापि स्वीकार नहीं करते। सर्वव्यापक, जगन्नियन्ता को यदि तुम अपनी ऊपरी सजावट से रिझाना चाहते हो तो यह तुम्हारी भयंकर भूल है इस भूल में ऐसा शूल छिपा हुआ है जो चौरासी लाख योनियों में तुम्हें कोंचता रहेगा। तब सिर धुन-धुन कर पछताओगे और कुछ बनाये न बनेगा।

निखिल ब्रह्माण्ड-नायक भगवान् श्री राघवेन्द्र सरकार ने तो स्पष्ट घोषणा की है—

निर्मल जन मन सो मोहिं पावा।
मोहिं कपट छल छिद्र न भावा ॥

मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम और लीला पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के चरित्रों पर ध्यान दीजिये। वे यदि बाहरी दिखावट से रीझने वाले होते तो शूर्पणखा, खर-दूषण, कंस और दुर्योधनादि से प्रसन्न हो जाते। उन्होंने भी तो ऊपरी पैकिंग से भगवान् को वश में करने के असफल प्रयत्न किये थे। इसके विपरीत जटायु शबरी, निषाद, हनुमान कुब्जा, अक्रूर, सुदामा आदि को अपने हृदय से लगा लिया—आप विचारें, इनमें से किस का बाहरी पैकिंग अच्छा था। जटायु माँस भोजी पक्षी, शबरी काली-कलूटी भयंकर भीलनी, निषाद अछूत और हनुमान जी विकृत रूप के बन्दर, कुब्जा टेढ़ी-मेढ़ी लंगड़ी स्त्री, सुदामा दीन-हीन, कृशकाय और निर्बल ब्राह्मण। बाहरी पैकिंग अर्थात शारीरिक सौन्दर्य, मान-प्रतिष्ठा, धन-वैभव आदि जिन वस्तुओं को यह संसार सब कुछ समझता है उनमें से एक भी तो इन सबके पास नहीं थे, फिर क्या था इनके पास ? इनके पास वह अलौकिक आन्तरिक सौन्दर्य था जिस पर त्रैलोक्य की सम्पदा, संसार का समस्त भौतिक ऐश्वर्य निछावर किया जा सकता है। भक्ति, ज्ञान और वैराग के अनमोल आभूषणों से विभूषित इनके निर्मल 'मन' की परख भगवान् श्रीराम और भगवान् श्यामसुन्दर ने की और इन सबको अपना प्रियतम बनाकर स्वयं उनके बन गये, उनके हाथ बिक गये। प्रेमियों ! अपने हृदय पर हाथ रखकर विचार कीजिये तो आप इसी निश्चय पर पहुँच जायँगे कि उनके चरित्र-बल ने ही भगवान् को भी उनका बेदाम का गुलाम बना लिया। स्वयं श्रीमुख से अपने ऐसे स्वभाव की घोषणा उन्होंने अपने प्रिय सखा अर्जुन के सामने की थी:—

"मैं भक्तन के हाथ बिकाऊँ।"

तात्पर्य यह कि इस मानव-जीवन में सबसे अधिक महत्व चरित्रबल का ही है। चरित्रहीन व्यक्ति मनुष्य का शरीर पाकर भी, भीतर से पशु या असुर बनकर संसार का अहित करता है। जब इस संसार में चरित्र हीनता अपनी सीमा का उल्लंघन करके पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है तो चरित्रवान् मनुष्यों की रक्षा करने के लिये, चरित्र हीनता अर्थात् आसुरी सम्पत्ति का नाश करने के हेतु भगवान समय-समय पर अनेक रूपों में प्रकट होते रहते हैं। अपना इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरपूर है। भगवान् ने स्वयं कहा कि:—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा:—

जब जब होइ धरम की हानी।
बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी ॥
तब तब धरि प्रभु मनुज शरीरा।
हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा ॥

चरित्र बल हृदय की वस्तु है, भीतरी सजावट है। भगवान् तो चरित्र बल ही देखते हैं। इस संसार में भी चरित्र की ही सदैव पूजा हुई, आज भी हो रही है और आगे भी सदैव होती रहेगी। यदि किसी डाक्टर को भी किसी रोगी के रोग की परीक्षा करनी होती है तो वह सबसे पहिले स्टेथिस्कोप लगाकर हृदय की ही परीक्षा करता है। हृदय की चाल देखकर वह हृदय के आन्तरिक बल का अनुमान कर लेता है। किसी स्थूल शरीरी मनुष्य के दुर्बल हृदय को देखकर डाक्टर उसके सम्बन्धियों को सावधान करता है कि अब अधिक आशा नहीं है जो करना हो कर लो। किन्तु अस्थि-पंजर मात्र दुर्बल शरीर वाले के हृदय की परीक्षा करके कहता है "कोई चिन्ता की बात नहीं, हार्ट स्ट्रांग है, दुर्बलता धीरे-धीरे ठीक

हो जायगी।" इन दोनों परस्पर विरोधी बातों से भी विदित होता है कि इस जीवन को दी बनाने के लिये हमारे पथ प्रदर्शकों ने संयमित आहार-विहार, ब्रह्मचर्य और सदाचरण आदि का आदेश मानव-मात्र को दिया था। आज अपने देश की बिगड़ी दशा के कारणों में सबसे पहिले यही सत्यानाशिनी चरित्र-हीनता ही छिपी हुई है। यदि चरित्र निर्माण के प्रति हमारे शासक सचेत रहते, यदि हमारी धार्मिकता को पाश्चात्य सभ्यता अपनी चकाचौंध में भुलावा न देती, यदि हमारे होनहार नवयुवक फैशन परस्ती और अंगरेजियत की कालिमा से अपने भारतीय हृदय को बचाये रखते तो आज सदियों की गुलामी के फन्दे से छूटने के बाद अपने देश की शान ही कुछ और होती! घूसखोरी, चोरबाजारी मिलावट, चोरी-डकैती और स्वार्थांधिता का ऐसा नग्न-नृत्य तो चरित्र-हीनता की ही देन है। औरों की बात क्यों कहें, जो समाज के कर्णधार बनते हैं—संसार जिनके ऊपरी पैकिंग के विज्ञापन से भूलकर बहक जाता है, उनकी पूजा करता है परन्तु जब असलियत का पर्दा उठता है तो 'कुछ' के स्थान पर 'कुछ' देखकर किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो जाता है। "चौबे जी बनने गये छब्बे, लेकिन हो गये दुबे" वाली कहावत चरितार्थ हो जाती है। श्रद्धा डगमगाजाती है और विश्वास की जड़ें हिल जाती हैं। तब भुक्तभोगी हताश होकर कहता है कि इस कलियुग में सब कुछ ऐसे ही चलता है, यह सब कहने-सुनने या पुस्तकों में लिखने की बातें हैं, इत्यादि। हमारे गुरुदेव भगवान, सन्तशिरोमणि, स्वामी एकरसानन्द जी महाराज प्रायः अपने उपदेशों में कहा करते थे—

इस दुनिया में कोई सफ़ा न देखा दिल का,
कोई बिल्ली कोई बगुला देखा पहिन-फ़क़ीरी छिलका।

हमारे सुधारक और धर्मोपदेशक (मुझे भी उनमें में एक समझिए) हमारी ऐसी स्पष्ट बात को क्षमा करें, वे सभी हमारे पूज्य हैं। सन्त श्री नारायण स्वामीके इस दोहे में ही मैं यह कड़वी बात समाप्त करूँगा।

अरे सुधारक जगत की चिन्ता मत कर यार।
नारायण तू बैठ कर अपना भवन बुहार॥

अस्तु! संसार के सुधार की चिन्ता छोड़कर पहिले अपने चरित्र की ओर ध्यान दिया जावे तो संसार का असली सुधार हो सकता है। जो साँस निकल कर चली गयी वह लौटकर आने वाली नहीं, अतएव अपनी एक भी साँस चरित्र-हीनता के किसी कुकृत्य में नष्ट नहीं होनी चाहिये। और अपने यथासम्भव सहयोग से सत्संगादि के प्रचार द्वारा मुहल्ला, नगर और देश में चरित्र-बल बढ़ाने की चेष्टा करनी चाहिये।

चरित्रवान बनने में गुरुदेव का हाथ

मैं तो सूर्य उदय होने के पश्चात् उठने वालों में से था परन्तु साथ में रख कर 'गढ़-गढ़ कर खोट निकालने वाले' गुरुदेव की कृपा से तड़के ३ बजे उठने का अभ्यास पड़ने लगा। उस दिन कथा-उपदेश के कारण अधिक रात्रि बीत जाने पर सोना पड़ा। सोते समय एक संकल्प उठा "आज बड़ी देर से सो रहे हैं—अब तो नित्य के समय पर जग जाना कठिन ही प्रतीत होता है—खैर गुरुदेव भगवान् बड़े दयालु हैं वे सब ठीक ही करेंगे। दिन भर के थके होने के कारण इतनी गहरी नींद आई कि करवट भी नहीं बदली। यकायक क्या देखता हूँ कि मेरे गुरुदेव मेरे पास खड़े हुए कह रहे हैं "अरे तीन बज चुका है—उठो जल्दी—सोते ही रहोगे क्या?" मैं हड़बड़ा कर उठा—आश्चर्य पूर्वक इधर-उधर देखा, परन्तु वे यहाँ कैसे होते। वे तो बहुत दूर सैकड़ों मील पर थे। सिरहाने घड़ी रक्खी थी—उठाकर देखा तो समय ठीक तीन बज कर दो मिनट था। (आनन्द)

सदाचार-समीक्षा

(श्री स्वामी सनातनदेव जी महाराज)

सन्त—बड़े खेद की बात है सुरेश! तुम्हें सत्संग में आते हुए दस वर्ष हो गये, फिर भी तुमने झूठ बोलना नहीं छोड़ा!

सुरेश—क्या करूँ भगवन्! सदाचार के नियमों को निभाना तो बड़ी कठिन सी बात जान पड़ती है। जीवन में ऐसी विकट परिस्थितियाँ आ जाती हैं कि मनुष्य को विवश होकर असत्य का आश्रय लेना ही पड़ता है, कलियुग है न महाराज! इस समय जीव को अपने धर्म पर स्थिर बने रहना असम्भव ही है।

सन्त—छिः! इतने दिनों सत्संग में रहकर तुमने यही सीखा है? ऐसी बातें तो अत्यन्त अकर्मण्य और विषय लम्पट मनुष्य किया करते हैं। भाई, कलियुग होने से क्या मनुष्य को बुराई करने की छुट्टी मिल जाती है? कलियुग तो एक काल का विभाग है। काल स्वयं न बुरा होता है, न भला। और ऐसा भी कोई काल नहीं होता जब केवल बुराई ही बुराई हो अथवा केवल भलाई ही भलाई हो। सत्ययुग और त्रेतायुग में भी हिरण्यकश्यपु एवं रावण जैसे दुर्दान्त अत्याचारी एवं नास्तिक असुर थे तथा कलियुग में भी बुद्ध, शंकराचार्य, मीराबाई एवं गान्धी-जैसे तत्त्वज्ञ भक्त और सन्त हुए हैं। शास्त्र में जो कलियुग के दोषों का वर्णन है वह तो केवल वस्तु स्थिति का अनुवाद मात्र है। अर्थात यह बताया गया है कि इस समय दोषों की अधिकता रहती है। परन्तु इससे यह बात तो सिद्ध नहीं होती कि आज-कल प्रयत्न करने पर भी कोई निर्दोष नहीं हो सकता। प्रत्युत यही कहा है कि अन्य युगों की अपेक्षा कलियुग में जीव का कल्याण ५ प्रयास से हो सकता है। अन्य युगों में योग, तप आदि कष्टसाध्य साधनों से जिस पद की प्राप्ति होती थी, इस समय केवल भगवन्नाम कीर्तन से ही वह स्थिति प्राप्त हो सकती है।

सुरेश—यह तो ठीक है भगवन्! भगवन्नाम-कीर्तन की तो इस समय बड़ी महिमा है, और उसी के भरोसे हम भी निश्चिन्त हैं। हमने तो नाम महाराज का ही आश्रय ले रक्खा है, वे ही हमारे जैसे कलिहत जीवों को संसार सागर के पार ले जाने-वाले हैं।

सन्त—परन्तु सुरेश! नाम महाराज का आश्रय लेने पर भी क्या कोई जीव कलिहत रह सकता है। नाम और नामी तो एक ही हैं। जिसने नाम की शरण लेली वह तो नामी के ही शरणापन्न हो गया। और नामी जो स्वयं भगवान हैं; उनका शरणागत भक्त भी क्या कभी पाप के पंजे में फँसा रह सकता है? भगवान् तो स्वयं अपने मुख से कहते हैं—

> *"सन्मुख होइ जीव मोहिं जबहीं।*
> *जनम कोटि अघ नासहुँ तबहीं॥"*

> **'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।**
> **अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच"**

यहाँ पापनाश का तात्पर्य क्या तुम यही समझते हो कि वह 'पाप भले ही करता रहे भगवान् उसे क्षमा ही करते रहते हैं। भला जिस हृदय में प्रभु के परम पवित्र पादपद्मों का निवास है उसमें पाप ठहर सकते हैं? पाप तो सर्वदा दूषित वासनाओं के कारण हुआ करते हैं। जिस हृदय में प्रभु का पवित्र प्रेम छाया हुआ है उसमें दूषित वासनाएँ कैसे रह सकती हैं? रात्रि और सूर्य क्या एक ही स्थान में ठहर सकते हैं? जो लोग पाप वासनाओं के आगे अपनी विवशता अनुभव करते हैं और दम भरते हैं भगवान शरणापन्न होने का वे तो धोखे ही में हैं,

वे स्वयं ठगे हुए हैं और दूसरों की आँखों में भी धूल झोंकना चाहते हैं। भगवन्नाम के भरोसे पाप करना तो एक प्रकार का नामापराध है, यह तो ऐसा पाप है जिसका कोई प्रायश्चित ही नहीं है।

सुरेश—सचमुच, आप जैसा कहते हैं बात तो ऐसी ही जान पड़ती है। परन्तु इन पाप वासनाओं से पूर्णतया छुटकारा पाना तो बड़ी कठिन बात जान पड़ती है। यह तो तभी सम्भव है जब किसी बड़भागी पर आप जैसे संत सद्गुरुदेव की अहैतुकी कृपा हो।

सन्त—नहीं, इसमें कठिनता की कोई बात नहीं है। सदाचार या शुद्ध व्यवहार तो जीव का सहज धर्म है, वह तो स्वाभाविक और सरल ही है। कठिनता तो दम्भ और दुर्व्यवहार में ही होती है। परन्तु मनुष्यों को कुसंगवश ऐसा अभ्यास पड़ गया है कि जहाँ सरलता है वहीं उन्हें कठिनता दिखाई देती है।

सुरेश—सो किस प्रकार भगवन्! यह तो आज मैं एक नयी ही बात सुन रहा हूँ। सभी लोग कहते हैं कि मनुष्य के लिये अपने धर्म पर स्थिर रहना बड़ा कठिन है, परन्तु आप तो धर्माचरण में ही सुगमता बता रहे हैं।

संत—भाई जिस धर्माचरण में बड़ी-बड़ी सामग्रियों की अपेक्षा होती है वह भले ही कठिन हो, परन्तु सदाचार और सद्व्यवहार में तो कोई कठिनता नहीं जान पड़ती। यह तो मनुष्य का सहज स्वभाव है। इसके लिये अन्य किसी सामग्री की तो क्या किसी प्रकार के चिन्तन या बुद्धि कौशल की भी अपेक्षा नहीं होती है। जो बात जैसी देखी-सुनी है उसे वैसे ही कह देने में भला क्या प्रयास पड़ता है? दूकानदार यदि सब ग्राहकों को समान रूप से एक ही भाव में और ठीक-ठीक तोलकर एक ही चीज देता है तो इसमें कौन सी कठिनाई है? यदि सामने पड़ी रहने पर भी कोई पुरुष दूसरे की चीज नहीं उठाता तो इसमें क्या परिश्रम पड़ता है? यदि अपने अड़ोस-पड़ोस की स्त्रियों को कोई पुरुष माता या बहिन समझकर उनकी ओर कुदृष्टि से नहीं देखता तो इसमें क्या कठिनता है? इसी प्रकार अहिंसा, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष किसी भी सद्गुण को लें उसका आचरण करने में मनुष्य को न तो किसी प्रकार के संग्रह की अपेक्षा होती है और न किसी प्रकार के विषय व्यापार का ही परिश्रम उठना पड़ता है। इसके विपरीत मिथ्या भाषण ठगी, चोरी, व्यभिचारी हिंसा, परिग्रह और असन्तोष आदि जितने दोष हैं उनमें तरह-तरह का शारीरिक और मानसिक चालें चलनी पड़ती हैं तथा बाह्य सामग्री की भी अपेक्षा होती है। अतः सर्वदा ही सदाचार के पालन में मनुष्य स्वतन्त्र है और दुराचार में परतन्त्र।

इसके सिवा सदाचार ही मनुष्य का सार्वभौम धर्म हो सकता है, दुराचार नहीं। संसार में आजतक ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं हुआ जो पूरा दुराचारी हो, जिसमें सदाचार का एक भी लक्षण न पाया गया हो। किन्तु ऐसे अनेकों आदर्श महापुरुष हुए हैं जिनके जीवनमें ढूंढने पर भी कोई स्खलन दिखाई नहीं देता। यही नहीं यदि कोई व्यक्ति प्रयत्न भी करे तो वह किसी एक भी बुराई का अपने जीवन में सर्वदा आचरण नहीं कर सकता। यह सम्भव ही नहीं है कि कोई व्यक्ति सर्वदा झूठ ही बोले, सर्वदा हिंसा ही करे अथवा सर्वदा चोरी ही किया करे। परन्तु यदि कोई सर्वदा सत्य बोलना चाहे, अहिंसा परायण रहना चाहे अथवा अस्तेय व्रत पालने करने का संकल्प करे तो इनके आजीवन अनुष्ठान में कोई कठिनता नहीं हो सकती। इतना ही नहीं, यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो प्रत्येक बुराई का जो क्षणिक जीवन है वह भी भलाई के ही आधार पर है। दूसरे को अपनी सत्यवादिता का विश्वास दिलाये

बिना कोई मिथ्याभाषण कैसे कर सकता है ? अपनी इमानदारी का सिक्का जमाये बिना किसी को ठगा कैसे जा सकता है और बिना रक्षक का स्वांग बनाये किसी का गला भी कैसे काटा जा सकता है ? इससे सिद्ध हुआ कि असत्य की सत्ता सत्य के अधीन है, बेईमानी की सत्ता ईमानदारी के आधीन है और हिंसा की सत्ता अहिंसा के अधीन है। अतः वास्तव में सद्गुण ही नींव के सहज धर्म हैं और उन्हीं का आश्रय लेकर वह प्रमादवश अपनी दुर्वासनाओं से प्रेरित होकर कभी-कभी पापों में भी प्रवृत्त हो जाता है।

सुरेश—यदि ऐसी बात है तो मनुष्य पापों में प्रवृत्त ही क्यों होता है ? शास्त्र और संत तो सदा से ही जीवन को पापों की ओर जाने से रोकते रहे हैं, फिर भी ऐसी कौन प्रबल शक्ति है जो इसे अपने सहज धर्म से विमुख करके पाप में प्रवृत्त कर देती है ?

संत—इसका मुख्य कारण विषयासक्ति है।

सुरेश—भगवन् ! कहते हैं कि विषय तो इन्द्रियों के धर्म ही हैं फिर यह उन्हें कैसे छोड़ सकता है ?

संत—ठीक है, विषय अवश्य इन्द्रियों के धर्म हैं और उन्हें प्रकाशित किये बिना इन्द्रियाँ नहीं रह सकतीं, किन्तु विषयों की आसक्ति इन्द्रियों का धर्म नहीं है।

सुरेश—विषयों के रहते हुए उनमें आसक्ति हो जाना तो स्वाभाविक ही है, उससे मनुष्य कैसे बच सकता है ? इस रहस्य को स्पष्टतया समझाने की कृपा करें।

संत—विषय तो इन्द्रियों का स्वभाव ही है; जैसे नेत्र रूपको ग्रहण करेंगे ही, श्रोत्र हैं तो उनसे शब्द का ग्रहण होगा ही तथा रसनेन्द्रिय के रहते हुए मीठा पदार्थ मीठा और कड़वा कड़वा ही जान पड़ेगा। परन्तु किसी भी व्यक्ति की जो किसी विशेष रूप, विशेष शब्द या विशेष रस में आसक्ति होती है वह उसकी नेत्र श्रोत्र या रसना इन्द्रिय का स्वभाव नहीं कहा जा सकता। यदि उसे भी इन्द्रिय का ही स्वभाव मानें तो जिस रूप जिस शब्द या जिस रस में एक पुरुष की आसक्ति है, उसमें सभी की आसक्ति होनी चाहिये। जिस प्रकार एक रूप एक शब्द या एक रस सब व्यक्तियों को एक जैसा जान पड़ता है उस प्रकार उसमें सभी की आसक्ति समान ही नहीं होती इस से सिद्ध होता है कि इन्द्रियों का स्वभाव केवल विषयों को प्रकाशित करना ही है उनमें आसक्ति करना नहीं। तथा जीव को जो बाँधने वाली चीज है वह आसक्ति ही है। यदि आसक्ति न हो तो विषयों से किसी का बन्धन नहीं होता। ये रूप रस शब्द आदि विषय तो जैसे संसारियों को दीखते हैं वैसे ही जीवन्मुक्त महात्माओं को भी दिखाई देते हैं

सुरेश—ठीक है भगवन् ! सचमुच आसक्ति इन्द्रियों का धर्म नहीं है। फिर यह जीव में कहाँ से आ गयी, इस पिशाची ने उसे किस प्रकार अपने चंगुल में फँसा लिया ?

सन्त—इसका मुख्य कारण अविवेक है। यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो आसक्ति देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त किसी का भी धर्म नहीं। यदि यह इन में से किसी का भी धर्म होता तो जीव को इससे कभी छुटकारा नहीं मिल सकता था।

सुरेश—तो फिर यह किसका धर्म है ? ऐसा तो कोई जीव दिखाई नहीं देता जिसकी कहीं भी आसक्ति न हो।

सन्त—मैंने कहा न, इसका मुख्य कारण अविवेक है। अविवेक, अज्ञान या भ्रम से जो वस्तु प्रतीत होती है वह वास्तव में किसी का भी धर्म नहीं होती। जिसे तुम आसक्ति कहते हो आलम्बन के भेद से वही राग, प्रेम, रस या आनन्द भी कहा

जाता है। वह किसी का धर्म नहीं प्रत्युत आत्मा का स्वरूप ही है। वह आत्मा व्यवहार भूमि में अहम् (मैं) रूप से अवतीर्ण हुआ है। जीव मन, बुद्धि,प्राण, शरीर या इन्द्रिय जिसमें भी उस 'अहम्' का आरोप करता है वही उसे अपना जान पड़ता है और वही उसके परम प्रेम का स्थान बन जाता है फिर संस्कार वश उसके साथ जिन पदार्थों की अनुकूलता जान पड़ती है उन्हीं में उसकी आसक्ति हो जाती है। परन्तु वास्तव में तो आत्मा इनमें से कोई भी वस्तु नहीं है। वह तो सभीसे असंग और सभी का अधिष्ठान है. इसलिये उससे न किसी की अनुकूलता है और न प्रतिकूलता। अतः न कोई उसके राग का विषय है और न द्वेष का। यहाँ जो राग (आसक्ति) या द्वेष की प्रवृत्ति होती है वह केवल अविवेक के ही कारण है। इसीसे वस्तुतः किसी का धर्म न होने पर भी इस अज्ञान भूमि में सभी जीव राग-द्वेष के आधीन दिखायी देते हैं।

सुरेश—यदि ऐसी बात है तो जब तक यह जीव अज्ञाननिद्रा से जग नहीं जाता तब तक इसे आसक्ति से छुटकारा तो मिल नहीं सकता। ऐसी स्थिति में यह विषयों के बन्धन से मुक्त कैसे हो सकता है?

सन्त—आसक्ति तो एक धर्म है। यदि जीव इसका सदुपयोग करे तो यही उसके परम कल्याण का कारण हो जाता है। किसी भी वस्तु में जीव की आसक्ति सुखबुद्धि को लेकर होती है। किन्तु संसार की ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसमें पूर्ण सुख हो और न वह पूर्णतया किसी एक प्राणी को प्राप्त ही हो सकती है। अतः उन्हें पाकर जीव कभी पूर्ण तृप्तिका अनुभव नहीं कर सकता। यही नहीं जिनके पास वह वस्तु अपने से अधिक दिखायी देती है उन्हें देखकर उसे स्पर्धा भी होती ही है। फिर एक दिन उससे उसका वियोग होजाना भी अवश्यम्भावी है। उस समय वह उसे उतना ही दुःसह शोक प्रदान करेगी। इस प्रकार इन लौकिक वस्तुओं की आसक्ति में अतृप्ति, स्पर्धा और वियोग का भय ये तीन दोष हैं। अतः मनुष्य को चाहिये कि वह ऐसी वस्तु में आसक्ति करे जिसमें किसी प्रकार की अपूर्णता न हो, जो अपने को पूर्णतया मिल सकती हो और जिससे अपना कभी वियोग न हो। ऐसे तो केवल श्रीभगवान् ही हैं। जब उनमें आसक्ति होगी तो सांसारिक वस्तुओं का कोई मूल्य ही नहीं रहेगा। यहाँ तक कि भगवदासक्ति की प्रगाढ़ता होने पर तो उनका मान भी होगा। फिर तो केवल वे ही रह जायँगे, उनके सिवा और किसी की भी सत्ता नहीं रहेगी। इस प्रकार इस आसक्ति के द्वारा तो जीव उन्हें प्राप्त कर सकता है, जिनको पा लेने पर और कुछ भी पाना शेष नहीं रहता।

सुरेश—भगवन्! आपके इस उपदेशामृत का पान करके मैं कृतकृत्य हो गया। परन्तु देव! जो जीव तरह-तरह के विषयों की चकाचौंध में उन प्रभु की माधुरी मूर्ति के दर्शन ही नहीं कर पाता उसकी एका-एकी उनमें ऐसी आसक्ति होगी कैसे? अतः ऐसे सामान्य जीवों के लिये विषयों के बन्धन से मुक्त होने का क्या उपाय है?

सन्त—ठीक है, जीव संसार के छोटे-छोटे प्रलोभनों में फँसा हुआ है, इसी से वह अपने परम प्रेमास्पद श्री हरि से नहीं मिल पाता। इन तुच्छ सुखों ने उसे उन सर्वसुखधाम, पूर्णकाम, सौन्दर्यसार श्रीश्यामसुन्दर से दूर कर रक्खा है। इसके लिये उसे अपनी प्रवृत्ति की दिशा बदलनी होगी। यह बात निर्विवाद है कि मूर्ख से मूर्ख प्राणी की भी कोई प्रवृत्ति बिना किसी प्रयोजन के नहीं होती—'प्रयोजन बिना तु मन्दोऽपि न प्रवर्त्तते।' जीवों ने सामान्यतया सुख को ही अपनी प्रवृत्तियों का प्रयोजन बनाया हुआ है। इसी से वह इन आपातरमणीय वैषयिक सुखों में फँस जाता है। इस सुखासक्ति ने उसे स्वार्थी और बहिर्मुख बना दिया

है। यदि वह सुख के स्थान पर हित को अपनी प्रवृत्ति का प्रयोजन बना ले तो सहज ही में उसका मार्ग बदल सकता है। जीव एक ऐसे स्थान पर खड़ा है जहाँ से एक ओर भोग मार्ग जाता है और दूसरी ओर योगमार्ग। यदि उसकी प्रवृत्ति सुखासक्ति को लेकर होती है तो वह भोग मार्ग बढ़ने लगता है और उत्तरोत्तर वैषयिक बन्धनों में पड़कर जन्म-मरण के चक्र में भटकता रहता है। यदि उसकी प्रवृत्ति हित दृष्टि से होती है तो वह योगमार्ग पर बढ़ने लगता है। हितदृष्टि ही संयमका बीज है। बस, वह जैसे-जैसे इस मार्ग पर अग्रसर होता है वैसे-वैसे ही भोगों के प्रति उसका आकर्षण शिथिल पड़ता जाता है। भोगों के प्रति वैराग्य ही भगवान् के प्रति अनुराग प्रगट कर देता है अथवा चित्त को सब प्रकार की वासनाओं से मुक्त कर सत्य का जिज्ञासु बना देता है। इस प्रकार जिसमें भगवत्प्रेम अथवा सत्य की जिज्ञासा का आविर्भाव होता है वही अन्त में अपने जीवन का परम लक्ष्य प्राप्त करके कृतकृत्य होता है। भगवत्प्रेमी अपने प्रेमास्पद में सब कुछ लीन करके, यहाँ तक कि अपनी सत्ता को भी निर्मूल करके उस प्रियतम में ही सब कुछ पा लेता है; और जिज्ञासु अपने निजस्वरूप में सबका अत्यन्ताभाव अनुभव कर अपने में ही अपने प्रियतम की झाँकी करता है। प्रेमी और प्रेमास्पद का भेद न तो भक्त को रहता है और न जिज्ञासु को ही। जब तक भेद है तभी तक अधूरापन है, अतृप्ति है। भेद की निवृत्ति ही पूर्णता है। प्रेमी प्रेमास्पद में मिलकर भेद को खोता है और तत्त्वज्ञ भेद को खोकर प्रेमास्पद में मिलता है इतना ही दोनोंका अन्तर है। स्थिति एक है आस्वादन का भेद है; लक्ष्य एक है मार्ग दो हैं।

सुरेश—धन्य भगवन्! आज तो आपने अपूर्व अमृत-वर्षा की। महापुरुषों की कृपा से ऐसी कौन है जो दुर्लभ हो। परन्तु सामान्यतया जीव बड़ा ही बलहीन है। उसके लिये सुख के प्रलोभन को छोड़ना है बड़ी कठिन बात।

संत—'जीव ही बड़ा बलहीन है' यह तुम कैसी बात कहते हो। यदि जीव बलहीन है तो बलवान् कौन है? वास्तव में तो जीव जीव ही है। वह न बलहीन है न बलवान्। जैसा वह अपने को बना लेता है वैसा ही बन जाता है। मनुष्य विवेकी जीव है। अपने हिताहित का निर्णय करने की उसमें योग्यता है। यह विवेक ही उसकी मनुष्यता है और यही उसका बल है। जो मनुष्य जितना ही विवेक का आदर करता है उतना ही वह बलवान् है और जो विवेक का आदर नहीं करता वह बलहीन ही नहीं वास्तव में 'मनुष्य' कहलाने का भी अधिकारी नहीं है। मनुष्य के सिवा अन्य जीवों में विवेक-शक्ति नहीं है, इसलिये उनमें विकास और ह्रास की योग्यता भी नहीं पायी जाती। उनका रहन-सहन और व्यवहार जैसा आज से हजारों वर्ष पूर्व था वैसा ही आज भी है। परन्तु मनुष्य तो नित्य प्रति विकास या ह्रास की ओर जा रहा है। जिस पक्ष में वह विवेक का आदर करता है उस पक्ष में उसका विकास होता है और जिस पक्ष में वह विवेक का अनादर करता है उस पक्ष में उसका ह्रास होता जाता है। विवेक ही हितदृष्टि है। यदि विषयों के सेवन में वह विवेक का आदर नहीं करेगा तो उसका परिणाम रोग और अन्त में सर्वनाश ही होगा। अतः विवेकवती बुद्धि से जो हितकर जान पड़े उसीको ग्रहण करना—यही मनुष्यता है। आरम्भ में भले ही इसमें कुछ कठिनता जान पड़े, परन्तु जब ऐसा ही स्वभाव बन जायगा तो इसके विपरीत आचरण करना प्रायः असम्भव ही होगा। शिवि की शरणागत-वत्सलता, हरिश्चन्द्र की सत्य-निष्ठा और रन्तिदेव की उदारता क्या कोई सीख कर की हुई कृत्रिम चेष्टाएँ थीं? वे तो उनका स्वभाव ही थीं। वे प्राणों को प्रसन्नता से त्याग सकते थे,

किन्तु अपनी निष्ठाओं को त्यागना उनके लिये असम्भव था। जैसा उन्होंने किया वैसा ही आज तुम भी कर सकते हो। तुम भी मनुष्य ही हो तुम्हें भी भगवान् ने विवेकशक्ति दी है। यदि तुम उसका आदर करो तो ऐसी कौन सी बात है जो तुम नहीं कर सकते। विवेक तुम्हारी अपनी सम्पत्ति है, उसका सदुपयोग करना पूर्णतया तुम्हारे ही हाथ में है। फिर तुम ऐसी कायरता की बातें क्यों करते हो? आखिर तुम्हें भय किस बात का है? भाई मृत्यु से बढ़कर तो कोई ऐसी विपत्ति है नहीं जो तुम पर आक्रमण करेगी और तुम अपने को कितना ही बचाओ, वह एक दिन अवश्य तुम्हें अपना ग्रास बनायेगी ही। फिर यह निर्बलता किस लिये? इस निर्बलता के द्वारा तो तुम न भोग ही भोग सकते हो और न योग में ही प्रवृत्त हो सकते हो। भोगों को भी वही भोग सकता है जो समय को अपना कर उस पर शासन करता है; भोगासक्त प्राणी को तो भोग ही भोग लेते हैं। अतः साहस करो, दुर्बलता को त्यागो। तुम साक्षात् सर्वसमर्थ श्रीहरि की सन्तान हो, अमृत के बिन्दु हो 'अमृतस्य पुत्राः'। जो अमृत का धर्म है वही तुम्हारा सहज स्वत्व है। फिर यह ढील कैसी? याद रखो, तुम बिन्दु ही नहीं स्वयं अमृत के सिंधु हो। संसार में जहाँ भी जो कुछ सुखरूप दिखायी देता है वह तुम्हारी ही एक तुच्छ तरंग है।

सुरेश—कृपानाथ! आपकी अहैतुकी कृपा से आज मेरे हृदय का अन्धकार निवृत्त हो गया। अब ऐसा आशीर्वाद दीजिये जिससे मैं अपने भावी जीवन में आपके इस आदेश का पालन कर सकूँ।

संत—तथास्तु।

अजब जमाना?

डर लागे और हाँसी आवे अजब जमाना आया रे।
धन दौलत ले माल खजाना वेस्या नाच नचाया रे।
मुट्ठी अन्न साधु कोई माँगे, कहें नाज नहिं आया रे ॥१॥

कथा होय तहँ श्रोता सोवैं, वक्ता मूँड़ पचाया रे।
होय जहाँ कहिं स्वाँग तमासो, तनिक न नींद सताया रे ॥२॥

भंग तमाखू सुलफा गाँजा, सूखा खूब उड़ाया रे।
गुरु चरनामृत नेम न धारै मधुवा चाखन आया रे ॥३॥

उलटी चलन चली दुनियाँ में ताते जिय घबराया रे।
कहत 'कबीर' सुनो भाइ साधो, फिर पाछे पछताया रे ॥४॥

सत्संग से चरित्र निर्माण

(श्री स्वामी समतानन्द जी महाराज)

उत्तिष्टत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।

संसार में सबसे अधिक संख्या तो आज सांसारिक भोगासक्त मनुष्यों की ही है । भगवत प्राप्ति के साधन में लगे हुए अच्छे पुरुषों की संख्या भी कुछ अंशों में देखने में आती है किन्तु महा पुरुषों से विरले ही पूरा लाभ उठा पाते हैं, इसके मुख्य कारण दो हैं । पहिली बात अश्रद्धा, दूसरा पहिचानने का अभाव । श्रद्धा तो श्रद्धा वान पुरुषों के संग से प्राप्त होती है । मनुष्य जैसा संग करता है, वैसा रंग आता है । असंयम, अमर्यादित खान-पान और गन्दे साहित्य आदि के कारण समाज का चरित्र बुरी तरह से ह्रास हो रहा है । बीड़ी सिगरेट पीना, दिन भर पान खाते रहना, पाँच सात बार चाय पोना, भाँग, तम्बाकू, माँस, शराब आदि का व्यवहार करना, कुरुचि उत्पन्न करने वाली गन्दी कहानियाँ, उपन्यास, नाटकों का पढ़ना सिनेमा-प्रेम व्यभिचारी, तथा नास्तिक पुरुषों का संग करना आदि कई दोष समाज में आ गये हैं । लड़कपन से ही बालक-बालिकाओं को फैशन-परस्त बना देना, स्कूल कालेजों में लड़के लड़कियों का एक साथ पढ़ना, कालेज जीवन की असंयमित दिनचर्या आदि बातें चरित्र नाश की प्रधान कारण हैं । जिस समाज में यह दोष फैले हुए हों, वहाँ चरित्र ...र्माण अथवा आत्मोन्नति के उपाय कैसे हो सकते । इन सब दोषों से उपराम होकर हम संयम

और सदाचार के पथ पर चलें, इसके लिये सबको प्रयत्न करना चाहिये । स्वयं वैसा आचरण करके आदर्श स्थापित करना हमारा कर्त्तव्य है । एक समय था जब हमारा भारतवर्ष सब देशों का सिर मौर था । विद्या बुद्धि, कला, कौशल; धनबल, जन बल तथा ज्ञान-विज्ञान आदि में सबसे बढ़ा चढ़ा था । लौकिक, एवं पारलौकिक सभी विद्वानों का यह उद्गम स्थान था यहाँ से ज्ञान का सूर्य उदय होकर समस्त देशों में अपना प्रकाश फैलाता था ।

भर्तृहरि जी ने लिखा है:—

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं ।
मानोति दिशति पाप मया करोति ॥
चेतः प्रसाद यति दिक्षु तनोति कीर्तिं ।
सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम् ।

सत्संगति बुद्धि की जड़ता को हरती है, वाणी में सत्य सींचती, मान को बढ़ाती, पाप को दूर करती और चित को प्रसन्न रखती है । दिशाओं में कीर्ति को विस्तृत करती है, कहो तो यह सतसंगति पुरुष को क्या नहीं प्रदान करती है ? किसी महा पुरुष का बचन है:—

वह करै काग सो हंसा, एक रहे पिया का संसा ।
वह जाति वरण कुल खावै, वह बीज विरहका बोवे ॥
जो धड़ पर शीश न राखे, सो प्रेम पियाला चाखे ।
तन मन से जा बौराई, तब रहे ध्यान लव लाई ॥
यों कहे चरण हीं दासा, तब पहुँचे हरि के पासा ॥

श्री राम चरित मानस में लिखा है ।

मज्जन फल पेखिय तत्काला ।
काग होहि पिक बकहु मराला ॥

सतसंग के द्वारा समाज का सुधार होता है, संगठन होता है, आपस में प्रेम बढ़ता है, ज्ञान प्राप्त होता है, "मैं मेरा" तथा मोह दूर होता है इसलिये श्रीराम चरित मानस में कहा है:—

तात स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिय तुला एक अंग ।
तूलि न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सत्संग ॥

संसार में महात्माओं का संग प्राप्त होना भी कोई साधारण प्रारब्ध की बात नहीं है, वह भी बड़े सौभाग्य से मिलता है श्री मद्भागवत का कथन है—

भाग्योदयेन बहुजन्म समार्जितेन ।
सत्संगमं च लभते पुरुषो यदावै ॥
अज्ञानहेतु कृतमोहमदान्धकार ।
नाशं विधाय हि तदोदयते विवेकः ॥

अनेक जन्मों के संचित पुण्य पुञ्ज का उदय होने से मनुष्य को सत्संग मिलता है तब उसके अज्ञान जनित मोह और मदरूप अन्धकार का नाश करके विवेक उदय होता है । जब तक मनुष्य के द्वारा इस माया का तिरस्कार कर, सबकी आसक्ति छोड़कर तथा काम क्रोधादि छः शत्रुओं को जीतकर आत्म तत्त्व को नहीं जान लेता, और जब तक वह आत्मा के उपाधि रूप मन को संसार दुःख का क्षेत्र नहीं समझता तब तक वह इस लोक में भटकता ही रहता है । यह चित्त उसके शोक मोह, राग. लोभ, वैर आदि के संस्कार तथा ममता की वृद्धि करता रहता है । यह मन ही बड़ा बलवान शत्रु है । उपेक्षा करने से इस की शक्ति और बढ़ गई है । यह यद्यपि स्वयं तो सर्वथा मिथ्या है तथापि इसने आत्म स्वरूप को आच्छादित कर रक्खा है । इसलिये सावधान होकर श्री गुरु और हरि के चरणों की उपासना तथा सत्संग के अस्त्र द्वारा इसे वश में करो ।

जिस प्रकार ज्वर से पीड़ित रोगी के लिये मीठी औपधि, और धूप से तपे हुए पुरुष के लिये शीतल जल अमृत तुल्य होता है । उसी प्रकार देहाभिमानी को अमृतमय औषध सत्संग है । एक आदमी चोर था उसके चार लड़के थे उनको नित्य वह शिक्षा दिया करता था कि इन चार जगहों में कभी मत जाना, पहिला महात्मा के पास, दूसरे कथा में, तीसरे मन्दिर में, चौथे गंगा स्नान को । पिता की कमाई का धन खूब उड़ाया खाया जब नहीं रहा, तब घर में खाने पीने की तकलीफ होने लगी. पिता भी मर गये, एक दिन रात्रि के समय चोरी करने जा रहे थे रास्ते में कथा-सत्संग हो रहा था । सोचा कैसे निकलें सभी अपने कानों में रुई लगाकर भागे । भागने से चौथे भाई के कान की रुई गिर गई उस समय यह कथा हो रही थी कि देवताओं के जमीन में पैर नहीं लगते और छाया भी नहीं होती । उन्होंने राजा के यहाँ चोरी की । प्रातःकाल राजा को पता लगा कि चोरी होगई । चोरों का पता लगाया गया किन्तु कुछ पता नहीं लगा । अन्त में चतुर मंत्री से कहा गया कि तुम पता लगाओ, मंत्री रात्रि में काली देवी का वेष धारण कर उन चोरों के घर पर गया । तीन बाहर थे काली को देख काँपने लगे, तीनों ने चौथे भाई से कहा कि भद्रकाली आई हैं । उसने दीपक के प्रकाश में देखा—सत्संग की बात याद आगई । देखा तो पैर भी जमीन में लगे थे और परछाईं भी थी । भाइयों से कहा "लाठीलाओ यह काली नहीं है" मंत्री ने सोचा कि भागो नहीं तो पीटे जाओगे. मंत्री भाग गया । चोरों ने सोचा सत्संग कथा, का एक शब्द भी कान में पड़ने से जान माल सभी बचा । उस दिन से सभी ने चोरी करना बन्द कर दिया ।

सत्संग का लाभ तो बहुत ही विलक्षण है । महापुरुष का वाक्य है ।

पारस में अरु सन्त में बहुत अन्तरो जान ।
वह लोहा कंचन करे यह कर आप समान ॥

महापुरुषों के दर्शन, भाषण, स्पर्श और वार्तालाप से पापों का नाश होकर मनुष्य का चरित्र अच्छा बनता है । सदैव से अपने देश का चरित्र सत्संग के द्वारा ही निर्माण हुआ और होता रहेगा । इसलिये जगह जगह गाँव नगर शहर में सत्संग स्थापित करना चाहिये ।

अभ्युदय और निःश्रेयस का मूल चरित्र

(श्री स्वामी प्रकाशानन्द जी महाराज)

जागकर जिस समय जगत पर दृष्टि डालते हैं उस समय यह पता चलता है कि क्षण-क्षण में सामने नया-नया दृश्य आता-जाता है और पुराना चलता जाता है यह नियम अखंड रीति से चल रहा है। जो इस क्षण में आया है वही अगले क्षण चला जावेगा, जोकि आने के समय नया और जाने के समय पुराना कहा जाता है। इसी नये से पुराने अथवा आने से जाने को परिवर्तन कहते हैं। यह परिवर्तन जगत की प्रत्येक वस्तु पर लागू है अथवा जगत की सीमा वहाँ तक है जहाँ तक परिवर्तन है। फिर प्रयत्नशील जगत में हम जब जैसा चाहें तब वैसा ही आवे अथवा जब जैसा चाहें तब तैसा ही जाये यह बात भी नहीं होती। हम जब जिसे नहीं चाहते हैं तब वह आता है और जब चाहते हैं कि यह बना रहे, किन्तु वह चला जाता है। हाँ, कभी कभी अपनी रुचि के अनुसार भी आता-जाता है। इसी प्रकार यह भी पता नहीं चलता कि जीवन के अगले क्षण में क्या आवेगा और क्या जावेगा। हाँ यह अवश्यम्भावी है कि उस क्षण में अपनी रुचि के अनुकूल अथवा प्रतिकूल कुछ न कुछ आ अवश्य ही जावेगा। जिस प्रकार सिनेमा के पर्दे पर अपनी रुचि के अनुकूल अथवा प्रतिकूल कुछ न कुछ आता तो अवश्य ही है।

अब यह समझना है कि यह आता कहाँ से है? इसका निर्णय कुछ सूक्ष्म है पर साधारण में ऐसे समझा जा सकता है कि जैसे कोई भी वृक्ष जो कि दिखलाई पड़ रहा है वह वहाँ स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न नहीं हुआ, बल्कि उसका सूक्ष्म स्वरूप कहीं पर रह रहा था; यह वहाँ से इस वृक्ष रूप में परिवर्तन होता हुआ आया है। इसी प्रकार हमारे सामने भी जो आता है वह भी कहीं सूक्ष्म रूप से रह रहा है वह जहाँ रहा करता है उसी का नाम संस्कार कहा जाता है, जोकि अदृश्य है और उसी बीज रूपी अदृश्य से यह वृक्ष रूपी जगत आया करता है और आया ही करेगा जब तक कि संस्कार हैं। किन्तु जिस प्रकार यदि कहीं आम की गुठली बो दी जावे तो उससे आम का वृक्ष बनना प्रारम्भ हो जायेगा. उसे बदल कर नीम या बरगद का वृक्ष नहीं बनाया जा सकता है किन्तु पुरुषार्थ द्वारा उसमें बड़े आम का कलम लगा देने अथवा उसकी स्वच्छन्द बेडौल डालों को इधर-उधर झुकाकर बाँध देने अथवा उनका काट छाँट देने से उसकी रूप रेखा बदली जा सकती है। अर्थात छोटे व खट्टे आम के स्थान पर बड़ा तथा मीठा आम व इधर उधर स्वच्छन्द रूप के बदले सुडौल रूप का बनाया जा सकता है, इसी प्रकार अदृश्य संस्कारों से प्रवाह आवेगा ही उसमें परवशता है किन्तु उसका लक्ष्य व रूप देना ही निर्माण है।

निर्माण का नियम केवल मनुष्य शरीर पर ही लागू है (मनुष्य श्रेणी में स्त्रियाँ भी सम्मिलित हैं) इसीलिये मनुष्य-योनि को कर्त्तव्य-योनि तथा अन्य सभी को भोग-योनि वाला कहा जाता है अर्थात अन्य जीव संस्कार से आने जाने वाले प्रवाह को बदल या रोक नहीं सकते। क्योंकि उन शरीरों में बदल देने की बौद्धिक शक्ति नहीं है। इसीलिये वह निर्माण के नियम से मुक्त भी हैं तथा उन्हें इस जगत में कुछ दोष भी नहीं है। जैसे कि यदि किसी

साँड ने अपने सींगों द्वारा कोतवाली के सामने सड़क पर ही एक आदमी को मार डाला और उस व्यक्ति का भाई उसकी रिपोर्ट लिखाने कोतवाली में जावे तो पुलिस कर्मचारी न तो उसकी रिपोर्ट ही लिखता है और न साँड को ही कुछ दण्ड देता है। उसी स्थान पर यदि कोई आदमी किसी आदमी को मार डाले तो पुलिस कर्मचारी बिना रिपोर्ट किये ही मारने वाले को बन्दीगृह में बन्द कर देता है। अथवा यदि कोई बैल अपनी बूढ़ी माँ गाय को सींगों से मार रहा हो तो उसे कोई नहीं कहता कि अरे अधर्मी मूर्ख ! तेरी यह माँ है इसकी तो तुझे सेवा करनी चाहिये थी, सो सेवा न करके उल्टे क्यों मार रहा है ? किन्तु यदि कोई आदमी अपनी माँ को अपशब्द भी कहता है तो उसे सुन कर एक भला आदमी अवश्य ही कहता है कि अरे भाई ! यह तेरी माँ है इसका कितना उपकार तेरे पर है, फिर भी तू इस प्रकार बोल रहा है। किसी अच्छे स्थान में बँधी हुई गाय या भैंस को कोई भी उपदेशक, कथावाचक अथवा उसका संरक्षक यह नहीं कहता है कि अरी गाय ? तेरे सानी-पानी के लिये नौकर है तू दिन भर आराम से बँधी हुई खाया करती है तनिक दस माला राम नाम के व एक रामायण का मासिक पाठ ही कर लिया कर। यदि कोई कहे भी तो वह समझते ही नहीं हैं। कुछ समझते भी हैं तो उसे कार्य रूप में परिणित करने के लिये असमर्थ हैं। हाँ उन अन्य प्राणियों का किसी अंश में निर्माण भी हो सकता है तो किसी मनुष्य के द्वारा हो।

सभी प्रकार के विधि व निषेधात्मक आदेश केवल मनुष्य के लिये ही हैं क्योंकि मनुष्य कुछ बातों में स्वतन्त्र है। जैसे एक पुरुष ने बँधे हुये घोड़े को उसके खाने के लिये थोड़ा सा चारा व दाना डाल दिया और बाकी चारा व दाना तीन गज की दूरी पर ढक कर रख दिया तथा सईस को खाने के लिये दो पूड़ी और साग परोस दिया और शेष पूड़ी व साग उसके भी सामने तीन गज की दूरी पर ढक कर रख दिया तथा घोड़े व सईस दोनों को सम्बोधित करते हुये कहा कि हे प्राणियों ! एक साथ सभी सामान रख देना असभ्यता थी इसलिये थोड़ा थोड़ा परोस दिया है और सामान आवश्यकतानुसार अपने-अपने सामने वाले से लेते जाना। बरबाद करना नहीं और भूखे भी रहना नहीं। ऐसा कहकर वह चला जाये तो घोड़ा सामने वाले पड़े हुए को खाकर ही रह जायगा अर्थात नया और लेने के लिये परतंत्र रहेगा और सईस उसे खाकर सामने वाले से भी ले सकता है अर्थात नये के लिये स्वतन्त्र है। तात्पर्य यह निकला कि केवल मनुष्य अपना निर्माण करने में स्वतन्त्र है। इसीलिये मनुष्य को ही सभी शास्त्र, उपदेशक व कथावाचक सङ्केत करते हैं कि ईश्वर व धर्म को न भूलो।

अब यह विचार करना है कि कौन सी वस्तुएँ अपने पास हैं जिनका निर्माण किया जाय। अपने पास तीन ही वस्तुएँ हैं प्रथम तो सूक्ष्म रूप से बुद्धि है जो कि विचारों की जननी तथा उसका निर्णय व निश्चय करने वाली है कि मैं कौन हूँ ? मेरा क्या है ? हमसे अन्य कौन-कौन हैं ? संसार व ईश्वर कौन है आदि प्रश्नों का निर्णय, नौकरी में सुख है स्त्री-पुत्र सुख रूप हैं, निश्चय इसी के अधिकार की बात है। दूसरी वस्तु अपने पास मन है जिससे तरह-तरह की भावनाओं व संकल्पों का प्रवाह चालू रहा करता है जो कि साधारणतः चुप रहना जानता ही नहीं। ईश्वर व माता पिता एवं अन्य लोगों के प्रति नम्रता व श्रद्धा-भाव तथा परमार्थ, स्वार्थ, व्यर्थ व अनर्थ के संकल्प किया ही करता है। तीसरी हैं इन्द्रियाँ, जो कि सुनने स्पर्श करने, देखने, रस लेने, सूँघने, बोलने, लेने देने व चलने फिरने आदि का काम किया करती हैं।

इन तीनों का कार्य जाग्रत अवस्था में चालू ही रहता है। वह कार्य जाग्रत अवस्था में दो दो प्रकार

का शुभ या अशुभ हुआ करता है। इन तीनों बुद्धि मन व शरीर (इन्द्रियों का समिश्रण स्वरूप) का सम्बन्ध भी विचित्र रीति का है। जिस प्रकार रिक्शा गाड़ी में तीनों पहियों का पारस्परिक सम्बन्ध होता है उसमें बुद्धि व मन पिछले दोनों पहियों के समान हैं और तीसरा शरीर अगले पहिये के सथान पर है। जिस प्रकार रिक्शे के किसी एक पहिये पर यदि चोट लगाई जाती है तो उसका प्रभाव शेष दो पहियों पर भी पड़ता है अर्थात् वह भी हिल जाते हैं इसी प्रकार बुद्धि की शुद्धि का प्रभाव मन व इन्द्रियों पर तथा मन की शुद्धता का प्रभाव बुद्धि तथा शरीर पर और इन्द्रियों के शुभाचरण का प्रभाव बुद्धि व मन पर भी पड़ता है। इसी प्रकार हरएक का अशुद्धप्रयोग शेष दो को भी अशुद्धता पहुँचाता है। किसी भी प्रकार का निर्माण इन्हीं तीनों की शुद्धता के लिये है किन्तु जिस प्रकार पिछले पहियों के कारण रिक्शा आगे को बढ़ता है उसी प्रकार शरीर द्वारा जो भी सुकर्म अथव कुकर्म होते दिखलाई देते हैं वह इन्द्रियों के पहिले मन में उससे पहिले सूक्ष्म रूप से बुद्धि में आते हैं अर्थात् शुभ या अशुभ विचार तथा निश्चय सबसे पहिले बुद्धि में आते हैं फिर मन की प्रेरणा से इन्द्रियों के द्वारा क्रिया के रूप में आकर प्रकट हो जाते हैं। अतएव इन्द्रियों के द्वारा पवित्र व शुभकर्म होने से उसकी शुभ बुद्धि का परिचय मिलता है और अशुभ क्रियाओं के आचरण से बुद्धि की अशुद्धता समझी जाती है। जिस प्रकार वृक्ष की मूल का विकार या गुण वृक्ष भर में फैल कर अन्त में फल के द्वारा प्रकट होजाया करता है। इस नीति से जब तक बुद्धि में खराबी है तब तक शरीर से होने वाले अच्छे कर्म भी विकार युक्त समझे जाते हैं किन्तु सुधार का नम्बर स्थूल से सूक्ष्म की ओर विधानानुसार प्रथम इन्द्रियों से ही आता है तथा सूक्ष्म निरीक्षण एवं सुधार कठिन पड़ता है और स्थूल का सरल होता है।

स्थूल से सूक्ष्म की ओर चलने में सरलता एवं कार्य की सफलता दोनों ही सम्भव हैं। अतएव स्थूल रूप का निर्माण इन्द्रियों का निरीक्षण एवं नियमन है। इन्द्रियों के निर्माण का प्रभाव मन व बुद्धि में भी शुद्धता पहुँचावेगा। यही नियम अर्जुन के प्रति भगवान श्री कृष्ण जी ने प्रकट किया कि—

"तस्मात्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ"

इसलिये अर्जुन तू पहिले इन्द्रियों को वश में कर।

अब इन्द्रियों का चरित्र अथवा विहरण किस किस क्षेत्र में कैसा है यह पता लगाना है। अर्थात् इन्द्रियों से क्या-क्या करते हैं और क्या करना चाहिये। इसकी पहिचान करनी आवश्यक है। किस इन्द्रिय का क्या चरित्र है उस चरित्र में कितने अंश तक शुद्धता है जितना अशुद्ध है उतना निकाल दिया जाय और उस स्थान की पूर्ति की जावे। कानों से ईश्वर व गुरुजनों की निन्दा व्यर्थ की परचर्चा तथा अश्लील शब्द न सुनें बल्कि भगवत् गुणानुवाद, कथा, अध्यात्म सम्बन्धी बातें, वीर महापुरुषों के चरित्र तथा दुःखी प्राणियों की बातें सुने। त्वचा से उत्तेजक कोमल वस्त्र, फैशन की वस्तुओं का त्याग करें वरन शुद्ध सात्विक सादे मोटे वस्त्र तथा माता-पिता गुरुजनों के चरणों का स्पर्श करें। नेत्रों से मन में दूषित भाव उत्पन्न करने वाले दृश्य सिनेमा व बुरा साहित्य आदि न देखकर, भगवद्विग्रह एवं महापुरुषों के दर्शन करें। ऐसे चित्र व स्थान जिससे हृदय में बैराग्य धर्म की भावनायें जाग्रत हों, और अध्यात्म-ज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थों का स्वाध्याय करें

जिह्वा से स्वास्थ्य तथा मन को हानि पहुँचाने वाले उत्तेजक, तमोगुणी, भक्ष्याभक्ष्य (मांस अंडा, प्याज, मछली लहसन आदि) सिगरेट, बीड़ी, तम्बाकू

चरित्रबल की अद्भुत शक्ति
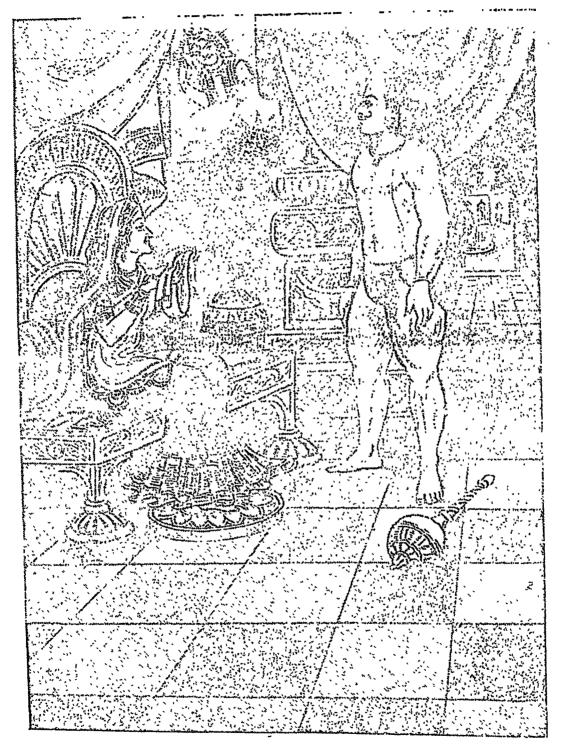
गांधारी ने निज चरित्र से नेत्र शक्ति ऐसी पाई,
'दृष्टि मात्र से वज्र देह हो' दुर्योधन ने सुन पाई।
चला मार्ग में माधव बोले-'कहाँ चले नंगे कुरुराज !'
माता ढिग? कौपीन पहन लो ! पहनी,—बिगड़ा उसका काज॥

भाँग, शराब आदि नशे का सेवन कटु, असत्य शब्दों का प्रयोग न करके, सतोगुणी, पवित्र भगवत प्रसाद का सेवन तथा सत्य, प्रिय व हितकारी शब्दों का प्रयोग, नाम-जप मन्त्र व स्तोत्र का उच्चारण करें। नासिका से इत्र आदि का त्याग करें—शुद्ध हवन धूप आदि तथा भगवत अर्पित फूल माला, इत्र आदि प्रसाद की सुगंधि से सन्तुष्ट रहें। हाथों के द्वारा किसी को कष्ट न पहुँचावें। जुआ, ताश आदि न खेलें तथा देव गौ, माता-पिता गुरुजनों व दीन दुखियों की सेवा, भगवत पूजा, दान व स्थान आदि की सफाई के काम में आवें। पैर शराब व वेश्यालय आदि की ओर न जावें फैशनेबिल गौ आदि को मार कर बनाये गये चमड़े वाले जूते चप्पल न पहिनें, बल्कि पुण्य तीर्थ भगवतधाम, सतसंग-स्थल व परोपकार अर्थ गमन करें। इस प्रकार इन्द्रियों के निर्माण से मन व बुद्धि भी शुद्ध हो चलेंगे जैसे कि रिक्से का अगला पहिया जिधर मुड़ता है उधर ही पिछले वाले भी पहिये चलना स्वीकार कर लेते हैं। यह चरित्र (इन्द्रिय) निर्माण पिछले अदृश्य अशुभ संस्कारों को समाप्त करता हुआ जीवन को अभ्युदय की ओर ले जावेगा तथा मन व बुद्धि का भी निर्माण हो जाने पर जगत के परिवर्तन में अपनी इच्छा का अभाव (जैसा होता हुआ करे) व संस्कारों की समाप्ति होकर उस सत्य जाग्रत चिद् स्वरूप का दर्शन होगा जो कि सर्वदा से आनन्द रूप एक रस चुप सा रह रहा है।

चरित्र-निर्माण की अद्भुत प्रेरणा

थर्ड क्लास के छोटे से कम्पार्टमेंट में, शुद्ध मोटी खादी का कुरता, घुटनों तक चढ़ी खद्दर की धोती और खद्दर की ही पगड़ी बाँधे एक तेजस्वी भद्र पुरुष तन्मयता से अखबार पढ़ने में तल्लीन थे। ट्रेन अपनी रफ़्तार से चली जा रही थी। डब्बे में दो तीन सज्जन और बैठे थे। तब लीग का जमाना था, धर्मान्धता और साम्प्रदायिकता का विषैला प्रचार मुसलमानों में घृणा और हिंसा की भावनाओं को उभार रहा था। काफ़िर को हिकारत की नजर से देखने वाले एक कठमुल्ला भी उसी डब्बे में सवार हुए। मुल्ला जी को खाँसी आई और उन्होंने खखार कर फर्स पर थूक दिया।

"भाई ! बाहर थूकते तो अच्छा था।" अखबार से आँखें हटाकर बड़ी नम्रता से उन भद्र सज्जन ने, मिन्नत सी करते हुए, उन मुल्ला से कहा।

'एक काफ़िर उन्हें टोक रहा है ! इतनी जुर्रत!!" मियाँ जी मन ही मन तिलमिलाये और अपनी तौहीन को जोर से खाँस-खखार कर फिर थूक दिया वहीं पर, और फिर आँख-भौंह टेढ़ी करके चुनौती की भावना से उनकी ओर देखा, आँखें कह रहीं थीं—"क्या कर लोगे तुम मेरा ?"

वे सौम्यमूर्ति किंचित मुस्कराते हुए उठे, उन्होंने अखबार फाड़कर, मौलाना का थूक पोंछा और खिड़की से बाहर फेंक दिया।

अपनी नफ़रत को भीतर से बाहर प्रकट करने के लिये उसने दो तीन बार खाँसी आने पर पुनः फर्श पर ही थूका। मौन-गम्भीर होकर वे सज्जन प्रत्येक बार उसकी हठधर्मी को काग़ज़ से बार-बार पोंछ-पोंछ कर खिड़की से बाहर फेंकते रहे।

गन्तव्य स्टेशन आगया। प्लेटफार्म पर सहस्रों की संख्या में जनता एकत्रित थी। "महात्मा गाँधी की जय" के तुमुल घोष के साथ ट्रेन रुकी। मियाँ जी को भी यहीं उतरना था। उसने आश्चर्य, भय और पश्चात्ताप की भावनाओं से आँखें फाड़-फाड़ कर देखा कि जिसे उसने काफ़िर समझा वे तो संसार पूज्य "गाँधी जी निकले" हाय ! हाय !! मैंने बहुत बड़ा गुनाह किया। "या खुदा ! मुझ पर लानत है" कहते-कहते आँखों से आँसू की धारें बहाते वे मौलाना, सबके सामने, प्लेटफार्म पर महात्मा गाँधी के चरणों में लिपट गये।"

'मुझे माफ़ कर दीजिये, मुझे माफ़ कर दीजिये" —वे फूट-फूट कर रो रहे थे। उन्हें अपने हाथों से उठाकर, हृदय से लगाते हुए उस युगावतार महापुरुष ने कहा—मेरे भाई ! तुमने कोई अपराध नहीं किया। तुम्हें अगर 'माफ कर दिया' कह देने से तसल्ली मिलती है तो मेरी माफ़ी यही है कि ऐसा मौका जब कभी तुम्हारे सामने आजावे तो तुम भी वही करना जो मैंने किया और दूसरी बात यह कि कभी किसी से नफ़रत न करना क्योंकि हम सब उस एक ही मालिक के बन्दे हैं।

इस अनोखे दृश्य से जन-समूह द्रवित हुआ और उसे चरित्र-निर्माण की एक अद्भुत प्रेरणा मिली। (राम०)

आचरणीय सन्देश

(साधु वेष में एक पथिक)

बाल्यावस्था वही उत्तम है जो निरर्थक क्रीड़ाओं एवं संग दोष वश व्यसन-वासनाओं की पूर्ति में ही भ्रष्ट न होकर विद्याध्ययन में सार्थक हो।

युवावस्था वही उत्तम है, जिसकी शक्ति से सद्गुणों का विकास हो, सद्ज्ञान का सुन्दर प्रकाश हो, सदाचार की ही रक्षा हो, और धर्म-पथ में चलते हुए सत्यानन्द घन प्रियतम की प्राप्ति ही लक्ष्य हो। अशुभ कर्मों की ओर प्रेरित हुई इन्द्रियों का दमन हो, दुर्विकारों का शमन हो तथा विषयों का वमन हो और शुभ कर्मों के लिये ही सदा तत्पर मन हो; जिसकी शक्ति से विषय वासनाओं के पथ में चंचल हुए मन का निरोध हो, स्वेच्छाचारिता का विरोध हो।

वृद्धावस्था वही उत्तम है जिसमें सांसारिक पदार्थों के प्रति मोह ममता का त्याग हो, केवल परमात्मा में ही अटल अनुराग हो, ऐहिक सुख-भोगों की तृष्णा पर क्रोध हो, वहिर्वृत्तियों का अवरोध हो और सत्यासत्य का यथार्थ बोध हो।

बल वही उत्तम है जो निर्बलों, असहायों की सहायता करने में शूर हो जिससे आलस्य तथा भय सर्वदा दूर हो! संयम जिसके साथ में हो, इन्द्रिय रूपी घोड़ों की मन रूपी लगाम जिसके हाथ में हो, इसके साथ ही जो बुद्धिमान् हो और निरभिमान हो।

धनवान वही उत्तम है जो कृपण न होकर दानी हो, उदार हो, जिसके द्वारा धर्मपूर्वक न्यायोक्त व्यापार हो, जिसके द्वार पर अतिथि का समुचित सत्कार हो, दीन दुखियों का सदा उपकार हो, जिसके यहाँ विद्वानों एवं साधुओं का सम्मान हो, जो स्वयं अति सरल और मतिमान हो।

बुद्धिमान वही उत्ताम है जिसमें अपने माने हुए ज्ञान से निराशा हो, यथार्थ सत्य को जानने की सच्ची जिज्ञासा हो, सद्गुरुदेव के प्रति पूर्ण निर्भरता हो और उन्हीं की आज्ञा पालन में सतत तत्परता हो।

ज्ञानी वही उत्तम है जिसकी बुद्धि से प्रवृति पोषक अज्ञान दूर हो, निवृति द्योतक भक्ति भरपूर हो, भव भ्रान्ति नष्ट हो, परमशान्ति स्थिर और स्पष्ट हो, जिसके जीवन में मुक्ति विद्यमान हो, जो क्रोध, अभिमान माया आदि सद्गुणों के सहित हो जिसके समीप शान्ति का वास हो, जिसके शब्द से भ्रन्ति का नाश हो, जो पूर्ण त्यागी वीतरागी हो और परमात्मा का ही अटल अनुरागी हो।

प्रेमी वही उत्तम है जो आनन्दघन प्रियतम में सदा योगस्थ रहे और संसार प्रपञ्च से सदा तटस्थ रहे। जहाँ प्रेमास्पद का स्वभावतः सतत ध्यान रहे, अपनी सुध-बुध में उन्हीं का गुणगान रहे और प्रत्येक दशा में "वही एक अपने हैं" केवल यही अभिमान रहे।

बुद्धिमान मनुष्यों! यदि आप वास्तव में परम शान्ति चाहते हैं यदि आप लाखों वर्षों से पूरे न होने वाले कार्य को इस जीवन के कुछ वर्षों में महीनों में पूरा करना चाहते हैं, तो संत-सद्गुरु की शरण में रह कर उनकी आज्ञानुसार कर्त्तव्यों का पालन कीजिये। उनके शब्दों को सुनिये, ध्यान दीजिये, मनन कीजिये। यदि आप परमार्थ के पथ में रुकना नहीं चाहते हैं तो संसार के तुच्छ पदार्थों में सुख न मानिये, क्योंकि उन सुखों से ही सब प्रकार के दुःख उत्पन्न होते हैं।

आप अपने परम लक्ष्य को भूलते हुए कभी प्रमादी न बनिये क्योंकि इससे विपरीत ज्ञान के

कारण कुपथ में पतन होता है। आप नियमित निद्रा तथा विशेष आहार को भी स्थान न दीजिये। क्योंकि इससे तमोगुणी भावों का पोषण होता है और दूषित द्रव्यों का सञ्चय होकर व्याधि उत्पन्न होती है।

आप इन्द्रियों के विषयों में भी सुखासक्त न होइये। क्योंकि विषयाशक्ति ही विरक्ति नहीं होने देती है; और विषय विरक्ति के बिना सत्यानुरक्ति नहीं होती। जहाँ पर आप का मान बढ़ रहा हो, जन समुदाय की ओर से प्रतिष्ठा और देश में ख्याति बढ़ रही हो, वहीं से आप इन सब बातों के प्रति उदासीन रहते हुए किसी को महत्त्व ही न दीजिये। क्योंकि अपनी प्रतिष्ठा ख्याति आदि को महत्व देने से आप उस सर्वोपरि महान् प्रभु की महिमा का दर्शन न कर सकेंगे।

आप इस संसार की प्रभुता एवं सुन्दरता और स्त्रियों के प्यार मनुहार में मुग्ध होकर उनके भोगी न बनिये। क्योंकि भोगी को सत्य के योग की प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है।

परमार्थ के पथ में चलते हुए उन व्यक्तियों की निन्दा न कीजिये जो सन्मार्ग में नहीं चल रहे हैं। किसी को तुच्छ समझकर उससे घृणा न कीजिये। क्योंकि यह सब क्षुद्र अभिमान की पोषक बातें हैं। जो वास्तव में सच्चा और भला मनुष्य है वह दूसरों की निन्दा नहीं करता।

क्षुद्र प्रवृति के अभिमानी व्यक्ति परमार्थ के पथ में शान्तिपूर्वक यात्रा नहीं कर सकते।

किसी को कर्त्तव्य विमुख एवं तुच्छ समझकर जो कोई उससे घृणा करता है वह अवश्य ही अपनी श्रेष्ठता, महत्ता का अभिमानी है। इसीलिये जाग्रत पुरुषों की यही सम्मति है कि:—

"जो मन भावे सो करे भलो बुरो संसार।
नारायण तू बैठि के अपनो भवन बुहार॥"

आप अपने मन में सद्भावों की अभिवृद्धि के लिये सभी से विनीत होकर सार्थक व्यवहार, वार्तालाप कीजिये।

यदि आप सरलतापूर्वक विनयभावयुक्त आचरण रक्खेंगे तो आपकी बुराई करने वाले तब तक आपकी हानि नहीं कर सकते जब तक आप उनसे द्वेष भाव रखकर बदला लेने को तत्पर न हो जावे।

यदि आप अपने विनय भाव एवं सहनशीलता और क्षमा के व्रत पर अविचल धैर्यपूर्वक स्थिर रहेंगे तो कुछ दूर पर आपको अनुभव होगा कि अदृश्य शक्ति किस प्रकार आपकी सहायता करती है।

ध्यान रहे जहाँ पर आपको ईर्ष्या द्वेष अथवा क्रोध आता है, जहाँ पर आपको सम्मान या अपमान प्रतीत होता है, वही आपकी उन्नति का शुभ अवसर है। इन्हीं अवसरों पर सावधान होकर आप अपने दुर्गुणों को मिटाकर, सद्गुणों को सबल कर सकते हैं। आसुरी स्वभाव के अभ्यास को दैवी स्वभाव के अभ्यास द्वारा ही मिटाया जा सकता है अतः जहाँ दुर्गुणों के उत्पन्न होने का अभ्यास है वहाँ उनको दबाने का अभ्यास कीजिये; सद्गुण स्वयमेव सबल हो जायेंगे।

सद्गुण ही बुद्धिमानों की अलौकिक सम्पत्ति है, यही उनकी दिव्यशक्ति है।

यदि आपकी प्रवृत्ति क्षुद्र है, नीच कोटि की है तो दूसरों से सम्मान पाने में, दूसरों से सेवा लेने में और दूसरों के शासनाधिकारी होने में आपको अत्यधिक सुख प्रतीत होगा। यदि आपकी प्रकृति महान है, उच्चकोटि की है तो दूसरे को सम्मान देने में, दूसरों की सेवा करने में तथा सुखाधिपत्य के त्याग में ही आपको आनन्द प्राप्त होगा।

यदि आप सहनशीलता और क्षमा के द्वारा

अपने अपमान करने वाले की निन्दा व हानि न सोचेंगे तो आप में तप, बल और तेज की वृद्धि होगी। सहनशीलता और क्षमा रूपी सद्गुण किसी बुद्धिमान तपस्वी में ही मिला करते हैं, सब में नहीं।

जैसे-जैसे अहंकार घटता है वैसे-वैसे-ही मनुष्य में सहनशीलता और क्षमा-भाव की वृद्धि होती जाती है। जितना अधिक अहंकार मनुष्य में बढ़ा हुआ होता है अपनी प्रतिकूलता में उतना ही वह बुरा मानता है, क्रोधित होता है और अपमानित होने पर उतना ही अधिक दुःख होता है। घमण्डी पुरुष बहुत ही परतन्त्र होता है, वह दूसरों पर अधिक अवलम्बित रहता है और प्रशंसा को अमृत की तरह पीता है। तभी निन्दा विष की भाँति लगती है।

विनय भाव धारण करने से परम योग्यता की प्राप्ति होती है। प्रत्येक गुण की नींव विनय है। दूसरों की बुराई न करना उच्च कोटि की सभ्यता है। मन के मौन होने में ही यथार्थ शान्ति है।

पवित्र हृदय कोमलता, दया एवं प्रेम से परिपूर्ण होता है इसलिये उसमें ईर्ष्या द्वेष के लिये स्थान नहीं रहता।

दूसरे के वचनों से जब तक आपकी प्रकृति दुःखी होती है तब तक यही समझो कि आपकी प्रकृति में अभी निर्बलता है, अपवित्रता है और आत्मसंयम अथवा दमन का अभाव है। यदि दूसरे व्यक्ति अपने कर्मों को भलीभाँति नहीं करते तो उनकी सहायता करो। दूसरा यदि तुम पर व्यंग आक्रमण करे तो तुम उस समय मौन साध जाओ दूसरों के लिये ऐसे वचन नहीं निकालो जिससे उनको दुःख हो और अश्रु बरसें।

मूर्ख में नम्रता नहीं होती इसीलिये उसमें ज्ञान होता और अहंकार से उन्मत्त होकर अकर्णीय कार्यों को करते हुए अपने ऊपर पाप भार को लादता जाता है अन्त में महादुःख को प्राप्त होता है।

यदि आप अपने दैनिक व्यवहारों तथा क्रियाओं में सद्विवेक द्वारा दया, क्षमा, सहनशीलता, धैर्य, नम्रता और प्रेम के ही भाव को चरितार्थ करते हैं तो बाहर से साधारण श्रेणी के अकिंचन व्यक्ति होते हुए भी आप वास्तव में आदर्श सच्चरित्र सम्पन्न महापुरुष हैं। इसके प्रतिकूल जो व्यक्ति ऐश्वर्य, प्रभुता एवं ऊँची-ऊँची उपाधियों तथा बड़े-बड़े माननीय पदों के अभिमानी होकर भोगी हैं जो अपने ही स्वार्थ सुख के लोभी हैं जो दयाहीन तथा क्रोधी हैं जो सत्य-धर्म एवं सत्कर्म और सत्य ज्ञान से रहित हैं अथवा विरोधी हैं वे तुच्छ प्रकृति के मनुष्य हैं।

यदि आप अच्छी से अच्छी और सुन्दर वस्तुओं के न मिलने पर भी सदा सन्तोषी हैं, और अपने पास होने पर दूसरों को देने में सदा उदार हैं तो निर्धन होते हुए भी आप आदर्श धनी व्यक्ति हैं जब कि अनेकों धन के गुलाम, कंजूस होने के कारण करोड़पति होते हुए भी दरिद्र हैं। वास्तव में ऐसे ही व्यक्ति उदार न होने के कारण धनी होते हुए भी निर्धन हैं।

यदि आप निरभिमान होकर सरलता तथा दीनता पूर्वक सेवा भाव से संसार में रहते हुए परमात्मा का चिन्तन एवं सन्तसद्गुरुदेव का सत्संग करते रहेंगे तो आपको कहीं भी रुकावट नहीं हो सकती।

अपने परम लक्ष्य की ओर बढ़ते हुए शक्ति और समय को व्यर्थ की चेष्टा में व्यर्थ बातों में कभी नष्ट न कीजिये। अपने सामयिक कर्त्तव्य को जिसकी पूर्ति के साधन सामने प्रस्तुत हों किसी तरह की टाल मटोल किये बिना पूरा करते चलिये।

आवेश में आकर, उत्तेजित होकर बहुत शीघ्रता भी न कीजिये। वह जल्दबाजी किस काम की जो सफलता न होने देकर थकावट से गिरा दे, इसलिये जब छलाँग मारने का स्थान दूर हो तो पहिले से ही उछल कूदकर उस स्थल में पहुँचते पहुँचते अपने को थका न डालिये।

आप रात्रि में तभी सुख की नींद सो सकते हैं जब दिन में अनाचार भ्रष्टाचार, व्यभिचार कुविचारयुक्त कुकर्मों से बचे रहकर केवल सदाचार धर्माचार, सुविचारयुक्त सुकर्मों को ही स्थान देते हैं, इसी प्रकार आप मृत्यु के बाद तभी परम शान्तिमय अवस्था प्राप्त कर सकते हैं जब इस अज्ञान अभिमान से भरे हुए देहासक्त, सत्य से नितान्त विमुख जीवन में, अभिमान रहित होकर सद्ज्ञान एवं परमात्म ध्यान की स्थिति को प्राप्त करते हुए पूर्ण विरक्त और सत्य भक्त हो जायेंगे।

आप सन्तों के हजारों उपदेशों को पढ़ें, सुनें लेकिन उनसे वास्तविक लाभ तभी होगा, जब आप उन्हें मनन करेंगे और व्यवहार में चरितार्थ करेंगे फिर चाहे वे दो चार वाक्य ही क्यों नहीं, उनपर आचरण करने से ही परमहित होगा।

आप सदा पठन करने की अपेक्षा, उपदेशों के मनन करने में ही ध्यान दें और शीघ्र फलाफल से व्यग्र न होकर अटूट धैर्य से साधन संयम में कटिबद्ध रहें।

नियम पूर्वक किया हुआ काम सुन्दरता एवं शीघ्रता से होता है और अभीष्ट सिद्धि देते हुए आनन्द का कारण होता है। आप महात्मा होना चाहते हैं तो सद्गुरु-सत्पुरुष की शरण में रहकर सदा सेवा भाव से परहित बुद्धि पूर्वक जीवन बिताइये। सद्धर्म का आश्रय लेकर आहार विहार मर्यादा में रखकर सद्शास्त्र के सिद्धान्तानुसार सन्तों के बताये हुए लक्ष्य पर सदा दृष्टि रखिये। प्राणियों के साथ बर्ताव में बालकवत् सरल बन जाइये लेकिन ज्ञान में तो वृद्ध ही होके रहिए।

क्या-क्या बीत गया ? और आगे कैसे, क्या होगा, इसका मनन चिन्तन न कीजिये, जो कुछ सामने हो उसे देखिये और कर्त्तव्य कर्मों को पूरा करते चलिये। जो वर्तमान कर्तव्यों में पूर्णतया नहीं लगा हुआ है वह भूत भविष्य के चिन्तन, मनन में अपने समय का अपव्यय करता है। जो वर्तमान को देखता है उसे भूत भविष्य याद नहीं आता।

वास्तव में मानव जीवन के साथ दैवी और आसुरी दोनों प्रकार की प्रवृति होती है। इन दोनों में जिस किसी एक का पक्ष लिया जाता है वही प्रबल होजाती है। अतः आप दैवी प्रकृति के सद्भावों का ही निरन्तर पक्ष लेते रहें; अहंकार, अपनी प्रशंसा और क्रोध का त्याग करें।

जिनके हृदय पवित्र हैं जिनके साथ ज्ञान रूपी प्रकाश है वे क्रोध, रोष, अधीरता और चिड़चिड़ापन आदि दोषों से रहित होते हैं। क्योंकि यह दोष दुर्बल और अयोग्य पुरुषों में रहते हैं।

यदि आप साधारण मनुष्य से देवता होना चाहते हैं, तो प्रत्येक प्राणी के लिये शान्ति और रक्षा के विचार रक्खें चाहे वह आप का शत्रु ही क्यों न हो।

कछु कहि नीच न छेड़िये, भलो न वाको संग।
पत्थर डारो कीच में, उछरि बिगारै अंग॥

संत की अनोखी सूझ

किसी नगर में एक बड़े शीलवान सुन्दर-स्वस्थ नौजवान संत रहा करते थे। 'सादे रहन-सहन एवं चरित्रवान्' होने तथा नगरनिवासियों की हारी-बीमारी, दुःख-दर्द में सदैव तत्परता से सेवा करते रहने के कारण उन्होंने सब लोगों के हृदयों पर अधिकार प्राप्त कर लिया था। एक दिन वे कहीं जारहे थे। एक धनीमानी सेठ की सुन्दरी नवयुवती कुलटा स्त्री उनके तेजस्वी-तन्दुरस्त रूप पर मोहित होगयी। अपनी कुत्सित मनोरथ-पूर्ण करने के लिये उस कुलटा ने अपनी दासी को भेजकर उन्हें भिक्षा के बहाने अपने भवन में बुला लिया। संत के भीतर आजाने पर उसने मकान का दरवाजा भीतर से बन्द करके ताला लगा लिया और अपना मनोरथ-पूर्ण करने के लिये उनसे अनुनय-विनय करने लगी। धन-दौलत, वस्त्र-आभूषण, सेवा-सत्कार आदि सभी प्रकार के प्रलोभन से भी जब वे नहीं डिगे तो उसने अन्तिम अस्त्र का प्रयोग लिया। उसने उन्हें धमकी दी कि—

"यदि तुम मेरा कहना नहीं मानोगे तो मैं चिल्ला कर सभी मुहल्ले वालों एवं कुटुम्ब-परिवार वालों को एकत्रित कर लूँगी और "जबरन घर में घुसकर यह ढोंगी बलात्कार करना चाहता था" ऐसा कहकर तुम्हारी—प्रतिष्ठा को धूल में मिला दूँगी।"

अब तो '*भइ गति साँप छछुन्दर केरी*'' की स्थिति होगई क्योंकि नागरिकों के सामने इस प्रकार अपमानित होना भी मरण-तुल्य था और चरित्र से पतित हो जाना तो मरने से भी बढ़कर। उन्होंने अपने इष्ट-पूज्य गुरुदेव का स्मरण किया तो एक युक्ति समझ में आगई। उन्होंने मुस्कराते हुए उससे कहा—

"अच्छा देवी! जब तुम विवश ही कर रही हो तो—लो मैं तैयार हूँ।"

बस अब क्या था वह खिल गई और शीघ्र ही सारी तैयारी करने लगी। जब सब तैयारी होगयी तो यकायक वे सन्त बोले—"देवी! मुझे बड़े जोर से टट्टी लगी है। पहले मैं शौच हो आऊँ।"

कुलटा ने सोचा—यदि दरवाजा खोलकर बाहर शौच फिरने जाने दिया तो क्या पता ये लौटे कि नहीं? इसलिये उसने ताला तो खोला नहीं, भीतर के शौचालय की ओर संकेत करते हुए कहा—"तो आप उस टट्टी में चले जाइये।"

संत उसमें घुस गये। उन्हें टट्टी-सट्टी तो जाना था ही नहीं—उन्हें तो अपने चरित्र की रक्षा करनी थी—अतः उन्होंने टट्टी में की टट्टी (मैला) हाथ से उठा-उठाकर अपने सारे शरीर पर लेप कर ली और—

"मैं बिल्कुल तैयार हूँ देवी! अब जल्दी करो" —कहते हुए वे मनुष्य के गोबर का लेपन किये हुए निकले टट्टी के बाहर।

उसने उनकी ओर देखा और देखती की देखती ही रह गई। महात्मा की उस क्रियात्मक शिक्षा से उसकी हृदय की आँखें खुली गईं और "क्षमा करो भगवन्! मैं बड़ी पापिनी हूँ। मैंने आपको पहचाना नहीं आप वास्तव में संत हैं। कहते कहते अश्रु पूर्ण नेत्रों सहित उनके चरणों में गिर पड़ी। (आनन्द)

अपने दोष ?

कैसे देउँ नाथहिं खोरि
काम-लोलुप भ्रमत मन हरि भगति परिहरि तोरि ॥१॥
बहुत प्रीति पुजाइबे पर, पूजिबे पर थोरि।
देत सिख सिख यो न मानत, मूढ़ता असि मोरि ॥२॥
किये सहित सनेह जे अघ हृदय राखे चोरि।
संग-बस किये सुभ सुनाये सकल लोक निहोरि ॥३॥
करौं जो कछु धरौं सचि-पचि सुकृत-सिला बटोरि।
पैठि उर बरबस दयानिधि दंभ लेत अँजोरि ॥४॥
लोभ मनहिं नचाव कपि ज्यों, गरे आसा-डोरि।
बात कहौं बनाइ बुध ज्यों, वर विराग निचोरि ॥५॥
एतहुँ पर तुम्हरो कहावत, लाज अँचई घोरि।
निलजता पर रीझि रघुबर, देहु तुलसिहिं छोरि ॥६॥

भावार्थ—स्वामी को कैसे दोष दूँ ? हे हरे ! मेरा मन तुम्हारी भक्ति को छोड़कर कामनाओं में फँसा हुआ इधर-उधर भटका करता है ॥१॥ अपने पुजाने में तो मेरा बड़ा प्रेम है, (सदा यही चाहता हूँ, कि लोग मुझे ज्ञानी भक्त मानकर पूजा करें;) किन्तु तुम्हें पूजने में मेरी बहुत ही कम प्रीति है। दूसरों को तो खूब सीख दिया करता हूँ, पर स्वयं किसी की शिक्षा नहीं मानता। मेरी ऐसी मूर्खता है ॥२॥ जिन-जिन पापों को मैंने बड़े अनुराग से किया था, उन्हें तो हृदय में छिपाकर रखता हूँ। पर कभी किसी अच्छे संग के प्रभाव से (बिना ही प्रेम) मुझसे जो कोई अच्छे काम बन गये हैं, उन्हें दुनिया को निहोरा कर-कर सुनाता फिरता हूँ। भाव यह कि मुझे कोई भी पापी न समझकर सब लोग बड़ा धर्मात्मा समझें ॥३॥ कभी जो कुछ सत्कर्म बन जाता है उसे खेत में पड़े हुए अन्न के दानों की तरह बटोर-बटोरकर रख लेता हूँ, किन्तु हे दयानिधान ! दम्भ जबरदस्ती हृदय में घुसकर उसे बाहर निकाल फेंकता है। भाव यह है कि दम्भ बढ़कर थोड़े-बहुत सुकृत को भी नष्ट कर देता है ॥४॥ इसके सिवा लोभ मेरे मन को आशारूपी रस्सी से इस तरह नचा रहा है, जैसे बाज़ीगर बन्दर के गले में डोरी बाँध कर उसे मनमाना नचाता है। (इतने पर भी मैं दम्भसे) एक बड़े पण्डित की नाई परम वैराग्य के तत्त्व की बातें बना-बनाकर सुनाता फिरता हूँ ॥५॥ इतना (दम्भी) होने पर भी मैं तुम्हारा (दास) कहाता हूँ। लाज को तो मानो मैं घोलकर ही पी गया हूँ। हे रघुनाथ जी ! तुम उदार हो; इस निर्लज्जता पर ही रीझकर तुलसी का बन्धन काट दो। (मुझे भव-बन्धन से मुक्त कर दो) ॥६॥

(विनय पत्रिका)

आत्मोन्नति में विश्वास की आवश्यकता

(श्री स्वामी एकाक्षरानन्द जी सरस्वती महाराज)

कहता तो सब जग मिला गहता मिला न कोय ।
गहता भी सन्देह करि तो कभी पूर्ण ना होय ।।

आज संसार में ज्ञान की कमी नहीं, सभी अपने को ज्ञानी होने का दावा करते हैं । दूसरों की कमी बता सकते हैं, उन्हें उपदेश भी दे सकते हैं, किन्तु अपनी कमी नहीं देख पाते, अपने को उपदेश नहीं कर पाते । संसार में कमी है तो केवल इसी बात की कि उनके पास जो ज्ञान है, वह मानों दूसरों को लिये ही है, अपने लिये नहीं । यही कमी मनुष्य को उन्नति शील नहीं होने देती बल्कि बराबर पतन की ओर

लेजाती है । वैसे तो प्राणीमात्र सुख की खोज में हैं । और सबकी सारी क्रियाएँ उसी की पूर्ति के लिये हुआ करती हैं । जैसे मनुष्य से इतर सब योनियों का सारा जीवन, भय, निद्रा, मैथुन और भोजन में बीतता है । इन्हीं चारों बातों में वह अपने २ जीवन के सुख का अनुभव करते हैं तथा इसी प्रकार मनुष्य का जीवन बन गया है । यद्यपि उसको किसी-किसी मौके पर यह ज्ञान हो जाता है कि इस संसार के जितने भी व्यवहार हैं, वह सभी सुख से रहित है । संसार का कोई भी भौतिक पदार्थ किसी के किंचित भी सुख का हेतु नहीं, फिर भी इतना भी जानकर—

वही रफ्तार बे ढंगी, जो पहिले थी वह अब भी है ।

कहने का प्रयोजन यह है कि इस ज्ञान को समझ कर भी उससे लाभ नहीं उठाते और यदि उस ज्ञान का थोड़ा भी सहारा लेकर जीवन का निर्माण करें तो जीवन हमारा सुखमय होजावे । यद्यपि यही कमी मनुष्य का अधःपतन करती है, किन्तु इस ओर वह कदापि ध्यान नहीं देता । पशु जैसे अपनी उपरोक्त चार बातों के उपभोग में ही अपना जीवन व्यतीत कर देता है, उसी प्रकार यह पुरुष भी अपने यथार्थ ज्ञान को भुलाकर पशुवत् जीवन बिताता है और जिस ज्ञान को वह दूसरों के प्रति कहता है स्वयं उसको धारण नहीं करता । कुछ ऐसे भी हैं जो कुछ कहते हैं उसको अंशतः धारण भी करते हैं, किन्तु फिर भी उस विश्वास के साथ उसको धारण नहीं करते हैं जिससे उन्हें उस धारणा क्रिया का पूरा पूरा लाभ हो सके । परिणाम यह होता है, कि लाभ न होकर कुछ समय पश्चात् उनकी धारण क्रिया का भी अन्त हो जाता है । और जिस ज्ञान के आश्रय पर उन्होंने सुखी होने का अनुमान लगाया था वह उसके हृदय से तिरोहित हो जाता है, जैसे सुग्रीव का विश्वास भगवान् पर पूरा पूरा न होने के कारण विभीषण की तरह लाभ नहीं उठा सका । कहाँ तो विभीषण जिस समय भगवान् के पास पहुँचता है तो "जातहिं राम तिलक तेहि सारा" किन्तु सुग्रीव को ऐसा नहीं किया । क्यों नहीं किया ? इसी लिये नहीं किया कि विभीषण की तरह सुग्रीव को विश्वास नहीं था । यद्यपि उस समय सुग्रीव को भ्रम हो गया कि कहाँ तो हमने भगवान् से—

"पावक साखी देइ करि जोरी प्रीति दृढ़ाय"
"कीन्हि प्रीति कछु बीच न राखा"

अथवा फिर भी भगवान ने हमारे साथ ऐसा नहीं किया और विभीषण को आते ही लंका के राज का तिलक कर दिया । ऐसा मन में विचार करके कहा कि "महाराज यह तो आपने बड़ा

सुन्दर किया किन्तु इसमें थोड़ा सा सन्देह है" भगवान् ने कहा कि देखो—सन्देह ही पुरुष को अपूर्ण बना देता है। सुग्रीव बोला कि सन्देह यह है कि आपने अपना स्वभाव बतलाया—

जो नर होय चराचर द्रोही।
आवे सभय शरण तकि मोही।।
तजि मद मोह कपट छल नाना।
करहुँ सद्य तेहि साधु समाना।।

सो महाराज विभीषण आया तब तो आपने उसे लंका का राज्य देदिया और कहीं आपके इस स्वभाव का पता रावण को लग गया और वह भी शरण में आ गया तब आप उसको क्या देंगे? क्यों कि मुझे भी आपने राज्य ही दिया।

भगवान बोले प्रिय सुग्रीव! तुम ठीक कहते हो पहिले जब तुम मिले तो तुमको मेरा विश्वास नहीं था न तो हमारे बल का न हमारी शक्ति का और न त्याग का ही। अतएव उस समय तुम्हारे में विश्वास स्थापित करने के लिये वैसी ही क्रिया की गयी तथा वैसी ही हमने अपनी शक्तियाँ दिखाई। जब तुमको मुझमें विश्वास हो गया। तभी बाली को मारकर तुमको राज तिलक करा दिया। यदि इसी प्रकार विश्वास समन्वित होकर रावण आवे तो सुग्रीव! लंका तो मैं विभीषण को दे ही चुका हुँ। रावण को मैं अयोध्यापुरी का राज्य सौंप दूँगा और मैं इसी वेश में अपना जीवन वन में निवास करके व्यतीत करदूँगा—किन्तु हो विभीषण की तरह विश्वास। आप जानते हैं कि विभीषण ने अपना सा विश्वास रावण के हृदय में स्थापित करने का कितना प्रयास किया था किन्तु फिर भी उस रावण को विश्वास नहीं हुआ और अपने निश्चय के अनुकूल कि कहीं राजा के लड़के हम को मार सकते हैं? मेरी विजय अवश्य होगी। और कदाचित भगवान का अवतार ही हुआ तब भी हमारा कल्याण ही होगा। इस सन्देह के कारण ही रावण ने विभीषण का कहना नहीं माना वरन लात मारकर घर से निकाल दिया फिर भी चलने के समय विभीषण ने भी कहा कि—

तुम पितु सरिस भलेहि मोहि मारा।
राम भजे हित होय तुम्हारा।।

किन्तु भला देखो तो विभीषण को कितना विश्वास है। इस विश्वास के कारण ही भगवान् ने विभीषण का आते ही राज तिलक करदिया यद्यपि सुग्रीव की ऐसी राय नहीं थी। इन्होंने तो पहिले से ही कहा था कि "आवा मिलन दशानन भाई" दशानन के नाम लेने से और कोई प्रयोजन नहीं था कि रावण से भगवान् का विरोध है। उस विरोध की स्मृति दिलाने के लिये ही दशानन का नाम लिया गया साथ में यह भी कहा कि—

जानि न जाय निशाचर माया।
काम रूप केहि कारण आया।।
भेद हमार लेन सठ आवा।
राखिय बाँधि मोहिं अस भावा।।"

भगवान ने कहा कोई हर्ज नहीं—

सखा नीति तुम नीकि विचारी।
मम प्रण शरणागत भय हारी।।

शरणागति को जो तजै, निज अनहित अनुमानि।
ते नर पामर पापमय, तिन्हहिं विलोकत हानि।।

कोटि विप्र वध लागहि जाहू।
आएँ शरन तजउँ नहिं ताहू।।

सनमुख होय जीव मोहि जबहि।
जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं।।

और फिर भी भेद ही लेने आया हो—
"तबहुँ न भय कछु हानि कपीसा"

क्योंकि—

जग महुँ सखा निशाचर जेते।
लछिमनु हनइ निमिष महु तेते।।

जौं सभीत आवा सरनाईं ।
रखिहउँ ताहि प्राण की नाईं ॥

इस पर जब विभीषण भगवान के पास लाया गया तो आते ही प्रथम भगवान के चरणों में प्रणाम किया । भगवान ने उठा कर उसको हृदय से लगा लिया । और कुशल प्रश्नोत्तर के बाद विभीषण बोला—

"श्रवण सुयश सुनि आयउँ, प्रभु भंजन भव भीर ।
त्राहि त्राहि आरति हरण, शरण सुखद रघुवीर ॥"

भला विचारो तो जरा उसे कितना विश्वास है । इसी विश्वास के कारण भगवान ने उसका आते ही राजतिलक करदिया था । सुग्रीव को इतना विश्वास नहीं था इस लिये जब बाली को मार दिया तब तिलक किया ।

ऐसा विश्वास जीव का भगवान् के प्रति दृढ़ हो जावे इसी लिये तुलसीदास जी ने रामायण के आदि में विश्वास को दृढ़तर बनाने के लिये ही:—

भवानी शंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ ।
याभ्यां विना न पश्यन्तिः सिद्धाः स्वान्तस्थमीश्वरम् ॥

वस्तुतः विश्वास ही मनुष्य के कल्याण में सहायक है । अविश्वास से तो औषधि में गुण होते हुए भी वह यद्यपि लाभ नहीं पहुँचाती । इस लिये मनुष्य का यह कर्त्तव्य है कि वह जितना जानता है उतना माने और जितना भी माने वह उसी विश्वास के साथ कि इससे हमारा अवश्य कल्याण हो जावेगा । यदि वह ऐसा नहीं करता तो जानने मात्र से उसका यद्यपि लाभ नहीं हो सकता बल्कि उस जानकारी को विश्वास पूर्वक क्रिया रूप में परिणित किया जावे । इसी लिये कहा भी है कि

वाक्य ज्ञान अत्यन्त निपुण, भव पार न पावे कोई ।
निशि गृह मध्य दीप की, बातिन तम निवृत्ति नहिं होई ॥
भोजन षट रस बहु प्रकार कोई, दिन और रैन बखाने ।
बिनु बोले सन्तोष जनित, सुख जो खाइय सो जाने ॥

अतः जितना हम जानते हैं अथवा बखान करते हैं । यदि वह हमारी क्रिया कलाप में नहीं आता तो हम को कुछ भी लाभ नहीं होता । आज हम सन्त सङ्ग करते हैं । सुन्दर सुन्दर ग्रन्थों का अवलोकन करते हैं । किन्तु लाभ कुछ भी नहीं होता । इसका कारण यही कि उन सन्तों के संग को तथा ग्रन्थों की बात को हम धारण नहीं करते । श्रीराम चरित मानस ही एक ऐसा ग्रन्थ है कि उसके अनुसार हम अपनी एक भी रहनी को विश्वास के साथ धारण करलें तो उसी से हमारा कल्याण हो जावे । हम समझते हैं कि यदि विचार की दृष्टि से देखा जावे तो हमने अभी रामायण की तरह उठना भी नहीं सीखा । बैठना नहीं सीखा, चलना नहीं सीखा, बोलना नहीं सीखा । यद्यपि हमने अभी तक रामचरित मानस के पाठ बहुतेरे किये होंगे किन्तु इन पाठों से पाठ करना ही सीखा । यदि इन बातों में से एक भी बात हमारी क्रियात्मक हो जाती तो अवश्य ही हमको पूर्ण लाभ होता । क्योंकि इन उपरोक्त बातों में ऐसी शक्ति है कि इनमें से एक भी बात धारण करली जावे तो फिर सभी बातें उसमें धीरे धीरे आ जातीं हैं । इस प्रकार वह एक दिन अपने में पूर्णता का अनुभव करता है । और बैठे बैठे कहने लगता है । कि:—

कहता तो सब जग मिला, गहता मिला न कोय ।
गहता भी सन्देह करि, तो कभी पूर्ण न होय ॥

अतएव जो बात मनुष्य के चरित्र में आजाती है वही फल दायक होकर उसके कल्याण में सहायक हो जाती है ।

सन्त-कृपा से चरित्र-निर्माण

(रचयिता—श्री 'मञ्जुल' जी)

धन्य-धन्य सत्संग श्रेष्ठ है, धन्य-धन्य हैं संत सुजान।
होता जहाँ मञ्जु मानव का, सुन्दर शुचि चरित्र निर्माण॥
कुम्भ कार-गृह सन्त तहाँ, घट-मानव मञ्जु गढ़े जाते।
चित्रकार हैं चरित चित्र, पट मानव मञ्जु मढ़े जाते॥
नगर सुजानपुर में आये, सन्त सुजानानन्द सुजान।
अपने ज्ञान, ध्यान, तप से जो, करते थे सबका कल्याण॥
प्रातःकाल ध्यान प्रवचन का, था प्रभाव इतना भारी।
सुनने आवें सकल नगर के, वहाँ सहस्रों नर-नारी॥
सुनकर वचन सुजान सन्त के, पलट गई जीवन धारा।
त्याग कुपथ सन्त पथ का, अनुरागी बना नगर सारा॥
एकदिन ध्यान समाप्त हुआ, और चले गये जब सब कोई।
पीछे आर्त-भाव से प्रेमा, सन्त चरण गह कर रोई॥
बोली इस दुखिया अबला को, दुख सागर से पार करो।
पाप पंक से मेरे पति का स्वामिन् अब उद्धार करो॥
चोरी, जुआ, शराब तथा, पर-त्रिय रत हैं कुमार्ग गामी।
बने सुपथ गामी मम स्वामी, कृपा करो ऐसी स्वामी॥
नामी धनिक श्वसुर मेरे हैं, मुरलीधर जी सेठ महान।
दुःखी सदा रहते सुपुत्र के, दुश्चरित्र से पिता सुजान॥
उनका हो दुख दूर और, मम पति का हो चरित्र निर्माण।
युक्ति करो सुख शान्ति मिले कुछ, हम सबका होवे कल्याण॥
बोले सन्त शान्त हो पुत्री, दुखी न हो; मत घबराओ।
श्री हरि विपद हरेंगे बेटी, शरण उन्हीं की बस जाओ॥
चिन्ता कुछ मत करो सवेरे तेरे गृह पर आऊँगा।
श्री हरि कृपा करेंगे, उसको सत्पथ पर मैं लाऊँगा॥
शान्त चित्त हो सती सुप्रेमा, कर प्रणाम घर को आई।
पुनः दूसरे दिवस उधर को, चले सन्त अति सुखदाई॥
लीलाधर उस दिवस जुआ में, हार गया सम्पत्ति सारी।
पत्नी के आभूषण छीने, दुखी बहुत थी बेचारी॥
आये थे वह सभी गँवाकर, लेटे थे वह पाँव पसार।
रोती थी प्रेमा बेचारी, पहुँचे आय सन्त जब द्वार॥

'नारायण हरि' कहा शब्द सुनि, लीलाधर क्रोधित धाया।
बोला दुष्ट कहाँ से आया, तुरत दौड़कर धमकाया॥
देखा द्वार खड़े इक स्वामी, शान्त मूर्ति है मुस्काते।
मुस्काते हैं मंद-मंद, सुख शान्ति चतुर्दिक फैलाते॥
लीलाधर को कुपित देखकर, कहा मेरे प्यारे आओ।
आया हूँ धन तुमको देने, उसको लेकर सुख पाओ॥
जलती हुई अग्नि को जैसे, शीतल जल बस शान्त करे।
वैसे वह हो गया शान्त, सुन वचन सन्त के प्रेम भरे॥
बोला बाबा क्या तुम दोगे, जपो राम का नाम कहीं।
पैसा परमेश्वर है मेरा, मुझे राम से काम नहीं॥
बोले सन्त मंत्र मैं दूँगा, जिससे धन नित पाओगे।
किन्तु मिलेगा मंत्र तभी जब, पास हमारे आओगे॥
जितना चाहो उतना ले लो, सिद्धि पास मेरे भारी।
बोला लीला मुझे सिखादो, बाबा वही सिद्धि प्यारी॥
संध्या समय पास तुम आना, तब तुमको बतलाऊँगा।
मनमाना धन नित पाओ वह, युक्ति तुम्हें सिखलाऊँगा॥
इतना कह चल दिये सन्त, मन लीलाधर का ललचाया।
दिन भर ही उस सन्त श्रेष्ठ का, ध्यान रहा मनमें छाया॥
निज कुटिया पर पहुँच सन्त ने, मुरलीधर को बुलवाया।
कहा पुत्र तब सच्चरित्र हो, त्याग करो कुछ धन माया॥
कहा पिता ने स्वामिन् यह तो, बात बड़ी है सुखदाई।
सम्पति सभी नाथ है उसकी, मेरे लिये जरा आई॥
वह कुमार्गगामी है भगवन्, मैं हूँ इससे दुःखी महान।
धन चाहे जितना ले लीजै, उसका हो जावे कल्यान॥
कोई व्यक्ति बने सन्मार्गी, उसका हो चरित्र निर्माण।
यज्ञ दान तप आदि सैकड़ों, पुण्यों से यह पुण्य महान॥
आप कहो उतना धन लाऊँ, धन की है प्रभु कमी कहाँ।
बोले दस सहस्र रुपया दो, उसे गाड़ दो जहाँ तहाँ॥
मुरली धर रुपया ले आये, लेकर उसे सन्त सुख खान।
जगह जगह पर गाड़ दिये, सब चुन चुन कर सुन्दर स्थान॥

भजन लीन पुनि हुए सन्त, संध्या को लीलाधर आया।
बोला धन दीजिये मुझे, तब समझूँ है सच्ची माया॥
कहा सन्त ने रुपया प्यारे, मनमाना नित पाओगे।
अगर बात मेरी मानोगे, मेरे पास नित आओगे॥
बोला बात सभी मानूँगा, किन्तु मजे मेरे हैं चार।
चोरी जारी जुआ तथा, मदिरा हैं जीवन के आधार॥
इन चारों को नहीं रोकना. शेष मुझे सब है स्वीकार।
कहा सन्त ने खूब करो यह, मुझे नहीं इन से इनकार॥
बात पाँचवीं और एक है, कहा करूँगा बतलाओ।
बोले सन्त सदा सच बोलो, बात यही एक अपनाओ॥
लीलाधर से कहा अजी यह, छोटी बात तुम्हारी है,
सदा सत्य बोलूँगा स्वामी, इसमें क्या इनकारी है॥
तुरत सन्त ने कहा, अभी बस रुपया तुम्हें दिलाता हूँ।
सन्मुख आसन पर बैठो तुम, युक्ति तुम्हें बतलाता हूँ॥
नेत्र बन्द कर गिनकर जितना राम नाम लोगे प्यारे।
उतने ही रुपये पाओगे, आसन के नीचे न्यारे॥
बोला कितना आज चाहिये, कहा अभी सौ दे दीजै।
बैठो उधर वहाँ जप करके, तुरत वहीं रुपया लीजै॥
लीलाधर ने उसी जगह, सौ बार बैठकर नाम लिया।
उठा अन्त आसन के नीचे, खोदा पाया काम किया॥
हर्षित होकर चरण गहे, इच्छित धन पाकर मनफूला।
बोला अब कल फिर आऊँगा, चला शीघ्र निज सुध भूला॥
जितना जी चाहो लेजाओ, यहाँ कमी का काम नहीं।
कहा सन्त ने राम भजो, बिन राम कहें आराम नहीं॥
रुपया लेकर चला खेलने, जुआ जुआरी संग लिये।
आज खेल डटकर खेलूँगा, मन में एक उमंग लिये॥
पुलिस दरोगा मिले बीच में, पूछा सेठ कहाँ जाते।
सकुचे सोचा साँच बोलना, होगा सत्य वचन नाते॥
जुआ खेलने जाता हूँ, झट सत्य वचन यह बोल दिया।
होगा कहाँ कुतवाली पीछे, भेद उसने यह खोल दिया॥
आता हूँ मैं भी यह कहकर चले दरोगा जी न्यारे।
लीला के साथी सब भागे, तुरत वहाँ भय के मारे॥
लीला पहुँचे खेल जहाँ था, सभी जुआरी क्रोध भरे।
बोले मिला पुलिस से क्यों रे, पकड़ायेगा हमें अरे॥

सही सही बतलाया इसने, इससे है पक्का पानी।
छोड़ो इसका साथ नहीं तो, पकड़े आय दरोगा जी॥
चले गये सब तुरत छोड़कर, सबने दिया इसे दुतकार।
लीला लौट चले फिर घर को, खेल छोड़ निज मनकी मार॥
घर पर पहुँच पलंग पर पौढ़े, लज्जित मन में बेचारे।
सोचा जुआ गया जाने दो, तीन मजे बाकी प्यारे॥
संध्या हुई चले चोरी को, चार चोर साथी नामी।
बारह बजे रात्रि को घर में, घुसे धनी नामी ग्रामी॥
इधर उधर से गये चार, पर लीला सीधे द्वार घँसे।
पूछा कौन? 'चोर हूँ' सुनकर, सारे पहरेदार हँसे॥
कहा कहाँ जाते हो? बोले, 'जाता हूँ चोरी करने'।
हँसी जानकर सब चुप बैठे, आप माल लागे हरने॥
माल बाँध चल दिये और, पर आप द्वार से ही आये।
पूछा पहरेदार कौन है, चोर ये चोरी कर लाये॥
सचमुच है यह चोर अरे क्या, सब सोचें कैसी चोरी।
चोरी करके स्वयं कह रहा, कैसी यह सीनाजोरी॥
पूछा और कौन हैं साथी, कहा चार हैं और अभी।
माल बाँध दीवाल फाँद कर, लिये जारहे और अभी॥
पहरेदार उधर को दौड़े, माल छोड़ सब भाग गये।
लीला को आकर फिर पकड़ा, घर वाले सब जाग गये॥
लीला को ले गये पकड़ कर, तुरत सेठ जी बस थाने।
देख दरोगा बोले लीला, सेठ पुत्र हम पहचाने॥
बोले यह कुसंग में पड़ कर चोरी करने आया है।
मुरलीधर का ज्येष्ठ पुत्र, घर भरी बहुतसी माया है॥
कहा छोड़ दो इसको बाकी, चोर पकड़ कर लाऊँगा।
एक एक को पकड़ पकड़ कर, शीघ्र दण्ड दिलवाऊँगा॥
लीला लज्जित चला उधर को, कुछ आगे साथी पाये।
सभी क्रोध से भरकर उसको, देख मारने को धाये॥
बोले हरिश्चन्द्र के नाना, सत्य बात क्यों बतलाई।
कहा सत्य बोलूँगा मैंने, वचन दिया है यह भाई॥
सबने कहा संग अब छोड़ो, इसके संग बहुत हानी
हाँडी गई टके की पर कुत्ते, की जात अब पहचानी॥
इतना कह चल दिये सभी, लीला मनहीं मन पछुताया।
किन्तु सत्य बोलना न छोड़ा, यही सन्त की थी दाया॥

घर पर आया बड़े सोच में सुस्त पलंग पर पड़ा रहा ।
एक एक कर भजे जा रहे, यही सोच डर अड़ा रहा ॥

गया तीसरे दिवस सन्त के, पास कहा अब धन दीजै ।
बोले सन्त नाम ले पहले, जितना चाहो ले लीजै ॥

लिया नाम जिस जगह बैठकर, उसी जगह रुपया पाया ।
रुपया लेकर चला मगन मन, बहुत चित्त था हरषाया ॥

आज प्रेमिका को प्रसन्न मैं, करूँ यही मति में आई ।
उसने एक हार औ साड़ी, लीला से थी मंगवाई ॥

सुन्दर हार और एक बढ़िया, साड़ी लेकर चला वहाँ ।
अपनी प्रिया प्रेमिका रहती, थ' सुन्दर जिस ठौर जहाँ ॥

घरके निकट एक सज्जन ने, पूछा क्या लीला लाये ।
बोले यह सौगात हमारी प्यारी ने हैं मँगवाये ॥

पूछा है वह कौन नवेली, कहा चमेली प्यारी है ।
उसके लिये हार सारी यह, वह प्रेमिका हमारी है ॥

डिब्बा खोल उसे जो देखा, चकित रहगये सभी खड़े ।
लाये चीज बहुत हैं बढ़िया, आप सेठ जी बहुत बड़े ॥

वहाँ चमेली के घर का ही, एक पड़ोसी बोल रहा ।
उसने आप कहा माता से, माँ ने उससे जाय कहा ॥

लीला तेरे लिये चमेली, अलबेली साड़ी लाये ।
और अनोखा एक हार ही, स्वयं सभी को दिखलाये ॥

सुनकर बोली दुष्ट अगर, वह इधर मेरे द्वारे आवे ।
दो सौ जूते मार भगा दूँ, बदनामी मम फैलावे ॥

आये आप चमेली के घर, लीला द्वार खड़े फूले ।
जूता लेकर झपट पड़ी वह, भागे प्रेम भाव भूले ॥

अपमानित लज्जित हो लीला, तुरत लौट घर को आये ।
एक एक कर भजे गँवाये, जीवन में नित दुख पाये ।

दुखी रात भर रहे सोचते, प्रातः उदय हुए जब भान ।
सन्त कृपा से उदय हुआ, निर्वेद सतोगुण उरमें ज्ञान ॥

मनमें कह पछताय हाय, नरजीवन के दिन सब खोये ।
कर कुसंग नित सुधा ठौर, विष बीज हाय निशि दिन बोये ॥

सुर-दुर्लभ तन पाय हाय, जीवन गँवाय नित अघ जोड़ा ।
सन्तसंग कल्याण कल्पतरु, भजन और सुमिरन छोड़ा ॥

सन्त कृपा से तीन पाप से, चलो पिंड मेरा छूटा ।
अब मदिरा रहगई पापिनी, तेरा भी अब घट फूटा ॥

सुर दुर्लभ नरजन्म किया, तू ने खराब मेरा भारी ।
अस्तु-तुझे मैं स्वयं छोड़ता, जा मदिरा तू हत्यारी ॥

अब तो चलकर सन्त शरण में, चरण पकड़ कर रोऊँगा ।
आज अश्रु जलसे मल मल पद, अपने मल सब धोऊँगा ॥

यद्यपि अधम महापापी हूँ, पापों का कुछ पार नहीं ।
किन्तु सन्तजन कृपा धाम हैं, करेंगे क्या उद्धार नहीं ॥

पार करेंगे निश्चय करके, लीलाधर सत्वर आये ।
दीन भाव से सन्त चरण में, रोते रोते लपटाये ॥

रोकर बोले सन्त प्रवर !, मुझ अधम का अब उद्धार करो ।
पाप पयोनिधि में डूबी यह, जीवन नैया पार करो ॥

कहा सन्तने सिद्धि मिली अब, लीलाधर तुमको प्यारी ।
मूक प्रार्थना सफल हुई तब, नारी की अतिहितकारी ॥

उठो उठो प्यारे लीलाधर, अपना जन्म सुधार करो ।
बनो एक नारी व्रतधारी, निज पत्नी से प्यार करो ॥

वृद्ध पिता माता हैं उनका है तुम पर उपकार बड़ा ।
उनकी सेवा आज्ञा पालन, करो पुण्य का सार बड़ा ॥

सन्त बुलाये मुरलीधर को, सुन सन्देश अति हरषाये ।
सन्त पास निज सती वधू को, साथ साथ सादर लाये ॥

कहा सन्त ने सेठ पुत्र लो, इसका जन्म सुधार हुआ ।
प्रिय पुत्री यह पति ले अपना, तेरा बेड़ा पार हुआ ॥

बोले सन्त चरणगह दोनों, धन्य धन्य हैं संत सुजान ।
हम सब हुए कृतार्थ हमारा, हुआ सभी का है कल्याण ॥

सन्तसंग सेवा संकीर्तन स्वाध्याय संयम सुख खान ।
पंचसकार करे जो सेवन, उसका शीघ्र होय कल्याण ॥

धन्य धन्य सत्संग श्रेष्ठ है धन्य धन्य हैं सन्त सुजान ।
होता जहाँ मनुज मानव का, सुन्दर शुचि चरित्र निर्माण ॥

सिनेमा और अश्लील उपन्यास

मद्यपान, मांसभक्षण, अश्लील संगीत, वेश्या-संग, वेश्य नृत्य, थियेटर और सिनेमा आदि काम-लिप्सा और विषय-वासना के ही बढ़ाने वाले हैं। जो इनमें एक बार भूलकर भी फँस गया वह नरक की अग्नि में ही सदा के लिये जलता हुआ दिखाई पड़ा है। हमारे दुर्भाग्य से सिनेमा का रोग भी भारतवर्ष में द्रुतवेग से फैल रहा है। इन दिनों सिनेमा का ही भूत हमारे बड़े-बड़े पढ़े लिखे और उच्च राजकर्मचारियों पर भी नाचता कूदता और खेलता हुआ देख पड़ता है। बेचारे नौकरी पेशेवाले भी अपनी आमदनी की काफ़ी रकम तो सिनेमा और थियेटर आदि में ही खर्च कर दिया करते हैं और स्वभावतः ही उनके घरों में चूहे भी दण्ड पेला करते हैं। दरिद्रता ऋण के रूप में अपना अड्डा जमा लेती है तथापि सिनेमा की लत नहीं छूटती। इसे एकमात्र नेत्रेन्द्रिय का ही दुर्व्यसन कहें तो भी कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इस दुर्व्यसन में पड़े हुए सिनेमा देखे बिना नहीं रह सकते। सिनेमा ही इनकी पतिपरायण 'हृदय की रानी' हो जाती है। नेत्रों को इस बात का राजरोग ही हो जाता है कि—वे नित्य नये नये दृश्य और चलते फिरते चित्र अभूतपूर्व रंग विरंगी ज्योतियों के रूप में देखा करें। व्यवसायियों का तो यह सर्वश्रेष्ट चलता हुआ व्यापार है। *'व्यापारे-वसति लक्ष्मी'* के बदले *'सिनेमायां वसति लक्ष्मी'* ऐसा भी कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं है। अक्षरशः सत्य ही है। इसका भयङ्कर परिणाम यह है कि कोमल हृदय वाले अल्पवयस्क बालक और नवयुवक ही नहीं वल्कि हमारी सरल हृदय वाली सुकोमल वालिकायें और पतिपरायणा युवती महिलाएँ तथा सुकुमार सुन्दरी रमणियाँ भी नित्य सिनेमा के पर्दों पर नग्न और काम भाव पूर्ण रतिवर्द्धक चित्रों को देखती तथा अश्लील संगीतों को सुनती हुई अपने शुद्ध और पवित्र हृदय को भी कलुषित ही किया करती हुई—स्वेच्छाचार, दुराचार तथा व्यभिचार के माया जाल में फँसती जाती हैं। सतियों का सतीत्व भी सिनेमा के सतीत्व पर ही बलिदान हो जाता है। कालेज के नवयुवक छात्र और नवयुवती छात्राओं को कहना ही क्या?

परम स्वतन्त्र न सिर पर कोई।
भावइ मनहिं करहु तुम्ह सोई॥

यह उक्ति ही अक्षरशः चरितार्थ हो रही है। सिनेमा से पैदा होने वाली सामाजिक बुराइयों और हानियों की गिन्ती भी नहीं की जा सकती ये वर्णनातीत हैं! जहाँ सिनेमा ही "राम की सीता" का ज्वलन्तरूप धारण कर रही है वहाँ परक प्रेमरूप ईश्वर की भक्ति का काम ही क्या? तभी तो सिनेमा समस्त संसार की ही 'सतीशिरोमणि' का पद धारण कर रहा है! मनुष्य मात्र की जीविका को विविध रूपों में पूर्ण रूप से हरण कर जीव को स्वाभाविक रूप से ही 'आत्महत्यारा' बना देने वाली इस सिनेमा के गुण-दोष का वर्णन कोई कहा तक कर सकता है? उचित तो यह था कि राष्ट्र की ओर से ऐसी सिनेमा की सभी अश्लील फिल्मों के समुचित नियन्त्रण के लिये देश के अनुभवी सच्चरित्र और विद्वान् धर्माचार्यों, महात्माओं और नेताओं की समुचित सम्मति ली जाती और इनकी स्वीकृति से ही इनके प्रचार की अनुमति दी जाती! पर ऐसा करे कौन? (who is to bell the cat) बिल्ली के गले में घंटी कौन बाँधे? हाँ, जिन फिल्मों में धार्मिक और सामाजिक सुधार के चित्र जन साधारण के सामने उपस्थित किये जा सकें और जिनसे देश के चरित्र-निर्माण में ही विशेष सहायता पहुँच सके, जो मानव जाति के नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति का समुचित विकास कर आत्मकल्याण के तमसाच्छन्न

मार्ग को भी परिष्कृत कर सके, उनके प्रचार में किसी को भी कोई आपत्ति नहीं हो सकती पर इन दिनों जिन फिल्मों का प्रदर्शन सार्वजनिक रूप से एक मात्र धनोपार्जन के लिये ही किया जा रहा है, वे देश के अधःपतन के ही प्रमुख साधन बन रहे हैं। यह देखकर संतोष अवश्य होता है कि अब देश के सुशिक्षित, सचरित्र अनुभववृद्ध स्त्री-पुरुषोंका ध्यानभी इस ओर आकर्षित हुआ है। पर इनकी संख्या अभी तक दाल में नमक के बराबर ही है। आवश्यकता इस बात की है कि चरित्र निर्माणोपयोगी 'फिल्मों' का ही प्रदर्शन उचित रूप से किया जाय और रति-भाववर्द्धक कामवासनापूर्ण फिल्मों का निर्माण ही न किया जाय। प्रजा स्वयं ही इसके लिये देशव्यापी विराट् आन्दोलनका समुचित आयोजन करे। एक मात्र कालेजकी शरीर निर्वाहोपयोगी अर्थकरी शिक्षा से देश का कल्याण नहीं हो सकता। देश को अपने आत्मकल्याण के लिये आध्यात्मिक शिक्षा और ब्रह्मचर्य की धारणा करनी पड़ेगी और आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिये उचित साधना और तपस्यामय जीवन भी व्यतीत करना पड़ेगा।

यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि सिनेमा चरित्र हीनता का पाठ पढ़ाता हुआ इन दिनों दुर्व्यसन का ही रूप धारण कर रहा है। अतएव इसके लिये विशेष सावधानी की आवश्यकता है। आज कल के लोगों की प्रायः ऐसी आदत पड़गई है कि एक दिन भी सिनेमा देखे बिना नहीं रह सकते। आँखें नग्न सौन्दर्यके ही विविध रंगीन दृश्य और ज्योति पूर्ण प्रकाश देखना चाहती हैं और कान (श्रवणेन्द्रियाँ) सुमधुर संगीत। लेखनी यह लिखते हुए भी संकुचित होती है कि जिस समय अल्पवयस्क और सुकुमार बालक-बालिकायें भी सिनेमा के पात्रों को कामवर्द्धक 'गाढ़ालिंगन' और 'चुम्बन' करते हुए देखती हैं, उस समय उनके सुकोमल हृदय पर कौन से भाव अंकित होते होंगे ? अतएव जो अपनी और अपनी संतति की हित कामना करना अपना धर्म समझते हों उनके लिये तो सिनेमा का पूर्ण बहिष्कार करना ही परम कर्त्तव्य है। आध्यात्मिक चरित्रचित्रणका यह उत्तरदायित्व पूर्ण कार्य श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु ही कर सकते हैं। अतएव 'तद्विज्ञानार्थं सद्गुरुमेवाभिगच्छेत्' श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ का ही सहारा लेते हुए—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन ॥

उपन्यास वा अश्लील साहित्य।

उपन्यास, अश्लील साहित्य वा अखबारों का पढ़ना भी वर्तमान कालीन सुशिक्षित सभ्य समाजकी दिनचर्य्या का ही एक प्रधान अङ्ग हो गया है और जो इस प्रकार नित्य विषयानन्द वर्द्धक और कामोत्तेजक उपन्यास आदि अश्लील और गंदे साहित्य का अध्ययन किया करते हैं, उनकी भी एक ऐसी ही कुप्रवृत्ति हो जाती है कि-गंदे उपन्यास या अश्लील साहित्य के पढ़े बिना उन्हें संतोष ही नहीं होता। वे बिना इसके क्षणमात्र भी नहीं रह सकते। इसीतरह वे अखबारों के बिना भी अधीर हो उठते हैं। अखबारों का डाक रोग तो सुप्रसिद्ध ही है। जबतक सनसनी या हलचल पहुँचाकर नस नस को फड़का देने वाली कोई अपूर्व घटना वे पढ़ या सुन नहीं लेते तबतक उन्हें सुखचैन की प्राप्ति या शान्ति मिलती ही नहीं। अखबार या उपन्यास आदि अश्लील साहित्य को मजेदार घटनायें या प्रेमिक प्रेमिकाओं की अभूतपूर्ण अनोखी और विचित्र "राम कहानियाँ" उनके हृदय में विषयभोग और कामवासनाकी गुद्-गुदी उत्पन्न किया करती हैं, विचार दूषित हो जाते हैं, और उनके आचरण भी कलुषित होकर समाज के लिये हानिकारक ही सिद्ध होते हैं। भला, ऐसे कलुषित और पतित हृदय में 'सुखशान्ति' का आभास कहाँ ?

इन दिनों शिक्षा प्रचार या ज्ञानके नामपर सार्व-जनिक पुस्तकालयों में दो चार आने मासिक चन्दे के लिये ही लोगों में अखबार और उपन्यास आदि

अश्लीलसाहित्यके प्रचार कीभी सुविस्तृत योजना सुव्यवस्थितरूप से ही की जारही है। पुस्तकालयों के नाम पर शिक्षाका व्यवसाय करने वाले ये स्वार्थी जीव यह समझते ही नहीं कि—वे अश्लील साहित्यके प्रचार से देशको कितना बड़ा धक्का पहुँचा रहे हैं। देशसेवा या आत्मकल्याणके नातेभी उन्हें अपने जीविका निर्वाह' के लिये कोई और सुगम और निर्दोष साधन ही ढूढ़ना चाहिये। जनसाधारण तथा अल्पवयस्क बालक बालिकाओं या कोमल हृदय वाली सुकुमार स्त्रियों और नवयुवकोंमें अश्लील साहित्यका प्रचार कर, 'चरित्रहीनता' का पाठ पढ़ाना, देशसेवा के नाते. अपने पैरों में अपने आप ही भयङ्कर कुल्हाड़ी लगानी है, समाजको अधःपतन की ओर ढकेलना और देशका सर्वनाश करना ही है। इन्हें श्रीभर्तृहरि का निम्नलिखित उपदेश अपने हृदयपटलपर सुवर्णाक्षरों में अङ्कित कर लेना चाहिये:—

एके सत्पुरुषाः परार्थनिरताः स्वार्थान् परित्यज्य ये
"सामान्यास्तु परार्थउद्यमरताः स्वार्थाविरोधेन ये"
तेऽमी मानवराक्षसाः परहितं निघ्नन्ति स्वार्थाय ये
ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे

वे दण्ड से इसलोक में यदि बच भी जाँय तो क्या परलोक में यमदंड उनकी प्रतीक्षा बड़े ही सतृष्ण नेत्रों से नहीं कर रहा है? संवाद पत्रों का व्यसन भी कम हानिकारक नहीं है। भोजन और शौचके समय भी संवादपत्रोंका अपनी आँखों के सामने ही रखना 'दुर्व्यसन' नहीं तो और क्या है? जिसदिन हाथमें अखबार न हो उसदिन उन्हें उनका जीवन तमसाच्छन्न 'शून्य' और भार सा ही प्रतीत होता है। भला ऐसे विषयी जीव एकान्तवासपूर्वक आध्यात्मिकजीवन का मार्ग किसप्रकार ग्रहण कर सकते हैं? इन्हें तो यदि तीनदिनोंके लिये भी किसी एकान्त और जनशून्य स्थानमें छोड़ दिया जाय तो ये बिना पानी की मछलीकी तरह तड़फ तड़फकर प्राण देदेंगे। संवाद पत्रोंका यह दुर्व्यसन चित्तको सदा चंचल, बहिर्गामी और संसारासक्त ही बनाये रखता है, इनके हृदय में कभी ईश्वरका ध्यान या स्मरण भी नहीं होता, संवाद पत्र के डाकरोगवालों को ईश्वर की प्राप्ति किसीप्रकार भी नहीं हो सकती। अतएव आध्यात्मिक पथ के पथिकोंको संवादपत्र वा अखबाररूपदुर्व्यसन से भी सदा सावधान ही रहना चाहिये। (स०)

दिव्य-सन्देश

जानो सदा स्वप्नवत् जग को, रक्खो अति हिम्मत-आधार।
रहो प्रफुल्लित, दुःख सुख सब में बहे अखण्डित उसकी धार ॥
जितना बने करो 'हरि-सुमिरन', धर्म-कर्म का है यह सार।
मत दो दुःख किसी को किञ्चित, करो, बने तो, सुख-संचार ॥
सब पर करो प्रेम अति प्यारे, रक्खो नूतन बाल-स्वभाव।
मर्यादा अनुसार चलो फिर, देखो अपना अतुल प्रभाव ॥
करो सदा पुरुषार्थ अखण्डित, जिस विधि बहती गङ्गा-धार।
कभी आलसी बनो न प्यारे! जो चाहो अपना उद्धार ॥
नीचा कभी देखना जिसमें, करो न ऐसा काम कभी।
पालो यह दश नियम निकट तो, समझो है सुख-शान्ति सभी ॥
गीता-वेद-शास्त्र-सम्मत ये, दशों नियम भव सागर सेतु।
सद्गुरु श्री एकरसानन्द से, प्राप्त हुए जग-मंगल-हेतु ॥
भव्य भाव, सुख शान्ति प्रसारक, मंगलमय, अति हितकारी।
पालो इन्हें, बनोगे निश्चय, मुक्ति-धाम के अधिकारी ॥

—श्रीगोपाल मिश्र

यह मानवता है कि दानवता ?

(श्री स्वामी सदानन्द जी सरस्वती)

संसार में पाँच प्रकार के मनुष्य होते हैं—

(१) देव मनुष्य—जो अपने स्वार्थ की परवाह न करते हुए, सदैव स्वाभाविक ही तन-मन-धन से परहित में लगे रहते हैं।

(२) साधारण मनुष्य—जो अपनी स्वार्थ-पूर्ति तो चाहते हैं परन्तु गौण रूप से; मुख्यता देते हैं परहित को।

(३) पशु-मनुष्य—जो मुख्यता तो देते हैं अपनी स्वार्थ-पूर्ति (भोग पूर्ति) को, साथ में भले ही परहित भी बन जाय-परन्तु किसी का अहित नहीं चाहते ।

(४) राक्षस मनुष्य—जिनका स्वभाव होता है दूसरों का अहित करके या दुःख देके, जैसे बने वैसे, अपने स्वार्थ की पूर्ति करना; उन्हें परहित से मतलब ही क्या ?

और पाँचवे वे हैं जो अकारण ही, बिना किसी मतलब के, दूसरों को दुःख पहुँचाते हैं—अहित करते हैं—इनको किस प्रकार का मनुष्य कहा जाय ? भगवान् ही जानें ! ऐसों के लिये 'मनुष्य' शब्द का प्रयोग करना, मनुष्य का अपमान करना है।

अब रही चरित्र-निर्माण की बात—सो बहुत पुरानी बाबा आदम के जमाने की बात नहीं और न है सतयुग या त्रेता की, जब कि प्रायः सभी मनुष्य स्वाभाविक ही देव मनुष्य होते थे—परन्तु केवल पन्द्रह-सोलह सौ वर्ष पूर्व की बात पर ही ध्यान दें कि मैगस्थनीज़, फाह्यान, ह्वेनसांग आदि विदेशी यात्री आप के भारत का आँख देखा हाल लिखते हैं कि "यहाँ के लोग बड़े ईमानदार होते हैं—माता-पिता व गुरु की आज्ञा मानते हैं, जीव मात्र पर दया करते हैं—सदाचारी, सरल-हृदय और सत्यवादी होते हैं-घरों के तालें नहीं लगाते, चोरी-डाका आदि नहीं होता ····इत्यादि।" इतना होते हुए भी उस समय आध्यात्मिक विद्या के प्रचार व सदाचार पालन पर खूब जोर दिया जाता था।

जाने दीजिये इसको भी-आज से ४०,५० वर्ष पूर्व की बात लीजिये, जब कि यदि किसी व्यक्ति को 'कचहरी चलना है' कहा जाता तो उत्तर मिलता "भैया हम पर कृपा करो ! हम बाल-बच्चेदार आदमी हैं—गवाही में जबान से कहीं झूठ-साँच निकल पड़ा तो हमारे घर में अनिष्ट हो जायगा—बस हमें तो क्षमा ही करो।" और आज है इसका ठीक ३६ अर्थात उलटा। लोग कहते हैं "स्वामी जी ! आप के उपदेश की बातें तो सब ठीक हैं परन्तु······आज-कल जमाना बहुत खराब है, झूठ नहीं बोलें तो काम कैसे चले ? गृहस्थी कैसे चले ?" ध्यान दीजिये ! कहाँ तो वह बात कि "हम झूठ नहीं बोलेंगे बाल बच्चेदार आदमी हैं" और कहाँ यह कि "झूठ नहीं बोलेंगे तो गृहस्थी कैसे चलेगी, बाल बच्चेदार आदमी हैं !

तब भारत की प्रशंसा थी कि 'भारतीय लोग बड़े इमानदार होते हैं घरों में ताले नहीं लगाते—" और आज भी विदेशों—में गत वर्ष ही मेरा एक मित्र गया था। वह कहता था कि वहाँ पर दैनिक अखबार (Daily news paper) घूम-घूम कर नहीं बेचे जाते बल्कि बाजार में चौराहे के एक निश्चित स्थान पर सारे अखबार गिनकर रख दिये जाते हैं और पास में ही रख दी जाती है पैसे डालने के लिये संदूकची। शाम को जब अखबार मालिक संदूकची से पैसे निकाल कर गिनता है तो उसे बिके हुए अखबारों की पूरी कीमत तो कीमती ही है, विशेषता यह कि उसमें

खराब सिक्का एक भी नहीं होता। परन्तु आज यही प्रयोग हमारे भारत के बाज़ार में किसी चौराहे पर नहीं वल्कि काशी-हरद्वार, अयोध्या-वृन्दावन जैसे तीर्थस्थानों में और वह भी वहाँ के मुख्य मन्दिर के ठीक दरवाजे पर किया जाय तो क्या आप विश्वास कर सकते हैं कि शेष अखबार और पूरे पैसे अखबार-मालिक को मिल जायँगे? शेष अखबार और पूरे पैसे की बात तो जाने दें यदि संदूकची ही मिलजाय तो गनीमत समझें। यह है हमारी आजकल की ईमानदारी और सच्चरित्रता!

किसी एक वर्ग में नहीं सभी वर्गों में यही हाल है—किसी छोटे से काम के लिये किसी दफ्तर में जाइये—यदि उनकी जेब गर्म कर दी, तब तो आप का काम फौरन हो जायगा, वरना टापते फिरिये महीनों—यह है रिश्वत का हाल। व्यौपार का हाल सुनिये—किसी भी शहर के एक सिरे से दूसरे सिरे तक घूम आइये, आप को शुद्ध गौ-घृत मिल सके यह तो बहुत बड़ी बात है—आप को ब्लेक मार्केट रेट पर भी यदि कोई वस्तु बिना मिलावट के मिल जाय तो बड़े भाग्य समझिये। दूध लेने जाँय तो पानी या अरारोट मिला दूध मिलेगा, आटा, दाल चावल तेल आदि अशुद्ध मिलते हैं सो तो सभी जानते ही हैं पर नीचता की इतनी हद हो गई है कि लोग पिसे हुए धनियाँ में घोड़े की लीद, पिसी हुई मिर्च में लकड़ी का बुरादा तक मिलाकर बेचने लगे हैं। "देशी वस्तु प्रयोग करनी चाहिये" इसके लिये तो बहुत जोर दिया जाता है परन्तु "देशी वस्तुएँ ठीक व शुद्ध मिलें" इस पर कोई जोर नहीं देता। विदेशी लोग जैसा Sample (नमूना) बताते हैं वैसा ही माल भेजते हैं; परन्तु भारतीय तो बताते कुछ और ही Sample (नमूना) और पैकेट में भेजते कुछ और ही रद्दी-सद्दी माल। यही तो कारण है कि आज विदेशी लोग भारतीय माल मँगाने में हिचकते हैं। कहाँ तक बतावें जूआ-चोरी, जेब कटिंग, ब्लेक मार्केटिंग, घूसखोरी, मिलावट आदि का बाजार इतना गर्म है कि आज 'मानव' को 'पशु' न कहकर 'दानव' कहने में भी शर्म आती है—फिर चरित्र-निर्माण की बात कैसी?

व्यभिचार-अनाचार तथा कुभावना की बात देखिये, कि ट्रेनों व मुसाफिर खानों की टट्टियों में कैसे कैसे घृणित चित्र व जुम्ले लिखे मिलते हैं? साधारण लोगों व स्थानोंकी तो बात छोड़िये, अनेकों मन्दिरों, धर्मशालाओं, अनाथालयों व तीर्थों आदि के काले कारनामें सुनकर तो कानों में अंगुली ही दबानी पड़ती है।

सफाई की ओर देखिये तो पवित्रता केवल भोजनालयों के चौकों-क्यारियों तक ही सीमित रह गई है। औरों से तो पवित्रता के नाम पर छू छू करेंगे चाहे वह बेचारा स्नान-ध्यान पूजा-पाठ करके शुद्ध साफ वस्त्र पहिन करही क्यों न आया हो; तथा अपने वस्त्रों में सेरों मैल ही क्यों न भरा हो—सन्ध्या हवन पाठ पूजा तो गई भाड़ में। मोटर बस, रेलगाड़ी, मुसाफिरखानों आदि जहाँ बैठेंगे वही मूँगफली के छिलके बखेर देंगे, केले के छिलके फेंक देंगे, कहाँ तक सफाई करते रहें बेचारे सफाई करने वाले, जबकि गन्दा करने वाले उस स्वान से भी बदतर है जो पेशाब करने के बाद पिछली टाँगों से मिट्टी फेंककर उसे ढक तो देता है। ऐसे ही लोगों ने तो भारतीयों को विदेशों में भी बदनाम करवा दिया है। अभी एक-दो वर्ष की बात है—एक भारतीय व्यक्ति ऑस्ट्रिया में किसी सड़क के किनारे मूँगफली (Nuts) खाते तथा छिलके सड़क पर ही इधर-उधर डालते जा रहा था। पीछे आने वाली एक आस्ट्रीयन महिला ने उसे देखलिया और वह सब छिलके अपने झोले में बटोरती चली आई। जब उन भारतीय महाशय के करीब पहुँची तो सड़क के किनारे पर रक्खे एक 'कूड़े के ड्रम' में वे छिलके डालती हुई वह बोली—

"ओ श्रीमान जी! आप हमारे देश को गंदा क्यों कर रहे हैं? आप किस देश से आये हैं? क्या आप के देश में इतना भी नहीं सिखाया जाता कि छिलके कहाँ डालने चाहिये?" और तो और, देखा गया है कि जहाँ बड़े-बड़े अक्षरों में लिख दिया गया "यहाँ टट्टी पिशाव करना मना है" और साथ ही देख भाल के लिये जमादार नियुक्त है, वहाँ भी लोग नजर बचाकर टट्टी-पिशाव करने से नहीं चूकते।

स्कूलों और कालेजों की बात लीजिये—कहाँ तो भारत का वह आदर्श कि शिक्षक लोग विद्यार्थियों को अपने पुत्र ही मानते थे और यही प्रयत्न किया करते थे कि मेरा शिष्य जल्दी से जल्दी श्रेष्ठ, चरित्रवान् महाविद्वान स्नातक होकर निकले और कहाँ आज के शिक्षक जो जैसे तैसे छै-सात periods (घन्टों) का समय बिता, घर लौट आते हैं—'विद्यार्थी फेल होंगे या पास, चरित्रवान् बन रहे हैं कि दुश्चरित्र'-इससे उन्हें मतलब नहीं-उनकी डायरी complete (ठीक भरी) होनी चाहिये। यही हाल विद्यार्थियों का भी है। "मातृ देवो भव, पितृ देवो भव, आचार्य देवो भव," के स्थान पर वे कहते हैं कि शिक्षक तो हमारे वेतन भोगी नौकर हैं।" माता-पिता की सेवा-सुश्रुषा, आज्ञा-पालन तो दूर रही कहते हैं 'तुमने हमें पैदा ही क्यों किया, अब चाहे कैसे ही करो हमें तो पैसा दो कि हम कालेज ज्वाइन करें, सूट बनवावें, सोसाइटीज-सिनेमा का मजा लूटें।" जहाँ माता पिता और गुरु के प्रति ये भावना है वहाँ ईश्वर की तो बात ही कहाँ?

सत्संग कथा व प्रार्थना-सभा आदि जहाँ चरित्र-निर्माण की बातें सिखाई व समझाई जाती हैं, वहाँ तो मुश्किल से सौ पचास व्यक्ति सम्मिलित होंगे, परन्तु सिनेमा आदि जहाँ से ९९९%० (हजार में नौ सौ निन्यानवे) लोग विलासिता, चोरी, फैशन आदि दुर्गुण ही सीखते हैं, वहाँ देखो तो खेल आरम्भ होने के घन्टों पहिले ही लोग कड़ाके की धूप में कतार बनाये खड़े तपस्या कर रहे हैं। नौटंकी जो सोलह आने कुभावनाओं के प्रचार का सेन्टर है वहाँ सैकड़ों लोग पूरी रात-रात भर बठे के निकाल देंगे। आजकल तो बीड़ी के प्रचार के लिये भी लड़के को स्त्री का वेष बनाकर लाली पाउडर से रंगकर गली-गली, गाँव-गाँव नचाते-गवाते हैं और नाच-गाना भी ऐसा अश्लील कि देखने सुनने वालों की भावनाएँ बिगड़े बिना रह नहीं सकतीं। खासकर बेचारे छोटे छोटे बच्चे, बालक-बालिकाएँ तो ये सब देख-सुनकर चरित्रहीन बन ही जाते हैं। यह सब किसलिये? केवल इस लिये कि उनकी "बालक छाप बीड़ी पिओ—उनकी पहलवान छाप बीड़ी अवश्य खरीदो"—चाहे राष्ट्र का कितना ही चारित्रिक पतन हो? इससे उनको कोई मतलब नहीं—बस उनकी बीड़ी बिक जाय—उनका स्वार्थ सिद्ध हो जाय!

कहाँ तक लिखें पाँच-दस बातें हों तो लिखें ही—जहाँ मशीन के सभी पुर्जे बिगड़े हैं वहाँ सुधारने की कैसी बात? मनुष्य का कानून से सुधार हो सकता है और पशु का भी डंडे से सुधार हो जायगा परन्तु इन राक्षस-मनुष्यों के चरित्र-निर्माण की कैसी चर्चा? इस नैतिक पतन का कारण कोई और नहीं—हम ही हैं। माता-पिता की आदर्श हीनता से बच्चे बिगड़े, गुरुओं से शिष्य, शासकों से प्रजा, अफसरों से कर्मचारी, सासुओं से बहुएं, सुधारकों से समाज, लेखकों-सम्पादकों से पाठक बिगड़े। बिगाड़ा भी तो हमने और सुधारेंगे भी तो हम—जैसा कि गीता बताती है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनु वर्तते॥

अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष जो कुछ करता है वही अन्य साधारण मनुष्य भी किया करते हैं। वह जिसे

प्रमाण मानकर अंगीकार करता है; लोग उसी का अनुकरण करते हैं"। अतएव अब सुधारने की; चरित्र-निर्माण करने की बात तो छोड़ो—संसार का कुछ भी बिगड़ा नहीं, बिगड़ी है तो हमारी भावना। बस सुधार करो अपने स्वभाव का; चरित्र-निर्माण करो अपने आप का। इतिहास यही बताता है कि जो संसार को सुधारने चला उसने सुधारने के बजाय संसार को और ज्यादा बिगाड़ा ही। Charity begins at home. अर्थात् चरित्र-निर्माण का कार्य अपने से प्रारम्भ करो।

अन्त में सभी माता-पिताओं, साधुओं-सन्यासियों, शासकों-शिक्षकों, अफसरों-मालिकों, लीडरों-ब्रीडरों, राइटरों-एडीटरों, मास्टरों-स्पीकरों, प्रोफेशरों-फ्लोसरों आदि सभी 'अरों' से निवेदन करता हूँ कि इस भारत की लाज आपके हाथ में है। आप स्वयं सच्चरित्र बनें; बस, आपके सच्चरित्र बनने भर की देरी है सारा राष्ट्र चरित्रवान् बनकर फिर अपने गुरु-पद पर पहुँच जायगा। अंगरेजों को भारत से निकालने में जिस उत्साह और वीरता से काम लिया, उसी उत्साह और वीरता से जब इस अनैतिकता को भारत से निकाल दोगे तभी वास्तविक स्वतंत्रता प्राप्त हुई समझो; अन्यथा स्वच्छन्दता तो बढ़ ही रही है दिनोदिन।

याद रक्खें "सुन्दर शरीर अथवा अच्छे फैशनेबुल वेष-भूषा से मानव 'मानव' नहीं अपितु सच्चरित्रता ही मानवता है।"

हे आर्य सन्तानो ! उठो

(राष्ट्र कवि मैथलीशरण जी गुप्त)

पुरुषत्व दिखलाओ पुरुष हो, बुद्धिबल से काम लो।
तब तक न थक कर तुम कभी अवकाश या विश्राम लो॥
जब तक कि भारत पूर्व के पद पर न पुनरासीन हो।
फिर ज्ञान में विज्ञान में जब तक न वह स्वाधीन हो॥

हे आर्य सन्तानो ! उठो, अवसर निकल जावे नहीं।
देखो बड़ों की बात जग में बिगड़ने पावे नहीं॥
जग जानले कि न आर्य केवल नाम के ही आर्य हैं।
वे नाम के अनुरूप ही करते सदा शुभ कार्य हैं॥

(भारत भारती से)

नैतिक शिक्षण के बिना कोई शिक्षण पद्धति पूर्ण नहीं

(राष्ट्रपति माननीय डा० राजेन्द्रप्रसाद जी)

चरित्र-गठन में धार्मिक भावना और श्रद्धा बहुत असर डालती है। धार्मिक भावना से अर्थ कट्टरपना नहीं है और श्रद्धा अन्ध-भक्ति नहीं है. पर यह ऐसी चीज़ है जो परोक्ष रीति से मनुष्य के जीवन पर प्रत्येक क्षण बहुत असर डालती रहती है। और चाहे मनुष्य माने या न माने उसका नैतिक चरित्र उनसे प्रभावित हुए बिना रह नहीं सकता। मैं जानता हूँ कि हमारे सभी शिक्षालयों का उद्देश्य होना चाहिये कि स्वस्थ विद्याभ्यासी और सच्चरित्र सेवक देश को दें जो सब प्रकार के काम के लिये अपने को योग्य साबित कर सकें।

स्वास्थ्य के लिये अच्छा स्वास्थ्य कर भोजन, शुद्ध जल, आवश्यक शरीर श्रम और शुद्ध आचरण आवश्यक हैं। विद्याभ्यास से अर्थ केवल रटन्त विद्या ही नहीं है और न वह विद्या है जो केवल परीक्षा के समय प्रश्नों का उत्तर देने ही के लिये प्राप्त की जाती है, सच्चा विद्याभ्यास तो वही कहा जा सकता है जिसमें जो कुछ सीखा गया है उसके अतिरिक्त अधिक सीखने की और अधिक जानने की एक ऐसी चाह उत्पन्न हो जाय कि मनुष्य सारे जीवन भर अभ्यास क्रम को जारी रक्खे और अपने ज्ञान को अन्त तक बढ़ाता ही रहे। इस प्रकार का विद्याभ्यास ऐसे विद्यालयों में कहाँ हो सकता है जहाँ परीक्षा पास करना ही मुख्य उद्देश्य हो और जहाँ न विद्यार्थी के सामने और न शिक्षक के सामने कोई भी दूसरा आदर्श रहता हो।

चरित्र के सम्बन्ध में एक ऐसी धारणा हो गयी है कि इसके लिये हमें कुछ करना नहीं है। यह स्वतः बन जाता है। बात यह है कि जो कुछ स्वतः बन सकता है वह स्वतः बिगड़ भी सकता है। और यही होता है। इसकी ओर ध्यान देने का एक प्रत्यक्ष फल यह होता है कि कुछ लोग तो अच्छे वातावरण और सच्चे सम्पर्क से, जो उनको अनायास मिल जाता है, बहुत अच्छे हो जाते हैं और कुछ लोग इसके विपरीत होने से बिगड़ भी जाते हैं। इसलिये यदि प्रयत्नपूर्वक चरित्र सुधारने के लिये हमारे शिक्षालयों में कोई प्रबन्ध किया जाय तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि इसका परिणाम अच्छा होगा। मेरा यह उद्देश्य नहीं है कि विद्यार्थियों को सच्चरित्रता के सम्बन्ध में दिन प्रति दिन मौखिक पाठ पढ़ाया जाय। मैं मानता हूँ कि इसका भी असर कुछ अवश्य पड़ता है। पर मैं चाहता हूँ कि केवल मौखिक शिक्षा न देकर कुछ ऐसे काम दिये जायँ और किये जायँ जिनके द्वारा विद्यार्थियों को कुछ न कुछ इस सम्बन्ध में वस्तु-पाठ मिला करे। इसके लिये सामूहिक व्यायाम खेल-कूद का भी अच्छा उपयोग हो सकता है। मनोरंजन के साधन भी ऐसे प्रस्तुत किये जा सकते हैं कि जिनका असर चरित्र पर अच्छा पड़ सकता है। पर यही साधन बुरे हों तो उनका बुरा प्रभाव भी पड़ सकता है।

आजकल मैं देखता हूँ कि जितने ऐसे स्थान हैं जहाँ विद्यार्थियों का जमघट है, वहाँ सिनेमा के ग्राहक की बहुत बड़ी तादाद विद्यार्थियों की ही हुआ करती है। सिनेमा में यदि अच्छे खेल दिखलाये गये तो उनका अच्छा प्रभाव पड़ सकता है; पर बुरे खेल का बुरा प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। मैं नहीं जानता कि जो खेल शहरों और बाजारों में दिखाये जाते हैं और जिनको अधिकतर विद्यार्थी ही देखा करते हैं, उनका कोई अच्छा

प्रभाव पड़ा हो । इसलिये यदि इस प्रकार के मनोरंजन आवश्यक समझे जायँ तो उनका प्रबन्ध विद्यालयों को स्वयं करना चाहिये । जिसमें जाँचे हुए खेल ही दिखलाये जायँ और विद्यार्थियों को खुले आम प्रत्येक सिनेमा में जाने की इजाजत न दी जाय, जिनमें या तो आधुनिक यन्त्रों द्वारा किस प्रकार चोरी डकैती की जाती है अथवा युवा की प्रेम कहानी के ही खेल, जिनका कोई उच्च आदर्श नहीं, दिखलाये जाते हैं । इस पर भरोसा करना कि केवल अच्छी कहानियाँ ही दिखलाई जायेंगी, ठीक नहीं है । क्योंकि जब तक ग्राहक इस प्रकार के अवांछनीय खेलों को ही पसन्द करते रहेंगे तब तक वह सामने आते ही रहेंगे और उनका रोकना कठिन ही रहेगा ।

सेवा की भावना सेवा करके ही पैदा की जा सकती है और इसलिये यदि देश एवं समाज के अच्छे सेवक तैयार करने हैं तो उनके सामने क्रियात्मक रूप से सच्ची सेवा के उदाहरण रखने चाहिये और विद्यार्थियों को इसका अवसर देना चाहिये कि वह किसी न किसी सेवा कार्य में कुछ भाग ले सकें । केवल अवसर ही नहीं, जहाँ तक हो सके प्रोत्साहन भी देना चाहिये । इस लिये कोई भी शिक्षालय तब तक पूर्ण नहीं कहा जा सकता जब तक यह सामान भी जो स्वास्थ्य, विद्याभ्यास, चरित्र गठन और सेवा के लिये आवश्यक है, प्रस्तुत नहीं ।

सुयोग्य अध्यापकों द्वारा समाज का चरित्र-निर्माण सम्भव

(उपराष्ट्रपति, सर्वपल्ली डाक्टर राधाकृष्णन्)

हमारे देश में प्राकृतिक साधनों एवं सुबोध पुरुषों तथा महिलाओं की कमी नहीं है । अगर हम देश के पुनर्निर्माण के पवित्र कार्य को, प्रसन्नता गौरव और कर्त्तव्य की भावना से, साथ मिलकर करना सीख लेंगे तो हमें हमारे लक्ष्य तक पहुँचने में कोई रुकावट नहीं डाल सकता ।

स्वार्थ की भावना रूपी बीमारी का इलाज विज्ञान और टेकनोलोजी की सहायता से नहीं हो सकता । इन से विश्व के रहस्यों का पता लगाया जा सकना भी असम्भव है । मूल आध्यात्मिक मान्यताओं के प्रति आदर रखने से ही सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक बीमारियों का इलाज हो सकता है । हमें इस सत्य को स्वीकार करना चाहिये । मनुष्य में भूख और धार्मिक प्यास के अलावा और भी वस्तु हैं । आज हम उस उलझन में फँसे हुए हैं । विश्व में चिन्ता और लालच का साम्राज्य है । इन सबका कारण यही है कि हमारी शिक्षा अधूरी । यह समझना भारी भूल है कि केवल वैज्ञानिक खोज और टेकनोलोजिकल सुधारों से ही मानव का कल्याण हो सकता है ।

शिक्षक के पेशे के लिये योग्य व्यक्तियों को चुना जाय । अच्छे शिक्षक, जो छात्रों के कल्याण की भावना से प्रेरित हैं, जो अपने विषयों के प्रति उदासीन नहीं हैं और जो अपने छात्रों को उनका ज्ञान करा सकते हैं, वे ही विश्व विद्यालय के आधार हैं ।

आज की पीढ़ी धन की ओर अधिक आकर्षित होती है इसलिए योग्य व्यक्ति प्रशासन कार्य, वाणिज्य तथा अन्य पेशों को करना उचित समझते हैं ।

हमें इस चीज को महसूस करना चाहिये कि हम जिस किस्म के पुरुषों एवं महिलाओं को शिक्षक नियुक्त करेंगे उसी किस्म की शिक्षा हमारे बालकों को प्राप्त होगी । शिक्षकों का स्तर नीचा होने से ही समाज गिरा हुआ है । इसीलिये हमें चाहिये कि योग्य व्यक्तियों को शिक्षक का स्थान दिया जाय ।

नैतिकता

(सुरक्षा मंत्री माननीय श्री महावीर त्यागी)

जिस प्रकार बीज से वृक्ष बन जाता है उसी प्रकार बच्चे के शरीर से मनुष्य बन जाता है। पशु और मनुष्य में केवल बुद्धि का अन्तर है। जिस प्रकार शरीर को पुष्ट करने के लिये व्यायाम और खुराक की आवश्यकता है, उसी प्रकार दिमाग को पुष्ट करने के लिये अच्छे विचारों की। विद्यार्थी काल में आपको अच्छे से अच्छे विचार मिलने चाहिये जो नैतिकता से आते हैं। अधिक लिख पढ़ लेना शिक्षा नहीं, शिक्षा का साधन मात्र है, केवल भाषा ज्ञान नहीं, भाषा के द्वारा ज्ञान पैदा होता है। किसी विषय को केवल पढ़कर जान लेने से सफलता प्राप्त नहीं हो सकती, बल्कि पढ़ने के बाद कार्य करने के अनुभव से सफलता मिलती है।

जिस मनुष्य में निश्चय शक्ति नहीं, उसके आचरण पर पूर्ण विश्वास नहीं किया जा सकता। मनुष्य का व्यक्तित्व शरीर से नहीं ऊँची आत्मा अच्छे विचार और अटल निश्चय से जाना जाता है जिसका दायित्व आप के गुरुजनों पर है। यदि एक देश में ईमानदारी बहादुरी और शक्ति लानी है तो उसके बच्चों में अटल निश्चय की भावना ठूँस देनी चाहिये।

नैतिकता मनुष्य को आगे बढ़ाने का सर्वोत्तम साधन है। यदि आप के अन्दर अटल निश्चय, बहादुरी और इमानदारी की आदत हो जाये तो मैं आप को विश्वास दिलाता हूँ कि आप भारत की आन, शान मर्यादा को सुरक्षित रख सकेंगे।

भारत का नव-निर्माण

(माननीय डाक्टर सम्पूर्णानन्द जी, गृह सचिव उ० प्र०)

शिक्षा क्षेत्र में ऐसे प्रयोग की आवश्यकता है, जिससे किसी ऐसी शिक्षा प्रवृति व पद्धति का निर्माण और विकास हो सके जो देश के भावी नागरिकों का चरित्र-गठन करके उन्हें सुयोग्य नागरिक बना सके।

आज सभी जगह अधिकारों और कर्त्तव्यों की बात की जाती है जब कि धर्म ग्रन्थों में कर्त्तव्यों पर ही जोर दिया गया है और अधिकारों का कोई विशेष उल्लेख नहीं है। अधिकारों में तो निरन्तर संघर्ष है। जब इस बात पर बल दिया जायगा कि मनुष्य का दूसरे के प्रति क्या कर्त्तव्य है तभी संघर्ष रुकेगा।

'धर्मनिरपेक्षता' इसका अर्थ धर्म से मुँह मोड़ लेना नहीं है यह तो भारतीय संस्कृति की एक विशेषता और संस्कार है। आज स्कूलों और कालेजों में धर्म की शिक्षाओं का कोई स्थान नहीं है। ऐसे समय यह विचारने का विषय है कि उन्हें मौलिक शिक्षा कहाँ और कैसे मिलेगी ? इसे भुलाया नहीं जा सकता कि भारत की परम्परा धर्म के बिना सुरक्षित नहीं रह सकती। अंग्रेजी राज्य की समाप्ति के बाद भी उनकी नकलें करने की प्रवृति दूर नहीं हुई है झूठ का बोलबाला सा होरहा है और सत्य व निष्ठा का अभाव सा है। इस कमजोरी को दूर करने के लिये चरित्र-गठन पर जोर देना होगा। धर्म को छोड़ दिया जाय तो नैतिक शिक्षा का आधार ही क्या रह जायगा ? धर्मों को आदर की दृष्टि से देखा जाय संकुचित साम्प्रदायिकता के ऊपर धार्मिक-शिक्षा हमारे देश में भली प्रकार से सम्भव है। धर्म और संस्कृति के साथ ही हमें यह भी ध्यान रखना है कि भारतीय परम्परा के अनुकूल ही हमारे भावी नागरिकों के चरित्र का निर्माण हो—तभी नये भारत के निर्माण का प्रयत्न भी सार्थक हो सकता है।

सदाचार

(श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज)

प्रश्न—मनुष्य कैसे सुखी हो सकता है ?

उत्तर—सद्गुण के ग्रहण और दुर्गुणों के त्याग करने से।

प्रश्न—दुर्गुण कौन-कौन हैं ?

उत्तर—आलस्य, प्रमाद, दीर्घसूत्री, क्रोध, चुगली, कृतघ्नता आदि दुर्गुण

प्रश्न—आलस्य दूर करने के क्या उपाय हैं ?

उत्तर—(१) मेरुदण्ड सीधाकरके बैठे ।

(२) उठकर खड़ा हो जाय।

(३) मुख हाथ पैर धो डाले।

(४) कुछ देर टहले।

(५) कान पकड़कर उठे बैठे(बालकोंके लिये)

प्रश्न—क्रोध दूर करने के कितने उपाय हैं ?

उत्तर—(१) पानी पी लेना।

(२) उल्टी गिनती गिनना या ईश्वर से प्रार्थना करना।

(३) यदि अपने से बड़ा हो तो क्षमा माँग-लेना या चरण छू लेना।

(४) स्थान से हट जाना या मौन हो जाना।

(५ शीशे में अपना मुँह देखना।

(६) सब में ईश्वर भाव रखना।

(७) कामना का त्याग करना।

प्रश्न—दूसरों के अवगुण क्यों नहीं देखना चाहिये ?

उत्तर—दूसरों के अवगुण देखने से वह अवगुण अपने में आजाते हैं, जैसे किसी मनुष्य की दुखती हुई लाल आँख देखने से अपनी भी आँख लाल होजायगी। इसी प्रकार दूसरे के अवगुण देखने से वही अवगुण अपने भीतर भी आजाते हैं इसलिये दूसरों के अवगुण नहीं देखने चाहिये।

प्रश्न—अपने दुर्गुण दूर करने के क्या उपाय हैं ?

उत्तर—(१) अपने अवगुण स्वयं देखना, एकान्त में अपने हितू प्रेमी से नम्रता पूर्वक अपने अवगुण पूछना और उनको छोड़ने की चेष्टा और प्रतिज्ञा करना; दूसरे के सद्गुणों का ध्यान करना।

प्रश्न—सन्तोष कहाँ करना चाहिये और कहाँ नहीं ?

उत्तर—शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति में संतोष करना चाहिये जैसे भोजन वस्त्रादि में; और परोपकार, वेदाध्ययन सेवा आदि में संतोष नहीं करना चाहिये।

प्रश्न—सद्गुण बढ़ाने के क्या उपाय हैं ?

उत्तर—मनुष्य सदैव अपने अवगुण न देखकर दूसरों के अवगुण देखता है, जिससे अव-गुण बढ़ते और गुण नष्ट होते हैं। उसे दूसरों के गुण तथा अवगुण अपने देखने चाहिये और उनको निकालने का सतत प्रयत्न करना चाहिये। इससे वह सद्गुणों का समुद्र बन जायगा।

प्रश्न—सन्तोष किसे कहते हैं ?

उत्तर—अपने कर्त्तव्यानुसार पुरुषार्थ करके जो फल प्राप्त हो उसी में प्रसन्न रहना सन्तोष है।

प्रश्न—मनुष्य किसे कहते हैं ?

उत्तर—जिसकी बुद्धि ईश्वर और धर्म को जानती है।

प्रश्न—ईश्वर की सेवा क्या है ?

उत्तर—सारे विश्व की सेवा ही ईश्वर की मुख्य सेवा है।

(सदाचार से)

जीवन-सुधार

(परमभागवत् सेठ जयदयाल जी गोयन्दका)

मनुष्य को अपना जीवन सदाचारमय बनाना चाहिये। यह मानव-जीवन बड़ा ही अमूल्य है। मनुष्य को चाहिये कि वह अपना सब प्रकार से उत्थान करे और पतन के मार्ग में तो कभी भूलकर भी पैर न रक्खे। भगवान् गीता में कहते हैं—

उद्धरेदात्मनाऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥
(६।५)

'अपने द्वारा अपना संसार-समुद्र से उद्धार करें और अपने को अधोगति में न डाले; क्योंकि यह मनुष्य आप ही तो अपना मित्र है, आप ही अपना शत्रु है।'

परन्तु आजकल अधिकतर पतन की ओर ही प्रवृत्ति होती जा रही है। नैतिक, समाजिक और धार्मिक—सभी दृष्टियों से हमारा उत्तरोत्तर पतन होता जा रहा है और वर्तमान काल में तो बहुत ही पतन हो गया है लोगों में झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी और चोरबाजारी इतनी बढ़ गई कि प्रतिशत एक व्यक्ति भी शायद ही इससे अछूता रहा हो।

परन्तु जो मनुष्य अन्याय से धनोपार्जन करता है, वह न तो जीते-जी उस धन का भोग ही कर सकता है और न उसे पुण्य-दान में ही लगा सकता है; क्योंकि पाप से पैदा किये हुए द्रव्य का पुण्य में लगना असम्भव-सा है, वह तो अधिकांश में पाप में ही लगता है। बबूल के वृक्ष में तो काँटे ही लगते हैं, उसमें आम कहाँ? अतः पाप से उपार्जित द्रव्य से न इस लोक में लाभ है और न परलोक में ही। वह धन या तो मुकद्दमेबाजी में लगकर नष्ट हो जाता है या किसी कारण से सरकार के अधिकार में चला जाता है अथवा चोर-डाकुओं के हाथों में पड़कर पूरा हो जाता है। यदि रहता भी है तो प्रायः उसका दुरुपयोग ही होता है। इसलिये अन्याय से कभी पैसा पैदा नहीं करना चाहिये। न्यायोपार्जित द्रव्य से खाने के लिये एक मुट्ठी चना ही मिले तो वह भी मेवा-मिष्टान्नों से बढ़कर है। यदि अन्याय से मेवा-मिष्टान्न भी मिलें तो उन्हें विष के समान समझना चाहिये। शरीर का निर्वाह ही तो करना है। वह तो मेवा-मिष्टान्न से भी होता है और चनों से भी हो सकता है। हम यदि चने-बाजरे की रोटी खा लें तो क्या और मेवा-मिष्टान्न खा लें तो क्या, आखिर तो सब चीजों की एक ही गति होनी है। अतः मनुष्य को इन सब बातों को विचार कर अन्याय का कभी आश्रय नहीं लेना चाहिये तथा अपना जीवन सब तरह से सुधार कर पवित्र बनाना चाहिये।

समाज में इस समय बहुत सी कुरीतियाँ बढ़ी हुई हैं, उनका भी सुधार करना चाहिये तथा फिजूल-खर्ची घटाने की कोशिश करनी चाहिये।

दहेज की प्रथा तो बिल्कुल ही तोड़ देनी चाहिये; यदि बिल्कुल न टूट सके तो बहुत संक्षिप्त, केवल नाममात्र को रखनी चाहिये। दहेज लेना एक बहुत ही निन्दनीय कर्म है। दहेज न दे सकने के कारण बहुत से गरीब भाई दुखी और संतप्त हो रहे हैं। इस लिये बहुत सी लड़कियाँ तो अपने माता-पिता के इस दुःख को देखकर आत्महत्या कर लेती हैं और बहुत-से माता-पिता भी यदि लड़की बीमार हो जाती है तो उसके मरने ही की बाट देखते हैं तथा मरने पर बाहर से शोक प्रकट करते हुए भी भीतर से प्रसन्न

ही होते हैं । उनकी आत्महत्या और मृत्यु के पाप का भागी दहेज लेने वाला ही होता है। दहेज लेने वाले को कोई विशेष लाभ भी नहीं होता । क्योंकि जो दहेज लेता है, उसे भी कभी देना ही पड़ता है; वह तो दहेज लेकर केवल अपयश और पाप का ही भागी बनता है । इसलिये दहेज को एक प्रतिग्रह के समान समझकर अथवा रक्त से सना हुआ द्रव्य मानकर उसका बिल्कुल त्याग कर देना चाहिये ।

सगाई, विवाह, द्विरागमन आदि के अवसर पर बुरे गीत गाना, हँसी-मजाक करना—ये सब बहुत ही हानिकारक कुरीतियाँ हैं । इनको भी बन्द करने की चेष्टा करनी चाहिये । इनसे नैतिक, सामाजिक और धार्मिक—सब प्रकार का पतन होता है ।

लड़का पैदा होने के समय या दीपावली पर लक्ष्मी-पूजन के समय अथवा अन्य किसी समय भी चौपड़, ताश, शतरंज, जुआ आदि खेलना पाप की जड़ है तथा समाज को कलङ्क लगानेवाला काम है । इस प्रथा को भी उठा देना चाहिये ।

विवाह के अवसर पर जुआ, आतिशबाजी, नाटक-सिनेमा, कुरुचिपूर्ण खेल-तमाशे कला के नाम पर युवती-नृत्य, बनोरी निकालना आदि सब प्रमाद हैं इनका सर्वथा त्याग करना चाहिये तथा खातिरदारी में विदेशी ढंग से और अपवित्र वस्तुयें आदि देना व्यर्थ खर्च करना है । इन सब को बन्द कर देना चाहिये । परन्तु आजकल तो प्रायः रोज ही लोग नाटक-सिनेमा, थियेटर, खेल-तमाशे क्लब आदि प्रमाद में अपना समय और धन बर्बाद करते हैं । इस प्रकार प्रमाद में व्यर्थ खर्च करना बड़ी मूर्खता है । इस प्रमाद से समय और धन को बचाकर उसे दीन-दुखी, गरीब, अनाथ, शरणार्थी और विधवाओं की सेवा में लगाना चाहिये, जिससे इस लोक और परलोक में कल्याण हो ।

मिथ्या वहम का भी परित्याग करना चाहिये । डोरा-यन्त्र कराना, झाड़ फुँकवाना आखा दिखाना, पीर, फकीर, भैरव आदि के यहाँ जात-झडूला बोलना—ये सब धूर्तों के चलाए हुये पाखण्ड हैं । समझदार स्त्री-पुरुषों को इनके फंदे में फंसकर अपने बुद्धि और विवेक मिट्टी में नहीं मिलाना चाहिये ।

मनुष्य को ब्रह्मचर्य के पालन पर विशेष ध्यान देना चाहिये । शरीर में वीर्य ही एक प्रधान सार वस्तु है, इसकी सब प्रकार से रक्षा करनी चाहिये । इसके नाश से मनुष्य के बल, बुद्धि, आयु, तेज और ओज का ह्रास होकर उसका यह लोक तथा परलोक दोनों बिगड़ जाते हैं और इसके संरक्षण से बल, बुद्धि, तेज एवं ओज की वृद्धि होकर उसके दोनों लोक सुधर जाते हैं । इसलिये परस्त्री के दर्शन चिन्तन, स्पर्श का तो त्याग कर ही देना चाहिये; यदि किसी कार्य से आवश्यक बात करनी पड़े तो नीची दृष्टि रखकर माता बहिन समझते हुए ही सम्भाषण करना चाहिये । लड़के-लड़कियों का स्पर्श तथा चुम्बन भी कभी नहीं करना चाहिये तथा ऐश आराम-भोग की वस्तुओं को, शृङ्गार-शौकीनी को इस विषय में खतरनाक जानकर इनसे बहुत ही दूर रहना चाहिये ।

सुख का साथी जगत सब, दुख का नाहीं कोइ ।
दुख का साथी साइयाँ, दादू सतगुरु होइ ॥

नैतिक चरित्र-बल

(श्रद्धेय श्री हनुमानप्रसाद जी पोद्दार सम्पादक "कल्याण")

जिनमें चरित्र बल नहीं होता वे ही संसार में सबसे अधिक क्लेश पाते हैं। चरित्र बल नहीं रहने से हम किसी भी महान कर्म करने में समर्थ नहीं होंगे। झूठ बोलना, लोगों को ठगना एवं कर्त्तव्य में अनिच्छा होना ये सब दुर्बल चरित्र के लक्षण हैं। नैतिक बल ही चरित्र बल है। जिसके पास यह बल नहीं है वह पशु से भी हीनतर कार्य करने में संकोच नहीं करता। जगत में शान्ति और कल्याण की स्थापना में इनके जैसा शत्रु और कोई भी नहीं है। सत्य, त्याग और सेवा इन तीनों के द्वारा ही मनुष्य के चरित्र बल की वृद्धि होती है। इसी के लिये यम नियमादि की साधना की जाती है। अन्य गुणों से सम्पन्न होने पर भी यम नियम से हीन उच्छृङ्खल मनुष्य संसार में प्रतिष्ठा या कर्म को प्राप्त कर नहीं पाता। यम-नियम शील चरित्रवान पुरुष यदि निरहङ्कार हो सके तो वह इनके सारे फलों को प्राप्त कर कृतार्थ हो जाता है।

शुभ कर्म करके अहंकार नहीं करना चाहिये, क्योंकि जो कुछ हम करते हैं उससे हमारा ही तो मङ्गल होता है, इसके अतिरिक्त तो कुछ नहीं करते दूसरों की त्रुटि और दोष को क्षमा करना चाहिये। दरिद्र अस्वस्थ और पीड़ित मनुष्यों को आश्रय देना चाहिये। कोई कितना ही दरिद्र हो, पापी हो, किसी से घृणा नहीं करनी चाहिये। पापी से घृणा न करके उसे अन्धे के समान मार्ग भूला हुआ जानकर उसके प्रति दया दृष्टि करनी चाहिये एवं मित्रभाव से उसे धर्म का सुन्दर पंथ दिखा देना चाहिये।

हमारे हृदय-देवता सबके अन्दर समभाव से विराजमान हैं—इस बात को भूल जाने से हम न किसी से प्रेम कर सकते हैं और न हमसे सेवा ही हो सकती है। लाभ हानि का विचार करने से ही स्वार्थ-परता आ जाती है। स्वार्थ-परता के रहते प्रेम कभी पुष्ट नहीं हो सकता। जो कुछ आमदनी हो उसका कुछ अंश परोपकार में व्यय करना चाहिये भगवान् जिस प्रकार सबके आश्रय हैं, भगवद्भक्त और ज्ञानी को भी उसी प्रकार सबका आश्रय स्थानीय होना चाहिये।

जिसमें सब मनुष्य सत्-मार्ग पर चलें, शुभ कर्मों का अनुष्ठान करें इसके लिये हमें विशेष लक्ष्य रखना उचित है। हमें यह जानना चाहिये कि हमारे चारों ओर के सब लोग जब तक उन्नत न हों तबतक हमारी व्यक्तिगत उन्नति का कोई विशेष मूल्य नहीं है। हमारे चारों ओर के जन-समूह की उन्नति में ही हमारी यथार्थ उन्नति है। सबको छोड़कर अकेले हम कुछ भी नहीं हैं। वास्तव में सम्पूर्ण जगत के वर्तमान एवं अतीत युग-युगान्तर के कर्म-फलों से क्या हम सब बँधे हुए नहीं हैं? एक मनुष्य की दुष्कृति का फल क्या हम सब मिलकर नहीं भोगते हैं? क्योंकि किसी को भी छोड़कर हम अकेले पूर्ण नहीं हैं। इसीलिये इस विशाल जन-समूह के समस्त पाप पुण्यों ने हमको बाँध रक्खा है। हमारी उन्नति सबकी उन्नति के साथ ही होगी। अतः जो जितना भी सत्कर्म करेंगे या पुण्य कर्म में सहायता करेंगे, वे उसे विश्व के मानव के लिये करेंगे, केवल अपने ही लिये नहीं। क्योंकि 'महात्मा' ही 'सर्वभूतात्मा' है। शरीर के किसी भाग में जब कभी कोई फोड़ा या किसी प्रकार के सुख स्पर्श का अनुभव होता है, उस समय जिस प्रकार सर्वाङ्ग को ही दुःख-सुख का भोग होता है, उसी प्रकार प्रत्येक जीव के पाप-पुण्य, सुख-दुःख हम सबको मिलकर ही भोगने पड़ते हैं, अतः आलस्यहीन होकर केवल अपनी जाति और अपने लोगों

के लिये ही नहीं. विश्व की समस्त मानव-जाति और जीवमात्र के लिये मङ्गल कामना करनी होगी। पर-निंदा और पर-चर्चा करने की अभिलापा दुर्वल और मलिन चित्त की पहिचान है। परन्तु पर निन्दा और पर-चर्चा में ही हमारा विशेप उत्साह दिखाई पड़ता है। जो समय हम परचर्चा में बिताते हैं, वह यदि सत् आलोचना में बितावें तो उससे उन्नति के मार्ग में हम विशेप रूप से अग्रसर हो सकते हैं।

आलस्य, दीर्घसूत्रता और विश्रङ्खलता आत्मोन्नति में विघ्न हैं। इन सब को प्राणपण से छोड़ना होगा। जिनको इतर श्रेणी के कहकर हम घृणा करते हैं, उनमें जिससे सत्-शिक्षा और ज्ञान का उदय हो उसके लिये हमें अत्यन्त यत्न करना आवश्यक है। किसी को कोई अन्याय करते देख कर उसे सावधान कर देना उचित है। जो जीव के मंगल के लिये कर्म करते हैं, उनमें यदि कोई त्रुटि आजाय तो उसका ढिंढोरा पीटना उचित नहीं है। सबका यथायोग्य सम्मान करते हुए शिक्षा देना उचित है। सत्पुरुषों का सम्मान करना सीखें बिना किसी जाति की उन्नति असम्भव है, किन्तु किसी की खुशामद भी नहीं करनी चाहिये। बहुत बोलना भी अच्छा नहीं, बहुत बोलने से ही अनावश्यक बातें निकल जाती हैं। लोगों के साथ बातचीत करते समय या व्यवहार में भद्रता की सीमा का उल्लंघन करना उचित नहीं। शुभकामी पुरुष के लिये किसी गन्दे विषय की आलोचना करना अत्यन्त निन्दनीय है। चार भले आदमियों में हम जो शब्द उच्चारण नहीं कर सकते, उसकी मन में भी आलोचना करना ठीक नहीं है।

किसी की सहायता करने के लिये कमर कस कर बजार में बैठने की आवश्यकता नहीं है। जब किसी की सहायता करनी आवश्यक हो तो विचार पूर्वक भय रहित हो प्राणपण से उसकी सहायता करनी चाहिये। तब अपने लिये विचारने और चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं। अपनी ओर देखोगे तो कभी किसी की सहायता नहीं कर सकोगे। भगवान् हम से माँग रहे हैं यह विचार कर सहायता करनी चाहिये। इस प्रकार निःस्वार्थ परोपकार ही भगवान की यथार्थ पूजा है। भगवान की किसी प्रतिमूर्ति के सामने जब हम किसी वस्तु को निवेदन करते हैं तब उसे ग्रहण करते हैं या नहीं—इसे हम समझ नहीं सकते। अवश्य ही समस्त वस्तुयें जब उसी की हैं तो भी उसे निवेदन करके ही हमें उनका ग्रहण करना उचित है; परन्तु उसे नाम-मात्र को दिखाकर लोभयुक्त चित्त से जब हम सारी की सारी चीजें ले लेते हैं तब उसे प्रसाद समझने में शायद भूल होती है। क्योंकि इस अवसर पर हम कुछ भी नहीं करते। हम देवता को जो समर्पण करते हैं, वह दुर्भाग्यवश हो या सौभाग्यवश, सारा का सारा ही वापस ले लेते हैं परन्तु जहाँ वह सचमुच ही ग्रहण करने के लिये हमारी ओर हाथ बढ़ाये हुए हैं। जहाँ दान करते समय सचमुच हमें कुछ त्याग करना पड़ता है, वहाँ यदि हम दान करसकें, विनीत अन्तःकरण से हम अपने भक्ति अर्घ्य को निवेदन कर सकें तभी हमारा पूजा करना सार्थक होता है। जहाँ दुर्भिक्ष है वहाँ भगवान् अन्न चाहते हैं, जहाँ रोगपीड़ित हैं वहाँ वे प्रभु सेवा शुश्रूषा चाहते हैं, जहाँ गृहहीन हतभाग्य इधर-उधर रोते फिरते हैं वहाँ वे आश्रय-भिक्षा करते हैं; एवं जहाँ वस्त्रहीन दरिद्र लज्जा-निवारण करने में असमर्थ है, वहाँ प्रभु वस्त्र के लिये हाथ फैलाते हैं। यदि हम इस सर्वभूतस्थित भगवान् की पूजा नहीं कर सकते तो अन्य पूजाएँ वृथा आडम्बर मात्र है।

तथापि भगवान् को कोई किसी भी भाव से पूजे, उससे द्वेष नहीं करना चाहिये।

(देखो पृष्ठ १५६)

याज्ञवल्क्य का रुका रहा सत्संग जनक के कारण आज,
धनवानों से पक्षपात करते गुरु समझा शिष्य समाज।
मुनिगण से आग लगी महलों से राजभृत्य आया,
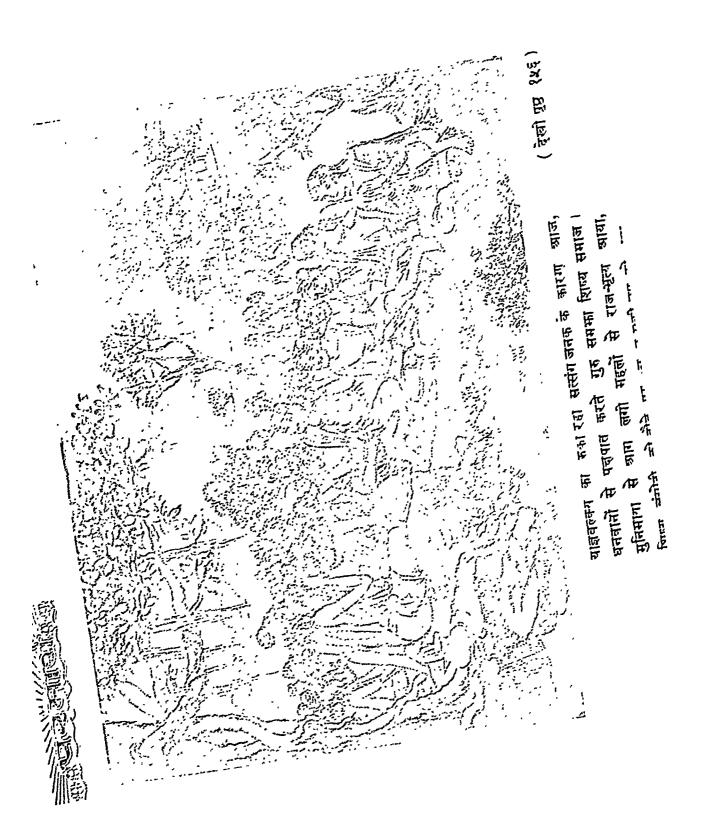
चरित्र-निर्माण में सहायक ?

(आचार्य श्री नरदेव जी शास्त्री, वेदतीर्थ)

"मातृमान्, पितृमान्. आचार्यवान् पुरुषो वेद"

संसार में सदा से चरित्र की आवश्यकता रही है। जिस युग के मनुष्य संख्या में अधिक से अधिक चरित्र-शाली होंगे वह युग सबसे उत्तम है। इसीलिये सत्, त्रेता, द्वापर, कलियुगों की कल्पना की गई है।

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञमित्याहुः, दानमेकं कलौ युगे ॥
(मनु०)

तपः-प्रधान युग सत् है। ज्ञान प्रधान युग त्रेता है, यज्ञ प्रधान युग द्वापर है, दान प्रधान युग कलि है।

इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक युग में कोई एक गुण प्रधान रहता है और अन्य गुण गौण रहते हैं यह हुई युग की बात। उस युग में रहने वाले मनुष्य समुदाय की बात किन्तु व्यक्तिगत दृष्टि से भी आप अनुभव करेंगे कि मनुष्य मात्र में भी सब गुणों का परितोष सब मनुष्यों में नहीं रहता। किसी में कोई गुण विशेष रहते हैं। जिन व्यक्तियों में उच्च कोटि के गुणों का परितोष होता है वे उदात्त धीर आदि गुणों से युक्त होकर संसार के मार्ग दर्शक बन जाते हैं—

चरित्र क्या है ? जीवन यात्रा को करने की उच्चकोटि की कला है। यह कला प्रत्येक को नहीं सधती प्रत्येक को नहीं आती— हमारे नीतिकारों ने स्पष्ट कहा है कि—

(१) जो व्यक्ति पाप से डरकर पाप से बचे वह उत्तम।

(२) जो व्यक्ति पाप को करता है किन्तु पापों से डरता है, वह मध्यम क्योंकि पापों से डरता रहता है इसीलिये संभावना है कि वह कभी पापों से छुटकारा भी पाये।

(३) जिसको किसी पाप से, किसी अपराध से डर नहीं लगता, जो निर्लज्ज होकर विचरता है वह व्यक्ति है निकृष्ट।

इसी प्रकार अपने अपने विचारानुसार नीति कारों ने मनुष्य को तीन समुदायों में बाँटा है। विस्तार भय से सब बातों का उल्लेख असम्भव है।

(१) जो परोपकारी वह उत्तम जिसका अपना स्वार्थ कुछ नहीं।

(२) जो स्वार्थ साधते हुए परोपकार करे वह मध्यम।

(३) जो अपने स्वार्थ के लिये दूसरों के स्वार्थ को नष्ट करता हो वह अधम।

सारांश, चरित्र में सब गुणों का समावेश रहता है। चरित्र में थोड़ा भी दुर्गुण आया कि चरित्र में उतनी ही कमी हुई समझिये—

आजकल तो चरित्र शब्द नितान्त संकुचित अर्थों वाला हो गया है। जैसे—वह व्यक्ति वैसे तो है दुष्ट, किन्तु उसका चाल-चलन अच्छा है, चरित्र अच्छा है—अर्थ यह कि वह विषय-सम्बन्धी चरित्र में अच्छा है। शेष चाहे कितना ही बुरा हो। जैसे—वह व्यक्ति है तो बड़ा झूठा किन्तु वैसे चरित्र में अच्छा है। मतलब यह कि यहाँ चरित्र-शब्द अत्यन्त संकुचित अर्थवाला हो गया है। जैसे वह डाकू है तो बड़ा भयंकर खूब लूटता-पीटता है, पर-द्रव्यापहरण करता है किन्तु है चरित्र-

वाला—इसका अर्थ यह हुआ कि वह डाकू अपना कार्य करते हुए माता-बहिनों को नहीं छेड़ता। जैसे—वह व्यक्ति है तो मद्यप, किन्तु है एक पत्नीव्रत—इसका अर्थ यही हुआ कि वह उस विषय में बचा हुआ है। जैसे वह व्यक्ति दुराचारी है किन्तु लेन देन में सच्चरित्र है। यहाँ भी चरित्र शब्द बहुत संकुचित हो गया देखसकते हैं।

हमारे यहाँ व्यक्ति चरित्रवान् न हों तो उसका वेदाध्ययन भी व्यर्थ है। चरित्र का उत्तम गुण-कर्म स्वभाव के साथ अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है।

न धर्मशास्त्रं पठतीति कारणम्।
न चापि वेदाध्ययनं दुरात्मनः॥
स्वभाव एवात्र तथातिरिच्यते।
यथा प्रकृत्या मधुरं गवां पयः॥

कोई व्यक्ति धर्मशात्र का पण्डित है अथवा वेदाध्ययन करता है इसलिये सच्चरित्र है ऐसा मानना मूर्खता है,वस्तुतः सच्चरित्रता सत्स्वभाव पर निर्भर रहती है। जो चरित्र सतस्वभाव पर निर्भर है वह उत्तम। जो चरित्र यहाँ अनवरत अभ्यास द्वारा निर्माण किया गया हो वह भी उत्तम। जो चरित्र कृत्रिम हो वह दम्भ है। ऐसे ही चरित्र की सीढ़ियाँ रहती हैं। अग्नि को कौन उष्ण बनाता है ? कोई नहीं। वह स्वभाव से ही उष्ण है। जल को कौन शीत बनाता है ? वह स्वभाव से ही शीत है। पलाण्डु में (प्याज में) क्यों दुर्गन्ध है ? स्वभाव से ही है ? नीम में कटुता क्यों है ? स्वभाव से ही है। गौ का दुग्ध क्यों मधुर तथा अन्य उत्तम गुणों से युक्त है ? स्वभाव ही जो ठहरा।

इसी लिये कहना पड़ता है कि उत्तम चरित्र की बात पूर्वजन्म के संस्कारों पर निर्भर है। इस जन्म में आकर उत्कट प्रयत्न करने पर भी सच्चरित्रता आ सकती है। किन्तु जिनके पूर्वजन्म के सुकृत के कारण सच्चरित्र बनाने वाले गुण जन्म अर्थात् स्वाभाव के साथ आते हैं और जो इस संसार में आकर भी उन गुणों के परिपोष में लगे रहते हैं वे ही यथार्थ में संसार के सच्चे मार्ग दर्शक रहते हैं।

सच्चरित्रता केवल अक्षरी ज्ञान पर निर्भर नहीं रहती इसीलिये आचार हीन वेदाध्यायी के विषय में कहा गया है कि:—

आचारहीनं 'न' पुनन्ति वेदाः।

आचार हीन को वेद भी शुद्ध नहीं बना सकते। केवल ऊपर-ऊपर के आचार, कर्म काण्ड भी सच्चरित्र नहीं बना सकते। ऐसे व्यक्ति दम्भियों की कोटि में आते हैं। अक्षर और आचार और विचार तीनों को मिला कर सदाचार, सच्चरित्रता चलती है।

सच्चरित्र बनाने में अपने पूर्वजन्म के संस्कार भी काम देते हैं किन्तु माता, पिता, आचार्य भी सच्चरित्रता को सुरक्षित रखने, उनका परिपोष करने में कारण बनते हैं।

मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद।

मनुष्य सच्चा मनुष्य तभी बन सकता है जिसके चरित्र बनाने में माता, पिता, आचार्य का हाथ लगा हो। ऐसा पुरुष भाग्य शाली है। ऐसे पुरुष के लिये देवता लोग भी लालायित रहते हैं। यदि बालक केवल मातृवान् ही रहा तो भी उसमें कमी रहेगी। केवल पितृमान् रहेगा तो भी बालक परिपूर्ण मानव नहीं बन सकता। मातृमान् पितृमान् रहा किन्तु आचार्यवान् न बना तो भी किसी अंश में कमी ही रहेगी केवल आचार्यवान् रहेगा तो अकेला आचार्य मातृ-पितृ संस्कार विहीन उस बालक का क्या कर लेगा। बालक का चरित्र रूपी चित्र बनाने में, उसको संसारसे विचित्र बनाने में तीनों के हाथों से विविध वर्ण वाली कूँचिया लगेंगी तब सिद्धि होगी।

जीवन का आरम्भ

(श्री विट्ठलदास जी मोदी, सम्पादक 'आरोग्य')

मेरे भाई विश्वनाथ ने, जिसकी उम्र केवल पंद्रह वर्ष है, कहीं पढ़ लिया था कि 'जिन्दगी चालीस वर्ष की उम्र से आरम्भ होती है" और

मुझ से आकर पूछने लगा, 'क्यों भैया, क्या जिन्दगी चालीस वर्ष से शुरू होती है ?" मैं सोचने लगा कि लेखक का अच्छा विश्वास है कि सर्वोत्तम समय तो अब आया है जिसकी प्रतीक्षा की साधना में ही पिछला समय बीता है। ठीक ही है हम जीवन को जब से आरम्भ करना चाहें तभी वह आरम्भ होता है। वह समय बीस, चालीस, साठ, अस्सी किसी भी उम्र में हो सकता है। मैं जब तक सोचूं-सोचूं कि फिर उसने अपना प्रश्न दुहराया— "भैया, जिन्दगी के शुरू होने से क्या मतलब है ? अपनी प्रभा तो आठ वर्ष की ही है, पर उसकी जिन्दगी तो शुरू हो गई है, मेरी तो शुरू हो ही गई है।"

"तुम समझते हो कि जिन्दगी शुरू हो गई है। मेरा तो ख्याल है कि तुम बिना समझे ही यह कह रहे हो।"

इधर महीनों से विश्वनाथ अकेले काशी की यात्रा करने के लिये जिद कर रहा है। वह समझता है कि अगले वर्ष तो उसे हिन्दूविश्वविद्यालय में पढ़ना ही है। वह इसी वर्ष विश्वविद्यालय देख आना चाहता है। यह"अकेले"— आत्मनिर्भरता की भावना ही जीवन में सबसे बड़ी चीज होती है। छोटे लड़के शीघ्र बड़े होकर बड़ों की बंदिश से निकल भागने के लिये जितने उत्सुक रहते हैं वैसी उत्सुकता तो देश की उन्नति के लिये किसी नेता के मन में भी क्या रहती होगी। अतः मैंने विश्वनाथ से कहा, "तुम अकेले बनारस जाना चाहते हो। जब तक तुम अकेले बनारस की यात्रा करके यह साबित न कर दो कि तुम अकेले कहीं भी आ-जा सकते हो तब तक तुम क्या समझोगे कि तुम्हारी जिन्दगी शुरू हुई है ?"

विश्वनाथ की आँखें चमकने लगीं। उसने कहा, "हाँ भैया! ठीक कहते हो।"

मैंने उस वक्त उसे बताया नहीं, पर वह जीवन का सच्चा आरम्भ नहीं होगा, वह तो जीवन शुरू करने के लिये आई चेतनता की एक लहर मात्र कही जायगी।

जैसी अनेक लहरें जीवन में पैदा होती हैं तब कहीं जिन्दगी शुरू होती है। मेरे भी जीवन में ऐसी अनेक लहरें आई हैं। बचपन की बात है। मैं घर के नजदीक एक अखाड़े में कुश्ती लड़ने आया करता था। यह अखाड़ा एक काली-मंदिर के अहाते में था। एक दिन मैंने देखा किसी ने मंदिर की चहार-दीवारी पर गेरू से सुन्दर-सुन्दर अक्षरों में कितने ही पद लिख दिये हैं, उनमें से एक यह भी था:—

उन्नत रहा होगा कभी जो हो रहा अवनत अभी।
जो हो रहा अवनत अभी उन्नत रहा होगा कभी ॥
हँसते प्रथम जो पद्म हैं तम पंक में फंसते वही।
मुरझे पड़े रहते कुमुद जो अन्त में हँसते वही ॥

इस पद्य ने मेरे अन्तर को झंकृत कर दिया। मैं इसपर एक दार्शनिक की भाँति विचार करने लगा कहना चाहिये, एक बाल-दार्शनिक की तरह। मैं

—रहीम

उस वक्त बहुत छोटा था। वह भी मेरे जीवन शुरू करने के रास्ते में एक लहर थी।

दूसरी लहर तब आई जब मैंने अपना घर छोड़ा और कलकत्ते जा बसा। और तीसरी तब आई जब मेरी पहली नौकरी छूट गई थी। उस समय तो मैं किंकर्तव्यविमूढ़-सा हो गया था। मैंने सोचा अब घर वापस चलना चाहिये। मेरी इच्छा और घबराहट को देखकर मेरी पत्नी ने धीरे से पूछा, "यहाँ से चलना क्यों चाहते हैं?" मुझे उनके प्रश्न पर आश्चर्य हुआ और मैंने कहा, "मेरी नौकरी चली गई है और यहाँ बिना काम के रहा कैसे जा सकता है? खांयगे क्या? इसलिये घर चलना ही ठीक है?

"तो क्या यह घर नहीं है? वहाँ जाकर भी तो रोज पत्रों में 'आवश्यकता' के कालम ही देखेंगे और प्रार्थना-पत्र ही भेजेंगे। तो अगर वहाँ से नौकरी की तलाश हो सकती है तो यहां नहीं हो सकती?" बात मेरी समझ में आ गई और महीने भर के अन्दर मैंने नया काम ढूंढ लिया। और मैं आपको बता दूं कि सात वर्ष तक उस फर्म में बराबर काम करता रहा। वह भी एक लहर थी।

और भी अनेक लहरें हैं। कई पुस्तकें जो मैंने पढ़ीं, जो कुछ मैंने देखा-सुना उसमें भी कई लहरें मिलीं, पर सबसे बड़ी लहर तो तब आई जब मैंने अपनी नौकरी से इस्तीफा दे दिया। बात यों हुई कि एक दिन मिल के मालिक आये और उन्होंने एक चिट्ठी देखी जो मैंने किसी फर्म को एक बड़े कंट्रेक्ट को लिखी थी। जैसी अनेक चिट्ठियाँ प्राय: लिखनी पड़ती थीं और यह कभी नहीं हुआ कि उन से मिल का यथेष्ट हित-साधन न हुआ हो। उस पत्र को देखकर उन्होंने मुझसे कहा, "आप तो बुद्धि से काम नहीं लेते।" कुछ लोग इसी प्रकार बात करनेके आदी होते हैं। पैसा होने से ही बात करने का सलीका थोड़े ही आजाता है। पर कभी कभी उन्हें भी उन्हीं के कोप के शब्दों में जवाब देने की जरूरत होती है। मैंने कहा, "बुद्धिसे काम कैसे लिया जा सकता है, उसे तो आपने अपने पाकेट में बन्द कर रखा है।" इतना मैंने कहा और अपनी टेबुलपर आकर अपना इस्तीफा लिखा और चपरासी के हाथ भेजकर अपने घर लौट गया। वास्तव में पराधीनता मुझे बराबर खटकती थी। मैं अपना— कुछ स्वतन्त्र व्यवसाय करना चाहता था। यह अवसर तो उस लहर का अतिरेक था जो एक विकृति के साथ समाप्त हुआ। खैर, छापेखाने के प्रति मेरी विशेष रुचि थी। लगता था कि यह कार्य कितना आमोदप्रद होगा और इस कार्य में मैं अब लग गया हूँ।

पर किसी भी एक लहर से यह नहीं जाना जा सकता कि जिंदगी कब शुरू होती है। वह अलग चीज है।

प्रत्येक मनुष्य के जीवन में एक ऐसा समय आता है जब एकाएक उसे प्रतीत होने लगता है कि उसके जीवन को अनेक छोटी-छोटी चीजें लघु बना ही रही हैं, उसकी खुशी को उससे दूर रख रही हैं। और मनुष्य यह अनुभव करने लगता है कि जीवन उसे वह नहीं दे रहा है जो वह जीवन से चाहता है। उसे उस समय स्पष्ट दिखाई देने लगता है— संभवतः पहली बार—कि वह जीवन से क्या प्राप्त करना चाहता है? वह क्या बनना चाहता है? और वह क्या है?

बस इसी क्षण जिन्दगी का आरम्भ होता है यह नहीं है कि उसी वक्त हम सब कुछ एकाएक करने लग जायँगे, वह पा जायँगे, जो हम चाहते हैं। पर इसमें जो मूल वस्तु है वह यह है कि हम जान जाते हैं कि हम क्या करना और क्या पाना चाहते हैं?

एक अध्यापक थे जो लेखक का काम करना चाहते थे। जो काम वह कर रहे थे, बुरा नहीं था, बहुत सम्माननीय था। पर एक समय ऐसा आया कि जब उन्हें लगा कि उन्हें वह उपन्यास लिख ही डालना चाहिये जिसके सपने वह वर्षों से देख रहे हैं। और उन्होंने अध्यापन का काम छोड़ दिया और अपने एक मित्र के घर साल में उपन्यास लिख डाला। उसके बाद और भी अनेक उपन्यास लिखे। उस उपन्यास का नाम है—"सेवासदन"। लेखक का नाम आप जान ही गये होंगे। हिंदी के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार प्रेमचन्द।

मैं अपने एक पड़ोसी के एक लड़के की बात जानता हूँ। वह डाकखाने में क्लर्क का काम करता था। उसे जासूसी उपन्यास पढ़ने और संकेत लेखन विधिद्वारा लोगों की बात-चीत और वक्तृता लिखने का बेहद शौक था। डाकखाने का काम करने में भी वह कम निपुण नहीं था, उसे कई तरक्कियाँ मिलीं थीं, पर एक दिन उसने अपनी नौकरी छोड़दी और अब वह एक प्रान्त की पुलिस के खुफिया विभाग में उच्च अधिकारी हैं।

जीवन तब आरम्भ होता है जब आपको दिखाई देने लगता है कि आप जिंदगी से क्या चाहते हैं? क्या करना चाहते हैं, और खुद क्या बनना चाहते हैं? उसी समय आपकी जिंदगी के शुरू होने का साहस पूर्ण कार्य आपके लिये आरम्भ होता है। यह साफ-साफ समझ सकना आसान नहीं है, पर यह अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिये जरूरत है कि हम अपने को समझें कि हम क्या पसन्द करते हैं और क्या चाहते हैं? इसमें वर्षों लगते हैं, आदमी जवानी से प्रौढ़ावस्था को प्राप्त होने लगता है, तब जाकर वह समझ पाता है कि वह अपनी जिंदगी को किस सांचे में ढाल सकता है। अपने पर आस्था जमाने के लिये, जो मैं चाहूँ कर सकता हूँ, बन सकता हूँ, पर विश्वास करने के लिये हिम्मत की जरूरत होती है। इसके बाद ही हम अपनी जिंदगी शुरू कर सकते हैं, जिंदगी के बड़े काम तभी शुरू होते हैं।

सम्भवतः आपने अपनी शक्तियाँ तौल ली हैं। यदि नहीं तो आपको केवल यही समझना है कि आप क्या कर सकते हैं। क्या बन सकते हैं? कौन-सा काम आपकी जिंदगी को खुशी से भर सकता है? बस, इसका आप निश्चय कीजिये, अपने निश्चय को अपना लक्ष्य बनाइये और उसे पाने के लिये आपका हर क्षण कार्य में लगे। बस, आपकी जिंदगी शुरू हो जायगी।

जिंदगी आपकी है इसीलिये आप खुद ही जवाब दीजिये कि आप इसे क्या चाहते हैं? किसी चीज से आपको ज्यादा-से-ज्यादा खुशी मिल सकती है। बस, उसके लिये कार्य आरम्भ कीजिये। यह कार्य आपके लिये मजाक हो जायगा। जिंदगी आपको साहसिक कार्यों की रंगभूमि प्रतीत होगी।

तो जिन्दगी कब शुरू होती है? आप इसे अभी शुरू कर सकते हैं। तो उसका जवाब होगा आपकी वह उम्र जो इस क्षण आपकी है।

आप न काहू काम के, डार पात फल मूर।
औरन को रोकत फिरै, रहिमन कूर बबूर॥

—रहीम

बेईमानी परले सिरे की मूर्खता है।

(पं० श्रीराम शर्मा आचार्य, सम्पादक, अखण्डज्योति मथुरा)

साधारणतया लोग ऐसा सोचते हैं कि "ईमानदारी का रास्ता टेढ़ा-मेढ़ा है। ईमानदारी की नीति अपनाने पर बहुत देर में बहुत थोड़ा लाभ होता है इसलिये जिसे जल्दी धन कमाना है, जल्दी उन्नति करनी है उसे बेईमानी और चालाकी का मार्ग अपनाना चाहिये।" आम तौर से लोगों की यही मान्यता है और व्यवहार में इसी नीति को अपनाकर लोग जैसे बने वैसे जल्दी से धन प्रतिष्ठा, प्रभाव, सत्ता आदि अभीष्ट वस्तुयें प्राप्त करने के लिये छल, कपट, धोखा बेईमानी, मिलावट, चालाकी आदि का आश्रय लेते हैं, और दूसरों को मूर्ख बनाने और अपना उल्लू सीधा करने में लगे रहते हैं।

यदि आध्यात्मिक दृष्टि को पुण्य, परमार्थ और कर्त्तव्य को बात को थोड़ी देर के लिये नजर अन्दाज भी कर दें तो भी लाभ की दृष्टि से भी यह नीति ठीक दिखाई नहीं पड़ती। क्योंकि चोरी, बेईमानी और धोखाधड़ी की नीति पर पूर्ण निष्ठा रखने वाले और इन्हीं तथ्यों के आधार पर अपना कार्यक्रम चलाने वाले लोगों में से ५ प्रतिशत को भी धनी-अमीर बड़ा आदमी, सफल मनोरथ एवं कृत कारी होता देखा नहीं गया है। चोर, डाकू, उठाई गीर, ठग, जुआरी जेबकतरे जीवन भर अपना काम करते रहते हैं पर उनमें से शायद ही कोई धनी, अमीर, या बड़ा आदमी बना हो। इसके विपरीत जिन लोगों से कोई दृढ़ नीति मजबूत सिद्धान्त अच्छा आदर्श एवं कठिन परिश्रम को अपनाना है इतना छोटा रम्भ होते हुए भी एक दिन उन्नति के उच्चशिखर पर पहुंचने की सफलता प्राप्त की है।

बेईमानी की अनीति पूर्ण नीति अपनाने का सबसे बड़ा दुष्परिणाम यह होता है कि उसका कोई भी सच्चरित्र नहीं रह जाता, कोई भी उस पर विश्वास नहीं करता और सच्चे मन से सहयोग करने को या उससे घनिष्ठ सम्बन्ध रखने को कोई भी तैयार नहीं होता। बिना उपाय लोगों के अच्छे सहयोग को कोई भी व्यक्ति धनोपार्जन, नेतृत्व व्यापार पद प्राप्ति आदि किसी भी कार्य में भली प्रकार सफल नहीं हो सकता। बेईमान आदमी यद्यपि अपेक्षाकृत अधिक चतुर प्रतिभावान एवं व्यवहार कुशल होते हैं फिर भी उनको उतनी भी सफलता नहीं मिलती जितनी कि एक साधारण योग्यता का मनुष्य प्राप्त कर लेता है।

बदमाशों के गिरोह में अकसर फूट पड़ जाती है, उनमें संगठन अधिक दिन नहीं चलते। आपस में ही एक दूसरे की चुगली करते हैं, मुखबर बनते हैं और जान के गाहक बन जाते हैं। कारण यह है कि इस प्रकार के लोग भी एक दूसरे में अविश्वास करते हैं, घृणा की दृष्टि से देखते हैं और अपने तनिक से स्वार्थ के लिये साथी का अनिष्ट करने में नहीं चूकते। ऐसे व्यक्तियों के संगी साथी ही नहीं, कुटुम्बी, स्त्री, पुत्र तक उनसे घृणा करते हैं और बुरा अवसर आने पर उससे मुँह मोड़ लेते हैं। ऐसी दशा में कोई व्यक्ति न तो उन्नतिशील ही हो सकता है और न सुखी एवं सन्तुष्ट ही रह सकता है।

जिस व्यक्ति ने कठोर परिश्रम के साथ जो वस्तु उपार्जित नहीं की है वह उसका तीव्र प्रखर उपभोग करना भी नहीं जानता। बेईमान आदमी कभी कभी

कुछ ही देर में बहुत धन प्राप्त कर लेते हैं पर उसमें उसका समुचित समय और श्रम सम्मलित न होने से वे उसका मूल्य नहीं समझ सकते और न उनका सदुपयोग ही कर सकते हैं। वह धन उनके हाथों में से देखते देखते उड़ जाता है। फिजूल खर्ची विलासिता शौकीनी शान शौकत और न जाने क्या क्या बलाएँ उनके पीछे लग जाती हैं और उस धन को थोड़े ही समय में नष्ट करा देती हैं। इसी प्रकार जिनको अनायास ही कोई पद मिल जाता है वे भी ऐसे इतराते हैं। उनका अहंकार आकाश को छूने लगता है, फल स्वरूप बेहिसाब जलने वाला कुछही समय में बुझ जाता है।

यह सोचना गलत है कि बेईमानी से पैसा कमाया जाता है या कोई उन्नति होती है। सच बात यह है कि यह लाभ तो केवल ईमानदारी से ही मिल सकते हैं। जो लोग सोचते हैं कि हमने अपनी चालाकी से इतना पैसा कमा लिया वे गलती पर है। असल में उसने ईमानदारी की ओट लेकर ही वह अनन्त लाभ उठाया है। कोई व्यक्ति साफ शब्दों में यह घोषणा कर दे कि "मैं बेईमान हूँ—मेरी कार्य पद्धति धोखेबाजी और बेईमानी से भरी हुई है।" इसके बाद भी वह कमा के दिखाते तो यह माना जा सकता है कि बेईमानी में कुछ कमाने की शक्ति है। असल में यह तो ईमानदारी का ही निचोड़ लेना हुआ। यह क्रम तभी तक चल सकता है जब तक कि दूसरे लोग उस बेईमान आदमी को भी ईमानदार समझते रहें। जिस दिन उसका पड़दा फाश होजाता है, बदमाशी प्रकट हो जाती है, उस दिन उसकी सारी चालाकी धूलि में मिल जाती है, और कोई उसे टके सेर भी नहीं पूछता।

सस्तेपन का प्रलोभन देकर घटिया माल भेड़ने वाले दुकानदारों को परले छिरे का मूर्ख समझना चाहिये। ये ग्राहक की हानि करते हैं। अथवा आगे का गल्ला बन्द करते हैं और जिस डाल पर बैठे हैं उसे काटकर अपनी जीविका के माध्यम का भविष्य ही अन्धकारमय बना देते हैं। घी में वेजीटेबुल तेल मिलाने वालों ने ग्राहकों का स्वास्थ्य नष्ट किया, अपने ऊपर से विश्वास नष्ट करके ग्राहकों से हाथ धोया, साथ ही दुधारू पशुओं को भी उसी का पात्र बनाया। आज यह स्थिति है कि कोई व्यक्ति वस्तुतः असली घी का व्यापार भी करता है तो उस पर कोई विश्वास नहीं करता। और यह सोचकर कि अधिक दाम देने पर भी जब खराब चीज ही मिलती है तो मुनाफा दाम पर खुला वेजीटेबुल घी ही क्यों न खायें? और सब लोग डाल्डा ही खरीदने लगे हैं। इस प्रकार घी का व्यापार नष्ट करने एवं वेजीटेबुल घी को बढ़ाने के मूलकारण ये मिलावट करने वाले लोग ही हैं।

शहद का व्यापार नष्ट हो गया। भारतवर्ष में पर्वत पर शहद पैदा होता है। पर जिन्हें असली शहद लेना है वे विदेशों से आये हुए सील बन्द शहद पर ही विश्वास करते हैं और चौगुने दाम खुशी से देते हैं। उधर असली शहद वाले सस्तेपन की घुड़-दौड़ में व मिलावट बढ़ाते जाते हैं फिर भी बिक्री न होने का रोना रोते हैं। विलायतों से लाखों रुपये का शहद आकर हमारे देश में बिकता है और यहाँ का शहद उपेक्षित रूप में सड़ता और नष्ट होता फिरता है। शहद के व्यापार की यह दुर्दशा करने और विदेशियों के घर भरने और ग्राहकों का चौगुना दाम खर्च कराने का श्रेय इन मिलावट करने वालों को ही है। इसी प्रकार की नीति भारतवर्ष के अधिकांश व्यापारी बरतते हैं। फल-स्वरूप विदेशों में तो उनकी चीजों की कोई पूछ नहीं, अपने देश में भी स्वदेशी से लोग नाक भौं सिकोड़ते हैं और अधिक दाम देकर विदेशी चीज पसन्द करते हैं। इस प्रकार स्वदेशी व्यापार का गला घोटने वाले येही लोग हैं जो मिलावट,

घटियापन, और खराब चीजें भेड़ने की ओछी नीति पर विश्वास करते हैं।

जेवर बनवाने का रिवाज उठता जा रहा है। वह दिन दूर नहीं जब व्यापक रूप से जेवरों के प्रति घृणा प्रेय होगी और स्वर्णकारों का व्यापार नष्ट हो जायगा। मिलावट और चालाकी का आश्रय लेने वाले और भी व्यापार इसी प्रकार नष्ट होंगे। जापान ने एक समय सस्ती घड़ियाँ सस्ती साइकलें तथा तरह-तरह की अन्य सस्ती चीजें भेजना आरम्भ किया था। उसकी वे चीजें न तो लाभदायक रही न सफल हुई। इसके विपरीत वेस्ट एण्ड वाच कम्पनी की घड़ियाँ, फोर्ड कम्पनी की मोटरें अपने मालिकों की प्रतिष्ठा और सम्पत्ति को दिनों-दिन बढ़ाती जारही हैं।

व्यवहार में ही नहीं मजूरी के क्षेत्र में भी यही बेईमानी काम कर रही है। दैनिक वेतन ठहरा कर मजदूर बुलाइये तो आठ घंटे में पाँच घंटे के बराबर काम करेंगे और ठेके पर काम दीजिये तो चार दिन की मजूरी का काम उलटा सीधा करके एक दिन में भुगता देंगे। लेने को तो ऊपरी मजदूरी के पैसे ले ही जाते, पर काम कराने वालों के सद्भाव, सम्पन्न एवं सहयोग से सर्वथा वंचित रह जाते हैं। कई ईमानदार मजदूर अपनी सचाई और ईमानदारी का परिचय देते हैं तो वे अपने लिये सर्वत्र आदर एवं सद्भाव एकत्रित कर लेते हैं। उन्हें काम की कभी कमी रहती ही नहीं, साथ ही कई अवसरों पर दूसरों का ऐसा सहयोग भी मिल जाता है जो उनके लिये एक सौभाग्य बन जाता है। इसके विपरीत हरामी मजदूर न तो पूरा काम पाते हैं और किसी के सद्भाव से कोई उन्नति का अवसर उपलब्ध कर पाते हैं।

यही बात धर्म प्रचारकों, सन्त-महन्तों, पण्डा-पुजारियों के सम्बन्ध में है। अपने कर्त्तव्य को पूर्ण करने की अपेक्षा वे दान और मान लूटने में लगते हैं तो उनके लिये अनादर अविश्वास एवं घृणा का व्यापक वातावरण पैदा होता है। वकील डाक्टरों का पेशा बड़ा पवित्र है पर आज तो वे लुटेरे बने बठे हैं। यही बात अन्य वर्गों के सम्बन्ध में है। चोरी, बेईमानी, रिश्वतखोरी, भ्रष्टाचार, छल, दगाबाजी करने की घुड़दौड़ में एक वर्ग दूसरे से आगे बढ़ना चाहता है। इसका परिणाम किसी-के लिये भी अच्छा नहीं। समाज एक नाव है उसमें बैठने वाले लोग इस नाव के पेंदे में बेईमानी के छेद करेंगे तो पानी नाव में घुसेगा और सभी के लिये खतरा उपस्थित होगा।

बेईमानी से वस्तुतः किसी का कुछ लाभ नहीं। क्षणिक लाभ एवं तुरन्त की सुविधा देखने वाले लोग उसी क्षण कुछ अनुचित लाभ उठा भी सकते हैं पर वह लाभ दूरवर्ती परिणामों में अत्यन्त घातक प्रद होता है। क्योंकि एक तो अनिष्ट पूर्ण कमाई हुई वस्तु के वास्तविक मूल्य से अपरिचित होने के कारण वह कमाने वाला उसको फिजूल-खर्ची में गंवा देता है। दूसरे कुछ दैवी विधान भी ऐसा है कि ऐसी कमाई वकीलों के घर, डाक्टरों के घर, रिश्वतों में, चोरों के घर, शराबखानों में, वेश्यालयों में तथा ऐसी ही मोरियों में होकर बह जाती है। साथ ही अनेक प्रकार के रोग, शोक, लांछन, पाप, असंस्कार ऊपर लद जाते हैं।

बेइमानी की नीति विचार कर एवं कार्य पद्धति पारलौकिक एवं धार्मिक दृष्टि से तो हेय, पाप पूर्ण एवं पतन कर्म है ही। लौकिक दृष्टि से भी उसकी कोई उपयोगिता नहीं ठहरती। दूरवर्ती परिणामों को रोकना और तत्काल के लाभ को महत्व देना यही दो भूलें ऐसी हैं जो मनुष्य को बेइमान बनाती हैं। यदि दूर गामी और स्थिर लाभ हानि पर विचार किया जाय तो बेइमानी की नीति हर दृष्टि से हानि कारक बैठती है। सब ओर से अविश्वास

निन्दा और घृणा, सच्चे मित्रों का अभाव, असन्तुष्ट ग्राहकों का असहयोग यह बातें उन्नति के सभी कर्मों को रोक देती हैं। अन्तरात्मा सदा पाप के पश्चात्ताप में जलता रहता है। राजकीय, सामाजिक एवं दैवी दण्ड आयोजित सामने आते रहते हैं और उनमें उस कमाई की बर्बादी होती रहती है। जो बचता है वह फिजूल खर्ची और मौज-मजा करने में उड़ जाता है। ऐसी दशा में कोई भी बुद्धिमान आदमी अनैतिक कमाई की चतुरता नहीं कह सकता।

आटे के लोभ में लोहे का काँटा निगलने वाली मछली, दाने के लोभ में जाल में पैर फंसाने वाली चिड़िया, कागज की हथिनी पर मोहित होकर गड्ढे में गिरने वाला हाथी, बीज को खेत में बोने की अपेक्षा दाने बेच खाने वाला किसान, आरम्भ में अपने को बुद्धिमान् समझते हैं, वे सोचते हैं कि तुरन्त आसानी से लाभ पाने वाले चतुर व्यक्ति हम ही हैं, जो लोग धीरे धीरे चलते हैं बहुत मेहनत करके थोड़ा कमाते हैं वे मूर्ख हैं। पर उनका यह सोचना सही नहीं होता। थोड़े समय में उन्हें अपनी भूल का पता चल जाता है और एक दिन में एक सोनेका अण्डा देनेवाली मुर्गी के सारे अण्डे एक ही दिन में निकाल लेने का लोभी जिस प्रकार अच्छी मुर्गी का पेट चीरकर पछताया था उसी प्रकार उसे पछताना पड़ता है। उसकी चतुरता परले सिरे की मूर्खता सिद्ध होती है।

मनुष्य का सबसे बड़ा सम्मान यह है कि उसे 'प्रामाणिक' समझा जावे। मनुष्य का गौरव इस बात में है कि उसका प्रत्येक कार्य प्रामाणिक एवं विश्वस्त हो। इसी को सच्चरित्रता या सदाचार कहना चाहिये। कई व्यक्ति केवल कामोपभोग सम्बन्धी व्यभिचार से बचने को ही सदाचार समझते हैं यह परिभाषा अधूरी है। सदाचारी वही है जो दाम्पत्य जीवन के सम्बन्ध में ही नहीं हर बात में प्रामाणिक है, विश्वस्त है। जिनकी ईमानदारी पर भरोसा किया जाता है, जिसकी जबान पत्थर की लकीर मानी जाती है। बात के धनी, व्यवहार के खरे, अपनी प्रामाणिकताकी रक्षाके लिये अपना सर्वस्व होम देने वाले व्यक्ति ही सच्चे मनुष्य कहलाते हैं। ऐसे मनुष्यों से ही मानवता धन्य होती है। ऐसों से ही राष्ट्र समाज या जाति का गौरव बढ़ता है। धरती माता के आभूषण ऐसे ही नररत्न कहे जाते हैं। ऐसे लोग भूखे मरते हों सो बात नहीं है। वेईमानों की अपेक्षा ईमानदार आदमी सदा सुख-शान्ति मय जीवनयापन करता है।

ईमानदारी की रीति को अपनाना सबसे बड़ी बुद्धिमानी है। जिसको प्रामाणिक समझा जाता है, जिसकी भलमनसाहत और खरेपन पर सबको भरोसा है वही सबसे बड़ा चतुर है। जिसका उदारता सच्चरित्रता सहृदयता एवं धार्मिकता सराही जाती है उसी का जीवन सफल है। सदाचार की मर्यादाओं के अन्तर्गत जीवन-यापन करना सबसे बड़ी व्यवहार कुशलता है। हमें मूर्खताओं से बचना चाहिये क्योंकि वह आरम्भ में तनिक प्रलोभन दिखाकर भविष्य को अन्धकार मय बनाती हैं। हमें बुद्धिमानी को अपनाना चाहिये क्योंकि इसका मार्ग श्रम, साहस और समय साध्य होते हुए भी निश्चित रूप से सफलता और समृद्धि की ओर ले जाता है हमें यह बात भली प्रकार समझ लेनी चाहिये कि वेईमानी से बढ़कर मूर्खता और ईमानदारी से बढ़ कर चतुरता इस संसार में और कोई नहीं है।

पर द्रोही पर दार रत, पर धन पर अपवाद।
ते नर पाँवर पापमय, देह धरें मनुजाद॥

पूजा के अधिकारी

(श्री रामस्वरूप जी गुप्त)

धर्मानुकूल प्रजापालन से धर्मराज युधिष्ठिर के कोषागार में असंख्य धन-रत्नों की महान राशि संचित हो गयी। प्रजाहित की कामना से राजा ने यज्ञ का विचार किया। भगवान् श्रीकृष्ण भी दैवयोग से द्वारका से, प्रिय पाण्डवों की मिलन-आकांक्षा लेकर पधारे। श्यामसुन्दर के शुभागमन में इन्द्रप्रस्थ ने अपनी आँखें बिछा दीं। नगर वासियों और पांडवों के आनन्द की सीमा न रही कुशल-प्रश्न और स्वागत-सत्कार के पश्चात करबद्ध ज्येष्ठ पाण्डव ने विनीत होकर कहा—"हे मधुसूदन ! आपकी अहैतुकी कृपा से इस समय समस्त भूमण्डल मेरे वशवर्ती है। धन-रत्नादि से भण्डार भरपूर हैं, अब मेरी प्रबल कामना है कि मैं आपकी छत्रच्छाया में विधिवत राजसूय यज्ञ करूँ। माधव ! आपके प्रेमपूरित सहयोग से मैं इस यज्ञ द्वारा पापरहित हो जाऊँगा। आप सहर्ष आज्ञा प्रदान करें।" धर्मराज की ऐसी मंगलमयी वाणी से प्रसन्न होकर श्यामसुन्दर ने कहा—"आर्य ! तुम निश्चय ही राजसूय-महायज्ञ का संकल्प करो। इस यज्ञ से तुम्हारी कीर्ति-कौमुदी दिग-दिगन्त में फैल जायगी। हम सब तुम्हारे इस सुकृत्य से कृतकृत्य हो जायँगे।

गद्‌गद होकर धर्मराज बोले—प्रभो ! आपकी कृपा से मुझे अवश्य ही सफलता मिलेगी और मेरे मनोरथ पूर्ण होंगे।

योगेश्वर श्रीकृष्ण जी की अनुमति पाकर उनकी उपस्थिति में, राजसूय-यज्ञका कार्य सुव्यवस्थित योजनाओं से प्रारम्भ हुआ। महाराज युधिष्ठिर की आज्ञा पाकर चतुर सहदेव ने मंत्रियों के सहयोग से, यज्ञ की समस्त माङ्गलिक वस्तुयें एकत्रित कीं। अन्न-वस्त्र आभूषणादि से भंडार भर गये। महान् यज्ञ के उस विशाल आयोजन में, ऋतु के अनुकूल निवास और शयनादि कक्षों का, शिल्पियों ने वैज्ञानिक ढंग से निर्माण किया। एक ओर विस्तीर्ण सुसज्जित यज्ञ-मंडप बनाया गया। दूसरी ओर कुशल कलाविदों ने संगीतशाला और नाट्यशालाओं का मनमोहक प्रबन्ध किया, उनकी सुसज्जा में विशेष आकर्षण था। कथा-वार्त्ता-सत्संग और महापुरुषों के प्रवचनों से सर्वसाधारण लाभ उठावें, ऐसी भावना से एक भव्य पण्डाल बनाया गया, अपार जनता के बैठने योग्य बिछावन आदि का सराहनीय प्रबन्ध हुआ।

धर्मराज ने नकुल को भेजकर हस्तिनापुर से कुरुकुल पूज्य पितामह भीष्म, गुरुवर द्रोण, विदुर कृपाचार्य आदि पूज्य जनों को विशेष प्रार्थना सहित बुलाया। दुर्योधन अपने निन्यानवे भाइयों सहित युधिष्ठिर के आग्रह से आये। उनके साथ उनकी चौकड़ी के शकुनी दुःशासन कर्ण और शल्य भी सम्मिलित हुए। अंग बंग, कलिंग, कुन्तल, आन्ध्र सिंहल वाह्लीक काश्मीर आदि के अनेक राजा महाराजा-सपरिवार निमंत्रण पाकर यज्ञ देखने आए। पाण्डवों ने सबका समुचित स्वागत किया—धर्मराज ने हाथ जोड़कर अभ्यागतों से विनम्र वाणी में कहा—"आप सबने अनुग्रह पूर्वक पधार कर मेरा गौरव बढ़ाया है, आप सब मुझपर प्रसन्न हों, मेरा जो कुछ है वह सब आप का अपना ही है"।

सर्वप्रिय सम्राट् धर्मराज के इस महान धार्मिक आयोजन में अपना हार्दिक सहयोग देने की भावना से आमंत्रित अतिथियों ने अपने वित्त को विसार कर असंख्य रत्न आभूषण एवं मंगलपूर्ण उपहार

समर्पित किये। इतना सामान एकत्रित हो गया कि उन्हें रखने के उपयुक्त रिक्त स्थान ही न रहा।

भगवान् बादरायण वेदव्यास स्वयं इस यज्ञ में ब्रह्मा बने, उन्होंने भारतवर्ष के उत्कृष्ट वेदज्ञ ऋत्विजों को आमंत्रित किया। ब्रह्मनिष्ठ याज्ञवल्क्य अध्वर्यु और पइल नामक विख्यात ऋषि महर्षि धौम्य के साथ होता निर्वाचित हुये। यज्ञ की समस्त तैयारियाँ पूर्ण हो चुकीं। कल ब्रह्मवेला से ही यज्ञ-कार्य प्रारम्भ होने का मुहूर्त है। आगे के कार्य क्रम के निमित्त आज रात्रि में अलग अलग, स्वजनों को सेवा कार्य सौंपने के उद्देश्य से अन्तरंग मंत्रणा का निश्चय हुआ। भगवान् श्रीकृष्ण ने पूज्य पितामह और धर्मराज से कहा सबके बाद मैं अपने लिए निश्चयानुसार कार्य का चुनाव करूँगा। वयोवृद्ध पितामह और धर्मराज भगवान् के इस प्रस्ताव से सहमत हुये।

× × ×

अन्तःपुर के उत्तरीय सुसज्जित प्रकोष्ठ में, अन्तरंग सभा का आयोजन हुआ। कुरुकुल पूज्य पितामह भीष्म, स्वर्ण सिंहासन में विराजमान, इस आयोजित सभा का सभापतित्व कर रहे हैं। आगामी कार्यक्रम के सम्बन्ध में सबने अपने-अपने विचार प्रकट किये। कई प्रस्तावित योजनाएँ सर्व सम्मति से स्वीकृत हुईं। कार्य-विभाग वितरण में सबके योग्य अलग-अलग सेवाएँ सौंपी गईं। भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव, के बाद दुर्योधन की बारी आई—

विश्ववन्द्य भगवान् श्रीकृष्ण ने खड़े होकर अपनी भुवन मोहनी वीणा-विनिन्दित वाणी से कहा—मैं प्रस्ताव करता हूँ कि भाई सुयोधन जी को भण्डार गृह एवं कोष के अध्यक्ष का दायित्वपूर्ण भार सौंपा जाय उन्हीं के आदेश से दान-दक्षिणा तथा समस्त व्यय कार्य सम्पन्न हों।

"मैं इस प्रस्ताव से सहमत नहीं"—भीम ने विरोध किया।

"भैया भीम! पूज्य पितामह की आज्ञा लिये बिना तुम्हारा कुछ बोलना उचित नहीं जान पड़ा और मधुसूद के प्रस्ताव का विरोध करने की कल्पना ही क्यों उठी तुम्हारे मन में ?—ज्येष्ठ पाण्डव ने भीम की भर्त्सना की।"

सलज्ज भीम निरुत्तर होकर मौन होरहे। दुर्योधन ने भीम को अवहेला की दृष्टि से देखा और फिर विजय-गर्व से अपनी घनी मूँछों को ताव दिया। भीतर ही भीतर उसके दुष्ट मन में संकल्प उठा, "दोनों हाथों से पाण्डवों की सम्पत्ति को लुटाकर समस्त कोष रिक्त कर दूँगा" —दुर्योधन कुटिलता से मुस्करा रहा था। शकुनी और दुःशासनादिक इस अनोखे प्रस्ताव से मन ही मन प्रसन्न हो रहे थे—' देवकीनन्दन के इस सुन्दर प्रस्ताव का हार्दिक समर्थन करते हुए "मैं सुयोधन भैया से प्रार्थना करूंगा कि वे इस गुरुतर भार को सहर्ष स्वीकार करें" धर्मराज ने आन्तरिक आह्लाद-मयी विनम्र वाणी से कहा—"श्यामसुन्दर स्वयं ही अपनी लीला के रहस्य को जानते हैं, उनकी प्रत्येक क्रिया हमारे लिये मंगलमयी ही होगी"—गाण्डीवधारी अर्जुन ने मन ही मन विचार किया, वे ज्येष्ठ भ्राता के समर्थन से विचलित मन को विवेक की शरण में लेगये।

"मौनं सम्मतिलक्षणम्"—दुर्योधन कुछ बोला नहीं।

भीम की मीठी फटकार के बाद नकुल और सहदेव को कुछ कहने का साहस भी कैसे हो सकता ?

समस्त कार्यवाह निश्चित हो चुके।

"अब मेरी बारी है"—उत्तरीय पीताम्बर को संभालते हुए खड़े होकर भगवान् श्यामसुन्दर ने

कहा—"अपने कार्य के सम्बन्ध में मैंने स्वयं ही विचार कर लिया है"—मोहन की मंद-मुस्कराहट से खुली धवल दंत-पंक्ति, भावुक पाण्डवों के हृदयाकाश में आलोकमयी विद्युत सी चमक उठी।

"तुम! तुमने क्या निश्चय किया है मोहन! —पितामह ने पूछा।

"आप हम सबके कार्य का निरीक्षण करें और उचित आदेश देते रहें:—

—अर्जुन ने प्रस्ताव किया

"ठीक है, ठीक है"—नकुल और सहदेव ने अनुमोदन किया

"पूज्य पितामह तथा, आर्य युधिष्ठिर से मैं कल ही वचन ले चुका था कि सबके अन्त में, अपनी रुचि से स्वयं ही मैं अपने कार्य का चुनाव करूँगा कदाचित् आप लोगों को यह विदित नहीं है —भगवान श्रीकृष्ण ने कहा—

अपनी धवल दाढ़ी पर हाथ फेरते हुये कुरुकुल शिरोमणि, नरकेशरी भीष्म पितामह, प्रश्न सूचक स्नेहमयी दृष्टि से नटनागर की ओर देखने लगे, पाँचों पांडव कौतूहल से मधुसूदन के उत्तर की प्रतीक्षा करने लगे।

"मैं सभी अभ्यागत अतिथियों के चरणों को अपने हाथों पखारूँगा और भोज की जूठी पत्तलें भी उठाऊँगा—भगवान धीरे धीरे बोले "क्या? क्या?? क्या???—एक साथ कई कंठों से आश्चर्यमयी—ध्वनि निकली—

पर्दे के पीछे बैठी कुरुवंशीय ललनायें भी आश्चर्यचकित होकर क्या? क्या? बोल उठीं—

"यह कैसा अनोखा प्रस्ताव है तुम्हारा माधव? मैं इसे स्वीकार नहीं कर सकता"—भीष्म पितामह वात्सल्यमयी वाणी में स्नेह की वर्षा सी करते बोले—

"मधुसूदन! आप अपना यह प्रस्ताव ले लीजिए —"यह मेरी प्रार्थना है" व्यथित कंठ से अर्जुन ने कर-बद्ध होकर कहा—

"श्यामसुन्दर के इस प्रस्ताव का मैं खुला विरोध करता हूँ"—महाबली भीम ने गम्भीर घोषणा की—

इस बार धर्मराज ने भीम से कुछ नहीं कहा। श्रीकृष्ण की ऐसी आश्चर्य-जनक बात से उन्हें मानसिक व्यथा हो रही थी किन्तु वे कुछ बोले नहीं। "पूज्य पितामह! आर्य धर्मराज!! और बन्धुओ!!!—भगवान श्रीकृष्ण ने मेघ गर्जन सी गम्भीर ओजमयी वाणी से कहना प्रारम्भ किया— आपके सरल और निष्कपट प्रेममय विरोध का कारण मैं समझता हूँ। आपके हार्दिक प्रेम की वन्दना करते हुये भी मुझे आपका प्रस्ताव मान्य नहीं। भावनाओं से कर्त्तव्य को यदि आप ऊँचा स्थान देने की चेष्टा करें तो आप मेरे प्रस्ताव का समर्थन ही करेंगे। पितामह और धर्मराज से मैं कल ही वचन ले चुका हूँ"—

"तुमने मुझसे छल किया माधव"—पितामह भीष्म ने उदास होकर कहा—यदि ऐसा मैं जानता तो कदापि तुमसे हामी न भरता किन्तु अब तो तीर हाथ से निकल चुका तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो।

× × × ×

सौन्दर्य-सुधा-सागर, निखिल-रसामृत-स्वरुपत। भुवन-मनमोहन लीलापुरुषोत्तम भगवान श्रीकृष्ण ने अपने कोमल कमनीय कर कोमलों से अभ्यागत अतिथियों के चरण धोये, उनकी जूठी पत्तलें उठाईं।

भगवान की यह अद्भुत और अलौकिक लीला हमारे अभिमान को जड़मूल से गलित करके एक ऐसा आलोक प्रदान करती है जिसके प्रकाश से मानव को सुखद सन्देश मिलता है कि सेवा ही सेवक को स्वामी बनाती है।

यज्ञ की पूर्णाहुति के पश्चात, सर्वश्रेष्ठ पुरुष की पूजा का प्रश्न उपस्थित हुआ। धर्मराज ने भगवान श्रीकृष्ण की पूजा का प्रस्ताव रक्खा। पाण्डवों एवं धर्मज्ञ राजाओं ने इस प्रस्ताव का हर्षध्वनि से अनुमोदन किया। किन्तु शिशुपाल आदि ने तीव्र विरोध किया। भरी सभा में उसने श्रीकृष्ण को गालियाँ दीं, मर्यादा की सीमा का उल्लंघन होने पर शिशुपाल, सुदर्शन चक्र की तीव्र-धार से अपनी गर्दन कटाकर यमलोक पहुँच गया। कुटिल और विरोधी दुराग्रहियों की एक न चली।

धर्म के तत्व को जानने वाले—वयोवृद्ध पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य आदि धर्मराज का समर्थन करते हुये बोले—आयु में छोटे होते हुए भी ये लीलामय श्रीकृष्ण ज्ञान-वृद्ध हैं, इन्होंने नीच से नीच सेवा करके संसार में जो आदर्श उपस्थित किया वह वर्णनातीत है। येही यज्ञपुरुष हैं, इन्हीं की पूजा होनी चाहिये। पितामह की घोषणा से उपस्थित जन-समुदाय ने आनन्द विभोर होकर श्रीकृष्ण का जयघोष किया।

विद्यार्थी और चरित्र निर्माण

(श्री केदारनाथ जी गुप्त एम० ए०, प्रिंसिपल)

इस समय हमारे देश के विद्यार्थियों का चरित्र बहुत ही गिरा हुआ है जिसे देखकर शरीर के रोंगटे खड़े हो जाते हैं। जब मैं अपने विद्यार्थी जीवन का मुकाबिला आज कल के विद्यार्थी जीवन से करता हूँ तो मन बड़ा दुःखी होता है। हम लोग आत्म-संयमी होते थे, पाप करने से डरते थे और बड़ों की आज्ञा मानते थे। आज-कल का विद्यार्थी अपने ऊपर कोई संयम नहीं रखता, बुरा काम निडर होकर करता है और बड़ों की आज्ञा का अवहेलना करना तो उसके बायें हाथ का खेल है। अपवाद तो सब कहीं होते हैं किन्तु याद रहे, जब तक हमारे इन नवयुवकों का चरित्र-निर्माण ठीक ठीक न होगा तब तक भारत का भविष्य अन्धकार मय रहेगा।

आजकल की शिक्षा बड़ी ही दोषपूर्ण है किन्तु, किया क्या जाय, किसी और शिक्षा के अभाव में हमें अपने बच्चों को पढ़ाना ही पड़ता है। आजकल की शिक्षा विद्यार्थियों को केवल नौकरी के लिये ही तैयार करती है। एम० ए० तक पहुँचते पहुँचते वे अपने मन और शरीर दोनों को पूर्ण रूप से नष्ट कर बैठते हैं।

महात्मा गाँधी ने जिस समय देश में सत्याग्रह का ऐलान किया था उस समय उन्होंने विद्यार्थियों से कहा था कि आजकल के विद्यालय गुलामखाने हैं, वे केवल क्लर्क तैयार करते हैं, अतएव इनका पूर्ण रूप से बहिष्कार करना चाहिये। शिक्षालय अभी उसी प्रकार के हैं, पढ़ाई पहले से भी अधिक खराब हो गई है और यद्यपि हम अब पूर्ण स्वतन्त्र हैं किन्तु शिक्षा में अभी तक कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। पढ़ लिख कर जवान बेकार घूम रहे हैं और अपने जीवन से निराश हो रहे हैं। शिक्षा में आमूल परिवर्तन की बड़ी आवश्यकता है।

विद्यार्थियों को सबसे पहले अपना स्वास्थ्य बनाना चाहिये। सोलह-सोलह और बीस-बीस वर्ष के नवजवान बूढ़े दिखलाई पड़ रहे हैं। उनकी आँखें भीतर घुसी हुई होती हैं और उनके चेहरों पर कोई कान्ति नहीं होती। इसका मुख्य कारण है ब्रह्मचर्य का अभाव। बुरी तरह से, अप्राकृतिक ढंग से उनका वीर्य नाश हो रहा है। जरूरत इस बात की है कि अभिभावक और अध्यापक व्यायाम और ब्रह्मचर्य के लाभ उनको बतावें ताकि वे व्यायाम और

ब्रह्मचर्य द्वारा अपना शारीरिक उत्थान करें । हमारी औसत आयु लगभग २७ वर्ष की है और विदेशियों की ५० वर्ष से भी अधिक है। हमें इस कलंक को दूर करना चाहिये । स्वतन्त्र-भारत को बलशाली नवयुवकों की बड़ी जरूरत है ।

विद्यार्थियों का नैतिक स्तर भी बहुत ही अधिक गिरा हुआ है । दुःख के साथ कहना पड़ता है कि सारे समाज का पतन हो रहा है, अतएव उसका कुप्रभाव विद्यार्थियों पर बिना पड़े नहीं रह सकता । जनता बात बात में बेईमानी करती है, नकली चीजें असली चीजों के नाम पर बिक रही हैं और चोरी तथा घूसखोरी का बाजार अत्यन्त गरम है । इन सबका बुरा प्रभाव विद्यार्थियों पर भी पड़ता है ।

वर्तमान वैज्ञानिक युग में विद्यार्थी ईश्वर पर भी विश्वास नहीं कर रहे हैं। ईश्वर का हाथ पैर तोड़ कर एक कोने में डाल रक्खा है । 'खाओ, पियो और मस्त रहो' यही आज कल उनका ध्येय हो रहा है । पापाचार इसी कारण बढ़ रहे हैं और विद्यार्थी समुदाय अशान्त और निराश हो रहा है । उनको नहीं मालूम कि सूर्य, चन्द्रमा तारे और इस सारे ब्रह्माण्ड की रचना किसने की है । उनको गीता का यह श्लोक स्मरण रखना चाहिये—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

संसार के सारे काम उसी एक महान् शक्ति के द्वारा चल रहे हैं । उसके और हमारे बीच माया का ऐसा परदा पड़ा हुआ है जिसके कारण वह हमें दिखलाई नहीं देता । यदि हम उस परदे को हटा दें, यदि हम अपने हृदय के शीशे को नेक कर्मों द्वारा साफ़ कर लें तो भगवान् पर हमारा पूर्ण विश्वास हो जाय ।

आवश्यकता इस बात की है कि विद्यार्थियों को घर में अथवा कालेज में कम से कम एक घंटा नैतिक और धार्मिक शिक्षा दी जाय, उनको आत्मा और परमात्मा का ज्ञान कराया जाय, उनको प्राणिमात्र में एक ईश्वर का साक्षात कराया जाय जैसा कहा गया है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च न मे प्रणश्यति ॥

भगवान् कण-कण में व्याप्त हैं, बिना उनकी आज्ञा के एक पत्ता भी नहीं हिल सकता ।

विद्यार्थियों को विषय-भोगों (विलासिता) की हानियाँ बतलाई जायँ—जैसा भगवान् कृष्ण ने कहा है:—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः

विषय-भोग शरीर और मन दोनों को दूषित करते हैं । यदि विद्यार्थी यह समझ लें कि हम क्या हैं तो उनका बड़ा कल्याण हो सकता है । अभी तक वे शरीर को ही सब कुछ समझे बैठे हैं, शरीर के परे भी कोई वस्तु है, इसका उन्हें कोई ज्ञान नहीं । यदि वे यह समझ जायँ तो उनको विषयों की निःसारता मालुम हो जाय तो वे अपने को विषयों से बचा सकते हैं ।

यदि विद्यार्थी थोड़ा समय निकालकर केवल रामायण और गीता का ही अध्ययन करें तो उनका परमहित हो सकता है ।

हमारे येही विद्यार्थी कल पं० जवाहरलाल नेहरू और पं० गोविन्द बल्लभ पन्त का स्थान ग्रहण करेंगे । आवश्यकता इस बात की है कि वे देश के कल्याण के लिये अपनी गिरी हुई अवस्था को आत्म संयम और आत्मिक ज्ञान द्वारा ऊँचा करें और अपना शारीरिक एवं मानसिक उत्थान करें ।

वसुन्धरा पवित्र है।

(श्री निरंजनलाल जी, भगानिया बी. का., बी. एल.)

मनुष्य में मनुष्य की विशेपता चरित्र है,
सच्चरित्र मनुज से वसुन्धरा पवित्र है।

सरल हो, विनम्र हो, स्वप्न में न दम्भ हो,
शास्त्र विहित लक्ष्य हेतु सुदृढ़, स्वावलम्ब हो,
दीनता गहे न कभी, किन्तु सत्य व्रत गहें,
नारी जाति प्रति पवित्र मातृभावना रहे,

स्वधर्म पालने सहर्ष कर्म में प्रवृत्त हो,
सिद्धि पर न लक्ष्य हो, साधना में चित्त हो,
विपत्ति बीच धीर हो, शत्रु-संमुख वीर हो,
प्राणों पर आ बने पै नयन में न नीर हो।

मनुष्य में मनुष्य की विशेपता चरित्र है,
सच्चरित्र मनुज से वसुन्धरा पवित्र है।

अज्ञ-दोष हो क्षमे, क्रोध को परे धरे
द्वार खड़े याचक की वह सहायता करे
तन, मन, धन वार विहँस करता उपकार हो
भंवर-बीच नैया की गहता पतवार हो।

द्वन्द्व मुक्त जीवन हो, सात्विकी हो भावना,
'ईश मात पितु हमारे' बद्धमूल धारणा,
"यन्त्र वत् ही कर रहा, सुकर्म प्रभु करा रहे,"
निरभिमान चित्त में भावना अमर रहे।

मनुष्य में मनुष्य की विशेपता चरित्र है,
सच्चरित्र मनुज से वसुन्धरा पवित्र है।

भारतीय चरित्र की महानता

(आचार्य पं० पूर्णप्रकाश जी मिश्र)

पतन की कराल कालिमा में मानव अपने को भूल बैठा। वाह्याडम्बर में रत होकर अपने अतीत वैभव की मर्यादा को धूल में मिला दिया। जिस देश के व्यक्तियों के चरित्र पर स्वप्न में भी संशय नहीं हो सकता था, उसकी ही दीन, दुःखी तथा दयनीय अवस्था को देख किस को आश्चर्य न होगा? किन्तु इन सबका एकमेव कारण है चरित्र हीनता, आचरण की भ्रष्टता, विचारों की कटुता एवं पवित्र संस्कारों का अभाव। वही चरित्र, जिसकी महत्ता से हमारा धर्म, दर्शन, राजनीति, साहित्य एवं सामाजिक ग्रन्थों के पृष्ठ के भरे पड़े हैं। इसी सम्बन्ध में अथर्व वेद की सूक्ति ध्यान देने योग्य है—

"ब्रह्मचर्येण तपसा देवामृत्युमुपाघ्नत।"

अर्थात विद्वान व्यक्ति ब्रह्मचर्य (चरित्र) के बल से मृत्यु को भी जीत लेते हैं। उपनिषदों में भी इसका वर्णन आता है।

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो न समाहितः।
नाशान्त मानसो वापि प्रज्ञानेनैव माप्नुयात् ॥

अर्थात् जिस व्यक्ति ने चरित्र हीनता को नहीं छोड़ा, जिसका मन शान्त तथा एकाग्र नहीं है तथा जिसकी मन-बुद्धि निर्वश है उसे केवल बुद्धि के द्वारा ही परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती।

उपरोक्त सूत्रों से स्पष्ट है कि चरित्र के अभाव में मनुष्य का जीवन इस लोक में ही नहीं अपितु परलोक में भी दुःसाध्य हो जाता है, जीवन भर पश्चात्ताप की अग्नि में जलना पड़ता है। किन्तु खेद तो उस समय होता है जब हमारा समाज अपने अतीत गौरवमय इतिहास के होते हुए भी उससे शिक्षा ग्रहण नहीं करता और दिन प्रतिदिन उन्हीं पाश्चात्य विचारों की ओर अग्रसर हो रहा है जिनकी अनुपयोगिता स्वयं उन्हीं के क्षोभ के लेखों ने स्वीकार की है और मुक्त कण्ठ से इस आज के उपेक्षित भारत के गुण गाये हैं—

उदाहरणार्थ—

भारतीयों की मुखाकृति में जीवन के प्रकृतरूप का दर्शन होता है। हम तो (पाश्चात्य वाले) कृत्रिमता का आवरण ओढ़े हुए हैं। भारतीय मुख मण्डल की सुकुमार रूप रेखाओं में ही कर्ता के करांगुष्ठ की छाप दिखाई देती है—

—जार्ज बर्नाडशा

हिन्दू लोग धार्मिक, प्रसन्न, न्यायप्रिय, सत्यमता कृतज्ञ और प्रभु-भक्ति से युक्त होते हैं।

—कवि सैम्युएल जौन्सन

हिन्दू, अनुकूल आचरण करने वाले तथा सबके प्रति दयालु होते हैं। उनका संसार में किसी से वैर नहीं होता। —इतिहासकार —अबुल फजल

भारतवर्ष के करोड़ों व्यक्ति वहाँ के साधु सन्तों की ही भाँति रहते आये हैं-सहज रूप से सरल कपट रहित और ऋण रहित हैं।

—प्रो० पी० जार्ज

यही नहीं हम इसी प्रकार के अनेकों विदेशियों द्वारा यहाँ के निवासियों के चरित्र की महानता के दर्शन कर सकते हैं किन्तु अब हमें यह भी सोचना होगा कि क्या आज भी ऐसा कथन यहाँ सत्य उतरता है? कदापि नहीं। आज हमारा समाज राष्ट्र तथा जाति अपनी प्राचीन परम्पराओं को विस्मृत करती जा रही है। जिसका फल हमारे सम्मुख प्रत्यक्ष है।

अस्तु, ऐसी अवस्था ही यदि रहती है तो हमारे लिये कलंक का विषय है। हमें तो पुनः अपने आचरण का सुधार कर, पवित्र संस्कारों द्वारा राम कृष्ण, भीम, अर्जुन, अभिमन्यु, प्रताप शिवाजी जैसे चरित्रवान व्यक्तियों को जन्म देना होगा जिससे कि हमारी संस्कृति, सभ्यता, परम्परा एवं आदर्शों का पुनः सम्पूर्ण विश्व में आदर हो सके।

शिवा शिविर में सेनापति सुन्दरी यवन बाला लाया,
बोले शिवा कुकृत्य अरे यह ? पामर ! धिक् ! वह थर्राया ।
'जन्म तुम्हीं से यदि मैं पाता तो होता सुन्दर छविमान,'
साश्रु नयन सब गद् गद् बोले "जग में शिवा चरित्र महान"॥

सच्चरित्र शिवा जी

धन्य हो वीर ! आज तुमने अपूर्व वीरता का परिचय दिया । तुम्हारी लपलपाती हुई कराल करवाल, काली की जिह्वा के समान वैरियों का रक्त पान कर रही थी "तुमने आज बड़ी शूरता से शत्रुओं का गढ़ छीन लिया।" यह कहते हुये मुरार फड़के ने सेनापति दादा रघुनाथ दत्त गर्दे का विशेष उत्साह बढ़ाया। आज ही छत्रपति महाराज शिवाजी की आज्ञा से सैनिकों की एक टुकड़ी अभी-अभी शत्रु दल को पूर्ण पराजित करके विजयोल्लास में हर्षित होती महाराज शिवा जी के शिविर की ओर बढ़ी चली आ रही थी। सेना के अधिनायक दादा रघुनाथ दत्त आज फूले नहीं समाते । उनके साथ मित्र मुरार बार-बार उनके रण कौशल का वर्णन करते उनकी प्रसन्नता बढ़ाते जा रहे हैं। महाराज का शिविर अभी काफ़ी दूर है । मुरार ने घूमकर अपनी विजयोन्मत्त सेना की ओर जो एक बार देखा तो सारे सैनिक वीर सिंहगति से अकड़ते मूछों पर ताव देते आगे बढ़ते दिखाई दिये। सेना के मध्य में एक सुन्दर सुसज्जित शिविका भी साथ-साथ चलती हुई दिखाई दी मुरार ने विनोद पूर्ण व्यंग्य से कहा—"दादा ! क्या आज शक्ति सहित शत्रु से लोहा लेने गये थे। ज्ञात होता है आप सुकुमार रमणी को रण-रमण क्रीड़ा में भी कुशल बनाना चाहते हैं धन्य हो दादा !"

दादा रघुनाथदत्त नहीं-नहीं मित्र मुरार ! यह अपनी गृह रमणी नहीं है। अपितु शत्रु यवन गृह की विमल चन्द्र-मणि है। आज यह महाराज की सेवा में यह रण-सागर समुद्भूत साक्षात विजय लक्ष्मी भेंट स्वरूप समर्पित करने के लिये, लिये जा रहे हैं।

मुरार—दादा जी ! यह अपूर्व भेंट आप को कहाँ उपलब्ध हुई ?

दादा रघुनाथ—मित्र मुरार ! जीवन में सहस्त्रों नारियों को देखा है, किन्तु ऐसी सर्वाङ्गीण सुन्दरी मैंने कभी नहीं देखी। अपने महाराज के लिये यह दिव्य उपहार है। इसकी प्राप्ति की कथा सुनो। जिस समय हमारे दुर्दान्त वीर यवन सैन्य दल का विदलन करते हुये यवन प्रसाद के प्राङ्गण में पहुँचे, उस समय सहस्त्र रश्मि माली के उदय में तिमिर की भाँति समस्त शत्रु सेना के वीर पलायन कर गये। सैनिकों ने प्रसाद प्रांगण के कोण में इसे अत्यन्त भयभीत और संकुचित अवस्था में समुपस्थित पाया। उन्होंने तत्काल ही इसे लाकर मेरे सम्मुख उपस्थित किया। देखते ही मेरा मन मिलिन्द इसके मुखारविन्द के मकरन्द का पान करने लगा। मेरे नयन निर्निमेष दृष्टि से इसकी रूप माधुरी का पान करते-करते विमुग्ध हो गये। किन्तु मेरे हृदय ने कहा ठहरो ! तुम इस रमणी रत्न के उपभोग के योग्य नहीं हो, अनधिकार चेष्टा मत करो, यह रत्न तो यत्न पूर्वक महाराज के राज्य प्रसाद की शोभा बढ़ाने के हेतु, दैवयोग से हमें प्राप्त हुआ है। अतएव महाराज की सेवा में इसे समर्पित कर दो, वही इसका उपभोग करेंगे।

मुरार—"हाँ हाँ ठीक है, हमारे देश की अनेकों रमणियों का अपहरण करके यवनों ने हमारे पूर्वजों का बहुत चित्त दुखाया है। अतएव हमें भी तो उसको परिशोध लेना है, उसका परिमार्जन करना है। अधिक न सही तो इतना ही सही, अजी कुछ न कुछ कहने-सुनने के लिये तो हो ही जावेगा यह भेंट आप अवश्य ही आज महाराज की सेवा में उपस्थित कीजिये। वे इसे पाकर निश्चय ही प्रसन्न होंगे।

इस प्रकार वार्तालाप करते हुये वे दोनों मित्र छत्रपति महाराज शिवाजी के शिविर के समीप

पहुँच गये। पीछे सेनाने छत्रपति महाराज शिवाजी की जय का घोष करते हुये "हर हर महादेव" का गगन भेदी नारा लगाया। साथ ही मन्द-गामिनी सरिता की भाँति समस्त विजय वाहिनी अपने सेना पति के साथ महाराज के शिविर रूपी सागर में जाकर समाहित होगई। सूर्य्य के प्रकाश में चमचमाते हुये स्वर्ण के सिंहासन पर समासीन महाराष्ट्र केसरी वीरवर महाराज शिवाजी को देखकर सेना पति ने सैनिक विधि से अभिवादन किया।

महाराज ने सेनापति के अभिवादन का अभिनन्द करते हुये प्रसन्न होकर कहा—वीरवर रघुनाथ! तुम्हारी वीरता पर मुझे गर्व है। तुमने आज जननी जन्म-भूमि का ऋण रण कौशल से चुकाया तुम्हारे पराक्रम से स्वदेश का मस्तक समुन्नत हुआ तुमने इस भूमि खण्ड के कलंक-पंक को धोकर मुख उज्वल किया अस्तु वीरवर तुम धन्य हो।

सेनापति ने महाराज के चरणों में पुनः नमन करते हुये विनीत भाव से कहा—प्रभु अपने निम्न से निम्न सेवक का इतना आदर करते हैं, यही आपकी प्रभुता है, यही आपकी महत्ता है, विजय तो आपके प्रताप से प्राप्त हुई है। महाराज! आज की विजय भी तो साक्षात मूर्तिमती होकर आपके चरणों में समर्पित होने के लिये यहाँ समुपस्थित हुई है। उसे स्वीकार कीजिये।

सेनापति की बात सुनकर महाराज सहसा चौंककर बोले—'रघुनाथ! मैं तुम्हारी इस काव्यमयी अलंकार पूर्ण वाणी का अभिप्राय कुछ नहीं समझा। स्पष्ट कहो तुम क्या कह रहे हो?' सेनापति ने तत्काल ही उस सौन्दर्य सुधानिधि समुद्भूत रतिरूप विनिन्दिता यवनबाला को लाकर महाराज के सम्मुख उपस्थित कर दिया। महाराज उस अनुपम सुन्दरी को देखकर चकित रह गये। उन्होंने ... से पूछा, 'यह कौन है तुम इसे यहाँ क्यों ... हो?'

रघुनाथ ने कहा—'महाराज वसन्त श्री स्वयमेव ऋतुराज वसन्त के समालिङ्गन को समुत्सुक रहती है। परिपूर्ण सिन्धु की ओर जाने वाली सरिताओं को क्या सरित-पति-सिन्धु निमन्त्रण भेजता है? वे तो स्वयमेव अपनी समस्त सलिल-सम्पत्ति को लेकर सागर की शरण में पहुँचती हैं। महाराज! आज यह विजय-लक्ष्मी, महान् शत्रुसैन्य सागर मन्थन से उत्पन्न होकर सर्वगुण-सम्पन्न, नारायण स्वरूप, आपका वरण करने आई है। इसे ग्रहण करके अपने राज-प्रसाद की शोभा बढ़ाइये। इस रमणी-रत्न का सुख से उपभोग कीजिये यह आप के ही योग्य है।

महाराज ने आवेश में आकर कहा—'ठहरो! सेनापति रघुनाथ! ठहरो!! मुझे ज्ञात होता है कि आज विजयोल्लास में तुम वाणी का संयम खो बैठे हो। कदाचित तुम्हें यह ध्यान नहीं रहा कि तुम आर्यधर्म कर्तव्य-परायण शिवा के सम्मुख बोल रहे हो। चुप रहो मैं अब तुम्हारे मुख से और कुछ भी नहीं सुनना चाहता।'

इतना कहकर महाराज ने एक ओर चुपचाप खड़ी हुई भयभीता सुन्दरी की ओर देखकर कहा—'भद्रे! बताओ, तुम किस कमल कुल की कमलिनी हो? तुम्हारा चित्त प्रफुल्लकारी सुखकारी वल्लभ कौन है? तुम यहाँ कैसे लाई गयीं?

नमितमुखा यवनबाला ने अत्यन्त संकुचित होकर कहा—'महाराज! शहन्शाह औरंगजेब की तरफ से मुकर्रर किलेदार शाहे-आलम की मैं दुख्तर हूँ। मेरा निकाह सूबेदार शाह वजीर के बेटे शाह अमीर के साथ हुआ है। मैदान-जंग में आपके बहादुर सिपाहियों के मुकाबिले हमारी फौज के सिपाही मगलूब होकर भाग गये। मेरे शौहर उस वक्त वहाँ मौजूद नहीं थे। आप के सिपहसालार मुझे हरमसरा से जबरन पकड़कर आपकी खादिमा बनाने के लिये आपके दरबार में यहाँ ले आये हैं।

यहीं मेरा पुररंजोअलम, फिसाना है। यवनबाला के आँसू टप-टप टपक रहे थे। महाराज शिवा जी उस यवनबाला की बात सुनकर क्रोध से रक्तारुण नयन होकर आवेश और घृणा से बोले—'छिः सेनापति धिक्कार है तुम्हें! तुम आर्यों की सन्तान कहलाते हो? श्रेष्ठ पुरुषों के वंश में उत्पन्न होकर तुमने आज परदार-अपहरण जैसा जघन्य पाप क्यों किया? तुम्हें इसको यहाँ लाते हुये लज्जा नहीं आई। तुम जानते नहीं हो कि यह आर्य-धर्म परायण शिवा का दरबार है? हमारा धर्म हमारा कर्तव्य, परनारी अपहरण नहीं, हम पर नारी अपहारी दुष्टों को दंड देने वाले हैं। अन्यायी अत्याचारियों का मद, चूर-चूर करने वाले हैं। हमारा धर्म अबला अपहरण नहीं है, अबला का रक्षण है। हम अपना कर्त्तव्य सदैव पालन करेंगे।

इतना कहने के पश्चात् वे उस सुन्दरी की ओर देखकर बोले, माता! संसार में प्राणी मात्र के नयन सुन्दर रूप दर्शन के लोभी होते हैं। विधाता ने आदि काल से ही अपने विधान में इन नयनों की यही प्रवृति रची है। अस्तु हमारे सैनिक तुम्हारे इस परम सुन्दर स्वरूप के वश में होकर तुम्हें मेरे सन्निकट ले आये। इसके लिये तुम मुझे क्षमा करना। सत्य तो यह है कि तुम्हारे इस सुन्दर स्वरूप को देखकर मेरे मन में यह भाव उठ रहा है कि क्या ही उत्तम बात होती यदि मैं तुम्हारे गर्भ से जन्म ग्रहण करता।

इसके पश्चात् तत्काल ही महाराज ने सैनिकों से कहा "अति शीघ्र इस देवी को शिविका में बैठाकर सम्मान पूर्वक इनके गृह पर पहुँचा दो" सैनिकों ने उस बाला से शिविकारूढ़ होने की प्रार्थना की।

छत्रपति की महानता और कृतज्ञता के भार से दबी विह्वला वह यवन बाला हिन्दूकुल कमल दिवाकर "छत्रपति महाराज शिवा जी की जय" कहती और श्रद्धाजनित आनन्द के आँसू बहाती, शिविका में सवार होगई। ("मञ्जुल")

मोहन की बाँसुरी का आत्म-चरित्र

(चन्द्रशेखर पाण्डेय "चन्द्रमणि" कविरत्न)

पहले निज वंश से भिन्न हुई, खर धार से काट गिराई गई।
तन के टुकड़े-टुकड़े करके, फिर अग्नि की ताप तपाई गई।
उर में कई दाग़ दिये गये हैं, कई छेद हुए, तलफाई गई।
मुँह काटा गया जब छुरियों से, तब बाँसुरी है अपनाई गई।

तप और सहिष्णुता का वरदान, यही महिमामय मान मिला।
मनमोहन के करपंकजों में करूं केलि, यही व्यवधान मिला।
अपनापन खोकर आज मुझे, अपने में आलौकिक ज्ञान मिला।
दुनिया को मनोहर गान मिला, मुझको सुख-शान्ति निधान मिला।

नूतन उन्नति पै अपनी, मैं कभी कभी मान किया करती।
मोद भरे स्वर से जड़ चेतन को सुखदान किया करती।
"चन्द्रमणी" भरते स्वर श्याम, वही गुण-गान किया करती।
मोहन के अधरों पै धरी, अधरामृत-पान किया करती।

अद्भुत क्षमा

आर्य-समाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती के आदर्श-जीवन की एक घटना मानव चरित्र के उत्कर्ष में सहायक बन सकती है। वह है उनकी अलौकिक क्षमा।

तत्कालीन महाराज जोधपुर को वेश्या प्रेम से पतनोन्मुखी देखकर निर्भीक स्वामी जी ने उसी वेश्या के सामने राजा को बहुत फटकारा। मुँह लगे मुसाहिबों एवं वाराङ्गना के सामने अपने श्रद्धेय स्वामी जी की भर्त्सना से महाराज का विवेक जागृत हुआ, उन्होंने अपनी कलुषित वासनाओं को सदैव के लिये तिलांजलि दे दी और आदर्श क्षत्रिय शासक बन गये। एक लंगोटीधारी फकीर के द्वारा अपना यह अपमान वह वेश्या सहन न कर सकी, उसकी प्रतिहिंसा जागृत हुई, प्रतिशोध लेने के लिये उस पिशाचिनी ने स्वामी जी के पाचक जगन्नाथ को धन का लोभ देकर अपने वश में कर लिया। नराधम पाचक ने सोते समय स्वामी जी को दूध में काँच की पिसी मैदा मिलाकर पिला दी। पैने शीशे ने कुछ देर में ही अपना प्रभाव प्रारम्भ कर दिया। आँतें कटने लगी खून के दस्त होने लगे। बालब्रह्मचारी स्वामी दयानन्द में शारीरिक बल एवं आत्मिक बल पर्याप्त था मर्मान्तक कष्ट को उन्होंने अपनी अपार सहन शक्ति से सहन करते हुए शान्ति पूर्वक अपने शरीर का त्याग किया था। उन्होंने इस विश्वास घात के भेद को विवेक दृष्टि से समझ लिया। जीवन-लीला की समाप्ति सन्निकट जान उन्होंने जगन्नाथ को अपने पास बुलाया और पूछा —तुमने ऐसा क्यों किया जगन्नाथ! कितना—धन दिया उस वेश्या ने तुम्हें?

पापिष्ठ में साहस नहीं होता! वह हत्यारा काँप गया उसने सब बातें ज्यों की त्यों सुना दीं और स्वामी जी के चरणों में लिपट गया। संत का हृदय नवनीत सा कोमल होता ही है। सबको 'अभय' का सन्देश देने वाले स्वामी दयानन्द जी ने उसे क्षमा कर दिया और कहा कि "तुम इसी समय यहाँ से भाग जाओ अन्यथा सवेरा होने पर इस समाचार को सुनकर लोग तुम्हें जीवित नहीं छोड़ेंगे। इतना ही नहीं स्वामी जी ने उसे भावी जीवन को सुख पूर्वक बिताने के लिये पर्याप्त धन भी दिया।

अपने दृष्टिकोण से हम कह सकते हैं कि यह क्षमा कैसी? "शठें प्रति शाठ्यं समाचरेत' होना चाहिये किन्तु स्वामी जी की इस अद्भुत क्षमा से सदैव ही जन-मन में संत-चरणों की ओर विमल अनुराग की प्रेरणा मिलती रहेगी। संतो में अनुराग का तात्पर्य है अपने चरित्र का निर्माण अथवा मानव जीवन की सफलता। "अपराधी के अपराध का बदला न लेकर, क्षमा करके 'उसे सन्मार्ग" पर लगाना ही असली बदला है। (राम०)

सच्चरित्रता

नर जीवन पाय सुमंजु महा विषयादि में चित फँसाओ नहीं।
चलो धर्मदया के सुमारग पै कबौं काहुइ जीव सताओ नहीं॥
कटु बानी कहौ मुखते न कबौं प्रिय प्रीतिकि रीत हटाओ नहीं।
उरमे कुविचार कौलाओ नहीं सियराम का नाम भुलाओ नहीं॥

(सुन्दरलाल त्रिपाठी)

आदर्श गृहस्थी

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग्भवेत्॥
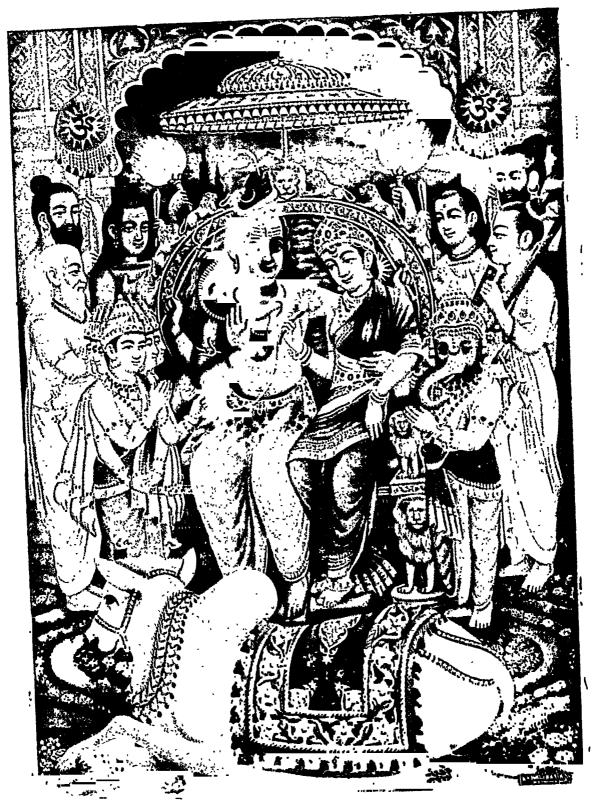
कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा, बुद्ध्यात्मना वानुसृतःस्वभावात् ॥
करोमि यद् यत् सकलं परस्मै, नारायणायेत्र समर्पयेतत् ॥

वर्ष ५ | मुमुक्षु आश्रम, शाहजहाँपुर १५ फरवरी १९५४ माघ शुक्ला १३ सोमवार, सम्वत् २०१० | अङ्क—१-२

आदर्श परिवार

शिव संग सोहैं गजानन षडानन देव,
अम्बिका भवानी को समानाधिकार है।
गजमुख का मूषक फणी के फण पै खेलै,
सर्प मोर-पंखों में घुसने को तैयार है।
सिंह नादिया को चाटता है बड़े चाव से,
पारस्परिक प्रेम वहाँ मानों साकार है।
होवे सुख-शान्ति जब ऐसी ही गृहस्थी हो,
जैसा श्री शंकर का आदर्श परिवार है।

—पं० हृदयनाथ जी शास्त्री 'साहित्यरत्न'

चरित्र-विकास

(श्रीरामाधार पाण्डेय 'ऋषि' एम० ए० एल. टी० साहित्यरत्न)

चरित्र मानव जाति के सभ्यता की कसौटी है। जो व्यक्ति या समाज जितने अंश में अपना चारित्रिक-विकास कर लेता है, वह उतना ही सुसंस्कृत एवं सभ्य माना जाता है। सच्चरित्रता इहलौकिक उन्नति की कुञ्जी, पारलौकिक-प्रगति का सोपान है। यह मुक्ति का साधक, आत्मोन्नति का नायक और मुक्ति का विधायक है।

यद्यपि यह निर्विवाद है कि जीव कुछ मूलभूत शक्तियाँ लेकर इस धरा पर अवतरित होता है, उसके अपने निजी संस्कार होते हैं, पैतृक-गुण भी वह विरासत में पाता है, किन्तु, चरित्र के संगठन में वातावरण, उसकी शिक्षा और प्रबल इच्छा बहुत अधिक प्रभाव डालते हैं। एक भेड़िये द्वारा पाले गये बच्चे का विवरण मिलता है, जिसका आचरण बहुत कुछ भेड़िया-वत् हो गया था, इसके प्रतिकूल मनुष्यों द्वारा पालित और शिक्षित, पशुओं के मनुष्य सदृश कार्य करने के प्रमाण हम में से अधिकांशों ने सरकसों में देखें होंगे। इससे स्पष्ट है कि बालक-बालिकाओं के चरित्र-निर्माण में उनका वातावरण और शिक्षा महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। सच्चरित्र निर्माण किया जाता है, जन्मतः नहीं होता।

चरित्र क्या है ?

व्यक्ति का वैयक्तिक और सामाजिक व्यवहार ही उसका चरित्र है। इसके प्रेरक आन्तरिक और बाह्य-परिस्थितियाँ हैं। आधार अन्तःकरण और उपकरण ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ हैं। व्यक्ति का मानसिक संगठन जितना सम्यक व सुव्यवस्थित होगा, अन्तःकरण जितना सुसंस्कृत होगा, कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ जितनी परिष्कृत होंगी उतना ही भी उत्तम होगा।

चरित्र के स्तर

चरित्र का उच्च विकास एकदम न होकर क्रमिक हुआ करता है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मैकडूगल (William McDougal) ने इसके चार स्तर माने हैं।

१—इसमें व्यक्ति का आचरण केवल सहज प्रवृत्तियों (Instincts) द्वारा प्रेरित और केवल इन्द्रियों के सुख-दुःखके निमित्त होता है। मछली और हरिन जीभ और कान के सुख के हेतु प्राण तक दे देते हैं। बहुत से मनुष्य भी इसी श्रेणी के हैं।

२—जब सहज प्रवृत्तियाँ प्रेरणा पुरस्कार या दंड के कारण संस्कृत होकर व्यवहार कराती हैं, तो चरित्र का स्तर ऊँचा उठ जाता है। इनाम के लोभ में बच्चों में सद्गुण लाये जा सकते हैं और दंड के भय से दुर्गुण छुड़ाये जा सकते हैं। स्वर्ग का लोभ और नर्क का भय इसीकारण शास्त्रों में निर्दिष्ट किया गया है।

३—जब सामाजिक प्रतारणा के भय व प्रशंसा के लोभवश जीव का व्यवहार उच्च स्तर का हो जाता है, तब न्याय व उदारता परोपकार आदि सद्गुणों की प्रतिष्ठा होती है।

४—जब इसमें व्यवहार बिना किसी भय या लोभ के कर्म कर्म के लिये, प्रभु के निमित्त या निष्काम भाव से होता है। यह चरित्र की परम उन्नत अवस्था है।

विकास के नियम

मानसिक विकास या चारित्रिक के विकास मनोवैज्ञानिकों ने अनेक नियम दिये हैं। ड्रेवर (Drever), जेम्स (James), मैकड्यूगल

(Mc Dougal) और शैंड (Shand) के आधार पर कुछ नियम दिये हैं, जिनका भाव संक्षेप में इस प्रकार है:—

१—जब किसी व्यक्ति या परिस्थिति द्वारा एक ही भाव बार-बार जागृत किया जाता है, चाहे वह भला हो चाहे बुरा, वह दृढ़ हो जाता है। इसीलिये अच्छी बात और अच्छे काम का अभ्यास बार-बार करना चाहिये।

२—जो व्यक्ति या परिस्थिति किसी को सुखकर या दुःखकर होते हैं उनमें राग या द्वेष होना स्वाभाविक है। अनुकूलता और प्रतिकूलता के व्यवहार में अन्तर होता है। दूध का जला छाछ फूँक फूँक कर पीता है। आग में हाथ जल जाने पर फिर बच्चा उसे छूने का प्रयत्न नहीं करता है।

३—एक सी वस्तुओं में सर्वप्रथम जिसका संसर्ग प्राप्त होता है, उससे व्यक्ति का रागात्मक सम्बन्ध हो जाता है, जो उसके तद्विषयक आचरण को प्रभावित करता है।

४—बच्चे की जो-जो सहज प्रवृत्तियाँ (Instincts) जिस-जिस अवस्था में जागृत होती हैं, उनके उपभोग का समुचित मार्ग मिलना आवश्यक है। छोटे बच्चों में अनुकरण की प्रवृत्ति अधिक होती है। उनके सम्मुख अनुकरणीय और उत्तम चरित्र रखना चाहिये, जिसको वे बिना कहे व सिखाये स्वयं सीखलें। निर्माण की प्रवृत्ति, बचपन में जागृत हो जाती है, उस समय बच्चे को तद्विषय उचित साधन मिलना चाहिये, अन्यथा उसके कुंठित हो जाने की आशंका रहती है। इसी प्रकार लड़ने-भिड़ने की प्रवृत्ति खेल कूद की स्पर्धा (Competition) द्वारा संतुष्ट होना चाहिये। जब ये प्रवृत्तियाँ समुचित ढंग से तृप्त नहीं होती, तो जीवन पर बुरा प्रभाव डालती है।

५—प्रवृत्ति को निम्नस्तर से जब उच्च स्तर में ले जाया जाता है तो वह आश्चर्य जनक परिणाम दिखाती है। तुलसी का स्त्री-प्रेम भगवत्प्रेम में परिणित होकर उनको क्या से क्या कर गया, यह सर्व विदित है।

६—आहार, निद्रा, भय, आदि प्रवृत्तियाँ अपनी तीव्रता में अथवा बौद्धिक-विकास के परिणाम स्वरुप अनेक नवीन लोकोपकारी व पारमार्थिक प्रवृत्तियों को जन्म देती हैं, जैसे मृत्यु का भय भगवद्भक्ति की ओर प्रेरित करता है। सौन्दर्य-प्रेम, उस सुन्दरता के सागर, श्यामसुन्दर से, अनुराग करा देता है।

७—विभिन्न परिस्थितियाँ एक साथ उदय होकर मानव अन्तःकरण में उसकी रुचि, अनुभव, शिक्षा के आधार पर कोई विशेष भावना जागृत करती है, इस प्रकार व्यक्ति को मिश्रित मनोभावों और जटिल व्यवहारों की ओर ले जाती हैं।

शान्त व चंचल प्रकृति पैतृक भी होती है, व्यक्ति का शारीरिक गठन, शारीरिक स्वास्थ उसका व्यवसाय भी चरित्र को प्रभावित करता है।

मानसिक ग्रंथियाँ (Complexes)

एक ही समान पैतृक गुणों और शक्तियों को रखते हुए भी वातावरण की भिन्नता के अनुसार विकास की प्रगति भी भिन्न होती है, एक ही प्रकार के बीज भूमि और खाद की विभिन्न स्थित के परिणाम-स्वरुप विभिन्न मात्रा में फल प्रदान करते हैं। ऊसर भूमि या बिलकुल पानी न मिलने, पर पौधे सिकुड़ कर यों ही रहजाते हैं। इसी प्रकार सौतेली माँ, क्रूर अध्यापक और दुष्ट साथी या गरीबी का घर बच्चे के लिये समुचित विकास में बाधक हैं। इनके द्वारा एक विशेष मनःस्थिति पैदा हो जाती है, जिसे मानसिक ग्रंथि कहते हैं। इसका ज्ञान बच्चे को नहीं होता, किन्तु वह उसके अज्ञात- मन में घर कर जाती है और उसके चरित्र को प्रभावित

करती है। सुविख्यात मनोवैज्ञानिक फ्रायड (Freud) के अनुसार दबी हुई अतृप्त इच्छाएँ जिनकी सन्तुष्टि का अवसर प्राप्त नहीं होता, वे अवसर मिलने पर ज्वालामुखी के समान विस्फोट करती हैं।

जब बच्चे को माँ से, जो सौतेली होती है, प्यार नहीं मिलता और उसी के कान भरने पर पिता से भी फटकार ही मिलती है, तो बच्चे को घर अच्छा नहीं लगता, वह आवारा हो जाता है। जब बच्चे को अच्छे काम में स्वजनों की प्रशंसा प्राप्त नहीं होती, तो वह असाधारण और अनुचित कार्यों में प्रशंसा प्राप्त करने को तत्पर होता है। जब स्वयं को किसी प्रकार प्रशंसा नहीं मिलती, तो बच्चा कभी-कभी अपने को हीन समझने लगता है, और उसमें निम्नता का भाव (Inferiority Complex) पैदा हो जाता है।

इन मनो-ग्रंथियों के विषय में प्रारम्भ से ही सतर्क रहना चाहिये। सहानुभूति-पूर्ण व्यवहार व, उचित मार्ग-निर्देश से प्रारम्भिक दशा में इन पर काबू पाया जा सकता है। किशोर अवस्था में काम व स्वाभिमान की जागृति विशेष रूप से होती है, जिसमें विशेष सावधानी की आवश्यकता है।

सच्चरित्रता ही मानवता है

काषाय-वस्त्र, बाराबण्डी तथा पगड़ी बाँधे, हाथ में सोंटा और कन्धे पर अचला डाले, स्वामी विवेकानन्दजी महाराज एक बार अमेरिका में शिकागो के किसी मार्ग पर टहल रहे थे कि उन्होंने अपने पीछे-पीछे चलने वाले एक स्त्री-पुरुष के जोड़े को उनके कपड़ों को आश्चर्य की दृष्टि से देखकर ये बातें करते हुए सुना—

"Look at this gentleman!" (इन महाशय को तो देखो!)

श्री स्वामी जी ने समझ लिया कि ये अमेरिकी लोग इस भारतीय वेश-भूषा को हेय दृष्टि से देखकर मजाक बना रहे हैं; अतः वे रुके और उस महिला को सम्बोधित करते हुए बोले—

"Dear sister! don't be so surprised towards this dress. You see, in this country these clothes make a man gentleman; but in the country from where I come 'Character' makes us gentleman."

अर्थात "प्रिय बहिन! इन कपड़ों को देखकर आश्चर्य न करो। देखो, इस देश के पुरुषों को तो, 'कपड़े सज्जन बनाते हैं', परन्तु जिस देश से मैं आ रहा हूँ, वहाँ 'चरित्र ही' मनुष्य को सज्जन बनाता है, अर्थात् सच्चरित्रता ही मानवता है।"

इस अपूर्व बात को सुनकर वे दोनों उस महापुरुष के आगे नतमस्तक होगये। (आनन्द)

अमूल्य बचन

If wealth is lost, nothing is lost.
and Health lost something is lost.
but if Character is lost every thing is lost.

अर्थात् धन की हानि कोई हानि नहीं. स्वास्थ्य की हानि 'कुछ' हानि है, परन्तु यदि चरित्र का पतन होगया तो समझो कि सर्वनाश ही होगया!

चरित्रनिर्माण में साहित्य की उपयोगिता

(श्री दुर्गाशंकर जी मिश्र बी० ए० 'साहित्यरत्न')

एक प्रसिद्ध विद्वान का कथन है कि 'जीवन की सबसे मौलिक वस्तु चरित्र है।' वास्तव में चरित्र को ही जीवन का बल समझना चाहिये क्योंकि जीवन रूपी सरसिज की पंखुड़ियाँ उत्तम चरित्र की समुज्ज्वल रश्मियों द्वारा ही विकसित होती हैं। अंग्रेजी में एक कहावत भी है कि यदि वित्त का नाश हो जाय तो कुछ भी नष्ट नहीं हुआ, समय की हानि हुई तो कुछ भी हानि नहीं हुई, परन्तु यदि चरित्र दूषित हो गया तो मनुष्य का सब कुछ खो गया। चरित्र के विकास को ही वस्तुतः हम जीवन का विकास कह सकते हैं पतन को तो मृत्यु ही समझना चाहिये। मनुष्य का सुख और दुःख उसके चरित्र पर ही निर्भर है क्योंकि चरित्रवान् व्यक्ति अपने वातावरण को सुख पूर्ण और संतोष जनक बनाकर सब प्रकार से और सभी क्षेत्रों में उन्नति प्राप्त कर सकता है परन्तु चरित्र हीन व्यक्ति न तो सत्संग ही प्राप्त कर सकता है और न कभी उन्नति ही कर सकता है। चरित्रवान् व्यक्ति दृढ़ इच्छा शक्ति, अनवरत परिश्रम और कष्ट सहिष्णुता के बल पर जीवन में सर्वदा ही सफलता प्राप्त करता है, परन्तु चरित्र हीन व्यक्ति तो स्वयं अपने आप का शत्रु होता है। टी० रेमंट ने इसी लिये अपनी 'शिक्षा सिद्धान्त' नामक प्रसिद्ध पुस्तक में चरित्र निर्माण को ही शिक्षा का प्रधान उद्देश्य मानते हुये लिखा है—"शिक्षक का सर्व प्रधान कर्त्तव्य न तो बालक को पहलवान् बनाना है, न उसे पाण्डित्य का पुतला बनाना है और न परिमार्जित भावुक ही। उसका वास्तविक कर्त्तव्य तो बालक के चरित्र को दृढ़ और पवित्र बनाना है।"

एक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक ने जहाँ प्रवृत्तियों के समुच्चय को ही चरित्र माना है वहाँ प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक कान्ट मनुष्य को आत्मनिर्मित प्राणी मानते हैं। मानव जीवन की प्रवृत्तियाँ तो वास्तव में इच्छा पर ही अवलम्बित रहती हैं और इस प्रकार सुन्दर तथा असुन्दर नामक दो भेद इनके भी किये जा सकते हैं। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्राइड ने भी मानव जीवन को आदिम प्रवृत्तियों और सामाजिक आवश्यकताओं के अन्तर्द्वन्द द्वारा ही संगठित तथा शासित होना स्वीकार किया है किन्तु केवल प्रवृत्तियों द्वारा ही चरित्र का निर्माण संदेहास्पद ही जान पड़ता है। बालकों में जब तक ज्ञान का विकास नहीं हो पाता तब तक उनकी इच्छा शक्ति भी तो जागरूक नहीं हो पाती। विवेकवान् होने पर ही बालक में दृढ़ इच्छा शक्ति का प्रादुर्भाव होता है तथा ज्ञान द्वारा ही विवेक उदय होता है। इस प्रकार किसी व्यक्ति का चरित्र निर्माण करने के लिये उसके मस्तिष्क और हृदय को शिक्षित बनाना परमावश्यक है। इसी लिये चरित्रनिर्माण का सबसे महत्वपूर्ण साधन नैतिक उपदेशों को प्रदान करना माना जाता है। हरबार्ट का कथन है कि साहित्य और इतिहास द्वारा नैतिक विचार अत्यधिक परिमाण में प्राप्त किये जा सकते हैं। वस्तुतः इतिहास तो साहित्य का एक प्रधान अंग ही माना जाता है अतएव साहित्य को चरित्र निर्माण का सबसे अधिक महत्वपूर्ण साधन समझना चाहिये।

'सहितस्य भावः साहित्यं' की उक्ति के अनुसार साहित्य का शाब्दिक अर्थ सहित होने का भाव ही समझा जाता है। किन्तु 'सहित' शब्द का अर्थ साथ होना न समझकर 'हितेन सह सहितं' ही समझना चाहिये। इस प्रकार साहित्य उसे कहा जा सकता है जिससे मनुष्य का हित होता है। श्री गुलाबराय जी एम० ए० के शब्दों में—"साहित्य संसार के

प्रति हमारी मानसिक प्रतिक्रिया अर्थात् विचारों भावों और संकल्पों की शाब्दिक अभिव्यक्ति है।" और वह हमारे किसी न किसी प्रकार के हित का साधन करने के कारण संरक्षणीय हो जाती है।

हेनरी हडसन ने—It is fundamentally an expression of life through the medium of language" नामक कथन द्वारा साहित्य को मूलतः भाषा के माध्यम से जीवन की अभिव्यक्ति माना है। इस प्रकार साहित्य का जीवन से अभिन्न सम्बन्ध है। प्रसिद्ध उपन्यासकार प्रेमचन्द्रने लिखा भी है—"साहित्य हमारे जीवन को स्वाभाविक और स्वाधीन बनाता है दूसरे शब्दों में उसी की बदौलत मन का संस्कार होता है। यही उसका मुख्य उद्देश्य है।" वस्तुतः साहित्य का उद्देश्य बौद्धिक क्षेत्र से मानसिक क्षेत्र में उस सत्य की स्थापना करना है जिसका उद्देश्य मनुष्य मात्र में कल्याणकारी एकता को स्थापित करके ईश्वर के अनुरागपूर्ण साम्राज्य की स्थापना करना है। टाल्सटाय ने भी what is art नामक अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में कला (साहित्य) को जीवन के सुधार के लिये आवश्यक मानते हुये लिखा है—"The

"The destiny of art in our time is to transmit from the realm of reason to the realm of feeling the truth that well-being for men consists in their being united to-gether and to set up in place of existing reign of force, that Kingdom of God which is love which we all recognise to be the aim of human life."

वास्तव में जीवन के गहन तत्त्वों की व्याख्या जैसी साहित्यकारों की कृतियों में देख पड़ती है वैसी अन्यत्र कहीं नहीं देख पड़ती। आदि कवि ीकि, महर्षि व्यास और कालिदास ने जितना अधिक जीवन हमें जीवन के विषय में सिखाया है उतना दार्शनिकों ने भी नहीं सिखाया होगा। साहित्य न केवल हमारा मनोरंजन कर हमारे जीवन में सुरम्यता ला देता है बल्कि साथ ही साथ हमें एक निश्चित आदर्श पर चलना भी सिखाता है। साहित्य का प्रमुख उद्देश्य एकमात्र उपदेश देना ही नहीं है परन्तु मनुष्य को नैतिक लाभ पहुँचाना भी है।

साहित्य की आत्मा काव्य है और काव्य को भी दृश्य तथा श्रव्य नामक दो भेदों में विभाजित किया जाता है। दृश्य-काव्य के अन्तर्गत रूपक और नाटकों का उल्लेख किया जा सकता है तथा श्रव्य काव्य के अन्तर्गत पद्य के साथ साथ गद्य के उपन्यास, कहानी, जीवनी और निबन्ध का भी समावेश होता है। काव्य-साहित्य के ये सभी विभिन्न अंग-उपांग चरित्र-निर्माण में आवश्यकतानुसार सहायता पहुँचाते हैं।

हमारा उपन्यास कहानी साहित्य ही सब से अधिक समृद्ध हुआ है और चरित्र-निर्माण में उससे विशेष सहायता मिल भी सकती है, क्योंकि प्रसार तथा प्रचार की दृष्टि से कथा तथा उपन्यास को ही विशेष प्रसिद्धि प्राप्त हुई है। प्रेमचन्द जी तो उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्रमात्र ही समझते हैं तथा डा० श्यामसुन्दरदास तो उसे वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा मानते हैं। भारतीय कथा साहित्य भी बहुत प्राचीन है तथा उपनिषदों में ही हमें दृष्टान्त के बहुत से उदाहरण देख पड़ते हैं। श्री रामानुजलाल श्री वास्तव के शब्दों में—"उपनिषदों में ब्रह्म से परिव्याप्त जगत् का संलाप रूप से मनोरंजक चित्रण कर, उन विद्वानों ने कथा का बीज रूप उपस्थित किया। इस प्रकार कथा आदि रूप में भावमूलक को वस्तुमूलक, निराकार को साकार और कठिन को सरल करने के लिये अवतीर्ण हुई।"

कहानियाँ शिशु से लेकर वृद्ध तक को चरित्र-पालन की शिक्षा सरलता से प्रदान करती हैं। बालक तो विशेष रूप से कथाओं को ही श्रवण करना पसन्द करते हैं। कहानी का उद्देश्य केवल मनोरंजन ही नहीं रहता वरन मानव जीवन के कुछ तथ्यों तथा मानसिक भावनाओं से परिचित कराना है। कहानियाँ काल्पनिक अवश्य हो सकती हैं।

परन्तु यह काल्पनिकता केवल आवरण मात्र ही मानी जा सकती है जिसके द्वारा नैतिक शिक्षा प्रदान की जा सकती है। कहानियाँ शिक्षाप्रद अवश्य हों परन्तु हितोपदेश या ईशप की कहानियों की भाँति न हों, उनसे आधुनिक युग की कथाओं का उद्देश्य स्पष्ट रूप से व्यंजित नहीं किया जा सकता। नैतिकता तो अंतर्हित ही रहती है और उसे समझने का प्रयास करना पड़ता है। 'अज्ञेय' की 'शत्रु' नामक प्रसिद्ध कहानी का अन्तिम वाक्य उद्देश्य को स्पष्ट कर देता है और हमें मानव चरित्र की दुर्बलता भी दिखलाता है। कि "जीवन की सबसे बड़ी कठिनाई यही है कि हम निरन्तर आसानी की ओर बढ़ते हैं।" कहानी की भाँति उपन्यास में भी नैतिकता अंतर्हित रहना ही चाहिए।

परन्तु वर्तमान युग में फ्रॉयड के प्रभाव से तथा मनुष्य जाति की स्वाभाविक रूप लालसा के फल स्वरूप कहानियाँ और उपन्यासों में मनोविश्लेषण की अधिकता पाई जाती है। यथार्थवाद से प्रभावित हो विवाहित जीवन की व्यर्थता और स्त्रीपुरुष के यौन सम्बन्धों की स्वच्छन्दता पर ही कुछ लेखकों ने जोर दिया है। इस प्रकार चरित्र निर्माण में बाधा पड़ने की आशंका भी स्वाभाविक ही होती है, यथार्थ वाद की इसी विडम्बना से खिन्न होकर श्रीमती सरोजनी नायडू ने कहा भी था—यथार्थवाद ही सब कुछ नहीं है। हमें उससे ऊपर उठना चाहिए।

चरित्र निर्माण में कविताएं भी अपना अमूल्य सहयोग दे सकती हैं। मैथ्यू आर्नल्ड ने कविता को जीवन की व्याख्या या आलोचना ही माना है। कविता हमारी भावनाओं को जाग्रत करती है और हमारे मानसिक विचारों को प्रेरणा भी देती है। प्राचीन आदर्श महापुरुषों और महावीरों विषयक कविताओं से राष्ट्रीय भावनाएं उत्पन्न होती हैं तथा दृढ़ इच्छा शक्ति भी जाग्रत होती है। मेकडूगल महाशय ने चरित्र को स्थायीभाव का संगठन माना है परन्तु स्थायीभावों का समावेश कविता द्वारा ही कुशलता से हो सकता है।

परन्तु जब हिन्दी साहित्य का काव्य जगत् नैतिकता की भावनाओं से उतना ओत प्रोत नहीं है और उसमें वासना मूलक तथा कुरुचि उत्पादक वृत्तों की ही अधिकता है। इसका कारण यह है कि काव्य की आत्मा रस मान ली गई है और शृङ्गार रस को ही सर्वश्रेष्ठ रस माना जाता है। डाक्टर भगवानदास तो साहित्य का अधिदेवता काम को ही मानते हैं—Eros, Kam, in this large sense, is truly the parent of all the gods, and the presiding deity of all Shhitya and literature, which is the only record of his play" शृङ्गार रस का वर्णन करना यद्यपि अनुचित नहीं कहा जा सकता परन्तु अश्लीलता का प्रचारकर चरित्र निर्माण में बाधा पहुँचाना तो किसी भी प्रकार उचित नहीं माना जा सकता। अश्लील भावों से परिपूर्ण कविता लिखना कविताके मूल पर कुठाराघात करना ही है। इससे तो उत्तम यही है कि कविता लिखी ही न जाय। किसी कवि ने लिखा भी है—

असभ्यार्थमिधायित्वा न्नोपदिष्टव्यं काव्यं।

कविता की भाँति निबन्ध और नाटकों द्वारा भी चरित्र सुधार में सहायता पहुंचाई जा सकती है। वस्तुतः नाटक की प्रभोवोत्पादिनी शक्ति तो अन्य

अंग उपांगो की अपेक्षा अधिक ही मानी जाती है तथा प्राचीनकाल में भी दृश्य काव्य का ही विशेष प्रचार था। नाटकों में लोकहित और लोक रंजन की क्षमता विशेष रूपसे रहती है तथा सामाजिकता का भी प्राधान्य रहता है। नाटकों द्वारा चरित्र निर्माण की शिक्षा देने का प्रभाव बहुत अधिक पड़ता है। तथा बालकों के लिये और अपढ़ पुरुषों के हेतु तो नाटक जैसे दृश्य काव्य ही चरित्रनिर्माण के प्रमुख साधन माने जासकते हैं। अधिक आयुका व्यक्ति तो इतिहास का अध्ययन भी कर सकता है और अपने चरित्र को सुचारु बना सकता है। इतिहास की अतीत घटनाओं की पुनरावृत्तिकर मानसिक भावनाओं को प्रेरित करता है। बहुत से प्रसिद्ध काव्यों की पृष्ठभूमि भी इतिहास पर ही आधारित है तथा इतिहास ही मानव जीवन को महानता प्रदान करता है।

यद्यपि रूसो ने बालकों को चरित्रनिर्माण के हेतु नैतिक शिक्षा प्रदान करना अनुचित माना है तो भी शिक्षा के क्षेत्र में नैतिकता की महत्ता सदैव स्वीकार की जायगी। साथ ही नैतिक विचार भी विद्यार्थियों को विशेषत: उत्तम कोटि के साहित्य द्वारा ही प्राप्त हो सकते हैं। उत्तम कोटि का साहित्य मनुष्य की अभद्र भावनाओं को तिरोहित कर देता है या फिर उन्हें सुप्तावस्था में पहुँचाकर अप्रत्यक्ष रूप से उसे एक श्रेष्ठतम् चरित्रवान् व्यक्ति बना देता है। अतएव हमें चाहिये कि चरित्र-निर्माण के हेतु उत्तमकोटि के साहित्यक ग्रन्थों का अध्ययन और मनन करें।

अपना चरित्र निर्माण करो।

(श्री 'नम्र' जी शास्त्री, साहित्य-रत्न)

ऊपर उठना यदि चाहो तो।
पहिले चरित्र निर्माण करो॥
सन्तों का वचना-मृत लेकर।
अपना, जग का कल्याण करो॥
दीनों, दुखियों को दुःख न दो।
शाश्वत् स्वधर्म का त्राण करो॥
आ पड़े—देश की सेवा तो।
अर्पित तन, मन, धन, प्राण करो॥
परमार्थ-पंथ के पथिक बनो।
शुचि अवगत पद निर्वाण करो॥

हमारे चरित्र-निर्माता—अभिभावक और अध्यापक

(पं० हरिहरकुमार जी मिश्र एम. ए. 'शास्त्री')

आज यदि नवयुवकों, बालकों एवं विद्यार्थियों के चरित्र के सम्बन्ध में सबसे अधिक चिन्तित कोई हैं तो वह है उनके माता पिता और उनके अध्यापक । प्रायः आप आजके भावी नागरिकों के संरक्षकों और शिक्षकों को उनके चरित्र के सम्बन्ध में ही रोते खीझते पायेंगे । अध्यापकवर्ग अपने शिक्षार्थियों तथा अभिभावक वर्ग अपने बालक बालिकाओं के चरित्र निर्माण की समस्या को इतनी गम्भीरता से सोच रहा है मानों उसके सामने जीवन मरणका या उससे भी अधिक गम्भीर कोई प्रश्न उपस्थित होगया हो । और यह स्थिति अधिकांश में ठीक भी है क्योंकि यह केवल किसी एक व्यक्ति के जीवन मरण का ही नहीं वरन सम्पूर्ण राष्ट्र के ही जीवन मरण का प्रश्न है । आज के बालक ही तो कल के भावी कर्णधार होंगे । ये ही तो देश की सत्ता सम्हालने के अंग होंगे । इन पर ही तो भावी भारत को अपने भव्य भवन का निर्माण करना है । इनमें से ही तो वे प्रकाश पुञ्ज निकलने हैं जिनके आलोक से सारे विश्व को आलोकित होना है । अतः इनके चरित्र की समस्या को सर्वाधिक गम्भीरता से क्यों न सोचा जाय ।

परन्तु यह क्या ? इस वाक्य के साथ ही यह अन्तर से कुछ हँसी सी क्यों आना चाहती है । ओ हो ! ठीक तो है कोई पूछ रहा है कि आखिर ये अपने भावी नवयुवकों की जिस स्थिति का रोना रो रहे हैं, उस स्थिति तक उन्हें पहुँचाने का अवकाश किसने दिया । ठीक है अध्यापकों तथा अभिभावकों ने उनकी चरित्र हीनता में प्रत्यक्ष सहयोग नहीं दिया है, परन्तु अवश्य ही परोक्ष की केवल थोड़ी सी असावधानी के थोड़ी सी ढील देने के दोषी तो ये दोनों ही वर्ग अवश्य ही हैं । सुलताना ऐसे डाकू की बात तो जाने दीजिये जिसने स्वयं ही स्वीकार किया है कि उसके चोर बनाने में उसकी माता का ही सबसे अधिक हाथ रहा, परन्तु क्या आज भी अनेक विद्यार्थियों को उनके अभिभावक यों ही नहीं बिगाड़ देते हैं । छोटा सा बालक जब प्रथम बार अपनी कक्षा से पेंसिल का टुकड़ा चुराकर लाता है तो उसकी माता या तो शाबासी देती है या उसे बिना किसी प्रकार का दण्ड दिये टाल देती है । याद रखिये उसके इस टाल देने ही ने, उसकी इस उपेक्षावृत्ति ने ही, शिशु के जीवन में एक विषैले कण्टक की जड़ें मजबूती से जमा दी । लगभग इसी से मिलती जुलती दशा हमारे शिक्षकवर्ग की भी है । अधिकांश शिक्षक वर्ग इस बात पर भी सहमत होगा कि परीक्षा में विद्यार्थियों की नकल करने की आदत का उग्ररूप उनकी ही साधारण सी उपेक्षा का परिणाम है । वे या तो उसे देखना ही नहीं चाहते हैं या देखकर भी उसे टाल देते हैं । वे समझते हैं कि उनके इस व्यवहार से विद्यार्थी बहुत लाभान्वित हुआ परन्तु होता है ठीक उसके प्रतिकूल ।

अस्तु युग की और युग की ही क्यों हमारे पवित्र कर्त्तव्य की भी यह पुकार है कि अब भी हम अपने कर्त्तव्य का पालन सत्यता के साथ प्रारम्भ करदें । अन्यथा स्पष्ट है कि ऐसा न करने पर चरित्रहीन नवयुवक समाज की चरित्रहीनता का विषमय परिणाम जितना हमें भोगना पड़ेगा उतना दूसरों को नहीं । यह निश्चय रखिये कि चरित्र-निर्माण के कार्य में सबसे अधिक हाथ शिक्षक और अभिभावक वर्ग को ही बटाना है । वे ही चरित्रहीनता के प्रथम उत्तरदायी हैं । मैं तो यह समझता हूँ कि चाहे वर्तमान युग में (Charty

begins at Home) की उक्ति भले ही असत्य हो परन्तु चरित्रहीनता घर से ही प्रारम्भ होती है इसमें कोई भी संशय नहीं है। अतः इन दोनों ही वर्गों को अपने कर्त्तव्य पालन में तत्परता के साथ जुट जाना चाहिये। वे इस क्षेत्र में बहुत कुछ कर सकते हैं। प्राचीन इतिहास साक्षी है कि हमारे घर की माताओं ने कैसे कैसे आदर्श चरित्रनिष्ठ एवम् जाज्वल्यमान रत्न इस देश को दिये हैं जिनके सच्चरित्रता ने केवल उन्हें ही नहीं, उनके देश को ही नहीं वरन् समस्त मानव जाति को सच्चरित्रता का व्यावहारिक पाठ पढ़ाया है। क्या हम भूल गये कि अपने पुत्र को "शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरंजनोऽसि संसारमाया परिवर्जितोऽसि" का अमृतमय उपदेश देकर उसे जीवन्मुक्त बनाने वाली एक साधारण माता मंदालसा ही थी। एक साधारण से उपेक्षित, तिरस्कृत पुत्र को जो न जाने किस गति को पहुँचा होता, नक्षत्र लोक में अमर स्थान दिलाने वाली एक साधारण माता राजा उत्तानपाद की रानी सुरुचि ही थी। क्या प्रत्येक रात्रिको ध्रुवतारा इसके साक्षी रूप में हमारे सामने नभोमण्डल को आलोकित नहीं करता। वीर शिरोमणि शिवाजी को अक्षय यश दिलाने में माता जीजाबाई का ही तो प्रधान हाथ था। दूर क्यों जायें हमारे पूज्य बापू को विदेशों में मद्यपान और व्यवहारों से रोके रहने वाली कौन थी? उनकी माता अतः अभिभावकों में से प्रत्येक को यह स्मरण रखना है कि चरित्र-निर्माण के पवित्र कार्य में उन्हें ही सबसे अधिक श्रेय का भाजन बनाया है। उनके द्वारा सिखाया गया पाठ बालक जीवन भर भूल नहीं सकता। वे चाहें तो बालक को शैतान से देवता बना सकती हैं।

उन्हें चाहिये कि वे बालकों के समक्ष उत्तम-उत्तम आदर्श उपस्थित करें। स्वयम् अपने जीवन को आदर्श से परिपूर्ण बनावें। सबसे अधिक आवश्यक तो यह है कि धर्म भक्ति ग्रन्थों की सहायता से ईश्वर की सर्वव्यापकता में उनका विश्वास अधिक से अधिक दृढ़ कर दिया जाय। उनके दैनिक कार्य-कलाप पर अधिक से अधिक दृष्टि रक्खी जाय। निश्चय समझ लिया जाय कि चरित्रनिर्माण के दुस्साध्य कार्य में जहाँ पर सब उपाय व्यर्थ हो जावेंगे वहाँ पर भी ईश्वर की सत्ता में दृढ़ विश्वास अपना फल दिखलावेगा। वास्तव में यही तो चरित्रनिर्माण का गुह्यतम रहस्य है, यही तो उसका प्रथम और अन्तिम पद है। कोई भी अनुचित कार्य करने के पहले यही विचार हमें स्मरण दिलायेगा। कि हम उस सर्व व्यापक सर्वशक्तिमान् की उपस्थिति में क्या करने जा रहे हैं। मनुष्य के कर्मों पर कहाँ तक निगरानी रख सकता है उसके कर्मों का द्रष्टा साक्षी तो उससे अधिक शक्तिमान् ही हो सकता है और वह एक ही है ईश्वर। अतः यदि अभिभावक या शिक्षक बालकों में इस विचार को दृढ़ता से पुष्ट कर देंगे तो वे पावेंगे कि उनका कार्य बहुत सरल हो गया है। नवयुवक समाज के हृदय में यह भाव दृढ़ता से जमा देना है कि उनका कोई भी कार्य चाहे वह कितने कैसे ही निर्जन स्थान में किया जाय ईश्वर की आँखों से छिप नहीं सकता। वह प्रत्येक क्षण उनके साथ है और उनके कर्मों को देखता है। उनके प्रत्येक उचितानुचित कार्य का पुरस्कार या दण्ड उन्हें उसके द्वारा अवश्य मिलेगा। चाहे आज या कल अथवा कुछ दिनों के बाद।

इस प्रकार ऐसी शिक्षा देना अभिभावकों और शिक्षकों दोनों का ही कार्य है। परन्तु इसके अति-रिक्त अन्य भी कतिपय ऐसे आवश्यक कर्त्तव्य हैं जिनका करना माता पिता तथा शिक्षकों के लिये ही सरल एवम् सहज है। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि बालक को शिक्षालय में भेज देने के उपरान्त उसके माता पिता उससे निश्चिन्त हो जाते हैं। नहीं उन्हें अपने कर्त्तव्य की इति श्री यहाँ पर न समझ

लेनी चाहिये प्रत्येक आवश्यक कार्य में उन्हें शिक्षकों को सहयोग देना है। उन्हें चाहिये कि वे अवसर निकालकर शिक्षकों से मिलते जुलते रहें और अपने बालक के सम्बन्ध में उनसे परामर्श करते रहें। उनका यह कार्य विद्यार्थी के चरित्रनिर्माण में बड़ा सहयोग प्रदान करेगा। अन्यथा शिक्षकों को प्रायः परेशानी का अनुभव होता है, अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली में विद्यार्थी की उद्दण्डताओं पर साधारणतया शिक्षक उसे अर्थदण्ड से दण्डित करता है और विद्यार्थी अनेक बहाने बनाकर अपने अभिभावकों से पैसा लाकर उस दण्ड को चुका देता है। इस प्रकार अध्यापक का भी अभीष्ट साधन नहीं हो पाता। और अभिभावक को अपने बालक के लिये व्यर्थ ही अर्थ-हानि उठानी पड़ती है। अस्तु इसे सुधारने के लिये बहुत आवश्यक है कि माता पिता अपने विद्यार्थी तथा उनके विद्यालय के सम्बन्ध में अधिक से अधिक सम्भव जानकारी रक्खा करें, तथा अध्यापकों को विद्यार्थी के चरित्रनिर्माण में पूर्ण सहयोग प्रदान करें। दोनों वर्गों का पूर्ण सहयोग होने पर सम्भव है कि विद्यार्थी चरित्र हीनता के मार्ग पर अग्रसर न हो सके

इस प्रकार माता पिता के कर्त्तव्य पालन के साथ ही अध्यापकों को भी अपना कर्त्तव्य पालन करना है। उनका प्रत्येक कार्य आदर्श होना चाहिये। क्योंकि विद्यार्थी प्रायः उनका अनुकरण किया करते हैं। वे कोई भी ऐसा कार्य न करें जो उनके प्रति विद्यार्थियों की श्रद्धा में न्यूनता पैदा कर सके। वे अपना निश्चय लक्ष्य बना लें कि उन्हें विद्यार्थियों को केवल किताबी कीड़ा ही नहीं बनाना है, प्रत्युत उन्हें आदर्श चरित्र-निष्ठ नागरिक तैयार करने हैं। उनकी शिक्षा में उनकी वाणी में वह शक्ति होनी चाहिये जिससे प्रेरणा लेकर दुश्चरित्र बालक भी सुचरित्र बनसकें। उन्हें ध्यान रखना है कि जिन छात्रों को परीक्षा में उत्तीर्ण करना उनका कार्य उन्हें केवल पुस्तकीय परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने योग्य ही नहीं बनाना है, प्रत्युत उन्हें इस योग्य बनाना है कि वे जीवन में पद पद पर आने वाली परीक्षाओं में भी उत्तीर्ण हो सकें और यही कर्म उनके जैसे ही मनीषियों से साध्य हैं। इस नाव के वे ही सफल नाविक हैं। वे ही राष्ट्र के प्रत्यक्ष और परोक्ष उभय प्रकारेण निर्माता है। उनका स्थान बृहस्पति से भी उच्च है। उनमें से ही तो किसी के लिये श्रद्धावनत होकर मीरा कहती है कि—"बलिहारी उन गुरु की जिन गोविन्द दिये मिलाय"

इस लिये निश्चय है कि चरित्रनिर्माण के कार्य में सबसे अधिक सफलता यदि किसी वर्ग को मिल सकती है तो वह अध्यापक और अभिभावक वर्ग ही है। और इसी लिये क्यों न आशा की जाय कि ये दोनों ही वर्ग अपने पवित्र कर्त्तव्य पालन में निरन्तर तल्लीन रहकर शीघ्र ही चरित्रनिर्माण की समस्या को सुन्दर रूप में सुलझा लेंगे।

श्रेष्ठ साधन

धर्मों में सबसे बढ़कर हमने ये धर्म जाना।
हरगिज कभी किसी के दिल को नहीं दुखाना॥
कर्मों में सबसे बढ़कर बस कर्म एक यह है।
उपकार की वेदी पर प्राणों की बलि चढ़ाना॥
सब साधनों में बढ़कर साधन यही मिला है।
प्रभु के चरण कमल पर दृग 'बिन्दु' जल गिराना॥

—'बिन्दु जी'

सर्वश्रेष्ठ कौन ?

"कहा विष्णु का घटि गया जो भृगुमारी लात" भगवान् के दशावतरों में श्री परशुराम जी महाराज की भी गणना है। इक्कीस बार उन्होंने क्षत्रियों के मिथ्याभिमान को चूर्ण किया था। उन्हीं के पूर्वज महर्षि भृगु को समस्त ऋषि-समाज ने ब्रह्मा विष्णु तथा महेश में कौन सर्व श्रेष्ठ है—इस परीक्षा के लिये नियुक्त किया। विचार हुआ कि जिसने क्रोध पर पूर्ण रूपेण विजय प्राप्त करली हो वही सर्वश्रेष्ठ सर्वपूज्य हो सकता है। बस इसी बात की परीक्षा करने के लिये महर्षि कमर कसकर तैयार हुए।

वे तपःपूत महर्षि सबसे पहिले ब्रह्मलोक को गये। ब्रह्माजी उस समय सृष्टि निर्माण कार्य में तल्लीन थे, उन्होंने भृगु जी को नहीं देखा। तन्मयता के कारण ब्रह्माजी का ध्यान उधर नहीं गया। महर्षि भृगु तो परीक्षा लेने के निमित्त आये ही थे, वे ब्रह्मा जी को उनकी अवहेलना के कारण भला-बुरा कहने लगे। चतुर्मुखी बाबा का ध्यान आकर्षित हुआ तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ कि त्रैलोक्य का मैं निर्माता हूँ। बड़े-बड़े देवता तो मेरी पूजा करते हैं और यह साधारण मानव अपनी तपस्या के घमंड में मुझे गालियाँ सुना रहा है। इसने क्या समझ रक्खा है मुझे ? पहिले तो वे कुछ बोले नहीं किन्तु क्रोध की सीमा का उल्लंघन होते ही ब्रह्मा बाबा ने भृगु जी को बहुत डाँटा। महर्षि तो उन्हें भली भाँति परखने के लिये ही आये थे उन्होंने दो-चार जली-कटी बातें और सुना दीं। बस फिर क्या था ब्रह्मा जी आवेश में आकर इनकी ओर झपटे और तब भृगु जी भी वहाँ से चम्पत हो गये। मार्ग में भृगु जी ने विचार किया कि "ब्रह्मा जी तो सृष्टि का निर्माण करने वाले हैं, रजोगुणी हैं इन्हें क्रोधावेश हो सकता है इस प्रकार मनन करते हुये वे अपनी योगशक्ति से कैलाश के हिमाच्छादित उत्तुंग शैल शिखर पर पहुँचे। भूतभावन भगवान् भोलानाथ को प्रणामादि शिष्टाचार किये बिना ही उनके अवगुणों को उन्हीं से कहने लगे। इस अनोखे तपस्वी विप्र की अनोखी बातों से भगवान शंकर को भी अत्यधिक आश्चर्य हुआ। भगवती उमा क्रोध के कारण श्राप देने को ही तत्पर हो गयीं थीं किन्तु शंकर भगवान ने उन्हें शान्त किया। महर्षि भृगु तो अपने संकल्प के अनुसार निर्णय करने का दृढ़ निश्चय ही करके आये थे, अपने वाग्बाणों की बौछार उन्होंने बन्द नहीं की और कुछ ऐसी बातें कह डालीं जिन्हें सुनकर प्रलयङ्कर शङ्कर का क्रोध भड़क उठा और वे इस ढीठ तपस्वी ऋषि को स्वयं दंड देने के लिये त्रिशूल लेकर दौड़े। महर्षि भृगु ने आव देखा न ताव चटपट सिर पर पैर रखकर भागे कैलाश से। नीचे आकर हाँफते-हाँफते उन्होंने विचार किया ! बड़ी खैर हो गयी, यदि मैं कुछ देर वहाँ और खड़ा रहता तो सब परीक्षा—वरीक्षा एक ओर धरी रह जाती। फिर सोचा यह तो सृष्टि का संहार करने वाले ही हैं, इन्हें यदि क्रोध आ ही गया तो कोई विशेष आश्चर्य की बात भी नहीं है। संहार का कार्य तमोगुण के आधार से ही होता है। अब भगवान विष्णु को और देख लिया जाय बस। यदि वे भी इन दोनों जैसे निकले तब तो यही विश्वास करना पड़ेगा कि क्रोध अजेय है, कोई उसे जीत नहीं सकता।

संताग्रगण्य महर्षि भृगु, योग-मार्ग से क्षीर-सागर के सन्निकट पहुँचे। सृष्टि के उद्धर्ता पालन-कर्ता अखिल ब्रह्माण्ड नायक भगवान श्री विष्णु शेष-शय्या पर विश्राम कर रहे हैं, अर्द्धोन्मीलित नेत्रों से अपनी सुकोमल बाँह का तकिया बनाकर लेटे हुए विचार-तन्द्रालु भगवान की बाँकी-झाँकी से भृगु जी

ठगे से खड़े रह गये। आदि-शक्ति, महामाया लक्ष्मी जी भगवान के सुरमुनि-वन्दित, कोमल-कमनीय चरण-कमलों की सेवा में तन्मय थीं। इस ओर उनकी पीठ थी, उन्होंने महर्षि को नहीं देखा। भृगु जी को सहसा स्मरण हुआ, अपने अन्तर्मुखी मन को उन्होंने बाहर किया। महर्षि भृगु ने विचार किया कि श्री विष्णु में इन दोनों की अपेक्षा कुछ विशेषता है, अतएव मुझे यहाँ किसी विशेष युक्ति से काम करना चाहिये। एक क्षण तक उन्होंने विचार किया और कुछ निश्चय करके शेषशायी भगवान विष्णु की छाती में पूरी शक्ति से लात मार कर बोले—"अपनी शक्ति के अभिमान में चूर सदैव पड़े सोते ही रहते हो, किसी आने-जाने वाले की ओर कभी तुम्हारा ध्यान जाता भी है ?

योग-निद्रा से चौंकने का नाट्य सा करते, विष्णु भगवान ने देखा, रक्तिम नेत्रों से उन्हें देखते महर्षि भृगु, आवेश में खड़े काँप से रहे हैं और आदिशक्ति लक्ष्मी उन्हें आग्नेय नेत्रों से देख रही हैं। लक्ष्मी जी के कुछ कहने से पूर्व वे भक्तभय भञ्जन-संतरंजन अपने कोमल करपल्लवों से महर्षि श्री भृगु के बिवाई फटे खुरखुरे पावों को सहलाते हुए निखिल रसामृत-स्वरूप, वीणा विनिन्दित वाणी में बोले—"देव ! आपके कोमल चरण में मेरी वज्र तुल्य छाती के आघात से चोट लगी होगी। मैं अपराधी हूँ, मेरा अपराध अक्षम्य है"। भगवान की बात समाप्त होते ही लक्ष्मी जी ने क्रोध को प्रकट किया—"ज्ञानाभिमानी विप्र ! तुमने मेरे प्राणाधार पति-परमेश्वर की कोमल छाती में किस हेतु लात मारी ? उन्होंने तुम्हारा क्या अपराध किया ? आततायी के समान इस कुकृत्य से तुम्हारा क्या लाभ हुआ ? भगवान तुम्हें क्षमा कर दें किन्तु मैं तुम्हें कदापि क्षमा नहीं करूँगी। अभिमानी विप्र मैं तुम्हें शाप देती हूँ कि तुम्हारे वंशजों के पास भी मैं नहीं फटकूँगी तुम्हारे इस जघन्य अपराध का फल प्रलय पर्यन्त तुम्हारे वंशधर भी भोगेंगे"—जगज्जननी क्रोधावेश में बोल रही थीं उन्होंने कहा "तुम्हारे पाप से वे भी दरिद्र ही रहेंगे। "शान्त देवि शान्त !!—भगवान विष्णु ने मृदुवाणी में कहा बस अब और कुछ न कहना अपने पूज्य अतिथि से" फिर महर्षि भृगु की ओर देखकर बोले—"महाभाग ! मैं आपका कौन सा प्रिय कार्य सम्पादन करूं ? आज्ञा कीजिये"। भृगुजी की शंका का समाधान होगया। प्रेमाश्रु वर्षण करते भगवान के चरणों में गिरकर बोले—"प्रभो ! आप ही सर्व-पूज्य और सर्वश्रेष्ठ हैं" अपने अपराध की क्षमा-याचना करके महर्षि ने अपने आने का आद्योपान्त हेतु भगवान को सुनाया।

मन्द मन्द मुस्कराते हुए अभयदाता श्री विष्णु से सहर्ष विदा लेकर मार्ग में महर्षि ने विचार किया ऐसी अद्भुत सहनशीलता के कारण ही ये सबसे श्रेष्ठ और त्रैलोक्य पूजित हैं। कहते हैं कि तभी से ब्राह्मणों के पास लक्ष्मी जी टिकती नहीं विप्रों को अर्थाभाव बना ही रहता है। (राम०)

क्षमा बड़ेन को चाहिये छोटन को उत्पात।
कहा विष्णु का घटि गया जो भृगु मारी लात॥

चलन चलन सब कोई कहे, मोहिं अन्देशा और।
साहब से परिचय नहीं, पहुँचेंगे केहि ठौर॥

चित्र और चरित्र

(ठाकुरगंगासिंह जी)

चरित्र-निर्माण के लिये चित्रों से बहुत बड़ी सहायता ली जा सकती है। चरित्र और चित्र का परस्पर बड़ा सम्बन्ध है। चित्र मनुष्य के चरित्र पर सबसे अधिक प्रभाव डालता है। यदि चित्र चरित्र को गिरा सकता है तो वह उसे उठा भी सकता है। गन्दे अश्लील चित्र सदाचार के लिये बड़े घातक हैं; संतों के, वीरों के, दर्शनीय पुरुषों के एवं भगवान् के सुन्दर चित्र चरित्र निर्माण में बड़े सहायक होते हैं। मनुष्य जैसे चित्र देखता है वैसे ही विचारों का ताँता उसमें चल पड़ता है। कोई चाहें कि मैं गन्दे चित्र देखूँ, गन्दे चरित्र पढ़ूँ और सुन्दर चरित्र का निर्माण भी कर सकूँ तो यह असम्भव है। अतः चरित्र-निर्माणकर्त्ता को चाहिये कि वह अपने नेत्रों पर नियन्त्रण रखे। सर्व प्रथम नेत्रों का नियन्त्रण आवश्यक है उसके पश्चात् अन्यान्य इन्द्रियों का। मनुष्य कान से जो कुछ सुनता है उसका भी मन में चित्र बन जाता है। जैसा चित्र बनता है वैसे ही भावों का हृदय में प्रसार और प्रचार होता है। हृदय में एक बार भी आया हुआ भाव हृदय के किसी कोने में अपना स्थान बना लेता है और यदि कहीं अधिक टिकने का उसे अवसर मिल गया तब तो कहना ही क्या ? परम भक्त श्रीनारद जी ने कहा है:—

तरङ्गायिता ? अपीमे सङ्गात्समुद्रायन्ति।

—(नारद भक्ति सूत्र ४५)

विषय पहले-पहले तरंग के रूप में आते हैं। हमने सावधान होकर उस तरंग का तिरस्कार कर दिया—उसे निकाल बाहर किया तो कुशल है ... उसे स्थान मिल जाने पर तरंग को समुद्र ...कर अपने आश्रयदाता को डुबोते देर नहीं लगती। कुछ गहराई में जाकर विचार करेंगे तो स्पष्ट हो जायगा कि इस बुराई का मूल स्रोत कहाँ है। वह किसी गन्दे या अश्लील चित्र से पैदा हुई अथवा किसी की बुरी बात के कान में पड़ने से जो चित्र बना उसी का यह दुष्परिणाम है।

मनुष्य जितना सुनता है उससे कहीं अधिक देखता है पढ़ने का कार्य भी करता है देखकर ही। जितना देखता है उससे कहीं अधिक विचारता है। जैसा विचार वैसा ही चित्र। विचार धारा के अनुरूप चरित्र का निर्माण होता है। जो लोग सिनेमा देखते हैं वे अपने चरित्र का निर्माण कदापि नहीं कर सकते। क्योंकि सिनेमा में प्रायः बुरी ही बुरी वासना को उभाड़ने वाले चित्र देखने में आते हैं। सिनेमा के द्वारा चरित्र एवं द्रव्य का बड़ी बुरी तरह विनाश हो रहा है। धार्मिक कहे जाने वाले चित्र भी चरित्र के स्तर को ऊँचा नहीं उठाते प्रत्युत उसे गहरे गर्त की ओर ही अग्रसर करते हैं। स्कूल कालेज के छात्रों के चरित्रह्रास का प्रमुख कारण एकमात्र सिनेमा का शौक ही है। सिनेमा देखने का व्यसन हो जाने पर तो बड़ी दुर्गति होती है। घर में चाहे खाने को न हो, सिनेमा जरूर देखेंगे। भले ही स्वयं भूखे रहना पड़े कोई परवा नहीं। आर्थिक स्थिति चाहे जितनी गिरी हो पर इसे नहीं छोड़ सकते। अतः पहले ही सावधानी रखनी चाहिये कि व्यसन तक नौबत न पहुँचने पावे। बहुत से माता-पिता बच्चों को बड़े शौक से सिनेमा दिखाते हैं किंतु वे नही जानते कि ऐसा करके वे अपने बच्चों का अपने ही हाथों विनाश कर रहे हैं। इस लिये जो अपने चरित्र की, सदाचार की रक्षा करना चाहते हैं उन्हें अवश्य ही दृढ़ निश्चय पूर्वक इस प्रकार की

प्रतिज्ञा करनी चाहिये कि वे अब कभी भी जीवन में एक बार भी सिनेमा नहीं देखेंगे।

अपने पूर्वज ऋषियों के कितने गहरे विचार थे जिन्होंने इस प्रकार के नियम बनाये थे कि जिनका आश्रय लेने पर मनुष्य को चरित्र-ह्रास के लिये तनिक भी गुञ्जाइश नहीं रह पाती थी। उसमें स्त्रियों को न देखना, अकेले में न मिलना, न बातचीत करना, न स्पर्श करना, न चिन्तन करना आदि नियम भी थे। ऐसा देखा गया है कि इन नियमों को पालन करने वाले लोगों के चरित्र की बड़ी सुगमता से रक्षा हुई है।

गन्दे चित्र देखने से तथा गन्दे चरित्र पढ़ने से सर्वथा बचना चाहिये। उनके स्थान पर भगवान् के, भक्तों के, वीर पुरुषों के चरित्रवानों के चित्रका संग्रह रखना चाहिये। अपने घरों में भी सुन्दर सुन्दर भगवान् के, भक्तों के, शंकराचार्य, भीष्म, हनुमान, प्रताप, शिवाजी आदि के चित्र लगाने चाहिये। कला के नाम पर नग्न चित्रों का संग्रह तथा अवलोकन खतरे से खाली नहीं है। विदेशमें एक गोरी स्त्री के एक काला लड़का उत्पन्न हुआ। उसे देखकर बड़ा आश्चर्य तथा उस स्त्री के चरित्र पर सन्देह किया गया। किन्तु अन्त में इसका रहस्य प्रकट हो गया कि उस स्त्री के कमरे में चारों ओर नीग्रो के चित्र लगे हुए थे। इससे चित्र के प्रभाव का पता चलता है। मन में महत्त्वाकांक्षा रखनी चाहिये यह चरित्र-निर्माण में बड़ी सहायक सिद्ध हुई है। जो जगत को दिखाने के लिये नहीं, वरन् सच्चा महात्मा बनने की महत्त्वाकांक्षा रखता है, वह धन्य है।

भगवान् का चित्र सम्मुख रखकर ध्यान करने से चरित्र-निर्माण में बड़ी सहायता मिलती है। विषयों में सुख समझने के कारण ही मनुष्य का चरित्र बिगड़ता है। पर यदि वह नित्य भगवान् के ध्यान का उनका चित्र रखकर अभ्यास करे तो उसे ध्यान में भगवान का दिव्य सौन्दर्य दिखायी देने है लगेगा। उस सौन्दर्य के दृष्टिगोचर होने पर इधर के घृणित सौन्दर्य से वृत्ति अपने आप हट जायगी। इसमें प्रयास भी नहीं करना पड़ता। नित्य नियमपूर्वक निश्चित समय पर निश्चित समय तक जमकर बैठने की आवश्यकता है। ध्यान की बड़ी महिमा है उससे स्वयं भगवान आकर्षित होकर प्रकट हो जाया करते हैं जो भगवान् के चित्र से उनके सौन्दर्य को किसी झाँकी की कुछ भी कल्पना कर लेता है वह तो फिर गोस्वामी श्री तुलसीदास जी की भाँति दिन रात यही याचना करता रहता है:—

तुलसीदास जाचक रुचि जानि दान दीजै।
रामचन्द्र चन्द्र तू चकोर मोहिं कीजै॥

हमारी आकांक्षा

हे ईश ! भारत में सदा ही वेद वाक्य प्रमाण हो।
हो धर्म-मार्ग प्रशस्त और अधर्म फिर म्रियमाण हो॥
सत्संग सेवा सत्य से प्रेरित हमारा प्राण हो।
माँ भारती के बालकों का शुभ चरित्र निर्माण हो।

—हरि०

माताओं का अनुपम त्याग

भक्त-कुल-कमल-दिवाकर, प्रातः स्मरणीय श्री भरत लाल जी, तपस्वी वेश में एकान्त वासी हुए। नगर से दूर, निर्जन-एकान्त नन्दिग्राम में राम-विरही भरत ने, दुग्धफेन सी सुकोमल शय्या का परित्याग कर, पर्णकुटी में कठोर कुशों का आसन स्वीकार किया। पृथ्वी पर नहीं, पृथ्वी को खोदकर भूगर्भ में वह कुटी बनी। भरत के आराध्य बनवासी राम, बन-बन में भटकते फिरें और वे नन्दन-कानन जैसे सुखद राजमहल में विश्राम करें ? ऐसा कैसे हो सकता था ? चित्रकूट से भगवान की पादुकायें लाकर उन्हें उस कुटी में स्वर्ण-सिंहासन पर विराजमान कर, श्री भरत लाल अनोखी साधना में रत हुए। प्रभु की याद में, उनके कमल-नयन सावन भादों सी क्षण-क्षण में वर्षा करते। श्रीराम के विरह-सागर में ही उनका मन डूबता-उछलता रहता था। भगवान वशिष्ठ की आज्ञानुसार राज्य का संचालन होता और रिपुसूदन उसको सँभाल करते थे। वे प्रातः और सायं पूज्य अग्रज को प्रणाम करने जाते और राज्य के आवश्यक संदेश सुनाते थे।

दो घड़ी रात्रि व्यतीत होचुकी थी। भरत प्रिया, देवी माण्डवी और श्री शत्रुघ्न जी तपःपूत, रघुवंशशिरोमणि श्री भरतलाल जी से श्रीराम-चर्चा कर रहे थे। शत्रुघ्न जी भगवान राम के अलौकिक कृत्यों को सुना रहे थे और आनन्द-मग्न भरत अर्द्धोन्मीलित नेत्रों से, अश्रु वर्षण करते अपने इष्टदेव का पावन गाथामृत श्रवण-पुटों से पान कर रहे थे। अपने कृशकाय प्रियतम के तेजोमय मुखमण्डल की ओर टकटकी लगाये देवी माण्डवी, कभी कभी अपने आँचलसे आँसुओंको पोंछ लेती थीं।

सहसा आकाश में भीषण सरसराहट का शब्द हुआ। उन दिनों मायावी राक्षस यत्र-तत्र उपद्रव करते रहते थे। भरत जी को अनुमान हुआ कोई क्रूर-कर्मा आकाश मार्ग से किसी दुर्भावना से अयोध्या के ऊपर से निकला जा रहा है। उन्होंने अविलम्ब अपना धनुप उठाया, ऊपर देखा कोई विशाल पर्वताकार विमान सा आकाश में उड़ा जा रहा है, यह मेघ-गर्जन का गम्भीर-रव इसी का है। भरत जी ने उसे लक्ष्यकर अपना अमोघ बाण छोड़ा, दूसरे ही क्षण हाय राम ! हा सीता !! हा लक्ष्मण !!! कहते कहते राम-दूत, अतुलित बल-धाम हनुमान जी पृथ्वी पर गिर पड़े।

"हाय ! मैंने क्या किया"—कहते हुए आश्चर्य और दुःख के आवेग से भरत जी उस ओर दौड़े उनके पीछे अस्तव्यस्त शत्रुघ्न और देवी माण्डवी भी पहुँचीं। कुटी के बाहर बैठे दास-दासियों ने भी अपने स्वामियों का अनुगमन किया।

मूर्च्छित महावीर के वज्र तुल्य शरीर से शोणित की धारायें प्रवाहित होरही थीं किन्तु उस दशा में भी "हा राम ! हा सीता !! की करुण पुकार दर्शकों के हृदयों को विदीर्ण कर रही थी। भरत जी ने अपनी जंघा पर उनका शिर रक्खा, और फूट-फूट कर बालकों की भाँति रो पड़े उनके आँसू हनुमान जी की रक्तधार में मिल-मिल कर बहने लगे "हाय मैं कैसा अधम हूँ राम-भक्त को मैंने मारा" कहते कहते भरत जी विलाप कर रहे थे और उनके साथ साथ समस्त समुपस्थित आँसुओं से अपना मुख धो रहे थे। भरत जी ने हनुमान जी के विशाल वक्षस्थल पर अश्रु-बिन्दु टपकाते हुए अवरुद्ध कंठ से पूछा—"भाई ! तुम कौन हो, अपने हत्यारे को अपना नाम तो बताओ"

कुछ उत्तर न पाकर सहसा देवी माण्डवी ने कहा—"नाथ ! कल ही देवर जी ने मुझे बताया था कि किसी सन्त ने आपको कोई संजीवनी औषधि प्रसाद में दी है, सुना है उसमें अद्भुत जीवनी शक्ति है।"

"हाँ ! स्मरण हुआ"—सावधानी से हनुमानजी का मस्तक पृथ्वी पर रख भरत जी दौड़े दौड़े कुटिया में गये और सिंहासनस्थ श्रीराम की पादुकाओं के समीप रक्खी उस संजीवनी को उठा लाये। संजीवनीके प्रयोग से तत्क्षण आहत-हनुमान जी ने आँखें खोल दीं अञ्जनीनन्दन ने जैसे सोते-से जाग कर देखा—माता सीता उनके प्रवाहित रक्त को अपना आंचल फाड़कर पोंछकर पट्टी बाँध रहीं हैं। वे बोले—"मैं कहाँ हूँ ? सीता-मातायहाँ कैसे आगयीं ? और मेरे प्रभु तो सामने ही खड़े हैं"—हनुमान जी उठकर बैठ गये अपने पीछे धनुर्धर लक्ष्मण जी को देखा। विस्फारित नेत्रों से उन्होंने अपने चारों ओर देखा।

"मैं उनका दास भरत, ये देवी माण्डवी और ये वीरवर शत्रुघ्न मेरे कनिष्ठ भ्राता', संजीवनी के चमत्कार से पुलकित भरत जी ने कहा—आर्य ! इस समय आप मुझ अधम की मूर्खता से, भगवान श्रीराम की पुरी अयोध्या की भूमि में आहत हुए। अपना परिचय दीजिये।

"अहो भाग्या ! इस किङ्कर ने आपके दर्शन पाये"—आनन्द विह्वल पवन तनय ने भरत की चरण धूलि आँखों से लगाई, सीता माता की अनुजा और शत्रुघ्न जी को भी प्रणाम किया और बोले "मैं धन्य हुआ। जिनकी स्मृति में तन-मन की सुधि भूलकर मेरे आराध्य देव के नेत्रों से अविरल जलधार प्रवाहित हो जाती है उनके दर्शन कर आज मैं कृतकृत्य हुआ—फिर सहसा चौंककर बोले कितनी रात्रि व्यतीत हुई होगी ? मुझे सूर्योदय से पूर्व ही संजीवनी लेकर रामादल में पहुँचना चाहिये "सौमित्र के प्राण संकट में हैं"

'क्यों और कैसे ?" समस्त कंठों से एक साथ भयभीत होकर प्रश्न हुआ।

सहसा शत्रुघ्न जी ने कहा—"हमारी माताएँ भी आगयीं इस दुर्घटना का समाचार पाकर"—शिविकाओं से उतरकर, कृशकाया-तेजोमयी राम-जननी कौशल्या, माता सुमित्रा और केकयी ने—आश्चर्य और कौतूहल मय नेत्रों से भरत और शत्रुघ्न की ओर देखा—पृथ्वी पर लोटकर भरत और ने माताओं को प्रणाम किया, हनुमान जी ने अपना मस्तक उनके विश्ववन्द्य चरणों में रक्खा। माताओं ने उनके मस्तक पर हाथ फेरा। समुपस्थित समुदाय की उत्कंठा को शान्त करते हुए अंजनीनन्दन ने नकटी सूर्पणखा की गाथा से लेकर श्री लक्ष्मण जी को शक्ति लगने तक का समग्र विस्तृत वृत्तान्त सुनाकर कहा—"मैं उनका तुच्छ किङ्कर हनुमान, संजीवनी लेकर उत्तराखण्ड लारहा था, जन्म-जन्मातर के संचित पुण्य से मेरा सौभाग्य सूर्य उदय हुआ जो इस रूप में आप लोगों के दर्शन मिले, अब आज्ञामिले"—

रोष और आन्तरिक वेदना की ज्वाला के संताप से पिघल-पिघल कर सबके हृदय नेत्रों के मार्ग से प्रवाहित हो चले, रोते-रोते भरत ने कहा "हाय ! मैं प्रभु के किसी काम न आया, यहाँ तपस्या का ढोंग बनाये पड़ा हूँ। हाय ! मुझ अधम के कारण पूज्य राम-सीता वनवासी हुए, वीर लक्ष्मण की ऐसी गति हुई और आज पुनः उनके अहित का कारण बना; धिक्कार है मुझे—अधीर भरत बालकों की भाँति रोने लगे।

अपने आंचल से भरत के आँसुओं को पोंछती, उन्हें हृदय से लगातीं और बिलखतीं हुई माता कौशल्या बोलीं—"मेरे लाल ! ऐसा न कहो,

तुम्हारे पुण्य प्रताप से ही राम और लक्ष्मण हम सबको सनाथ करेंगे।

सहसा सुमित्रा ने इस करुण प्रसंग को परिवर्तित करते हुए कहा—पुत्र शत्रुघ्न! अपने अग्रज के अनुगामी बनो तुम्हें भोर होते ही रामादल की ओर अपनी विपुल वाहिनी के साथ प्रस्थान करना है।

"आप प्रस्थान करें महावीर! आपको विलम्ब हो रहा है, मैं शीघ्र ही आर्य श्रीराम की चरण धूलि से अपना भाग्य-निर्माण करने रामादल पहुँचूँगा"—शत्रुघ्न जी ने हनुमान जी से कहा—

"पुत्र हनुमान! तुम धन्य हो, तुम्हारी जननी धन्य है, नर-शार्दूल श्रीराम से कहना लक्ष्मण, यदि वीरगति पा जाँय तो वे किंचित भी दुखी न हों, उनकी सेवा में लक्ष्मण के बलिदान से उनकी सुमित्रा माता का गौरव बढ़ा है"—लक्ष्मण-जननी ने अपने वीरोद्गार व्यक्त किये।

"ठहरो पवनपुत्र! हनुमान को गमनोद्यत देख माता कौशल्या ने ओजमयी गम्भीर वाणी से कहा—"वत्स! तुम श्रीराम से कहना कि लक्ष्मण के बिना वे अकेले अयोध्या न लौटें, यह उनकी माता की आज्ञा है।"

वीरत्व-करुणा और अलौकिक प्रेम के महासागर में निमग्न हनुमान जी ने कहा—"आप लोग किंचित अधीर न हों—युगावतार सत्य-संकल्प श्रीराम दुर्दान्त दानव को पराजित कर, जानकी सहित यहाँ पधारेंगे इसमें किंचित सन्देह नहीं।" सबको प्रणाम कर वे आकाश-मार्ग से पवन जैसे वेग से चले गये।

शत्रुघ्न ने शङ्खध्वनि की, अपनी सेना को सूचित करने के लिये। महर्षि वशिष्ठ ने अपने योगबल से सबको आकाश में, चलचित्र की भाँति भविष्य की घटनाएँ दिखादीं, उनके उपदेश और आदेश से आश्वस्त समस्त सेना, प्रजाजन और श्रीराम की विरहाग्नि में विदग्ध परिवार को परम सन्तोष हुआ। (राम०)

चरित्र निर्माण अंक

(पं स्वामीदयाल व्यास, लखनऊ)

प्यारे भवसागर से पार यदि जाना है,
और इस तन से मिटाना है पाप शंक।
तो फिर हमारी सीख मानो चहै कोई होय,
राजा महाराजा हो दुखी हो दीन हों या रंक॥
ज्ञान भक्ति प्रेम की त्रिवेणी धार में नहाय,
गाय गाय रामनाम फूँक दो भ्रमों की लंक।
प्रेम भाव भक्ति पूरि 'व्यास' मन चित्त लाय,
देखो पढ़ो धारो चित्त 'चरित्र निर्माणअंक'॥

मातात्रों का अनुपम त्याग

(१)

अशनि सुत से सौमित्र शक्ति सम्वाद सुमित्रा ने पाया।
हो गया हृदय हर्षातिरेक राम पुत्र काम प्रभु के आया॥

(३)
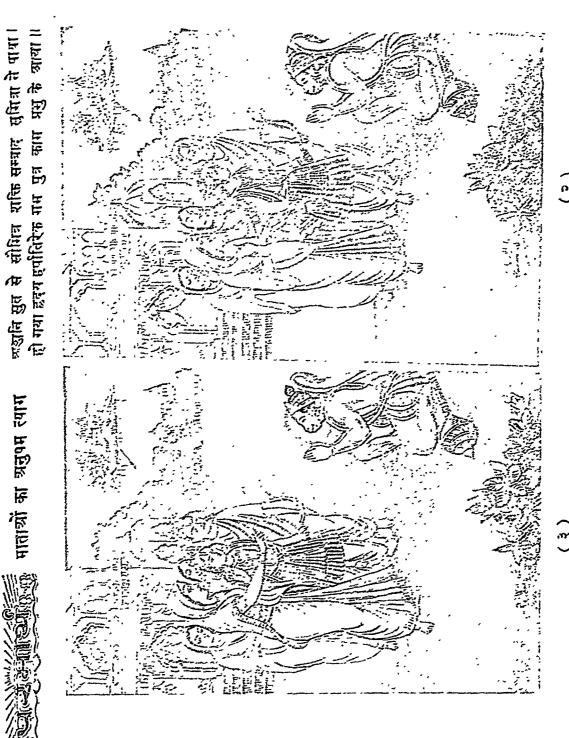
घन गर्जन स्वर में कौशिल्या बोली कहना हे मारुति ! राम।
एकाकी लौटें न अयोध्या बिना लखन उनका क्या काम ?

(२)

बोलीं कहना मत शोक करें पद रिक्त न वह रह पायेगा।
शत्रुघ्न सवेरे सैन्य सहित सेवा में निश्चय आयेगा॥

शिक्षा-सुधार

(श्री रामदत्त भारद्वाज, एम., ए., (त्रय) एल. एल. बी)

इसमें कोई सन्देह नहीं कि आजकल की शिक्षा का क्रम और प्रणाली इतनी अच्छी नहीं, जितनी होनी चाहिये। शिक्षक और विद्यार्थियों में अब वह सहानुभूतिपूर्ण सम्बन्ध नहीं, जो प्राचीनकाल में गुरु-शिष्य का था। इसका कारण यह है कि अब शिक्षा-प्रदान भी दान न होकर क्रय-विक्रय होगया है, अतएव विद्यार्थी और उनके माता पिता अध्यापक को अपना वैतनिक कर्मचारी समझते हैं। शिक्षक भी विद्यार्थी के साथ तभी तक सम्बन्ध मानता है जब तक वह उसके सम्पर्क में रहता है। जब विद्यार्थी शिक्षक से दूर होता है तो शिक्षक भी अपना नाता तोड़ लेता है। शिक्षक और संस्थाओं के प्रबन्धक का सम्बन्ध भी स्तुत्य नहीं। संस्था के अधिकारीवर्ग अपनी इच्छानुसार शिक्षक को नौकर रख तथा निकाल सकते हैं। शिक्षक के मन में अपने पद की अस्थिरता का विचार बना रहता है। किन्हीं किन्हीं विद्यालयों में शिक्षक का वेतन और वेतनवृद्धि नियत समय पर नहीं मिलती। आज कल पाठशालाओं में लिखित कार्य का भूत बनगया है। शिक्षक स्वयं विद्यार्थियों को बहुत सा काम लिखने को बता देते हैं, और फिर उसको शोधते-शोधते बड़-बड़ाते हैं। इसमें किसी सीमा तक शिक्षक का स्वयं दोष होता है किन्तु प्रायः इसमें शिक्षा प्रणाली का दोष भी है। अधिकारीवर्ग सदैव यह चाहते हैं कि जहाँ तक हो सके शिक्षक सदा विद्यार्थियों से लिखित कार्य करायें जिससे उन्हें यह पता चलता रहे कि शिक्षक वास्तव में काम करता है या धोका देता है। है भी ठीक। आजकल कानूनी जमाना है; न्यायालय में भी मौखिक गवाही की अपेक्षा लिखित गवाही अधिक प्रमाणित होती है। लम्बी-चौड़ी डायरियों का रखना, रजिस्टर का भरना, फीस की रसीदें काटना, परीक्षा के नम्बर चढ़ाना आदि अनेक ऐसे कार्य हैं, जो अध्यापक के वास्तविक कार्य में बाधा पहुँचाते हैं किन्तु मजे की बात यह है कि आजकल के नये जमाने में वही शिक्षक अधिक योग्य समझा जाता है जिसकी टीम-टाम ठीक हो और जिसके रजिस्टर करवा चौथ के समान सुचारु रीति से कढ़े हों। ट्रेनिंग की कुछ बातें भी आडम्बर शून्य नहीं। यह बात सच है कि शिक्षा का उद्देश्य और लक्ष्य यही होना चाहिये कि शिक्षक विद्यार्थी के अस्फुट संस्कारों का विकास करे किन्तु इस सिद्धान्त का दुरुपयोग किया जाता है। ऐसा देखने में आया है कि बड़े बड़े योग्य ट्रेण्ड मास्टर जब प्रकृति विज्ञान (nature studv) पढ़ाते हैं तो सदा यही ध्यान रखते हैं कि विद्यार्थियों को निरीक्षण (observation) का अभ्यास पड़ जाय कोई कोई शिक्षक इस बात की जरा चिन्ता नहीं करते कि विद्यार्थियों को नई बात विदित होती है या नहीं। बात यह है कि हम (methbod) (प्रणाली) को (Informat.on) (सूचना) से अलग नहीं रख सकते। दोनों ही युगवत् आवश्यक हैं।

जब तक शिक्षक का चित्त चंचल और अस्थिर रहेगा, जब तक उसका मन अपने पद वेतन आदि विषयक भयों से व्याप्त रहेगा, तब तक वह हतोत्साह रहेगा। यही कुत्सितवृत्ति वह अनजाने अपने विद्यार्थियों में भी भर देता है। पुण्यात्मा के दर्शन करने से पुण्य मिलता है उत्साह बढ़ता है और हर्ष बढ़ता है। महात्माओं के दर्शन मात्र से किसको उल्लास नहीं होता? इसी प्रकार एक प्रफुल्ल-चित और धार्मिक शिक्षक के दर्शन-मात्र से विद्यार्थी का कल्याण होता है। एवं कुत्सित वृत्ति और उदास

शिक्षित बिना कहे सुने ही विद्यार्थी के मन में अवांछनीय भावनाओं का बीजारोपण कर देता है।

अतएव संस्थाओं के प्रवर्त्तकों और संचालकों का परम कर्त्तव्य है कि वे अपने शिक्षकों को सुखी रखने का प्रयत्न करते रहें; क्योंकि शिक्षकों को सुखी रखना रूपान्तर से अपनी सन्तान को ही सुखी रखना है। उनका परम कर्त्तव्य है कि वे शिक्षकों को वेतन गृह आदि चिन्ताओं से यथासाध्य मुक्त रखें। उनका कर्त्तव्य है कि वे यह भी देखें कि शिक्षकों के पास मात्रा से अधिक कार्य तो नहीं है। शिक्षकों का भी कर्त्तव्य है कि वे अपने को सभी स्थानीय झगड़ों से दूर रखें। उनका परम कर्त्तव्य कि वे सदा प्रसन्न और ईश्वर भक्त रहें और अपने निर्दिष्ट काम को निर्भीकता और कर्तव्यपरायणता से करें। वे अपने विद्यार्थियों को अपनी सन्तान के समान अथवा कम से कम छोटे भाई के समान समझते रहें। अध्यापक का विद्यार्थी के साथ मित्रता का व्यवहार श्लाघ्य नहीं। यह तो नया विचार है, नई कल्पना है, और शासन (Discipline) का घातक है।

किसी जाति और देश की उन्नति शिक्षा पर ही अवलम्बित है। जिस देश में सुशिक्षित व्यक्ति होते हैं वहाँ पर सब प्रकार के झगड़े दुख दारिद्र्य दूर हो जाते हैं। वास्तव में सरकार को शिक्षा पर ही सबसे अधिक व्यय करना चाहिये। प्राचीन आदर्श शिक्षा का ही फल था कि चन्द्रगुप्त के काल में द्वार पर ताला लगाने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। वास्तव में शिक्षक को आत्म बलिदानी होना चाहिये। क्योंकि वह जिस भाव से प्रभावित होगा उसीका प्रभाव अपने विद्यार्थियों पर भी डाल सकेगा अतएव प्राचीन काल में शिक्षक निःशुल्क काम करते थे और भिक्षा से ही उनका निर्वाह हो जाता था।

स्मरण रखना चाहिये कि प्राचीन काल में वशिष्ठ भारद्वाज जैसे कुल पति थे। कुल पति वह होता है जो १०००० छात्रों की शिक्षा अध्ययन भोजन वस्त्र और निवास का प्रबन्ध करे। क्या ये सब बातें बिना पैसे के हो सकती थीं? क्या प्राचीन काल के विद्यार्थी धूप में तपते और वर्षा में भीगते रहते थे खुदे हुए प्राचीन खंडहरों से पता चलता है कि बौद्ध काल में छात्रों के मठ(boarding house) प्रायः आजकल के से ही हुआ करते थे। यदि प्राचीन काल में लंगोट बन्द गुरु राजा के घर जा पहुँचता था तो राजा स्वयं उठकर आसन देता था। यह सम्मान प्राचीन धनाभाव की पूर्ति कर देता था। आजकल परिस्थिति बदली हुई है। उदाहरणतः यदि किसी मेले में १५०) रु० पाने वाला अध्यापक और ५०) रु० पाने वाला दरोगा जाय तो दरोगा महाशय की आव-भगत अधिक होती है। कारण क्या है? पहले आत्मबल और सच्चरित्रता की अधिक पूजा होती थी; आजकल धनबल और पशुबल की। जब तक परिस्थिति न बदल जाय तब तक केवल अध्यापकों से आत्मबलिदान की आशा दुराशा मात्रा है। धनके राज्यमें अध्यापकों की पूजा भी धन के द्वारा ही हो सकती है। क्योंकि जनता प्रत्येक बात को आर्थिक दृष्टिकोण से विचारती है।

एक बात और है जनता में ऐसी धारणा पैदा की जारही है कि बालकों की शिक्षा रुपये पैसे के मामले में स्वतः पूर्ण हो अर्थात् बालकों की शिक्षा पर जो खर्च हो वह बालकों के उद्यम और धन्धों से ही पूर्ण हो जाय। शिक्षा में यह विचार एक रोग के समान है। इसमें व्यापार की गन्ध आती है। विद्या का दान होता है; व्यापार नहीं। आजकल विद्या में व्यापार की गन्ध है। नवीन धारणा से यह गन्ध और भी उत्कट हो जायगी। छात्रों में बचपन से ही प्रतिस्पर्धा सम्बन्धी दोष आजायेंगे। उनमें रुपया कमाने का धुन लग जायगा। औद्योगिक शिक्षा बुरी नहीं। बालकों को इसकी शिक्षा अवश्य मिलना

चाहिये जिससे बड़े होकर शिक्षित बनकर नौकरी ढूंढने के बजाय वे स्वावलम्बी बन जायँ; किन्तु पढ़ते पढ़ते अथवा कला कौशल की शिक्षा प्राप्त करते करते वे कमाने भी लगें, यह सद्विचार नहीं। माना कि भारत बहुत निर्धन देश है, और उसके लिये इतनी नौबत आगई है कि यदि छोटे छोटे बच्चे भी पैदा करने लगें तब भी जनता की उदर पूर्ति न होगी। भले ही नई धारणा आर्थिक संकट में कुछ काल के लिये कमी कर दे किन्तु वह बहुत काल के लिये भारत की सन्तान और भावी जनता को धन का दास और प्रतिस्पर्धा का बन्दी बना देगी।

हमारा विश्वास है कि परिस्थिति को देखते हुए प्राचीन आदर्श और नवीन पद्धति का समन्वय करते हुए ही शिक्षा में सुधार होना चाहिये।

चरित्र-निर्माण में सन्तों का हाथ

(*श्री रामबहादुर जी काश्यप*)

सदैव से सन्तों की सर्व हितकारी सेवा ने, संसार को यही सन्देश दिया कि भोले मानव! तू भूल भुलैया में भटक-भटक कर अपने पथ से विचलित होता जा रहा है। मनुष्य की भयंकर भूलों और भ्रम का निवारण करने के हेतु ही, इस धराधाम पर वे मङ्गलमय प्रभु, सन्त के अनेक रूपों में समय समय पर सदा से अवतीर्ण होते रहे हैं। इसीलिये मनीषियों ने उन्हें भगवान के नित्यावतार के रूप में माना। स्वर्णाक्षरों में लिखी उनकी पावन गाथायें अपने पुनीत इतिहास में पाई जाती हैं। जड़ता की ओर द्रुतगति से जाने वाले जन-मन में, जीवन-जागृति एवं नव-स्फूर्तिमय चेतना देने के लिये ही तपःपूत सन्तों का आविर्भाव होता है। आज, इस घोर-कलिकाल में भी ऐसे प्रातः स्मरणीय सन्तों के सान्निध्य से, संसारासक्त-संत्रस्त जीवों को, उनकी सेवा और सत्संग से अलौकिक आलोक मिलता है। उस प्रकाश में, प्रमादमयी मोह मदिरा में प्रमत्त मानव के तमासाच्छन्न मन को उस सुखद मार्ग का संकेत मिला, जिस पर जाने के लिये वह अनादि काल से छटपटा रहा है। वस्तुतः आनन्द की खोज में अहर्निश लगे जीव की युग-युगान्तर की पिपासा को शान्त करने में ये मंगलमय सन्त ही तो निमित्त बनते हैं।

पूर्व काल में भगवान वशिष्ठ के सत्सङ्ग से राम मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम बने। याज्ञवल्क्य के संग ने मिथिलेश को विदेह बना दिया। महान योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण की अमृतवाणी ने अर्जुन को दिग्विजयी बनाया। अवधूत शिरोमणि भगवान शुकदेव की अहैतुकी कृपा से महाराज परीक्षित का अभिशाप वरदान में परिणित हो गया। सन्त-कृपा रूपी महासागर की थाह क्षुद्र मानव की लेखनी ही क्या, यदि कहा जाय कि सहस्र मुख शेष और भगवती शारदा भी नहीं लगा सकतीं तो भी कोई अत्युक्ति नहीं। मानव के संत्रस्त शोकाकुल वातावरण को सन्तों की अलौकिक करुणा ने ही सदैव आनन्दमय बनाया। भारत का पुनीत और गौरवमय इतिहास हमें साक्षीरूप से यही सुखद सन्देश दे रहा है कि सन्त के वरद हस्त में चरित्र-निर्माण की अद्भुत शक्ति सन्निहित है।

देवर्षि संत नारद ने डाकू रत्नाकर को दो घड़ी में ही महर्षि वाल्मीकि बना दिया। गौराङ्ग महाप्रभु के तो स्पर्श मात्र से ही जगाई-मधाई पतित से पावन बन गये। रामकृष्ण परम हंस की कृपा से

'नास्तिक नरेन्द्र' एक दिन विश्व पूज्य स्वामी विवेकानन्द बन गये। इसी प्रकार असंख्य अधम जनों के चरित्र को निर्माण करने में संत कृपा ही समाई हुई है।

पिपीलिका सागर की थाह लेने में जैसे असमर्थ है, वैसे ही दया सागर संतों की दया और करुणा का पारावार नहीं। इस लिये तो कविकुल चूड़ामणि पूज्यपाद गोस्वामी जी ने उनके हृदय को नवनीत से भी अधिक कोमल कहा। परदुखकातर संत के हृदय और स्वभाव को वे स्वयं अथवा उनके भगवान ही जान सकते हैं। मेरे ऐसा लिखने का कारण यह है कि मुझे भी एक संत शिरोमणि के चरणों में स्वल्प काल रहने का परम सौभाग्य प्राप्त हुआ था इस सौभाग्य में उन्हीं की कृपा समायी हुई थी। उनके निकट में जाने वाले बड़भागी भक्त आज भी गद्‌गद होकर मुक्त कंठ से उनकी सुखद चर्चा में आत्म मग्न हो जाते हैं। उनकी प्रत्येक क्रिया और उपदेश में "सर्वभूत हिते रताः" की मंगलमयी कामना सन्निहित थी। जनता को जनार्दन रूप में देखने वाले उन प्रातः स्मरणीय श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु भगवान् का परम भौतिक शरीर इस धाराधाम से तिरोहित हुए कई वर्ष बीत चुके किन्तु उनके सुयोग्य शिष्यों ने गुरुदेव भगवान् द्वारा स्थापित दैवी सम्पद् मंडल के प्रचार में जो अथक परिश्रम किया है उसे तो आज उत्तर भारत का बच्चा बच्चा जानता है। उन ब्रह्मलीन श्री स्वामी एकरसानन्द जी सरस्वती महाराज के मुख्य उद्देश्य था कि मानव मात्र सुखी हो। गीता के सोलहवें अध्याय के अनुसार आसुरी सम्पत्ति के अवगुणों का त्याग एवं सद्‌गुणों के ग्रहण से ही मनुष्य पूर्ण रुपेण सुखी हो सकता है यह रहस्य उन्होंने जगद्‌गुरु शंकराचार्य की शंखध्वनि के समान जन-मन में फूंका था। मैं ऐसे अनेक भक्तों को जानता हूँ जिनका आश्चर्य जनक रूप से उनके उपदेशों ने परिवर्तन कर दिया और आज वे पूर्ण रूपेण सुखी हैं। उन्हीं श्रीचरणों के प्रताप से आज भी अनेक सद्‌गृहस्थ अपने परलोक की संभाल करते हुए इस लोक में सानन्द जीवनयापन कर रहे हैं। विस्तार भय से इस सम्बन्ध में अधिक लिखा नहीं जा सकता। और कुछ लिखना भी तो सूर्य को दीपक दिखाने के समान ही समझना चाहिये। अपनी लेखनी और मन को पवित्र करने की भावना से ही मैंने यह दुःस्साहस किया है। मेरा तो यह अटल विश्वास है कि सदैव से पतनोन्मुखी मानव के चरित्र का निर्माण सन्तों की कृपा से ही हुआ है अथवा यूं कहिये कि उनके वरद हस्तकी सुखद छाया में चरित्र निर्माण समाया है।

अनमोल बोल

दया नम्रता दीनता, छिमा सील संतोष।
इन कूँ ले सुमिरन करै निहचै पावै मोख॥
पहले पहरे सब जगैं, दूजे भोगी मान।
तीजे पहरे चोरही, चौथे जोगी जान॥
चरनदास यों कहत है, सुनियों सन्त सुजान।
मुक्ति मूल अधीनता नरक मूल अभिमान॥

—महात्मा चरनदास जी

उपदेश के पात्र

मिथिलाधिपति महाराज जनक ने विशेष अनुनय विनय से महर्षि याज्ञवल्क्य को मिथिला में बुलाया। षोडशोपचार पूजन करके उनकी चरण-धूलि से अपने मस्तक का अभिषेक किया। महर्षि की रुचि के अनुकूल महल के उत्तरीय उद्यान में सरोवर के तीर सुन्दर कुटियों का निर्माण हुआ। सबसे दूर एकान्त में महर्षि की कुटिया बनी और उनके आगे एक विशाल मंडप बनाया गया जिसमें प्रातः सायं सत्संग का कार्यक्रम निश्चय हुआ। महर्षि का शिष्य समुदाय भी पर्याप्त संख्या में आया था।

एक साथ रहते-रहते श्रद्धा में प्रायः अन्तर आ जाता है। ऐसे अनेक उदाहरण अपने इतिहास में मिलते हैं। परमभक्त विभीषण जब भगवान श्रीराम की शरण में आये थे तब उन्होंने "भुवनेश्वर कालहु कर काला" समझते थे किन्तु जब युद्धक्षेत्र में विशाल वाहिनी के बीच त्रैलोक्य विजयी रावण को रथारूढ़ और भगवान को नंगे पाँव देखा तो उनकी पहले की भावना परिवर्तित हो गई, वे अधीर हो गये थे। स्वयं ही भगवान के सान्निध्य में रहने वाले भक्तों की भावनाओं का परिवर्तन यदि हो सकता है तो इतर जनों के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या? हनुमान सरीखे एकरस श्रद्धा वाले बड़भागी तो विरले ही होते हैं।

महर्षि याज्ञवल्क्य का उपदेश उसी समय प्रारम्भ होता था जब श्री जनकराज सत्संग में आ जाते थे। किसी विशेष कारण वश उस दिन उन्हें कुछ अधिक विलम्ब हो रहा था। शिष्य समुदाय में काना फूसी होने लगी, "महापुरुष भी श्री सम्पन्न की ओर ही अधिक आकर्षित होते हैं उन्हीं की आवा-भगत करते हैं" इत्यादि बातें महर्षि की आँख बचा-कर उनके शिष्य जन करने लगे। संसार को हस्तामलकवत् परखने वाले त्रिकालज्ञ याज्ञवल्क्य अपने कुतर्की शिष्यों की अन्तर्भावना को ताड़ गये। उनके अज्ञानांधकार का नाश करने की युक्ति को महर्षि ने मन ही मन में सोचा।

जनकराज का पदार्पण हुआ। आज महर्षि ने उन्हें विशेष भावभगत से आसन पर बिठाया। ईर्ष्यालु शिष्यों की ईर्ष्याग्नि में एक और आहूति पड़ी। जनक जी के बैठते ही महर्षि याज्ञवल्क्य का वैराग्य भावना से ओत-प्रोत संसार को स्वप्नवत् अनुभव कराने वाला अनुपम उपदेश प्रारम्भ हुआ। थोड़ी देर बाद शीघ्रता से आने वाले एक भृत्यने जनक जी के कान में कुछ कहा—राजा ने संकेत से उसे रोका। कुछ क्षणों के पश्चात् पुनः दूसरे सेवक ने शीघ्रता से अपना मुख उनके श्रवण समीप ले जाकर कहा—"महाराज! महल में भयंकर आग लगी है" राजाने तीक्ष्ण दृष्टि से भृत्य की ओर देखा। इस बार कुछ जोर से कही हुई यह बात, पास बैठे एक संन्यासी शिष्य ने भी स्पष्ट सुनी। उन्होंने पीछे घूमकर देखा, अरे यह अग्नि तो महल को बाहरी प्राचीर में भी धू धू करके जल रही है। एक ने दूसरे से दूसरे ने तीसरे से काना फूसी की। शिष्य मण्डल का संकल्प बना "फूंसकी झोपड़ियाँ भस्मसात होने में क्या देर लगेगी, हमारे अंचल और लंगोटी जल जायँगे, तेल लगाया नया कमण्डलु भस्म हो जायगा" एक एक करके सभी शिष्य, लघुशंका के बहाने से उठ-उठकर जाने लगे, उस अग्नि से अपने सामान को बचाने के लिये। बैठे रह गये केवल श्रोता महाराज जनक और वक्ता महर्षि याज्ञवल्क्य।

यह अग्नि तो उन महर्षि ने अपने योगबल

से अपने ज्ञानभिमानी शिष्यों को शिक्षा देने के निमित्त लगाई थी। वास्तव में तो वह अग्नि कहीं लगी नहीं थी, योगी का चमत्कार मात्र था। धीरे धीरे सभी शिष्य अपने अचले लंगोटी संभालकर लौटे। क्रोध रूपी मुद्रा से देखते हुए महर्षिने पूछा "आपलोग सत्संग के बीचमें उठ-उठकर कहाँ गये थे ? एक शिष्य बोला—

"मैं तो लघुशंका के लिये गया था"—"

"असत्य भाषण मत करो ! तुम सब अग्नि से अपने बहुमूल्य अचला और लंगोटी की रक्षा करने गये थे, और यह जनक ! इनकी धन सम्पत्ति तो तुम्हारी लंगोटी जितने मूल्य की भी नहीं है, क्यों ?"—महर्षि की आवेशमयी वाणी से शिष्य समुदाय सन्न रहा—वे फिर बोले "धिक्कार है तुम्हारे मिथ्याभिमान को ! अब तुम्ही स्वयं निर्णय करो कि प्रथम श्रवण का अधिकारी कौन है ? तुम सब या यह विदेह मूर्ति जनक ?" अग्निकाण्डकी यह घटना उन्होंने तीन बार सुनी और तीनों बार सुनी अनसुनी कर दी। संसार को इन्होंने स्वप्नवत समझा है या संन्यास का ढोंग रचाकर तुमने ?

स्तब्ध शिष्यों में सन्नाटा छा गया, नत मस्तक होकर वे ग्लानि और पश्चात्ताप के आँसू बहाने लगे। विदेहराज जनक और अन्तर्यामी गुरुदेव भगवान् के चरणों में सभी ने मौन श्रद्धा के मानसिक प्रसून अर्पित किये। (राम०)

विचार शक्ति द्वारा चरित्र-निर्माण

(श्री कृष्णदेवनारायण जी एडवोकेट, एम० ए. एल. एल. बी.)

चरित्र मनुष्य के व्यक्तित्व का द्योतक है। चरित्र ही मनुष्य है। मनुष्य के अन्तरस्थित गुण तथा अवगुणों के समूह को जिनसे प्रेरित होकर मनुष्य कर्म करता है चरित्र कहते हैं। इस चरित्र के द्वारा ही किसी व्यक्ति की सच्ची प्रकृति का पता चलता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, उसका जन्म, जीवनयापन, तथा मरण, संसार में ही होता है और इस संसार में उसके जीवन का सफल तथा सुखमय होना बहुत अंश तक उसके चरित्र पर ही निर्भर है। जिस प्रकार आध्यात्मिक जीवन में सफलता के हेतु विचार के निरोध तथा भावों की संशुद्धि की आवश्यकता है उसी प्रकार सांसारिक तथा सामाजिक जीवन को सफल तथा सुखमय बनाने के हेतु चरित्र-निर्माण की आवश्यकता है। महात्माओं एवं शास्त्रों ने इसी हेतु चरित्र-निर्माण को इतना महत्व दिया है। अष्टांग योग में यम-नियम की क्रियां मुख्यतः चरित्र-निर्माण की ही क्रिया है। महात्मा गौतम बुद्ध ने विशुद्ध चरित्र को भिक्षुओं (बुद्ध के अनुयाइयों) का जीवन ही बताया है। प्रत्येक धर्मग्रन्थ चरित्र निर्माण के उपदेशों से भरे हुए हैं।

मनुष्य में जन्मजात प्रवृत्तियाँ तीन होती हैं। विचार, भावना तथा कर्म। मानव इन प्रवृत्तियों को अपने कार्यों में व्यक्त करता है। इन प्रवृत्तियों के अच्छे तथा बुरे होने के मुख्य कारण हैं [१] संस्कार (पूर्व जन्म के संचित तथा प्रारब्ध कर्मों की स्मृति) [२] इच्छा शक्ति [३] वंशानुक्रम (Heredity) तथा वर्तमान व भूत परिस्थितियाँ।

संस्कार पर हमारा वश नहीं पर उसका प्रभाव तथा परिणाम मनुष्य के मन पर कैसा पड़े यह उसके वश की बात है। विशेषता किसी अर्थ या प्रभाव में नहीं होती; विशेषता होती है उसके ज्ञान में, उसको अपनाने में। एक ही वस्तु एक ही समय किसी में प्रेम, किसी में ईर्ष्या तथा किसी में उदासीनता का भाव उत्पन्न करती है; इसका कारण प्राकृतिक गुण सत, रज, तथा तम है (योग दर्शन ४।१५ वाचस्पति की टिप्पणी)। संस्कार द्वारा ही मनुष्य की प्रकृति सत्व, रज और तम की ओर जाती है। इसी

लिये उसकी प्रवृत्ति पुण्य तथा पाप में होती है। गुण परिवर्तनशील है, मनुष्य को पाप तथा अधर्म प्रेरक गुणों से बचने का अभ्यास पुरुषार्थ द्वारा कर लेना चाहिये। अष्टाङ्ग योग तथा भाव संशुद्धि की क्रियाएँ इस प्रयोग में बहुत सहायक होंगी।

अपनी इच्छा पर मनुष्य का पूर्ण अधिकार है, उसको बलवती बनाने का निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिये। संशय, प्रमाद, आलस्य, श्रद्धा तथा विश्वास की कमी इनमें बाधक हैं क्योंकि इनसे आन्तरिक संघर्ष बढ़ता है और शक्ति क्षीण होती है जिससे कार्य सिद्धि में कठिनता होने का भय है। बार-बार किसी कार्य को करते रहने से उसका अभ्यास बनकर स्वभाव में परिणत हो जाता है। तो इच्छाशक्ति द्वारा अपने अन्तरस्थित अवगुणों को दूर करने की सहज विधि यह है कि मनुष्य पहले साधारण बातों में अपनी इच्छा शक्ति का प्रयोग करके उसको बलवान बनावे। जैसे हम इस बात का निश्चय करलें कि दिन में कुछ निश्चित समय के लिये हम "मैं या मेरा" शब्द का प्रयोग नहीं करेंगे। स्वामी रामतीर्थ की यही एक बहुत बड़ी साधना थी कि वह इन दो शब्दों का कभी भी प्रयोग नहीं करते थे। ऐसा करने से क्या लाभ होगा यह अनुभव द्वारा ही जाना जा सकता है। स्वार्थ, मोह इत्यादि दुर्गुणों पर इसके द्वारा विजय प्राप्त की जा सकती है; दूसरी इसी प्रकार की साधारण क्रियाएँ हैं जिससे आन्तरिक संघर्ष होने का भय अधिक नहीं है और साथ ही साथ इच्छाशक्ति बलवती होती जायगी। यदि पान खाना हमें बहुत रुचिकर है तो सप्ताह में एक दिन पान न खायें, रेल में चलते समय रेल के डिब्बे के बाहर न देखें यदि हमें कोई वस्तु खाने में स्वादिष्ट मालूम होती है तो उसके सामने रहते हुए भी न खायें। स्वामी रामकृष्ण परमहंस की "टाका माटी" करने की साधना बहुत प्रसिद्ध है। इस प्रकार अपनी इच्छा-शक्ति को बलवान बनाकर तो आत्मविश्लेषण करके अपने चारित्रिक दोषों पर (Frontal attack) (सामने से प्रहार) करके उनको जीतें। हठयोग का मुख्य उद्देश्य इच्छाशक्ति तथा मनोबल को बढ़ाना ही है। यह एक साधन मात्र है परन्तु आजकल अधिकतर इसको साध्य बना लिया है।

अब रही परिस्थितियाँ तथा वातावरण, उनका भी प्रभाव मुख्यरूप से होता है। किसी व्यक्ति के चरित्र को शुद्धपवित्र तथा सुन्दर अथवा दुष्ट पापी तथा क्रूर बनाने में इनका बहुत बड़ा हाथ होता है। देखा गया है जिसका जीवन बहुत ही धार्मिक तथा पवित्र था, वह परिस्थितियों में पड़कर घोर पापी बन गया। किसी बड़े मानसिक धक्के को सहन न कर सकने के कारण लोग मदिरा सेवी तथा वेश्यागामी हो जाते हैं अथवा अन्य व्यसनों में फँस जाते हैं। चरित्र की दुर्बलता ही इसका कारण है। फ्रांस का एक क्रान्तिकारी रोब्सपीयर (Robes Pierre) था जिसके बारे में कहा जाता है कि वह फ्रांस के राज्य क्रांति काल का सबसे बड़ा रक्त तृषित आततायी (Tyrant) था। वह अपने युवावस्था में एक नगर का न्यायाधीश (Judge) था उसके सामने एक हत्यारे (खूनी) का मुकदमा आया। हत्या उसपर साबित हो गई और उसको प्राण दण्ड मिलना था। रोब्सपीयर का हृदय दया से द्रवित हो गया कि उसने अपने पद को त्याग दिया किन्तु प्राण दण्ड न दे सका। वही दयावान मनुष्य परिस्थितियों में पड़कर रक्त तृषित आततायी बन गया। यह है प्रभाव परिस्थितियों का, परन्तु केवल परिस्थितियों को ही दोष नहीं दिया जा सकता। यह सच है कि परिस्थितियों की छाप मनुष्य पर पड़ती है पर उन परिस्थितियों को वह किस प्रकार अपनाता है तथा उनसे प्रेरित होकर कैसा कर्म करता है इससे ही चरित्र का निर्माण होता है। संसार का हर व्यक्ति गुण तथा अवगुणों की खान है। उसमें दैवी तथा आसुरी प्रकृति दोनों ही न्यूनाधिक होती है और उनके कारण अन्तःकरण में सर्वदा देवासुर संग्राम चल रहा है। चरित्रनिर्माण द्वारा अवगुणोंको दबाना और गुणों को व्यक्त करना ही लक्ष्य होना चाहिये। किसी भी साधना के लिये सच्चरित्रता परम आवश्यक है। बिना सच्चरित्रता के प्रथम तो किसी साधन में सिद्धि ही नहीं होती और यदि हो भी गई तो यह

एक भयंकर रूप धारण करके साधक को ही नष्ट कर देगी और इसी हेतु अधिकारी सेवा के अनुसार साधना की व्यवस्था है ।

संस्कार तथा इच्छाशक्ति में विचार की ही प्रधानता है पर विचारशक्ति का चरित्रनिर्माण से क्या सम्बन्ध है इसको भली प्रकार समझने के हेतु यह जानना परमावश्यक है कि हम संसार में जो कुछ भी करते हैं, भला या बुरा, उस कर्म के पीछे उससे सम्बन्धित विचार मन में लगा होता है। वही विचार बलवान होकर कार्यरूप में परिणत हो जाता है और जब मनुष्य बार बार एक ही प्रकार का कार्य करता है तो वैसा करना उसका स्वभाव बन जाता है और फिर इन स्वभावों का समूह ही उस मनुष्य का चरित्र बन जाता है। अतएव मनुष्य ऐसे विचारों को जिनसे बुरे कर्मों को प्रेरणा मिलती हो अपने मन में उठने ही न दे और यदि उठें ही तो उनके स्थान पर सद्विचारों को लाने का प्रयत्न करें ये वितर्क तीन प्रकार के होते हैं। कृत, कारित तथा अनुमोदित। कृत अर्थात् स्वयं किया हुआ, कारित दूसरों से कराया हुआ, और अनुमोदित अर्थात दूसरों द्वारा पाप कर्म किये जाने का ज्ञान होने और उसको रोकने की क्षमता होने पर भी उसकी अवहेलना करना या उस कार्य के किये जाने में अपनी स्वीकृति देना। इन तीनों प्रकार के कुविचारों से अपने को बचाना चाहिये। भाव संशुद्धि के द्वारा निन्दित आचरण शोध किया जा सकता है। विचार प्रधान जो दोष हैं वह विचारों के निरोध द्वारा दूर तो हो सकते हैं परन्तु संसारी मनुष्य जीवन के हर क्षण में विचारों का निरोध नहीं कर सकता; उसके लिये विचारों को संस्कृत तथा संशोधित करने की आवश्यकता है। भावों की तरह विचारों की भी संशुद्धि हो सकती है और फिर चरित्र निर्माण में किंचित कठिनाइयाँ नहीं हो सकती। महापुरुषों के चरित्र हमें सदैव याद दिलाते हैं कि हम अपने भाव संशुद्धि की क्रिया के अचूक प्रयोग से सहज ही में अपने चरित्र का निर्माण कर सकते हैं।

विचारों का नियन्त्रण तथा संशुद्धि आरम्भ में तो बहुत ही कठिन ज्ञात होती है परन्तु प्रकृति का यह नियम है कि किसी कार्य को यदि बार-बार किया जाय तो हर बार पहले से कुछ सुगमता हो जाती है और अन्त में उस कार्य के करने में कोई कठिनाई नहीं जान पड़ती। अभ्यास से ही पूर्णता प्राप्त होती है। ऐसे प्रयत्नों में असफलता भी सफल ही होती है। केवल ध्यान रहे कि प्रयत्न में त्रुटि न होने पावे। कोई भी कितना ही क्षुद्र या क्षणिक विचार मन में आवे यदि उससे भविष्य में पतन की आशंका हो तो उसका उन्मूलन उसी समय कर देना चाहिये क्योंकि उस विचार द्वारा जो दुःख उत्पन्न होगा वह अनागत दुःख है और शास्त्र वेत्ताओं के अनुसार इस का प्रतिकार किया जा सकता है। "हेयं दुःखमनागतम् (यो० सू० २।१६) ऐसे विचारों से आत्मभाव स्थापित करने से ही वह बलवान् हो जाता है, यदि उनकी उपेक्षा कर दी जाय तो वह स्वयं मर जायेगा और अनागत दुःख का प्रतिकार हो जावेगा कहा है "विवर्जनात्स्यादयमात्यन्तिको दुःख प्रतिकारः" (पंचशिखा सू० ७) इस हेतु जैसे ही कोई विचार मन में आवे उसे अपना शत्रु समझकर फौरन उसका नाश कर दे या मन को किसी सुन्दर विचार या कार्य में लगा दें।

चरित्र निर्माण में दृढ़ निश्चय तथा निरन्तर प्रयत्नशील रहने की आवश्यकता है मनुष्य को पहले अपना आदर्श बना लेना चाहिये और फिर उस आदर्श का अनुकरण दृढ़ निश्चय से करना चाहिये ऐसा करने में चाहे समाज में उसकी हँसी ही हो क्योंकि मानव जीवन क्षणिक सुख तथा आनन्द के लिये ही नहीं है। उसका लक्ष्य तो कुछ और ही है। सुन्दर विशुद्ध तथा दिव्य चरित्रवान् मनुष्य केवल अपना ही लाभ नहीं करता उससे संसार का भी बड़ा कल्याण होता है। इस हेतु अपने को आदर्श चरित्रवान् बनाना बहुत बड़ी लोक सेवा है। महात्मा गांधी के विशुद्ध तथा दिव्य चरित्र से सारे संसार को लाभ हुआ। ऐसे अनेक दृष्टान्त हैं, विशुद्ध चरित्र द्वारा ऐसी ज्योति अन्धकार मय संसार को प्राप्त होती हैं जिससे बहुत से

पथ भ्रष्ट सही मार्ग पाकर अपने लक्ष्य पर पहुँच जाते हैं।

परिस्थितियों की महानता उतनी नहीं है। मनुष्य प्रतिकूल परिस्थितियों में पड़कर उन्हें किस प्रकार अपनाता है तथा उसका आचरण कैसा होता है मुख्य बात यही है। प्रतिकूल परिस्थितियों में पड़कर हमें शिकायत या क्रोध नहीं करना चाहिये। गीता में वर्णित "लोकान्नोद्विजते" वाली स्थिति सर्वदा बनाये रखने का प्रयत्न करते रहना चाहिये। शिकायत (murmur) करने से उदासी (depression आती है और आत्मविश्वास कम होजाता है। फिर आत्मविश्वास न रहने से जीवन भार हो जाता है क्योंकि उन परिस्थितियों से लड़ने तथा मुकाबिला करने की शक्ति क्षीण हो जाती है और मनुष्य उन प्रतिकूल परिस्थितियों का शिकार हो जाता है। परिस्थितियाँ मनुष्य को अनुभव प्राप्त कराने के लिये आती हैं, उनसे उपदेश लेकर संसार का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये घबड़ाने से तो कार्य नष्ट हो जावेगा। यदि प्रतिकूल परिस्थितियों में पड़कर मनुष्य आदर्शच्युत न हो तो वह तपे हुए सोने की तरह संसार में चमकता है। प्रतिकूल परिस्थिति में पड़ा हुआ मनुष्य स्वार्थ परायण होने के कारण अपनी हीन दशा को ही सोचता है और समझता है कि केवल वही इस संसार में सबसे अधिक दुःखी है ऐसा सोच-सोचकर और भी अधिक दुःख पाता है। ऐसे समय अपने से भी अधिक दुखियों की दशा देखने से मन को सन्तोष हो जाता है और उस दुःख को अधिकमात्रा में निवृत्ति हो जाती है। वस्तुतः दुःख तो मन की अवस्था है और विचार तथा भाव ही उसके प्रधान कारण हैं। संसार में जितनी भी वांछनीय अथवा अवांछनीय वस्तुओं में प्रगति अवनति सफलता अथवा असफलता होती हैं उन सबका मूल कारण विचार ही होता है। प्रकृति का एक बहुत बड़ा नियम यह है कि दो समान वस्तुयें एक दूसरे की तरफ आकर्षित होती हैं। फारसी की एक कहावत भी है "कुनद हम जिन्स बा हम जिन्स पर वाज़।" यही नियम विचारों के सम्बन्ध में भी है। हमारे मन में जैसा विचार किसी समय-विशेष पर रहेगा वैसे ही अथवा उससे मिलते जुलते ही विचार दूसरे दिन भी हमारे मन में उसी समय उठेंगे और जबकि वही बार बार उठे तो फिर वह हमारा स्वभाव वैसा ही बना देंगे। इसहेतु सर्वदा सतर्क रहना चाहिये। इसमें किंचित ढिलाई की, तो मनुष्य को अपनेअधःपतन का ज्ञान उस समय होगा जब वह बहुत गहरी खाँई में गिर चुका होगा। अतः आवश्यक यह है कि अपने आदर्श पर दृष्टि निरन्तर रखते हुए तथा बिना संशय और भय के जैसी भी परिस्थिति आवे उसका सामना करे। जीत निश्चय ही होगी। तीव्र इच्छाशक्ति तथा मनोबल से अपनी जीत में अटल विश्वास रखते हुए कार्य करना चाहिये; ऐसा करने से मनुष्य की आध्यात्मिक विचार धारा परिस्थितियों को ही बदल देगी और अपने भीतर दिन प्रतिदिन अधिकाधिक शक्ति का अनुभव करेगा।

चरित्र निर्माण का कार्य बचपन से ही आरम्भ होना चाहिये। क्योंकि भविष्य के चरित्र की नींव उसी समय पड़ती है और भावी जीवन में किसी भी व्यक्ति के अच्छे या बुरे होने का उत्तरदायित्व बहुत अंश तक उस व्यक्ति के बाल्यकाल के अभिभावक, माता पिता, शिक्षक, तथा उसके लालन पालन की रीति पर है। जिस प्रकार मनुष्य अपने बालकों के स्वास्थ्य पर ध्यान देता है, उससे अधिक ध्यान उसको अपने बालक के नैतिक तथा चारित्रिक स्वास्थ्य पर देना चाहिये यदि ऐसा सब अभिभावक गण करें तो कुछ समय में अपना यह देश एक आदर्श देश बन सकता है। प्राचीन भारत में इस पर विशेष ध्यान दिया जाता था पर अब इस प्रथा का लोप हो गया है।

बीते हुए को भूलकर किसी भी अवस्था में यह कार्य आरम्भ किया जा सकता है इसके लिये कभी भी देर नहीं होती है। मनुष्य चरित्र निर्माण के अभाव का अनुभव सब से अधिक वृद्धावस्था में ही करता है। क्योंकि वृद्धावस्था में जबकि मन इन्द्रियाँ शिथिल पड़ जाती हैं तो जितने भी अन्तरस्थित दोष तथा गुण हैं वह बाहर आ जाते हैं। व्यतीत हुए जीवन काल के जितने भी प्रभावशील विचार, मानसिक स्थितियाँ, प्रवृत्तियाँ

तथा अभ्यास होते हैं वह प्रत्यक्षरूप प्रकट होने लगते हैं और उन्हीं पर किसी व्यक्ति के वृद्धावस्था का अथवा घृणास्पद अप्रिय होना निर्भर है। वृद्धावस्था में मनुष्य को दूसरों का पूज्य, प्रिय, तथा हितैषी होना चाहिये। यदि इसके विपरीत है तो चरित्र निर्माण का अभाव ही इसका मुख्य कारण है। वृद्धावस्था में चरित्र को सुन्दर प्रिय तथा हितकर बनाने का सबसे अच्छा उपाय है कि अपने को परिस्थितियों के अनुकूल बनाकर उनके विपरीत शक्तियों तथा प्रभावों का अनुसरण करे, धारा में बहता हुआ भी धारा को काटकर किनारे लगने का प्रयत्न करे। भय, चिन्ता, स्वार्थपरता, जिद, दूसरों में दोषनिरीक्षण की आदत, असहिष्णुता (दूसरों के विचार तथा भावों की) रूढ़ियों से जकड़ा होना, काल तथा समय की प्रगति को न मानना, तथा ईश्वर की कृपा में अविश्वास, वृद्धावस्था को दुःखदाई तथा घृणास्पद बनाते हैं। आरम्भ से ही अवगुणों से बचने का प्रयत्न करना चाहिये यदि मनुष्य थोड़ा भी ईश्वर चिन्तन करे तथा दार्शनिक बने तो इन दोषों का प्रतिकार अधिक अंश तक होजाता है चाहे ऐसा करने से भौतिक जगत में उसकी स्थिति ठीक न भी हो सके, पर शान्ति सुख तथा सन्तोष अवश्य मिलता है, जो वृद्धावस्था को सुखमय बना देता है। जीवन का लक्ष्य है सच्चिदानन्द की प्राप्ति, अन्तरस्थित आत्मा का दर्शन तथा उससे सायुज्य प्राप्त करना। और यही चरित्र निर्माण का आदर्श होना चाहिये और उससे सद्‌गुण व्यक्त होकर इस लक्ष्य की प्राप्ति हो।

महात्मा गाँधी के आध्यात्मिक गुरु

महामानव गांधी इस संकुचित दृष्टिकोणमय संसार को छोड़कर ऐसे दिव्य लोक को प्रस्थान कर गये। जहाँ "मैं मैं और तू-तू" की कलुषित और कलंकिनी पुकार कानों को अपवित्र नहीं बना सकती। आप के पवित्र भावनाओं को जन-मन में जागरूक देखने की प्रबल कामना को लिये वे युगावतार हमारे बीच अब नहीं हैं। उनका पंचभौतिक शरीर तो साम्प्रदायिकता की बलिवेदी पर बलिदान हो गया किन्तु उनके अमर सन्देशों से प्रेरणा लेकर अपने संतप्त भारतीयों को सदैव नव-स्फूर्ति मिलती रहेगी। दिव्य स्फूर्ति के अवलंब से हमें सदैव अपने उज्ज्वल चरित्र के निर्माण में सहायता मिलती रहेगी।

महात्मा गांधी के महाप्रयाण के पश्चात् उनके सर्वप्रिय संक्षिप्त संग्रह में एक अद्‌भुत वस्तु पाई गई वह थी तीन बन्दरों की सम्मिलित मूर्तियाँ। एक बन्दर दोनों हाथों से अपना मुख बन्द किये सिकुड़ा सा बैठा है, उसके पास दूसरा अपने कानों को दोनों हाथों से बन्द किये है, तीसरा दोनों आँखों को बन्द करके बैठा हुआ है। ऐसी मूर्तियों को देखकर गांधी जी के पास जाने वाले बालक खिलखिलाकर हंस पड़ते थे उन्हींके साथ वे भी खूब हंसते थे। किन्तु वे मूर्तियाँ हास्य की वस्तु नहीं उनमें तो चार वेद और छः शास्त्रों की शिक्षा का सार भूत समाया हुआ है। एक बार किसीने महात्मा गांधी से उनके सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रकट की थी तो उन्हें बताया "भाई! ये तो मेरे गुरु हैं, इनसे मुझे तो बड़ी प्रेरणा मिलती है। इन प्रथम कपि महाशय ने जिन्होंने दोनों हाथों से अपना मुख बन्द कर रक्खा है—ये शिक्षा देते हैं कि व्यर्थ और अनर्थ की बात मुख से मत निकालो और अपने मुख से किसीकी निन्दा न करो कटु बात न बोलो, दोनों कानों को बन्द करने वाले बन्दर महाशय बता रहे हैं कि अपने कानों से किसी की निन्दा मत सुनो, यदि कभी ऐसा प्रसंग आजाय तो दोनों हाथों से दोनों कान बन्द

करलो। और यह तीसरे बन्दर जी, जो अपनी आँखों को छिपाय बैठे हैं वे उपदेश करते हैं कि अपनी आँखों से किसी में बुराई न देखो! जिसमें 'सत्यं शिवं और सुन्दरं' की झलक न मिले ऐसे दृश्य को न देखो।

महात्मा गांधी के इन तीनों गुरुओं की एक एक क्रिया से उस युग पुरुष के जीवन चरित्र से मिलान करें तो हमें आश्चर्य होगा कि महात्मा जी में ये तीनों बातें सर्वाधिकरूप में मौजूद थीं इसी कारण उनके चरित्र बल का इतना उत्कर्ष हुआ कि संसार में उनकी पूजा हुई और होती रहेगी। अस्तु अपने चरित्र को सर्वाङ्गीण सुन्दर बनाने के निमित्त:—

१—परदोष दर्शन, परनिन्दा और पर चर्चा में उदासीनवत् रहना चाहिये। (राम०)

सच्चरित्रता का पथ

(लेखिका मोहिनी श्रीवास्तव प्रधान अध्यापिका)

माया और विद्या नाम की दो समवयस्का छात्राएँ एक ही कालेज में पढ़ती थीं। दोनों का घर पास ही था। दोनों एक साथ कालेज जाया करती थीं। विद्या बी० ए० और माया दसवीं कक्षा की छात्रा थी। विद्या सीधी साधी परिश्रमी बुद्धिमती तथा सचरित्रा थी और माया फैशन के पीछे पागल, पढ़ने से घबड़ाती तथा गप-शप में समय नष्ट करने वाली थी। विद्या चाहती थी कि माया को किसी प्रकार सचरित्रता के पथ पर ले जावें अन्यथा उसका जीवन आगे चल कर दुःखमय बन जावेगा। मार्ग में नित्य कोई न कोई अच्छी बात छेड़कर उसे समझाने की चेष्टा किया करती थी एक दिन उसने कहा—

विद्या—देखो माया! बालक, युवा, वृद्ध, स्त्री, पुरुष तथा सभी प्राणी, निरन्तर अपने प्रयास में लगे हुए हैं। ध्यान से देखें तो स्पष्ट मालूम होगा कि सभी सुखमय भविष्य और शान्ति का स्वप्न देख रहे हैं। उनकी वर्तमान क्रिया का उद्देश्य आगामी सुख शान्ति ही है किन्तु उनमें से मिलती कितनों को है इस पर विचार करें तो विरले ही व्यक्ति ऐसे मिलेंगे जिन्होंने अपने प्रयास के अनुसार फल प्राप्त कर पाया हो। अधिकांश व्यक्ति तो काल, कर्म और ईश्वर को ही दोष लगाते दुःखी ही मिलेंगे इसका कारण क्या है? उनमें से एक हम भी तो हैं हमें भी तो उसी सुख-शान्ति की आवश्यकता है।

माया—हाँ यह बात तो ठीक ही है सभी लोग अपने प्रयत्न में असफल क्यों हो जाते हैं? यह बात तो अवश्य विचारणीय है।

विद्या—माया! कभी तुमने खेत में किसानों को काम करते देखा है?

माया—हाँ हमारे मामा जी देहात में रहते हैं इस साल गर्मी की छुट्टी मैंने वहीं बिताई थीं। उनके घर के आस पास खेत ही खेत हैं वहाँ हम किसानों को खेत में परिश्रम करते देखा करते थे।

विद्या—ठीक है, किसान खेत में बीज बोने के पहले पृथ्वी को खूब जोत कर मुलायम बना लेता है। कंकड़ पत्थर और व्यर्थ घास निकाल कर सफाई कर लेता है फिर बीज बोता है और कुछ दिनों तक उसकी रक्षा करता रहता है तब वही बीज

जो वोया गया था उसी की फसल तैयार हो जाती है, फल सामने आ जाता है। इसमें खेत जोतना, बीज वोना और रक्षा करना पुरुषार्थ है और फल सामने आना प्रारब्ध है जो पिछला पुरुषार्थ था आज वही प्रारब्ध बना है अतः वह भी एक प्रकार का पुराना पुरुषार्थ ही है। पुरुषार्थ करने में सभी प्राणी स्वतन्त्र हैं किन्तु प्रारब्ध के लिये परतन्त्र हैं जैसा श्री मद्भगवद्गीता जी में कहा है "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" अर्थात "कर्म करने में तुम्हारा अधिकार है फल में नहीं।" अतएव वर्तमान का ठीक ठीक सदुपयोग होना आवश्यक है क्योंकि वही आगे चल कर प्रारब्ध बनेगा इसीलिये तो सन्तों और शास्त्रों ने कहा है कि—"मनुष्य ही अपने भाग्य का निर्माता है" अपनी जैसे अच्छी फसल के लिये किसान सब से पहले खेत की सफाई व जुताई भली प्रकार करता है हमें भी इसी सफाई व जुताई पर विचार करना चाहिये। यदि भूमि की सफाई (कंकड़ पत्थर व्यर्थ के पौधे निकालना) और (हल द्वारा जोत कर मिट्टी को नरम बनाना) ठीक न हो पाई तो बीज चाहे जितना बढ़िया हो और रक्षा में हम चाहे जितनी सावधानी रक्खें किन्तु फसल अच्छी नहीं होती है, इसी प्रकार रात दिन परिश्रम करके हम सुख शान्ति चाहते हैं उसके लिये सफाई व जुताई रूपी अवगुण त्याग, सेवा तप के द्वारा चरित्र निर्माण की आवश्यकता है। हमारा चरित्र जितना ही उज्वल होगा उतनी ही सुख शान्ति प्राप्त होगी।

माया—चरित्र-निर्माण कैसे होगा?

विद्या—जैसे किसान खेत से व्यर्थ (अर्क जवास आदि) पौदों को निकालता-काटता व कंकड़ पत्थर हटाकर मिट्टी को नरम बनाता है उसी प्रकार हमें अपने चरित्र में से व्यर्थ पौधे व कंकड़ पत्थर रूपी अवगुणों को निकाल कर तथा सद्गुणों को धारण कर चरित्र को निर्मल बनाना होगा।

माया—बहिन! आप अवगुणों तथा सद्गुणों का थोड़ा निरूपण करने की कृपा करें।

विद्या—सुनो माया! सद्गुणों और दुर्गुणों के निवास स्थान इन्द्रियाँ तथा मन हैं अतएव हमें अपनी इन्द्रियाँ और मन के कार्यों का निरीक्षण करना चहिये कि वे क्या-क्या करते हैं। उन कार्यों में अच्छे कौन से तथा बुरे कौन से कार्य हैं फिर वे अच्छे मार्ग पर जावें बुरे पर नहीं जैसे-यदि हमारी आँखें सदैव सिनेमा, बनावटी तड़क-भड़क व सांसारिक दृश्यों को देखना पसन्द करती हैं तो उन्हें उधर से रोक कर भगवान के मनोहर चित्रों मन्दिरों तथा उन प्राकृतिक दृश्यों को दिखावें जिससे सृष्टिकर्त्ता भगवान् का स्मरण बना रहे। कानों को बुरी बातें, अश्लील गाने, कहानी न सुनाकर श्रेष्ठ स्त्री पुरुषों के चरित्र, शिक्षाप्रद कहानियाँ तथा भगवान् के गुणानुवाद सुनावे। नाक से इत्र-सेन्ट आदि की खुशबू न लेकर हवन धूप तथा भगवत् अर्पित फूलों की सुगन्धि लें। जिह्वा से पर-निन्दा कटु-वाक्य तथा असत्य भाषण त्याग दें। स्वास्थ्य व मन को हानि पहुँचाने वाले अभक्ष्य पदार्थों का स्वाद न लें किन्तु सतोगुणी, सादे और स्वास्थ्य वर्द्धक पदार्थों का सेवन करें। त्वचा को साबुन, लाली, पाउडर तथा रेशमी भड़कीले वस्त्रों से न सजाकर सादगी और स्वच्छता पूर्वक रक्खें तथा साधारण वस्त्रों का प्रयोग करें। हाथों से सदैव बड़ों की सेवा दुःखी लोगों की सहायता करते रहें किसी भी प्राणी को अपने हाथों द्वारा कष्ट न पहुँचावें। किसी की वस्तु उसकी बिना अनुमति के न उठावें। पैरों से कभी ऐसी जगह न जावें जहाँ पर-निन्दा, व्यर्थ की चर्चा में समय नष्ट किया जाता हो इसके विपरीत हमें देवस्थलों में, सत्संग में अथवा जहाँ कथा-वार्त्ता होती हो वहीं जाना चाहिये। थोड़े दिन इन बातों का ध्यान रखने से हमारी प्रकृति ऐसी ही बन जायगी और धीरे-धीरे हमारे चरित्र के

सभी दूषण दूर होकर चरित्र निर्मल बन जायगा। फिर देखोगी कि सुख शान्ति की झलक हमें शीघ्र ही दीखने लगेगी। हमारा भविष्य सुखमय बन जायगा इसमें कोई सन्देह नहीं।

खेत को जोतने में पहले कष्ट अवश्य होता है किन्तु फिर फसल भी उसी की सबसे बढ़िया होती है इसी प्रकार चरित्र के दूषण निकालने में प्रथम कष्ट का अनुभव अवश्य होगा किन्तु फिर सुख शान्ति भी अवश्य उसी को मिल सकेगी।

माया—आप को यह सब बातें कहाँ से मालूम हुईं?

विद्या—मेरे पिता जी एक परम त्यागी महात्मा जी के पास जाया करते हैं। पिता जी तो नित्य ही उनके आश्रम पर सत्संग करने जाते ही हैं कभी कभी हम लोगों को भी ले जाते हैं। उन्हीं के उपदेश में ये सब बातें सुनने को मिलती हैं फिर हम लोग घर में भी आध्यात्मिक ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं उनमें भी यही बात पढ़ने में आती हैं।

माया—आप ने आज बड़ी अच्छी बातें बतलाईं अब मैं अवश्य ही इन पर चलने का प्रयत्न करूँगी हाँ जब जब मैं भूल करूँ आप बतलाने की कृपा करती रहें और नित्य ही कुछ न कुछ अच्छी बातें बतलाती रहा करें, सत्संग में मुझे भी अपने साथ ले लिया करें जिससे मेरा जीवन भी सुख शान्तिमय बन जावे आप के आदेशानुसार मैं भी इस सुन्दर पथ पर चलने का प्रयत्न करूँगी।

दोनों कालेज के समीप पहुँच गईं और इन्हीं बातों का मनन करती हुई अपनी अपनी कक्षाओं में पहुँच गईं।

सोई परम पद पायेगा

जो भजे हरिको सदा, सोई परम पद पायगा ॥
देह के माला तिलक अरु, छाप नहिं किसु काम के।
प्रेमभक्ती के बिना नहिं, नाथ के मन भायगा ॥१॥
दिल के दर्पण को सफा, कर दूर कर अभिमान को।
खाक हो गुरु के कदम की, तो प्रभू मिल जायगा ॥२॥
छोड़ दुनियाँ के मजे, सब बैठकर एकान्त में।
ध्यान धर हरि के चरण का, फिर जनम नहिं पायगा ॥३॥
दृढ़ भरोसा मन में करके, जो जपे हरि नाम को।
कहता है 'ब्रह्मानन्द' ब्रह्मानन्द बीच समायगा ॥४॥

क्षमा-याचना

जगदीश्वर की असीम अनुकम्पा से 'परमार्थ' के यह पञ्चम वर्ष का विशेषांक "चरित्र निर्माणाङ्क" आपके कर कमलों में उपस्थित है। स्वतन्त्र भारत के शैशव काल में आज देश को 'चरित्र निर्माण' की जैसी आवश्यकता है, वैसी अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं। आशा है, संतों की यह अनुभूति और सामयिक विचारधारा, एवं विद्वान-पंडितों की सारभूत बातें, राष्ट्र की परिस्थिति को सुधारने में पर्याप्त सहायक होंगी। इसी उद्देश्य को लेकर इस विशेषांक का ऐसा नामकरण हुआ। "चरित्र-निर्माण-अङ्क" के द्वारा जनता-जनार्दन की कैसी उपयुक्त सेवा होगी, इसका निर्णय तो सुधी-पाठक ही कर सकते हैं। हमने तो सरल और सुबोध भाषा में सन्त-महापुरुषों के अनुभवों का सार और विद्वानों की लेखनी का चमत्कार इस रूप में रखने का प्रयत्न किया है। सफलता तो आप के प्रेम पूर्ण सहयोग में ही सन्निहित है।

कृपालु संत-विद्वानों ने हमारी प्रार्थना को स्वीकार कर अपने सारगर्भित लेख भेजने की कृपा की, उन का आभार हम किन शब्दों में व्यक्त करें, वस्तुतः अहैतुकी संत-कृपा के फल-स्वरूप ही 'परमार्थ' की प्राप्ति होती है। विद्वान लेखकों एवं कवियों की भावग्राही कविताओं और गवेषणापूर्ण लेखों के लिये हम विशेष अनुगृहीत हैं। परन्तु हमें खेद है कि समग्र सुन्दर सामग्री स्थानाभाव के कारण विशेपाङ्क में नहीं दे सके। उन बचे हुए लेखों को यथासम्भव आगामी अंकों में प्रकाशित करने का प्रयत्न करेंगे।

विशेपाङ्क के लिये काग़ज की प्राप्ति में स्टार मिल, सहारनपुर का सहयोग हमें प्राप्त हुआ। मिल-मालिकों ने उचित मूल्य में काग़ज देकर जो कृपा की है उसका धन्यवाद दिये बिना हम नहीं रह सकते। हम उनके कृतज्ञ हैं, आशा और विश्वास है कि भविष्य में भी उनका सहयोग हमें प्राप्त होता रहेगा।

'चरित्र निर्माण अङ्क' के चरित्र-लेखन, प्रूफ़ संशोधन और सामग्री संयोजन में अपने सहयोगियों और प्रेमियों, मुख्यतः श्री रामस्वरूप जी गुप्त व पं० हृदयनाथ जी शास्त्री, 'साहित्यरत्न' से जो उल्लेखनीय सहायता मिली, उसके लिये धन्यवाद देना मानों अपने आप को ही धन्यवाद देना है। विशेषाङ्क के उपयुक्त जो लेख अथवा कवितायें संकलित की गई हैं उन लेखकों, कवियों एवं प्रकाशकों के प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

संशोधन अथवा प्रूफ रीडिंग में कुछ त्रुटियाँ अवश्य रह गई होंगी। प्रेमी पाठक कृपया उन्हें सुधार कर आशा है हमें क्षमा-प्रदान करेंगे। मनुष्य तो भूलों का पुतला ही है, इसलिये सावधानी रखने पर भी कुछ न कुछ भूल होना स्वाभाविक ही है। इसमें जो आन्तरिक सौन्दर्य है वह सब संत महापुरुषों, विद्वान लेखकों और भावुक कवियों की अनुग्रह का प्रसाद है। अन्त में अपने सहृदय प्रेमी पाठकों को धन्यवाद देते हुए, हमारी प्रार्थना है कि वें इस वर्ष भी 'परमार्थ' को अधिकाधिक अपना कर इसका प्रचार और प्रसार करते हुए हमें आशीर्वाद दें कि हम सफलता पूर्वक आप की प्रत्येक सेवा में भगवत्कृपा की झाँकी देखते रहें।

—सम्पादक

देने वाली अनुपम पुस्तकः—

(ले० श्रीस्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज)

१—सदाचार (दो भागों में)

ईश्वर धर्म एवं नीति की बातों को सरल प्रश्नोत्तर के रूप में समझाया गया है। बालकों के लिये विशेष उपयोगी है। ......।)

२—दैवी जीवन सोपान

हमारी दिनचर्या कैसी हो? आसन व्यायाम के वैज्ञानिक लाभ इसमें देखिये। मूल्य......।)

३—ब्रह्मचर्य साधन

ब्रह्मचर्य पालन की क्रियात्मक युक्तियाँ भली भाँति समझायी गई हैं। चतुर्थ संस्करण मूल्य......।)

४—भक्ति के नव साधन

देवी शबरी को भगवान् श्रीराम द्वारा वर्णित नवधा-भक्ति की विशद् व्याख्या एवं मंत्र जाप तथा मन को वश में करने के उपाय। द्वितीय संस्करण मूल्य......।)

५—सुखद लोक यात्रा

गृहस्थाश्रम में रहकर भी मानव जीवन के ध्येय को प्राप्त करने की सरल युक्तियाँ। तृ० सं० मूल्य......।=)

६—साधन प्रदीप

'मैं' क्या हूँ 'शरीर' क्या है 'आत्मा' कौन है इत्यादि गूढ़ विषयों का सरल विवेचन। तृ० सं० मूल्य......।)

७—साधन सुधा

धर्म, आपद्धर्म और परमधर्म की सरल व्याख्या एवं प्रारब्ध और भगवान्में विश्वासकी युक्तियां मू० ।)

८—हम दिग्विजयी कैसे हों?

संघर्षमय जीवनसे उत्तीर्ण होकर साधक से सिद्ध बनने के उपाय एवं अजय-रथकी अनुपम व्याख्या। मू० ।।।)

९—आदर्श गृहस्थाश्रम

अपने गृहस्थाश्रम को नन्दन कानन सा सुन्दर सुखद बनाने वाली अनुपम पुस्तक। मू०......।।।)

१०—नव महाव्रत

सत्य, अहिंसा, अस्तेय, आदि नव सद्गुणों की विस्तृत व्याख्या एवं व्यवहार में लाने की सुन्दर युक्तियाँ मू०......।=)

११—परमार्थ पथ

साधकों के पाथेय और मार्ग की हृदयग्राही एवं परमोपयोगी व्याख्या। मू०......।।।=)

१२—परलोक की बातें—दो भाग

हमारे मनों में धर्म, ईश्वर, एवं अध्यात्मिक शंकाएँ जो प्रायः उठा करती हैं उनका सुन्दर और युक्तिपूर्ण समाधान इनमें देखिये। दोनों का मू०......१)

१३—साधक पथ प्रदर्शक

साधकों को यह पुस्तक उनके साधन में मार्ग दर्शक का काम करेगी। मू०......।।=)

१४—रामराज्य की ओर

वर्तमान संकटापन्न समय में रामराज्य की कल्पना को मूर्त रूप देने की अनोखी युक्तियाँ एवं तत्कालीन स्वर्णिम युग का मनोहर वर्णन। मू०......।।=)

१५—नित्य उपयोगी संग्रह

दैनिक पूजन-हवन की विधियाँ एवं प्रार्थना मू०......=)

१६—आसन-प्राणायाम और सूर्यनमस्कार

सचित्र सरल भाषा में विधि व लाभ आदि। मू०

१७—परमार्थ मणिमाला—पाँच भाग

(ले० स्वामी भजनानन्द जी महाराज)

गागर में सागर के समान प्रत्येक भाग में १०८ उपदेशों की एक एक माला है। पाँचों भागों का मू० १।)

१८—परमार्थ बिन्दु (ले० आनन्द)

'बिन्दु में सिन्धु' के समान अध्यात्मिक विचारों को छोटे-छोटे घरेलू दृष्टान्तों द्वारा समझाया गया है। मू०।=)

१९—सुख दर्शन

(ले० स्वामी प्रकाशानंद जी महाराज)

वेदान्त के उच्च अध्यात्म भावों को छोटे-छोटे रोचक कथानकों द्वारा समझाया गया है। मू० १)

२०—योग रसायन

(ले० स्वामी सनातनदेव जी)

योग के सम्बन्ध का अनुपम ग्रन्थ है (छप रहा है)

पुस्तक मिलने का पताः— पुस्तक विक्रय-विभाग, मुमुक्षु आश्रम, शाहजहाँपुर।

नोटः—मूल्य व डाक खर्च अग्रिम भेजना आवश्यकीय है।

फ़ोन नं० १०१ रजिस्टर्ड नं० ए-८७८

ऋद्धि सिद्धियों की प्राप्ति का

एक गुप्त मन्त्र

या साधूंश्च खलान्करोति विदुषो मूर्खान्हितान्द्वेषिणः
प्रत्यक्षं कुरुते परोक्षममृतं हालाहलं तत्क्षणात् ।
तामाराधय सत्क्रियां भगवतीं भोक्तुं फलं वाञ्छितं
हे साधो ! व्यसनैर्गुणेषु विपुलेष्वास्थां वृथा मा कृथाः

हे सज्जनो ! अगर आप मनोवांछित फल चाहते हैं, तो आप अन्य गुणों के लिये कष्ट और हठ से वृथा परिश्रम न करके, केवल सच्चरित्रता रूपी भगवती की आराधना कीजिये । वह दुष्टों को सज्जन, मूर्खों को पण्डित, शत्रुओं को मित्र, गुप्त विषयों को प्रत्यक्ष और हलाहल विष को तत्काल अमृत कर सकती है ।

O Good men, if you want to enjoy the fruits desired by you, you should worship the Goddess of Righteous Deeds who makes evil persons virtuous, changes the ignorant into learned men, tansforms enemies into friends makes the hidden apparent and changes poison into nectar in a moment. Do not depend in vain on the acquiremeat of various qualificatoins (alone) by (making all sorts of) endeavours.

मुद्रक तथा प्रकाशक:—स्वामी सदानन्द सरस्वती, परमार्थ प्रेस, पो० मुमुक्षु आश्रम, शाहजहाँपुर

वार्षिक मूल्य ४॥) परिशिष्ट विदेश के लिये ८)

परमार्थ मासिक-पत्र

दैवी गुण विकासक, शान्ति संस्थापक, भक्ति ज्ञान वैराग्य सदाचार आदि अध्यात्मवाद प्रचारक, श्री दैवी सम्पद् महामण्डल का प्रमुख सुरुचिपूर्ण सचित्र मासिक-पत्र

संस्थापक:—

श्री १०८ श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज
श्री १०८ श्री स्वामी भजनानन्द जी महाराज

सम्पादक:—

स्वामी सदानन्द सरस्वती
राजाराम पाण्डेय 'मञ्जुल'

विषय सूची

सम्पादक मण्डल

सर्वश्री रामाधार पाण्डेय 'राकेश' साहित्य-व्याकरणाचार्य, पं० गयाप्रसाद त्रिपाठी साहित्य रत्न, रामशंकर वर्मा एम० ए० "साहित्यरत्न", रामस्वरूप गुप्त।

परमार्थ निकेतन का सत्संग

सदैव की भाँति इस वर्ष भी पुण्यसलिला श्री गंगा जी के पावन तट पर स्थित "परमार्थ निकेतन" स्वर्गाश्रम (ऋषीकेश) में १५ अप्रेल सन् ५४ से सत्संग प्रारम्भ हो जायगा। श्री दैवी सम्पद मंडल के सभी महापुरुषों के अतिरिक्त भारत के सुविख्यात संत-महात्माओं के अमृतोमय उपदेशों, भगवन्नाम संकीर्तन, नित्यप्रति भगवत्कथाओं से लगभग दो मास तक इस दुर्लभ सत्संग से अवश्य लाभ उठावें। भोजन और निवास की यथाशक्य व्यवस्था रहेगी। प्रेमियों को अपने पहुँचने की सूचना निम्नलिखित पते पर अवश्य भेज देनी चाहिये।

व्यवस्थापक
परमार्थ निकेतन, स्वर्गाश्रम
पो० ऋषीकेश (देहरादून)

आवश्यक निवेदन

इस अंक के रैपर पर जो आप का पता लिखा है कृपया इसे सावधानी पूर्वक देख लें और अपना ग्राहक नम्बर नोट कर लें। यदि इसमें किसी प्रकार की त्रुटि हो या कुछ परिवर्त्तन करवाना चाहें तो शीघ्र ही इस कार्यालय को सूचित करें, जिससे गलत पता होने के कारण भविष्य में आप का कोई अंक खोने न पावे।

यह तो आप विश्वास ही रक्खें कि "परमार्थ" कार्यालय से प्रत्येक अंक दो तीन बार जाँच कर ग्राहक के पास भेजा जाता है। "परमार्थ" प्रत्येक मास की पन्द्रह तारीख को प्रकाशित होता है, फिर कुछ दिन डिस्पेच करने में लग जाते हैं; इसलिये यदि किसी मास का अंक उस मास की अन्तिम तारीख तक न मिले तो आप अपने डाकघर तथा सुपरिन्टेन्डेण्ट पोस्ट आफिस के पास फौरन लिखित शिकायत करदें तथा उसकी सूचना इस कार्यालय को भी दे दें। आप की देर से शिकायत पहुँचने पर जब यहाँ से डाक विभाग को शिकायत भेजी जायगी तो उसका प्रभाव स्वाभाविक ही उतना नहीं पड़ सकेगा जितना ठीक समय पर कर देने से पड़ सकता था। आप के मौन रहने पर स्वतंत्र भारत के डाक विभाग के कतिपय स्वतंत्र कर्मचारियों को सहज ही इस बात का मौका मिल सकता है कि वे अंकों को बारम्बार गुम करते रहें, जिसके फलस्वरूप "परमार्थ" कार्यालय तथा उसके ग्राहकों को व्यर्थ की हानि तथा अनावश्यक असुविधाएँ सहन करनी पड़ें।

अतः आप से सानुरोध प्रार्थना है कि मास की अन्तिम तारीख तक अंक न पहुँचने पर शीघ्र ही लिखित शिकायत अवश्य कर दिया करें।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः । सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग्भवेत् ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा, बुद्ध्यात्मना वानुसृतःस्वभावात् ।
करोमि यद्यत् सकलं परस्मै, नारायणायैव समर्पयेतत् ॥

वर्ष ५ } मुमुक्षु आश्रम, शाहजहाँपुर १५ मार्च १९५४
फाल्गुन शुक्ल ११ सोमवार, सम्वत् २०१० { अङ्क—३

तुलसी की साधना

डगर डगर अरु नगर नगर माहिं,
कहनि पसारी राम चरित अवलि की।
कहै कवि 'अम्बादत्त' राम ही की लीलन सौं,
भरि दीनी भीर सबै चहलि पहलि की ॥
सूद्रन ते ब्राह्मण लौ मूरख ते पंडित लौ,
रसना डुलाई जय जय बलि बलि की।
जम को भगाय पाप पुंज को नसाय,
आज 'तुलसी गुसाईं' नाक काटि लीनी कलि की ॥

—श्री अम्बादत्त

परमार्थ बिन्दु

विचार करो—प्रारम्भ में बच्चे को प्राइमरी पुस्तक में "कबूतर वाला 'क' खरगोश वाला 'ख' आदि की सहायता से अक्षर ज्ञान का अभ्यास करवाया जाता है। परन्तु जानते हो कबूतर व खरगोश का तात्पर्य केवल इतना ही होता है कि बच्चा उनकी सहायता से 'क' 'ख' को ठीक ठीक पहिचान ले और फिर कभी किसी भी पुस्तक में उसी आकृति का अक्षर देखे तो फौरन कह दे कि यह 'क' है। यदि कोई बहुत काल तक सीखने के बाद भी 'कलम' 'कागज' 'कस्तूरी' 'काका' में 'क' को नहीं पहिचान सके तो क्या वह सीखा हुआ कहा जायगा ? कदापि नहीं। इसी प्रकार याद रक्खो, किसी प्रतिमा में घटघटवासी सर्वव्यापी परमात्मा के स्वरूप का बहुत काल तक अभ्यास करने के पश्चात् भी यदि कोई 'भक्त या ज्ञानी' का टाइटल धारी सभी प्राणियों के स्वरूप में परमात्मा को विद्यमान नहीं देखता और यदि वह किसी प्राणी को दुःख पहुँचाता है अथवा उससे इर्ष्या-द्वेष रखता है तो क्या वह नादान नहीं ? अवश्य है।

विचार करो—यदि कोई व्यक्ति किसी बबूल के वृक्ष की जड़ में पहुँचने वाले पानी को तो रोके नहीं और उसके पत्ते, डालियों व तना काटकर निश्चिन्त होकर बैठ जाय कि "अब तो बबूल नष्ट होगया, अब काँटे चुभने का कष्ट नहीं उठाना पड़ेगा" तो क्या उसका यह सोच बैठना दुरुस्त है ? कदापि नहीं। यदि वह उस बबूल को नष्ट करके काँटों के कष्ट से बचना चाहे तो जानते हो उसे क्या करना चाहिये ? पत्ते, डालियाँ और तना के काटने में व्यर्थ पुरुषार्थ करने के चक्कर में न पड़ कर उसे उसकी जड़ काट देना चाहिये। बस ! सारा बबूल अपने आप नष्ट हो जायगा। इसी प्रकार विश्वास रक्खो, कोई घरबार त्यागकर किसी पहाड़ की कन्दरा में तो निवास करने लगे अथवा पृथक मकान या कमरे में आँख मूँदकर तो बैठ जाय, परन्तु मन में अनेक कामनाओं का चिन्तन करता रहे (चाहे वे कंचन-कामनी या विषय भोगों की हों, चाहे मान, बड़ाई इर्ष्या व 'मैं त्यागी हूं' 'मैं भजनीक हूँ') तो यह वास्तविक एकान्त व भजन कदापि नहीं है। इससे दुःख की निवृति नहीं होगी। जानते हो दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति अथवा परमानन्द की प्राप्ति कब होगी ? जब कि "मैं कर्त्ता हूँ" इस परिच्छिन्न भाव का त्याग होगा और अनेक (वृत्तियों) का अन्त एक (परमात्मा) में होगा; चाहे घर में रहो चाहे बाहर, चाहे एकान्त में रहो चाहे बहुतों में।

विचार करो—कुछ यूनिट्स बिजली का प्रकाश देने के बदले में बिजली-विभाग (Electric-Department) को अथवा कुछ मीटर्स (Meters) पानी के बदले जल-वितरण विभाग (Water works Department) को हर महीने कुछ रुपयों का बिल चुकाना पड़ता है। इसके सिवाय यदि कभी किसी गड़बड़ी के कारण बिजली या पानी की सपलाई (Supply) बन्द होजाती है तो बड़े परेशान होते हैं—मिस्त्री व फिटर भेजने की बारम्बार मिन्नत करते हैं और ठीक होजाने पर उसको हार्दिक "थैंक्स" देकर उसके प्रति बड़ी कृतज्ञता प्रदर्शित करते हैं। इसी प्रकार, सोचो तो, जिस सर्वशक्तिमान (Almighty) परमात्मा की शक्ति (Nature) के नियमन से सूर्य हमको बिना मूल्य प्रकाश देता है, इन्द्र हमको जल प्रदान करता है पवनदेव वायु सप्लाई करके जीवन देता है—क्या उस सर्वशक्तिमान परमात्मा की प्रार्थना भी न करके आभारी (Thankful) न होना कृतघ्नता नहीं ? अवश्यमेव। हाँ 'परमात्मा शब्द से किसी को द्वेष हो तो उस सर्वशक्तिमान चेतन सत्ता के लिये गॉड, खुदा, नेचर आदि कुछ भी शब्द प्रयोग करले—इसमें कोई अड़चन नहीं।

अपने आचरण देखो !

(एक महात्मा)

काम, क्रोध और लोभ- इन तीन अन्धकारमय दरवाजों से मुक्त होकर जो मनुष्य अपने कल्याण का आचरण करता है वह परमानन्द पद को प्राप्त होता है। कौन सा कर्म करना चाहिये और कौन सा नहीं करना चाहिये—इसके निर्णय के लिये हमारे अनुभवी ऋषि-महर्षियों के अनुभव पूर्ण विधान जो शास्त्रों में वर्णित हैं उन्हीं को प्रमाण मानना चाहिये। जो लोग उनके विरुद्ध पृथकता के भाव से अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के लिये, लोगों को हानि पहुँचाने और दुःख देने वाली मनमानी चेष्टाएं करते हैं वे अपनी उन्नति नहीं कर सकते न उनको सच्ची सुख-शान्ति ही मिल सकती है।

मनुष्य समाज के लिये जीवन-यात्रा का यही सच्चा और निश्चित मार्ग है कि जिसका अवलम्बन करके प्रत्येक मनुष्य अपनी आधि-भौतिक, आधि-दैविक एवं आध्यात्मिक सब प्रकार की उन्नति करता हुआ शान्ति, पुष्टि, तुष्टि प्राप्त कर सकता है मनुष्य की उन्नति और अवनति उसके आचरणों पर निर्भर है इसलिये भगवान ने गीता के सोलहवें अध्याय में—दैवी और आसुरी सम्पत्तियों का साथ-साथ वर्णन किया है, ताकि अपनी सर्वाङ्गीण उन्नति चाहने वाले लोग इस विषय को अच्छी तरह समझकर आसुरी सम्पत्ति के आचरणों को छोड़ें और दैवी सम्पत्ति आचरणों में प्रवृत्त हों। दैवी-सम्पत्ति के आचरणों से मनुष्य स्वतन्त्र होकर सुख-शान्ति को प्राप्त होता है और आसुरी सम्पत्ति के आचरणों से मनुष्य पराधीन होकर अपना पतन करता है। इसलिये हमको हर समय अपने आचरणों को सावधानी-पूर्वक देखते रहना चाहिये कि इस समय हम जो आचरण कर रहे हैं वे दैवी सम्पत्ति के हैं अथवा आसुरी-सम्पत्ति के। मनुष्य जब तक अपनी कमजोरियों और अवगुणों की अपने में खोज न करके केवल दूसरों ही के दोष देखता है और उन पर टीका-टिप्पणी करता है तब तक न तो उसके खुद के दोष ही दूर होते हैं न वह उन्नति ही कर सकता है।

देव अथवा असुर हमसे भिन्न किसी अन्य जाति के प्राणी नहीं हैं, न कोई अलग लोक है, किन्तु हममें से ही कई लोग दैवी प्रकृति के होते हैं और कई आसुरी प्रकृति के। इसलिये हमको गम्भीरता पूर्वक विचार करके आत्म-निरीक्षण करना चाहिये कि हमारे आचरण कैसे हैं ? आसुरी हैं या दैवी ?

संतों व असन्तों के कुछ लक्षण

संत सहहिं दुःख परहित लागी। परदुःख हेतु असन्त अभागी ॥
संत असंतन की अस करणी। जिमि कुठार चन्दन आचरणी ॥
उमा संत कर यही बड़ाई। मंद करत जो करे भलाई ॥
खलन हृदय अति ताप विशेषी। जरहिं सदा पर सम्पति देखी ॥
वचन वज्र जेहि सदा पियारा। सहस नयन परदोष निहारा ॥
खल बिनु स्वारथ पर अपकारी। अहि मूषक इव सुनु उरगारी ॥

कर्त्तव्य-कर्म में कर्त्तापन का अभाव

(श्री १०८ स्वामी भजनानन्द जी महाराज)

आज हम कोई काम संसार में करते हैं तो यह इच्छा होती है कि जो काम हमने किया है उसकी ख्याति संसार के सभी प्राणियों के कान तक पहुँच जाय। हम किसी के साथ कोई उपकार करते हैं तो उसे अहसान जताते हैं। ऐसा क्यों है? इस लिये कि हमारा अपनत्व थोड़ी सीमा में ही बद्ध है। हमारी द्वैत भावना इतनी बढ़ी हुई है कि हम किसी के साथ परोपकार करने की भावना ही नहीं रखते। वास्तव में जहाँ-जहाँ हमारा अपनत्व है उसी के साथ हम कोई परोपकार करते हैं तो हमारी भावना भी नहीं होती कि हमने अहसान किया। मान लीजिये हमारे हाथ में काँटा लगता है और हम उसे निकाल देते हैं और ऐसा विचार स्वप्न में भी नहीं आता कि हमने कोई अहसान किया क्योंकि हाथ हमारे हैं इसी प्रकार संत महात्मा पुरुष सारे संसार की भलाई करते हैं परन्तु सोचते हैं कि सब हमारे ही हैं। भगवान् राम ने सुग्रीव और विभीषण के साथ जो उपकार किया उसे किसी से कहा नहीं वरन् कहा कि इन हमारे मित्रों ने हमारे लिये जीवन की बाजी लगा दी—

मम हित लागि जनम इन हारे।
भरतहु ते मोहि अधिक पियारे॥

सरकार राघवेन्द्र लंका को विजय करके अयोध्यापुरी में पधारे अयोध्या तथा आस-पास की अपार जनता में अपने गुरुदेव के सामने कह दिया कि हे मुनि! यह सब सखा समर रूपी सागर में मेरे लिये वेड़ा के समान हो गये। यथाः—

ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे।
भये समर सागर महँ बेरे॥

हनुमान जी से तो यहाँ तक कहाः—

तुम सने तात उरिनं मैं नाहीं।
प्रति उपकार करौं का तोरा।
सन्मुख हुइ न सकत मन मोरा॥

आज हम कुआँ या धर्मशाला बनवा देते हैं तो बड़ा अभिमान करते हैं। विचार करो तुमने अपने जीवन में कितने कुओं का पानी पिया है कितनी धर्मशालाओं में ठहर चुके हो। यदि दो एक कुआँ या धर्मशाला बनवा भी दिये तो क्या हुआ? आज हम अपने पापों को छुपाते और पुण्यों का बखान करते हैं तो हमारे हाथ पाप ही रह जाता है यथाः—

छीजहिं निशिचर दिन अरु राती।
निज मुख कहे सुकृत जेहि भाँती॥

इसलिये जो हमने किसी के साथ परोपकार किया है उसे न कहें और किसी ने हमारे साथ भलाई की है उसे बार-बार बखान करें जैसे बक्स में यदि टार्च जला कर रख दोगे तो उसका प्रकाश थोड़े समय में ही समाप्त हो जायगा।

भगवान राम ने स्पष्ट करके दिखा दिया कि भूल सती जी ने की और श्रीराम जी महादेव जी से बिनती करते हैं किः—

यह बिनती मम सुनहु शिव जो मोपर निज नेहु।
जाइ बिवाहहु शैलजहि यह मोहि माँगे देहु॥

यह आदर्श राम के स्वभाव का था। नारद को भ्रम था कि हमने कामदेव जीत लिया अभिमान हो गया भगवान ने भक्त के अभिमान को दूर करने के लिये मायारूपी नगर बनाया राजा शीलनिधि की कन्या को अति सुन्दरी बनाया। नारदजी आसक्त हो गये जिन प्रभु से कह रहे थे हमने कामदेव को जीत लिया उसी से अब विवाह के लिये सुन्दरता माँगते हैं जब व्याह न हो पाया और उसी कन्या

को नारद के सामने लेकर निकले तो भीतर वाला क्रोध बाहर आगया और बोले:—

देहौं श्राप कि मरिहौं जाई। जगत मोर उपहास कराई॥
भले भवन अब बायन दीन्हा। पावहुगे फल आपन कीन्हा॥

जब भगवान ने माया हटा ली तब नारद क्षमा माँगने लगे। परन्तु भगवान की दयालुता देखो क्या कहते हैं:—

मम इच्छा कह दीन दयाला।

कंस को मार कर, उग्रसेन को राज्य दिया। आप स्वयं द्वारपाल बने तभी तो भगवान शंकर ने कहा:—

उमाराम स्वभाव जिन जाना।
ताहि भजन तजि भाव न आना॥

क्षण-क्षण में हजारों अहसान तुम्हारे ऊपर होते हैं वाणी से जो बोलते हो यदि सरस्वती जी की कृपा न हो तो कैसे बोल सकते, यदि नेत्रों में सूर्य भगवान शक्ति न दें तो फिर कैसे देख सकते। इसी प्रकार श्रवण, त्वचा, नासिका आदि के देवताओं का तुम्हारे ऊपर अहसान है अज्ञानी कर्त्तापन का अहंकार करता है भगवान नें गीता में अर्जुन से कहा है। अहंकार, विमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते। जैसे आलू सड़कर जमीन में एक से अनेक हो जाता है वैसे ही परोपकार करो और कर्त्तापन के अहंकार को भूल जाओ तो तुम्हारा यश भूमण्डल में छा जायगा और कभी नष्ट नहीं होगा। पूज्य गुरुदेव भगवान ने परहित में शरीर गला दिया तो दैवी सम्पद् मण्डल आज हरा भरा है। भक्त वही बन सकता है जो मोम की सड़क में आग दी जाय तब भी चला जाय। तभी प्रभु को पा सकता है। 'शम' 'दम' 'तितिक्षा' को धारण करे वही साधु है। कलकत्ता में मोटर चलाना चाहता है तो फिर अन्य मोटर ठेला आदि से क्या डर बल्कि सबसे बचाकर अपनी गाड़ी को गन्तव्य स्थान तक पहुँचा दे वही चतुर है। इसी प्रकार हजारों कष्टों का सामना करना पड़े। परन्तु अपना सच्चा मार्ग न छोड़े यही साधुता है। भलाई करो और कुए में डालो। इतना खाओ शरीर निर्वाह हो जावे। महात्मा गाँधी का अनुकरण करो–क्यों भलाई करने पर भी कहा नहीं? हमको थोड़ा काम करने को शरीर नहीं मिला हमारी भावना संसार भर की सेवा की होनी चाहिये क्योंकि हमारा परमपिता जब संसार भर की सेवा करता है भगवान् स्वयं श्रीगीता जी में अर्जुन के प्रति कहते हैं:—

सर्वतः पाणि पादं तत् सर्वतोक्षिशिरोमुखम्।
सर्वत श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

सियाराममय सब जग जानी। करहुँ प्रणाम जोरिजुग पानी॥

रास्ता है वही जो पूर्वजों ने बनाया है बहुत से व्यक्ति नया रास्ता बनाते हैं और उस पर चलकर हानि उठाते हैं। यह वही भारतवर्ष है जहाँ मनुष्यों की कौन कहे पशु पक्षी भी परोपकार में शरीर का त्याग कर देते थे महाभारत में एक आख्यान है कि:—एक वृक्ष पर कबूतर अपनी स्त्री व बच्चों के साथ बड़े स्नेह से रहता था एक दिन की बात है कि जाड़े के दिन थे कुछ वर्षा हो रही थी शीत उग्र रूप धारण कर रही थी सायंकाल का समय था कि एक व्याध निराश होकर अपने गृह को वापिस जा रहा था एकाएक उसकी निगाह फुदकते हुये कबूतर के बच्चों पर पड़ी कबूतर व कबूतरी दोनों बाहर गये थे व्याध ने जाल फैला दिया दाना नीचे पड़ा देखकर नादान बच्चे नीचे उतरे और दाना चुगने लगे और जाल में फँस गये थोड़े समय बाद कबूतरी आई और अपने बच्चों को जाल में फँसा देखकर अधीर हो गयी नेत्रों में जलभर आया अपने पुत्रों के दुखों से दुखी होकर स्वयं भी जाल में फँस गयी इतने में कबूतर भी आगया और अपने परिवार को जाल में फँसा देख व्याकुल हो गया तब तक कबूतरी ने कबूतर से कहा प्राणनाथ यह

व्याध हमारा अतिथि है और भूखा है ऐसा उपाय करो जिससे इसकी क्षुधा निवृत्ति और शरीर से काँप रहा है सो इसका जाड़ा छूट जाय। यह सुनकर कबूतर ने उड़कर कुछ फूस व पत्ते गिराये और एक स्थान से एक जलती हुई लकड़ी ले आया वह नीचे पत्तों पर डाल दी आग जलने लगी व्याध ने ताप कर अपनी ठंड छुटाई इसके बाद कबूतर स्वयं उस अग्नि में कूद पड़ा। उसकी परहित भावना को देखकर भगवान प्रसन्न हुये और प्रकट होकर बर माँगने को कहा वह बोला यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो व्याध का दुख दूरकर दीजिये यही प्रार्थना है

इसी को कर्म में निरहंकारिता कहते हैं गोस्वा।м जी ने कहा है कि:—

परहित लागि तजैं जो देही। संतत संत प्रसंसहिं तेही

भिखारी का अहसान गृहस्थ पर है क्योंकि य वह दान न ले तो गृहस्थ का उद्धार कैसे हो इ. यदि अपना कल्याण चाहते हो तो सदैव भावना करके परोपकार करो कि हमारा कोई सान नहीं है यह कार्य तो हमारा कर्त्तव्य है।

शूल से फूल

(श्री १०८ पूज्य स्वामी शुकदेवानन्दजी महाराज)

मानव-योनि में ही चिर-संतप्त जीव को ऐसा देव-दुर्लभ अवसर मिलता है, जिसका सदुपयोग होने पर वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति सरलता से कर सकता है। इसके विपरीत यदि इस सुअवसर का दुरुपयोग होगया तो गन्तव्य की ओर गति न हो-कर पुनः पतन के गम्भीर गह्वर में, अर्थात चौरासी की चक्की में पिसना अवश्यम्भावी है। अपने जीवन का सदुपयोग कैसे हो, इस बात का विचार प्रतिक्षण करते रहना परमावश्यक है। इसीलिये अपने विचारों का परिमार्जन करते रहना मानव का प्रमुख कर्त्तव्य है। अपनी विचारधारा को परिष्कृत एवं आध्यात्मिक बनाने के लिये हमें अन्तःकरण की शुद्धि की ओर ध्यान रखना चाहिये। हमारे पूर्वज मनीषियों ने अपनी एकान्त साधना एवं अनुभव के आधार पर मानव मात्र को जो सुखद संदेश दिये उन सभी के मूल में आन्तरिक शुद्धि का उपदेश ही समाया हुआ है। शास्त्र एवं सद्ग्रन्थों से भी यही ध्वनि आती है कि अन्तःकरण की शुद्धि हुये बिना कुछ हाथ नहीं लगेगा। निशाना साधने के लिये शिकारी जैसे अपने लक्ष्य की ओर एकाग्र होकर दृष्टि जमाते है वैसे ही हमें अपने лक्ष्य की ओर एकाग्र और जागरूक रहने की आवश्यक है। निशाना यदि चूक गया तो फिर पछताने सिवा और कुछ हाथ लगेगा नहीं। इसी बात स्पष्ट करते हुये, गोस्वामी जी ने भटके हुये को सावधान किया कि:—

जो न तरइ भवसागरहि नर समाज अस पाइ।
सो कृत निन्दक मन्द मति आत्माहन गति जाइ॥

किन्तु युग-धर्म का भयावह प्रवाह अपनी ती धारा में मनुष्य को न जाने किस ओर बहाये लि जारहा है। आज की विषम परिस्थितियाँ बढ़ने वाले को भी पीछे ढकेल देती हैं। शिक्षा पाश्चात्य सभ्यता, सिनेमा प्रेम इत्यादि के से उत्तरोत्तर बढ़ती हुई विलासिता का प्रल अपने आकर्षण में बड़ी तीव्रता से जन मन अपनी ओर खींच रहा है। अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाकर मनुष्य अहर्निश सांसारिक अभाव पूर्ति में तन मन से जुटा है। ऐसे विषाक्त और प्रतिकूल वातावरण में रहकर उसका साधन कैसे हो? काजल की कोठरी में रहते हुये कालिमा से... २

अछूता कैसे बचे ? ऐसी समस्याएँ प्रायः प्रत्येक कल्याण-कामी के हृदय का मंथन करती रहती हैं। जब संतों का सत्संग अथवा भक्तों के समुदाय में रहने का सौभाग्य चिरसंचित शुभ प्रारब्धानुसार प्राप्त होता है तब तो यत्किंचित शान्ति की अनुभूति होती है किन्तु उधर से इधर आने पर "वही रफ्तार बेढंगी जो पहले थी सो अब भी है" की कहावत अक्षरशः चरितार्थ होने लगती है और साधक हताश होने लगता है, उसके मन का चोर कहता है, कलिकाल में ऐसे ही चलता है, जो गति सबकी सो अपनी. इत्यादि। इस प्रकार से मन को सान्त्वना देने का असफल प्रयास करके भीतर से अशान्त ही बना रहता है। शान्ति और अशान्ति के दुर्भेद्य चक्र में पड़ा उसका अशान्त मन कभी नीचे, कभी ऊपर आता जाता है। वह अपनी इस गुत्थी को सुलझाने का यत्न करके भी सुलझा नहीं पाता।

मानव-योनि को सन्तों और शास्त्रों ने कर्मयोनि बताया है। कर्म करने में वह स्वतन्त्र है अतएव पुरुषार्थ के द्वारा वह अपनी प्रतिकूल परिस्थिति को भी वह अपनी लगन से अनुकूल बना सकता है, इसीलिये इसे देव-दुर्लभ योनि के नाम से सम्बोधित किया गया। युक्ति में ही मुक्ति छिपी है। अतएव हताश होने की कोई आवश्यकता नहीं, प्रयत्न और बुद्धि के प्रयोग से हम जग-जाल के बन्धनों को निश्चय ही ढीला कर सकते हैं। आप जानते हैं कि गृहकार्य में चतुर मातायें समय और परिश्रम की बचत के लिये, चूल्हे पर चढ़ाने से पहले बटलोई के बाहर मिट्टी या राख का लेवा लगा लेती हैं। इस प्रयोग से भोजन बनाने के बाद उन्हें सरलता रहती है। गरम जल से स्वल्प समय में वह लेवा बाहरी कालिमा सहित सरलता से छूट जाता है और धुएँ तथा कालिखका बटलोई पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। तब बटोई माँजने में माताओं को विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ता। इस प्रकार समय और श्रम दोनों की बचत होजाती है। धातु में अधिक रगड़ न लगने से वह बटोई भी अधिक टिकाऊ बनी रहती है। माताओं की इस दैनिक क्रिया से हमें भी बहुत सुन्दर युक्तिपूर्ण और क्रियात्मक उपदेश मिलता है। यह संसार भी दैहिक दैविक और भौतिक तापों की भट्टी में जलता रहता है। हमारा अन्तःकरण ही मानो बटलोई के समान है जो इस भट्टी पर चढ़ा है। कामनाओं का ईंधन सुलगता है, भट्टी जलती रहती है और कालिमा की तहें निरन्तर जमती जा रही हैं उन्हें छुड़ाने का कोई युक्तिसंगत उपाय न होने से ही मनुष्य का अन्तःकरण कलुषित और जर्जर होता जारहा है। इस कलुष-कालिमा को हटाने का एकमात्र उपाय है दैनिक सत्संग। दृढ़ निश्चय पूर्वक सत्सग का आश्रय लेने से अन्तःकरण रूपी बटलोई पर लेवा लगता रहेगा और फिर इस त्रिविधि ताप संतप्त संसार में रहकर भी हम चिरशान्तिदायी मार्ग की ओर अग्रसर होते जायँगे। जन्म जन्मान्तर की चढ़ी हुई कालिमा को हटाने के लिये अधिकाधिक सत्संग की आवश्यकता है। अतएव अपनी परिस्थिति के अनुसार जो जितना समय सत्संग के लिये निकाल सके, उसका सदुपयोग करना ही चाहिये। यदि अधिक समय न मिल सके तो दिन-रात्रि के चौबीस घंटों में कम से कम एक घंटा दृढ़ निश्चय पूर्वक निकालना ही होगा। ब्रह्म-मुहूर्त में किए गये एक घंटे के सत्संग के आश्चर्यजनक प्रभाव से आपके जीवन की धारा स्वयमेव आनन्द के महासागर की ओर प्रवाहित होने लगेगी।

जीवन में सुख-दुख, लाभ-हानि, यश-अपयश का दौर-दौरा तो अन्तिम श्वास तक चलता ही रहेगा। एक सी स्थिति तो भगवान श्रीराम और श्रीकृष्ण की भी नहीं रही किन्तु इस बाह्य स्थिति का प्रभाव एक सत्संग सेवी की आन्तरिक स्थिति पर नहीं पड़ता वह भीतर से ज्यों का त्यों बना रहकर अपने सांसारिक उत्थान-पतन को नाटक के पात्र की भाँति देखने का अभ्यासी बन जाता है। पैरों में पादत्राण पहनकर पथिक जैसे सुख पूर्वक कंटकाकीर्ण मार्ग पर निर्बाध गति से चला जाता है ऐसे ही सत्संग का प्रभाव शूल को भी फूल बना देता है। उसके लिये अभिशाप भी वरदान बन जाते हैं।

चरित्र-बल

(पूज्य श्री स्वामी योगिराज जी महाराज)

भगवान् श्रीकृष्ण जी ने स्वयं श्रीमुख से कहा है:—

"बलं बलवतां चाहम् काम राग विवर्जितम्"

इसका वास्तविक तात्पर्य मेरी बुद्धि से तो यही है कि मनुष्य के जनबल-धनबल आदि समस्त बलों में चरित्रबल ही सर्वश्रेष्ठ है। जब भारत ने इसी बल को अपनाया था तब यह सारे संसार का गुरु माना जाता था किन्तु जब से यह देश उस बल से हीन होगया तभी से दुर्बल बनकर गुरु से गोरू (पशु) बनता जारहा है। पूर्वकाल में चरित्रबल से हमारे पूर्वज असम्भव को भी सम्भव बना देते थे। सौ योजन का समुद्र कूदकर असुरपुरी से जगज्जननी का सन्देश लाने वाले महावीर हनुमान में कौन सी शक्ति छिपी थी ? यह चरित्रबल की ही शक्ति थी। उत्तरायण सूर्य की प्रतीक्षा में वाणों की शरशय्या पर मर्मान्तक वेदना को सहन करने की शक्ति पितामह भीष्म को कहाँ से प्राप्त हुई ? इसी चरित्र बल से। इस प्रकार के इतिहासों से तो विज्ञ पाठक भली भाँति परिचित ही हैं। अनेक उद्धरण देकर लेख का कलेवर बढ़ाना मेरा तात्पर्य नहीं है। मेरा तात्पर्य तो अति संक्षेप में केवल इतना ही है कि आज अपने पतनोन्मुखी देश की दशा चरित्र हीनता के कारण दिनोदिन शोचनीय बनती जारही है। अतएव अब स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् उदासीन और उपेक्षा के भाव का सर्वथा परित्याग कर कटिबद्ध होकर सभी को प्राण-पण से राष्ट्र के चरित्र निर्माण के कार्यों में संलग्न हो जाना चाहिये। हमारा संत समुदाय अपनी अनुभूत शिक्षाओं से, हमारे शासक आचरणों से, साधारण सद्व्यवहारों से एवं छात्र-छात्रायें अनुशासन से इस महत्व पूर्ण प्रश्न का समाधान करके भारत के चरित्र निर्माण में अपना-अपना सहयोग प्रदान करें, यही मेरी प्रार्थना है।

पूज्यपाद त्याग मूर्ति श्री १०८ श्री स्वामी रामेशचन्द्र जी महाराज के सदुपदेश

(प्रेषक—भक्त रामशरणदास जी पिलखुवा)

अभी हाल में ही पिलखुवा में सुप्रसिद्ध संत श्री स्वामी रामेशचन्द्र जी महाराज हमारे स्थान पर पधारे थे जिनके उपदेश सत्संग की बड़ी धूम रही उसी समय आपके यह सदुपदेश लिख लिये गये। इनमें जो गलती हो वह हमारी ही समझनी चाहिये पूज्य महाराज जी की नहीं।

१—हमारा मन यदि परस्त्री की ओर जाता है तो समझ लो कि हमारा पैर नरक में रक्खा है हम अवश्य ही नरक में जायेंगे। यदि हमारा मन परधन की ओर जाता है तो समझ लो कि हम कौरवों के साथी हैं पाण्डवों के नहीं, रावण के साथी हैं भगवान् श्रीराम के साथी नहीं, हमें नरक में जाना ही होगा। यदि हमारा मन सिनेमा देखने को कहता है, यदि हमारे कान वेश्याओं के गाने सुनना चाहते हैं तो निश्चय ही हमारे लिये नरक का मार्ग तैयार हो रहा है। और यदि इसके विपरीत हमारा मन परस्त्री को देख कर दुर्गा, लक्ष्मी समझता है बहिन, बेटी, माता के रूप में उनका पुजारी है और परधन को मिट्टी समझता है तो कोई भी शक्ति हमें प्रभु के समीप जाने से रोक नहीं सकती।

२—आप कहते हैं कि हम क्या करें शान्ति ही नहीं मिलती ? तुम्हें शान्ति मिले भी तो कहाँ से मिले क्योंकि तुम तो दिनरात झूठ बोलते हो, परनिन्दा करके अन्तःकरण कलुषित करते हो, यदि तुम वास्तव में सुख-शान्ति चाहते हो तो अधिक न सही एक दिन ही दृढ़ विश्वास से सत्य बोलकर देख लो, परनिन्दा न करने की प्रतिज्ञा करके देख लो फिर कहना कि तुम्हें शान्ति मिलती है या नहीं। थोड़े प्रयोग से ही तुम्हें आश्चर्यजनक शान्ति की अनुभूति होगी। किसी बात को जान लेने या समझ

लेने से ही काम नहीं चलता, उस पर अमल करने से ही काम चलता है। रोग तो औषधि के प्रयोग से ही घटेगा।

३—आज हमें मन्दिर में जाने की फ़ुरसत नहीं हम आज मन्दिर में नहीं जाते, हम तो आज सिनेमा में जाते हैं जहाँ जाकर हमारा घोर पतन होता है। यदि हम जाते भी हैं तो वहाँ पर हम भगवान् से जाकर बेटे, पोते, धन-माल माँगते हैं और स्वार्थ की ही बातें सोचते हैं, मुक़दमे जीतने की ही भगवान् से प्रार्थना करते हैं, यह तो बिल्कुल वैसा ही हुआ जैसे किसी राजा के दरबार में पहुँच कर कोई एक मुट्ठी चना-चबेना की याचना करे। त्रैलोक्य नाथ के दरबार में पहुँच कर तो उन्हें व्यापक मान कर व्यापक भावना ही करनी चाहिये कि—सब सुखी हों और सब के कष्ट दूर हों, ऐसी भावना करते ही, ऐसा मांगते ही तुम देखोगे कि परमशान्ति की आनन्दमयी लहरें तुम्हें भीतर-भीतर सराबोर कर देंगी।

४—जब तक हमारा अन्न शुद्ध नहीं तब तक भला हमारा मन कैसे शुद्ध होगा? आज हमारा अन्न शुद्ध नहीं है, आज हम स्वच्छ चौके में शुद्ध भोजन न करके होटलों में बिना किसी विचार के खा लेते हैं। हमारा अन्न बुरी कमाई के पैसे का है, ब्लैकमार्केट, बेईमानी के रुपये का है फिर भला हमारा मन ऐसे अशुद्ध अन्न को खाकर कैसे पवित्र रह सकता है? तुम्हारा यह अशुद्ध कमाई का अन्न तुम्हारे ही मन को नही बिगाड़ता वरन् जो भी साधु या ब्राह्मण तुम्हारे घर का अशुद्ध अन्न खाते हैं उनके मन को भी बिगाड़ डालता है इसी से आज साधुओं में जो कमी है वह तुम्हारे अन्न का ही दोष है।

५—अभिमान भूलकर भी मत करो यह अभिमान ही तो भगवान् का भोजन है। भगवान् अभिमान को खाते हैं बड़ों-बड़ों का अभिमान भगवान् ने चूर-चूर कर दिया। इसलिये अभिमान से बचो। अभिमान के रहते कल्याण होना असंभव है। भगवान् ने रावण जैसों का अभिमान धूल में मिला दिया तो फिर तुम्हारी हमारी तो बात ही क्या? अपने को बड़ा मत समझो अपने को छोटा समझो और नम्र होकर रहो, किसी को भी मत सताओ, कष्ट मत पहुँचाओ, कोई तुम्हें गाली दे तो उसकी गाली सुन लो उसे उलट कर गाली मत दो। यदि उसने एक गाली दी और एक गाली देने से वह बुरा होगया तो तुमने उसे बदले में हजार गाली दीं तो तुम क्या हजार गाली देने से हजारगुना बुरे नहीं होगये? जब गाली बुरी है और उसके लिये बुरी है तो तुम्हारे लिये बुरी क्यों नहीं? गाली देने वाले में भी अपने उसी नारायण को देखो और उसे नारायण का रूप समझ कर उससे भी प्रेम करो। जब सब जगह नारायण ही नारायण हैं तो गाली देने वाले में नारायण क्यों नहीं हैं? एक रूप से वही नारायण तुम्हें प्यार करता है तो दूसरे रूप में वही नारायण तुम्हें गाली देता है दोनों रूपों में नारायण तुम्हारी परीक्षा लेता है तुम दोनों को ही अपने नारायण का रूप समझ कर दोनों से ही प्यार करो और सुख-दुःख में एक से रहो। न तो दुख में रोवो और न सुख में हँसो। नारायण तुम्हें जैसे भी नचायें नाचो, नारायण जैसे भी प्रसन्न हों वही करो। यदि नारायण तुम्हें पुत्र दे तो प्रसन्न रहो और यदि नारायण पुत्र लेले, पुत्र मरजाय तो भी प्रसन्न रहो समझो नारायण ने पुत्र दिया था जब नारायण ने मांगा दे दिया हमें सुख-दुख कैसा?

जीवन यापन की कला

(श्री चन्द्रप्रकाश अग्रवाल यम. काम. यल. यल. वी. 'विशारद')

आधुनिक प्रगतिशील युग में भी यह बड़े आश्चर्य एवं खेद की बात है कि अब भी मानव को जीवन निर्वाह की कला को सीखना है। अधिकांश स्त्री-पुरुषों को अपना जीवन कलात्मक एवं आकर्षक ढंग से व्यतीत करने का ज्ञान नहीं। हमसे तो पशु भी अच्छे हैं जो निर्बुद्धि होते हुये भी अपनी परिसीमाओं में प्रभावपूर्ण ढंग से अपना जीवन बिताते हैं। आधुनिक युग के अनेक नर नारी जीवन यापन की कला न जानने के कारण अन्तर्निहित अनेक गुणों का प्रदर्शन करने से वंचित रह जाते हैं और होता यह है कि वे भी अन्त में पशुओं की भाँति अपने जीवन की इतिश्री कर जाते हैं।

मानव जब शैशवावस्था में होता है तो बोलने चालने की कला को सीखने का प्रयत्न करता है और ज्यों ज्यों वह असमर्थता का अनुभव करता है त्यों-त्यों वह अधिक प्रयत्न करता है उस असमर्थता को दूर करने के प्रोत्साहन उसे अन्दर और बाहर दोनों से ही प्राप्त होते हैं। भीतर से एक प्रबल इच्छा होती है अपनी विवशता को हटाने की और बाहरी असमर्थता देखने पर यह प्रबल इच्छा और अधिक प्राबल्य प्राप्त करती है। ज्यों ज्यों वह प्रयत्न करता है अपनी असमर्थता को दूर करने का त्यों-त्यों वह सफल होता जाता है अपने प्रयास में। अभंग अभीप्सा और भागवती प्रसाद रूपा शक्ति के प्रभाव के कारण यह तो हुई प्रारम्भिक अवस्था की बात। किन्तु हमें चाहिये कि हम इस प्रारम्भिक अवस्था को पार कर जीवन को कलात्मक ढंग से व्यतीत करने की तैयारी करें। हमें केवल अपने स्नायुओं को पुष्ट बनाने की ही योग्यता सम्पादन नहीं करनी है प्रत्युत जीवन में रोचकता एवं आकर्षण कैसे लाया जाय यह भी सीखना है। इसके लिये हमें अपने मस्तिष्क का विकास एवं आत्मिक शक्ति का संवर्द्धन करना होगा, अपने सतत एवं अटूट प्रयत्न के द्वारा। हमें स्वयं को पहचानना होगा और होगा जागरुकता की ओर अग्रसर होना तथा अपनी मानसिक शक्तियों को बढ़ाना, तभी हम समझ सकेंगे जीवन की कला को।

धन-धान्य से सम्पन्नता प्राप्त करना ही जीवन नहीं है। अपनी इन्द्रियों के तुष्टीकरण में ही जीवन के ध्येय का अन्त नहीं हो जाता। जीवन कहते हैं सृजनात्मक विचारों को, निर्माणात्मक प्रकृतियों को और सुन्दर सत्य एवं कल्याणकारी अनुभूतियों को। यह सब तभी हो सकता है जब हम उसके लिये प्रयत्न करें न कि कामना या प्रतीक्षा मात्र से। जीवन को कलात्मक बनाने के लिये सर्वप्रथम जो आवश्यक है वह है विचार की योग्यता सम्पादन करना क्योंकि यदि हमारे विचार ठीक दिशा की ओर निर्देशित न हुये तो यह बड़े अनर्थकारी सिद्ध हो सकते हैं। विचारों में महान बल निहित होता है इसलिये जीवन को कलात्मक बनाने के हेतु अपने-अपने विचारों का यथोचित दिशा की ओर संचालन करना तथा उन संचालित विचारों को पुष्ट करने का उपक्रम करना ही हमारा प्रयत्न होना चाहिये।

मुझे उन लोगों पर तरस आता है जो शारीरिक आवश्यकताओं की अधिकाधिक पूर्ति करना ही जीवन का ध्येय समझते हैं, जिनका प्रत्येक कार्य इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये होता है कि किसी

उपाय से अधिक से अधिक भौतिक सम्पत्ति एकत्रित होजावे और अधिक से अधिक पदार्थों का स्वामित्व प्राप्त हो जाय। वास्तव में वह जीवन की संकीर्णता है। सचमुच ऐसा प्रयत्न जीवन को एक परिधि में बाँधने का उपक्रम है। अपने-अपने शरीर मात्र का उद्धार करना ही जीवन नहीं है। जीवन का नाम केवल रोटी कपड़ा ही नहीं है, जीवन कहते हैं आत्मोद्धार के प्रयत्न को और कहते हैं मस्तिष्क के विकास पथ पर अग्रसर होने को। जीवन कहते हैं संकीर्णता की परिधि से निकलकर अनन्त सर्वशक्तिमान, अखण्ड-ज्योति तथा सत्य की ओर बढ़ने की तैयारी को। जब तक मानव ऐसी तैयारी नहीं करता उसकी उन्नति उपहासास्पद है, मखौलमात्र है।

सांसारिक एवं शारीरिक दक्षता-क्षमता का सम्पादन अवश्य करना चाहिये किन्तु किसी भी मानव को अपनी आत्मा, अपने मस्तिष्क की अवहेलना नहीं करनी चाहिये यदि वह चाहता है कि उसका जीवन पशुओं का सा न हो, यदि वह चाहता है कि वह देवतुल्य बने और यदि वह चाहता है कि उसका जीवन एक आदर्श जीवन हो जिसमें सच्ची कला की स्पष्ट झलक प्रतीत हो रही हो, जिसमें दैवी आकर्षण प्रकाशित हो रहा हो, जिसमें स्वाभाविकता हो और जिसमें केवल स्थूल चक्षुओं को चकाचौंध कर देने वाला कृत्रिम प्रकाश ही न हो, प्रत्युत जिसमें विद्यमान हो शुभ्र एवं शीतल आलोक और जिसमें आत्मा की पवित्रता, निर्मलता एवं शुद्धता का स्पष्ट आभास मिल सके। यदि हमने अपनी आत्मा और मस्तिष्क की अवहेलना कर दी, हो तो सकता है यह अवहेलना हमारे लिये विध्वंसक शक्ति सिद्ध हो। इस अवहेलना को दूर करने के लिये आवश्यकता है सद्शिक्षा की चाहे वह भीतर से आये या ऊपर से उतरे। आधुनिक शिक्षा आत्मचिन्तन की आवश्यकता पर जोर नहीं देती। वह हमको यह नहीं सिखलाती कि बिना आत्मचिन्तन के हम अपना व्यवहारिक जीवन आदर्श नहीं बना सकते, बिना आत्मिक मनन के हम अपना जीवन प्रभावपूर्ण नहीं रख सकते, और न हम अपने जीवन को कलात्मक एवं आकर्षक ही बना सकते हैं यदि हमने परमावश्यक तत्त्व आत्मचिन्तन का अभ्यास नहीं किया है।

दो प्रकार का जीवन होता है प्रत्येक मानव का—आन्तरिक और बाह्य। हो सकता है हमने जो शारीरिक और सांसारिक क्षमता उत्पन्न की है वह सामाजिक महत्व प्राप्त करने, अपने जीविकोपार्जन, धन-धान्य आदि प्रचुरमात्रा में संग्रहीत करने, इन्द्रिय तुष्टीकरण तथा बाह्यजीवन की अन्य बातों के लिये लाभकारी सिद्ध हो परन्तु बिना आत्मशक्ति सम्पादन के आन्तरिक जीवन का चक्र व्यवस्थित नहीं चल सकता। बिना आत्मचिन्तन के आन्तरिक जीवन चक्र सुचारुरूपेण चलाया नहीं जा सकता। बिना आत्मिक विकास के हमारे आन्तरिक जीवन में परमेश्वर के तीन गुण—सत्य, कल्याण तथा आनन्द का आविर्भाव नहीं हो सकता।

आत्मचिन्तन के लिये आवश्यक है अपनी भावनाओं पर नियन्त्रण रखना। अपनी भावुकता को संयत रखना ही तो अपने विचारों को यथोचित दिशा की ओर संचालित करने की कला है। भावनाओं पर नियन्त्रण के अर्थ उनका दमन नहीं प्रत्युत हमारे अन्दर भावनाओं को उत्पन्न करने की जो शक्ति है, उसे सृजनात्मक भावनाओं की उत्पत्ति में लगाना, इसका उपयोग करना भावना प्रवाह को यथोचित दिशा की ओर मोड़ने में है। भावनाओं पर नियन्त्रण के अर्थ हैं भावुक स्थिरता को प्राप्त करना।

तीसरी बात—जो आवश्यक है आत्मिक विकास के लिये वह यह है कि अपने शक्तिशाली मस्तिष्क का उचित उपयोग करना सीखना। केवल जो पढ़ा-पढ़ाया जाता है उसे रट लेना मस्तिष्क उचित

उपयोग नहीं है। यह तो मस्तिष्क का यंत्रवत् प्रयोग है। मस्तिष्क का वास्तविक और उचित उपयोग तो तब कहा जा सकता है जब उसका परिणाम प्राकृतिक एवं स्वाभाविक सृष्टि हो। जब हम अपनी मानसिक सृष्टि में मौलिकता देखें तभी हम समझ सकते हैं कि हमने अपने मस्तिष्क की शक्तियों उचित उपयोग किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तीन बातें हैं, जो आत्मिक बल वर्धन के लिये आवश्यक हैं—विचार करने की निपुणता, भावनाओं पर नियन्त्रण और अपने शक्तिशाली मस्तिष्क का उचित प्रयोग।

जहाँ तक विचार करने की निपुणता प्राप्त करने का सम्बन्ध है, यह अपनी समस्याओं पर ठीक प्रकार निर्णय करने के लिये अत्यन्त आवश्यक है। हमें चाहिये कि हम जो कार्य करें वह हमारे उचित निर्णयानुरूप ही हो। विचार करने के अर्थ यह नहीं कि हम अपने विचारों को स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण करने को छोड़ दें बल्कि तर्कयुक्त विचार ही विचार का अर्थ है। विचार करने के यह अर्थ नहीं कि हम कठिनाइयों, विपत्तियों और दुःखों में अपने विचारों को घुमाते फिरें वरन् यह कि उनपर विजय प्राप्त करने के उपाय ढूँढ़ निकालें। निरुद्देश्य चिन्ता करने से हम अपनी समस्याओं का निराकरण नहीं कर सकते प्रत्युत गम्भीरता पूर्वक गणितज्ञ की भाँति विचार करने पर ही हम समाधान पा सकते हैं।

यदि हमारी भावनाओं पर कोई अंकुश नहीं रखा गया है तो किसी वस्तु को हम कुछ का कुछ समझ सकते हैं। यदि भावनाओं पर कोई नियन्त्रण नहीं है तो हम अविवेकी रहेंगे। विवेकहीनता से व्यक्ति अमृत को विष और विष को अमृत समझ बैठता है और अन्ततः त्रुटिपूर्ण निर्णय पर आचरण करता है, जिसका परिणाम होता है असफलता और दुःख। वियोगी हरि—अपने "भावना" नामक गद्य-काव्य में अविवेक नामक पाठ में लिखते हैं—"मेरी विवेकहीनता तो देखो! नीर को क्षीर मानता हूँ और क्षीर को नीर। अनल-धारा को जलधारा जानता हूँ और जलधारा को अनलधारा।" अविवेकी व्यक्ति विपरीत बुद्धि होजाने के कारण दृश्य को स्पृश्य और स्पृश्य को दृश्य, उपास्य को भोग्य और भोग्य को उपास्य, कामना को साधना और साधना को कामना, वासना को उपासना और उपासना को वासना समझ बैठता है।

तीसरी आवश्यक बात है आत्मिक बल अभिवृद्धि के लिये मानसिक शक्ति का उचित प्रयोग। हमारा मस्तिष्क समस्त शक्तियों का भण्डार है। हम अपने विचारों के पुतले हैं। इसलिये यदि हमने निराशामूलक तथा हीन भावों को अपने मन में स्थान दिया तो तदनुरूप ही हमारे संस्कार बनेंगे और हम वैसे ही बनते जावेंगे। हम अवश्य विजयी होंगे हम जरूर सफलता प्राप्त करेंगे। यदि हमारे मन में आशाजनक उत्साह संवर्द्धक, उच्च सफलता प्रेरक भावों को स्थान प्राप्त हुआ है और चित्त पर तदनुरूप संस्कार पड़े हैं। इसलिये यह कभी नहीं सोचना चाहिये कि हम यह कार्य सम्पन्न नहीं कर पायेंगे, यदि वास्तव में हम चाहते हैं कि वह पूरा हो। निराशा से उत्साह ठंडा पड़ जाता है। जब तक हमारे उत्साह में यथोचित उष्णता नहीं तब तक हम कहाँ से पायेंगे कार्य को सम्पन्न करने के लिये शक्ति। उष्णता ही तो शक्ति है। सदैव साधक को सोचना चाहिये "हम सम्पन्नता के निकट हैं, हम अवश्य अपने इष्ट में सफल होंगे, हम अपने कार्य को जरूर पूर्ण कर सकेंगे" तभी तो हमारे चित्त में शक्तिशाली संस्कारों का प्रादुर्भाव हो सकेगा।

जीवन-यापन की कला और सफलता प्राप्त करने का सच्चा एवं आध्यात्मिक रहस्य यही है।

देश की समस्या

(लेखक—पं० आदित्यनारायण मिश्र बी०यस०सी०एजी०)

भारत के किसी नगर में प्रवेश करने पर आज यदि कोई भव्य भवन दृष्टिगोचर होता है तो पता चलता है कि यह वर्त्तमान नवयुवकों का मन्दिर है। इस देवालय के पुजारी धूप में, वर्षा में, उजाले में, अन्धकार में प्रायः अति कष्ट उठाकर, एक दूसरे को कुचलते लड़ते हुये, समुचित मूल्य देकर इसका प्रवेशपत्र पाते हैं, और अपना अमूल्य समय नष्ट कर प्रायः आन्तरिक काल्पनिक संसार की रचना करते करते अपने निवास स्थान को लौट जाते हैं। अधिक दिन नहीं बीते प्रायः धनी वर्ग अपना धन देवालयों, मन्दिरों, धर्मशालाओं, तथा विद्यालयों की स्थापना में व्यय करते थे, जिनके द्वारा भारतीय संस्कृति की उन्नति तथा जनता का कल्याण होता था किन्तु धनी व आदरणीय समझे जाने वाले महानुभावों ने अपने धन का सदुपयोग सिनेमा भवनों के निर्माण तथा चित्रपट की उन्नति में भी समझ लिया है। समझें क्यों न इससे उनकी पूंजी में उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ-साथ मूर्तिमान मनोरंजन भी तो प्राप्त होता है। धर्म, विद्यापीठ, तथा सांस्कृतीय विषय पिछली शताब्दियों की बातें हैं, यदि ये आवश्यक हैं भी तो जब जनता को आज रास रंग प्रिय है और इसी में वह अपना दुख भुला कर मनोरंजन करना चाहती है तो हम तो उसकी, अपने धन द्वारा इच्छा-पूर्ति कर परोपकार ही तो करते हैं। आज का नवयुवक नर्गिस, मधुबाला, निम्मी इत्यादि की एक एक कला पर अपना सर्वस्व न्योछावर कर देना चाहता है। सिनेमा भवनों में उत्तरोत्तर बढ़ती हुई दर्शकों की संख्या इसी बात का मानो उदाहरण सा उपस्थित करती है। अतः धनोपार्जन का इससे सुन्दर और क्या साधन हो सकता है धनी वर्ग ऐसा तर्क करते हैं। इस तर्क का भारतीय जनता पर क्या प्रभाव पड़ रहा है उसका फल स्पष्ट रूप से सन्मुख है। पाठशाला से लेकर यूनीवर्सिटी तक के बालक-बालिकाओं के चरित्र का पतन, विलासिता, अशिष्टता, तथा अन्य अवगुण जो एक असभ्य नागरिक में हो सकते हैं उनका बहुमुखी प्रचार सिनेमा द्वारा होने ही लगा है।

इस समस्या को हल करने के लिये बड़े बड़े विशेषज्ञ कभी तो अध्यापकों की त्रुटियों की छानबीन करते हैं; कभी शिक्षा प्रणाली उन्हें अपूर्ण लगती है; कभी इन विद्यार्थियों को राजनीतिक पार्टियों का शिकार समझा जाता है और कभी इन पर भी देश में बढ़ने वाली असंयमता का प्रभाव समझकर संतोष कर लिया जाता है। किन्तु वास्तव में "मर्ज बढ़ता ही गया ज्यों ज्यों दवा की।"

हमारा देश अब स्वतन्त्र हो चुका है किन्तु खेद है कि हमारे स्वतंत्र देश के विधान में भारत की सांस्कृतिक उन्नति के सभी द्वार बन्द कर दिए गये हैं। सेकुलर देश में क्या होना चाहिये इसके लिए हमारे राष्ट्रीय कर्णधार भिन्न-भिन्न स्वप्न देखते हैं। यों तो योरोप और अमेरिका में आज भी धर्म की महत्ता विद्यमान है किन्तु भारत में कदाचित अनेक धर्म होने के कारण धर्म का बहिष्कार सेकुलर द्वारा करा दिया गया है किन्तु बिना धर्म के सच्चरित्रता सुलभ नहीं होसकती, धर्म परायण हुये बिना सद्व्यवहार हीन मनुष्य और पशु में कोई अन्तर नहीं रह जाता।

धर्म विहीन किसी राष्ट्र ने कभी उन्नति नहीं की और अन्त में उसे पथभ्रष्ट होकर अवनति की ओर अग्रसर होना पड़ा। अतः भारत ऐसे धर्मप्रधान देश के लिये धार्मिक बन्धन तो सामाजिक उत्थान

के लिये परमावश्यक था। इसके गूढ़ तत्व को समझ कर ही भारत राष्ट्र निर्माता श्री बापू जी ने स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिये धर्म को अपने जीवन का मुख्य अंग बना लिया था। हमारी विधान निर्मात्री परिषद् ने भारतीय विद्यालयों से धार्मिक शिक्षा को अवैधानिक कर देश के प्रति महान भूल की है। इसका प्रमाण पूज्य महात्मा गान्धी हैं जो स्वयम् देश को "सत्यंवद, धर्मंचर" का सदुपदेश देते थे और विद्यालयों में धार्मिक शिक्षा का होना अनिवार्य समझते थे। क्योंकि वे जानते थे कि जीवन की परमोन्नति साइंस की उच्चतम उन्नति में नहीं वरन् आध्यात्मिक उन्नति में है और उसी से सच्चा सुख और शान्ति की प्राप्ति हो सकती है।

शानदार था भूत भविष्यत् भी महान है।
अगर सम्हालें उसे आप जो वर्त्तमान है॥

उपरोक्त पक्तियाँ आज भी प्रत्येक भारतीय का पथ-प्रदर्शन करती हैं। देश में आज जितनी चरित्र के निर्माण की आवश्यकता है सम्भवतः उतनी और इस रूप में कभी न हुई होगी। राष्ट्र के कर्णधारों से लेकर एक साधारण नागरिक में बढ़ती हुई अनुशासन-हीनता, तथा पथ-भ्रष्ट नवयुवकों की उद्दण्डता की ओर से निराशा प्रति दिन बढ़ती जा रही है। कदाचित देश की इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही "परमार्थ" मासिक पत्र ने "चरित्र-निर्माणांक" नामक विशेषांक प्रकाशन की योजना की। आज जो स्थान चरित्र-निर्माण के थे वे किंवा लुप्तप्राय हो गये हैं अथवा उन स्थ नों में चरित्र-निर्माण के साधनों का समावेश करना असभ्यता समझी जाती है। तक्षशिला तथा नालन्दा के विद्यापीठ अब केवल गाथा मात्र रह गये हैं किन्तु अब से कुछ वर्षों पूर्व गुरु-शिष्य का भाव भारत के प्रत्येक पाठशालाओं में मिलता था। जो सम्बन्ध शिक्षक और छात्र में आज दृष्टिगोचर होता है उसकी कोई कल्पना भी न करता था। हमारे विद्यालय विद्यामन्दिर थे, शिक्षक हमारे पूज्य गुरु और विद्यार्थी सरस्वती देवी के उपासक थे।

आज देश में विद्यामन्दिरों से सिनेमा मन्दिरों का स्थान अति महत्वपूर्ण है। चरित्र-निर्माण की शिक्षा के स्थान पर चरित्र-पतन के साधन देश में सर्वत्र प्रसारित कर दिये गये हैं। विश्व-प्रेम देश प्रेम, ईशप्रेम के स्थान पर सिनेमा-स्टार प्रेम, लड़की प्रेम, के साधन अहर्निश कानों में ध्वनित तथा दृष्टिगोचर होते रहते हैं। घर में रहने पर भी रेडियो द्वारा सद्भावना भरने वाली बातों से अधिक वहां गाने गाए जाते हैं जिनसे बालकों के चरित्र के पतन का श्री गणेश होता है।

विद्यालयों में सिनेमा की पद-व्याख्या, बाजारों में सिनेमा, देवियों के चित्र पहिनने के कपड़ों पर उनका आडम्बर, सड़कों, स्टालों तथा स्टेशनों व रेलगाड़ियों में भी उनके मनमोहक दृश्य आजकल के नवयुवकों को किसी अन्य विषय की ओर सोचने तथा विचार करने का अवसर ही नहीं प्राप्त होने देते जिसका फल यह होता है कि आये दिन नयी नयी समस्यायें उपस्थित होती जा रही हैं। जो व्यवहार उत्सवों में लड़कों का लड़कियों के प्रति देखने में आता है उसका उत्तरदायित्व नवयुवकों पर नहीं, वरन् पूँजीपतियों तथा देश के कर्णधारों पर है।

एक ओर नवयुवकों में अनियमित जीवन की वृद्धि जिसका कारण विद्यालयों से धर्म जो, धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, विद्या, सत्य, अक्रोध में सन्निहित है उसकी शिक्षा का अभाव और दूसरी ओर अभिनेत्री-प्रेम के सागर में भारत की भावी आशाओं को डुबा देना ही नवयुवकों के चरित्र पतन का मुख्य कारण है। अतः यदि आज नवयुवकों को देश के आदर्श नागरिक बनाना है तो भारत को सुदृढ़ राष्ट्र बनाने के स्वप्न देखने वालों को शीघ्रातिशीघ्र विद्यालयों में धार्मिक शिक्षा अनिवार्य करनी होगी। सिनेमा के विनाशकारी

प्रचार को रोकना होगा। रेडियो द्वारा दुर्गुणों का त्याग तथा सद्गुण ग्रहण करने के अनेकों सरल उपाय साधारण जनता तक पहुँचाने होंगे। विद्यालयों में नियमित तथा त्यागमय जीवन की शिक्षा की आयोजना करनी होगी और भविष्य में केवल वे बालक ही सफल समझे जा सकेंगे जो धर्म के १० लक्षणों में कम से कम पाँच लक्षणों में क्रियात्मक रूप से उत्तीर्ण हों।

नवयुवक देश की एक संचित निधि हैं, उनकी शक्ति का सदुपयोग करने का उत्तरदायित्व राज्य पर है। इस महत्शक्ति का दुरुपयोग राष्ट्र के पतन का मुख्य कारण बन जाता है, इससे प्रत्येक भारतवासी को इस वर्त्तमान संकट के बचाने के प्रयत्न में संलग्न हो जाना चाहिये। हमारी उदासीनता से देश का अहित होने का सम्भावना है इससे हमें अपने सेकुलर राष्ट्र में भी प्रत्येक नागरिक को कतिपय धार्मिक नियमों पर आचरण करने के लिये बाध्य करना होगा तभी भारत का कल्याण हो सकता है।

बारह मासी

(प्रेषक—श्री संगमलाल अग्रवाल)

चैत चिरजीवै न कोई जीव जम को ग्रास है।
चेत निश्चै मूढ़ अंधे शून्य सों जगवास है॥
विषय तृष्णा लोभ वश मोह माया जाल है।
तात माता भ्रात बनिता झूठ सब परिवार है॥
जठर में जिन प्राण राखे सो विसारत बावरे।
देखि मृगतृष्णा जो भूल्यो वृथा धोखा खावरे॥
राम भजि ले पाय नर तन बन्यो आछो दाँवरे।
ऐसो अवसर छोड़ के फिर मूढ़ गोता खावरे॥
भजन करि भगवान को मन आइगो वैसाख रे।
घटत छिन-छिन अवधि तेरी जायगो मिल खाकरे॥
काल कठिन कराल सिर पर कर अचानक घात रे।
नाम बिनु जम दंड खैहो कोउ न देहै साथ रे॥
सौसदश दुर्योधनादिक गये सब मिलि धूरि रे।
हरि विमुख विश्राम नाहीं समुझि पूरे मूर्ख रे।
बरस बारह फल कुसुम रंग से ही यह संसार रे।
सार केवल नाम हरि को ताहि मत बिसराव रे॥
जेठ जग में धूप बाढ़ी तेज तामस घाम रे।
तपत है भयताप सो तन मूढ़ बिनु हरि नाम रे॥
लपट त्रासन अधिक जग में चहुँ दिसा छहराय रे।
चलत है निस दिवस तन में जरत है जिय गात रे।
संतोष दाया क्षमा जग में शील शीतल छाँह रे।
साधु संगति भक्ति कर ले और नाहिं उपाव रे॥
कोटि-कोटि उपाय कर मन जीव नर तन जाय रे।
पियो अमृत नाम हरि को तुरत तपन बुझाव रे॥
लग्यो अगम असाढ़ आगम गृह संभारन में परे।
नाम सीता राम को जपु नाहि निश्चल देह रे।
महल कंचन के बने बहु भाँति शोभा होत रे।
जड़ित तन-गन-मन झरोखा दीपमणि के जोत रे॥
ऐसे ही चलि जात सबही जात नहिं कोई साथ रे।
भजन बिनु तू नाहिं सोहै जैसे मरघट घाट रे॥
लगा धंधे धाम के तू करत है क्या काम रे।
वृथा जीवन जात जग में तू लेत नाहीं हरि नाम रे॥
संसार सागर बढ्यो सावन अथा अगम अपार रे।
नाव जीरन बोझ भारी नाहिं पारावार रे॥
जात बूड़ो मूढ़ अंधे तू जो मँझधार रे।
बैठि नाम जहाज हरि के उतर कर ले पार रे॥
करम कीच बड़ी जो जँह तहँ मिलन मन चित देह रे।
अमल नीर विवेक सों वर विमल तन कर ले परे॥
जन्म-जन्म अनेक के अघ कोटि दारुन के भरे।
अग्नि कनिका नाम हरि को पुंज मूलन के जरे॥

मास भादों अति भयानक गहगहे नभः जात रे।
तन गगन में श्वासा नगारे कूंच के जो बजत हैं॥
दुरत प्रगटत थिर रहत नहिं चित्त चंचल दामिनी।
दंभ जुगनू बढ़ी जग अब रात कारी जामिनी॥
करौ हृदय आय के हरि नाम धाम प्रकाश रे।
दंभ जुगनू निस अवध्या हरै तुरतहि नाम रे॥
जगत आशा काम कल तजि करौ हरि सों हेत रे।
भेंट के अघ ओघ जन के आपनो करि लेत रे।
क्वाँर कुल को भीर भारी रूप शोभाधाम रे।
देखि के निज भूल कोऊ नाहिं आवत काम रे॥
बसत पत्ती वृत्त पर निस आय के बहु भाँति रे।
प्रात ही दिस पाय अपनी तुरत ही उड़ि जात रे॥
पंथ में पत्ती अनेकन जुरे सरिता घाट रे।
नाव चढ़ि भये पार परले गये निज-निज बाट रे॥
ऐसे ही चलि जात सब जग जात नहिं कोउ साथ रे।
करु नेह प्रभु सेई जगत में अब सिखावन मान रे॥
मास कार्तिक बालकन संग खेल बालापन गयो।
जोर जोबन जुड़ा तन में नाम हरि को ना लयो॥
जरा तन भई छीन काया थके हैं पग नैन रे।
लुटी प्रीति नहिं लगत नीकी चन्द्रवदनी बैन रे॥
बीते यों पन तीन हूँ कफ आइहैं पित बात रे।
काल सिर पर निकट आयो मूढ़ मन पछतात रे॥
अति ही गज रथ माल मुक्ता चले नहिं कछु साथ रे।
राम विमुख गँवाय के सब चलत शठ धुनि,माथ रे॥
मास अगहन रटत घड़ियाँ चलै चित दै राखिये।
करै जैसी आप करनी तैसो ही फल चाखिये॥
आन स्वारथ पुन्य सोई आन पीड़ा पाप है।
देखि के परदोष रज से कहत गिरि से सोय हैं॥
देखि अपने मेरु से हैं तिन्हें राखत गोय हैं।
आय जग में बदी को तज नाहिं कछु संवाद रे।
द्रोह पर परदार निंदा छाँड़ मिथ्यावाद रे।
पूस कीट पतंग तोते कियो तरुवर पच्छ रे।
कियो जल के जीव होते कियो मगरा मच्छ रे॥
भ्रमत अटकत दिवस निस तन सहत हैं बहु दुःख रे।
हरि विमुख शठ जीव कतहूँ नाहिं पावत सुक्ख रे॥
जात सोवत फिरत इत उत अवध छिन छिन घटत है।
फिरत भटकत जगत में हिरदैं सजीवन मूल है॥
हरिनाम को जाना नहीं सब जानवे में धूल है।
माघ कुलगुरु शील शोभा बन्यो रूप सरूप है।
भक्ति बिन भगवन्त की नर नीर बिन ज्यों कूप है।
पतित पावन नाम हरि को ताहि हिरदै राखि रे।
नाम दीन्हें गति खलन को वेद जानत साखि रे॥
व्याध सदना स्वपच गनिका भीलनी जपि नाम को।
बिना जप तप जोग साधे गयो है निज धाम को॥
होय कोऊ क्यों न राजा ऊंच नीच न जात है।
बानि है रघुनाथ की निज दास ही सो नात है॥
मास फागुन धन रतन रथ देय कंचन दान रे।
अश्व गज गो भूमि सज्जा नाहिं नाम समान रे॥
भ्रमत तीरथ दिसि सकल दृढ़ कर जोग साधन सोय रे।
जगत जप तप धर्म व्रत हरि नाम सम नहिं होय रे॥
सिर जटा नख मौन धारत गेह तजि बनवास रे।
वेद सहित पुरान पढ़ि नहिं जात बासन आस रे॥
तज्यो चाहो जीव जो तुम त्याग आन उपाय रे।
विश्वास करि करि दास तुलसी प्रेम हरि गुण गाव रे॥

नोटः—इस बारहमासी के रचयिता कविकुल चूड़ामणि पूज्यपाद गोस्वामी तुलसीदास जी हैं। उन्होंने भक्तों के हितार्थ, इसमें अपने मन को, १२ महीनों का रूपक देकर १२ प्रकार से शिक्षा दी है। प्रेषक के स्वर्गीय पिता, परम भागवत स्वर्गीय श्री अनन्तराम जी अग्रवाल की डायरी से प्राप्त हुई यह कविता, आशा है भक्तों को सुखकर होगी।

—सम्पादक

आचारे शुचिता

(श्री वेदव्रत शर्मा)

धर्मे तत्परतामुखे मधुरता दाने समुत्साहिता ।
मित्रेऽवञ्चकता गुरौ विनयिता, चित्तेऽतिगंभीरता ॥
आचारे शुचिता गुणे रसिकता,शास्त्रेऽति विज्ञानिता
रूपे सुन्दरता हरौ भजनिता सत्स्वेव संदृश्यते ॥

उपरि निर्दिष्ट श्लोक में "आचार शुचिः" सज्जन में निर्देशित है। और जब तक जन साधारण सज्जन रहा वह आचरवान् बना रहा। परन्तु आज देश के प्रत्येक भाग में से आचार विचार की शुचिता लुप्त होती सी दिखाई देरही है, इसका यह भी अर्थ है कि देश में असज्जन समुदाय आज बढ़ता जा रहा है। क्योंकि जब तक किसी देश में निवास करने वाले वाह्य शुचिता का ध्यान नहीं रखेंगे तब तक उन्हें अन्तः शुचिता का भान भी असम्भव सा प्रतीत होता रहेगा।

हमारे अमित ज्ञान भण्डार वेद ने भी चरित्र शुद्धि को आवश्यक मान कर स्थान स्थान पर उसके लिये प्रवचन दिये हैं। यथा—

"परिमाग्ने दुश्चरिताद्बाधस्वा मा सुचरिते भज"

यजु० ४ अ० २८ मं।

"पायुं ते शुन्धामि चरित्रांस्ते शुन्धामि"

यजु० ४अ० १४ मंत्र।

"प्रतिष्ठायै चरित्राय अग्निष्टाभि पातु"

यजु० १३ अ० १६ मं।

"प्रतिष्ठायै चरित्राय"

यजु० १५ अ० ६४ मंत्र

इसी प्रकार—

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रन्तु वैस्मृतिः।

हमारे धर्मशास्त्र स्मृतियाँ भी, सदाचार, आचार विचार की शुचिता लिये वेद प्रतिपादितमार्ग का ही अनुसरण करती दिखाई दे रहीं हैं।

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः, स्वस्य च प्रियमात्मनः।
सम्यक् संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम् ॥

याज्ञ १ अ०। ७ श्लोक०

आचारः परमो धर्मः सर्वेषामिति निश्चयः।
हीनाचार परीतात्मा प्रेत्य चेह विनश्यति ॥

वसि० ६ अ०। १ श्लो०

इतना ही नहीं—

नैनं तपांसि न ब्रह्म नाग्निहोत्रं न दक्षिणाः।
हीनाचारमितो भ्रष्टं तारयन्ति कथंचन ॥

भगवान् मनु ने भी—

आचारश्चैव साधूनाम्।

मनुः २ अ०। ६ श्लो०

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥

मनुः२ अ०। १२ श्लो०

तस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्य्य क्रमागतः।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥
सत्यधर्मार्य वृत्तेषु शौचे चैवारमेत् सदा।

मनु० ४ अ० । ११५ श्लो०

इस प्रकार भगवान् मनु ने तो अकाल मृत्यु का कारण भी आचार अशुचिता को ही बताया है।

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात् ।
... ... मृत्युर्विप्रांजिघांसति ॥

मनु० ५ अ० । ४ श्लो०

दक्ष स्मृति भी शुचिता पर अधिक बल दे रही है । यथा—

शौचे यत्नः सदाकार्यः शौचमूलो द्विजः स्मृतः ।
शौचाचार विहीनस्य समस्ताः निष्फलाः क्रियाः ॥

दक्ष० ५ अ० । २ श्लो०

इस प्रकार प्राचीन वाङ्मय साहित्य में आचार शुचिता पर पर्याप्त बल दिया गया है ।

सदाचारवान् ही धार्मिक हो सकता है यह भी सर्वथा सत्य है ।

"धर्मैकताना पुरुषाः यदासन् सत्यवादिनः ॥"

जब जनता धर्मपरायण रही उस समय सभी सत्यवादी होते थे । आचार शब्द का अर्थ बड़ा व्यापक है केवल धार्मिक और सांस्कृतिक आचार ही आचार नहीं होता है ।

शौचञ्च द्विविधं प्रोक्तं बाह्याभ्यन्तरन्तथा ।
मृञ्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धिस्तथान्तरम् ॥

इस दो प्रकार की शुचिता में जब आज—

मृदा जलेन शुद्धिः स्यान्नक्लेशो न धनव्ययः ।
यस्य शौचेऽपि शैथिल्यं चित्तं तस्य परीक्षितम् ।

वाली अवस्था उपस्थित हो गई है तब भाव-शुद्धिः की ओर ध्यान जाना तो बड़ा दुष्कर कार्य है । एसीलिये तो आज राम कृष्ण की जन्मभूमि, गौतम कणाद की क्रीड़ा भूमि यह जगद्गुरु भारत, अन्तः कलह-क्लेश को भोग रहा है ।

जब तक अन्तरात्मा की शुचिता नहीं होगी उस समय तक इस पुण्य प्रसविनी शस्य श्यामला भूमि पर "साक्षराः विपरीताश्चेत् राक्षसाः इत्युदाहृताः" रहेंगे तब तक गुणी ज्ञानीजनों का शमन, दमन से किया जाता रहेगा ।

श्री राजगोपालाचार्य ने गवर्नर जनरल के पद से बनारस में एक भाषण दिया था और उसमें उन्होंने धार्मिक शिक्षा देने पर बल दिया था ।

इसी प्रकार मौ० अबुल कलाम आजाद ने भी पार्लियामेन्ट में धार्मिक शिक्षा देने के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये थे ।

आज का बढ़ता हुआ उच्छृङ्खल वाद भी हमें पद पद पर चेतावनी दे रहा है कि जब तक धार्मिक भावों का शिक्षा में समावेश नहीं किया जायेगा तब तक देश का भविष्य, देश की उन्नति, देश का विकास केवल क़ागजी करामात ही रहेगा ।

मानवता का विकास स्रोत, एवं नैतिक निष्ठा का महान् गढ़ भारत आज भी विश्व का गुरु बन सकता है यदि यहाँ के जन मन में आचार विचार शुचिता का भाव आ जाये । परन्तु यह सब विना धर्म के असम्भव है । आज भी देश का विज्ञ वर्ग सन्त विनोबा, शंकरराव देव, बाबा राघवदास, पुरुषोत्तमदास टण्डन आदि राजनीतिज्ञ देश में मनुष्यता की आधार शिला धर्म को मान कर ही कार्य कर रहे हैं ।

परन्तु—अभी समय लगेगा । जब देश का नैतिक उत्थान होगा तभी इस देश का कल्याण होगा । भ्रष्टाचारपूर्वक धन कमाने वाले, राजनीति में विश्वास का विनाश करने वाले, आचार-विचार परम्परा से हीन, नेता व अधिकारी-वर्ग अपना उदर भर सकता है, परन्तु भारत के पैंतीस कोटि निवासियों को संतुष्ट नहीं रख सकता है और आजके कष्ट का कारण यही है । नेताओं का नैतिक पतन किसी भी देश में स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद

इतनी शीघ्रता से नहीं हुआ जितना कि हमारे देश में हुआ। आज अपने अपने पापाचरण पर पर्दा डालने के लिये "किसी के व्यक्तिगत जीवन की आलोचना मत करो" यह कहा जाता है। इस प्रकार छिपकर किये जाने वाले पापों को सर्व साधारण की दृष्टि में पाप न करने का उपक्रम किया जाता है। और जब तक आचार निपुण व्यक्तियों का बाहुल्य देश में, समाज में नहीं होगा तब तक लोक कल्याण की भावना अजागलस्तन समान निरर्थक ही बनी रहेगी।

इसलिये आचार ही मानव उत्थान का मूल कारण है तभी तो मनु ने—

"आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः" ॥

"वेदोऽखिलोधर्ममूलमाचारस्तु प्रकीर्तितः" ॥

अत्रि ने—

आचारेषु व्यवस्थानं शौचमित्यभिधीयते।
प्रशस्ता चरणं नित्यम् प्रशस्त विवर्जनम्।

पराशर ने—

चतुर्णामपिवर्णानामाचारो धर्म पालनम्।
प्रज्ञातेजो बलं कान्तिः ब्रह्मचर्येण वर्धते॥
आचारवन्तो मनुजाः लभन्ते—
आयुश्च वित्त च सुताश्च सौख्यम्।
धर्म तथा शाश्वतमीशलोक—
मत्रापि विद्वज्जन पूज्यतां च।

अतएव मानव मात्र को सर्व सुख सम्पन्न आचार शुचिता की ओर ध्यान देकर उसका पालन करना चाहिये। तभी व्यक्तिशः कल्याण सम्भव है और देश समाज में जब आचार पालक व्यक्ति होंगे तभी समाज को सुखमय बनाया जा सकता है।

चेतावनी

मन कछु वा दिन की सुधि राख।
जा दिन तेरे तनु-दुकान की, उठि जैहैं सब साख ॥ १ ॥
इन्द्रिय सकल न मानहिं अनुमति, छोड़ चलैं सब साथ।
सुत परिवार नारि नहिं कोऊ, पूछैं दुख की गाथ ॥ २ ॥
बारह लै जमदूत आइ तोहि कोऊ, पकरि बाँधि लै जाय।
कोऊ न बनै सहाय काल तिहि, देखत ही रहि जाय ॥ ३ ॥
जम के कारागार नरक महँ, अतिशय सङ्कट पाय।
बार बार करनी सुमिरन करि, सिर धुनि-धुनि पछिताय ॥ ४ ॥
जो यहि दुखते उबरो चाहै, तो हरि नाम पुकार।
राम नाम ते मिटैं सकल दुख, मिलै परम सुख-सार ॥ ५ ॥

होली ऐसे मनावें

(श्री दाधीच पं० मूलचन्द्र जयनारायण व्यास काकड़ा "लेखालंकार")

मंगलाचरणे प्रार्थना

ओं गणानां त्वा गणपति ँ हवामहे
प्रियाणां त्वा प्रियपति ँ हवामहे
निधीनां त्वा निधिपति ँ हवामहे, वसोमम ।
आह मजा नि गर्भं धमात्व मजासि गर्भधम् ॥
(यजुर्वेद)

अर्थ:—हे गणाधिपते ! हे सकल दुःखविनाशक सर्वानन्दप्रद प्रभो ! आप ही जन समाज के अधिष्ठाता और संरक्षक हैं। आप जनताजनार्दन के परमप्रिय और कल्याणकारी हैं । हे दरिद्र-विनाशक, पतितपावन गणनायक ! आप ही सारे विश्व की सकल सम्पत्ति एवं धन-धान्य के प्रदाता और निधिपति हैं। इस जगत के उत्पादक और पोषक आप ही हैं। आपकी संरक्षिणी शक्ति इस संसार का धारण और पोषण कर रही है। आप ही की अनुकम्पा से अखिल भूमण्डल का जन-समाज धर्म, विद्या, और कर्त्तव्यपरायण होकर अधर्म, अविद्या, और अनाचार का विनाश करने में प्रवृत्त होता है। इसलिये हे देवादि देव गणपते ! आप हम पर मंगलमय कृपा दृष्टि करें और हमें प्राप्त हो। आप से हमारी बारम्बार यही प्रार्थना है।

स्फूर्तिदायक त्यौहार

जीवन की गति संचालन के लिये व मानव-जीवन की यात्रा को सुचारुता से व्यतीत करने वाले जिन स्फूर्तिदायक त्यौहारों की रचना हमारे पूर्वज ऋषि-मुनियों द्वारा की गई हैं, उनमें से हिन्दुओं के लिये होली का विशेप-स्थान माना गया है।

अतीत की परम पुण्यमय स्मृति आज भी आकर हमें याद दिला जाती है, भारत के प्राचीन गौरव का उज्वल चित्र आज भी हमारे नेत्रों के सन्मुख स्वप्न की तरह आ जाता है। पूर्वजों के शुद्ध और शान्तमय जीवन का इतिहास विस्मृत दृश्य की भाँति घूमघूमकर हमारे हृदय पटल पर अंकित हो जाता है और निनादित हो जाता है भारत की वह स्वर्णमय गाथा, जब होली आती है।

होली का उत्सव बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है। होली आर्यों का प्राचीन त्यौहार है। होली का पर्व फाल्गुन शुक्ला अष्टमी से पूर्णमासी तक होलाष्टक नाम से माना जाता है। फाल्गुन मास के शुक्लपक्ष की अन्तिम तिथि को होलिका उत्सव मनाया जाता है।

इसके नाम

इसके होली, होलिका, हुताशनी, वसन्तोत्सव, मदनोत्सव, फाल्गुनोत्सव, कामदहनपर्व, हौलाका, नवशिष्येष्टि, नवान्नेष्टि, नवसस्येष्टि यज्ञ, इत्यादि नाम हैं।

फाल्गुन की व्याख्या

"फाल्गुन" शब्द की सिद्धि इस प्रकार से है। "फल्गुनी" एक नक्षत्र का नाम है। फल्गु (असार) नीयते असौ इति फल्गुनी' इस व्युत्पत्ति के अनुसार उसका अर्थ होता है कि जो असारता से बिताया जाय। वह फल्गुनी नक्षत्र जिस महीने की पूर्णिमा को हो उस महीने को फाल्गुन कहते हैं यथा:—
फल्गुन्या नक्षत्रेण युक्ता पौर्णमासि फाल्गुनी ।
फल्गुनी नक्षत्र फाल्गुन महीने की पूर्णिमा को अवश्य आता है। इसीसे वह फाल्गुन मास कहलाता है। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि शुरू ही से होली फाल्गुन की पूर्णिमा को होती है। इसी से उसकी प्राकृतिक असारता सिद्ध हुई है।

ऋतूनां कुसुमाकरः

भगवान ऋतुओं में वसन्त रूप से हैं, ऐसा श्रीमद्भगवद्गीता कह रही है। वसन्त के उल्लसित प्रांगण में इसका आगमन होता है और लोग इस अवसर पर अनेक तरह के आनन्द मनाते हैं। वसन्त ऋतु में पड़ने से यह वसन्तोत्सव के नाम से प्रसिद्ध है। वसन्त के मधुमास में प्रकृति के समस्त विकारात्मक भावों में एक नवीन उत्साह शक्ति भर जाती है। वृक्ष, लता, वनस्पतियों में पतझड़ के अनन्तर पुनः अभिनव अंकुरित होते हैं। मनोहर पुष्प एवं आम्रमंजरियों पर मधुकरों की गुञ्जार और कोकिलाओं के आलाप अनेक शोक मोहादि से पीड़ित मानव हृदयों में एक नवीन उमंग लाते हैं। इस वसन्त ऋतु के दिनों में प्रकृति नया रूप धारण करती है। नये अन्न से घर भर जाता है। ऐसे समय आनन्द मनाना स्वाभाविक है। सब ऋतुओं में सबसे श्रेष्ठ वसन्त ऋतु तभी तो ऋतुराज नाम से सुशोभित की गयी है। प्रकृति का सौन्दर्य बरबस अपनी ओर खींच लेता है। प्रकृति की सजावट को, प्रकृति के शृंगार को देखकर मानवजीवन में भी एक गति आती है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृतिरूपी नटी ने पीतवर्ण की साड़ी पहनी है जिसमें तरह तरह के फूल रंग-बिरंगी छींट रूप में हैं जो मस्त होकर खुशी से नाच रही है और फूल फड़फड़ कर नीचे आ पड़ते हैं। मानव का जीवन बहुत कुछ प्रकृति पर अवलम्बित है। प्रकृति की प्रसन्नता को देखकर मानव मन में भी हर्ष की भावना आती है। प्रकृति की पीतिमा को देखकर, प्रकृति के पीतपरिधान को देखकर जो नूतनता का प्रथम चरण है, स्त्रियाँ भी अपनी साड़ियाँ पीले रंग में रँगवा-रँगवा कर पहनती हैं। स्त्रियाँ ही नहीं अपितु बच्चे व वृद्ध पुरुष भी पीली-पीली पगड़ियाँ बाँधते हैं। इसमें तो मन-चले पुरुषवर्ग ही सबसे आगे आता है जो पगड़ियाँ बाँधने का आदी है। प्रकृति की खुशी में अपनी खुशी मिलाकर जगह जगह पर मेले रचाये जाते हैं, जहाँ पर पीले वस्त्र ही दिखायी पड़ते हैं। यह भावना विश्व बन्धुत्व व समानता की द्योतक है।

वैदिक काल में हवन होता था

वैदिक काल में किसान फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमा को अपने खेत से आधे कच्चे और आधे पके अन्न को लाकर हवन करते थे जिसका आयोजन ब्राह्मण लोग करवाते थे। अग्निहोत्रारंभ के लिये प्रायः इस दिन का विधान है। इस हवन का नाम "नवसस्येष्टि" या "नवान्नेष्टि" यज्ञ पड़ा है। इस को संस्कृत भाषा में होला कहते हैं। पके अन्न की बालियों को भी संस्कृत में होला ही कहते हैं। फसल कटने पर इस दिन अग्नि में बालियों का हवन होता है। इसलिये इसका होला नाम पड़ गया दिखता है और होलाष्टक इसकी पुष्टि है।

होलाष्टक

होली का पर्व, फाल्गुन शुक्ल अष्टमी से पूर्णमासी तक के आठ दिन होलाष्टक नाम से माना जाता है। इस अवसर में मांगलिक कार्यारंभ करने की मनाही है। होलाष्टक के आरम्भ में कहीं कहीं पर लोग एक पेड़ की शाखा काटकर उसमें भिन्न भिन्न रंग के वस्त्रों के टुकड़े बांध देते हैं और फिर भूमि में गाड़कर उसके नीचे नाचते, गाते, तथा अनेक तरह के आमोद-प्रमोद करते हैं। एक दूसरे पर रंग, अबीर गुलाल डालते हैं।

ईंधन-संचय समयावधि

होली के लिये ईंधन फाल्गुन शुक्ला पंचमी से पूर्णिमा तक इन दस दिनों में एकत्र करना चाहिये।

स्त्रीव्रत का दिन

स्त्री सौभाग्य के लिये फाल्गुनी पूर्णिमा व्रत है। जिस कन्या का सौभाग्यव्रत सुख से निर्विघ्न व्यतीत हुआ है, उसके लिये एक छोटा सा व्रत है।

ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्व काल में यह यज्ञ द्विज-मात्र के घर के द्वार पर होता था और अन्तः प्रदेश से सुखरूप कुमारी तथा नवपरिणीता युवतियाँ अपने हाथ से घृत-आहुति देने आती थीं। वारीकी के साथ अनुसंधान लगाने से मालूम होता है कि उपर्युक्त लक्षण आज भी होली में वर्तमान है। कुमारी कन्या के नूतन-परिणिता होने पर स्त्रीव्रत का दिन आज का ही माना गया है। आज कल फाल्गुनीय पूर्णिमा का यज्ञ नहीं होता है, परन्तु फाल्गुन पूर्णिमा को होली जलाई जाती है, सो समझ में आता है कि यह ऋषि-मुनि प्रणीत परिपाटी नष्ट हो गयी है, तोभी कुछ अंशों में चिन्ह मौजूद हैं। पंडितवर्ग इस ओर ध्यान दें और विशेषता वतलावें।

होली का दहन स्थल, समय, निर्णय और पूजा

फाल्गुन पूर्णिमा के दिन सूर्यास्त के उपरान्त प्रदोष कालमें घरमें, आंगन, प्रांगन, चौराहे आदिमें गोवर से लीपी हुई भूमि पर सूखी लकड़ी, गोबर के कण्डे घास आदि इकट्ठी करके उन्हें विधिवत जला कर उसका पूजन करना चहिये इसके जलाने के लिये चाण्डाल के घर से या सूतिका गृह से बच्चों के द्वारा अग्नि आनी चाहिये ऐसा ज्योतिर्निबन्ध में आदेश है।

चण्डाल सूतिका गेहाच्छिशुहारितावह्निना।
प्राप्तायां पूर्णिमायांतु कुर्यात्तत्काष्ठ दीपनम्॥

होली शूद्रों का त्यौहार

शास्त्रों के बनाने वाले शास्त्रकारों ने जिस प्रकार श्रावणी को ब्राह्मणों का, विजयादशमी को क्षत्रियों का और दीपावली वैश्यों का त्यौहार कहा है, उसी प्रकार होली शूद्रों का त्यौहार है। किन्तु सभी वर्ग सभी त्यौहारों को जिस पूर्ण श्रद्धा और भावना पूर्वक मनाते हैं उससे इनके पारस्परिक सद्भाव का रहस्य प्रकट होता है।

होली दहन

सबसे पहिले अग्नि लाकर, उसमें घृत की पांच आहुति ५७८ और अर्घ्य, पाद्य, धूप, नैवेद्य, आरती से अग्नि की पूजा कर उसकी तीन परिक्रमा करनी चाहिये। इस तरह अग्नि की विधिवत् पूजा करने के वाद किसी कुँवारे (अविवाहित) किशोरावस्था के लड़के के हाथसे होली जलाने के निमित्त एकत्र की गई लकड़ियों या काष्टों अथवा घास, फूस के ढेर में अग्नि लगवाना चाहिये। जब अग्निकी ज्वालायें, लपटें लंवी सीधी निकलें उस समय उस अग्नि में सोलह प्रकार से होलिकादेवी की पूजा करें। जलती हुई होली में घी मिलाया हुआ दूध, नारियल, बिजारो का फल, धान के लावा आदि से मंत्रों सहित होम किया जाता है।

होलिका गाँव के बाहर या गाँव के मध्यस्थल में जलावें और उसका पूजन नगर में राजा को तथा गाँव में ग्रामपाल को मुख्यतया करना चाहिये। शेष जनता भी कामनार्थ पूजा करे। पूजा करते समय पूजन संकल्प करने के वाद "हेलुहोलिके" हम भयभीत हैं अतः हमारा भय दूरकरो और ऐश्वर्य दो, इस तरह प्रार्थना करे "होलिकायैनमः" इसी मंत्र से होलिकाकी षोडशोपचार पूजा करें

पूजा-मंत्र

ततोऽभ्युदय चितिं सर्वां साज्येन पयसा सुधीः।
नारिकेलानि देयानि बीजपूरफलानिच।

वनिताओं का होली पूजन

संसारोद्यान में परिणीता जीवन को शुरू करने वाली वनिताओं के लिये यह उत्सव का दिन है। वे पचरंगी, गुलावी रंगकी, फगुआ पोशाकें पहिन कर एक हाथ में पूजाकी सामग्री की थाली और दूसरे हाथ में पानी का लोटा, श्रीफल लेकर कुमारिकायें नव विवाहिता वधुयें नव यौवनायें अपने समायु-

वाली सहचरियाँ तथा सहेलियाँ, बहिने, भौजाइयाँ, जेठानी-देवरानियाँ,सास-बहुयें, गाती हुई पूजा करने को होली की अग्नि के समीप जाती हैं। वहाँ नवपरिणीत युग्म को गठबंधन से, जिसके होली पूजा समय तक गर्भ धारण न हुआ हो, ऐसे युग्मों विधिवत पूजा करवाते हैं। अग्नि को अभंग रखने की इच्छा प्रदर्शित करती हुई, शील की संरक्षा लेती हुई पूजन करके प्रदक्षिणा कर नारियल को होली के होम में धरती हैं। इस तरह की पूजन विधि और नारियल का चढ़ावा अब तक गुर्जर प्रदेश (गुजरात) में कुछ अंशों में दिखाई देता है। बम्बई में भी ऐसा गुजरातियों,और भाटियों में देखा जाता है। विविध वस्त्राभूषण,रंग-बिरंगे वस्त्र पहिने हुई ललनायें मानों अप्सराओं सी सुन्दर भासती हैं। यहाँ अश्लील नहीं बका,जाता है, परन्तु विप्र पूजाके श्लोक जरूर उचारते हैं।

होलिका की पूजा का व्रत

होलिका की पूजा भोजन के बाद भी हो सकती है परन्तु जिनका प्रण हो कि होलिका माता की पूजा करने के बाद ही भोजन करें तो वे पूर्णिमा के चन्द्र का दर्शन कर भोजन का व्रत पालें। इस तरह करने वाले पर होलिका माता खूब प्रसन्न होती हैं।

होलिका दहन समय निर्णय

होलिका प्रतिपदा तथा भद्र के आरम्भ में जलानी चाहिये ऐसा ज्योतिषियों का मत है। जिस दिन प्रदोष समय में पूर्णिमा हो पर भद्रा न हो उस दिन सूर्यास्त के उपरान्त होली जलानी चाहिये। भद्रा की भी आरंभ की पांच घड़ी जो "भद्रामुख" कही जाती है, उसको छोड़कर उसके आगेकी तीन घड़ी जो "पुच्छ" कही जाती हैं, उसमें "होली" जलानी चाहिये। यदि कुलाचार हो तो उसके अनुसार भद्रा के रहते हुये भी प्रदोष काल में पूर्णिमा में होली जलाई जा सकती है, ऐसा वृद्धजनों का कथन है।

चतुर्दशी, प्रतिपदा, भद्रा एवं दिवा (दिन) में होली नहीं जलानी चाहिये।

प्रदक्षिणा मंत्र

आयुर्देही यशा देही शिशूनां कुरु रक्षणाम्।
शत्रुणांच जयंदेही होलिके पूजिता सदा॥

इस मन्त्र से होलिका की पूजाकर अग्निकी तीन प्रदक्षिणा करनी चाहिये। बाद में अर्घ्य देकर इस मन्त्र से अग्नि की प्रार्थना करें:—

यन्मया शीत भीनेव निषिद्धा चरणं कृतम्।
तासर्व दीम्यतां वह्ने न यतः सर्वं सहोभवान्॥

अंतमें चार पुष्प युक्त अजलि देकर प्रार्थना करनी चाहिये:—

तेजोऽसि तेजो मयिधेहि। वीर्यमसि वीर्यं मयिधेहि। बलमसि बलं मयिधेहि। ओजोऽस्योजो मयिधेहि। मन्युरसिमन्यु मयिधेहि। सहोऽसि सहोमयिधेहि॥

(यजु० अ० १७ मन्त्र ७)

हे स्वप्रकाश! अनंततेज! आप अविद्यान्धकार से रहित हो, सत्य विज्ञान तेजस्वरूप हो, आप कृपादृष्टि से मुझमें वही तेज धारण करो, जिससे मैं निस्तेज, दीन और भीरु कहीं औरकभी न होऊं। हे अनंतवीर्य परमात्मन्! आप मुझमें पराक्रम रखो। आप बलस्वरूप हो, मुझमें भी बलदो। आप अनंत सामर्थवान हो मुझको भी सामर्थवान करो। आप दुष्टों पर क्रोधकर्त्ता हो, मैं भी आपकी कृपासे उत्तम कर्मों की प्राप्ति में आने वाले कष्टों का सहन कर्त्ता बनूं, शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा के तेज आदि गुण कभी मुझसे दूर न हों, जिससे मैं आप की भक्ति का स्थिर अनुष्ठान करूँ और आपके अनुग्रह से संसार में सदासुखी रहूँ। हे होलिका-माता! हम लोग दीर्घजीवी होकर प्रति वर्ष इसी प्रकार

काल के लिये भुला देता है। यही एक ऐसा दिन है जब ऊँच-नीच, अमीर-गरीब, बूढ़े-जवान, स्त्री-पुरुष, सब एक ही रंग में रंगे जाते हैं। हमारी तो यही धारणा है कि यह दिन अमर होवे, भले ही सुधारक-गण इनसे कोस, दो कोस, पाँच कोस, पचास कोस या सौ कोस दूर रहें।

दधीचि निर्वाण-दिवस

फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमा वह दिन है जिस दिन क्षात्रतेज से ब्राह्मतेज की विजय सिद्ध करने वाले योगिराज शान्तिनन्दन मधु-विद्या के आद्याचार्य श्री अथर्वा के पुत्र दानवीर महर्षि दधीचि का निधन हुआ था। शान्ति माता के सुपुत्र अथर्वानन्दन महर्षि दधीचि के निर्वाण से इहलोक, परलोक, और सुरलोक में तथा ब्रह्माण्ड भर में सब छोटे बड़े शोकाकुल हुये थे। देवतागण जगह जगह एकत्र होकर अपनी हृदय वेदना का परिचय दे रहे थे।

श्री गौरांग प्रभु का जन्मदिन

फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमा वह दिन है जिस दिन श्री गौरांग प्रभु का जन्म हुआ था, इसलिये बंगाल में इसका प्रभाव अत्यधिक है।

शीतकाल का अन्त

श्री वशिष्ठजी का कथन है कि फाल्गुनी पूर्णिमा के दिन शीतकाल का अन्त हो जाता है। पांच चैत्र कृष्ण प्रतिपदा से बसन्त ऋतु का आरम्भ होता है।

"लिङ्ग पुराण" ब्राह्मण को दान में दें

जो फाल्गुनी पूर्णिमा को तिलधेनु के साथ ब्राह्मण को "लिंगपुराण" का दान करता है, वह भगवान शिव के सारूप्य को प्राप्त होता है, ऐसा श्रीस्कन्ध महापुराण के प्रभास खण्ड में कथन है। लिङ्गपुराण में अग्निकल्प के वृत्तान्त से लेकर लिङ्ग में स्थित देवदेव महेश्वर ने अग्नि से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थों का वर्णन किया है। लिङ्गपुराण की श्लोक संख्या ग्यारह हजार है।

होली गोपालन की पुष्ट है

एक समय था जब आर्य जितनी अधिक संख्या में पशुपालन करता था वही धनाढ्य गिना जाता था और पशुपालन ही धर्म मानता था और गो प्राप्ति की कामना किया करता था. देखो श्रीसूक्त का दशवां मन्त्र क्या कहता है:—

मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीमहि।
पशूनां रूपमन्नस्य मयि श्रीः श्रयतां यशः॥

उस लक्ष्मी के प्रभाव से हम मन की इच्छाओं को और संकल्प को तथा वाणी की यथार्थता को और गौ अश्व आदि पशुओं के दूध दही आदि को और चावल आदि अन्न के रूप को अर्थात् भक्ष्य, भोज्य, चोष्य, और लेह्य ऐसे चारों भोग मुझे प्राप्त होवें। मुझमें संपदा और यश आश्रय लेवें अर्थात् मैं धनवान और कीर्ति वाला होऊँ। यही कारण है कि गौ के गोबर से बने हुये बड़गुलों की संख्या से गोधन का अनुमान किया जाता था। गोधन ही भारत की आदर्श संपत्ति थी और होली गोधन को सम्मान देने वाला त्यौहार। अतः होली गोपालन का ईश्वरीय आदेश है। प्रत्येक भारतीय को गोपालन अपना व्यक्तिगत कर्त्तव्य समझना चाहिये। गो विनाश हम भारतीयों का विनाश है, गोरक्षा हमारी रक्षा है।

चैत्रकृष्णा प्रतिपदा के कार्य

जब चाण्डाल के घर से अग्नि लाकर होलिका जलाई गयी हो तो होली के दूसरे दिन सवेरे सूर्योदय हो जाने पर चाण्डाल का स्पर्श करना चाहिये। भविष्यपुराण आदेश करता है कि इस दिन चाण्डाल का स्पर्श करने वालों को कभी विपत्ति, आधिव्याधि नहीं होती:—

चैत्रेमासि महाबाहो पुष्येतुप्रतिपादिने ।
यस्तमश्वपचं वा स्नानं कुर्यान्नरोत्तमः ॥
नतस्यदुरितं किञ्चिन्नाधयों व्याधयों नृप ।

अर्थात् चैत्रमास की कृष्णाप्रतिपदा को श्वपच को छूकर स्नान करना चाहिये । सारांश यह है कि इस उत्सवके दिन सब वर्गों के लोग हरिजनों सहित मिलें और इस उत्सव को मनाकर आनन्दित हों। होली प्राचीन भारतीय संस्कृति की मधुर देन है आज के दिन प्रातःकाल में होलिका की अग्नि में पानी गरम करके, घर में लेजाकर सपरिवार स्नान करें। यदि घरमें कोई रोगी या बीमार हो तो उसे भी इसी गरम जल से नहलाते हैं इस क्रिया से रोगी रोग मुक्त हुये देखे, सुने गये हैं । यह कार्य अध्यात्म-दृष्टि से वांछनीय है। चैत्रकृष्ण प्रतिपदा के दिन माधवमास प्रवृत्त होता है । इसी चैत्रकृष्ण प्रतिपदा को मनुष्य मात्र को शरीर में तेल अवश्य लगाना चाहिये ।

देव और पितृ तर्पण करें

स्नान कर लेने के बाद इसी प्रतिपदा के दिन आवश्यक कार्यों से निवृत्त होकर देव और पितरों का तर्पण करना चाहिये।

होलिका-धूलिवन्दन

सब दोषों की शान्ति के लिये होलिका की धूलि-वन्दना का विधान है, सो इस प्रकार यह मन्त्र बोल कर करनी चाहियें:—

वन्दितासि सुरेन्द्रेण ब्राह्मणा शंकरेण च ।
अतस्त्वं पाहिनो देवि भूते भूति प्रदाभव ॥

हे भस्म ! इन्द्र, ब्रह्मा, शंकर आदि देवताओं ने भी तेरा सम्मान किया था अतः तू हमारी रक्षा कर और हमें ऐश्वर्य दें। इस तरह होली का भस्म लेकर मस्तक में लगाया जाता है ।

६४ योगिनियों का दर्शन

इसी दिन चतुष्ठी योगिनी के दर्शन का भी महात्म्य है, सो सनातन धर्मानुयायियों को अवश्यमेव करना चाहिये ।

चन्दन सहित आम्रपुष्प का भक्षण

आज के दिन प्रातः नित्य कर्मों से निवृत्त होकर सर्व कामनाओं की सिद्धि के लिये आम्रपुष्प का चन्दन के साथ मिलाकर निम्नोक्त मंत्र बोलकर सेवन करना चाहिये:—

चूतमग्रयं वसन्तस्यमाकन्द कुसुमं तव ।
सचन्दनं पिबाम्यद्य सर्वकामार्थ सिद्धये ॥

गृहस्थी इतना जरूर करें

वैदिक मंत्रों के घोष से गृह के प्रांगण में सविधि नारी पूजन की विधि शास्त्रों में वर्णित है, उस तरह करनी चाहिये । फिर स्वयं श्रेष्ठ शुभ्रवस्त्र का परिधान करें तथा दही, अक्षत और चन्दन, केशर मस्तक में लगावें ।

आज के दिन ब्राह्मण, सूत, मागध, कुलगुरु, पुरोहित आदि को यथाशक्ति दान देकर प्रसन्न करें और शुभाशीर्वाद ग्रहण करना चाहिये ।

इस प्रकार जो आर्य लोग "फाल्गुनोत्सव" विधिवत मनाते हैं' उनकी सब कामनायें सिद्ध होती हैं और अधर्म, पाप, दोषादि विलीन हो जाते हैं । मनुष्यमात्र पुत्र, पौत्र, आदि से संयुक्त होकर सदा सुखी रहते हैं:—

याते तुषार समयेऽपिच पंचदश्याम्,
प्रातर्वसन्तसमये समुपस्थिते च ॥
प्राश्येत्तु चूत कुसुमं सहचन्दनेन;
सत्यं ही पार्थपुरुषः ससुखी सदास्यात् ॥

आयुर्वेदीय अलौकिक साधन

आयुर्वेद शास्त्र के अध्ययन करने से मालूम होता है कि हमारे पूर्वजों ने हमको दीर्घजीवी और निरोगी रहने का एक अलौकिक साधन बताया था और वह साधन था यज्ञ। इस बात का सब को पूरा पूरा अनुभव है कि वसन्त ऋतु में नया वर्ष आरम्भ होता है, इसके कारण नाना प्रकार के चर्मरोग पैदा हो जाते हैं, खाज, फोड़ा, फुन्सी, इत्यादि। इसी समय शीतला का भी प्रकोप प्रायः होता है। इस कारण से हमारे प्राचीन ऋषियों ने यह सार्वजनिक आयोजन किया था कि फाल्गुन की पूर्णिमा को एक बृहत्यज्ञ किया जाय, जिसमें गाँव शहर-नगर के समस्त युवा, बाल और वृद्ध एवं स्त्री पुरुष इकट्ठे हों। यह यज्ञ पाँच दिन तक मनाया जाता था। यज्ञ के दूसरे दिन चैत्रकृष्ण प्रतिपदा को प्रातः काल सभी गाँव के बाहर उस यज्ञ की राख को शरीर में मलते थे और बाद में स्वच्छ पानी से स्नान करते थे और गाते बजाते थे। तीसरे दिन अर्थात चैत्रकृष्णा द्वितीया को प्रातः फिर सब लोग गाँव के बाहर इकट्ठे होकर अपने अपने शरीर में मिट्टी मलते थे इसके बाद स्वच्छ जल से स्नान करते थे। चौथे दिन अर्थात चैत्रकृष्ण तृतीया को गाँव के बाहर फिर सब एकत्र होकर गाय का गोबर अपने अपने शरीर में मलते थे, पश्चात स्वच्छ जल से स्नान करते थे। और पांचवें दिन शरीर में सुगंधित तैल, इत्र आदि द्रव्यों का उबटन करके स्वच्छ जल से स्नान करते थे तथा श्वेत वस्त्र धारण करते थे। अन्त में ग्राम के अथवा नगर के धनाढ्य लोग उद्यान भोजन बनवाते थे, यह चैत्रकृष्ण पंचमी का दिन था। इस दिन को रंग पंचमी कहते हैं। इस दिन रंग खेलने का अन्तिम दिन होता था।

उपरोक्त पांचों दिन में यथार्थ करने से एक वर्ष तक किसी प्रकार का चर्मरोग अतवा शीतला आदि किसी प्रकार का शरीर में रोग नहीं रहता था या होता था। ऐसा अयुर्वेदशास्त्र का यह महान विधान है। आज हम सब अपनी प्राचीन परिपाटी को भूले ही नहीं, वरन् तिलांजलि भी देदी। होलिका माता सबको सद्बुद्धि दें ताकि भारतीय सच्चे सुख की अनुभूति करें।

यह तो मानी हुई बात है कि धार्मिक भावना के अनुसार व्यक्ति या समाज अथवा देश के जीवन में हेरफेर होना, सुरूप का बिकृत होकर कुरूप या विरूप हो जाना इत्यादि प्रत्येक ऐसी घटना उस महान शक्ति जगन्नियंता की प्रेरणा पर ही अवलम्बित है, जिसने इस विश्व का सृजन किया है और इस दृष्टि से इस होली जैसे महान राष्ट्रीय और धार्मिक पर्व पर अविवेकता, असभ्यता, का आवरण हो जाना दुःखदायक घटना है। आशा है, अब सभ्य समाज, धार्मिक भावनामयी जनता, फिर भी आगे सावधान रहने की दृष्टि से हमारे इस क्षुद्र प्रयास को अपना कर कृतकृत्य हो होली विधिवत मनायें पूजें, और सद्भावना का प्रसार करें।

अनमोल बोल

कहत हूँ कहि जात हूँ कहो बजाऊँ ढोल।
श्वासां खाली जात है तीन लोक की मोल॥

जब तलक है जिन्दगी फुरसत न होगी काम से।
कुछ समय ऐसा निकालो, प्रेम करलो राम से॥

अघोरमणि

(ले० श्री शिवनाथ दुबे 'साहित्यरत्न')

लकड़ियाँ गीली हैं और हवा भी उल्टी बह रही है बेटा! फूंकते-फूंकते तो मेरी आँखें लाल होगयीं, पर आग नहीं जल सकी। चूल्हे में फूक लगाती हुई अघोरमणि ने दूसरी ओर देखे बिना ही कह दिया।

"मुझे तो भूख लगी है माँ।" नटखट बच्चे ने पत्तल फैलाते हुये करुणापूर्ण नेत्रों से देखते हुये उत्तर में कहा।

"अच्छा बेटा।" अघोरमणि मिठाई लाने भीतर चली गयी थी। उसके रूप में न जानें कौन सा अमृत-रस था, कौन सी माधुरी और कौन सा आकर्षण था, अघोरमणि की आँखों में वह समा गया। जल्दी जल्दी मिठाइयाँ लेकर वह निकली तो गोपाल नदारद। फैला हुआ रिक्त पत्तल पड़ा था।

मिठाई की थाली झन्न से पृथ्वी पर गिर पड़ी। अघोरमणि की दोनों आँखें बरसने लगीं। उसने भीतर बाहर चारों ओर देखा, पुकारा, पर गोपाल का पता नहीं लगा, नहीं लगा। वह सिसकने लगी।

यह नवगोपाल घोष की पत्नी थी। आठ वर्ष की अवस्था में ही इसका सौभाग्य सिन्दूर धुल गया था। सन् १८८४ ई० में स्वामी रामकृष्ण परमहंस से इसकी भेंट हो गयी थी। परम पवित्र एवं तपस्विनी देवी को उन्होंने बड़ी प्रसन्नता से शिष्या के रूप में ग्रहण कर लिया और पतिदेव के अभाव में अघोरमणि के प्रेमी हृदय ने अनन्त सौन्दर्य सम्पन्न गोपाल को अपनी आँखों में छिपा लिया।

गोपाल बरबस उसकी आँखों में आ जाता। वह जप करने बैठती तो गोपाल जैसे बन्द पलकों में भी आकर मुस्करा देता। जप पूरा नहीं हो पाता वह भोजनालय की ओर जाती तो वह जैसे आंचल पकड़ कर हठ कर बैठता, वह ठिठक जाती पर चुपके से आँसू पोंछकर अपने काम में लग जाती। चुपके-चुपके भीतर ही भीतर वह अघोरमणि के कोमल कलेजे को मसल देता था। वह छटपटा जाती थी। अधीर हो जाती थी। "बेटा!" अपने आप उसके मुँह से निकल पड़ता था।

"कुछ खाने को दे" पीछे से आवाज आई।

"मेरे पास क्या है महाराज?" अपनी चावल दाल की गठरी बगल में छिपाती हुई अघोरमणि ने आँख बन्द किये ही कह दिया। दक्षिणेश्वर में आये हुये सबके सब भक्त अत्यन्त मधुर फल ठाकुर जी को अर्पित कर रहे थे। पर कच्चे चावल-दाल को वह कैसे अर्पित करती? लज्जा और संकोच के कारण वह पीछे एक कोने में खड़ी हो गई थी।

"चावल दाल है न।" कहने वाले ने कह दिया और भोजनालय भी बता दिया।

अघोरमणि ने रसोई तैयार की। पत्तल लगाया। देखा तो उसकी वही नयन पुत्तलिका और प्राणधन गोपाल धीरे-धीरे ग्रास मुँह में डाल रहा है। उसे जैसे अपार निधि विश्व की महाविभूति मिल गई थी। "बेटा" अत्यन्त प्रेम से सने स्वर में उसने कह दिया।

"माँ।" मधुर मुस्कान की अतृप्तिकर रस-वर्षा करते हुये गोपाल ने जीभ हिला दी।

जप समाप्त हुआ। देवी ने प्रेमाञ्जलि ठाकुर को अर्पित की तो देखा उसका गोपाल ही उसे स्वीकार कर रहा है।

दो मास तक अनवरत रूप से वह गोपाल के साथ रही। गोपाल उसका प्राण था और गोपाल का प्राण वह थी। तीस वर्ष की निरन्तर साधना से उसने परमोच्च स्थिति प्राप्त कर ली थी। ठाकुर भी उसे सदैव गोपाल ही दीखते थे।

स्वामी श्रीरामकृष्ण जी परमहंस की इस भगवद्भक्ता देवी पर बड़ी कृपा थी।

कुम्भ-महापर्व में श्री दैवीसम्पद् मण्डल का प्रचार

(प्रेषक श्री रामस्वरूप जी गुप्त)

प्रयाग से कुछ भक्तों के पत्र पूज्य स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज के पास पहुँचे कि भगवन्! हम लोगों के हाथ पैर फूल रहे हैं, हम लोग हताश हो रहे हैं, अभी तक दैवी सम्पद मण्डल के शिविर के स्थान का निर्णय तथा निर्माण कार्य बिल्कुल नहीं हो सका है, समय बहुत कम है, आपका तुरन्त पधारना अत्यावश्यक है। महाराज उस समय बम्बई में थे संक्रान्ति के कुछ दिवस पूर्व ही प्रयाग पधारे। उनके आते ही नव-चेतना एवं नई स्फूर्ति को पाकर प्रयाग के भक्तों ने दिन-रात एक कर दिया। स्वामी जी के अथक पुरुषार्थ का लोहा तो सभी मानते हैं। कभी-कभी तो उनके अदम्य उत्साह और प्रचण्ड परिश्रम को देख सुन कर दाँतों तले उँगली दबानी पड़ती है। आश्चर्यजनक रीति से दैवी सम्पद मण्डल का विशाल शिविर निर्माण हो गया और ठीक संक्रान्ति के दिन विशाल पंडाल का दैनिक कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ। गवर्नर कैम्प के सामने श्री स्वामी करपात्री जी के समीप मण्डल का पंडाल और शिविर था। धीरे धीरे लगभग ढाई सौ राउटियाँ और टेन्ट लग गये जिनमें दूर-दूर से आए हुए लगभग डेढ़ हजार भक्त नर-नारी ठहरे थे। पर्व के दिनों में तो शामियाने के नीचे रात्रि में तिल रखने का भी स्थान रिक्त नहीं रहता था। सैकड़ों भक्तों के पत्र शिविर में निवास करने के लिये आये थे किन्तु स्थानाभाव के कारण अधिकांश भक्तोंको निराश ही होना पड़ा। अनेकों ने इस अनिवार्य विवशता का गलत अर्थ लगाया किन्तु इस कमी की पूर्ति करने की सभी चेष्टाएँ विफल हुईं। मूसी के मैदान में जितने शिविर थे उन सबकी अपेक्षा भक्तों की अधिक संख्या इसी शिविर में थी। पूज्य स्वामी भजनानन्द जी महाराज ने भक्तों को ठहराने तथा उनकी समुचित व्यवस्था का भार अपने हाथों में लिया उनकी देख रेख में शिविर-निवासियों को किसी असुविधा का सामना नहीं करना पड़ा। संतों के निमन्त्रण तथा स्वागत का भार भी उन्हीं पर था। उन्हीं के अथक परिश्रम का परिणाम था कि दैवी सम्पद मण्डल में आनुमानिक १६-१७ सहस्र साधु-संतों का भोजन समय-समय पर होता रहा। समष्टि के दिन ही लगभग तीन सहस्र संत-महात्माओं का निमन्त्रण हुआ था। उस दिन इतनी सुन्दर व्यवस्था रही कि डेढ़ घण्टे के भीतर ही सबका भोजन सुचारु रूप से सम्पन्न हुआ। एक दिन पहिले ही पूज्य स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज ने लगभग तीन सौ भक्तों को सेवा कार्य सौंपा। जो कार्य जिनके हाथ में था, उसने उस कार्य को पूर्ण मनोयोग और भावना से सम्पन्न किया। उसी दिन प्रायः सभी प्रमुख महा मण्डलेश्वर भी पधारे थे। भक्तों की सेवा और स्वामी जी की सुव्यवस्था से संत-समुदाय संतुष्ट रहा। इसी प्रकार कई बार समय-समय पर संतों की सेवा बराबर होती रही।

बम्बई निवासी प्रमुख रईस सेठ राधाकृष्ण जी रुइया ने समष्टि-भोजन का व्यय-भार वहन किया। सभी मण्डलेश्वरों का विधिवत पूजन करके उनके चरणों में दक्षिणा एवं कम्बल भेंट किये। श्री रुइया जी की सुपुत्री आयुष्मती निर्मला के द्वारा मण्डलेश्वरों का पूजन और नोट-बुक में मण्डलेश्वरों के उपदेश वाक्य लिखाने का आग्रह दर्शनीय था। रुइया जी के आयोजन से ही कपड़े कम्बल और बनियाइनों की कई गाँठें वितरित हुईं। सवा-लक्ष होमात्मक श्री गायत्री महायज्ञ का श्रेय भी श्रीराधाकृष्ण जी रुइया

एवं उनकी भक्तिमती अर्द्धांगिनी श्रीमती राजकुमारी देवी को है।

बम्बई निवासी श्री सेठ मटरूमल जी वाजोरिया के प्रबन्ध से दैवी सम्पद मण्डल के शिविर में एक दातव्य औषधालय की भी व्यवस्था थी। औषधियों से यात्री-रोगियों ने बहुत लाभ उठाया। छोटे छोटे मन्दिरों के आकार की जो राउटियाँ शिविर के किनारे-किनारे लगाई गयी थीं उन्हें बम्बई निवासी श्री सेठ बच्चूभाई ने प्रदान कर अपनी उदारता का परिचय दिया। एक उल्लेखनीय बात यह है कि स्वामी जी बहुत दिनों से गाय के दूध और घी का ही प्रयोग करते हैं, मेले के अवसर पर गाय का दूध मिलने में कुछ कठिनाई देखकर सन्त-सेवी बच्चूभाई ने एक बहुत सुन्दर गाय खरीद ली, कि स्वामी जी को कोई कष्ट न होने पावे। उनकी इस सामयिक सेवा का भावुक भक्तों पर बहुत प्रभाव पड़ा। बाद में वह गाय श्री एकरसानन्द आश्रम मैनपुरी भेज दी गयी। इनके अतिरिक्त कलकत्ता झरिया-पटना-कानपुर आदि के अनेक भक्तों ने भोजन वस्त्रादि के वितरण में अपनी धार्मिक दान प्रियता का परिचय दिया, विस्तार भय से सभी सज्जनों के शुभ नाम नहीं लिखे जा रहे हैं। वे सभी धन्यवाद के पात्र हैं। प्रयाग के अग्रवाल युवक वाचनालय के प्रबन्ध से कई दैनिक एवं मासिक पत्रों की व्यवस्था से यात्रियों को बड़ी सुविधा रही। 'परमार्थ' मासिक पत्र तथा श्री दैवी सम्पद मंडल की प्रकाशित पुस्तकों के प्रचार से भी आगन्तुक भक्तों को बहुत लाभ हुआ। दोनों फाटकों पर मंडल के प्रकाशन-विक्रय की व्यवस्था थी। पंडाल में भगवान का भव्य सिंघासन तो दर्शकों को मंत्र-मुग्ध सा बना देता था।

प्रारम्भ से ही विशाल पंडाल में कथा और प्रवचन का बहुत सुन्दर आयोजन रहा। पूज्य स्वामी शुकदेवानन्द जी, स्वामी भजनानन्द जी, स्वामी समतानंद जी, स्वामी प्रकाशानंद जी, स्वामी सदानन्द जी, योगिराज जी, स्वामी एकाक्षरानन्द जी सरस्वती आदि दैवी सम्पद मंडल के महात्माओं का प्रवचन तो नियमित क्रम से होता ही रहा इनके अतिरिक्त पधारने वाले श्रद्धेय वक्ताओं में कई महामंडलेश्वरों, स्वामी अखंडानन्द सरस्वती, बंगाली स्वामी स्वामी शरणानन्द जी, परम भागवत श्री हनुमान प्रसाद जी पोद्दार तथा अनेक महापुरुषों के प्रवचन समय-समय पर होते रहे। गोरक्षा सम्मेलन के दिवस पर कई वक्ताओं के सारगर्भित प्रवचन हुए जिनमें श्री हरदेवसहाय जी तथा बम्बई निवासी संसद सदस्य श्री गजाधर सोमाणी के नाम उल्लेखनीय हैं।

सुप्रसिद्ध कथावाचकों में श्रीमान "मंजुल जी" पं० श्रीनाथ आचार्य, पं० रामप्रसाद अवस्थी, श्री प्रतिवादी भयंकर तथा अनेक विद्वान पंडितों के नाम उल्लेखनीय हैं इनके अतिरिक्त अनेक विद्वान पंडितों, कथावाचकों एवं कीर्तनकारों की सुमधुर वाणी का लाभ भक्तों ने उठाया।

इन सभी सुव्यवस्थित आयोजनों में विशेष उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम तो प्रातः कालीन प्रार्थना के पश्चात पूज्य स्वामी शुकदेवानन्द जी का साधन और ध्यान सम्बन्धी अद्भुत प्रवचन है। प्रारम्भ से लेकर माघ-पूर्णिमा तक यह चिरस्मरणीय कार्यक्रम चलता रहा। श्री महाराज की साधन सम्बन्धी अनुभूत विचारधारा को जिन्होंने मुमुक्षु आश्रम के साधन सप्ताहों में अथवा परमार्थ-निकेतन में सुना है वे इसके अलौकिक आनन्द से भली भाँति परिचित हैं। इस समय पर होने वाली उपदेशामृत-निर्झरिणी में भक्तों को जो आनन्दानुभूति होती है वह तो वर्णनातीत है। श्रोताओं को ऐसा लगता है मानों हम कल्पनातीत और चिरशान्तिदायी मार्ग की ओर चले जा रहे हैं। इस समय पर होने वाले श्री महाराज के

वैराग्यपूर्ण उपदेशों से प्रभावित होकर भावुक श्रोता-समुदाय कभी-कभी अपने नेत्रों से गंगा-यमुना सी पवित्र जलधार भी बहा देते थे। महाराज की करुणा-विगलित भावमयी वाणी में "सर्वे भवन्तु-सुखिना सर्वे सन्तु निरामया" की स्पष्ट झलक इसी सत्संग में मिलती है। गुह्यातिगुह्य साधनों की सीधी और सरल युक्तियाँ साधकों के दुरूह मार्ग को बहुत सुगम बना देती हैं। वस्तुतः इस सत्संग की प्रशंसा करना तो मानों सूर्य को दीपक दिखाना है।

मंगलमय प्रभु की अहैतुकी कृपा से ही ऐसे विशाल आयोजनों में सफलता मिलती है किन्तु संत अथवा भगवन्त जिन्हें निमित्त बनाकर ऐसे महत्कार्य का सम्पादन करते हैं उनकी भी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। प्रयाग के जिन भक्तों का सहयोग मिला उनमें श्री विश्वम्भरनाथ जी अग्रवाल बी० ए० यल०यल०बी० का नाम विशेष उल्लेखनीय है। वहाँ का प्रसंग चलने पर स्वामी जी इनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। इनके अथक :परिश्रम और सौजन्य की सराहना शब्दों द्वारा नहीं की जा सकती। वस्तुतः शिविर की सफलता का अधिकांश श्रेय श्री विश्वम्भरनाथ जी को है। प्रयाग के अन्य सहयोगी और प्रेमी भक्तों में श्री मोतीलाल अग्रवाल, श्री राधेश्याम जी 'मुरारी', बा० त्रिलोकीनाथ जी, बा० नन्दकिशोर जी खन्ना, ला० शिवप्रसाद जी, बा० शम्भूनाथ जी वर्मा, कैलाशनाथ जी, रामकिशोर जी तथा श्रीमती सेठानी हरषी देवी जी को है। इन सभी भक्तों की भावमयी सेवा से सहस्रों यात्रियों को जो आध्यात्मिक लाभ हुआ उसकी प्रशंसा करनी ही पड़ती है, वे सभी धन्यवाद के पात्र हैं।

कुम्भ-महापर्व में श्री दैवी सम्पद मंडल का प्रचार भगवान की असीम और अहैतुकी कृपा से भारत के कोने कोने में हो गया। दयामय की दया के फलस्वरूप इस शिविर में ठहरने वाले किसी नर-नारी या बालक का भी बाल बाँका नहीं हुआ। अमावस्या के एक दिवस पूर्व रात्रि में ही पूज्य स्वामी जी ने भक्तों को सावधान करते हुए कहा था कि संतों का जलूस आपलोग इसी तरफ से देखें, उधर अपार भीड़ में जाना ठीक नहीं। जैसे उन्होंने भविष्यवाणी कर दी हो, जाने वाले भी रुक गये और भगवत्कृपा से उस भीषण नरमेध की लपट से बच गये। विशेष बात यह रही कि स्वामी जी के किसी परिचित व्यक्ति के सम्बन्ध का भी कोई दुखदायी समाचार सुनने में नहीं आया। दो एक सज्जन उस भयंकर भीड़ में फँस गये थे, भगवत्कृपा से उनकी भी आश्चर्यजनक रीति से रक्षा हो गयी। वास्तव में तो प्रभु-कृपा अथवा संतों की महती करुणा में ही उनके भक्तों का कल्याण सन्निहित है।

सत्संग प्रेमियों को सुखद-संदेश

प्रेमी-भक्तों को यह जानकर विशेष प्रसन्नता होगी कि श्री दैवी सम्पद मंडल का विराट महोत्सव ता० ३ अप्रैलसे ११ अप्रैल अर्थात् चैत्र शुक्ला प्रतिपदा से रामनवमी तक कानपुर में ६ दिन तक होना निश्चित हुआ है। दैवी सम्पद मंडल के सभी महात्माओं के अतिरिक्त भारत के सुप्रसिद्ध सन्तों—महामंडलेश्वरों और महापुरुषों के पधारने की पूर्ण आशा है। विद्वान कथावाचकों एवं कीर्त्तनकारों की भावमयी कथाओं और भगवन्नाम की सुमधुर ध्वनि एवं विख्यात संतों की पावन वाणी के प्रसाद से अपने अन्तःकरण को पवित्र बनाने का यह सुयोग प्राप्त करने के लिये इस सत्संग-सुधा सरोवर में स्नान कीजिये।

आनन्द की बात तो यह है कि यह आयोजन पतित-पावनी कलिकलुष-नाशिनी भगवती गंगा के किनारे (इसी पार) रेती में होना निश्चित हुआ

नवरात्रि में होने वाले विराट महोत्सव में बाहर से सम्मिलित होने वाले भक्तों से निवेदन है कि वे अपने आने की सूचना नीचे लिखे पते पर भेजने की कृपा करें। बाहर से आने वालों के लिये कई रावटियाँ और टेन्ट आदि लगाये जायँगे। निवास तथा भोजन की समुचित व्यवस्था रहेगी। इस अवसर पर दूर-दूर से कई सहस्र सत्संग प्रेमियों के सम्मिलित होने का अनुमान है।

विनीत—

—स्वागताध्यक्ष

श्री दैवी सम्पद् मंडल विराट महोत्सव

सरसैया घाट (कानपुर)

है। कानपुर के भक्तों के विशेष आग्रह से, स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज के साधन-ध्यान सम्बन्धी उपदेश सुरसरि के समीप इसी रेती में १४ मार्च से प्रारम्भ हो जायँगे। ब्रह्मवेला के इन आनन्ददायी उपदेशों में जिन्हें कभी सम्मिलित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वे उसकी महिमा को जानते हैं, कानपुर के भक्तों को इस स्वर्ण अवसर से लाभ उठाना चाहिये। स्वामी भजनानन्द जी, स्वामी समतानन्द जी और श्री 'मंजुल' जी भी पहुँच चुके हैं, प्रातःकालीन ध्यानोपदेश का क्रम अंत तक चलता रहेगा और उत्सव से पहिले तक सायंकाल के सत्संग का क्रम विभिन्न स्थानों में चलेगा। कानपुर वासी कार्यक्रम का पता लगा लें और अपने इष्ट-मित्रों को सूचित करदें।

नम्र निवेदन

प्रेमी ग्राहकों के प्रेमपूर्ण सहयोग से 'परमार्थ' ने अपने शैशव के चार वर्ष समाप्त कर पंचम वर्ष में पदार्पण किया। अपनत्व की भावना से आपने हमारी त्रुटियों की ओर विशेष ध्यान न देकर सदैव 'परमार्थ' को अपनाया है। आशा है इसी भाँति आप की सद्भावना हमारा उत्साह वर्द्धन करती रहेगी।

निवेदन है कि ठीक समय पर विशेषांक न पहुँचने की शिकायतों के कई पत्र आये हैं, और यह उचित भी था। इस अनिवार्य विलम्ब का कारण कुम्भ महापर्व की समस्या थी। दैवी सम्पद् मंडल का कैम्प कुम्भ में लगा था, अतएव विचार हुआ कि जिन भक्तों का रुपया आगया है उन्हें वहीं अंक देदिये जायँगे। इसी दृष्टि से हमारे कई कर्मचारी भी पर्व पर गये थे। वहाँ से लौटने के बाद जिन ग्राहकों के अंक पहुँचने शेष थे वे सभी भेजे गये। और इसी कारण तत्संबंधी पत्रों के उत्तर देना अनावश्यक था आशा है सहृदय ग्राहक इसके लिये हमें क्षमा करेंगे।

व्यवस्थापक

देखिये

यह तृतीय अंक आप के कर कमलों में है। प्रथम व द्वितीय अंक चरित्र-निर्माण अंक में सम्मिलित थे। कृपया द्वितीय अंक के लिये व्यर्थ पत्र व्यवहार न करें।

मुद्रक तथा प्रकाशक:—स्वामी सदानन्द सरस्वती, परमार्थ प्रेस, पो० मुमुक्षु आश्रम, शाहजहाँपुर

सचित्र मासिक-पत्र

वार्षिक मूल्य ४॥)

मासिक-पत्र

दैवी गुण विकासक, शान्ति संस्थापक, भक्ति ज्ञान वैराग्य सदाचार आदि अध्यात्मवाद प्रचारक, श्री दैवी सम्पद् महामण्डल का प्रमुख सुरुचिपूर्ण सचित्र मासिक-पत्र

संस्थापक:—

श्री १०८ श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज

श्री १०८ श्री स्वामी भजनानन्द जी महाराज

सम्पादक:—

स्वामी सदानन्द सरस्वती

राजाराम पाण्डेय 'मञ्जुल'

विषय सूची

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः । सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग्भवेत् ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा, बुद्ध्यात्मना वानुसृतःस्वभावात् ।
करोमि यद्यत् सकलं परस्मै, नारायणायैव समर्पयेतत् ॥

वर्ष ५ | मुमुक्षु आश्रम, शाहजहाँपुर १५ अप्रेल १९५४ चैत्र शुक्ल १२ गुरुवार, सम्वत् २०११ | अङ्क—४

प्रार्थना

शेष की सेज विराजत विष्णु,
चतुर्भुज चारि पदारथ दानी ।
नाभि सों नाल कढ़ी तेहि ऊपर;
बैठि पढ़ैं विधि वैदिक बानी ॥
मारुतनन्दन अरु खगराज,
नवैं तेहि किन्नर, नारद ज्ञानी ।
सो हमरो अभिलाष भरैं;
देहि पाँव पलोटति लच्छिमी रानी ॥

(पं० गयाप्रसाद त्रिपाठी, शास्त्री 'साहित्यरत्न')

परमार्थ-बिन्दु

विचार करो—रोगी पथ्य के दिनों में यदि डाक्टर या वैद्य द्वारा बताई वस्तुओं से परहेज न करे किन्तु कुपथ करले तो क्या उसे और कई दिनों के लिये चारपाई नहीं पकड़नी पड़ेगी? अवश्यमेव! साधारण रोगी की चिकित्सा तो सहज है परन्तु कुपथ के रोगी को रोगमुक्त करना अच्छे-अच्छे डाक्टरों के लिये भी बड़ा कठिन है। इसी प्रकार, याद रक्खो, यह मनुष्य-योनि की प्राप्ति इस जीव के लिये पथ्य-काल है। अतः इसके होते-होते यदि यह जीव नीति-मर्यादा अर्थात् धर्म के अनुसार अपना कर्त्तव्य पालन करता रहेगा तो यह निस्सन्देह ही भव-रोग से मुक्त हो जायगा। और कहीं यह दम्भ-छल-कपट, झूठ-चोरी, मोह-लोभ, क्रोध-ईर्ष्या, मद-अभिमान आदि निषिद्ध आचरण करने लग गया तो निश्चय समझो, इसे कई जन्मों तक नारकीय योनियों में पुनः पुनः कष्ट उठाना पड़ेगा। समझदारी इसी में है कि इस देव-दुर्लभ मानव देह का सदुपयोग करके परमानन्द पद की प्राप्ति करलें अन्यथा—

सो परत्र दुख पावइ, सिर धुनि-धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईश्वरहि मिथ्या दोष लगाइ॥

विचार करो—वेश्या बढ़िया-बढ़िया ज्ञान-वैराग्य के पद गाकर सुनने वालों को रिझा लेती है परन्तु क्या उससे उसको वा सुनने वालों को मुक्ति की प्राप्ति हो जायगी? कदापि नहीं। उसको तो प्राप्ति होगी चाँदी के कुछ टुकड़ों की। जानते हो क्यों? इसलिये कि "फल भावना के अनुसार मिलता है।" इसी प्रकार, निश्चय रक्खो, यदि हमने कुछ गद्य-वा पद्य रट-रटाकर दिमाग की लाइब्रेरी में भर लिया और दूसरे व्यक्तियों को खूब लच्छेदार भाषा में सुना भी दिया—(भावना यह रही कि 'मेरा वक्तव्य बड़ा अच्छा रहे')—तो विश्वास रक्खो संसार से क्षणिक मान-प्रतिष्ठा या धन-सम्पत्ति भले ही मिल जाँय, भक्ति-मुक्ति की प्राप्ति कदापि नहीं होगी। भक्ति-मुक्ति तो तब ही मिलेगी जब वह उपदेश दूसरों के बजाय अपनी मन-इन्द्रियों को ही दिया जाय और वे मान लें।

विचार करो—गर्मी के मौसम में लू तो चलेगी ही चाहे हम रोयें वा हँसे, परन्तु क्या उस लू के कष्ट से दुःखी होकर रोना बुद्धिमानी है? कदापि नहीं! जानते हो लू के कष्ट से बचने के लिये क्या करना बुद्धिमानी है। कमरे के दरवाजों व खिड़कियों पर चट से खस की टट्टी लगाकर पट्ट से बैठ जाओ कमरे के भीतर। बस बाहर कितनी ही लू चले तुम्हें उसका कष्ट नहीं उठाना पड़ेगा—तुम्हारे लिये तो वही शिमला-मंसूरी बन जायगा। इसी प्रकार, विश्वास रक्खो, इस देह के रहते कष्ट रोग, प्रतिकूलता, विघ्न तो आयेंगे ही—इनके संयोग होने पर रोना या दुःखी होना अज्ञानता है। यदि दुःखी नहीं होना चाहते तो जानते हो क्या करना चाहिये? बस! भगवान् के चरणों की शरण व ज्ञान-विवेक रूपी खस की टट्टी का आश्रय ग्रहण करलो। फिर निश्चय रक्खो, ऐटम बम, उद्जन बम या सृष्टि का प्रलय ही क्यों न होने लगे, तुम्हें दुःख नहीं व्यापेगा।

"आनन्द"

उड़िया बाबा के उपदेश से

(संग्रहकर्ता—स्वामी श्री सनातनदेव जी महाराज)

पाँच बातें सर्वथा त्याज्य हैं:—(१) व्यर्थ भाषण, (२) व्यर्थ चिन्तन, (३) व्यर्थ क्रिया, (४) व्यर्थ श्रवण और (५) व्यर्थ दर्शन। जप, ध्यान, कीर्तन और स्वाध्याय आदि से व्यर्थ भाषण छूटता है। भगवत्चिन्तन से व्यर्थ चिन्तन की निवृत्ति होती है। आसन, स्थिरता और भगवत्सेवा से व्यर्थ क्रिया दूर होती है। भगवान् के गुण और शास्त्र श्रवण से व्यर्थ श्रवण की निवृत्ति होती है और भगवत्प्रतिमादि के दर्शन से व्यर्थ दर्शन दूर होता है।

तीन बातें सदा याद रखनी चाहियें:—(१) दीनता (२) आत्मचिन्तन (३) गुरुसेवा।

भजन के विघ्न ये हैं:—(१) लोक में मान-प्रतिष्ठा होना। (२) देश-देशान्तर में ख्याति होना। (३) धन-लाभ होना। (४) स्त्री में आसक्ति होना। (५) संकल्पसिद्धि अर्थात् जिस पदार्थ की इच्छा हो उसी का प्राप्त हो जाना।

भगवत्प्राप्ति के लिये ये साधन अवश्य करने चाहियें:—(१) सहन-शीलता का अभ्यास (२) समय को व्यर्थ न गँवाना। (३) पदार्थ पास होते हुए भी भोगने की इच्छा न करना। (४) निरन्तर इष्टदेव का चिन्तन करना। (५) सद्गुरु की शरण ग्रहण करना।

श्री भगवान् चार मनुष्यों पर अधिक प्रेम करते हैं और चार पर अधिक क्रोध करते हैं। इन चार पर अधिक प्रेम करते हैं:—

(१) दान करने वाले पर प्रेम करते हैं, किन्तु जो कंगाल होते हुए भी दान करता है उस पर अधिक प्रेम करते हैं।

(२) शूरवीर पर प्रेम करते हैं, किन्तु जो शूरवीर विचारवान होता है उस पर अधिक प्रेम करते हैं।

(३) दीन पर प्रेम करते हैं, किन्तु जो धनी होकर भी दीन हो जाता है उस पर अधिक प्रेम करते हैं।

(४) भक्त पर प्रेम करते हैं, किन्तु जो धनी होकर बचपन या जवानी से ही भक्ति करता है उस पर अधिक प्रेम करते हैं।

इन चार पर अधिक क्रोध करते हैं:—(१) लोभी पर क्रोध करते हैं, किन्तु जो धनी होकर लोभ करता है उस पर अधिक क्रोध करते हैं।

(२) पाप करने वाले पर क्रोध करते हैं, किन्तु जो बुढ़ापे में पाप करता है, उस पर अधिक क्रोध करते हैं।

(३) अहंकारी पर क्रोध करते हैं, किन्तु जो भक्त होकर अहंकार करता है उस पर अधिक क्रोध करते हैं।

(४) क्रिया-भ्रष्ट पर क्रोध करते हैं, किन्तु जो विद्वान होकर क्रिया-भ्रष्ट होता है उस पर अधिक क्रोध करते हैं।

विश्वास करो, मंगलमय श्रीहरि तुम्हारे साथ निरन्तर खेल रहे हैं। दुःखी क्यों होते हो? दुखी होना अपने को अविश्वास की अवस्था में डालना है। सारी परिस्थितियों के रचयिता ईश्वर हैं। जिन प्रभु ने तुम्हें पैदा किया है, जिन प्रभु ने तुम्हारी जीवन-रक्षा के लिये नाना वस्तुओं की सृष्टि की है, जिन प्रभु ने सूर्य और चन्द्रमा जैसी मनोहर दिव्य वस्तुएँ दी हैं, वे ही प्रभु तुम्हें बुद्धियोग भी प्रदान करेंगे। किन्तु आवश्यकता है सर्वतोभावेन अपने को उनके ऊपर छोड़ देने की—निछावर कर देने

की। अपनी सारी अहंता और ममता को उन्हीं के चरणों में रख दो। अहंता और ममता ही बन्धन हैं। बन्धन में क्यों पड़े हो ? इस महादुःखदायी बन्धन को अपना महाशत्रु समझ उतार कर फेंक दो।

जिस कार्य से भगवच्चिन्तन में कमी हो उसे कभी न करे। एक समय या दो समय भूखे रहने से यदि भजन बढ़ता हो तो वही करना चाहिये। जहाँ तक हो खर्च कम करे, आवश्यकताओं को न बढ़ावे। विरक्त को तो माँगना ही नहीं चाहिये। साधु दाल-रोटी माँगकर खा ले, या गृहस्थ के घर में जो मिले उसी से निर्वाह कर ले।

जिसे अपना कल्याण-साधन करना हो उसे तीन काम करने चाहिये—जप, ध्यान और स्वाध्याय। इन तीनों कार्यों को नित्य नियमपूर्वक करते रहने से भक्ति, ज्ञान और वैराग्य की सिद्धि हो जायगी। इसलिये इन तीनों कार्यों में कमर कसकर लग जाना चाहिये।

जो संसार की भक्ति करते हैं उन्हें संसार मिलता है और जो भगवान् की भक्ति करते हैं उन्हें भगवान् मिलते हैं। पुरुषार्थ है, इसे चाहे जिस ओर लगा दो।

जिसकी भजन में आसक्ति नहीं है उसे एकान्त में नहीं रहना चाहिये। उसके लिए एकान्त दुःखदायी हो जायगा। एकान्त पाकर उसका मन उस पर शासन करने लगेगा। उसे तो सत्संग करना चाहिये।

जप और भजन करने वाला पुरुष यदि अश्लील शब्द बोलता है तो उसका भजन व्यर्थ जाता हो जाता है। ऐसे भजन से क्या लाभ ?

जिसका भगवान् के साथ सम्बन्ध है उसे राग-द्वेष नहीं होते। जिसके हृदय में राग-द्वेष हैं उसका यह कहना कि मुझे भगवान् का दर्शन हो चुका है, सर्वथा मिथ्या है। राग-द्वेष वाले व्यक्ति को भगवान् कभी नहीं मिल सकते।

साधक के लिये लोकसंग्रह अत्यन्त विघ्नकारी है तथा ब्रह्मचर्य, सरलता, निर्भरता और वैराग्य सहायक हैं। साधन-धर्म परिपक्व हो जाने पर लोकसंग्रह हानिकारक नहीं होता।

गुण-दोष संसारी पुरुष ही देखता है, साधक और सिद्ध दोनों गुण-दोष नहीं देख सकते; क्योंकि साधक को अपने साधन के अतिरिक्त समय नहीं होता, जिसमें वह दूसरों के गुण-दोष देखे तथा सिद्ध को अपने लक्ष्य के अतिरिक्त कुछ प्रतीत ही नहीं होता, फिर वह गुण-दोष किसके देखे ?

विरक्त और भगवत्प्रेमियों के लिये ये दोहे बहुत उपयोगी हैं। उन्हें सर्वदा इनका मनन करना चाहिये—

राजकथा अरु जगकथा, भोजकथा तू त्याग।
ये तीनों त्यागे बिना, पावे नहिं अनुराग॥

रामकथा अरु संतकथा, भक्तकथा तू जान।
इन तीनों के ज्ञान से, पावे पद निरवान॥

रूखी-सूखी खाय के, ठंडा पानी पीव।
देखि पराई चूपरी, मति ललचावे जीव॥

छिनहिं चढ़े छिन ऊतरे, सो तो प्रेम न होय।
अघट प्रेम पिञ्जर बसे, प्रेम कहावै सोय॥

प्रेम सदा बढ़िवौ करे, ज्यों शशिकला सुवेश।
पै पूनो यामें नहीं, तातें कबहुँ न शेष॥

एक नेम यह प्रेम को, नेम सबै छुटि जायँ।
पै जो छाँड़ै जानिकै, तहाँ प्रेम कछु नाहिं॥

जिस प्रकार के पुरुषों का संग होता है उसी विषय की बातें हुआ करती हैं। जैसे व्यापारियों से व्यापार की, साधुओं से परमार्थ की और भक्तों से भगवान् की ही चर्चा होगी। अतः सर्वदा अपनी निष्ठा वालों का ही संग करना चाहिये। उनके संग से अपने लक्ष्य की दृढ़ता प्राप्त होती है।

कृष्ण कृष्ण के उच्चारण से कृष्ण-प्राप्ति

(परमहंस श्री स्वामी अखण्डानन्द जी सरस्वती महाराज)

'कहीं इस तरह भी जप किया जाता है ? धीर-गम्भीर भाव से अर्थ का अनुसन्धान करते हुए अन्तस्तल से एक-एक अक्षर का उच्चारण करो। उसके साथ एक हो जाओ। क्या तुम बेगार भरने के लिये संख्या पूरी करते हो ?'—एक सुर से वे इतना बोल गये और मेरा सिर पकड़ कर हिला दिया। मैंने चौंककर देखा तो एक लंबे, तगड़े, गौर वर्ण के तेजस्वी महात्मा मेरी आँखों के सामने खड़े हैं। मैंने माला वहीं छोड़ दी, सिर से उनके चरणों का स्पर्श किया जिस चौकी पर बैठकर मैं जप कर रहा था, उस पर उन्हें बैठा दिया और मैं स्वयं उनके चरणों के पास जमीन पर ही बैठ गया।

महात्मा मेरे अपरिचित नहीं थे। मैंने इन्हें तब देखा था जब मेरी अवस्था आठ वर्ष की भी नहीं रही होगी। ये कभी कभी मेरे बाबा के पास आया करते थे। इनके दिये हुये नारियल के प्रसाद मुझे भूले नहीं थे। उनके भरे हुये मुखमण्डल पर एक ऐसी आकर्षक ज्योति जगमगाती रहती थी, जिसे एक बार देख लेने पर दिल में गहरी छाप पड़ जाती थी। गठा हुआ नैपाली शरीर, लोगों से कम मिलना-जुलना और अपनी कुटी में रहकर एकान्त साधन करना—यही उनके जीवन की विशेषताएँ थीं। वे चौमासे में प्रायः नैपाल चले जाते थे। और बाकी महीनों में मेरे गाँव से दो मील की दूरी पर एक विशाल वटवृक्ष की छाया में बनी छोटी सी कुटिया में रहते थे। मैं न जाने कितनी बार इनसे मिला था परन्तु आज की तरह नहीं। आज तो चार बजे रात को जब मैं अपनी जप-संख्या पूरी करने के लिये जल्दी-जल्दी माला फेर रहा था, तब अचानक इनके दर्शन हुए और उपर्युक्त बात कहकर ये उस छोटी-सी चौकी पर बैठ गये। वे मौन थे, उनके चरणों की ओर देखता हुआ मैं भी मौन था। इस प्रकार पन्द्रह-बीस मिनट तो बीत ही गये होंगे।

उन्होंने अपना मौन भंग करते हुये कहा—'मुझे इस समय यहाँ देखकर आश्चर्यचकित होने की कोई बात नहीं। मैंने सुना कि अब तुम उपनिषदादि पढ़कर लौट आये हो और परमात्मा की ओर तुम्हारी कुछ प्रवृत्ति है, तो मन में आया चलें, जरा देख आवें क्या हाल चाल है। इतना सवेरे आने का कारण यह था कि मनुष्यों की प्रवृत्ति जानने के लिये यही समय उपयुक्त है। किसी मनुष्य की आन्तरिक प्रवृत्ति जाननी हो तो यह देखना चाहिये कि वह क्या करता हुआ सोता है और क्या करता हुआ जागता है। ये दोनों ही अवस्थायें मनुष्य को उसकी रुचि और प्रवृत्ति के समीप रखती हैं। तुम्हें जप करते देखकर मुझे बड़ा सुख हुआ। तुम्हारी शुभेच्छा और तत्परता प्रशंसनीय हैं परन्तु इसमें कुछ संशोधन की आवश्यकता है।' मैंने जानना चाहा कि क्या संशोधन होना चाहिये, परन्तु उन्होंने उस समय मेरे प्रश्न को टालते हुये कहा 'चलो, अभी तो गंगा जी चलें। शुद्ध प्रभाती वायु के सेवन से शरीर में एक नवीन स्फूर्ति का प्रवाह होने लगता है, मन प्रसन्न होजाता है और शारीरिक व्यायाम भी हो जाता है। इसलिये चलो गंगा जी, गंगास्नान तो होगा ही, प्रातःकालीन भ्रमण भी हो जायेगा।' वे आगे आगे चले और मैंने उनका अनुसरण किया।

गङ्गाजी के प्रति मेरा सहज आकर्षण है। गङ्गाजी का पुलिन, उनके तट के वृक्ष, उनकी अठखेलियाँ करती हुई तरङ्गे मेरे मन को बरबस हर लेती हैं। मेरे मन में एक नहीं अनेक बार ऐसी इच्छा होती

है कि मैं गङ्गातट पर रहूँ, केवल गंगाजल पीऊँ और स्वर्ण सी चमकती, नवनीत सी कोमल बालुकाओं पर मन भर लोटूँ, लोटता ही रहूँ। जब मैं परमहंसजो के पीछे पीछे चला तब मेरे मन में केवल यही कल्पना थी कि आज परमहंस जी के साथ गंगा जी में खूब स्नान करूँगा। उनसे जप और ध्यान की विधि सीखूँगा॥ रास्ते में न वे बोले न मैं दोनों मौन रहे, परन्तु गंगा जी की दूरी ही कितनी थी? बस एक मील से कुछ अधिक॥ बात की बात में हम वहाँ पहुँच गये। शौच, स्नान, सन्ध्या, तर्पण आदि नित्य-कृत्यों से निवृत्त होकर वहीं मनोहर वटवृक्ष के नीचे हम लोग बैठ गये। परमहंस जी का रुख देखकर मैंने उनसे पूछा—'भगवन्! जप में संख्या-पूर्ति का ध्यान न रक्खें तो काम कैसे चले? क्या जल्दी-से-जल्दी अधिक से अधिक नाम-जप करलें, यह उत्तम नहीं है? उन्होंने कहा—'उत्तम क्यों नहीं है? भगवान् का नाम चाहे जैसे लिया जाय, उत्तम ही है। परन्तु नामजप के साथ यदि भाव का संयोग हो, प्राणों का संयोग हो और रस लेते हुए नाम-जप किया जाय तो इसका फल पग पग पर मिलता जाता है। एक-एक नाम का उच्चारण अपरिमित आनन्द का दान करने वाला होता है। केवल नामोच्चारण सफल तो होता है, परन्तु कुछ विलम्ब से।

'देखो, तुम्हें मैं स्पष्ट बतलाता हूँ। इस प्रकार परमहंस जी बोलने लगे—'साधारणतः नाम-जप वाक्-इन्द्रिय का काम है। वाक्-इन्द्रिय एक कर्मेन्द्रिय है, इसका सञ्चालन प्राण-शक्ति के द्वारा होता है। वाक्-इन्द्रिय से जप करने का अर्थ है प्राणों के साथ उसको एक कर देना। यदि जप स्वर से होता है, जिह्वा की एक नियमित गति रहती है, तो प्राणों की गति भी नियमित रूप धारण कर लेती है। बेसुरे ढंग से एक साँस में पाँच-सात बार राम राम कह जाने की अपेक्षा एक बार स्वर से कहना उत्तम है। गम्भीरता के साथ 'रा......म, रा......म' इस प्रकार जप करने में प्राणायाम की अलग आवश्यकता नहीं होती। क्रिया-शक्ति पर नियन्त्रण होने के कारण आसन स्वयं सिद्ध हो जाता है। यहाँ तक तो स्थूल क्रिया की बात हुई। जप केवल कर्मेन्द्रिय से ही नहीं होता। अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा वाक्-इन्द्रिय की विशेषता यह है कि वाक्-इन्द्रिय के साथ एक ज्ञान-इन्द्रिय, रसना भी रहती है। अधिकांश तो वाक्-इन्द्रिय से ही जप करते हैं। उसमें रसनेन्द्रिय का उपयोग नहीं करते। उपयोग करने की तो बात ही क्या, उसका स्वरूप ही नहीं जानते। रसना का काम है रस लेना। वाक्-इन्द्रिय से नाम का उच्चारण हो और रसना उसका रस ले, प्रत्येक नाम की मधुरता का आस्वादन करे—यह परिणाम में ही नहीं, वर्तमान में भी सुखद है। इस प्रकार रस की धारणा करने से प्रत्याहार की अलग आवश्यकता नहीं होती, ज्ञानेन्द्रिय और मन का एकत्व हो जाता है। नियमित गति से वाक्-इन्द्रिय प्राण में लय हो जाती है और रस लेने से ज्ञानेन्द्रिय मन में लय हो जाती है। इस समय यदि मन्त्रार्थ का चिन्तन रहा, तो यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इस चिन्तन में प्राण और मन दोनों एक हो जायँगे। प्राण और मन का एकत्व ही सुषुम्णा का सञ्चार है और यही पहले ध्यान की एवं पीछे समाधि की अवस्था है। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि जप में तीन बातें रहें—मन्त्र का उच्चारण गम्भीरतापूर्वक नियमित गति से हो, मन्त्र की मधुरता का आस्वादन हो और मन्त्र के अर्थ का चिन्तन हो, तो किसी भी हठयोग या लययोग की आवश्यकता नहीं है, केवल जप से ही पूर्णता प्राप्त हो जाती है। एक बात और! मन्त्रार्थ का यह तात्पर्य नहीं है कि उसके शब्दों का अलग-अलग अर्थ जान लिया जाय। मन्त्र के एकमात्र अर्थ हैं अपने इष्ट देवता; उनका जो

स्वरूप अपने चित्त में हो, उसका चिन्तन ही मन्त्रार्थ चिन्तन है।'

'यदि तुम इस बात को समझकर इसके अनुसार जप कर सकोगे तो तुम्हें अवश्य सफलता मिलेगी।' इतना कहकर उन्होंने अपने उपदेश का उपसंहार किया। मैं अभी कुछ और सुनना चाहता था। मुझे परमहंस जी के उपदेशानुसार जप करने में बड़ी कठिनाइयाँ मालूम होती थीं। परन्तु मैंने अब इस समय कुछ पूछना उचित न समझा, धूप हो रही थी, यह मालूम नहीं था कि ये अपनी कुटी पर जायँगे या मेरे घर। इसलिये मैं चुप हो रहा और मेरा भाव समझकर उन्होंने वहाँ से यात्रा कर दी, मैं भी उनके पीछे पीछे चल पड़ा।

परमहंस जी की कुटिया बड़े सुन्दर स्थान पर थी। जल का बड़ा भारी ताल, बड़े सुन्दर-सुन्दर घने वृक्ष देखने योग्य थे। परमहंस जी तो कभी-कभी उन वृक्षों से ही घंटों बात करते रह जाते थे। आस-पास के गाँवों में वे सिद्ध के रूप में प्रख्यात थे इस लिये उनकी इच्छा के विपरीत वहाँ कोई नहीं जाता था। जब हम वहाँ पहुँचे तो सर्वथा एकान्त था। मुझे बाहर छोड़कर परमहंस जी अपनी एकांत कुटिया में ध्यानस्थ हो गये और मैं बाहर बैठकर साधन की कठिनाइयों पर विचार करने लगा। मैं सोच रहा था साधन तो सुगम से सुगम होना चाहिये। जन्म-जन्म से कठिनाइयों के चक्र में फँसता हुआ जीव यदि भगवान् की ओर चलने में भी कठिनाइयों के अन्दर ही रहे तो फिर साधन और साधारण स्थिति में अन्तर ही क्या रहा! अपनी असमर्थता, दुर्बलता और चञ्चलता को देखकर निराश हो गया। मैंने सच्चे हृदय से प्रार्थना की हे प्रभो, मुझे मालूम नहीं कि तुम कैसे हो, कहाँ रहते हो और तुम्हारे पास पहुँचने का क्या साधन है? मैं यह सब जान सकूँ, इसका भी मेरे पास कोई उपाय नहीं है। मुझ आश्रय-हीन के तुम्हीं आश्रय हो। मुझ दीन के तुम्हीं दयालु हो, मुझ भिखारी के तुम्हीं दाता हो। मैं तुम्हारी शरण में हूँ। मुझे तुम्हीं अपना मार्ग दिखाओ, अपना स्वरूप लखाओ और अपनी प्राप्ति का साधन बतलाओ।' मैं प्रार्थना करते-करते तन्मय हो गया।

दो बजे परमहंस जी कुटिया के बाहर आये। प्रसाद पाने के अनन्तर उन्होंने स्वयं कहा—'साधना में कोई कठिनाई नहीं है; यह मार्ग तभी तक बीहड़ मालूम होता है, जब तक इस पर पैर नहीं रक्खा जाता। इस पर चल दो फिर तो तुम्हारी सब कठिनाइयाँ अपने आप हल हो जायँगी। संसारी पुरुष जिसे कठिनाई समझते हैं; वह तो साधकों के लिये वरदान है। कठिनाई में ही उनकी आत्मशक्ति और आत्मविश्वास का विकास होता है। जिसने यह निश्चय कर लिया है कि मैं अपने साध्य को प्राप्त करके ही रहूँगा, भला ऐसी कौन सी कठिनाई है जो उसे अपने मार्ग से विचलित कर सके? कठिनाई भी एक साधना है जो साधकों को नीचे से ऊपर की ओर ले जाती है जिसके जीवन में कठिनाई नहीं आयी, वह जीवन के मार्ग में कुछ आगे भी बढ़ा है, इसका क्या सबूत है?'

और भी बहुत-सी बातें हुईं, उनका मेरे चित्त पर बड़ा प्रभाव पड़ा। मैंने निश्चय किया कि अब चाहे कुछ भी हो जाय, कठिनाइयों की परवाह किये बिना मैं आज से ही साधन में लग जाऊँगा। मुझे ऐसा मालूम हुआ, मानो परमहंस जी के शरीर से उनके नेत्रों से एक दिव्य शक्ति निकलकर मेरे अन्दर प्रवेश कर रही है और मुझमें एक अद्भुत उत्साह की स्फूर्ति हो रही है। मैं उनके सामने बैठा-बैठा ही एकाग्र हो गया। मेरे चित्त में स्थिरता और शान्ति का उदय हुआ। मैं जान सका कि अब मेरी साधना में कोई विघ्न नहीं पड़ेगा।

घर लौटने पर मैंने परमहंस जी के उपदेशानुसार जप करना प्रारम्भ किया। मैं स्थिर आसन

से बैठकर अपनी पूरी शक्ति लगाकर नाम का उच्चारण करता, परन्तु ओंठ मेरे हिलते न थे। मैं जप करता 'कृ······ष्ण ! कृ ···ष्ण !! परन्तु यह क्रिया प्राणों की शक्ति से ही सम्पन्न होती। पूरा मन जप में ही लगा रहता। रसनेन्द्रिय स्वाद भी लेती। पहिले कुछ दिनों तक तो यदि कभी मन असावधान हो जाता, तो जप ऊपर-ही ऊपर होने लगता। परन्तु कुछ ही क्षणों में यह मालूम हो जाता कि बिना शक्ति लगाये जो जप हो रहा है, उसका मेरे शरीर और अन्तःकरण पर कोई दृश्य प्रभाव नहीं पड़ रहा है। मैं तुरन्त सजग हो जाता और फिर बलपूर्वक नाम का उच्चारण करने लगता। मुझे प्राणों की ओर ध्यान नहीं रखना पड़ता था। मैं तो केवल बल की ओर ही ध्यान रखता था; परन्तु प्राणों की गति स्वयं ही नियमित और नामानुवर्तिनी हो जाती थी। नाम के उच्चारण के समय 'कृ' का कम्पन कण्ठ में और 'ऋ, ष्, ण' का मूर्धा में होता था, इससे अपने-आप ही प्राणों की गति मूर्धा की ओर हो गयी। अब तो जप करते समय मुझे इसका भी स्मरण नहीं रहता था कि प्राणवायु चल रहा है अथवा नहीं। मेरा मन सहज-रूप से एकाग्र होने लगा।

जब मेरा मन एकाग्र हो जाता अर्थात् और किसी तरफ जाना छोड़कर जप में ही पूरी तरह लग जाता, तब ऐसा मालूम होता कि मैं शरीर नहीं हूँ। शरीर जितना बड़ा ही एक ज्योति-पुञ्ज हूँ। केवल घन प्रकाश, जिसकी आकृति मेरे शरीर-जैसी ही थी, मेरे मन के सामने रहता था। यदि कभी उससे बाहर दृष्टि जाती तो यह प्रकाश-शरीर भी एक हलके प्रकाश से घिरा हुआ दीखता। तात्पर्य यह कि मेरा मन किसी पार्थिव अथवा जलीय पदार्थ को देखता ही न था, केवल तेज का अनुभव करता था। इस तेजोमय शरीर के अन्दर कृ······ष्ण ! कृ······ष्ण ! का उच्चारण होता रहता और ऐसा मालूम होता कि ज्योति की धारा ऊर्ध्वगामिनी हो रही है। यह मेरी भावना न थी, क्योंकि मैं इस प्रकार की भावनाओं को भूलकर जप करना चाहता था। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह मन्त्रवर्णों के संघर्ष का ही फल था।

यह प्रकाश की धारा ऊर्ध्वमुख प्रवाहित होकर मस्तक में केन्द्रित होने लगी। अवश्य ही कई महीनों के अभ्यास के बाद ऐसा मालूम होने लगा था। कभी कभी तो ऐसा मालूम होता कि यदि सहस्र-सहस्र सूर्य इकट्ठे कर दिये जाँय, तो भी इस मस्तक-स्थित प्रकाश की तुलना में नहीं आ सकते; परन्तु उस प्रकाश के केन्द्र में भी कुछ क्रिया होती-सी दिखाई पड़ती और पूरी शक्ति से कृष्ण-कृष्ण का पूर्ववत् जप होता रहता। अब यह इच्छा नहीं होती थी कि जगत् के किसी आवश्यक कार्य के लिये भी मैं अपनी आँखें खोलूँ। परन्तु जब कभी मैं आँख खोलता था, तो बाहर भी मुझे प्रकाश-ही प्रकाश दीखता था। कुछ क्षणों के बाद बाहर की विभिन्नताएं दीख भी पड़ती थीं, तो रह-रहकर उनके अन्दर प्रकाश की एक रेखा चमक जाती थी। प्रायः उस समय भी बिना किसी चेष्टा के मेरे अन्दर जप होता रहता था और कभी कभी तो बाहर की वस्तुओं में भी जप होता हुआ दीखता था, मानो पृथ्वी का एक-एक कण कृष्ण-कृष्ण कह रहा हो।

थोड़े ही दिनों के अभ्यास से ऐसा मालूम होने लगा कि मस्तक में दीख पड़ने वाला प्रकाश मानो चैतन्य हो गया है। सूर्य के समान उस प्रकाश में, जो कि चन्द्रमा से भी शीतल था, एक नीलोज्ज्वल ज्योति आती और चमककर छिप जाती। कभी मुकुट दीख जाता, कभी पीताम्बर, कभी चरण-कमलों की नख-ज्योति इस प्रकार चमक जाती कि वह महान् प्रकाश भी निष्प्रभ हो जाता, मानो घने अन्धकार में बिजली चमक गयी हो। अब मेरा ध्यान प्रकाश की ओर नहीं जाता, वह तो रूखा

मालूम होता। मैं सम्पूर्ण अन्तःकरण से केवल उस नीलोज्ज्वल प्रकाश की ही बाट देखता रहता। मेरा सम्पूर्ण अन्तःकरण उसके दर्शन के लिये उत्सुक, व्याकुल और आतुर रहा करता था। एक क्षण भी युग-सा मालूम पड़ता। परन्तु जिस समय वेदना असह्य हो जाती, उस समय वह ज्योति अवश्य ही एक बार नाच जाती थी। इस अनुभूति के समय भी कृष्ण-कृष्ण की धारा कभी बन्द नहीं होती थी।

अब मेरे ध्यान का दूसरा ही रूप हो गया था। जब मैं एकाग्र हो जाता तो इस शरीर की तो स्मृति नहीं रहती थी; परन्तु एक दूसरा शरीर, जिसकी आकृति इससे मिलती-जुलती थी परन्तु इन पञ्च-भौतिक तत्त्वों से जिसकी संघटना नहीं हुई थी, जो ज्योतिर्मय और दिव्य था, प्रकट हो जाता। यह प्रकट हुआ है, यह स्मृति भी नहीं रहती, बल्कि मैं यही हूँ, ऐसा अनुभव होता। उस शरीर से भी कृष्ण-कृष्ण का जप होता रहता। मेरे उस हृदय में भी श्रीकृष्ण के लिये छटपटी थी। मेरी आँखें तरसती रहती थीं उन्हें देखने के लिये। मेरी बाँहें फैली ही रहती थीं उनके आलिङ्गन के लिये। यदि मेरे रोम-रोम का कोई विश्लेषण कर पाता तो देखता कि वे श्रीकृष्ण के संस्पर्श की अभिलाषा से ही गठित हुए हैं। मेरे रग-रग में एक ही बिजली दौड़ती रहती कि मैं श्रीकृष्ण के चरण कमलों की अमृत-धारा से सराबोर हो जाऊँ।

यह बात नहीं कि उस समय मुझे श्रीकृष्ण के दर्शन होते ही न हों, होते थे और बारम्बार होते थे। कभी कभी तो प्रत्येक क्षण के बाद होते थे। परन्तु मुझे उससे संतोष नहीं था। वह एक क्षण का विलम्ब मेरे लिये तो कल्प से भी बड़ा था। वे आते, मैं उन्हें भर आँख देख भी नहीं पाता; वे चले जाते, मैं उनको पहचानने के लिये, हाथों में माला लेकर खड़ा होता और वे लापता। परन्तु यह बात बहुत दिनों तक न रही। वे आते हंसते हुये, बाँसुरी बजाते हुये, ठुमुक-ठुमुक कर चलते हुये आकर कभी मेरे सिर पर हाथ रख देते और कभी प्रेम से मुझे चपत लगा देते, मेरा रोम-रोम खिल उठता। आनन्द के आँसू मुझे तर कर देते। मैं उनके चरणों का स्पर्श करता उन्हें माला पहिनाता, अपने हाथों से उन्हें सुन्दर सुन्दर फल खिलाता, उनके काले काले घुंघराले बालों में फूल गूंथ देता और हाथ में आरती लेकर उनके सामने नाचते नाचते मस्त हो जाता, तन-बदन की सुधि नहीं रहती। जब मैं गिर जाता तो अपने को उनकी गोद में पाता। वे मुझे जगाते, दुलारते, पुचकारते, प्रेम की बातें करते और क्या नहीं करते? मैं उनका था, वे मेरे थे। परन्तु उस समय भी जब मेरी चेतना शरीरोन्मुख होती, तो मैं देखता कि मेरे रोम-रोम में कृष्ण की ध्वनि गूंज रही है। सम्पूर्ण वायुमंडल और आकाश का कोना कोना इस पवित्र गुञ्जार से प्रतिध्वनित हो रहा है। एक अनिर्वचनीय रस प्रत्येक वस्तु के अन्तराल से अबाधगति से झर रहा है।

स्थूल दृष्टि से यह सब मेरे ध्यान की स्थिति थी। परन्तु उस समय मेरे लिये इसके अतिरिक्त दूसरी कोई स्थूलता रहती ही न थी। स्थूल था तो वही सूक्ष्म था तो वही। कम से कम मेरे चित्त में ऐसी ही बात थी। भगवान् का अमृतमय संस्पर्श प्राप्त होता रहे तो स्थूल और सूक्ष्म का प्रश्न ही कहाँ से उठे? जो हृदय में भगवान् के हृदय का रस नहीं प्राप्त कर सकते, वे ही प्रायः शरीर से मिलने के लिये जबानी व्याकुलता प्रकट किया करते हैं। जो हृदय में उस रस की अनुभूति से निहाल होते रहते हैं वे उसको छोड़कर बाहर आवेंगे ही क्यों जिससे कि उन्हें बाहर की चिन्ता करनी पड़े? मैं उस समय अपनी उस स्थिति में रस का अनुभव करता था, उसी में रहना चाहता था। जिस स्थिति या जिस स्थूल शरीर में आने पर मैं उससे वञ्चित हो जाता, उससे आने की मैं इच्छा ही क्यों करता?

लोगों की प्रेरणा से यदि मैं स्थूल व्यवहार में आता तो क्षण-क्षण अन्तर्जगत का आकर्षण मुझे वहीं जाने के लिये खींचता रहता। बाहर का काम समाप्त होते ही मैं वहाँ पहुँच जाता।

एक दिन मैं गङ्गास्नान करके लौट रहा था, रास्ते में पलाश के विशाल जंगल को देखकर इच्छा हुई कि यहीं बैठ जायँ। मैं एक छोटे से वृक्ष की मनोहर छाया में बैठ गया। जाड़ का दिन था। उतने सवेरे वहाँ कौन आता? एकान्त इतना था कि वायुमण्डल की झन-झन आवाज़ आ रही थी। मैंने स्वस्तिकासन से बैठकर हाथों को गोद में रक्खा और आँखें बन्द करके कृष्ण कृष्ण की ध्वनि पर तनिक जोर लगाया। परन्तु यह क्या? पलकें बन्द रहना नहीं चाहती। एक शक्तिमान प्रकाश पलकों की दीवार लाँघकर आँखों में घुसा जा रहा था और मैं बल लगाने पर भी आँखों को बन्द करने में असमर्थ था। आँखें खुलीं तो देखा, न वहाँ जंगल है, न वृक्ष है, जिसके नीचे मैं बैठा था और जिसकी स्मृति अभी ताज़ी थी। चारों ओर एक घना प्रकाश फैला हुआ था और उसके बीच में ज्यों का त्यों स्वस्तिकासन से बैठा हुआ था। मैंने सोचा, शायद यह मेरे मन की ही लीला हो; मैंने फिर आँखें बन्द करने का प्रयत्न किया, परन्तु मेरी पलकें टस से मस नहीं हुईं। विवश होकर मैंने सामने देखा—पृथ्वी से करीब एक हाथ ऊपर एक त्रिभुवन सुन्दर बालक मुस्करा रहा है। शरीर गौरवर्ण था, फूलों की ही कछौटी थी, फूलों का ही मुकुट, हाथों और चरणों में भी फूलों का ही दिव्य आभूषण था साथ ही मुकुट पर मयूर-पिच्छ था और दोनों हाथों में बाँसुरी थी, जो अधरों से लगी हुई थी और जिसकी सुरीली आवाज़ मेरे प्राणों में प्रवेश कर रही थी। देखकर मैं चकित हो गया। बांसुरी और मयूरपिच्छ से स्पष्ट हो रहा था कि ये कृष्ण हैं। मन ने कहा कि ये तो श्याम-सुन्दर हैं, ये गौरसुन्दर कहाँ से? मैंने उनके चरणों में साष्टांग लोट जाना चाहा, परन्तु मेरा शरीर जड़ हो गया था, वह हिल तक नहीं सका। मैंने बोलकर अपने मन का भाव उन पर प्रकट करना चाहा परन्तु मुंह खुला ही नहीं। मैंने हाथ जोड़ने की चेष्टा की; परन्तु हाथ अपने स्थान से उठे नहीं। हृदय आनन्दित था, शरीर रोमाञ्चित था, आँखों में आँसू थे। मैं केवल देख रहा था उनको और वे मुस्कराते हुये बाँसुरी बजाते हुये, ठुमुक-ठुमुककर नाचते हुए ऊपर ही ऊपर कभी दायें, कभी बायें और कभी सामने आकर ठिठक जाते थे मैं केवल देख रहा था। इस प्रकार न जाने कितना समय बीत गया।

उन्होंने अपना मौन तोड़ा, मेरे कानों में मानो अमृत की धारा प्रवाहित होने लगी। वे बोले—'मैं गौर भी हूँ, श्याम भी हूँ। मैं अपनी लाड़िली का ध्यान करता रहता हूँ न? तुम मुझे स्पर्श करना चाहते हो, मुझ से बोलना चाहते हो, केवल इस समय, केवल इस रूप के साथ। यह सम्पूर्ण जगत जिसमें तुम हो, जिसे तुम देखते हो, यह मेरी लीलाभूमि है। इसके एक-एक कण में मेरी रासलीला हो रही है और यह सब मेरा और मेरी प्रिया का ही रूप है। तुम इन्हें स्थूल, सूक्ष्म अथवा कारण रूप में देखते हो, यह तुम्हारा दृष्टि-दोष है। तुम पूर्व को पश्चिम क्यों समझ रहे हो? तुम मुझको जगत् क्यों समझ रहे हो? यह सब मेरे युगल रूप की क्रीडा है। जिसे जगत के लोग उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट रूप में देखते हैं, उसके भीतर, उसके गुह्यतम प्रदेश में, जहाँ उनकी आँखें नहीं पहुँच पातीं, वहाँ मेरी अनादि और अनन्त रसमयी, मधुमयी, लास्यमयी और एकरस रासलीला हो रही है।' भगवान् चुप हो गये। आँखें जिधर जाती थीं, युगल-सरकार और उनको घेरकर नाचती हुई सखियाँ ही दीखती थीं। अपना

शरीर, जगत्, एक-एक सङ्कल्प और सम्पूर्ण वृत्तियाँ उसी लीला से परिपूर्ण हो रहीं थीं। न जाने कितनी देर तक यही लीला देखता रहा। अन्त में मैंने देखा युगल सरकार मेरे सामने हैं और सखियाँ उनकी सेवा कर रही हैं। जब मैं उनके चरणों का स्पर्श करने के लिये झुका तो स्पर्श करते-न-करते देखा कि वे वहाँ नहीं हैं और मैं उसी जंगल में उसी वृक्ष के नीचे बैठा हूँ और मेरे रोम-रोम से कृष्ण-कृष्ण की गम्भीर ध्वनि निकल रही है। जब मेरी आँखों ने चकित होकर कुछ दूर तक देखा तो सामने से गेरुए वस्त्र से अपना शरीर ढके हुए हाथ में कमण्डल लिये परमहंस जी आ रहे थे!

दुःख से असीम उपकार

(श्री स्वामी पलकनिधि 'पथिक' जी महाराज)

दुःख की अत्यन्त अद्भुत महिमा है। प्रायः मनुष्य दुःखों से डरते हैं; पर यह नहीं जानते कि इस संसार में यदि कोई आया तो सुख की माया में मुग्ध होकर ही आया और यहाँ जो कोई बन्धन से जकड़ा गया तो सुख की मादकता में मतवाला होकर ही जकड़ा गया; साथ ही यहाँ जो भी बन्धन से छूटा वह दुःखों की ही कृपा से छूट सका।

इस जगत् की छद्मवेशी आकृति प्रकृति का यदि किसी को ज्ञान हुआ, तो दुःख की ही दया से ज्ञान हुआ। पापी से कोई धर्मात्मा बना तो दुःख ही के शुभ मुहूर्त्त से उसने यात्रा की। अज्ञान अन्धकार से यदि कोई ज्ञान प्रकाश की ओर वापस हुआ तो दुःख ने ही उसे लौटने का बल दिया।

दुःख की तो विशेषता ही यही है कि वह जीवन को शुद्ध करने आता है; विनाश-पथ में जाने वाले पथिकों को अमृत का मार्ग बताने आता है, अंधकार में भूले हुओं को प्रकाश का ज्ञान कराने आता है। यह दुःख ही तो अधर्मी को धर्म की ओर, रागी को त्याग की ओर, द्वेषी को प्रेम की ओर, स्वार्थी को परमार्थ की ओर प्रेरित करने और पथ-प्रदर्शन करने आता है।

बुद्धिमान् पुरुष जब दुःख से होने वाले महत् लाभ को समझ लेते हैं, तब वे दुःख के आते ही सावधान होकर अपने दोषों का गहराई से निरीक्षण करते हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि दोषों के हुए बिना दुःख आ ही नहीं सकता। दोषों की उत्पत्ति सुख के लोभवश होती है, और संसार में सुख का लोभ अज्ञानवश ही होता है।

यह अज्ञान दूर होता है ज्ञान से और ज्ञान की प्राप्ति, विचार करने पर ही होती है; वह विचार की दृष्टि दुःख की दया से खुलती है।

दुःख सुख दोनों संसार की वस्तुएं हैं परन्तु दुःख मनुष्य को संसार के प्रत्येक बन्धन से मुक्त करने का द्वार खोलता है, जबकि सुख प्राणी को संसार में सभी प्रकार से बाँधता ही रहता है।

सुख से भोग में और दुःख से योग में प्रवृत्ति होती है। जहाँ यह सुख मनुष्य को विविध वैभव-ऐश्वर्य में मदोन्मत्त बनाता है, जहाँ यह ऐहिक बल-विभूतिसम्पन्नजनों को अभिमानी एवं कठोर बनाकर, झूठे परिवर्तनशील पदार्थों के स्वामित्व का भोगी बनाकर, रोगी और शक्तिहीन कर देता है, वहीं पर दुःख हरएक अभिमानी तथा मदोन्मत्त मानव के ऐश्वर्य, वैभव और मद को अपने आघात से चूर्ण करते हुए उसे सरल एवं विनम्र बनाता है।

भयानक से भयानक पशु-प्रकृतिप्रधान मनुष्य के सुधार का शुभ मुहूर्त इस दुःख के द्वारा ही सत्वर प्राप्त हो जाता है। आलसी-प्रमादी को कर्तव्यपरायण, कंजूस को दानी, क्रोधी को दयालु, क्षमाशील और कठोर को नम्र बनाने वाला यह दुःख ही है।

जब मनुष्य के अज्ञानजनित दोषों को शक्तिमान् का भय नहीं दूर कर सकता, जब उन्हें सन्त-सद्गुरुदेव अपने उपदेश से भी नहीं मिटा पाते, जब दोषों की अधिकता में वेद, शास्त्र, श्रुति, स्मृति की भी कुछ नहीं चलती, तब वहीं पर परमशक्ति की विलक्षण लीला से एकमात्र दुःख को ही सफलता प्राप्त होती है, जो दोषों को खाते हुए कभी थकता ही नहीं। अन्ततः दुःख की ही विजय होती है।

आप इस बात को न भूलिये कि संसार के शक्तिमय क्षेत्र में जो कुछ भी बोयेंगे उसी को कई गुना अधिक फल के रूप में काटेंगे। जो देंगे वह कई गुना अधिक होकर आपको मिलेगा। यदि आप दुर्गुण-दोषों की प्रकृति द्वारा अपने आस-पास दुःख बिखेरते रहेंगे तो इन्हीं के विस्तार में आपका जीवन घिरता जायगा और यदि अपनी सद्गुणी प्रकृति द्वारा अपने चतुर्दिक सुख फैलाते रहेंगे, तो अनेक गुना बढ़कर यही आपके चारों ओर स्थित होगा। यदि आप सुख भोग से दोषों की वृद्धि का स्मरण करके भोगी न बनेंगे तभी आपको सत्यानन्द का योग प्राप्त होगा, अन्यथा नहीं।

वे मनुष्य तो निरे मूढ़ ही हैं, जो स्वयं किसी को सुख नहीं देते बल्कि दूसरों को दुःख देकर उनका सुख छीनते रहते हैं। ऐसे प्राणियों को छीने हुए सुख से भला कब तक सन्तोष मिलेगा? सुख तो वैसे भी न रहेगा प्रत्युत् दिया हुआ दुःख ही विस्तृत होकर इनके पल्ले पड़ेगा।

किसी को दुःख देकर सुख पाया भी तो कितने दिन के लिये? इसलिये आप उस परवश सुख का लोभ ही त्याग दीजिये और जो कुछ भी आपके पास सुख हो उसकी रक्षा के लिये दरिद्र, कञ्जूस न बनिये, बल्कि उदारतापूर्वक उसे किसी दुःखी को देते रहिये। ऐसा करने से आप ऐसी शान्ति रूपी सम्पत्ति के धनी होंगे जिसके आगे सांसारिक सुख-राशि का कुछ मूल्य ही न रह जायगा।

दुःख रूप में कृपा

दुखों से अगर चोट खाई न होती।
तुम्हारी प्रभो, याद आई न होती॥
कभी जिन्दगी में ये आँखें न खुलतीं।
अगर रोशनी तुमसे पाई न होती॥
कहीं पर मुझे चैन मिलती न जग में।
जो तुमने मुसीबत मिटाई न होती॥
बनी तुमसे लाखों की, हम मानते क्यों?
हमारी जो बिगड़ी बनाई न होती॥
'पथिक' से पतित की भला कौन सुनता।
तुम्हारे यहाँ जो सुनाई न होती॥

भाग्य-निर्माता मानव

(श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज)

भारत की महान् विभूति स्वामी रामतीर्थ जिस समय कालेज में प्रोफ़ेसर थे उस समय उन्होंने अपने विद्यार्थियों की बुद्धि की परीक्षा लेने के निमित्त बोर्ड पर एक लकीर खींची और विद्यार्थियों से कहा कि इस लकीर को छोटा करो। एक विद्यार्थी उठा और बोर्ड के समीप पहुँच कर उस लकीर को एक ओर से मिटाकर छोटी करने लगा। प्रोफ़ेसर महोदय ने कहा मैंने तुमसे इस लकीर को छोटा करने के लिये कहा था, मिटाने के लिये नहीं। सभी विद्यार्थी विचार में पड़ गये। उनकी समझ में नहीं आया कि बिना मिटाये इस लकीर को किस प्रकार छोटा किया जा सकता है। कुछ देर बाद एक विद्यार्थी उठा। उसने प्रोफ़ेसर साहब की बनाई हुई लकीर के ऊपर एक उससे बड़ी लकीर खींच दी। प्रोफ़ेसर महोदय उस कुशाग्रबुद्धि विद्यार्थी से बहुत प्रसन्न हुये। स्वामी राम ने विद्यार्थियों से कहा—इस प्रकार आप को शिक्षा मिलती है कि यदि आप इस संसार में बड़ा आदमी बनना चाहते हैं तो किसी को मिटाकर नहीं बन सकते। बड़ा बनने के लिये आपको बड़े काम करने पड़ेंगे। यदि कोई व्यक्ति किसी का अपमान करके अपने मान की इच्छा करता है तो यह उसकी भूल है। खेत में जो बीज बोया जाता है, समय पर उसी के फल प्राप्त होंगे। चना बोने या बबूल का वृक्ष लगाने पर सुन्दर मीठे आम की प्राप्ति नहीं हो सकती स्वादिष्ट आम की अभिलाषा है तो आमकी गुठली ही धरती के गर्भ में डाली जायगी। ठीक इसी प्रकार हम जो कुछ करते हैं उसी के अनुसार वातावरण बन जाता है अर्थात् अपना सुखमय अथवा दुःखमय भविष्य वर्तमान के कर्मों में ही सन्निहित है। भूतकाल में हमने जो कुछ किया था, उसीकी प्रतिक्रिया के रूप में हम दुःख या सुख का भोग कर रहे हैं। इसीलिये वैदिक सनातन हिन्दूधर्म तथा एकान्तवासी पूर्वज मनीषियों ने मानव को सावधान किया कि तू स्वयं ही अपने भाग्य का निर्माता है। चारों वेद, शास्त्र, पुराण और उपनिषदों का यही सार है:—

चार वेद छः शास्त्र में बात मिली हैं दोय।
सुख दीन्हें सुख होत है दुःख दीन्हें दुःख होय॥

आज हम दूसरों को दुःख पहुँचाकर स्वयं सुख की कामना करते हैं। औरों की निन्दा करके अपने मान की इच्छा करते हैं। वास्तव में यह मार्ग बिल्कुल विपरीत है, अपनी बड़ाई के लिये दूसरों की बड़ाई करनी पड़ेगी। तुम किसी का मान करोगे तो तुम्हारा भी मान होगा और अपमान करोगे तो प्रकारान्तर से अवश्य अपमान ही हाथ लगेगा। असत्य का प्रयोग करने वाले को सदैव असत्य का ही सामना करना पड़ता है। इस असत् मार्ग का आश्रय लेने का सतत् अभ्यास होते होते आज यह परिणाम निकला कि मनुष्य भक्ति की आड़ में भगवान् को भी ठगने लगा, धोखा देने लगा। फल में जब उसे दुःख और अशान्ति मिलती है तो दोषारोपण करता है भगवान् पर, वास्तव में तो मनुष्य को उसकी भावना के अनुसार ही फल मिला करता है। भगवान् तो सभी के लिये समान रूप से दयालु हैं। आवश्यकता है केवल शुद्ध भावनाओं की।

जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी॥

आज की दुनिया तो निराली ही है। सभी एक दूसरे की गरदन काटने में अपनी भलाई देखते हैं। बजाज के यहाँ कपड़ा लेने जाओ वह गज सरकाकर कम नाप देगा। बजाज यदि हलवाई के यहाँ दूध

लेने जाता है तो वह दूध में पानी मिलाकर देता है और उसे असली दूध जैसा गाढ़ा बनाने के लिये अरारोट मिला देता है । बजाज के घर में एक नन्हा बालक बीमार है, वैद्य ने कहा कि इस रोगी बच्चे को शुद्ध गाय का दूध देना । बजाज हलवाई से पूछता है भैया यह दूध तो ठीक है ? इसमें किसी प्रकार की मिलावट तो नहीं है ? हलवाई हंसकर कहता है—अरे वाह लाला जी ! क्या आपसे ही ऐसा करना है ? लालाजी घर पर दूध लेकर जाते हैं और रोगी शिशु को पिलाते हैं। बच्चे को शुद्ध के स्थान पर अरारोट मिला निषिद्ध, अशुद्ध दूध मिलने से स्वाभाविक ही उसका रोग बढ़ता जाता है और वह माता-पिता की आँखों का तारा नन्हा मुन्ना अकाल में ही काल-कवलित हो जाता है । विचार कीजिये वह हलवाई परोक्ष रूप में क्या उस बालक का हत्यारा नहीं बना ? उसने अपने घर के दो चार प्राणियों के भरण-पोषण के निमित्त यह गर्हित पाप नहीं कमाया ? यदि वह बजाज ठीक कपड़ा नाप कर देता या हलवाई दूध में मिलावट न करता तो परिणाम में दोनों को सुख मिल सकता था । तात्पर्य यह कि हम स्वयं तो चाहे जो कुछ अपराध करें किन्तु दूसरों से सदैव यही आशा करते हैं कि वह हमारे साथ शुद्ध और सत्य व्यवहार करें । वर्तमान युग अधिकांश में धोखाधड़ी का ही युग है । सभी एक दूसरे को धोखा देकर धनोपार्जन करने में चतुरता समझते हैं किन्तु अपने लिये सदैव यही आशा करते हैं कि हमसे कोई ब्लैक-मार्केट न करे । किन्तु ऐसा होना नितान्त असम्भव है क्योंकि प्रकृति का अटल नियम 'इस हाथ दे उस हाथ ले' कदापि नहीं टल सकता । प्रकृति माता के दरबार में किसी की रूरियायत नहीं हो सकती, वह चाहे राजा हो या रंक, विद्वान हो या मूर्ख, सभी के लिये उसका न्याय समान रूप से वितरित होता है । कर्म की यह फिलासफी, मानव जीवन का यह व्यवहारिक ज्ञान हृदयंगम कर साधक को अपनी दिनचर्या निश्चित कर लेनी चाहिये । उसे प्रत्येक-क्षण सावधान रहने की आवश्यकता है कि मेरे द्वारा किसी प्राणी का अहित न होने पावे । यदि किसी को अपनी परिस्थिति से विवश होकर सुख नहीं पहुंचा सकते हो तो दुःख भी न दो । इस मूल-मन्त्र को अपने जीवन में उतार लेने से तुम्हारा प्रत्येक कार्य "सर्वभूतहितेरताः" के सिद्धान्त का समर्थन करता हुआ जनता में जनार्दन की झाँकी कर सकेगा । तुम्हारी अहंता और ममता तब इस वासुदेवमय जगत में विलीन होकर स्वयं वासुदेव-मय बन जायगी । भगवान के इन चलते फिरते मन्दिरों के सच्चे पुजारी बन जाओगे । इसी तत्त्व का प्रतिपादन करते हुये लीला पुरुषोत्तम भगवान श्याम-सुन्दर जी ने अर्जुन से कहा—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।"

अर्थात्—जो मनुष्य जिस प्रकार से, जिस रूप से मुझे स्मरण करते हैं, मैं भी ठीक उन्हीं की भावना के अनुसार उन्हें स्मरण करता हूँ । यदि भगवान् से हार्दिक और सत्य प्रेम की भावना होगी तो प्रेमनिधि भगवान् से बदले में अगाध प्रेम की प्राप्ति हो जायगी । इसके विपरीत यदि दंभ, छल, कपट युक्त प्रेम होगा तो निश्चित् है कि इच्छा न होते हुये दंभ और छल आदि दोष सहस्रों गुना होकर ही मिलेगा । नीम का बीज बोकर आम की इच्छा क्यों ? यह समस्त विश्व विराट भगवान् का साकार रूप है, संसार का प्रत्येक प्राणी उस विराट की उसी प्रकार एक इकाई है जिस प्रकार कि हम उस विराट की एक इकाई हैं । प्रकारान्तर से जो हम स्वयं हैं वही दूसरा भी है । अतएव इस सिद्धांत के अनुसार हम स्वयं दूसरों से जिस व्यवहार की आशा और कामनाएँ अपने भीतर छिपाये रहते हैं, ठीक उसी के अनुरूप हमको भी संसार के सभी

प्राणियों से व्यवहार करना चाहिये। यही सुखद और चिरशान्तिदायी एवं आनन्दमय मार्ग है।

पृथ्वी के गर्भ में अपने अस्तित्व को विलीन करने वाला एक आलू अपने बलिदान से सहस्रों आलुओं की उत्पत्ति का कारण बन जाता है यदि वह आलू अपना अस्तित्व बनाए रखना चाहे तो क्या सहस्रों आलुओं की संख्या बढ़ाई जा सकती है? कदापि नहीं। तात्पर्य यह कि इस संसार में जो व्यक्ति अपने को उन्नति के शिखर पर ले जाना चाहता है, उसे अपना सर्वस्व बलिदान करने के लिये सदैव तत्पर रहना चाहिये। इतिहास में उन्हीं महापुरुषों के नाम स्वर्णाक्षरों में लिखे गये जिन्होंने जनता-जनार्दन की सेवा में अपने जीवन की बाजी लगा दी। कुछ वर्ष पूर्व इतिहास को ही देखिये हथेली पर सर रखकर हँसते-हँसते जिन्होंने अपने सीने पर गोलियाँ खाईं; गर्व से अपने मस्तक को ऊँचा करके जिन्होंने फाँसी के फन्दे को विजय-माल की भाँति अपने गले में पहिना, उन्हीं अमर शहीदों के बलिदानों की भेंट स्वतन्त्रता का यह उपहार आज भारत को प्राप्त हो सका है। स्वतन्त्रता-संग्राम के वे अमर सेनानी भी यदि अपने लौकिक सुखों की ओर दृष्टि रखते, अपना जीवन यदि उन्हें प्रिय होता, माता-पिता पत्नी और बालकों का ममत्व यदि उनमें यत्किंचित् होता तो क्या उनकी गौरव-गरिमा के गीत आज इस रूप में गाये जाते? उन्होंने ही तो वास्तव में मानव जीवन के सार को समझा कि:—

मरना भला है उसका जो अपने लिये जिये।
जीना भला है उसका जो औरों के लिये जिये॥

जीवन और मृत्यु की इस उलझी हुई गुत्थी को तो वास्तव में उन्होंने ही सत्य अर्थों में ही सुलझाया है जिनका एक-एक क्षण परोपकार में ही व्यतीत होता है।

चारपाई पर पड़े-पड़े खों-खों खाँसते हुये, बहुओं और बेटों की जली कटी बातें सुनते-सुनते मरने से तो परोपकारमय जीवन बनाकर सेवा करते-करते शरीर का परित्याग करना लाखों गुना नहीं वरन् करोड़ों गुना अच्छा है। यह बात तो निर्विवाद और निश्चित ही है कि एक न एक दिन शरीर अवश्य छूटेगा और हमारे प्राणपखेरू अपने कर्मों का लेखा-जोखा पूरा करने किसी अज्ञात लोक को उड़ ही जायेंगे। यदि हमने अपनी जीवन-सरिता की द्रुतगामिनी धारा परहित-सागर में विलीन कर दी तो यह लोक और परलोक दोनों अनायास सुधर जायेंगे, मानव जीवन सफल और सार्थक बन जायगा। सार्थक जीवन की परिभाषा के अनेक प्रमाणों से भारतवर्ष का अतीत ओतप्रोत है। आज इस नश्वर जगत में ध्रुव, प्रह्लाद, मीरा, नरसी आदि भक्तों तथा जनता-जनार्दन के सच्चे पुजारी जगद्गुरु शंकराचार्य, स्वामी दयानन्द सरस्वती, विश्ववन्द्य महात्मा गांधी आदि महापुरुषों के पंचभौतिक शरीर नहीं हैं किन्तु उनकी अमर कीर्तिपताका दिग्दिगन्त में यावत चन्द्र दिवाकर फहराती ही रहेगी। क्रूर काल की कराल चक्की में असंख्य चक्रवर्ती सम्राट पिस गये किन्तु आज उन्हें कौन जानता है? वे आये और अपना प्रारब्ध-भोग समाप्त कर चले गये उसी प्रकार जैसे मच्छर, भुनगे, कीट-पतंगे आते हैं और समय समाप्त होने पर चले जाते हैं। स्वतंत्र इतिहास के गौरवमय पृष्ठों पर तो उन्हीं की यशस्वी नामावली अंकित हुई जिन्होंने अपना जीवन जनता के लिए समर्पित कर दिया। अपने और केवल अपने परिवार के चार छः प्राणियों के निमित्त जीवन का प्रत्येक क्षण व्यतीत करने वालों और कोल्हू के बैल में कोई विशेष अन्तर नहीं है। अधिकाधिक धन कमाने की होड़ में अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मानकर पाप-पुण्य की चिन्ता किये बिना, अहर्निशि धनोपार्जन में लगे

हुए श्रीमान् व्यक्तियों को भी भलीभाँति समझ लेना चाहिये कि वे यदि सहस्रों का अधिकार हड़प कर अपना अधिकार बढ़ा रहे हैं तो एक प्रकार से अपने सर पर महान् ऋण का बोझ लादते चले जा रहे हैं। ऋण का परिशोध तो किसी न किसी रूप में होना अवश्यंभावी है ही। यदि इस जीवन में न हो सका तो अनन्त काल तक पशु आदि योनियों के द्वारा अथवा वृक्षादि बनकर अवश्य ही चुकाना पड़ेगा। यदि हमारे वेद, शास्त्र, उपनिषद्, गीता आदि आध्यात्मिक ग्रन्थ सत्य हैं और सत्य के प्रतीक संतों की वाणी सत्य है तो यह भी निर्विवाद सत्य है। यों तो फिर "मूँदिय आँख कतहुँ कोउ नाहीं" की कहावत चल ही रही है।

"अभी तो चैन से गुज़रती है आक़बत की खुदा जाने"

अस्तु। यदि हमारा जीवन अपने ही लिये है तो वह पाप है, इस सत्य की गहरी गाँठ बाँध लीजिये, किसी भी क्षण भुलाने की बात यह नहीं है। मनुष्य का जीवन यदि केवल अपने मात्र तक ही सीमित है, तो उससे चींटा-चींटो, कुत्ते, बिल्ली का जीवन कहीं अधिक अच्छा है क्योंकि उनके द्वारा छल, कपट, दंभ, आदि तो नहीं होते जिन्हें मनुष्य ने अपनी बपौती जैसा अपना लिया। छल कपट आदि आसुरी सम्पत्ति का नितान्त अभाव हुये बिना मनुष्य सच्चा मानव नहीं है। भगवान् श्रीकृष्ण ने स्पष्ट ही अर्जुन से कहा था कि इस प्रकार के आसुरी स्वभाव वालों को निरन्तर नीच योनियों में जाकर महान दुःखों और कष्टों को भोगना ही पड़ता है।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढ़ा जन्मनि जन्मनि।
माम प्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

अर्थात्—हे अर्जुन! वे मूढ़ पुरुष जन्म-जन्म में आसुरी योनि को प्राप्त हुये मेरे को न प्राप्त होकर, उससे भी अति नीच गति को ही प्राप्त होते हुये घोर नरकों में पड़ते हैं।

आज का भौतिकवादी मनुष्य सभ्यता का मिथ्या आडम्बर बनाये रहता है। देहाभिमान को महापुरुषों ने पापों का उद्गम बताया है, इसका नाश हुए बिना लक्ष्य की ओर जाना हो ही नहीं सकता। पापों के मूल देहाभिमान का नाश किए बिना जन्म-जन्मान्तर की पूँजीभूत पाप-राशि भस्म हो ही नहीं सकती। जिस प्रकार घास की ढेरी को अग्नि की एक चिन्गारी भस्म कर सकती है, इसी प्रकार विवेक और वैराग्य रूपी अग्नि से देहाभिमान नष्ट हो जाता है। विचार पूर्वक देखिये तो आपको स्पष्ट और निश्चय रूप से जान पड़ेगा कि चिरकाल के इस महाशत्रु का नाश हुये बिना अपना त्राण असम्भव है। यदि इस मानव जीवन का इस पुरुषार्थ के द्वारा सदुपयोग न हुआ तो मानो जीती हुई बाजी हार गयी। एक कवि ने कहा:—

शरीरों की सेवा शरीरों की पूजा।
नहीं जानते हैं मनुज देव-पूजा॥

बात तो बिल्कुल ठीक ही है। आज हम अपने अन्तस्तल को गम्भीरता से टटोलें तो विदित हो जायगा कि हमारा परोपकार, दान, जप, उपासना आदि सभी कुछ शरीरों की सेवा के लिये ही तो होता है। कोई साधारण सा संकट पड़ा—बताइये महाराज अब क्या करें? कैसे करें? कोई अनुष्ठान बताइये जिससे इस संकट से छुटकारा मिले, भैया! इस प्रकार के अनुष्ठान आदि से अन्तःकरण की शुद्धि नहीं होगी और अन्तःकरण के शुद्ध हुये बिना देहाभिमान का नाश किस प्रकार से हो सकेगा। हाँ तुम्हारे संकट तो दूर हो जायंगे, सांसारिक सुख-समृद्धि भी मिलेगी, लड़के बच्चे हो जायेगें, लड़की का विवाह हो जायगा, मुकदमा जीत जाओगे, यह सब कुछ हो जायगा, किन्तु वह नहीं हो सकेगा जिसके लिये तुम्हें यह देव दुर्लभ कंचन सी काया प्राप्त हुई है। जिनके एक एक रोम में कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड समाविष्ट हैं, उन अखिल ब्रह्माण्ड नायक के खुले दरबार में चींटी से लेकर ब्रह्मा तक सभी की फरियाद सुनी जाती है कोई याचक याचना करके विमुख नहीं लौटता। अब यह तो याचक की इच्छा पर निर्भर है कि वह चाहे तो कंकड़, पत्थर या कांच के टुकड़े माँगे या लाल, मोती, हीरा, जवाहरात।

ईर्ष्या के दोष, स्वरूप तथा उसकी निवृत्ति के उपाय

(पारसमणि से) ❀

ईर्ष्या जीव के धर्म का नाश कर देने वाली है। महापुरुष का कथन है कि जैसे अग्नि लकड़ियों को जला डालती है उसी प्रकार ईर्ष्या शुभ कर्मों को भस्म कर देती है। साथ ही ऐसा भी कहा है कि इस पुरुष को दोषदृष्टि एवं ईर्ष्या से मुक्त होना अत्यन्त कठिन है। परन्तु इसका उपाय यह है कि जब किसी पर दोषदृष्टि उत्पन्न हो तब उसके छिद्रों की खोज न करे और जिसके प्रति कुछ ईर्ष्या होने लगे उसके लिये जिह्वा और हाथों को अपकर्म से रोके रहे। एक बार महापुरुष ने अपने भक्तों से कहा था कि अब मैं तुम लोगों में ईर्ष्या की अधिकता देखता हूँ और इससे पहले भी बहुत लोगों का सर्वनाश हो चुका है। मैं भगवान् की शपथ करके कहता हूँ कि जब तक मनुष्य में धर्म की दृढ़ता नहीं होती तब तक उसे आत्मसुख प्राप्त नहीं हो सकता। और जब तक वह सब मनुष्यों के प्रति सद्भाव एवं प्रेम नहीं रखता तब तक उसमें धर्म की दृढ़ता नहीं होती। प्रभु ने कहा है कि ईर्ष्या करने वाला पुरुष ऐसा विमुख होता है कि जिसे मैं कुछ देता हूँ उसी का वह शत्रु बन जाता है। मैंने जीवों की जैसी-जैसी प्रारब्ध रची है उसे वह ठीक नहीं जान पड़ती। महापुरुष ने भी कहा है कि छः प्रकार के मनुष्य अपने नैसर्गिक स्वभावों के कारण ही नरक में जायँगे—(१) राजा अधर्म के कारण, (२) सिपाही कठोरता के कारण, (३) धनवान् अभिमान के कारण, (४) व्यवहारी लोग छल के कारण, (५) जंगली आदमी मूर्खता के कारण और (६) विद्वान् ईर्ष्या के कारण नरकगामी होंगे। एक संत ने कहा है कि मैं तो किसी से ईर्ष्या नहीं करता, क्योंकि जब मुझे परलोक के सुख का अनुभव होता है तो उसके सामने यह स्थूल सुख तो कुछ भी नहीं है। इसकी मैं क्या ईर्ष्या करूं! यदि संसार के सुखों को भोगकर मुझे नरक में ही जाना है तो उसके द्वारा मैं कब तक सुखी होऊँ!

अब विचार यह करना है कि ईर्ष्या कहते किसे हैं? जब किसी पुरुष को सुख प्राप्त हो और उसके सुखों को देखकर इसे संताप हो तथा यह उस सुख का नाश चाहे, तब इसी का नाम ईर्ष्या है। यह बड़ा ही दूषित स्वभाव है, क्योंकि इससे भगवान् की आज्ञा का विरोध होता है। और यह बड़ी मूर्खता की बात है कि अपने को कोई भी लाभ न होने पर भी दूसरे की हानि चाहे। यह तो हृदय की मलिनता का ही लक्षण है। किन्तु यदि तुम्हें किसी का सुख देखकर सन्ताप तो न हो, केवल वैसा होने की इच्छा ही हो, तो इसे अभिलाषा कहते हैं। यह अभिलाषा यदि धर्म कर्मों में हो तो निस्संदेह सुख का कारण है और यदि भोगों के निमित्त हो तो यह भी अशुभ ही है। इस विषय में महापुरुष ने कहा है कि जिज्ञासु को ईर्ष्या करनी उचित नहीं, किन्तु, ऐसी अवस्था में वह भी अच्छी है जब किसी सात्त्विकी पुरुष को शुभ कर्मों में प्रवृत्त होते देखे अथवा किसी में विशेष उदारता का भाव दिखायी दे और मन में ऐसी इच्छा हो कि किसी प्रकार मैं भी वैसा ही हो जाऊँ। ऐसी स्थिति में यदि वह पुरुष निर्धन भी हो तो भी अपनी सात्त्विकी श्रद्धा के कारण धनवान् की उदारता का फल प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार

❀ यह लेख पू० स्वामी सनातनदेव जी महाराज द्वारा 'पारसभाग' के संशोधित संस्करण 'पारसमणि' से उद्धृत किया गया है। 'पारसमणि' पुस्तक साधकों के लिये वास्तव में 'पारस' ही है। इसमें प्राचीन सन्तों के साधन सम्बन्धी अनुभव के वचन खोज-खोज कर भरे हैं। सजिल्द ६१८ पृष्ठ की पुस्तक का मूल्य केवल ७) है—योग-निकेतन-प्रकाशन, १६ नार्द न एक्सटेन्शन, (पूसा रोड) नई दिल्ली से मंगवायी जा सकती है। —सम्पादक

यदि कोई धनवान् पुरुष अपने धन के द्वारा तरह-तरह के भोग भोगता हो और उसे देखकर किसी धनहीन व्यक्ति की यह इच्छा हो कि यदि मेरे पास धन होता तो मैं भी इसी प्रकार भोग भोगता, तब ऐसा विचार करने पर भी उसी के समान पाप का भागी होता है। तात्पर्य यह है कि किसी की सम्पत्ति और सुख को देखकर ही उससे ग्लानि करनी उचित नहीं। परन्तु यदि कोई अधर्मी राजा अथवा दुराचारी धनिक हो तो उसके भोग-जनित सुख में दोषदृष्टि होना उचित ही है, क्योंकि उसकी सामर्थ्य का नाश होने से उसके पापों का भी अन्त हो जायगा। इसकी पहिचान इस प्रकार हो सकती है कि जब वह अधर्मी राजा अथवा दुराचारी धनिक उस पाप-प्रवृत्ति को त्याग दे और फिर उसकी सम्पत्ति को देखकर चित्त में प्रसन्नता हो एवं उसके प्रति किसी प्रकार की दोषदृष्टि न हो तब समझना चाहिये कि उसके प्रति हमारी ईर्ष्या नहीं है। यद्यपि यह ईर्ष्या ऐसी है कि अकस्मात ही हृदय में इसका स्फुरण हो जाता है और फिर स्वयं ही हृदय से निकलती भी नहीं, तथापि जब यह पुरुष उसके संकल्प को अत्यन्त मलिन समझे और भगवान का भय रक्खे तो उस सूक्ष्म संकल्प के कारण इसे वैसा पाप नहीं लगता। किन्तु जब इसे तटस्थता प्राप्त हो जाय और ऐसी स्थिति हो कि इसके शत्रु का सुख-दुःख भी हाथ में हो, तब इसका यही कर्त्तव्य है कि उसे सुख से वञ्चित न रक्खे। ऐसा करने पर यह ईर्ष्या के दोष से सर्वथा मुक्त हो सकता है।

ईर्ष्या एक दीर्घ रोग है और इससे, हृदय को ही दुःख होता है। अतः इसकी निवृत्ति का उपाय भी विचार और क्रिया के सम्बन्ध पूर्वक ही हो सकता है। विचार तो यही है कि ईर्ष्या के द्वारा लोक और परलोक में होने वाली अपनी हानि को पहचाने। इस लोक में इसकी मुख्य हानि यह है कि ईर्ष्यालु पुरुष सर्वदा चिन्ताग्रस्त और दुखी रहता है। वह यद्यपि अपने प्रतिपक्षी को दुःखग्रस्त देखना चाहता है, तथापि इस चिन्तन के कारण पहले तो आप ही जलता है। इससे निश्चय हुआ कि चिन्ता अत्यन्त दुःखरूप और बड़ी भारी मूर्खता ही है। क्योंकि ऐसा पुरुष तो अपने रोष में अपने ही को जलाता है, शत्रु का तो कुछ भी नहीं बिगाड़ पाता। वस्तुतः सब लोगों के सुख-दुःख तो प्रभु की इच्छा के अधीन ही हैं। प्रभु ने जिसके लिये जैसे सुख-दुःख का विधान किया है वह इसके संकल्प से तनिक भी घट-बढ़ नहीं सकता। इससे निश्चय होता है कि ईर्ष्या करने वाले पुरुष को तो ईर्ष्या से इसी लोक में पर्याप्त दुःख प्राप्त होता है। इसके सिवा परलोक में भी उसे बहुत दुःख भोगना पड़ता है। ईर्ष्यालु पुरुष भगवान् की आज्ञा का विरोध करता है और जिन्होंने जो पूर्णज्ञान के द्वारा जीवों की प्रारब्ध रची है उससे विमुख होता है। अतः ईर्ष्या के कारण वह प्रभु का विश्वास खो बैठता है तथा सब जीवों का अहितचिंतन भी करता रहता है। इसी से सन्तों ने कहा है कि ईर्ष्या करना मनमुखता ही है।

इसके विपरीत विचार कर देखा जाय तो जिसके प्रति ईर्ष्या की जाती है उसे तो यह लाभ ही होता है कि उसका शत्रु ईर्ष्या के कारण इसी लोक में जलता रहता है और उसकी कुछ भी हानि नहीं होती। इसके सिवा उसे पुण्य-प्राप्ति भी होती है, क्योंकि वह तो ईर्ष्या करने वाले का कुछ बिगाड़ता नहीं और यह उसका अहितचिंतन करता है, इसलिये इसके जो पुण्यकर्म होते हैं उनका फल उसे ही प्राप्त होगा और इसे उसके पापों का फल भोगना पड़ेगा। अतः यदि विचार कर देखा जाय तो मालूम होगा कि जो पुरुष ईर्ष्यावश किसी के लौकिक सुख का नाश चाहता है उसके चिन्तन से उसके लौकिक सुख को तो कोई क्षति पहुँचती

ही नहीं, प्रत्युत उस ईर्ष्या के कारण उसे पारलौकिक सुख और भी मिलता है। तथा ईर्ष्या करने वाला तो इस लोक में भी दुःखी रहता है और परलोक के दुःखों का भी अधिकाधिक बीजारोपण करता है। इस प्रकार यद्यपि यह तो समझता है कि मैं अपना मित्र और उसका ही शत्रु हूँ। किन्तु वास्तव में यह उसका मित्र और अपना ही शत्रु होता है। अतः ऐसा करके यह स्वयं अपने ही को अत्यन्त सन्तप्त करता है और परलोक के सुखों से भी वञ्चित रह जाता है। तथा जो पुरुष किसी से ईर्ष्या नहीं करते वे यहाँ भी सुखी रहते हैं और परलोक में भी सुखी रहेंगे। महापुरुष ने भी इस विषय में यही कहा है कि उत्तम पुरुष वही है जो किसी के हृदय में सदुपदेशों की धारणा दृढ़ कराता है और स्वयं भी विद्वानों से उपदेश सुनकर उन्हें धारण करता है, अथवा उन्हीं में अपनी विशेष प्रीति रखता है। ईर्ष्या करने वाले में तो इन तीनों गुणों का अभाव रहता है। अतः ईर्ष्या करने वाले में तो यही दृष्टान्त चरितार्थ होता है जैसे कोई अपने शत्रु पर पत्थर फेंके, किन्तु वह पत्थर शत्रु के न लगकर उलटकर इसी के नेत्र में लगे और उसे फोड़ दे। इस पर यह कुपित होकर दूसरा पत्थर मारे, किन्तु वह भी लौटकर इसके दूसरे नेत्र को फोड़ दे। फिर तीसरा पत्थर फेंके और वह लौटकर इसके सिर को फोड़ दे। बस, इसी प्रकार वह बार-बार अपने को घायल करता रहे और वह शत्रु इसे देखकर हँसा करे। इसी प्रकार ईर्ष्यालु पुरुष अपने आप को ही दुःख पहुँचाता रहता है, अपने शत्रु की कुछ भी हानि नहीं कर पाता। किन्तु जो व्यक्ति अपने हाथों से शत्रु को दुःख पहुँचाता है अथवा वाणी से उसकी निन्दा करता है वह तो बड़ा दुःखदायी होता है। परन्तु पहले मैं जो विचाररूप उपाय का वर्णन कर चुका हूँ उसके द्वारा यदि वह ईर्ष्या को हलाहल विष के समान घातक समझेगा तो अवश्य ही उसे त्याग देगा।

अब क्रिया के द्वारा ईर्ष्यानिवृत्ति के उपाय का वर्णन करते हैं। मनुष्य को जिस दोष के कारण ईर्ष्या उत्पन्न होती हो उसे प्रयत्न पूर्वक अपने हृदय से निकाल देना चाहिये। ईर्ष्या का बीज प्रायः अभिमान, शत्रुता अथवा मानप्रियता होती है। अतः जिज्ञासु को मूल से ही ऐसे मलिन स्वभावों का उच्छेद कर देना चाहिये। इससे ईर्ष्या का बीज ही नष्ट हो जायगा। इसके सिवा एक उपाय यह भी है कि जब ईर्ष्यावश किसी की निन्दा करने की प्रवृत्ति हो तब उसकी प्रशंसा करे, जब हानि करने की रुचि हो तब उसकी सहायता करे और जब अभिमान का अंकुर उपजने लगे तब दीनता अंगीकार करे। एक उपाय यह भी बहुत उत्तम है कि जिसके साथ कुछ शत्रुता का भाव हो उसके गुणों का वर्णन करे। इससे स्वाभाविक ही ईर्ष्या निवृत्त हो जाती है। किन्तु यह मन ऐसा पापी है कि जब यह कुछ सहनशीलता करता है तो मन कहने लगता है कि यदि तू सहन करेगा तो शत्रु तुझे निर्बल समझेगा। इसी से कहा है कि यद्यपि मन के स्वभाव से विपरीत चलना उत्तम उपाय है, तथापि ऐसा करना है अत्यन्त कठिन। किन्तु जब जिज्ञासु की बुद्धि में यह बात अच्छी तरह जम जाय कि ईर्ष्या और क्रोध इहलोक एवं परलोक दोनों ही में दुःखरूप हैं, इनके त्यागने में ही परम सुख है, तब यह बिना यत्न ही इस औषधि को स्वीकार कर लेता है। औषधियाँ तो प्रायः सभी कड़वी या कसैली ही होती हैं, किन्तु बुद्धिमान पुरुष कड़वी होने के कारण ही उनका त्याग नहीं करते। जो रोगी मूर्खतावश कड़वेपन के कारण ही औषधि को त्याग देता है वह तो शीघ्र ही मृत्यु के मुख में पड़ता है।

यह बात भी ठीक है कि मनुष्य अपने प्रयत्न द्वारा शत्रु और मित्र में समान भाव नहीं रख सकता, क्योंकि यह अल्पशक्ति जीव ही है और प्रभु

की इच्छा के अधीन है। पर तो भी इसे इतना तो अवश्य करना चाहिये कि यदि मन से ईर्ष्या और क्रोध को पूर्णतया पूर्ण न कर सके तो भी वचन और कर्म से तो वैर-भाव न करे तथा बुद्धि से भी इस स्वभाव को बुरा ही समझे। साथ ही ऐसा संकल्प भी रक्खे कि मेरे हृदय से यह मलिन स्वभाव निकल जाय तो बहुत अच्छा हो। जब जिज्ञासु ऐसा पुरुषार्थ करेगा तो अपने इस मानसिक संकल्प के कारण उसमें वे दूषित प्रवृत्तियाँ ठहर नहीं सकेंगी, क्योंकि अब उसकी श्रद्धा में किसी प्रकार की मलिनता नहीं है। यदि जीवमात्र से उसे अकस्मात कोई संकल्प फुरेगा भी तो वह विचार के बल से निवृत्त हो जायगा।

परन्तु कुछ मनुष्य तो ऐसा कहते हैं कि यदि यह जीव वाणी और कर्म द्वारा किसी प्रकार की शत्रुता प्रकट न करे तो मन में ईर्ष्या के दोषों को न जानने पर केवल मानसिक संकल्पों के कारण परलोक में इसे किसी प्रकार का बन्धन नहीं होगा। किन्तु यह बात ठीक नहीं, क्योंकि वास्तव में ईर्ष्या तो मन का ही कर्म है, सो यदि यह किसी का सुख देखकर सन्तप्त और दुःख देखकर प्रसन्न हो तो इससे बढ़कर और क्या पाप हो सकता है? अतः इस पाप से तो तभी छुटकारा मिल सकता है जब इस स्वभाव को बुरा समझे और सब प्रकार इससे छूटने का संकल्प करे। ऐसी इच्छा होने पर वह मलिन संकल्प दूर हो जाता है। पर शत्रु और मित्र में समदृष्टि तो तभी प्राप्त होती है जब यह पुरुष एकत्व भाव में स्थित हो। अर्थात् जब यह सम्पूर्ण जीवों को समान रूप से पराधीन देखे और सब कर्मों के कर्त्ता एकमात्र श्री भगवान ही को जाने। सो यह अवस्था अत्यन्त दुर्लभ है। यद्यपि किसी समय बिजली की तरह इसका क्षणिक प्रकाश तो होता है, किन्तु यह स्थिर नहीं रहती। जिन्होंने इस परमपद में स्थिति प्राप्त की है ऐसे तो कोई विरले संतजन हैं।

दो बात

दो बातन को भूल मत, जो चाहत कल्यान।
'नारायण' एक मौत को, दूजे श्री भगवान्॥

'नारायण' दो बात को, दीजे सदा बिसार।
करी बुराई और ने, आप कियो उपकार॥

'नारायण' या जगत में, यह दो बातें सार।
सब सों मीठो बोलिबो, करबो, पर उपकार॥

'नारायण' परलोक में, यह दो आवत काम।
देना मुट्ठी अन्न की, लेना भगवत नाम॥

—'नारायण स्वामी'

जागो और ईश्वर-चिन्तन करो

(*श्री स्वामी भजनानन्द जी महाराज*)

हम वस्तु को देखकर अनुमान लगाते हैं कि इसका वनाने वाला कोई अवश्य है। जैसे घड़े को देखकर मृत्तिका (मिट्टी) का ज्ञान होता है, वस्त्र को देखकर सूत का और आभूषण देख कर सोने चाँदी का भान होता है। यदि घड़ा, वस्त्र और आभूषण यह अभिमान करें कि मृत्तिका, सूत एवं स्वर्ण के विना भी हमारी सत्ता है तो उनका ऐसा समझना बड़ी मूर्खता है। आज हम भगवान् के विना ही अपनी सत्ता रखने की डींग मारते हैं; इससे बढ़कर हमारी और क्या अज्ञानता होगी? जैसे घड़ी में जब तक की चावी भरी रहती है तभी तक चल सकती है, उसी प्रकार जब तक के लिये उस प्रभु ने प्रारब्ध रूपी चावी भर दी है तब तक शरीर रूपी गाड़ी चलती रहेगी, समाप्त होते ही यह घड़ी रूपी शरीर क्रिया रहित हो मृतक हो जायगा।

परन्तु आसुरी स्वभाव वाले अपने को ही कर्त्ता मानते हैं, जैसा कि श्री गीता जी में बतलाया है:—

आढ्योऽभिजनवानस्मि,कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये, दास्यामि,मोदिष्य, इत्यज्ञानविमोहिताः॥
(गीता १६।१५)

अर्थात् मैं ही सम्पन्न और कुलीन हूँ, मेरे समान इस संसार में दूसरा और कौन है? मैं यज्ञ करूंगा, दान दूंगा और आनन्द मनाऊंगा। इस प्रकार से असुर जीव अज्ञान से विमोहित रहते हैं। इसी लिये तो रावण असुर माना गया था क्यों कि वह अपने को ही सब कुछ मानता था, यहाँ तक कि अपने को ही ईश्वर भी बतलाया करता था। श्री हनुमान जी जब माता जानकी जी का पता लगाने के लिये लंकापुरी गये और वहाँ पर जानकी जी के दर्शनोपरान्त वाटिका का विध्वंस किया और बाग के रक्षक उन्हें पकड़ कर रावण के दरबार में ले गये, फिर रावण और हनुमान जी का वर्त्तालाप प्रारम्भ हुआ; तब रावण अपने को सर्वश्रेष्ठ बतलाने लगा। उस समय हनुमान जी ने भगवान के ऐश्वर्य का वर्णन करते हुये बतलाया कि मोह, मद को त्याग कर भगवान् की शरण में जाओ। हनुमान जी कहते हैं—

राम नाम बिनु गिरा न सोहा।
देखु बिचार त्याग मद मोहा॥

राम नाम के बिना क्या निर्वाह नहीं हो सकता? इसीका समाधान करते हैं—

बसन-हीन नहिं सोह सुरारी।
सब भूषण भूषित बर नारी॥
सजल मूल जिन्ह सरितन्ह नाहीं।
बरसि गएँ पुनि तबहिं सुखाहीं॥

श्रवण की शोभा कुण्डल से नहीं होती, भगवान् की पुनीत कथा सुनने से होती है; जैसा कि गोस्वामी जी ने श्रवण इन्द्रिय की सार्थकता बतलाई है:—

जिन हरि कथा सुनी नहिं काना।
श्रवण रन्ध्र अहि-भवन समाना॥

और नेत्रों की भी सार्थकता बतलाई है:—

नैनन संत दरस नहिं देखा।
लोचन मोर पंख कर लेखा॥

मुख की शोभा दाँतों से नहीं भगवान् के गुणानुवाद गाने से और हाथों की शोभा कंकण से नहीं अपितु दान से है—"*कर नित करहिं राम पद पूजा*"। पैरों की शोभा कड़ा से नहीं भगवान के मन्दिर तथा सत्संग में जाने से है।

यद्यपि वस्त्र जेवर से मूल्य में कम है परन्तु वस्त्र के बिना निर्वाह ही नहीं हो सकता। अन्न स्वर्ण से कम मूल्यवान है किन्तु फिर भी अन्न के बिना निर्वाह नहीं हो सकता। जिनके हृदय के नेत्र खुल गये हैं, वे समझते हैं कि इस माया का कोई भी मूल्य नहीं। भौतिकवादी ही इसे सर्वश्रेष्ठ स्थान देते हैं; परन्तु बुद्धिमान ज्ञानवान और तत्त्ववेत्ता परमात्मा को ही सब कुछ समझकर अहर्निश उस परमात्मा के अन्वेषण में प्राणपण से लगे रहते हैं। गोस्वामी जी लिखते हैं:—

रमा विलास राम अनुरागी।
तजत वमन इव नर बड़भागी॥

आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने अपने प्रिय सखा अर्जुन के भी प्रति यही उपदेश दिया था:—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय ! न तेषु रमते बुधः॥
(गीता ५।२२)

अर्थात् इन्द्रियों और विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले जो भोग हैं, वे निस्संदेह दुःख की ही खानि हैं और आदि-अन्त वाले भी हैं। इसलिये हे अर्जुन ! बुद्धिमान पुरुष उनमें नहीं रमता।

यदि हम सात्विक बुद्धि से विचारें तो केवल भगवान् ही हम पर अहैतुकी दया करता है। क्योंकि जिस समय हम गर्भ में उलटे लटके थे और हमारे शरीर के ऊपर नाना प्रकार की पीड़ा पहुँचाने वाली वस्तुएँ स्पर्श करती थीं; उस समय हम उस वेदना से बेचैन थे, तड़फड़ा रहे थे, कोई भी हमारा सहायक नहीं था। हमने सच्चे हृदय से प्रभु का स्मरण किया—

अब की बार मोहि निरवारो।
कर्म-क्षेत्र में लै तनु डारो॥

भगवान ने कृपा करके गर्भ में दर्शन दिये और पूछा कि तू कर्म-क्षेत्र यानी मनुष्य शरीर को पाकर क्या करेगा ? तब इस जीव ने आतुर होकर भगवान की प्रार्थना की:—

तेहि तव चरण कमल चित लावौं।
तासे गर्भवास नहिं आवौं॥

परन्तु गर्भ से बाहर आते ही जो वचन दिया था, भूल गया। इसीसे नाना प्रकार के क्लेशों से अक्रान्त होकर अहर्निश दुःख भोग रहा है। माया के चाक चिक्य में फंसा हुआ सुख का अनुभव करता है। किन्तु वास्तव में यह सच्चा सुख नहीं केवल सुख का आभास मात्र है।

याद रक्खो ! जब तक पूर्वजन्म के पुण्य हैं तब तक खूब मौज उड़ालो, इसके पश्चात महान कष्टों का सामना करना होगा। माया रूपी माता ने ममता, अहंकार रूपी खिलौना देकर उस परमपिता परमात्मा से बिछोह करा दिया। जब किसी ने खिलौना छीन लिया तब रुदन करने लगे। प्रिय मित्रो ! भविष्य की सोचो, इस मूर्खता से कहाँ तक सुख मिलेगा। मोह-निद्रा से जागो और परमात्मा की शरण ही सच्चे सुख की जड़ है। भगवान् ने अर्जुन के प्रति श्री गीता जी में बतलाया है:—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य, योगमाया समावृतः।
मूढ़ोऽयम् नाभिनाति, लोको मामजमव्ययम्॥
(गीता ७।२५)

अर्थात् योगमाया से आच्छादित हुआ मैं सर्वसाधारण के प्रत्यक्ष नहीं होता हूँ, इसलिये यह मूढ़ जगत (प्राणि-समुदाय) मुझ अज-अविनाशी सर्वात्मा को नहीं जानता। उस प्रभु की दयालुता का वर्णन कहाँ तक किया जाय जिसका दरबार हर समय खुला रहता है। भगवान् स्वयं अपने मुखारविन्द से कहते हैं:—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य, येऽपिस्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
(गीता ९।३२)

अर्थात् हे पार्थ ! (अर्जुन) मेरी शरण में आकर चाहे कोई पापयोनि ही हों, अथवा स्त्री, वैश्य शूद्र जाति ही क्यों न हों, वे सभी परमगति को प्राप्त होते हैं।

— गोस्वामी तुलसीदास जी भी प्रभु की दयालुता का परिचय देते हैं—"रहति न प्रभु-चितचूक हिये की।" प्रभु की शरण नहीं ली, स्वयं ही कर्त्ता, भोक्ता अपने को मानने लगा और परिवार का सम्पूर्ण भार अपने ऊपर डाल लिया। इसका दिग्दर्शन बाबा रघुनाथ दास जी ने कैसा सुन्दर किया है:—

निशि दिन चिन्ता करत अपारा।
सबन करे मोते प्रतिपारा।
कहु सट कुसवारी के जीवे।
को तेहि चारा देत सदीवे॥

यही नहीं परिवार के लिये पाप भी करता है—

जिनके हेतु करे अघ नाना।
नहिं जाने मरि यमपुर जाना॥
बातन ही बुढ़ापन भयऊ।
जरा अवस्था प्रापत भयऊ॥
तन-बल गयो गिरे सब दाँता।
डगमग चलत न आवत बाता॥
तृषा लागि जल देत न कोई।
बकत तहाँ मुख आवत जोई॥
घर के कहैं मरहु नहिं जाही।
का यमराज बिसरि गये याही॥
जिनके हित परलोक बिगारा।
ते सब जियतहिं कीन्ह किनारा॥
जीवत नाना दुख सह्यो बिना भजे भगवन्त।
अब चौरासी के विषे भोगो कष्ट अनन्त॥

इस लिये उस परमात्मा की सत्ता से ही हम सब कार्य कर रहे हैं। उसका वरदहस्त हमारे शिर पर सर्वदा रहता है; उसके बिना हमारा जीवन-निर्वाह भी नहीं हो सकता। ऐसा समझकर उस परमपिता परमात्मा की शरण प्राप्त करके अक्षय सुख का अनुभव करें।

चरित्र-महिमा

सन्तत समुन्नति के शिखर पर समारुढ़ वही,
दैवी सम्पदा से भी वह धनवान है।
वश में विभूति विपुल विश्व की उसी के होती;
होता उसी का पारलौकिक कल्यान है॥
उड़ती पताका उसी कर्मठ की त्रिलोक बीच,
वह ही ज्ञानवान और वह ही महान है।
सन्त भगवन्त सदा देते उसी का साथ;
जग में जो मानव सच्चा चरित्रवान है॥

(श्री हृदयनाथ जी शास्त्री साहित्यरत्न)

चरित्र और "चरित्र-निर्माणाङ्क" के सम्बन्ध में दो शब्द

(श्री परमेश्वरी प्रसाद मंडल, बी० ए०)

आज अपने एक सम्बन्धी से आपके 'परमार्थ' का 'चरित्र-निर्माणाङ्क' मिला। मैं दत्तचित्त होकर इसे एक बार देख गया हूँ। फिर कभी इसे साद्यंत दुहरा जाऊँगा। इतना सुन्दर और आवश्यक अंक निकाल कर आपने देश का भारी उपकार किया है। आप मेरी कृतज्ञता स्वीकृत करें।

प्राचीन भारत ने चरित्र के मूल्य को खूब समझा था। चरित्र निर्माण हमारे पूर्वजों की चिन्ता का केन्द्रीय विषय था। इतना ही नहीं, हमारे उन चिन्तावीरों ने केवल अपने देशवासियों को ही नहीं, प्रत्युत सकल मानवजाति को चरित्रवान् बनाने की ओर प्राणपण से उद्योग भी किया था। जिस देश में चरित्र के कर्षण की परम्परा इतिहास के अज्ञात स्थल में भी मिलती है, इसी में चरित्र की ऐसी भयावह कमी होजाना आश्चर्य का ही विषय है।

मनुष्य के प्रत्येक कार्य के मूल में संकल्प होता है। संकल्प प्रथम, फिर कार्य। यही संकल्प जब भीतर से बलवान् होते हुए किसी अच्छे विषय में प्रकट होता है तब 'चरित्र' कहलाता है। संकल्प को बल तथा उचित दिशा देने का नाम ही 'चरित्रनिर्माण' है। प्रकृत शिक्षा भी यही कार्य करके अपने नाम को अर्थयुक्त करती है। जो शिक्षा हमारा चरित्र-निर्माण नहीं कर सकती, वह स्वयं निर्धन है। वह हमें और क्या दे सकती है?

संकल्प को बली बनाना सरल नहीं है। इसके दो आन्तरिक तत्त्वों की बहुत ही अपेक्षा है—चित्त की एकाग्रता और संयम। ये दोनों तत्त्व अभ्यास से हाथ आते हैं, यों ही किसी को नहीं मिल जाते। किसी एक ही विषय में बारबार चित्त लगाने के अभ्यास से यह एकाग्रता मिलती है। मन की विपरीतगामिनी वृत्तियों के विरुद्ध कार्यरत रहने से संयम सधता है। कोई भी अभ्यास करके इन दोनों गुणों का अर्जन कर सकता है।

फिर संकल्प को उचित दिशा में मोड़ना, उसे 'सद्विषयनिष्ठ' बनाना भी सरल नहीं है। इसके लिये श्रद्धा, अनुराग और सेवा के तीन सोपानों को पार करना होता है। पहले अच्छे-अच्छे विषयों में ज्ञान-पूर्वक श्रद्धा प्राप्त करनी होती है। इसी श्रद्धा के जमने से हृदय में अनुराग उपजता है। फिर अपने अनुराग-पात्र के विकास के लिये मनुष्य आप ही सेवा करने को व्यग्र हो उठता है। अपने देश के लिये हमारे हृदय में अनुराग का स्रोत तभी खुलता है, जब हम इसके महत्त्व को हृदयङ्गम करके इसे अपनी श्रद्धा का पात्र बना लेते हैं। फिर देश का सेवक या भक्त बनने में हमें देर नहीं लगती।

चरित्र-निर्माण की इस चिरन्तन प्रक्रिया को हमारे प्राचीन शिक्षा पंडितों ने खूब ही समझा था। वे जानते थे कि चरित्र-निर्माण का काम राजगीरी के जैसा नहीं, बागवानी के जैसा है। कली, फूल, आप ही बनती है। उसे ऊपर से ऐसा नहीं बनाया जा सकता। उसके फूल बनने की निसर्ग-सिद्ध प्रक्रिया होती है। माली इसे समझ कर ही उसकी सहायता कर सकता है। वैसे ही मनुष्य चरित्रवान् आप ही बन सकता है। शिक्षा इस काम में उसकी कुछ सहायता भर कर सकती है।

भारत की शिक्षा-प्रणाली यह काम करती थी। वह चरित्र-निर्माण के अनुकूल वातावरण बनाती थी तथा अनेक प्रकार के शिक्षार्थियों के अन्तर में प्रेरणा जगा देती थी। फिर क्या था, शिक्षार्थी अन्तः-

प्रेरित होकर अपने चरित्र निर्माण के लिये आवश्यक कार्यों में प्रवृत्त हो जाते थे। वे ध्यान और उपवास करके अपने चरित्र को सबल बनाते थे और श्रद्धा प्रेम से युक्त सेवा कार्यों के मार्ग से उसे ऊँचा भी उठा लेते थे। यही कारण है कि इतिहास के अतीत कालों में हमें जीवन के सभी क्षेत्रों में अगणित विभूतियों के दर्शन होते हैं।

आज की शिक्षा को भी यदि अपना नाम सार्थक करना है तो उसे भी कुछ ऐसा ही करना होगा। या तो उसे चरित्र-निर्माण के लिये पुराने साधनों को ही काम में लाना होगा या नये साधनों की उद्भावना करनी होगी। वस्तुतः भारत में आज चरित्र-निर्माण को अपने केन्द्र में प्रतिष्ठित करके चलने वाली शिक्षा प्रणाली की बहुत ही अपेक्षा है।

भूदान की महिमा

(भक्त गाथा)

(पं० श्री चन्द्रशेखर जी पाण्डेय "चन्द्रमणि")

प्रायः देखा जाता है कि समय-समय पर भगवान ने भक्तों की कठिन से भी कठिन परीक्षा ली है। उच्च श्रेणी के निर्वाण-पद-प्राप्त भक्त अधिक रूप से परीक्षा की कसौटी में खरे भी उतरे हैं, उन्हीं का चरित्र कथाकारों ने सुन्दर रूप से गान किया है। राजर्षि बलि इसी कोटि के भक्त हैं। वे भागवत धर्म के पूर्ण ज्ञाता हैं। श्री यमराज ने अपने अनुचरों से कहा भी है:—

स्वयंभूर्नारदः शंभुः कुमारः कपिलो मनुः।
प्रह्लादो जनको भीष्मो बलि र्वैयासकिर्वयम् ॥
द्वादशैते विजानीमो धर्मं भागवतं भटाः।
(भा० स्कंध ६ अ० ३ श्लोक २०, २१)

इस प्रकार राजर्षि बलि भागवत धर्म के जानने वाले बारह आचार्यों में से हैं। प्रस्तुत लेख में हम उनके कतिपय गुणों का विवेचन करेंगे, जो उनके चरित्र-आकाश के चमकते सितारे हैं।

राजर्षि बलि विश्व-विजयी होकर भी अभिमान में उन्मत्त नहीं हुए, यही कारण है कि सन्धि के निमित्त आये हुए देव-शत्रुओं की भी अभ्यर्थना की, यद्यपि मन्त्रियों ने उनके कार्य का विरोध भी किया था। तदनन्तर अमृत-मंथन के बाद देवासुर-संग्राम में पंचत्व को प्राप्त बलि, आचार्य शुक्र की संजीविनी विद्या से पुनर्जीवित हुए। उन्होंने अपनी दूसरी जीवन-लीला को गुरु-कृपा ही समझा, इसीलिये तन-मन-धन से गुरु-सेवा की पराकाष्ठा दिखादी। गुरु ने भी प्रसन्न होकर शिष्य को विश्व-विजय कराने का संकल्प कर लिया। अभिचार यज्ञ से कामना पूर्ण हुई। जलते हुए हवन-कुण्ड से—जल-स्थल एवं नभ में समान रूप से गमन करने वाला अजेय रथ निकला, दादा प्रह्लाद ने शंख-प्रसाद दिया। इस तरह विज्ञान-बल-प्राप्त बलि ने महती सेना लेकर स्वर्गलोक को घेर लिया। देवगण घबराये, अपने गुरु बृहस्पति से परामर्श किया। उन्होंने कहा कि "तुम्हारे जैसे सैकड़ों इन्द्र इस समय बलि के सम्मुख खड़े होने की भी सामर्थ्य नहीं रख सकते। अतः इस समय स्वर्ग से विलग होकर पलायन करना ही श्रेयस्कर होगा।"

गुरु-आज्ञा से कामरूपी देवगण विविध वेषों में इधर उधर अदृश्य हो गये। महाराज बलि रिक्त इन्द्रासन पर अधिकार करके त्रिलोक की सम्पदा भोगने लगे। आचार्य शुक्र की आज्ञा से राजर्षि

बलि ने शत अश्वमेध का अनुष्ठान किया, क्रम-क्रम से पूर्ण होने वाले यज्ञों ने निर्बल देव-समाज में हलचल मचा दिया।

महर्षि कश्यप के बताये हुए पयोव्रत द्वारा माता अदिति ने भगवान् विष्णु को प्रसन्न किया, उन्होंने भाद्र-शुक्ल-द्वादशी को वामन-अवतार धारण किया। बलि तप-बल से अजेय थे, अतः छल द्वारा सम्पत्ति-हरण का आयोजन किया गया। ऋषियों ने वटु वामन का यज्ञोपवीत संस्कार किया। अम्बिकादेवी ने भिक्षा दी, तदनन्तर भिक्षार्थ राजर्षि बलि के निकट चले। नर्मदा नदी के उत्तर तट भृगु-कच्छ स्थान में यज्ञों का क्रम चालू था, निन्नानवे पूर्ण होकर अन्तिम यज्ञ हो रहा था। वामन अपने परिकर गण के साथ पहुँच गये। कुछ समय के लिये यज्ञ-कार्य स्थगित हो गया, क्योंकि यज्ञपति स्वयं पधारे थे। यजमान बलि की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा, उत्तम आसन पर बैठाकर चरणावनेजन करके वह पवित्र जल शिरोधार्य किया। कहा—

तत्पाद शौचं जनकल्मषापहं
स धर्मविन्मूर्ध्न्यादधात् सुमंगलम्।
यद् देवदेवो गिरिशश्चन्द्रमौलि-
र्दधार मूर्ध्ना परया च भक्त्या ॥

धन्यभाग्य! संसार के कल्मष दूर करने वाला वह चरणोदक जिसे शिव ने अपने जटाजूटों में धारण किया, उसे सबसे प्रथम भक्त बलि ने ही प्राप्त किया। कुछ भक्त मन में ही गुनगुना रहे थे—

विमल है प्रभु-चरणों का नीर।
जगपावन दुःख-दाव-नसावन, हरत हृदय की पीर।
मेटत कठिन कुअंक भाल के, नाशत भवकी भीर ॥

यजमान बलि के हृदय में आनन्द का सागर उमड़ पड़ा, उन्होंने कहा—

अद्य नः पितरस्तृप्ता अद्य नः पावितं कुलम्।
अद्य स्विष्टः क्रतुरयं यद् भवानागतो गृहान् ॥

यद् यद् वटो वाञ्छसि तत्प्रतीच्छ मे
त्वामर्थिनं विप्रसुतानुतर्कये।
गां काञ्चनं गुणवद्धाम मृष्टं
तथान्नपेयमुत वा विप्रकन्याम् ॥
ग्रामान् समृद्धांस्तुरगान् गजान् वा
रथान् तथार्हत्तम संप्रतीच्छ।

आज मेरे पितर तृप्त हो गये, मेरा कुल पवित्र हो गया, मेरा यज्ञ पूर्ण हो गया, जो कि आप मेरे घर आये हैं। हे वटो! गौ, कांचन, गुणमय धाम, मीठे अन्न एवं पेय और कन्या, ऋद्धियों से पूर्ण ग्राम, हाथी, घोड़े, रथ आदि जिस जिस वस्तु की आवश्यकता हो, निःसंकोच मांगिये।

बलि के वचन इतने उदारता पूर्ण एवं धर्मयुक्त थे कि भगवान् वामन ने पूर्णतः प्रमाणित किया।

वचस्तवैतज्जनदेव सूनृतं
कुलोचितं धर्मयुतं यशस्करम्।
यस्य प्रमाणं भृगवः साम्पराये,
पितामहः कुलवृद्धः प्रशान्तः ॥

हे जनदेव! आपके वचन सत्य, कुलोचित, धर्मयुक्त एवं यशवृद्धि करने वाले हैं, जिसका प्रमाण भृगुवंशवालों ने प्रदर्शित किया है और जिसके पितामह कुलवृद्ध प्रह्लाद हैं। आप सभी प्रकार से योग्य हैं। तब वामन भगवान् ने कहा—

फिर भी मुझे न चाहिये, धन वैभव सुखखान।
मेरे ही पग तीन से, मिले भूमि का दान ॥

श्री वामन के उपरोक्त वचन से महाराज बलि को आश्चर्य हुआ, यह वटु केवल तीन पग भूमि में क्या कर सकेगा और कोई याचक होता तो दाता अपने आप दान दे देता, किन्तु वटु जब तक 'भिक्षां देहि' शब्द का प्रयोग न करे, तब तक उसकी इच्छा के विपरीत देना भी अनुचित है। अतः

महाराज ने फिर अवसर दिया और कहा कि 'ब्रह्मचारी ! कुछ और माँगो, इतना ही दान तुम्हारे लिये पर्याप्त नहीं।' बहुत कुछ कहने पर भी वटु अपनी जिद पर अचल रहा। विवश होकर महाराज ने कहा—"अच्छी बात है, इच्छानुसार ही ग्रहण करो।" किन्तु उसी समय गुरुवर शुक्र ने महाराज के वचनों का विरोध किया और कहा:—

एष वैरोचने साक्षाद् भगवान् विष्णुरव्ययः।
कश्यपाददितेर्जातो देवानां कार्यसाधकः॥

हे विरोचनपुत्र बलि ! जिन्हें तुम दान देना चाहते हो, वे साक्षात विष्णु हैं। कश्यप के द्वारा अदिति में उत्पन्न हुये हैं, देवों का काम बनाने के लिये वटुरूप से भिक्षा मांग रहे हैं। ये तुम्हारा सर्वस्व ले लेंगे, अतः प्रथम से ही सजग होकर अस्वीकार कर दो। तुम इन्हें कभी संतुष्ट नहीं कर सकते।

कुलाचार्य शुक्र के इन वचनों को बलि ने सुना तदनंतर विचार करके कहा—'गुरुदेव ! आप मेरे हित की बात कहते हैं यह निश्चय है कि त्रिलोक की सम्पदा से भी मैं इन्हें तृप्त नहीं कर सकता, ऐसी दशा में आपके कथनानुसार दान-वस्तु पूर्ण न करने वाले प्रदाता को नरक भोगना पड़ता है परन्तु मैं नरक से नहीं डरता, सर्वस्व नष्ट होने से भी नहीं डरता, डरता हूँ मिथ्यावादी बनने से। श्री व्यास के शब्दों में:—

नाहं बिभेमि निरयान्नाधन्यादसुखार्णवात्।
न स्थानच्यवनान्मृत्योर्यथा विप्रप्रलंभनात्॥

कितने सुन्दर और धैर्ययुक्त उदार वचन हैं। सर्वस्व जाने की चिन्ता नहीं प्रत्युत वहुरूप में महाविष्णु के आने से अपार आनन्द हुआ। उन्होंने कहा भी—'गुरुदेव !'

भगवान विष्णु आये हैं तो इसमें भी लाभ हमारा है।
संसार कहेगा 'बलि-द्वारे' हरि ने भी हाथ पसारा है॥
ये याचक बनकर आये हैं, तो दान मुझे देना होगा।
गुरुदेव ! झूठा बन जाने से जग में अपयश लेना होगा॥

महर्षि व्यास जी के शब्दों में:—

यजन्ति यज्ञक्रतुभिर्यमादृता
भवन्त आम्नाय विधानकोविदाः।
स एव विष्णुर्वरदोऽस्तु वापरो
दास्याम्यमुष्मै क्षितिमीप्सितां मुने॥

हे मुने ! जिन विष्णु को शास्त्र-निष्णात व्यक्ति आदर के साथ विविध यज्ञ-क्रतुओं से पूजते हैं, वही यदि मेरे द्वार पर याचक बन आये हैं, या अन्य कोई भी हों, तब भी मैं याचक की इच्छानुसार ही भूमिदान करूँगा।

गुरुदेव उपरोक्त वचनों से रुष्ट हो गये, बलि को दुःशब्द कहते हुए सम्पत्ति नष्ट होने का शाप भी दे दिया। फिर भी महाराज बलि अपने सिद्धान्त पर पूर्ण अचल रहे। महारानी विन्ध्यावलि सुवर्ण-कलश में जल लाईं, दम्पति ने अतिथि के चरण धोये, चरणोदक शिरोधार्य किया। देव, गन्धर्व, विद्याधर, सिद्ध, चारण आश्चर्य में हो गये, सभी कहते हैं, दानी हो तो ऐसा। जिसने जानबूझकर शत्रु को सर्वस्व दान किया।

इसी समय एक विशेष अद्भुत घटना हुई, वामन वटु का रूप विराटता में परिवर्तित होने लगा, जिसका वर्णन निम्न पंक्तियों में पढ़िये।

धरणी से लेकर अम्बर तक भी, जिसका नहीं किनारा था।
दायें-बायें, ऊपर-नीचे, आँखों में वही नज़ारा था॥
संसार समाया वामन में, या वामन-तनु संसार हुआ।
लेखनी नहीं कुछ लिख पाती, किसमें किसका व्यापार हुआ॥
श्वांसों से अग्निदेव निकले, आंखों से सूर्य-प्रकाश हुआ।
अतिशय अद्भुत विराट-तनु में, चौदहों भुवन का वास हुआ॥

अब तो समस्त विश्व वामन के अन्दर आगया। एक चरण से भूमि, दूसरे से स्वर्ग नापा गया, वह

कई लोकों को पार करता हुआ, ब्रह्म-लोक पहुँचा। ब्रह्मदेव ने कमंडलु में रक्षित ब्रह्मद्रव से चरण धोकर रख लिया, जो आगे चलकर सुरसरि के रूप में अवतरित हुआ। यह विराट रूप की झाँकी कुछ ही क्षण रही, भगवान् अपने ही वेष में पुनः दृष्टि-गोचर हुए। अब दैत्यों को होश आया। अपने स्वामी के साथ छल करने वाले को वे दंड देने को तैयार हो गये। शस्त्र लेकर दौड़े। महाराज बलि ने उन्हें समझाते हुए कर्तव्य का ज्ञान कराया।

भगवान् विष्णु की इच्छा से ही गरुड़ ने नाग-पाश में बलि को बाँध लिया। बलि को धमकाते हुए देवाधिदेव ने कहाः—

असुरेन्द्र! जहाँ तक रवि का प्रकाश है, जहाँ तक चन्द्रमा की किरणों की पहुँच है, जहाँ तक नक्षत्र-राशि है और जहाँ तक मेघ बरसते हैं, वहाँ तक की भूमि तुम्हारी थी, मैंने एक पग में नाप लिया, अब तीसरा चरण कहाँ रक्खूं? यदि कह कर भी दान पूरा न कर सकोगे, तो तुम्हें नरक-वास करना होगा। तुम्हें अपने धन ऐश्वर्य का गर्व था, तो उसका फल नरक में भोगो।

महाराज बलि ने बड़ा ही सुन्दर उत्तर दियाः—

यद्युत्तमश्लोक भवान्ममेरितं,
वचो व्यलीकं सुरवर्य मन्यते।
तत्करोम्यृतं तन्नभवेत् प्रलम्भनं,
पदं तृतीयं कुरु शीर्ष्णि मे निजम्॥

अर्थात् हे उत्तम यशवाले! यदि आप मेरे वचन को असत्य मान रहे हैं, तो उसे मैं सत्य करूंगा। आप अपना तीसरा चरण मेरे सर पर रक्खें।

कितना सुन्दर आत्मसमर्पण है। भक्त की भावना भगवान् ने पहचान लिया। इतनी कठिन परीक्षाओं में जो अडिग रहा, वह वास्तव में मेरा भक्त है। भगवान वामन ने उनकी रानी विंध्यावलि से कहा देवी! मैं परम प्रसन्न हूँ, तुम कुछ वर माँगो। परन्तुः—

रानी ने कहा कि "मैं मागूँ? उस याचकसे? जो लेजाता।
जिसको सर्वस्व दे दिया है उससे मांगना नहीं आता॥
तब हरि ने कहा "सुनो रानी! मैं याचक भी हूँ दाता भी।
जिसको गरीब कर सकता हूँ, उसको धनवान बनाता भी॥

ऐसी दशा में तुम चाहो तो अपनी सारी सम्पत्ति मुझसे ले सकती हो। किन्तु त्यागमयी विंध्यावलि ने कहा कि जिस सम्पदा का दान किया गया है, उसे लेना हमारा कर्त्तव्य नहीं। हाँ आप चाहें तो एक प्रार्थना पूर्ण कर दें।

बस केवल एक प्रार्थना है अब जहाँ कहीं भी जायें हम।
तो सोते जगते सभी समय वामन का दर्शन पायें हम॥

यह क्या हुआ? भगवान चकित हो गये। यह प्रार्थना है, या भक्त के द्वारा फेंका हुआ प्रेम का फंदा? प्रभु ने सोचा—

भ्रमकारी वेष बना करके धोखा खाया इस धन्दे में।
आया तो यहाँ बाँधने था, बँध गया भक्त के फन्दे में॥

परन्तु भक्त का यह फंदा अमोघ था अन्ततोगत्वा भगवान ने कहाः—

देवी! तूने अपने पति के बन्धन का बदला चुका लिया।
वह नाग-पाश से छूटा भी, पर मुझे सदा को फँसा लिया॥

वास्तव में विचित्र बदला था, ऐसा बन्धन भगवान् को प्रिय भी है। प्रसन्न होकर राजर्षि बलि से प्रभु ने कहाः—

इन्द्रसेन महाराज याहि वो भद्रमस्तु ते।
सुतलं स्वर्गिभिः प्रार्थ्यं ज्ञातिभिः परिवारितः॥
न त्वामभिभविष्यन्ति लोकेशाः किमुतापरे।
त्वच्छासनातिगान्दैत्यान् चक्रं मे सूदयिष्यति॥

रक्षिष्ये सर्वतोऽहं त्वां सानुगं सपरिच्छदम्।
सदा सन्निहितं वीर तत्र मां द्रक्ष्यते भवान्॥

हे राजेन्द्र बलि! तुम्हारा कल्याण हो, अपने ज्ञाति वर्गों के साथ स्वर्गियों से भी प्रार्थित सुतल-लोक को जाओ। वहाँ तुम्हें परम शान्ति प्राप्त होगी, लोकपाल भी तुम्हारी ओर दृष्टि न कर सकेंगे, औरों की तो बात ही क्या है। तुम्हारी आज्ञा उल्लंघन करने वालों को मेरा सुदर्शन-चक्र दंड देगा। ज्ञातिवर्गों समेत मैं तुम्हें नित्य दर्शन देते हुए रक्षा करूँगा। ठीक:—

रह करके सुतल लोक में ही, तुम सारा कल्प बितावोगे।
जब जब देखोगे तभी हमें दरबानी करते पावोगे॥

संसार भक्त-वत्सलता का लोहा मान गया, महाराज बलि चरणों में गिर पड़े। उन्हें सावर्णि-मन्वन्तर में इन्द्र होने का वर प्राप्त हो गया था। अपने चरित्र-बल से उन्होंने चराचर नायक महाविष्णु को अपना लिया, ऐसे बन्धन में बाँधा कि कभी छुटने न पाये। यही है भूदान का महत्त्व।

× × × ×

कहा जाता है कि एक बार इन्द्र को बलि के सुख के विषय में स्पर्धा हुई, उन्होंने देवर्षि नारद से सुतल का वैभव सुना और सुतल देखने की इच्छा प्रकट की। श्री नारद जी तपो-बल से इन्द्र को सुतल लोक ले गये। देखा गया कि चरित्रवान् बलि के राजद्वार पर वेत्रपाणि वामन द्वारपाल थे। वे मन ही मन कुछ गा रहे थे। वह गीत निम्न-लिखित है:—

बिका हूँ भक्तों में बिन दाम।
जैसे चाहे वैसे राखें, दुःख हो या आराम।
भक्त ही मेरे तन मन जीवन, और नहीं धन-धाम॥
बंधा भक्ति के कठिन फन्द में छूटन का क्या काम।
जान रहा संसार 'चन्द्रमणि' भक्तवछल है नाम॥

सत्संग-समाचार

श्री दैवी सम्पद् मण्डल के कानपुर अधिवेशन की सफल योजनाएँ

पतित पावनी भगवती भागीरथी श्रीगंगा जी के पुनीत तट (सरसैयाघाट) की रेती में दैवी सम्पद् मण्डल का विराट् महोत्सव दि० ३-४-५४ चैत्र कृष्ण अमावस्या को वेदध्वनि के साथ श्री गणेशादि पूजन पूर्वक प्रारम्भ हुआ। अखिल भारतीय दैवी सम्पद् मंडल के अध्यक्ष श्री १०८ श्री स्वामी शुकदेवानन्दजी महाराज परमहंस परिव्राजकाचार्य के ध्यान सम्बन्धी धर्मोपदेश को प्रातः ६ बजे से ८ बजे तक प्रतिदिन निरन्तर सहस्रों श्रोता मंत्रमुग्ध होकर सुनते थे। इसके फलस्वरूप सैकड़ों नर-नारियों ने दैवी गुणों के ग्रहण करने और आसुरी अवगुणों के त्याग की लिखित प्रतिज्ञायें आजीवन के लिये श्री महाराज की सेवा में उपस्थित की हैं।

"श्री शत् चण्डी महायज्ञ" अनेकों सुप्रतिष्ठित गण्यमान्य विद्वानों द्वारा यथाविधि सानन्द सम्पन्न हुआ। जिसका पूर्ण व्ययभार कानपुर नगर के प्रसिद्ध सेठ श्री वेणीमाधव जी ने ग्रहण कर अपूर्व यश एवं पुण्य-लाभ प्राप्त किया। श्री सेठ जी ने यथेष्ट दान द्वारा याज्ञिक ब्राह्मणों को सन्तुष्ट किया।

श्रीरामायण जी (रामचरितमानस) का अष्टोत्तर शतपारायण नियमानुसार पूर्ण नवरात्र भर निर्विघ्न सम्पन्न हुआ। श्री रामायण जी के इस पारायण का दृश्य अनोखा ही था। श्री दैवी सम्पद् महामण्डल के अन्तर्गत सुचारु रूप से संचालित मुमुक्षु आश्रम

शाहजहाँपुर तथा श्री एकरसानन्द आश्रम मैनपुरी के ब्रह्मचर्य महाविद्यालयों के चन्दन चर्चित भाल, गले में रुद्राक्ष माला अर्जित एवं पीतवस्त्र विभूषित ब्रह्मचारियों की पंक्ति-बद्ध श्रेणियाँ सात्विक शान्त-मुद्रा के मधुर स्वरों में एकरस राम-कथा का सरस गान करती हुई श्रोताओं के अनुरागी हृदयों में उनके कर्ण विवरों द्वारा सुधा की धारा बहा रहीं थीं।

विविध पत्र पुष्पावलि की रङ्ग रंगीली रोचक रचना के रङ्गमञ्च पर विराजमान भगवान् राघवेन्द्र का पञ्चायतन सौन्दर्य माधुर्य की पराकाष्ठा का प्रतीक बनकर दर्शकों को पलक नहीं मारने देना चाहता था।

दूर दूर से आकर श्री दैवी सम्पद् मण्डल के शिविर में ठहरे हुये सैकड़ों सद्गृहस्थ तथा नगर से आये हुये सहस्रों नर-नारी इस श्रीरामायण महायज्ञ में सक्रिय भाग ले रहे थे।

"अखण्ड श्री हरि संकीर्तन" भगवन्नाम की गम्भीर ध्वनि भगवती श्री गंगा जी की कल्लोल जाल जनित धीर-ध्वनि को प्रतिध्वनित करती हुई साक्षात स्वर्ग का शुद्ध सरस वातावरण बना रही थी। अखिल भारतीय श्री दैवी सम्पद् महामण्डलीय शिविर के सिंह द्वार में प्रवेश करते ही विशाल पण्डाल के मध्य विपुल-विशद रङ्गमञ्च की निर्माण विधि एवं अनुपम शोभा अवर्णनीय थी। नगर के धनी मानी सज्जनों ने बड़े भारी भारी सिलीपरों को अपने कन्धों पर ढोकर उनके ऊपर पुनीत पुलिन बालुका बिछाकर सुखद, सस्ते एवं रमणीय इस रंगमञ्च को अपने हाथों तैयार कर श्रमदान की उदारता का पूर्ण परिचय दिया। इन्द्र धनुष जैसी विद्युत् मालिका की रङ्ग-बिरङ्गी विविध धाराओं के मध्य में धनुर्धारी भगवान श्री राघवेन्द्र राम का पंचायतन अनेक देव देवियों के चित्रों से सुसज्जित [illegible]त्र पुष्पमयी रचना से चमत्कृत अमरावती की [illegible]न सभा का आनन्द दे रहा था। इस रङ्गमञ्च पर विराजमान वीतराग परमहंस परिव्राजकाचार्यों का यति-मण्डल काषायाम्बर कलित कलेवर, सन्ध्याकालीन पाटल मेघपटल की छटा छिटका रहा था। साथ ही विविध वैदिक विद्वानों का विबुध समाज मराल माला मिलित मानस का मनोहर दृश्य उपस्थित कर रहा था।

सन्तों के अनुभवपूर्ण आशीर्वादात्मक उपदेशों तथा विद्वानों के वेद-शास्त्रानुकूल सद्ग्रन्थ सम्मत तर्क-पूर्ण प्रवचनों एवं कथावाचक व्यास महानुभावों के भावपूर्ण भगवद्रस रञ्जित रागानुसारि सरस सुन्दर पुनीत कथाप्रसंगों को सुनकर उनसे अलौकिक आनन्द प्राप्त करने के लिये नागरिक नर-नारी समाज सहस्रों की संख्या में प्रतिदिन पधारता था। अतएव यह कहना अत्युक्ति न होगा कि इस सम्मेलन के दर्शन, श्रवण आदि का आनन्द लाखों भगवत् प्रेमियों ने लिया।

श्री दैवी सम्पद् मण्डल के ब्रह्मचारियों का आसन सम्बन्धी कार्यक्रम एवं श्री गीता जी का आद्योपान्त अक्षरशः कंठस्थ सुनाना आदि धर्मानुरागी जनता को आश्चर्य चकित कर रहा था।

कानपुर के जिन प्रमुख नागरिकों ने इस महोत्सव में अपना सक्रिय सहयोग दिया वे सभी धन्यवाद के पात्र हैं। उन महानुभावों की नामावली प्रकाशित करके हम उन्हें संकोच में डालना नहीं चाहते। किन्तु प्रमुख रूप में श्री रामगोपालजी गुप्त, श्री किशन लाल जी केडिया, श्री बुद्धू बाबू, डाक्टर भल्ले, श्री द्वारिकाप्रसादसिंह, श्री मोतीलाल अग्रवाल, चतुरनारायण सक्सेना, जयकृष्ण जी, बाबूराम गुप्ता राधेश्याम जी, आनन्द प्रकाश आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। संत महापुरुषों की व्यापक कल्याणमयी भावना और सत्य संकल्प से ही दैवी सम्पद् मण्डल का प्रत्येक महोत्सव सदा से सानन्द सफल होता रहा है। उत्सव की सफलता में जितने कर्मठ भक्तों ने हार्दिक सहयोग दिया वे अक्षय पुण्य

के भागी बनेंगे। कानपुर के भक्तों का कहना है कि दैवी सम्पद् मंडल के इस महोत्सव ने भावुक जनों को एक नई चेतना और नवीन जागृति का सुखद एवं आलोकमय सन्देश दिया है।

भक्तों के विशेष आग्रह से ८ अप्रैल को संत महापुरुषों तथा विद्वानों की शोभा-यात्रा (जलूस) नगर के प्रमुख मार्गों से निकली, उस जलूस की छटा तो निराली ही थी। नगर निवासियों ने अपने परम पूज्य अतिथियों के स्वागत सत्कार में जैसी भावुकता का परिचय दिया वह अकथनीय है। स्थान-स्थान पर संत-समुदाय की पूजा-अर्चना और पुष्प-वर्षा आदि का मनोहर दृश्य भुलाया नहीं जा सकता। शोभा-यात्रा में सहस्त्रों नर-नारियों ने सम्मिलित होकर भगवन्नाम की सुमधुर संकीर्तन ध्वनियों से भक्ति की आनंदमयी सुधा-धारा प्रवाहित करके नगर के राजसी वातावरण को उस समय पूर्ण सतोगुणी बना दिया। अन्ततोगत्वा मुक्त-कण्ठ से यही कहना पड़ता है कि कानपुर में दैवी सम्पद् मण्डल का यह विराट महोत्सव सर्वाङ्ग सुन्दर और पूर्णरूपेण सफल रहा।

अखिल भारतीय श्री दैवी सम्पद् मंडल कानपुर के विराट् सत्संग सम्मेलन में निम्नलिखित महात्मा, सन्त, विद्वान्, कथावाचक सम्मिलित हुए

(१) परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८ श्री स्वामी महेश्वरानन्द जी महाराज विद्यावारिधि, वेदान्त-मार्तंड, महामण्डलेश्वर।
(२) परमहंस वयोवृद्ध श्री १०८ श्री स्वामी हीरानन्द जी महाराज।
(३) परमहंस वयोवृद्ध श्री १०८ श्री ब्रह्मचैतन्यपुरी जी।
(४) परमहंस परिव्राजकाचार्य न्यस्तदण्ड श्री १०८ श्री स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज।
(५) परमहंस उदासीन श्रीस्वामी विद्यानन्द जी महाराज प्रज्ञाचक्षु।
(६) परमहंस श्री स्वामी रामतीर्थ जी महाराज।
(७) परमहंस श्री स्वामी शरणानन्द जी महाराज प्रज्ञाचक्षु।
(८) परमहंस श्री स्वामी कृष्णानन्द जी महाराज।
(९) परमहंस श्री स्वामी सनातनदेव जी महाराज।
(१०) परमहंस श्री स्वामी पलकनिधिजी 'पथिक', सीतापुर।
(११) श्रद्धेय श्री ब्रह्मचारी सत्यव्रत जी महाराज।
(१२) श्रद्धेय श्रीयुत मद्रासी बाबा जी।
(१३) परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८ श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज, प्रधान श्री दैवी सम्पद् मंडल।
(१४) श्री १०८ श्री स्वामी भजनानन्द जी महाराज।
(१५) श्री १०८ श्री स्वामी विचारानन्द जी महाराज।
(१६) श्री दण्डी स्वामी श्री एकरसानन्द जी सरस्वती।
(१७) श्री स्वामी समतानन्द जी महाराज।
(१८) श्री स्वामी प्रकाशानन्द जी महाराज।
(१९) श्री स्वामी सदानन्दजी महाराज सम्राट् "परमार्थ"।
(२०) श्री स्वामी सद्गुणानन्द जी महाराज।
(२१) श्री स्वामी योगिराज जी महाराज।
(२२) ब्रह्मचारी श्री श्यामप्रकाशजी महाराज।
(२३) ,, ,, नित्यानन्द जी महाराज।
(२४) ,, ,, कृष्णप्रेमी जी महाराज।
(२५) ,, ,, रामचैतन्य जी महाराज।

विद्वान् तथा कथावाचक

(२६) श्रीयुत पं० श्रीनाथ जी व्याकरण-साहित्याचार्य धर्मशास्त्री, एम०, ए०
(२७) श्रीयुत शङ्करानन्द जी प्रतिवादि भयंकर वेदान्ताचार्य
(२८) श्रीयुत गोस्वामी बिन्दु जी मानस मार्तण्ड।
(२९) ,, पं० दुर्गाप्रसाद जी सरस कथावाचक।
(३०) ,, पं० स्वामीदयाल जी व्यास।
(३१) ,, पं० चन्द्रमणि जी शास्त्री।
(३२) ,, पं० रामप्रसाद जी अवस्थी, शास्त्री, बी० ए०।
(३३) श्रीयुत पं० तुरन्तनाथ जी "प्रेम"।
(३४) ,, पं० रजनीकान्त जी शास्त्री व्यास।
(३५) ,, "मंजुल" जी कथावाचक कविरत्न, कीर्तन कलानिधि।

(प्रेषक—आचार्य श्रीनाथ 'धर्मशास्त्री' एम० ए०)

कौन महापुरुष कहाँ है ?

संत—महापुरुषों के सत्संग से लाभ उठाने के अभिलाषी जनों के लाभार्थ प्रतिमास विशिष्ट सन्तों के कार्यक्रम 'परमार्थ' में प्रकाशित करने का आयोजन हुआ है। साथ ही सुप्रसिद्ध कथावाचकों का कार्यक्रम भी प्रकाशित करने की चेष्टा होगी। आशा है हमारी इस सेवा से वहाँ के भक्तों को सत्संग-का लाभ प्राप्त होगा।

परमपूज्य सन्तों एवं विद्वान् कथावाचकों के चरणों में नम्र निवेदन है कि वे अपने निश्चित कार्यक्रम की सूचना समय-समय पर 'परमार्थ' कार्यालय में सत्संग-प्रेमियों के हितार्थ अवश्य भेजते रहने की कृपा करें। हम उनका प्रोग्राम प्रकाशित करने का यथासंभव प्रयत्न करेंगे।

महामण्डलेश्वर पूज्यपाद श्री स्वामी महेश्वरानंद जी महाराज

आजकल कनखल (हरिद्वार) में सुरतगिरि के बंगले में विराजमान हैं, लगभग दो मास तक वहीं निवास करेंगे।

परमपूज्य श्री स्वामी अखण्डानन्द जी सरस्वती महाराज (वृन्दावन)

शीघ्र ही जबलपुर पहुँचने वाले हैं वहाँ उनकी कल्याणमयी पावन-वाणी का प्रसाद भावुक जनों को प्राप्त होगा—वहाँ का पता-c/o श्री गिरिजानन्दन जी दुबे, शिक्षक, खेतौला बाजार-जबलपुर। वहाँ से बैशाख पूर्णिमा को हरिद्वार पहुँचने की बात है।

प्रज्ञाचक्षु पूज्य श्री स्वामी शरणानन्द जी महाराज

१७ अप्रैल को स्वर्गाश्रम पहुँच रहे हैं। वहाँ गीता भवन में निवास करेंगे।

पूज्यपाद श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज

कानपुर का महोत्सव सफलता पूर्वक सम्पन्न करके मुमुक्षु आश्रम होते हुए १६ अप्रैल को परमार्थ-निकेतन स्वर्गाश्रम पहुँच गये। लगभग ढाई मास तक वहीं उनका सत्संग होता रहेगा।

पूज्यपाद श्री स्वामी भजनानन्द जी महाराज

कानपुर से सीतापुर सत्संग-महोत्सव में सम्मिलित होकर १७ अप्रैल को परमार्थ-निकेतन स्वर्गाश्रम पहुँच गये। लगभग ढाई मास तक वहीं निवास करेंगे।

पूज्यपाद श्री स्वामी एकाक्षरानन्द जी सरस्वती महाराज, पं० शंकरानन्द जी प्रतिवादि भयंकर (जर्मन रिटर्न) तथा श्री 'मंजुल' जी, आजकल श्री पं० शिवनारायण जी व्यास द्वारा आयोजित रामचरित-मानस सत्संग-समारोह में दुमका (बिहार) पधारे हुए हैं।

—सम्पादक

सुखद-सूचना

नोटः—परमार्थ-निकेतन स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश) का मंगलमय सत्संग प्रारम्भ हो चुका है। सत्संग-प्रेमियों को वहाँ शीघ्र पहुँचना चाहिये। सदैव की भाँति भोजन और निवास आदि की यथासम्भव व्यवस्था रहेगी। जाने वाले भक्तों को अपने पहुँचने की सूचना परमार्थ निकेतन स्वर्गाश्रम के पते से अवश्य भेजनी चाहिये।

—व्यवस्थापक

सचित्र मासिक-पत्र

सहयोगी-साहित्य

"चरित्र निर्माण" सचित्र आध्यात्मिक मासिक-पत्र, वार्षिक मूल्य ६)

प्रकाशक—निर्माण कार्यालय ऋषीकेश [देहरादून] छपाई सफाई, आकर्षक एवं कलापूर्ण।

सुयोग्य संपादक मण्डल के सम्पादन में प्रकाशित होने वाले 'चरित्र निर्माण' का अवतरण पतनोन्मुखी मानव के लिये वरदान है। आज के इस लोमहर्षक युग में तो सर्वत्र सिनेमा और कला के नाम पर अश्लील साहित्य का ही बोलबाला है। देश का दूषित वातावरण हमारे भोले युवक-युवतियों को पतन के गम्भीर गह्वर में लिये जारहा है। ऐसे प्रतिकूल वातावरण को अनुकूल बनाने के लिये 'चरित्र निर्माण' का प्रकाशन सराहनीय है। वास्तव में आज ऐसे ही परिष्कृत एवं स्वस्थ साहित्य की अपने राष्ट्र को आवश्यकता है। इसमें प्रकाशित होने वाली महान विभूतियों की गम्भीर विचारधारा राष्ट्र को समुन्नत बनाने में सहायक सिद्ध होगी हम अपने सहयोगी की उन्नति चाहते हैं।

"मानस-हंस" सचित्र धार्मिक मासिक पत्र

वार्षिक मूल्य ४=) प्रकाशक मानस हंस कार्यालय, हाथरस, सम्पादक—श्री मानस शास्त्री

पत्रिका के सम्पादक महोदय सुप्रसिद्ध कथावाचक हैं। श्री रामचरित मानस के गूढ़ रहस्यों को प्रकाश में लाने के लिये मानस-हंस में प्रेमियों को अच्छी सामग्री मिलेगी। कभी-कभी इसमें भक्त-गाथा बड़ी सुन्दर निकलती है। पत्रिका में न्यूज प्रिंट के स्थान पर यदि अच्छे कागज का प्रयोग होता तो सोने में सुगन्ध आ जाती।

धार्मिक भावनाओं को प्रोत्साहित करने के लिये ऐसे पत्रों की अपने देश को अधिकाधिक आवश्यकता है।

—सम्पादक

फ़ोन नं० १०१

रजिस्टर्ड नं० ए-८७८

सोचो और समझो !

आयुः कल्लोललोलं कतिपयदिवसस्थायिनी यौवन-श्री-
रर्थाः संकल्पकल्पा घनसमयतडिद्विभ्रमा भोगपूराः ।
कण्ठाश्लेषोपगूढं तदपि च न चिरं यत्प्रियाभिः प्रणीतं,
ब्रह्मण्यासक्तचित्ता भवत भवभयाम्भोधिपारंतरीतुम् ॥

आयु- जल की लहरों के समान चंचल है, जवानी- थोड़े दिनों की है, धन- मन के संकल्पों से भी कम देर ठहरने वाला है, भोग- वर्षाकाल में चमकने वाली बिजली की चमक से भी अधिक चंचल है, प्यारी स्त्री को गले लगाना भी चिरस्थायी नहीं है। इसलिये मनुष्यो ! भवसागर से पार होने के लिये परमात्मा की प्राप्ति का दृढ़ पुरुषार्थ करो।

मुद्रक तथा प्रकाशक—स्वामी सदानन्द सरस्वती, परमार्थ प्रेस, पो० मुमुक्षु आश्रम, शाहजहाँपुर

सचित्र मासिक-पत्र

परमार्थ मासिक-पत्र

दैवी गुण विकासक, शान्ति संस्थापक, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार आदि अध्यात्मवाद प्रचारक, श्री दैवी सम्पद् महामण्डल का प्रमुख सुरुचिपूर्ण सचित्र मासिक-पत्र

संस्थापकः—

श्री १०८ श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज

श्री १०८ श्री स्वामी भजनानन्द जी महाराज

सम्पादकः—

स्वामी सदानन्द सरस्वती

राजाराम पाण्डेय 'मञ्जुल'

विषय सूची

सम्पादक मण्डल—

सर्वश्री रामाधार पाण्डेय 'राकेश' साहित्य-व्याकरणाचार्य, पं० गयाप्रसाद त्रिपाठी 'साहित्यरत्न', रामशंकर वर्मा एम० ए० "साहित्यरत्न", रामस्वरूप गुप्त।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तुनिरामयाः । सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग्भवेत् ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा, बुद्ध्यात्मना वानुसृतःस्वभावात् ।
करोमि यत्यत् सकलं परस्मै, नारायणायैव समर्पयेतत् ॥

वर्ष ५ } मुमुक्षु आश्रम, शाहजहाँपुर १५ मई १९५४ { अङ्क—५
वैशाख शुक्ल १३ शनिवार, सम्वत् २०११

अहिल्या-उद्धार

नाथ ! हौं आज सनाथ भई । ध्रुव ॥

परम उदार, महामुनि कौशिक,
आनि, जु दरम दई ॥ नाथ ॥ १ ॥

लायो संग पतित पावन दोउ,
छवि अति मृदुल मई ॥ नाथ० ॥ २ ॥

छूट्यो शाप, मिट्यो अघ दारुन,
प्रभु - पद - धूरि छुई ॥ नाथ० ॥ ३ ॥

जय, जय, जय करुनाकर, रघुवर,
अधमिनि सरन लई ॥ नाथ० ॥ ४ ॥

(पं० गयाप्रसाद जी शास्त्री)

परमार्थ-बिन्दु

विचार करो—एक बहुत अच्छा तैराक कोसों तैर लेता है परन्तु यदि उसकी छाती पर एक ५ मन का पत्थर का बाँध दिया जाय तो क्या वह तैर सकेगा? कदापि नहीं। इसी प्रकार, याद रक्खो, यदि हम खूब जप-तप, पाठ-पूजा आदि करते हैं अथवा यदि हमने विद्याध्ययन करके बी० ए०, एम० ए० या शास्त्री, आचार्य की डिग्री भले ही प्राप्त करली है परन्तु यदि हमारे स्वभाव में सरलता व नम्रता न आकर दम्भ व अभिमान का किंचित भी अंकुर विद्यमान है तो हमारा कल्याण कदापि न होगा।

विचार करो—साबुन से कपड़ों का मैल अवश्य ही छूट जाता है परन्तु यदि साबुन रगड़ते समय चौकी से कपड़ा हट जाय और कोई साबुन की पूरी बट्टी ही रगड़ दे तो क्या कपड़ा साफ होगा? कदापि नहीं। इसी प्रकार, सोचो तो, आप शरीर से तो खूब भजन सत्संग करते हैं परन्तु आपका मन कहीं और ही कांचन-कामनी अथवा मान-प्रतिष्ठा की प्राप्ति के लिये युक्तियाँ सोच रहा है तो निश्चय समझो, यह वास्तविक भजन-सत्संग नहीं हुआ—इससे भगवान् की प्राप्ति नहीं होगी। हाँ, यह अवश्य कह सकते हैं कि बुरे कर्मों से अच्छा है।

विचार करो—किसी बढ़िया से बढ़िया डाक्टर से अपने रोग-निवारण का नुस्खा जान लेने से अथवा नुस्खे वाली दवाई खरीदकर अलमारी या जेब में सुरक्षित रख लेने मात्र से क्या रोग हट जायगा? कदापि नहीं। रोग से मुक्ति तो तभी मिलेगी जब हम उस दवाई का सेवन करेंगे। इसी प्रकार निश्चय रक्खो, संत महात्माओं के उपदेश से अथवा सत्-शास्त्रों के स्वाध्याय से आत्मज्ञान अथवा भक्ति-मुक्ति की बात जानली या रटकर दिमाग की लाइब्रेरी में जमा कर ली और अवसर पाने पर दूसरों को रोचक भाषा में सुनाकर रिझा भी लिया तो इससे भव-रोग से छुटकारा कदापि नहीं मिलेगा, न भक्ति-मुक्ति ही प्राप्त होगी। भक्ति-मुक्ति तो तब ही मिलेगी जब आप उन उपदेशों पर अमल करेंगे—अपना मन इन्द्रियों द्वारा तदनुसार आचरण होने लगेगा। जानना अच्छा है परन्तु जानने से मानना बहुत ही अच्छा है।

विचार करो—"कुछ ही स्टेशनों तक यात्रा करना है" यह जानते हुये भी यदि कोई रेलगाड़ी का मुसाफिर डब्बे के अन्य यात्रियों से लड़ाई-झगड़ा करके हृदय को ईर्ष्या-द्वेष आदि अवगुणों से कलुषित करले तो क्या वह अज्ञानी नहीं? अवश्य है। इसी प्रकार सोचो तो, इस मानव देह के थोड़े से आयु काल में तथा उसमें भी समय समय पर बहुत अल्प-काल के लिये प्रारब्धानुसार किसी व्यक्ति या समाज के संग हो जाने पर यदि हम दूसरों से प्रेम की जगह कलह करके इर्ष्या-द्वेष मद-मत्सर व अभिमान आदि से अपना हृदय कलुषित कर लेते हैं तो क्या हम बुद्धिहीन नहीं? अवश्य हैं।

विचार करो—मदारी के जादू के लड्डू-पेड़ों व रुपयों के बदले में क्या कोई समझदार व्यक्ति अपनी जेब से सच्चे रुपये दे देगा? कदापि नहीं। क्योंकि वह जानता है कि पेड़े या रुपये सच्चे नहीं, नकली हैं—मिथ्या हैं। यदि सच्चे होते तो यह मदारी दो-दो पैसे के लिये दर्शकों के सामने पल्ला क्यों पसारता। इसी प्रकार, याद रक्खो, इन संसारी विषय भोगों के बदले में अपनी आयु का एक श्वास भी खो देना मूर्खता नहीं तो और क्या? अतः हमको इस देव दुर्लभ मानव-जीवन प्रत्येक श्वास परमात्मा के भजन अथवा सेवा-परोपकार में बिताना चाहिये। कहा भी है:—

भुज उठाइ के कहत हूँ कहो बजाऊं ढोल।
श्वासा खाली जात है तीन लोक का मोल॥

"आनन्द"

जीवित-धर्म

(माननीय सर्वपल्ली डा० राधाकृष्णन, उपराष्ट्रपति के प्रवचन का सार)

आज संसार को सच्चे धर्म से प्रेरणा प्राप्त करने की सब से अधिक आवश्यकता है। धर्म का जो ह्रास सर्वत्र दिखाई दे रहा है वह बिना कारण नहीं है। धर्म मानवता को एक करने का, जोड़ने का साधन है, उसे छोटे-छोटे दायरे बाँधने और तोड़ने का नहीं। किन्तु आज वह विश्व बन्धुत्व की भावना को विकसित करने की अपेक्षा मानवता को छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँट रहा है।

धर्म आज इसलिये भी लोकप्रिय नहीं है कि यह विज्ञान का युग है। जो धर्म बुद्धि को सन्तुष्ट नहीं करता वह ग्राह्य नहीं हो सकता। हम देखते हैं कि धर्म का नाम लेने वाले ही दैनिक जीवन में धर्म के आदर्शों के विपरीत आचरण करते हैं। मन्दिर में भगवान की. किन्तु दैनिक जीवन में हम तमस्, भौतिकता तथा शैतान की पूजा करते हैं। अतः यदि हम धर्म को एक जीवित शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं तो हमें उसे तीन आधारों पर करना होगा, वे हैं—विश्वबन्धुत्व की भावना, बौद्धिक तथा तार्किक संतोष तथा आचरणीयता। गीता हमें ऐसे ही धर्म का स्वरूप प्रदान करती है।

धर्म, अन्धविश्वास और रूढ़ियों से निकाल मनुष्य को ऊँचा उठाते हुए आध्यात्मिक सुख तथा ब्रह्मानन्द की ओर ले जाता है। धर्म जीवन के लिये है; जीवन में आचरण करने के लिये है; केवल दिखावा करने के लिये नहीं है। हम सिद्धान्ततः तो धर्म में विश्वास करते हैं पर व्यवहार से हम नास्तिक हैं।

गीता के प्रारम्भ में ही 'ब्रह्म विद्यायाम् योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे' इस शब्दावली का प्रयोग किया गया है। गीता किसी भी बात को अन्धा होकर मान लेने को नहीं कहती। उपनिषद् में 'ब्रह्म' की परिभाषा की गयी है। 'ब्रह्म क्या है ?' इस पर हुए गुरु-शिष्य संवाद में कहा गया है कि ब्रह्म अन्न है ? नहीं; ब्रह्म जीवन है ? नहीं; ब्रह्म तत्त्व है ? नहीं; ब्रह्म मन है ? नहीं; ब्रह्म विज्ञान है ? नहीं; "आनन्दम् ब्रह्म"—ब्रह्म आनन्द है। तत्त्व नहीं आत्मा ही प्रमुख है। ज्ञान से परिपूर्ण मस्तिष्क और आनन्दस्वरूप मन ही ब्रह्म का साक्षात्कार करते समय हमारे वेद, उपनिषद् या तो मौन रहते हैं अथवा नेति-नेति कहकर या फिर यह नहीं, इस प्रकार उसका कुछ आभास देने का प्रयत्न करते हैं।

गीता किसी खास धर्म प्रणाली को मानने के लिये आग्रह नहीं करती। वह कहती है जो मुझे जिस रूप में भजता है, मैं उसी प्रकार उसे स्वीकार कर लेती हूँ। ईश्वर तक पहुंचने का चाहे जो मार्ग क्यों न हो, उसका आधार धार्मिक होना चाहिये, यह गीता की विलासिता है। सच्चा धार्मिक मनुष्य वह नहीं जो ईश्वर में अपनी भक्ति प्रकट करता है। वरन् वह है जो जीवन के हर क्षण में उसका पालन करता है।

हम किसी भी मार्ग का अनुसरण क्यों न करें, हम ब्रह्मानन्द को प्राप्त कर सकते हैं। ज्ञान-मार्गी बुद्धि, विवेक तथा तर्क द्वारा 'अहम् ब्रह्मास्मि' का अनुभव कर सकता है। वैदिक दार्शनिकों का तत्त्व-मसि, बौद्ध धर्म का बोधिसत्त्व, जैन धर्म का अर्हत् सिद्धान्त तथा ईसाई का यह वाक्य कि ईश्वरीय साम्राज्य तुम्हारे अन्दर है, सब मिलकर यही बताते हैं कि हम ज्ञान के द्वारा अपने अन्दर ही ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकते हैं।

मनुष्य के अन्दर दोनों प्रकार की संभावनायें

है। मोह के द्वारा वह मृत्यु के बाद मृत्यु के चक्र में घूमता रह सकता है और सत्य के मार्ग से वह ऊँचा से ऊंचा उठता हुआ ईश्वर तक पहुँच सकता है।

यदि हम भावुक हैं तो हमारी आत्मा ईश्वरार्पण के लिये व्याकुल होनी चाहिये। हमारी आत्मा उस गोपी के समान है जो सहायता के लिये ईश्वर को पुकार रही है। जो कुछ माया है उसका त्याग कर स्वयं को ईश्वराधीन छोड़ दो।

यदि हम कर्म में विश्वास रखते हैं तो दान, दमन और दया जीवन के उच्चतम आचरण हैं। यदि आप धार्मिक पुरुष हैं तो दान, इन्द्रिय-दमन और दया को अपने जीवन में उतार लीजिये। इस गुणत्रयी के साधन से भी हम आत्मा की उच्चतम स्थिति प्राप्त कर सकते हैं। पर जो कृष्ण-कृष्ण चिल्लाते हैं, किन्तु अधर्म करते हैं वे धर्म के शत्रु हैं। गीता ने तो कृष्ण और जनक जैसे महान् योगियों का आदर्श हमारे सम्मुख रक्खा है। सारी गीता ही धर्म और प्रेरणा से भरी पड़ी है।

धर्म मानवता को बाँधता है, टूटे हुये सूत्र जोड़ता है। जो मनुष्य के बीच में भेद डालता है वह अधर्म है। धर्म का नाम है समाज को संकलित करने वाला।

गीता हमें ऐसा धर्म सिखाती है जो त्याग, प्रेम और सेवा का सन्देश देता है। जिसमें विभिन्न मार्गों को आदर प्राप्त हैं और लोक संग्रह के महान् आदर्श को प्रस्तावित करता है। मैं चाहता हूँ कि हम सब आत्म-निरीक्षण करें कि क्या हम ऐसे धर्म का आचरण कर रहे हैं?

दुःख से क्यों डरें

(एक संत की कृपा से)

अपने दुःख का कारण किसी और को न समझो। बुराई का उत्तर अच्छाई से दो। जो संकल्प उत्पन्न हो चुके हैं, उन्हें पवित्रता पूर्वक पूरा कर डालो और नवीन संकल्प उत्पन्न न होने दो। त्याग स्वतः उत्पन्न होने वाली वस्तु है काम का अन्त होने पर राम अपने आप आजाता है। जीवन की घटनाओं के अर्थ को अपनाओ। घटनाओं को भूल जाओ, दुःख भूल जाओ। वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग कर अपने को सभी परिस्थितियों से असंग कर लो। परिस्थिति-परिवर्तन की अपेक्षा परिस्थिति का सदुपयोग अधिक मूल्य की वस्तु है क्योंकि परिस्थिति-परिवर्तन से त्याग का अभिमान आता है और परिस्थिति के सदुपयोग से परिस्थिति से सम्बन्ध-विच्छेद होता है। त्याग का अभिमान राग का मूल है इसे विचारशील जानते हैं।

प्यारे! दुःख से डरो मत, प्रत्युत उसका सदुपयोग करो। यह भली प्रकार से समझ लो कि जो प्राणी सद्भावपूर्वक एक बार भगवान् का हो जाता है, उसका पतन नहीं होता। अतः "मैं भगवान् का हूँ" यह महामंत्र जीवन में घटा लो। ऐसा करने पर सभी उलझनें सुलझ जायँगी। भगवान् का हो जाने पर आवश्यक संकल्पों की पूर्ति और अनावश्यक संकल्पों की निवृत्ति अवश्य हो जाती है; ऐसा जीवन की अनेक घटनाओं से अनुभव हुआ है।

धर्म क्या है ?

(ले० श्री स्वामी आत्मानन्द 'मुनि' पुष्कर)

'परमार्थ' वर्ष ३ अंक ८ में 'समता क्या है?' और अंक ११ में 'उसका सच्चा साधन क्या है?' तथा वर्ष ४ अंक ४ व ५ में 'लोक-सुधार क्या है?' इन विषयों पर विचार किया गया था। इन तीनों विषयों में धर्म के सम्बन्ध में अनेक बार चर्चा हो चुकी है। इसलिये आज 'धर्म क्या है?' इस विषय पर हमें विचार करना है। 'धर्म क्या है?' यद्यपि यह विषय बहुत गम्भीर है, अतएव इस विषय में पूर्णतया विचार करने का तो दावा नहीं किया जा सकता। तथापि पूर्वोक्त तीनों विषयों पर भली प्रकार प्रकाश पड़ सके, इसी दृष्टि से अपनी बुद्धि के अनुसार धर्मसम्बन्ध में विचार किया जायगा।

संसार के मूल में मुख्यतया दो ही वस्तुएं मानने में आती हैं। (१) चेतनस्वरूप परमात्मा और (२) जड़रूप माया। सांख्यमत की भाषा में पहला 'पुरुष' और दूसरी 'प्रकृति' नाम से कहे जाते हैं। चेतनस्वरूप परमात्मा देश-काल की सीमा से पार होने से नित्य-निर्विकार और अचल-कूटस्थ कहा जाता है। अर्थात् उत्पत्ति-विनाशरूप सम्पूर्ण विकारों में निर्विकाररूप रहने से सम्पूर्ण विकारों की सत्ता (Existance) रूप से विराजमान रहता है। सम्पूर्ण विकार इसी की सत्ता से प्रकट होते हैं, परन्तु वह स्वयं सम्पूर्ण विकारों में ज्यों-का-त्यों रहकर सम्पूर्ण विकारों का साक्षी और द्रष्टा ही रहता है। जड़रूप माया (प्रकृति) नित्य, विकारवान्, सक्रिय और चंचला है, परन्तु इसकी कोई निजी सत्ता नहीं, इसीलिये वह 'जड़' कहलाती है। जो वस्तु दूसरे की सत्ता पर टिक सकती और हिलन-चलन कर सकती हो, वह 'जड़' कही जाती है। जैसे पत्थर स्वयं तो कुछ भी हिलन-चलन नहीं कर सकता, परन्तु चेतन पुरुष की शक्ति पाकर ही वह हील-चाल कर सकता है, इसीलिये वह जड़ कहा जाता है। इसी प्रकार माया (प्रकृति) और उसके सम्पूर्ण विकार व क्रियाएं केवल चेतन की सत्ता के आश्रय ही प्रकट होते हैं, अर्थात् चेतन की सत्ता पर ही इनका सम्पूर्ण नृत्य हुआ करता है। चेतन की सत्ता बिना उसका कुछ भी नृत्य नहीं चल सकता, जैसे जल की सत्ता पर ही तरंगों को उत्पत्ति-नाश और गमनागमन रूप सम्पूर्ण नृत्य हुआ करता है, परन्तु वे विकार जल को स्पर्श कर नहीं सकते और जल के बिना वह टिक नहीं सकते। अथवा मोटी बुद्धि से ऐसा जाना जा सकता है कि चेतन पुरुष लूला और जड़ प्रकृति अंधी है इसलिये दोनों ही स्वतन्त्र तो कुछ भी क्रिया कर नहीं सकते, परन्तु यदि अन्धे के कन्धे पर देखने वाले लूले को बैठा दिया जाय तो दोनों के संयोग से क्रिया हो सकती है। इसी तरह चेतन पुरुष क्रियाशून्य परन्तु प्रकाश स्वरूप है, तथा प्रकृति जड़ होने से प्रकाशशून्य और स्वसत्ताशून्य व विकारी है। इसलिये लूले व अन्धे के समान दोनों मिलकर अर्थात् चेतन पुरुष से प्रकाश और सत्ता पाकर ही जड़ प्रकृति संसार की उत्पत्ति और प्रलय कर सकती है। जड़ और विकारी होने से प्रकृति सत्त्व, रज, तम त्रिगुणात्मक कहलाती है, विकारी वस्तु ही गुण वाली हुआ करती है, यह नियम है। परन्तु चेतन पुरुष निर्विकारी होने से निर्गुण है। इस रीति से जड़-चेतन के संयोग से ही सब से पहले जीवभाव का उदय होता है। चेतन के धर्म प्रकृति में और प्रकृति के धर्म चेतन में अन्योन्याध्यास रूप से रहना, यही जीव-भाव का उदय कहलाता है और इसी को चिज्जड़-ग्रन्थि कहते हैं। अर्थात् चेतन अहम्‌रूप है, इसलिये अपनी चेतनता से स्वभाव से ही अहंता-धर्म वाला

तो है, परन्तु निर्विकार होने से किसी भी प्रकार से कर्त्ता-भोक्ता नहीं है। परन्तु प्रकृति अपने स्वभाव से ही विकारी होने से कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि विकार वाली तो है, परन्तु जड़ होने से अपने स्वरूप से अहंता शून्य ही है। इसलिये चेतन की अहंता प्रकृति में कि 'मैं कर्त्ता-भोक्ता हूँ' और प्रकृति के कर्तृत्व-भोक्तृत्व चेतन में कि 'कर्त्ता-भोक्ता हूँ' इस रीति से एक के धर्म का दूसरे में अन्योन्याध्यास अर्थात् भ्रम होना—यही चिज्जड़-ग्रन्थि का स्वरूप है और यही परा-प्रकृति कहलाती है तथा यही संसार को धारण करने वाली है। भगवान् श्रीमुख से ऐसी ही आज्ञा देते हैं:—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥
(गीता अ० ७ श्लो० ४, ५)

अर्थ—पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार—ये भिन्न-भिन्न आठ प्रकार की प्रकृति हैं। ये अष्टधा प्रकृति तो 'अपरा' अर्थात् कार्य-प्रकृति कहलाती हैं, परन्तु इस अष्टधा प्रकृति से श्रेष्ठ जीव रूप अर्थात् जीवरूप में उदय होने वाली चिज्जड़-ग्रन्थि-रूप मेरी परा प्रकृति को ही जानना चाहिये। महाबाहो! इस परा प्रकृति से ही यह जगत् धारण किया हुआ है।

यह चिज्जड़-ग्रन्थि ही संसार का मूल कारण है। यही कस्तूरी-मृग के समान अपने अज्ञान से अपने में सच्चे सुखस्वरूप का भंडार भरपूर रहते हुए भी सुख की अभिलाषी होती है और अपने में भरपूर सच्चे सुखस्वरूप को वहाँ न पहचान सकने के कारण बाह्य विषय-भोगों में सुख की खोज किया करती है। यही अपने अज्ञान से किसी विषय को सुखरूप और किसी को दुःख-रूप मान कर ग्रहण-त्याग से बुद्धि प्रेरित रहा करती है। और यही ग्रहण-त्याग बुद्धि से विक्षिप्त रहकर कर्मों में प्रवृत्त रहती है और किये हुये कर्मों के संस्कारों को अपने में संचित करती है। इस रीति से यही पुण्य-पाप की कर्त्ता बनकर उसके फलस्वरूप सुख-दुःख का भोक्ता और जन्म-मरण का कारण हुआ करती है। इस प्रकार यही मकड़ी के समान अपने भोग के लिये अपने अन्दर से ही अपना संसार निकालती है और तत्पश्चात् आप ही उसमें फँस कर मरती है।

सारांश, सम्पूर्ण अनर्थों का मूल यह चिज्जड़-ग्रन्थि ही है। यही अपने सम्बन्ध से अजन्मा को जन्मा, अविनाशी को नाशवान्, नित्यानन्द को दुःखी, नित्य-निर्मल को मलिन और नित्य-मुक्त को चौरासी लाख के चक्कर में डालती है। इसलिये चिज्जड़-ग्रन्थि को काटना—यही मानव-मात्र का एकमात्र कर्त्तव्य है और इसीलिये इस दुर्लभ मनुष्य शरीर की प्राप्ति हुई है। 'समता का सच्चा साधन क्या? इस लेख के अनुसार ये दूसरे लोकसुधार आदि कार्य इस मुख्य लक्ष्य की प्राप्ति में साधन रूप तो माने जा सकते हैं। परन्तु ये स्वयं ही मुख्य लक्ष्य कदापि नहीं बन सकते तथा वे लोक सुधार आदि कार्य भी इसी दृष्टि को धार कर कि परम्परा से इनके द्वारा चित्त शुद्धि होकर इस चिज्जड़-ग्रन्थि को काटा जासके,लोक सुधार माने जा सकते हैं और इस दृष्टिके बिना वे सभी लोक बिगाड़ ही के कारण बन जाते हैं। और यह कार्य यहीं इस मनुष्य जीवन में ही सिद्ध हो सकता है, दूसरी किसी भी योनि अथवा स्थल में इस कार्य की पूर्ति अभी तक न हुई है न हो सकेगी, यही वेद-वेदान्त का मुक्त-कण्ठ से ढिंढोरा है। इसलिये अपने जिस आचरण व व्यवहार से हम साक्षात् (Directly) इस चिज्जड़ ग्रन्थि को काट सकें, अथवा परम्परा से (Indire-

ctly) अपने अधिकारानुसार इस ग्रन्थि को काटने के मार्ग पर चल सकें, वे ही चेष्टायें व व्यवहार 'धर्म' कहलाते हैं। इसके विपरीत जिन-जिन चेष्टाओं द्वारा हम इस ग्रन्थि को अधिकाधिक उलझावें वे सब 'अधर्म' कहे जाँयगे। 'धर्म-अधर्म' का वेदानुसार यही निष्कर्ष है और इसी दृष्टि से हम अपने सम्पूर्ण व्यवहारों के साथ धर्म-अधर्म का भली भाँति निर्णय कर सकते हैं। अपनी अपनी दृष्टि के अनुसार इसी नींव पर सम्पूर्ण मत-मतांतरों व सम्प्रदायों की रचना हुई है और इस ग्रन्थि को काटना—यही सबका एकमात्र लक्ष्य है। इसलिये मनुष्ययोनि में खान-पान, रहन-सहन, बोल-चाल, जागना-सोना, और नमस्कार-प्रणामादि छोटे से छोटे व्यवहारों के साथ भी शास्त्रकारों के द्वारा इसी दृष्टि से धर्म-अधर्म का सम्बन्ध जोड़ा गया है। फिर विवाह, भोग-विलास, धनोपार्जन वर्णाश्रम तथा राजनीति आदि जीवन के महत्त्वपूर्ण व्यवहारों के साथ यदि धर्माधर्म का सम्बन्ध जोड़ा जाय तो आश्चर्य ही क्या? अर्वाचीन भद्रपुरुष कहा करते हैं "राजनीति और धर्म विभिन्न वस्तुएं हैं राजनीति का धर्म के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है" वे पुरुष वस्तुतः धर्म के रहस्य से अपरिचित हैं। यह विषय आगे चलकर स्पष्ट किया जायगा। वास्तव में तो 'आसुप्तेरामृते' अर्थात् जागने से सोने तक और जन्म से मरण तक जड़-चेतन रूप सम्पूर्ण योनि, जाति और व्यक्तियों के सम्पूर्ण व्यापार केवल धर्म के अधीन ही चल रहे हैं। धर्म की मर्यादा के अधीन सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्र अपनी-अपनी कक्षा में नियमित रूप से भ्रम रहे हैं। धर्म की मर्यादा के अधीन ही पृथ्वी संसार को धारण कर रही है और धर्म की मर्यादा के अधीन ही पृथ्वी जल, तेज वायु और आकाश अपने-अपने धर्म में प्रवृत्त रहकर ही सृष्टि की उत्पत्ति-स्थिति और प्रलय रूप व्यौपार में सावधानी पूर्वक विचरते हैं और जीवों को अपने-अपने कर्मों का फल भोग भुगवाते हैं इसीलिये शास्त्रकारों ने धर्म का ऐसा स्वरूप भी वर्णन किया है—

> धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजा।
> यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इतिकथ्यते॥

अर्थ—धारण करने से 'धर्म' ऐसा कहा जाता है और धर्म ही प्रजा को धारण करता है। इस लिये जो धारण योग्य हो वह ही धर्म कहलाता है।

आशय यह कि घड़े के आधार जल के समान जिस प्रकृति की शक्ति के आधार सम्पूर्ण भूत व प्रजा धारण किये हुये हैं, धारण करने से वही शक्ति धर्म कहलाती है। अर्थात् प्रकृति की जिस शक्ति के आधार जीव अपने-अपने कर्मानुसार पुण्य-पाप सुख-दुःख और जन्म-मरण के चक्कर में पड़ते हैं तथा प्रकृति की जिस नीति के अनुसार इस प्रकार सुख-दुःख का भोग जीव के विकास और श्रेय के लिये ही है, वही शक्ति और नीति 'धर्म' कही जाती है। अथवा जो धारण संयुक्त हो—अर्थात् व्यवहारिक रूप में जिस आचरण से मनुष्य मनुष्य, स्त्री-स्त्री, ब्राह्मण-ब्राह्मण, क्षत्रिय-क्षत्रिय, वैश्य-वैश्य और शूद्र शूद्र तथा ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी तत्तत् शब्द वाच्य कहे जा सकें, वह धारणा भी 'धर्म' कही जा सकती है।

सारांश धर्म के लक्षण के सम्बन्ध में तीन बातें कही गई हैं—

(१)—अपने जिस आचरण से हम साक्षात् (Directly) इस चिज्जड़ ग्रन्थि को काट सकें, अथवा परम्परा से (Indirectly) इस ग्रन्थि को काटने के मार्ग पर चल सकें, वह अधर्म कहा जाता है।

(२) जो प्राकृतिक शक्ति अपनी मर्यादा के अधीन इस संसार चक्र को धारण कर रही है और उसका नियमित रूप से संचालन भी कर रही है तथा जो नीति जीव

को सुख-दुःख का भोग भुगाकर जीव के विकास और श्रेय के लिये ही प्रवृत्त रहती है, धारण करने से वह शक्ति 'धर्म' कहलाती है।

(३) अपने जिस व्यवहारिक रूप से खरे आचरण द्वारा, अर्थात् धारण-संयुक्त होने से हम मनुष्य, स्त्री आदि तत्तत् शब्द वाच्य ठहर सकें, वह व्यवहारिक वर्णन 'धर्म' कहलाता है।

अब हमें विचार करना है कि यह चिज्जड़-ग्रन्थि कैसे काटी जा सके ? क्योंकि मनुष्य-जीवन का मुख्य पुरुषार्थ यही है। विचार द्वारा समझा जा सकता है कि इस चिज्जड़-ग्रन्थि के फल स्वरूप जो परिच्छिन्न-अहंकार (सीमित-अहंकार, Little self) उदय हुआ है, यही सम्पूर्ण अनर्थों का मूल है। यही अपने अज्ञान से अपने सुख स्वरूप को भुला कर और सुख प्राप्ति का अभिलाषी होकर कर्मों का कर्त्ता, सुख-दुःख का भोक्ता और उसके फलस्वरूप जन्म-मरण का धर्त्ता होता है। जैसा पीछे कहा जा चुका है इस परिच्छिन्न अहंकार में दो ही वस्तुएं हैं, एक चेतन स्वरूप पुरुष और दूसरी जड़रूप प्रकृति। जैसी-जैसी जड़ प्रकृति की उपाधि के साथ यह चेतन पुरुष मिलता है, उपाधि के अनुरूप वैसा-वैसा ही वह अहंकारी वन बैठता है। जैसे जल जिस रूप रंग के पात्र के साथ मिलता है—लम्बा, चौरस, गोल इत्यादि, वैसे-वैसे रूप वाला ही वह देखने में आता है। इसी प्रकार जड़ प्रकृति की स्थूल-सूक्ष्म और चर-अचर जैसी-जैसी उपाधि के साथ इस चेतन पुरुष का संयोग होता है, वैसा-वैसा ही वह अहंकारी हुआ करता है। उद्भिज (वृक्षादि) की उपाधि के साथ मिलकर वह वृक्षादि रूप, स्वेदज (कीटादि) की उपाधि के साथ मिलकर कीटादिरूप, अंडज (पक्षी) की उपाधि के साथ मिलकर पक्षीरूप, कि 'मैं पक्षी हूँ' जरायुज (पशुओं) की उपाधि के साथ मिलकर पशुरूप तथा मानव की उपाधि के साथ मिलकर मानवरूप, कि 'मैं मनुष्य-स्त्री हूँ' इसी प्रकार उपाधि के अनुरूप अहंकारी बनता रहता है। तथा मनुष्य योनि में बुद्धि के विकास के अनुसार जैसी-जैसी जाति, वर्ण, आश्रम और मत-मतान्तरों की उपाधि के साथ वह मिलता है वैसा-वैसा ही अहंकारी बन जाता है कि 'मैं हिन्दू-मुस्लिम आदि जाति वाला हूँ, मैं ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि वर्ण वाला हूँ, गृहस्थ-संन्यास आदि आश्रम वाला हूँ और सनातनी-समाजी तथा कांग्रेसी-कम्युनिस्ट आदि मत-मतान्तरों वाला हूँ।' इसलिये निर्मूल करने योग्य तो प्रकृति की यह जड़ उपाधि ही है। चेतन पुरुष तो किसी प्रकार सूक्ष्म बनाने या निर्मूल करने का पात्र हो ही नहीं सकता, क्योंकि यह तो सब की सत्ता ही है। कोई भी वस्तु अपनी सत्ता को काट नहीं सकती, किन्तु अपनी सत्ता से भिन्न वस्तुएं ही काटने का पात्र हो सकती है। जैसे तलवार अपने में सत्ता रूप से रहने वाले लोहे को काट नहीं सकती, किन्तु अपनी सत्ता से पृथक पदार्थों को ही काटती है। इस प्रकार यह विषय भली प्रकार निर्णीत हो जाता है कि इस चिज्जड़-ग्रन्थि में चेतन पुरुष तो निर्विकार और अलग, कूटस्थ होने से किसी प्रकार सूक्ष्म बनाने अथवा निर्मूल करने का पात्र बनता नहीं है, परन्तु जड़ प्रकृति की उपाधि जो अपने सम्बन्ध से ही अपने विकार इस चेतन पुरुष में आरोप करती है, यही सूक्ष्म बनाने और निर्मूल करने का पात्र हो सकती है। यही पुरुषार्थ है और जैसे जैसे साधनों से यह काटी जा सके वही धर्म कहलाते हैं तथा सांगोपांग जब यह कट जाय, तभी खरी समता की सिद्धि बनती है।

उपरोक्त कथनानुसार इस चिज्जड़-ग्रन्थि में उपाधि की जड़ता को गलाना और उड़ाना यही पुरुषार्थ है। अब गलाना और उड़ाना क्या ? इस विषय में हमें विचार करना है। जीव की जड़ उपाधि पञ्चकोश, त्रय अवस्था और तीन गुणों में बटी हुई है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय यह पांच कोशों के नाम हैं। जाग्रत,

स्वप्न और सुषुप्ति—यह तीन अवस्था हैं और सत्त्व रज व तम—यह तीन गुण हैं। जैसे जल जब शीत के संयोग से जड़ बर्फ के रूप में सुदृढ़ हो जाता है और उस बर्फ को हमें उड़ाना इष्ट हो तो हम बर्फ के रूप से ही उसे उड़ा नहीं सकते, किन्तु हमें प्रथम अग्नि के संयोग से उसे जल के रूप में गलाना चाहिये, उसके बाद ही वह भाप के रूप में उड़ाई जा सकती है। इसी प्रकार जीव की जड़ उपाधि जो प्रथम उद्भिज (वृक्षादि) अवस्था में बर्फ के समान सुदृढ़ हो रही है, उसे स्वेदज, अंडज और जरायुज अवस्था में गलाना इष्ट है। उसके बाद ही वह मानव-योनि में त्याग रूपी अग्नि द्वारा उड़ाई जा सकती है। विकासवाद के अनुसार जिस प्रकार माता अपने शिशु को अपनी जिम्मेदारी के साथ लालन-पालन करती हुई शिशु से बाल्यावस्था में और बाल्या से यौवनावस्था में पहुँचा देती है और तत्पश्चात् अपनी जिम्मेदारी से भी मुक्त हो जाती है, इसी प्रकार प्रकृति माता भी अपनी जिम्मेदारी से अपने जीवरूपी शिशु को वृक्षादि की जड़ योनियों में से विकसित करती हुई और उपाधि की जड़ता को गलाती हुई स्वेदज, अंडज और जरायुज योनियों में से निकालती हुई मनुष्य-योनि पर्यन्त पहुँचा देती है और उसके बाद अपनी जिम्मेदारी से मुक्त हो जाती है। जीव-विकासवाद की दृष्टि से प्रकृति माता अपने जीवरूपी पुत्र को अपनी गोद में लालन-पालन करती हुई और कोशों, अवस्थाओं और गुणों का विकास करती हुई उद्भिजादि जड़-योनियों से स्वेदज, अंडज, और जरायुज योनियों में किसी बाधा के बिना क्रम-क्रम से जड़ता को गलाती हुई और चेतनता का विकास करती हुई जिस प्रकार मनुष्य-योनि में पहुँचा देती है, वह वृत्तान्त निम्न-लिखित है।

(१) उद्भिज (वृक्षादि) योनि में जीव गाढ़ सुषुप्ति अवस्था में शयन करता है। वह वहाँ गाढ़ तमोगुण से ही सम्बन्धित रहता है और वहाँ उसमें केवल अन्नमय कोश का ही विकास रहता है, जिससे वह मिट्टी और पानी तो ग्रहण करता है परन्तु हिलन-चलन अथवा किसी भी प्रकार की मन-इन्द्रियों की जानकारी नहीं रखता।

(२) प्राकृतिक विधान के नीचे उद्भिज अवस्था से जीव का विकास स्वेदज-योनि में होता है। यहाँ उसमें अन्नमयकोश के उपरान्त प्राणमयकोश, क्षीण-सुषुप्ति अवस्था और क्षीण तमोगुण का विकास हो जाता है। यहाँ जीव में प्राणों का व्यापार भी प्रकट हो जाता है। प्राणमय कोश के विकास और सुषुप्ति अवस्था तथा तमोगुण की क्षीणता के कारण ही इस योनि में गमनागमन रूप व्यापार तो प्रकट हो जाता है, परन्तु मन-इन्द्रियों की कुछ भी व्यापार अथवा जानकारी नहीं रहती।

(३) इसी प्रकार प्रकृति माता अपने जीवरूपी पुत्र का लालन-पालन करती हुई अब स्वेदज-योनि से उसका अंडज-योनि में विकास कर देती है। यहाँ उसमें अन्नमय व प्राणमय कोश के उपरान्त मनोमय कोश, क्षीण तमोगुण के स्थान पर रजोगुण और क्षीण सुषुप्ति अवस्था के बदले गाढ़ स्वप्न का विकास हो जाता है। मनोमय कोश के विकास के परिणाम स्वरूप पक्षी-योनि में राग-द्वेषादि मन की चेष्टाएँ देखने में आती हैं और रजोगुण के कारण बहुत चञ्चलता भी देखने में आती है। परन्तु जिस प्रकार स्वप्न में हमारा मन बहुत चञ्चल तो रहता है, तथापि उस अवस्था की स्मृति या संस्कार हममें टिक नहीं सकते। इसी प्रकार पक्षियों में स्वप्नावस्था के विकास के कारण मन के व्यापार तो बहुत से प्रकट होते हैं, परन्तु उस अवस्था की स्मृति या संस्कार उनमें टिक नहीं सकते। (क्रमशः)

मौन की महिमा और वाणी के दोष

(पारसमणि से)

भगवान् ने यह जिह्वा भी अत्यन्त आश्चर्यरूप बनायी है। यह देखने में तो एक मांस का टुकड़ा है, किन्तु पृथ्वी और आकाश में जो कुछ सृष्टि है उस सभी में इसका प्रवेश है। यही नहीं, जो पदार्थ अरूप और अदृश्य हैं उनका भी यह वर्णन करती है। अतः जिह्वा को बुद्धि की मन्त्री कहा है। तात्पर्य यह कि जैसे कोई भी पदार्थ बुद्धि की पहिचान से बाहर नहीं है। वैसे जिह्वा भी सभी पदार्थों का वर्णन करती है। इसके सिवा अन्य इन्द्रियों की ऐसी योग्यता नहीं है जो सभी कार्यों में प्रवेश पा सकें। जैसे नेत्र केवल आकार को देख सकते हैं, कर्ण केवल शब्द सुन सकते हैं तथा अन्य इन्द्रियाँ भी केवल एक-एक कार्य ही कर सकती हैं। किन्तु यह जिह्वा ऐसी है जो नेत्र, श्रवण आदि सभी अंगों के भेदों का वर्णन कर सकती है। जिस प्रकार जीव की चेतना सब अंगों में व्याप्त है वैसे ही यह जिह्वा जीव के सभी संकल्पों को प्रकट करती है। यह जैसे, वचनों का उच्चारण करती है वैसा ही भाव हृदय में प्रवेश कर जाता है। जब यह आधीनता और वियोग की बातें करती है तो हृदय कोमल होजाता है और नेत्रों से आँसू झरने लगते हैं। और जब यह प्रसन्नता प्रकट करती है अथवा किसी की प्रशंसा करने लगती है तो स्वाभाविक ही उसके प्रति रुचि हो जाती है। इसी प्रकार जब जिह्वा से झूठ और अश्लील शब्दों का उच्चारण होता है तो हृदय मलिन हो जाता है और जब शुभ वचनों का उच्चारण होता है तो हृदय में सात्त्विकी भाव का उदय होने लगता है। इसी पर महापुरुष ने भी कहा है कि जब तक मनुष्य का हृदय शुद्ध नहीं होता तब तक उसका धर्म भी दृढ़ नहीं होता और जब-तक जिह्वा (वाणी) सरल एवं सच्ची नहीं होती तब तक हृदय भी शुद्ध नहीं होता। अतः वाणी के पाप और विघ्नों से भय मानना धर्म की दृढ़ता का कारण है। इसीसे अब आगे हम पहले तो मौन की विशेषता कहेंगे और फिर वाणी के पाप जो झूठ, निन्दा, विवाद और दुर्वचन आदि हैं उनका वर्णन करेंगे-तथा इनसे बचने के उपायों का पृथक्-पृथक् निरूपण किया जायगा।

निश्चय जानो, इस बोलने में इतने पाप हैं कि उनसे अपनी रक्षा करना बहुत ही कठिन है। अतः उनसे बचने का सबसे अच्छा उपाय मौन ही है। अतः मनुष्य को चाहिये कि बिना आवश्यकता कोई बात न बोले। इसीसे सन्तों ने कहा है कि जिनके आहार, परदोष-वर्णन और भाषण संयम सहित होते हैं, निःसन्देह सिद्ध पदवी प्राप्त करते हैं। प्रभु का भी कथन है कि अधिक बोलने से कभी भलाई नहीं होती। अतः केवल किसी का उपकार करने, दान देने अथवा विरोध निवृत्त करने के लिये ही बोलना अच्छा है। तथा महापुरुष ने भी कहा है कि जिसे भगवान ने वाणी, उदर और कर्मेन्द्रियों की बाधाओं से बचाया है वह मुक्तरूप ही है। एकबार किसी भगवत्प्रेमी ने महापुरुष से पूछा था कि सर्वश्रेष्ठ आचरण क्या है? तब उन्होंने संकेत द्वारा बताया कि मौन ही सबसे श्रेष्ठ आचरण है। इसके सिवा यह भी कहा है कि मौन और कोमल स्वभाव सुखपूर्वक होने वाला भजन है। तथा ऐसा भी कहते हैं कि कोई अधिक बोलता है तो उसका हृदय कठोर हो जाता है और यह पाप रूप ही है, तथा जो पापरूप हो वह तो अग्नि में जलाने योग्य होता है। इस विषय में एक बात प्रसिद्ध है— कहते हैं, किसी सभा में कुछ वाग्विलास हो रहा था। वहाँ एक भगवत्प्रेमी मौन

बैठे थे। जब और सबने उनसे पूछा कि आप क्यों नहीं बोलते तो उन्होंने कहा, "मैं यदि झूठ बोलूँ तब तो भगवान् से डरता हूँ और यदि सच कहूँ तो आप लोगों से भय है, इसलिये मौन हूँ।"

अतः मौन की विशेषता इसीसे कही है, बोलने से अनेक पाप उत्पन्न हो जाते हैं और जिह्वा सदैव व्यर्थ-भाषण में आसक्त रहने लगती है। इसके सिवा न बोलने में किसी प्रकार के प्रयत्न की अपेक्षा नहीं होती और मन को भी प्रसन्नता प्राप्त होती है। तथा वाणी के गुण-दोषों का विवेचन करना भी कठिन ही है। इसीसे कहा है कि मौन रहने पर मनुष्य सब प्रकार के क्लेशों से छुटकारा पा लेता है तथा इससे पुरुषार्थ और एकाग्रता में भी वृद्धि होती है, एवं सुगमता से भजन में स्थिति होजाती है।

याद रक्खो, वचन चार प्रकार का होता है—(१) जो विघ्नरूप है जैसे निन्दा और झूठ, (२) जिसमें गुण और दोष मिले हुये हैं जैसे बिना प्रयोजन किसी की बात पूछनी, (३) जो गुण और दोष से रहित है जैसे व्यर्थ की बात-चीत करना। इसमें सबसे बड़ी हानि यही है कि समय व्यर्थ नष्ट होता है और, (४) जो सब प्रकार गुण रूप है, जैसे किसी को सुख पहुँचाने के लिये कोई बात कहना। इन चार प्रकार के बचनों में पहले तीन विघ्न हैं। अतः जिज्ञासु को केवल चौथे प्रकार का वचन बोलना चाहिये। किन्तु जो पुरुष मौन है वह तो सभी प्रकार के विघ्नों से छूटा हुआ है।

मनुष्य स्वभाव से वाणी से सब विघ्नों को नहीं पहिचान सकता। इसलिये मैं उनका पृथक्-पृथक् प्रतिपादन करता हूँ। वे सब विघ्न पन्द्रह हैं। उनका विवेचन इस प्रकार है—

१—जिस बात से तुम्हें कुछ प्रयोजन न हो उसे करना अत्यन्त निन्दनीय है। तात्पर्य यह है कि जिस बात से तुम्हारा व्यवहार या परमार्थ कुछ भी सिद्ध न होता हो उसे बोलने से सत्त्वगुण का सुख नष्ट हो जाता है। जैसे कोई व्यक्ति किसी सभा में जाय और वहाँ सुनाने लगे कि मैं अमुक देश में गया था वहाँ ऐसे-ऐसे नगर, पर्वत और खान-पान आदि देखे—तो यद्यपि उसका कथन सत्य होगा परन्तु इससे उसका अथवा दूसरे का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता इसलिये वह व्यर्थ वचन कहलाता है। अतः इसे त्यागना चाहिये। अथवा यदि किसी से बिना ही प्रयोजन कोई व्यर्थ प्रश्न करे तब वह भी व्यर्थ होता है। व्यर्थ उसे कहते हैं जिसमें कोई दोष भी न हो और कोई कार्य भी सिद्ध न होता हो। इसी प्रकार यदि कोई पूछे कि तुमने व्रत रक्खा है या नहीं? तो उसका उत्तर देने वाला 'मैं व्रती हूँ।' ऐसा कहने पर तो अभिमान का दोषी होगा, और यदि कहे कि मैंने व्रत नहीं रक्खा तो मिथ्या भाषी होगा। अथवा व्रत न रहने पर भी यदि संकोचवश कह दे कि मैंने व्रत रखा है तो उसे पाप ही लगेगा। ये सारे दोष उसे पूछने वाले के प्रश्न के कारण ही लगेंगे। अतः ऐसी बात किसी से पूछनी ही नहीं चाहिये। इसी प्रकार यदि किसी से पूछा जाय कि तुम कहाँ से आते हो, कहाँ जाते हो; अथवा क्या करते हो? और वह ये बातें स्पष्ट बताना न चाहता हो तो उस समय वह झूठ बोलेगा, उसका पाप उसे तुम्हारे ही कारण लगेगा। कहते हैं एक बार हकीम लुकमान, दाऊद नामक महापुरुष के पास गये थे। वे उस समय लोहे का कवच बना रहे थे। लुकमान के मन में यह पूछने का संकल्प हुआ कि आप यह क्या बना रहे हैं? किन्तु शील संकोच वश उन्होंने कबच बना लिया तो उसे गले में डालकर बोले, यह युद्ध के समय का अच्छा पहनावा है, तब लुकमान ने निश्चय किया कि मौन बहुत अच्छी चीज है, इसके कारण किसी में आसक्ति नहीं होती। इसके विपरीत जब मनुष्य बिना प्रयोजन ही किसी से प्रश्न करता है और यह सोचता है कि इसका भेद जान-

कर मैं इसके साथ मेल-जोल बढ़ाऊँ तो यह सब उसकी बुद्धि हीनता ही है। मनुष्यों को ऐसी व्यर्थ प्रवृत्ति से बचने के लिये काल को सर्वदा सिर पर देखना चाहिये और समझना चाहिये कि इसलोक में एक बार भगवान का नाम लेना ही बड़ा भारी लाभ है।

उस ख़जाने को मैं व्यर्थ वाद-विवाद में समय खोकर क्यों नष्ट करूँ। ऐसा करने से तो मेरी बड़ी भारी हानि होगी। किन्तु यह उपाय यथार्थ बुद्धि-प्राप्ति होने पर ही होता है। इसके लिये जिज्ञासु को उचित है कि एकान्त में जाकर रहे। ऐसा करने से भी वाद विवाद से छुटकारा मिल जाता है। तात्पर्य यह है कि यदि एक वचन से निर्वाह हो सकता हो तो दो वचन न बोले। इस विषय में एक भगवत्प्रेमी का कथन है कि मेरे हृदय में यदि कोई अत्यन्त मधुर विषय फुरता है तो भी मैं बोलता नहीं, क्योंकि मुझे यह शंका रहती है कि कहीं अधिक न बोल जाऊँ। महापुरुष ने भी कहा कि श्रेष्ठ पुरुष वह है जो धन की थैली की गाँठ तो खोले रखता है किन्तु वाणी को बन्धन में रक्खे हुये है।

२—मिथ्या और पापमय वचन बोलना दूसरा दोष है। लड़ाई-झगड़े की चर्चा अथवा दुराचारी पुरुषों के व्यवहार की बातचीत ये सब पापमय वचन ही हैं, क्योंकि पहले जो हमने व्यर्थ विवाद के विषय में निर्णय किया है, ये बातें इसकी कोटि में नहीं गिनी जा सकती ये तो उससे बहुत नीची कोटि की हैं। इस विषय में महापुरुष ने कहा है कि जब यह पुरुष निःशंक होकर बोलता है और उस वचन की बुराई को नहीं समझता तब वह बोलने के कारण ही नरकगामी हो जाता है। और जब भगवान् का भय रखकर बोलता तथा विचार पूर्वक इस रहस्य को भी जान लेता है तो निःसन्देह परमानन्द प्राप्त करता है।

(३) किसी मनुष्यके कोई बात कहने पर उसे काट देना तीसरा दोष है। यह स्वभाव बहुत निन्दनीय है। किन्तु बहुत मनुष्यों की ऐसी आदत होती है कि जब कोई कुछ बोलता है तो झट कह उठते हैं कि वह बात ऐसी नहीं है। विचार किया जाय तो उनके इस कथन का यही अर्थ हुआ कि तुम मूर्ख और मिथ्यावादी हो तथा मैं बड़ा सत्य वक्ता और बुद्धिमान हूँ। अतः ऐसा कहने से क्रोध और अहंकार जो अत्यन्त मलिन स्वभाव हैं, उन्हीं की वृद्धि होती है। इस विषय में महापुरुष का कथन है कि जो पुरुष किसी की बात को नहीं काटता और कभी व्यर्थ वचन भी नहीं बोलता वह परम सुख प्राप्त करता है। ऐसे स्वभाव की विशेषता इसीलिये बतायी गयी है कि किसी अच्छे या बुरे शब्द को धैर्य पूर्वक सहलेना बड़ा कठिन काम है। साथ ही, यह भी कहा है कि इस पुरुष का धर्म तभी दृढ़ होता है जब स्वयं सच्चा होने पर भी किसी की बात को काटे नहीं। बात काटने का तात्पर्य यह है कि जब कोई कहे कि यह अनार खट्टा है और तुम कहने लगो, 'नहीं, यह तो मीठा है।' जब कोई कहे कि अमुक गाँव पाँच कोश है और तुम कहने लगो कि 'नहीं' छः कोश है।' ऐसा कहना बड़ा भारी पाप है। क्योंकि किसी की बात का खण्डन करना उसका दोष प्रकट करने के समान होता है। और इससे वचन द्वारा उसे दुःख पहुँचता है। अतः जिज्ञासु को तो सब प्रकार मौन ही रहना चाहिये। इस प्रकार एक-दूसरे का खण्डन करने से तो परस्पर झगड़ा हो जाता है। यदि अपने प्रति तुम्हें किसी की श्रद्धा जान पड़े तो उसे एकान्त में समझा सकते हो। और यदि श्रद्धा न हो तब तो मौन रहना ही अच्छा है। इस विषय में महापुरुष का कथन है कि जब यह पुरुष मतों और पन्थों के वाद-विवाद में पड़ जाता है तब तत्काल अपने धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह है कि उचित अथवा अनुचित कैसी भी बात सुनकर मौन रहना बड़ा भारी पुरुषार्थ है। इस विषय में

क प्रसंग है कि कोई जिज्ञासु संसार को त्यागकर कान्त में रहने लगा। तब किसी ने उससे पूछा कि ू लोगों के पास क्यों नहीं आता? उसने कहा, मैं अपने को संसार के झंझटों से बचाये रखना ाहता हूँ।" इस पर उस बुद्धिमान ने कहा है कि दि तू लोगों के पास आवे और उनकी अनुकूल-तिकूल बातें सुनकर धैर्य पूर्वक मौन रहे तो यह रा विशेष पुरुषार्थ होगा। इसके सिवा कोई लोग । ऐसे होते हैं कि वे अपना मान बढ़ाने के लिये ो दूसरे के मत का खण्डन करते हैं और कहते हैं ि यह हमारी सुदृढ़ धर्म-निष्ठा है। किन्तु वास्तव में वड़ी मूर्खता की बात।

४—धन के लिये किसी से झगड़ा करना और फिर ज दरबार में जाकर अभियोग चलाना यह चौथा ोष है। सन्तों का कथन है कि धन के लोभ से ी के साथ झगड़ा करने में मनुष्य को जैसा ्षेप होता है वैसा और किसी कारण से नहीं ाता, क्योंकि इस प्रकार के झगड़े का निर्वाह टु वचन और वैर-भाव के बिना नहीं होता। अतः ज्ञासु जन प्रयत्न करके आरम्भ से ही ऐसे यवहार त्याग देते हैं।

५—मुख से दुर्वचन बोलना यह पाँचवाँ दोष । इस विषय में महापुरुष ने कहा है कि कुछ ोग नरक में अत्यन्त दुःखो होंगे और पुकार करेंगे, ब नारकी जीव पूछेंगे कि ये कौन महा पापी हैं। स समय देवता लोग कहेंगे कि ये मनुष्य सर्वदा र्वचन ही बोलते थे और अश्लील वाक्यों में ही नकी विशेष रुचि थी। एक अन्य स्थान पर महा-रुष ने कहा है कि अपने माता-पिता को गाली मत ो, तब किसी ने पूछा कि अपने माता पिता को ौन गाली देता है? इस पर महापुरुष ने कहा कि ब कोई पुरुष किसी दूसरे व्यक्ति के माता-पिता लिए दुर्वचन कहता है तो बदले में वह भी इसके माता-पिता के लिये दुर्वचन बोलता है। यहाँ विचार करके देखा जाय तो यही अपने माता-पिता के लिये गाली दे रहा है। अतः उचित यह है कि जब अवश्य ही कोई बुरी बात बतानी हो तो उसे खुले शब्दों में न कहे, केवल संकेत से ही उसे सूचित कर दे।

६—किसी को धिक्कारना—यह छठा दोष है। यह भी अत्यन्त निन्दनीय है। मनुष्य का, किसी पशु या जड़ पदार्थ को भी धिक्कारना बुरी बात है। महापुरुष का कथन है कि भगवत्प्रेमी कभी किसी को नहीं धिक्कारते। एक भगवत्प्रेमी ने कहा है कि जब यह मनुष्य पृथ्वी या किसी भी पदार्थ को धिक्कारता है तो वह यही कहता है कि हम दोनों में जो भगवान् से विशेष विमुख और अधिक पापी हो उसी को धिक्कार है। हाँ, जब ऐसा कहे कि जो अप-कर्मी और दूसरों को दुःख देने वाले हैं उन्हें धिक्कार है तथा किसी जाति-पाँति या पन्थ का नाम न ले, तो ऐसा कहने में आपत्ति नहीं है। किन्तु फिर भी विचार कर देखा जाय तो अपकर्मियों को धिक्का-रने की अपेक्षा भगवान का नाम लेना ही अच्छा है।

७—रूप और शृंगार सम्बन्धी कविता करना—यह सातवाँ दोष है। रूपवानों की स्तुति करना भी अच्छी बात नहीं, क्योंकि ऐसी कविता में झूठ ही अधिक होता है। इसके सिवा ऐसा करने और सुनने वाले का चित्त भी चंचल होता है। हाँ, यदि निर्मान होकर भगवान और संतजनों की स्तुति करे तो अच्छा ही है।

८—आठवाँ दोष है हँसी। महापुरुष ने जिज्ञासु-जनों को हँसी करने के लिये मना किया है किन्तु यदि अकस्मात् किसीको प्रसन्न करने के लिये हँसीकी बात कही जाय तो कोई बुराई नहीं। पर ऐसा करना भी तभी उचित है जब हँसी करने का स्वभाव न पड़े और मिथ्या भाषण भी न हो तथा ऐसा कहने से किसी के चित्त को खेद भी न हो। जब मनुष्य

को हँसी करने का विशेष स्वभाव पड़ जाता है तो उसकी आयु व्यर्थ ही बीत जाती है। उसका हृदय अन्धकारमय हो जाता है, उसकी गम्भीरता नष्ट हो जाती है, तथा हँसी-हँसी में कभी अकस्मात् तमोगुण भी उत्पन्न हो जाता है। इसी से संतजनों ने अधिक हँसी करने का निषेध किया है। महापुरुष ने भी कहा है कि जिस प्रकार मैं भगवान् की महिमा और निरपेक्षता को जानता हूँ—उसी प्रकार यदि तुम भी जान जाओ तो हँसी छोड़कर रोते ही रहोगे। एक भगवत्प्रेमी ने अन्य प्रेमी से पूछा कि क्या तुम्हें नरक के दुखों का निःसन्देह पता है? उसने कहा, "हाँ, मुझे पता है।" फिर उसने पूछा कि क्या तुम समझते हो कि मैं उससे छूट जाऊँगा? उसने कहा, "यह तो मैं नहीं जानता।" इस पर वह बोला, "जब ऐसी बात है तो तुम्हें प्रसन्नता और हँसी कैसे आती है?" इसी निमित्त एक जिज्ञासु चालीस वर्ष तक नहीं हँसा और परलोक के भय को ही स्मरण करता रहा। एक सन्त का कथन है कि जो पुरुष पाप करके भी इस लोक में हँसता है वह निःसन्देह नरक में बहुत रोवेगा। एक सन्त ने ऐसा भी कहा है कि जैसे स्वर्ग में रोना आश्चर्य है वैसे संसार में हँसना आश्चर्य है, क्योंकि यह मनुष्य तो इतना भी नहीं जानता कि मैं परलोक में स्वर्ग को प्राप्त होऊँगा या नरक को। इसी पर एक सन्त ने कहा है कि, भगवान् का भय करके हँसी से दूर रहो, क्योंकि हँसी से क्रोध उत्पन्न होता है और क्रोध से अनेक अवगुण उत्पन्न हो जाते हैं। इसी से महापुरुष की सारी आयु में जीवों की प्रसन्नता के लिये बहुत थोड़ी हँसी की बात आयी है। जैसे उन्होंने किसी वृद्धा स्त्री से कहा कि कोई बूढ़ा आदमी स्वर्ग में नहीं जा सकेगा। इस पर वह रोने लगी, तब उसे समझाते हुए कहा "तू रोवे मत" क्योंकि जब कोई मनुष्य स्वर्ग में जाता है तो पहले उसे युवा बना लिया जाता है।" इसी प्रकार एक बार एक स्त्री ने महापुरुष से कहा है कि आपको मेरे पतिदेव, प्रसाद पाने के लिये बुलाते हैं। तब महापुरुष ने कहा "तेरा पति वही है न, जिसकी आँखों में सफ़ेदी है?" स्त्री ने कहा "नहीं उनकी आँखों में तो सफ़ेदी नहीं है।" तब आप हँसकर बोले, "ऐसे तो किसी के नेत्र नहीं होते जिसमें सफ़ेदी न हो।" इसके सिवा एक बार मार्ग में जा रहे थे। तब एक वृद्धा स्त्री ने कहा कि मुझे ऊँट पर चढ़ा दीजिये, आप बोले, कि "तुझे ऊँट के पुत्र पर चढ़ा दें?" वह बोली, "नहीं ऊँट के पुत्र पर तो मैं नहीं चढ़ूंगी, वह तो मुझे गिरा देगा।" तब हँसकर कहने लगे, "ऐसा ऊँट तो कोई नहीं होता जो ऊँट का पुत्र न हो। तात्पर्य यह है कि महापुरुषों का बोलना और हँसना सब विचार के अनुसार ही होता है तो वह गुण रहित नहीं होता। किन्तु कोई सामान्य पुरुष उन्हें देखकर स्वयं भी ऐसा स्वभाव बनाले और उनके भेद को न समझ सके तो निःसन्देह पापी होता है।

९—किसी की हँसी करके उसे दुःख पहुँचाना और उसकी क्रियाओं के दोष प्रकट करके लोगों को हँसाना—यह नवाँ दोष है। यह भी अत्यन्त निन्दनीय है। इसी पर प्रभु ने कहा है कि किसी के छिद्र को देखकर हँसो मत, क्योंकि सम्भव है, वह तुमसे अच्छा ही हो और तुम उसकी अपेक्षा नीच गति को प्राप्त हो जावो। महापुरुष भी कहते हैं कि जब कोई अभिमान पूर्वक किसी के अवगुण देख कर हँसता है तब मरने से पहले उसमें वह अवगुण अवश्य आजाता है।

१०—अपने वचन को न निभाना—यह दसवाँ अवगुण है। यह भी बड़ा भारी पाप है। इस विषय में महापुरुष कहते हैं कि जो पुरुष मिथ्या भाषण करता है अपने वचन का निर्वाह नहीं करता अथवा

·भी की चीज चुरा लेता है, वह कपटी है। ऐसा रुप यदि जप, तप एवं व्रत आदि भी करता है तो ी भगवान् से विमुख ही होता है। सन्तजन कहते कि किसी के साथ वचनवद्ध होना एक प्रकार ा ऋण ही है। अतः उससे विपरीत न होना ही ाच्छा है, धर्म शास्त्र में भी कहा है। कि जैसे किसी . कुछ देकर फिर लौटा लेना अनुचित है उसी ार वचन देकर उसे न निभाना भी अनुचित । है।

११—झूठ बोलना और झूठी गवाही देना— : ग्यारहवाँ दोष है। यह तो बड़ा भारी पाप है। स विषय में महापुरुष का कथन है कि झूठ से ु की प्रारब्ध घट जाती है। ऐसा भी कहा है , व्यवसाय में झूठ बोलना या झूठी गवाही देना ी नीचता की बात है। इसी पाप के कारण पारी और दूकानदारों को नरक में जाना पड़ेगा। ि नहीं, ऐसा भी कहा है कि झूठा आदमी तो ाभिचारी से भी बुरा है। क्योंकि मनुष्य से . .प. . तो अकस्मात् धोखे में होजाता है किन्तु ठ तो जान-बूझ कर उद्देश्य की मलिनता ारण ही बोला जाता है। याद रक्खो, झूठ का ·पे इसलिये किया है कि इसके कारण हृदय । हो जाता है। हाँ, यदि झूठ बोलने का कोई ना. न हो किन्तु किसी विशेष प्रयोजन से . स्मात् निकल जाय तो ऐसा मिथ्या भाषण ़ भी हो सकता है। तात्पर्य यह है कि मिथ्या ़ष. का कोई विचार न होने पर भी यदि किसी भलाई अथवा रक्षा करनेके लिये झूठ बोला जाय उससे हृदय अन्धा नहीं होता। जैसे मान लो, ़ असहाय पुरुष किसी अत्याचारी के भय से ़ छिपा हुआ है और तुम्हें उसका पता है; ऐसी ·, में यदि वह अत्याचारी उसके विषय में तुम पूछे कि अमुक मनुष्य कहाँ है? तो उस समय बोल देना ही अच्छा है अथवा यदि दो मनुष्यों में परस्पर विरोध हो और तुम्हारे मिथ्या भाषण करने से उनका विरोध-निवृत्ति होजाय तो ऐसी स्थिति में झूठ बोलना बुरा नहीं, या तुम्हें किसी का कोई अवगुण मालूम हो और कोई व्यक्ति उसके अवगुण के विषय में तुमसे पूछे, उस समय भी उसे स्पष्ट न कह कर छिपा लेना ही अच्छा है, अथवा कोई दुष्ट पुरुष किसी के धन आदि के विषय में पूछे तो भी स्पष्ट न बताना ही उचित है। तात्पय यह है कि यद्यपि झूठ बोलना अनुचित ही है तो भी विचार करने पर यदि मालूम हो कि इस समय झूठ बोलने से किसी की रक्षा होती है अथवा कोई बड़ा विघ्न निवृत्त होता है तो उस समय झूठ बोल देने में कोई दोष नहीं है। किन्तु यदि अपने मान या धन के लिये मिथ्या भाषण किया जाय तो वह निन्दनीय ही है। यहाँ एक बात और ध्यान देने की है कि जब जिज्ञासुओं ने देखा है कि इस समय झूठ बोले बिना नहीं निर्वाह होगा, तो उन्होंने ऐसा यत्न किया है जिसमें कोई झूठ भी न बोला जाय और सामने वाला व्यक्ति कुछ का कुछ समझ ले। जैसे एकबार एक भगवत्प्रेमी बहुत दिनों पश्चात् राजा से मिलने गया. तब राजा ने पूछा, तुम इतने दिनों पश्चात् कैसे आये? इस पर उसने कहा, "जिस दिन से मैं आप के पास से गया हूँ उस दिन से मैंने अपना शरीर पृथ्वी से तभी उठाया है जब भगवान् ने मुझे शक्ति दी है।" इससे राजा तो समझा कि इन्हें सम्भवतः कोई रोग हुआ होगा, अब रोग-मुक्त होकर शक्ति प्राप्त होने पर यहाँ आये हैं। किन्तु उनका कथन इस दृष्टि से भी ठीक ही है कि सामान्य रूप से भी जब जब भगवान् शक्ति देते हैं तभी तभी यह शरीर चलने फिरने में समर्थ होता है। इसी प्रकार एक और भगवत्प्रेमी थे उन्होंने अपने शिष्य को समझा दिया कि जब मैं भगवत् भजन में बैठ जाऊँ तो पृथ्वी पर रेखा खींचते हुये कह देना कि वहाँ तो हैं नहीं। फिर यदि वह पूछे कि कहाँ गये हैं तो कह देना कि वहाँ तो हैं नहीं। 'किसी पूजा-गृह में होंगे'।

घर के भीतर ही उन्होंने पूजा गृह भी बना रक्खा था। एक और भी भगवद्प्रेमी थे, वे एक राजा के प्रधान होकर किसी देश के शासन के लिये गये हुये थे। जब घर लौटकर आये तो उनकी स्त्री ने पूछा कि हमारे लिए आप क्या लाये हैं? उन्होंने कहा "मेरे साथ एक रक्षक और था, इसलिये कोई वस्तु ला नहीं सका।" इससे उनका तात्पर्य तो यही था कि अन्तर्यामी भगवान् मेरे साथ थे किन्तु स्त्री ने समझा कोई राज कर्मचारी साथ होगा इसलिये कोई चीज नहीं लाये। किन्तु याद रक्खो, ऐसी बात भी तभी कहनी उचित है जब ऐसा कहने बिना निर्वाह न हो, यदि सर्वथा ऐसा ही स्वभाव बना ले तो यह उचित नहीं, क्योंकि यद्यपि ऐसे शब्द सत्य ही होते हैं; तथापि इनका उद्देश्य दूसरों को धोखा देना ही होता है। इसलिये इन्हें निर्दोष नहीं कह सकते। एक महापुरुष का ऐसा भी कथन है कि भगवान् की शपथ करना भी महा पाप है। अथवा यदि कोई पुरुष कहे कि भगवान् जानते हैं यह बात ऐसी ही है किन्तु वास्तव में वह वैसी हो नहीं, तब वह कथन भी महापाप रूप है।

व्यवहार द्वारा परमार्थ-सिद्धि

(श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज)

जो व्यक्ति भगवान् के चारों रूपों को भली भाँति समझ गया है उसे निश्चय हो जावेगा कि संसार में जितने जीव हैं वे सब परमात्मा के रूप हैं और किसी से द्वेष करना अपने से ही द्वेष करना है। अस्तु, वह व्यक्ति सर्व प्रथम किसी से भी द्वेष की भावना न रक्खेगा। यही भगवान् ने गीता में भक्तों के लक्षण बतलाये हैं कि:—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।

तथा एक स्थान पर और कहते हैं कि:—

निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ।

अर्थात् भक्त का सर्व प्रथम लक्षण है किसी से द्वेप अथवा वैर न करना, क्योंकि सभी प्राणी ईश्वर के ही स्वरूप हैं। जो सब में ईश्वर का निवास समझ कर सब से प्रेम करता है वही महात्मा है, वही भक्त है, वही ज्ञानी है और उसी ने अपने जीवन का मूल्य तथा उसका सदुपयोग करना जाना है। भगवान् कहते हैं कि—'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।' जब हम ने मान लिया कि सब से प्रेम करना चाहिये तो हम क्या चोर, डाकू, हत्यारे, परस्त्री-हरण करने वाले अथवा अन्य दुर्गुण धारण करने वालों को गले लगायें? हमारे पुरातन ग्रन्थों में कहीं भी ऐसा दृष्टान्त नहीं दिखाई पड़ता। स्वयं भगवान् ने 'अद्वेष्टा सर्व भूतानम्' का उपदेश तो दिया पर क्रिया इसके बिलकुल विपरीत की। उन्होंने अघासुर बकासुर, वक्रदन्त, पूतना, कंस इत्यादि को स्वयं मारा तथा पाण्डवों के द्वारा सारे कौरवों का नाश कराया। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम ने रावण, मेघनाद, कुम्भकरण आदि अनेक राक्षसों का स्वयं वध किया। अपने उपदेशों के प्रतिकूल स्वयं भगवान् ने क्रियायें कीं। यह समझ में नहीं आता। अस्तु, इसके समझने के पहिले हमें विचार करना चाहिये कि, वास्तव में हम दुर्गुणी व्यक्ति से द्वेष करते हैं अथवा उसके दुर्गुण से। आज एक व्यक्ति है जो चोर, लम्पट तथा दुराचारी है कल यदि वह सत्संग के प्रभाव से अपना दुर्गुण छोड़कर साधु बनने का प्रयत्न करने लगता है, तो हम स्वभावतः उससे प्रेम

करने लगते हैं। हम भूल जाते हैं कि वह कभी दुर्गुणी था वरन् अब उसकी साधुता के लिये उसका आदर करते हैं। यदि हमारा द्वेष उस व्यक्ति विशेष से होता तो उसका सुधार होने पर भी हम सदा उससे घृणा ही करते। पर वास्तव में ऐसी बात नहीं है। हमारा द्वेष व्यक्ति से नहीं वरन् उसके दुर्गुणों से होता है। दुर्गुणों के दूर होते ही वह हमारा पूज्य बन गया। महात्मा बाल्मीक इसी श्रेणी के व्यक्ति थे। आदि में दुराचारी होते हुए भी उन्होंने अपने को इतना सुधारा कि आज उनका सबके हृदय में स्थान है—'बाल्मीक भये ब्रह्म समाना' श्रीगीता जी में भी भगवान् के वचन हैं कि—

अपि चेत्सुदुराचारो, भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

उपरोक्त कथन से यह सिद्ध होता है कि हम व्यक्ति से नहीं उसके दुर्गुणों से द्वेष करते हैं। यदि कोई दुर्गुणी लाख प्रयत्न करने पर अपने दुर्गुणों को दूर नहीं करता तो ऐसे व्यक्ति का नाश करना ही उसके लिये कल्याणकारी है। ऐसा पवित्र शरीर जिसमें स्वयं भगवान् का वास है यदि भगवान् के कार्य में सहायक नहीं बनता, उलटे उसमें बाधक है तो अच्छा यही है कि उस शरीर को नष्ट ही कर दे। इसी में उस जीव का कल्याण है। इसी भावना से भगवान् राम तथा कृष्ण ने दुष्टों का वध किया था। परन्तु विचारने योग्य बात यह है कि वध करके उन्होंने उन सब जीवों को अपना परमधाम दे दिया था। यदि उन्हें जीव से द्वेष होता तो उनका कभी उद्धार नहीं करते। उन्होंने हित-बुद्धि से ही उनका उद्धार किया तथा उन दुष्टों का नाश किया। उन दुष्टों को मारने में ही उनका कल्याण सिद्ध होता है। अस्तु हम देखते हैं कि भक्त 'अद्वेष्टा तथा निर्वैरः' का व्रत रखते हुए भी व्यवहार में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों से भिन्न-भिन्न प्रकार से बर्तता है। भक्त के लिये व्यवहार सत्ता में चार वृत्तियाँ हैं। उन्हीं की व्याख्या की जावेगी। यह ध्यान रहे कि भक्त का भिन्न-भिन्न व्यवहार 'अद्वेष्टा' का सम्पुट लगाकर ही होता है। उसकी सब क्रियायें उसी भाव की रक्षा करते हुए होती हैं। मुदिता, मैत्री, करुणा तथा उपेक्षा इन्हीं चार वृत्तियों का सहारा लेकर भक्त को संसार में दूसरों से व्यवहार करना चाहिये। मुदिता वृत्ति अपने लिये होती है। मुदिता का अर्थ प्रसन्नता है। जिसका किसी से द्वेष नहीं, जो सबसे प्रेम का ही व्रत धारण किए हुए है, उसे तो किसी से दुःख पाने का डर ही नहीं है और यदि दैवात् कोई आपत्ति-विपत्ति आगई तो उसे शरीर का भोग समझकर धैर्य के साथ सहन करना चाहिये। यदि शरीर ने प्रकृति के विरुद्ध कोई कार्य किया है तो प्रकृति माता उसको दण्ड दिये बिना नहीं छोड़ती। अथवा कुबुद्धि के कारण यदि शरीर से दुर्गुण हो गये हैं तो उसका भी फल शरीर को ही भोगना पड़ेगा। अस्तु दुःख में यही विचारना चाहिये कि शरीर अपने किये का फल भोग रहा है भोगने दो, मैं तो शरीर हूँ नहीं, इसलिये मुझको दुःखी होने का कोई कारण ही नहीं है। शरीर अपना प्रारब्ध लेकर ही जन्मता है और उसके पूर्ण हो जाने पर नाश होजाता है। उसके भोगों के साथ अपनी आत्मा का सम्बन्ध क्यों बाँधे ? इस प्रकार जो अपने को शरीर नहीं वरन् आत्मा समझता है उसका सब शोक स्वयं नाश हो जाता है। वेदों का वाक्य है कि—'तरति शोकमात्मवित' अर्थात् आत्म-वेत्ता शोक से मुक्त होजाता है और 'ब्रह्मविदस्य मुखं प्रसन्नं भाति' के सिद्धान्तानुसार वह सदा प्रसन्न रहता है। गोस्वामी जी का यही कथन है कि:—

फिरत सनेह मगन सुख अपने।
हरष विषाद शोक नहि सपने॥

संसार में गुणों के अनुसार केवल तीन प्रकार के ही मनुष्य होते हैं। वे हैं सतोगुणी, रजोगुणी, तथा तमोगुणी। जिसमें जिस गुण की प्रधानता होती है वह वैसा ही गुणवाला होता है। भक्त को इन तीन प्रकार के व्यक्तियों के साथ भिन्न भिन्न प्रकार से वर्तना पड़ता है। मैत्री का व्यवहार सतोगुणी मनुष्य के साथ होता है। जो भक्त है वह स्वयं सतोगुणी है। सत्त्वगुण के कारण ही वह परमार्थ साधन में लगता है अस्तु उसे सजातीय अर्थात् सतोगुणी अन्तःकरण से स्वाभावतः प्रेम होता है। यह प्रकृति का नियम है कि एक ही स्वभाव वाले सदा एक साथ रहना पसन्द करते हैं अथवा अपने ही स्वभाव वाला मित्र ढूँढ़ते हैं। सतोगुणी की मित्रता रजोगुणी से कभी निभ नहीं सकती और न रजोगुणी तमोगुणी की मित्रता चल सकती है। अस्तु, सतोगुणी से मैत्री का व्यवहार करना चाहिये। हनूमान जी ने राक्षसों की नगरी लंका में एक राम नाम अङ्कित गृह देखकर गृह-स्वामी को भक्त समझकर बिना किसी संकोच के शत्रुनगर में होने पर भी इच्छा की कि:—

यहि सन हठ करिहौं पहिचानी।

साधु ते होइ न कारज हानी॥

अर्थात् सतोगुणी से हठ करके प्रेम करना चाहिये। उनके संसर्ग से अपने अन्दर सत्त्वगुण बढ़ेगा और सत्त्वगुण के बढ़ने से हम सुख तथा शान्ति के मार्ग पर उत्तरोत्तर उन्नति करते चले जावेंगे।

रजोगुणी व्यक्ति सदा स्वार्थ-चिन्तक होता है। उसमें काम, क्रोध तथा लोभ की प्रधानता रहती है। इसके कारण उसका मन सदा अशान्त रहता है। सन्तोष न होने के कारण काम-क्रोधादि दुर्गुण उसे सदा दुखी तथा चिन्तातुर बनाये रहते हैं। वह दुःख से छूटना चाहता है, पर उससे निवृत्ति पाने का मार्ग [नहीं] जानता। वह दुःख से छूटने की उल्टी क्रिया करता है। वह दिन रात पुरुषार्थ करके अपने भोगों को बढ़ाने में ही तत्पर रहता है और इच्छानुकूल भोग न पाने पर काम, क्रोध, लोभ आदि बढ़ते ही जाते हैं। उसे सुख की खोज में उलटे दुःख मिलता है। ऐसा प्राणी हमारी दया का पात्र है। उस पर भक्त को करुणा करनी चाहिये। ऐसे व्यक्ति का दुःख दूर करना भक्त का परम कर्त्तव्य है। हम ऊपर कह चुके हैं कि यह काम क्रोधादि से दुखी रहते हैं। अस्तु जिस क्रिया से इनके काम-क्रोधादि कम हों वही करना चाहिये। काम-क्रोधादि का मन में तभी तक स्थान रहता है जब तक अज्ञान तथा विपरीत बुद्धि बली होती है। यदि बुद्धि शुद्ध होजावे उसमें विवेक बढ़ जाय तो काम क्रोधादि स्वयं दब जाते हैं। विवेक बिना सत्संग के नहीं होता—

बिनु सतसंग विवेक न होई।

अथवा

शठ सुधरहिं सतसंगति पाई।

अस्तु सिद्ध हुआ कि रजोगुणी व्यक्ति को सत्संग की ओर खींचना ही उनके ऊपर करुणा करना है। केवल सत्संग के द्वारा ही उनके सब दुःख दूर हो जावेंगे और वह भी सतोगुणी बन जावेगा।

तमोगुणी व्यक्ति सदा दूसरों के अहित का ही चिन्तन करता है। वह अपना स्वार्थ भी दूसरे का अहित करके सिद्ध करता है। ऐसे व्यक्ति से दूर रहने में ही बुद्धिमानी है। इनके संग से अपने में दुर्गुण आ जाने की सम्भावना होती है। यह सोचना मिथ्या अभिमान है कि हम उनके साथ रहकर उनका सुधार कर सकेंगे। अधिकतर यही देखा जाता है कि दुर्गुणी का साथी दुर्गुण को बढ़ाता है। विरला ही ऐसा कोई व्यक्ति है जिसमें सत्त्वगुण कूट कूट कर भरा हो और वह तमोगुणी से मित्रता करके उसका सुधार कर सके। असल में तमोगुणी का सुधार ईश्वराधीन है। जब उस पर घोर दुःख पड़ता है, तभी वह घबराकर सच्चे मार्ग पर लग सकता है। दुःख ही ऐसे व्यक्ति का गुरु होता है दुःख

आने पर वह समझता है कि मुझसे भी शक्तिशाली कोई शक्ति संसार में काम कर रही है और यदि उसकी मात्रा अधिक रही तो उस शक्ति की शरण में आने की बहुत कुछ सम्भावना होती है। और यहीं से उसका सुधार होना आरम्भ होता है। जब तक दैव-कृपा से उसका सुधार नहीं होता, भक्तों को ऐसे व्यक्ति से उपेक्षा का ही व्यवहार करना चाहिये।

इस प्रकार भक्तों को अपने लिये मुदिता, सतोगुणी के लिये मैत्री, रजोगुणी के लिये करुणा तथा तमोगुणी के लिये उपेक्षा-वृत्ति का समय-समय पर उपयोग करना चाहिये। ऐसा करने से वह कभी संसार में धोखा न खा सकेंगे और अपने साधन-पथ पर सदा बढ़ते ही जायेंगे अन्त में हम ममता तथा अहंकार से रहित व्यवहार द्वारा परम-शान्ति को प्राप्त होंगे।

मानव-जीवन का सदुपयोग

(*श्री स्वामी भजनानन्द जी महाराज*)

एक प्रमुख सेठ ने धन संचय करने के लिये प्रबल पुरुषार्थ किया। लगन और परिश्रम से व्यापार द्वारा कई वर्षों में लगभग ६ करोड़ रुपये जमा कर लिये। प्राय: नित्य ही हिसाब के वहीखाते देखते, मन ही मन प्रसन्न होते और नये-नये मन्सूबे बनाते कि अब एक बड़ा सा कपड़े का मिल खोल देंगे और उसके द्वारा अपार धनराशि संचित हो जायगी। एक दिन इसी अभिप्राय से रोकड़ संभालने के लिये आलमारी के ताले खोले गये तब उनके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा—"इसमें तो कुछ भी नहीं, हाय! हाय!! सब सम्पत्ति कहाँ गई? मैं तो लुट गया, बर्बाद होगया"। इस प्रकार चिल्लाते और विलाप करते-करते सेठ बेहोश हो गये। मुनीम तथा परिचारकों ने बड़े यत्न से उनकी बेहोशी दूर की लेकिन होश में आकर सेठ जी पुन: रोने चिल्लाने लगे—हाय हाय यह चोरी कैसे होगई इत्यादि। यह एक दृष्टान्त है इसे मनुष्य के जीवन में पूर्ण रूप से चरितार्थ कीजिये।

यह जीवात्मा सेठ है, चित्त रूपी आलमारी में अपार वासनायें भरी पड़ी हैं, ऐसा करूँगा, वैसा करूँगा, मेरे पास इतना धन है, शीघ्र ही लखपती-करोड़पती बनूँगा इत्यादि। ऐसी अनेकानेक कामनाओं से मनमोदक खाते हुए एक दिन जब अन्तिम समय आजाता है और यह प्राण पखेरू अनन्त की ओर प्रयाण करने की तैयारी करने लगते हैं तो यह जीवात्मा पश्चाताप की ज्वाला में दग्ध होते हुए विलाप करता है। हाय! संसार की कोई वस्तु मेरे साथ जाने वाली नहीं, मैंने व्यर्थ ही अपना दैव दुर्लभ नर-देह गँवा दिया। यदि परमार्थ मार्ग के पाथेय रूप में साधक का धन कुछ संचित होता तो मेरा परलोक सुधर जाता। ऐसा आन्तरिक संताप लिये हुए वासनाओं और कामनाओं की अनेक शृङ्खलाओं से जकड़ा जीव विवश होकर बड़े कष्ट से उस शरीर का त्याग करता है। इसके विपरीत यदि किसीने संतों की कृपा और सत्संगके प्रभावसे अपने मन-बुद्धि अन्त:करण का परिमार्जन करके उन्हें साधन-सम्पन्न बना लिया तो उसे संसार छोड़ते समय रंचक मात्र दु:ख नहीं होता क्योंकि उसके पास तो ऐसा अलौकिक धन संचित है जिसके द्वारा वह अनन्त और अक्षय सुख की ओर जा रहा है, तब उसे इस नश्वर देह के परित्याग का क्लेश और वेदना क्यों हो?

मंगलमय प्रभु ने अपने प्रिय जीव के निमित्त सभी ऐसे साधन प्रदान किये हैं जिनके द्वारा वह इस संसार के भोगों के बीच रहकर भी अबाध गति से गन्तव्य की ओर जा सकता है। अर्थात् प्राप्त साधनों के सदुपयोग से तो मानव जीवन सफल बन जाता है और उनके दुरुपयोग से मनुष्य जन्म व्यर्थ ही चला जाता है। हाथ में आई हुई पारसमणि नष्ट हो जाती है। मानव जीवन के सदुपयोग और दुरुपयोग के सम्बन्ध में अनेक प्रकार से संतों और शास्त्रों ने प्रकाश डाला है। उसी प्रकाश में आगे बढ़कर हमें स्वयं अपनी खोज करनी चाहिये कि हम कहाँ पर हैं? यदि हमारी आँखें नित नवीन रूप की प्यासी हैं चमक-दमक, बनावट, सजावट, श्रृंगार और सिनेमादिक की शौकीन हैं तो समझिये यह आँखों का दुरुपयोग हुआ। क्योंकि यह आँखें तो भगवान् ने प्रभु के श्री विग्रह संतों एवं तीर्थों के दर्शनों के लिये दी हैं। भगवन्नाम की सुमधुर ध्वनि न सुनकर नर्तकियों के नूपुरों की रुनझुन, अश्लील गाने और रेडियों में यदि हमारे कान चिपक गये तो यह प्रभु प्रदत्त कर्णेन्द्रिय का दुरुपयोग हो गया। इसी प्रकार अन्य ज्ञानेन्द्रियों द्वारा भोग्य पदार्थों के उपभोग या परित्याग की बात समझनी चाहिये। हमारी चित्त रूपी आलमारी में संचित साधन के धन को यही चोर प्रतिक्षण चुराने में अपनी अपनी कला का प्रयोग करते रहते हैं। इन चोरों से असावधान रहने का परिणाम यह होता है कि 'मोक्ष का द्वार' 'भोग का द्वार' बनकर जीव को पुनः कीट पतंग और पशु-योनियों में भटकता है।

विचार कीजिये—यदि आपका पुत्र आपकी कमाई के संचित धन का दुरुपयोग करके नष्ट करने लगे तो आप स्वयं उसे रोकेंगे और उसके अवज्ञा करने पर भविष्य में उसे अपनी गाढ़ी कमाई का पैसा इस प्रकार लुटाने के लिये कदापि नहीं देंगे। ठीक इसी प्रकार जीव का परम पिता परमात्मा जब मानव जीवन का दुरुपयोग देखता है तो फिर आगे के जीवन में उसे मनुष्य का शरीर न देकर पशु आदि तिर्यक योनियों में भेज देता है। अन्य योनियों में तो भोग-भोगने की सुविधायें प्राप्त हैं वैसी सुविधा मनुष्य को प्राप्त नहीं। यहाँ तो पग-पग पर प्रतिबन्ध लगा है। नागरिक कानून और शास्त्रों की आज्ञा के विरुद्ध चलने वाले को अवश्य दण्ड का भागी बनना ही पड़ता है। गाय-बैल और घोड़ा नगर के प्रमुख चौराहे पर खड़े होकर लघुशंका कर देता है तो उसके लिये कोई कानून नहीं। किन्तु यदि कोई मनुष्य बीच चौराहे पर नग्न होकर लघुशंका करने लगे तो पुलिस तुरन्त उसे पकड़कर थाने में ले जायगी और उस पर मुकदमा चलाया जायगा। चींटी और बर्रे बड़े आनन्द से हलवाई के सजे सजाये थाल पर आसन लगाकर मिठाई का उपभोग करते हैं, किन्तु मनुष्य यदि उस मिठाई को खाना चाहे तो उसे जेब से पैसों का त्याग करना पड़ेगा।

सारांश यह कि हमें प्रतिक्षण अपने आत्म-निरीक्षण में सावधनी बर्तनी चाहिये किन्तु आत्म-निरीक्षण की भावना संतों के सत्संग से ही बन सकती है। संत-सद्गुरु की शरण में जाकर अपने उत्थान का मार्ग ढूँढ़ना चाहिये। दयालु संतों की कृपा से हमें ऐसी सरल युक्तियाँ प्राप्त हो जायँगी जिनके प्रयोग से हम अनायास ही इस भवसागर के पार हो जायेंगे क्योंकि युक्ति में ही मुक्ति समाई है।

देव और दानव

('नवनीत' के सौजन्य से)

बहुत प्राचीन काल की कथा है। एक राज्य में हरिणों का एक झुण्ड रहता था। वहाँ का राजा बड़ा उदार और न्याय-निष्ठ था। राज्य की प्रजा धनधान्य से पूर्ण थी और एक छोर से दूसरे छोर तक दूध की नदियाँ बहती थीं। वन के अन्य जीव-जन्तुओं की भाँति हरिण भी बड़े सुख से रहते थे। राजा की ओर से सबको अभयदान था—चोरी-चुपके ही कोई शिकार के लिये आ जाता था। हाँ यदि राजा को पता चल जाता, तो आज्ञा भंग करने वाले अपराधियों को अदंडित नहीं छोड़ता था।

लेकिन सुख-सुविधाओं में सुरक्षित हरिण इस आकस्मिक कष्ट को भी उठाने के लिये तैयार न थे। एक दिन हरिणों का नेता राजा के पास गया और बोला—"महाराज! अब तक हम लोग आप के राज्य में अत्यन्त शान्ति पूर्वक रहते थे। लेकिन अब यदि आकस्मिक आखेट रोके न गये, तो हम लोगों का आप के राज्य में रहना बड़ा कठिन हो जायगा। प्रहरियों के होते हुए भी आखिर ये शिकारी कैसे आकर हमारा वध कर जाते हैं?

राजा ने उत्तर दिया—"भोले वनचरो! प्रजा के रूप में तुम भी मुझे उतने ही प्रिय हो, जितने कि मनुष्य—तुम भी मेरे पुत्र हो। तुम जानते हो, न तो मैं स्वयं शिकार खेलता हूँ और न दूसरों के द्वारा ही तुम्हें किसी प्रकार से आपदग्रस्त होने देता हूँ। हमारे राज्य में तो एक दिशा से दूसरी दिशा तक कोई भी तुम्हारा शत्रु नहीं है। किन्तु मैं बाहर से अकस्मात आ जाने वाले शत्रुओं के सम्बन्ध में भला तुम्हें कैसे आश्वासन दूँ। इन शत्रुओं से बचाव तो स्वयं तुम्हारे ही हाथों में है। इतने स्वच्छन्द और उच्छृंखल मत बनो। मर्यादा में रहो—सीमा से बाहर भागने की कोशिश न किया करो।"

हरिणों के नेता ने आक्रोश पूर्वक कहा—"यदि आप हमें सुरक्षा का आश्वासन दे सकने में असमर्थ हैं तो हम लोगों को आवास का कहीं अन्यत्र प्रबन्ध करना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में तो वस्तुतः हमारे लिये श्रेयस्कर यही है कि, हम आपका राज्य छोड़कर चले जायँ।"

"जैसी तुम लोगों की इच्छा।" राजा ने म्लान भाव से उत्तर दिया। "यदि हमारे राज्य से बाहर तुम लोगों को अधिक सुरक्षा और सुख-सुविधाएँ मिलती हैं, तो तुम लोग अवश्य जाओ। मुझे तो इससे विशेष ही खुशी होगी।"

राजा का स्पष्ट उत्तर सुन हरिणों का झुण्ड अपनी इन्द्र-धनुषी कल्पना के स्वर्ण-देश की खोज में निकल पड़ा। बड़ी लम्बी यात्रा के बाद वे एक वन में पहुँचे, वहाँ लिखा था—"यहाँ आखेट खेलना निषिद्ध है।" हरिणों में उल्लास की हिलोर दौड़ गयी। विजय-दर्पस्फीत नेता ने सगर्व कहा "बंधुओ! यह है मेरी कल्पना का स्वर्ण-देश!" आशा की ऐसी परिपूर्ण पूर्ति अपनी आँखों के सम्मुख देखकर समस्त हरिण-समाज मोद-मग्न होकर नाचने लगा।

दूसरे दिन हरिणों का नेता उस देश के राजा के पास गया और उसे यह अभिलषित आश्वासन मिल गया कि, आखेट न खेलने की सूचना सत्य है और वह राजाज्ञा से लगायी गयी है।

फिर क्या था? हरिणों का यह समूह राजाज्ञा से आश्वस्त इस नये वन में बस गया। चारों ओर सुरक्षा का रामराज्य था। हरी-भरी भूमि, निर्मल

जलाशय—चारों ओर सुख-ही-सुख! उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम सर्वत्र निर्द्वन्द्व और स्वच्छन्द विचरण! सोने से दिन कटते चाँदी सी रातें।

कुछ काल बाद एक दिन अपने सहस्र-सहस्र अनुचरों के साथ उस देश का राजा स्वयं आखेट खेलने उस मृगवन में आया और मन की क्रीड़ा के अभाव को पूर्ण करता हुआ वन के पशु-पक्षियों को मारने लगा। अन्य वन्य पशुओं के साथ उसने बहुत से हरिणों को भी मार डाला। संध्या तक विनाश का यह तांडव चलता रहा—अपने चारों ओर काल-रात्रि का यह आक्रोश देखकर मृगों को लगा, मानो आज उनकी वंश-परम्परा का ही अंतिम समय आ गया है।

विपर्यय और विनाश के इस रक्त-रंजित वातावरण में हरिणों का नेता भय-विकंपित हो राजा के सामने गया और नतमस्तक होकर कहने लगा—"महाराज, यह क्या अनर्थ और विश्वास-घात है? आपने स्वयं हम लोगों को आश्वस्त किया था कि, 'मृगवन' में आखेट न खेलने का आदेश स्वयं आपकी राजमुद्रा से लगाया गया है।"

राजा ने सस्मित उत्तर दिया—"उस आदेश को जरा ध्यान से पढ़ो, मृग! उसमें लिखा है कि मृगवन में आखेट खेलना निषिद्ध है। क्या इसका यह अर्थ है कि, उक्त सूचना का बन्धन मेरे लिये भी है?"

सत्य के इस आकस्मिक अनावरण से आहत मृगों के नेता ने आह भर कर कहा—"ठीक है महाराज! मेरी भूल हुई थी। इस भूल का परिणाम हमें बड़ा भयानक भोगना पड़ेगा।" राजा ने साश्चर्य पूछा—"भयानक क्यों, भोले मृग?" मृग ने सोच्छ्वास कहा—"यदि आखेट खेलने वाला कोई और होता, तो मैं समझता कि, हममें से कुछ भाग्यवान हरिण बच भी जायेंगे। लेकिन जब आप हमारे रक्षक ही स्वयं अपने धनुर्विद् अनुचरों के साथ आखेट खेल रहे हैं, तो फिर हमारा त्राण कहाँ!

सिद्ध परम्परा में प्रचलित ऐसी एक कथा है। एक दिन मैंने गुरुदेव (रवीन्द्रनाथ) से पूछा—"इस कथा का क्या अभिप्राय है?"

अपनी स्वाभाविक तेजोदीप्त मुद्रा में गुरुदेव बोले—"इस युग में साँस लेने वाले हम लोग ही वे हरिण हैं। अभी कुछ समय पूर्व तक हम लोग धर्म की छत्रच्छाया में विचरण करते हुए श्रेय-साधना के साधक थे। धर्म का आश्वासन ही नहीं, अखण्ड सम्बल भी हमें प्राप्त था। किन्तु उसके साथ कुछ मर्यादाएँ भी थीं, जिनका पालन हमारे लिये अनिवार्य था। ये मर्यादाएँ हमारी आत्मरक्षा के लिये ही थीं। किन्तु हमें ये मर्यादाएँ बोझ-स्वरूप लगीं और हम ऐसा जीवन-सम्बल ढूँढने निकल पड़े, जो हमारी प्रत्येक सुखाभिलाषा की कल्प-पूर्ति हो। इस खोज में विज्ञान से हमारी एक दिन भेंट हो गयी। हमारे अभावों के साथ आत्मीयता दर्शाते हुए विज्ञान ने हमसे कहा—"मेरी शरण आओ। मैं तुम्हें तन-मन के समस्त अभावों से मुक्त कर दूँगा। मैं तुम्हारी 'शरदः शतं-जीवेम' की कल्पना चरित्रार्थ कर दिखलाऊँगा और तुम्हें सुख-समृद्धि का वह स्वर्ग दूँगा, जो देवों तक को अनन्त काल की तपस्या के बावजूद नहीं मिला।"

बस, दिक्-भ्रम के इसी क्षण से हमने विज्ञान को अपना सर्वस्व बना लिया। बड़ी सुख-सुविधाएँ विज्ञान के हाथों हमें मिलीं। प्रकृति के कई बन्धनों से मनुष्य मुक्त हो गया। तन के साथ मन को भी वैभव-विलास मिला। किन्तु कथा में वर्णित हरिणों की तरह एक दुर्दिन में हमें भी कटु अनुभव हो गया कि, यह विज्ञान उक्त राजा की भाँति स्वयं विध्वंसक भी है।"

गुरुदेव की मर्मभरी व्याख्या पर जब मैंने विचार किया, तो मुझे लगा कि, शताब्दियों से संतकंठों में प्रवाहित इस अर्थगरिमा-पूर्ण पुरातन कथा का सत्य आज भी कितना नवीन है।

प्रज्ञा और शिक्षा

(श्री रामबाबू शर्मा)

किसी राष्ट्र का उत्थान और पतन वहाँ के शिक्षित वर्ग पर अवलम्बित है। शिक्षण-प्रणाली यदि उपयुक्त दिशा में होती है तो राष्ट्र भी उन्नति के शिखर पर चढ़ता है। सौभाग्य से आज भारतवर्ष स्वतन्त्र है। वह शताब्दियों से विदेशियों का दास बना रहा। अस्तु स्वाभाविक ही है कि देश प्रत्येक दृष्टिकोण से पिछड़ा रहे। परन्तु मानसिक स्वतन्त्रता न होने के कारण हम निकट भविष्य में देश को उन्नतिशील नहीं देख सकते।

चित्त-वृत्ति के स्वतन्त्र न होने से राष्ट्र जीवित नहीं रह सकता। इसलिये देश को प्रत्येक दृष्टिकोण से वैभव सम्पन्न बनाने के लिये हमें बुद्धि जीवियों कलाकारों, साहित्यज्ञों तथा राष्ट्र के प्राचीन तथा अर्वाचीन उद्भट विद्वानों एवं मनीषियों की सहायता अपेक्षित है।

देश का सुधार गुरु तथा छात्र वर्ग से प्रारम्भ होना चाहिये। यह बात निर्विवाद सत्य है कि राष्ट्र का भावी शासक-वर्ग विद्यालयों तथा विश्व विद्यालयों में होता है। अतः सर्व गुरुजनों एवं छात्रजनों में एक आन्दोलन हो, जिसकी एक एक स्फुलिंग भावी नेताओं एवं गुरुओं के हृदय में ज्ञान का सच्चा प्रकाश कर दे। आज का गुरु तथा छात्र केवल निर्धारित पाठ्य विषय समाप्त कराने तथाकरने में ही अपना कर्त्तव्य समझते हैं। ऐसे शिक्षित वर्ग से न तो आत्मज्ञान की सम्भावना की जा सकती है और न समाज के लाभ की। वे केवल अज्ञान बन्दर की भाँति अपने हाथों अपने अंगों को काटने में ही श्रेय समझते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि शिक्षा किस प्रकार होनी चाहिये। इसका उत्तर भारतीय मनीषियों के मस्तिष्कों में संस्कृत-स्वरूप में उपस्थित हुआ। और वह इस प्रकार है।

जब तक गुरु तथा छात्र (यम, नियम आदि) अष्टाङ्ग योग-क्रियाओं से अवगत नहीं होगा, उसे इन्द्रिय, मन, बुद्धि, आत्मा का ठीक रूप से ज्ञान नहीं होगा; ऐसी स्थिति में चित्त-वृत्तियाँ क्षण-क्षण संघर्ष में तल्लीन होती रहेंगी। और होगा विनाश बुद्धि का।

"बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।"

उपर्युक्त श्लोक में हम विनाश का सच्चा रूप देख सकते हैं। आन्तरिक शिक्षा न होने से, मन में संकल्प-विकल्प होंगे। संकल्प विकल्पों का क्षीण होना ही क्रोध है। क्रोध से स्मरण शक्ति का ह्रास होना स्वाभाविक है। स्मरण-शक्ति रहित बुद्धि को हम केवल स्थूल बुद्धि के नाम से संकेत कर सकते हैं। स्थूल बुद्धि में चिन्तन, मनन, ध्यान तथा योग की क्षमता नहीं रहती। पतञ्जलि के शब्दों में (योगश्चित्त वृत्ति निरोधः) अथवा इसके विपरीत दशा में देश का भविष्य विनाश की ओर जाता है। अतः बुद्धि परिमार्जन के लिये छात्रों में शुद्ध संस्कार का होना अनिवार्य है।

संस्कार जन्यत्व विशिष्टं ज्ञानत्वं बुद्धलक्षणम्।

ज्ञान संस्कारात्मक वस्तु है तथा है मानव की सदियों की अनुभूति का परिणाम।

जब तक भविष्य के शासकवर्ग-बुद्धि प्रज्ञा में तादात्म्य नहीं की जायगी, तब तक आज की चकाचौंध में फँसा हुआ विश्व, सुख और शान्ति से नहीं रह सकता। यदि छात्रावस्था में मस्तिष्क पर शिक्षा का उचित प्रभाव न पड़ा तो जीवन का सँभालना कठिन हो जायगा। और परिणाम में मानव मस्तिष्क स्वतः विकृत होकर प्रलय या महायुद्ध का कारण बन जायगा। वास्तव में अर्जुन की भाँति कायरता तथा मोह से ग्रसित अर्जुन आत्म

ज्ञान होने पर ही "नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धः" का अधिकारी हो सकेगा। और उसमें होगा दर्शन तथा विज्ञान का सामञ्जस्य। दोनों क [illegible] तम तथा एकाकार होना ही समाज अथवा राष्ट्र का उत्थान है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

गीता के इन शब्दों में मानव-शान्ति की परिभाषा चरितार्थ होती है "हृदि शब्द से बुद्धि तथा हृदय के एकाकार से तात्पर्य्य है। अतः हृदय और बुद्धि में वैपरीत्य रहने से छात्रों में सच्ची शिक्षा का विकास नहीं होता और न आत्मविकास ही।

यदि अंग्रेजी विद्वान कारलाइल के शब्दों में 'Art is the disimprisoned soul of fact' अथवा "कला अनन्त की व्यक्तात्मा है। यदि हम इन शब्दों की गहराई में खोजें तो स्पष्ट सिद्ध होता है कि इन्द्रिय, मन, बुद्धि, आत्मा तथा ब्रह्म सभी का एकाकार 'Art' या कला है।"

यदि प्रज्ञा शब्द की ओर देखें तो उसके गर्भ में मानव का मानवत्व निहित है। इसका विकास होजाने पर मनुष्य को ऐहिक वासनाओं की इच्छा नहीं रहती। इसको ठीक समझ लेने पर इन्द्रिय, मन, आत्मा एक दूसरे से परे नहीं रहते। इन्द्रियाँ असत् पदार्थ की ओर नहीं जातीं, मन तदिन्द्रिय के साथ सर्वानन्द की खोज में लग जाता है। बुद्धि पर आनन्द का प्रतिबिम्ब रहता है। आत्मा एकाकार हो जाता है और होता है निर्माण सच्ची शासन प्रवृत्ति का। ऐसा मनुष्य किसी भी क्षेत्र में रहकर देश का नेतृत्व बड़ी गम्भीरता और सुन्दरता से करता है। उसके शासन की धारा नाना प्रकार के रूपों में अविच्छिन्न गति से प्रवाहित होती है। कवि, कलाकार, दार्शनिक, वैज्ञानिक, अनेक स्वरूप एक ही देवी के उपासक होकर अखण्ड रूप से मानव हृदयों पर राज्य करते हैं।

उदाहरणार्थ अँगरेजी का सुप्रसिद्ध नाटककार शेक्सपियर "मेकबेथ" में स्थितप्रज्ञता की अनन्दानुभूति का वर्णन एक पात्र द्वारा कराता है पहला पात्र "I am never merry when I hear music" दूसरा पात्र मार्मिक शब्दों में उत्तर देते हुए "The cause is your senses are attentive"

प्रकृत्योपासक अँगरेजी कवि वर्डस्वर्थ भी इस आनन्द से परे नहीं। प्रकृति के अन्तर्कोणों में प्रविष्ट होकर कवि ने सच्चे आनन्द की खोज की और पाया उसका एक मात्र स्रोत स्थित प्रज्ञता में।

"And I have felt a presence that disturbs me with joy of elevated thoughts a sense sublime of some thing far more deeply interfused"

इन्द्रिय मनादि का एकाकार सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की ओर इङ्गित करते हुए, हिन्दी कवि सुमित्रानन्दन पन्त कहते हैं—

वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप,
हृदय में बनता प्रणय अपार।
लोचनों में लावण्य अनूप,
लोक सेवा में शिव उपकार॥

उपर्युक्त विवेचन से हम इस तथ्य पर पहुँचते हैं कि शिक्षा प्रणाली में आन्तरिक शिक्षा तथा बुद्धि-मार्जन पर विशेष जोर देना चाहिये। हमारे देश का कल्याण, प्रत्येक दृष्टि से तभी होगा जब हम अपने विद्यालयों में उपर्युक्त प्रणाली का योग सरकार द्वारा प्राप्त करें।

योग ही नहीं अपितु राज्य को चाहिये कि वह ज्ञान-स्रोत के प्रथम प्रवाह पर प्रज्ञा-परिमार्जन करने का उचित प्रबन्ध करे। यदि भविष्य में शिक्षा के घंटों में इस प्रणाली का अनुगमन न किया गया तो राष्ट्र-भित्ति का सुदृढ़ बनना अवश्यम्भावी नहीं।

पश्चात्ताप के आँसू

(भक्त-गाथा)

(*श्री रामस्वरूप जी गुप्त*)

जगन्नियंता की किस लीला में कौनसा रहस्य छिपा है, अल्पज्ञ मानव उस रहस्य को कैसे समझ सकता है। हाँ मानव के अज्ञान का पर्दा तब उठता है जब लीलामय प्रभु की अलौकिक लीला में छिपी असीम करुणा उसकी प्रतिकूलगामिनी जीवन-सरिता के प्रवाह को सुखद शान्तिमय आनन्द के महासागर की ओर उन्मुख कर देती है। करुणा वरुणालय की भक्त वत्सलता में पत्थर को पिघला कर पानी बना देने की शक्ति समाई है। क्रूर हिंसाप्रिय पाषाण-हृदयों का परिवर्तन भी एक क्षण में होता देखा गया है। ऐसी अनेक भावमयी पुनीत गाथाओं से हमारा पुरातन उज्ज्वल इतिहास जन मन में चेतना एवं नव स्फूर्ति का संचार सदैव से करता रहा है। पर-डाकू रत्नाकर, महर्षि वाल्मीकि बन गए। पर-पीडक जगाई-मधाई, परम दयालु संत के रूप में परिवर्तित हो गये! संसार जिन्हें कभी घृणा की दृष्टि से देखता था, एक दिन उन्हीं की पूजा करने में अपना सौभाग्य समझने लगा।

इस गाथा में भी आपको एक ऐसे संत के दर्शन होंगे जो प्रतिकूलताओं और विषय परि-स्थितियों से ऊबकर एक समय समाज के भयंकर शत्रु बन गये थे किन्तु दयासागर की दया ने उन्हें पाप-पंक से बरबस खींचकर अपने मंगलमय सुर-मुनि वन्दित पतितपावन चरणों में स्थान दे दिया। इस घटना को सुनकर या पढ़कर प्रत्येक भावुक हृदय, उर्दू के किसी प्रसिद्ध कवि के स्वर में स्वर मिलाकर कह उठेगा:—

कुरबान उसकी शान रहीमी पै जाइए।
रहमत पुकारती है गुनहगार कहाँ है?

× × × ×

ब्रिटिश राजत्वकाल में परतंत्रता के प्रतीक जमींदारों के जुल्म की कहानी और मनमानी तो अब अतीत की घटनाएँ हो गईं किन्तु उन दिनों के उनके काले कारनामों से मानवता कलंकित हुई थी। भले और बुरे तो प्रत्येक वर्ग में होते हैं। पुलिस के बदनाम मुहकमे की तरह जमींदार श्रेणी में यदि एक दयालु होता था तो उसी अनुपात से दस क्रूर और मदोन्मत्त भी होते थे। भगवत्कृपा से भारत माता की यह कलंक कालिमा धुल चुकी है और मनुष्य अब अपने जैसे हाथ पैरों वाले आदमी को अपने समान समझने के लिये विवश हो गया है। क्षण क्षण में परिवर्तन होने वाले संसार ने करवट ली। कल जो आकाश से बातें कर रहा था, आज वही पृथ्वी पर औंधे मुंह पड़ा है।

हाँ, तो हमारी यह कहानी उसी समय से संब-न्धित है। उत्तर प्रदेश के एक प्रमुख नगर में लग-भग चालीस गावों के जमींदार लाला गुलसेन निवास करते थे। कृष्ण वर्ण, स्थूल शरीर, लाला जी की गम्भीर मेघ-गर्जन जैसी कर्कश वाणी से उनके परि-चारक और भृत्य बहुत भयभीत रहते थे। किसी नौकर से नाराज हो गये तो उसकी खैर नहीं। गाँवों में जब दौरा करने जाते तो बेगार करते-करते ग्रामवासियों की नाक में दम आ जाता। किसी असामी ने समय पर लगान नहीं दिया तो उसे अपनी आँखों के सामने अपने सिपाहियों से पिटवाते "और मारो साले को" उस समय उनका सम्पुट रहता। इतना सब करने पर भी नित्य नियम से पूजा पाठ अवश्य करते थे। उनके मुख पर जो

हुज़ूरी करने वाले पीठ पीछे कहते "कैसा ढोंगी है, अपने पापों को भगवान् की पूजा में छिपाना चाहता है, भगवान् को भी धोखा देना चाहता है।"

अपनी मित्र-गोष्ठी में लाला जी कभी-कभी कहा करते थे कि राजा और जमींदार में भगवान् का विशेष अंश होता है इसलिये भगवान् हमसे अप्रसन्न नहीं हो सकते। चाटुकार उनकी हाँ में हाँ मिलाते। लाला जी के विनम्र रूप के दर्शन उस समय होते थे जब वे साहब कलक्टर के बंगले पर डाली या किसी विशेष अवसर पर उपहार भेंट करने जाते थे अथवा किसी उच्च राज्याधिकारी के आने पर प्रमुख नागरिकों के साथ कोठी पर प्रीतिभोज का विशाल आयोजन होता था।

पति परायणा कमला अपने पति को दया के मार्ग पर लाने के लिये भगवान् से एकान्त में प्रार्थना करती किन्तु पति से कभी कुछ न कहती। अपनी प्रसन्नता में प्रसन्न रहने वाली आज्ञाकारिणी पत्नी से भी लाला जी बहुत प्रसन्न रहते थे। पत्नी के दान-दक्षिणा कथा वार्त्ता और तीर्थ व्रत में कभी बाधक नहीं बनते थे। किन्तु अधिकांश धर्मानुष्ठानों में ग्रामवासियों की बेगार भेंट ही अधिक रहती थी। 'आज सत्यनारायण की कथा है तुम्हारे यहाँ से दस सेर दूध आना चाहिये और तुम पाँच सेर दही जमा कर ले जाना' इस प्रकार के अनेक आदेश उनके सिपाही बेबस ग्रामीणों को दे आते और वे बेचारे किसी न किसी प्रकार उसकी पूर्ति करते थे। पूर्ति नहीं होती तो लात घूँसों की बौछार का प्रसाद तो जमींदार की कथा के बाद उन्हें अवश्य मिल जाता था।

धन-धान्य से सम्पन्न घर में सब कुछ होते हुए भी कमला अपनी अन्तर्वेदना से भीतर ही भीतर मुरझाई रहती थी। सगे सम्बन्धियों के बालकों को देख-देख कर उसका आहत मन एक करुण पीड़ा से छटपटा उठता 'आज मेरा सुरेश भी इतना बड़ा होता' फिर तुरन्त ही विवेक-बुद्धि से अपने मन को समझाती और उमड़ने वाले आँसुओं को आँखों में ही रोक लेती 'यह सब कर्मों के फल हैं" मन को सान्त्वना मिलती। किन्तु आँसुओं का बाँध ऐसे प्रसंगों के बाद एकान्त में भगवान् के श्री विग्रह के सामने टूट जाता था, वह फूट-फूट कर रोती और जी भरकर रोती। श्यामसुन्दर की प्रतिमा का पाद-प्रक्षालन अनेक बार कमला की वेदना विगलित अश्रु धारा से ही हुआ।

कमला ने अपनी कोठी में एक कमरा अलग पूजा पाठ के लिये रख छोड़ा था। उसमें नौकरों का प्रवेश वर्जित था नित्य उसकी सफ़ाई अपने हाथों करती। पतिदेवता की पूजन-सामग्री स्वयं एकत्रित करती और उनके बाहर जाने के बाद स्वयं घंटों उसी पूजा-गृह में रहती रामायण, विनय-पत्रिका, सूर और मीरा के भजनों से ही वह अपनी आराधना के पुष्प अपने श्यामसुन्दर के चरणों में प्रीति पूर्वक चढ़ाती थी। उस पूजा-गृह की कलात्मक सजावट कमला की कला-चातुरी का परिचय देती थी। प्रातः और सायं दोनों समय श्यामसुन्दर का नित नवीन शृङ्गार करती थी। जयपुर से भगवान् की मूर्ति कमला स्वयं लाई थी और उसे अपनी भावना के अनुसार पाकर उसका मन मयूर नाच उठा था। बड़ी धूमधाम और समारोह से श्यामसुन्दर की स्थापना की थी उसने।

केवल तीन दिन ज्वराक्रान्त रहकर उसकी आँखों का तारा-दुलारा दो वर्ष का नन्हा सुरेश जब से अपनी माँ की गोद सूनी कर गया तभी से उसकी जीवनधारा का प्रवाह परिवर्तित हो गया था। उसके बाद ही भगवान् श्रीकृष्ण की मूर्ति आई, स्थापना हुई और विशेष धर्मानुष्ठान होने लगा था किन्तु लाला जी को पुत्र-शोक ने अधिक उद्विग्न नहीं किया वे शीघ्र ही भूल गये, उनके क्रिया कलाप

पूर्ववत चलते रहे। कमला ने कहना चाहा "यह हमारे पापों का परिणाम है, आप प्रजा पर जुल्म करना छोड़ दीजिये, रूठे हुए भगवान को मना लीजिये"—किन्तु कुछ.........कह न सकी उसकी वाणी मूक हो गयी। "सटाक! सटाक!! "—वृक्ष से बंधे हुए एक युवक की पीठ पर चाबुक पड़ रहे थे—वह चिल्ला रहा था और छटपटा रहा था, खून की लकीरें स्पष्ट दिखाई पड़ रही थीं उसकी पीठ पर—"और मारो साले को"—क्रूरकर्मी जमींदार गरजकर बोला। इस जघन्य दृश्य को छत पर खड़ी कमला ने देखा, उसने दोनों हाथों से आँखें बन्द कर लीं, वह काँप गई और सहसा चीख मार कर बेहोश हो गयी—पास खड़ी परिचारिका ने गिरने से संभाला।

नारी-कण्ठ के परिचित-स्वर को जमींदार ने सुना—शीघ्रता से भीतर गया, दासी ने हाँफते हुए बताया—मालकिन बेहोश हो गयीं हैं।

"क्यों, कैसे?"—चिल्लाकर बोला वह—जैसे उस दासी ने ही मालकिन का बेहोश कर दिया हो।

"सरकार!—एक क्षण चुप रहकर नौकरानी ने डरते-डरते कहा—ऊपर छत पर मालकिन अपने भीगे बालों को सुखा रहीं थीं, बाहर के दृश्य को देखते ही बेहोश हो गयीं।

बंधे हुए युवक को खोल देने की आज्ञा देकर जमींदार भीतर गया। स्त्रियाँ एक ओर हट गयीं, अभी कमला पूर्ण रूप से होश में नहीं आई थीं। मुख पर गुलाब-जल के छींटे लगाये जा रहे थे। अर्धोन्मीलित नेत्रों से उसने चारपाई के समीप खड़े पति की ओर देखा, उसकी आँखों से अश्रुधारा प्रवाहित हो चली वह फूट-फूट कर रो पड़ी। वस्तुस्थिति को समझते देर न लगी किन्तु जानकर भी अजान बने हुए जमींदार ने कहा—क्या हुआ कमला! क्यों रो रही हो कैसी तबियत है?

अस्फुट रुदन और आसुओं के अतिरिक्त और कोई उत्तर न पाकर चुपचाप चले गये जमींदार महाशय।

दो तीन घण्टे बाद प्रकृतिस्थ होने पर कमला ने स्नान किया और सायंकालीन पूजा अर्चा की तैयारी की, भगवान् का शृंगार करते करते एकटक उनकी ओर देखते देखते उसकी दबी करुणा का श्रोत प्रवाहित हा चला, वह भूल गई कि पूजा का समय हो गया; वह आते ही होंगे। आत्मविभोर होकर वह पर दुःख कातरा, दयामयी देवी अपने अराध्य-जन मनहारी श्यामसुन्दर के चरणों में लोट कर विलाप करने लगी—प्रभो! दयालो!! मेरे पति देवता की बुद्धि का सुधार करो मुझे और कुछ नहीं चाहिये।

भावावेश में कमला खड़ाऊँ के खट-खट शब्द को नहीं सुन सकी। जमींदार महोदय पीछे से आ कर खड़े हुये अपनी धर्म-पत्नी की अन्तर्वेदना का अनुमान करने लगे। उन्हें ऐसा लगा मानों भगवान् श्यामसुन्दर उन्हें देखकर व्यंग्य से मुस्करा पड़े। जैसे अब वे कहना ही चाहते हैं कि नराधम! अपना मुंह काला करके यहाँ से चला जा तू इस इस देवी को स्पर्श करने के योग्य भी नहीं। जमींदार के रोम रोम से आत्म-धिक्कार की भावना व्यक्त होने लगी। पश्चात्ताप ने पत्थर को पिघला दिया।

"उठो प्रिये! श्यामसुन्दर ने तुम्हारी पुकार सुन ली, मैं तुम्हारा अपराधी हूँ, मुझे जो चाहो दण्ड दे सकती हो"—आँखों से अविरल अश्रुपात करते हुये जमींदार ने पृथ्वी पर लोटती हुई अपनी प्रिया को उठाया—ऐसे अवसरों पर आदर्श हिन्दू नारी सदा से जो करती आई है वही कमला ने भी किया, तीव्र वेग से वह पति-चरणों में लिपट गई और श्यामसुन्दर के बाद हर्ष के आँसुओं से पति का भी पाद प्रक्षालन करने लगी। दश वर्ष बाद—

रंग विरंगी झंडियों और बन्दनवारों से कोठी सजाई गई है। वृक्षों पर रंगीन बल्ब लगाये जा रहे हैं। विद्युत झालरें ठीक हो चुकीं। लाउड स्पीकर फिट हो चुके हैं।

आज नव वर्षीया मीरा की वर्षगाँठ का समारोह मनाने के लिये यह आयोजन होरहा है। अन्तर्यामी श्यामसुन्दर ने कमला की करुण पुकार सुनी, उसी साल कमला की सूनी गोद भर गई कमल सी कोमल और रति सी सुन्दर कन्या ने कमला के अन्तर्प्रवाहित आँसुओं को पोछ डाला। दाम्पत्य-जीवन सरस हो गया। पिता और माता की आँखों की पुतली बालिका चन्द्रकला जैसी बढ़ने लगी। उसे देखकर प्रत्येक की बरबस इच्छा होती कि इसे अपनी गोद में लेकर प्यार करें। लाला जी के जीवन की धारा बिल्कुल बदल गई। उसी दिन से उनके मुख से कठोर वाणी का प्रयोग ही नहीं किया। नौकर चाकर देवता की भाँति उनका आदर करते और भोले ग्रामीण कहते कि हमारे मालिक तो अब धर्मराज के अवतार बन गये।

आज मीरा की वर्ष गाँठ है। इसी उपलक्ष में आज रात में संगीत का कार्यक्रम भी रहेगा और प्रोग्राम की समाप्ति पर मीरा भी अपनी कला का प्रदर्शन करेगी।

जगमग-जगमग बल्ब जल उठे। आगन्तुक अतिथियों से कोठी का प्रांगण भरने लगा। नम्रता की साकार मूर्ति बने लाला जी अभ्यागतों का स्वागत करने लगे।

प्रीति भोज सम्पन्न होने पर संगीत कलाविदों ने अपनी-अपनी कला का प्रदर्शन किया और अन्त में मीरा की बारी आई।

सहसा सामने का पर्दा उठा, दर्शकों ने देखा एक तेजोमयी देवकन्या आरती का थाल सजा रही है, एक ओर छोटे से मन्दिर में छोटे से भगवान वंशी अपने अधरों पर धरे त्रिभंगी गति से खड़े हैं। मन्दिर के पीछे जंगल का दृश्य है। ऐसा लगा मानो यहाँ की बनदेवी अपने आराध्य की पूजा करने आई है। बालिका की भाव-भंगिमा के प्रदर्शन को देखकर दर्शक वाह! वाह! और धन्य-धन्य कह उठे। आरती समाप्त हुई। नृत्य में जब मीरा ने राजरानी मीरा के भावों का प्रदर्शन किया तो कई भावुक जनों की आँखें छलछला उठीं। अन्त में नव बालिका ने मीराबाई के सुविख्यात पद "मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई" का तानपूरा लेकर गान किया तो दर्शक आत्म-विस्मृत से होगये। कई दर्शक चिल्ला उठे "राजरानी मीरा की जय"।

× × ×

धाँय-धाँय—सहसा बन्दूकों के फायर से दम्पति की आँख खुली। छत पर आकर देखा फाटक का दरबान पृथ्वी पर पड़ा छटपटा रहा है और दस-बारह डाकू चहारदीवारी के काँटेदार तार को लाँघ कर भीतर आचुके हैं। लालाजी ने दौड़ कर पुलिस को फोन करना चाहा किन्तु चतुर डाकू लाइन तो पहिले ही काट चुके थे। फायर करते हुये डाकू भीतर घुसे, एक ने कसकर कमला को बाँधा दूसरे ने लाला जी को।

"अब कहिए जमींदार साहब कैसा मिजाज है आपका"—पैशाचिक अट्टहास करता हुआ डाकू सरदार बोला।

भयभीत कमला थर-थर काँपती-काँपती मन ही मन अपने श्यामसुन्दर का स्मरण कर रही थी और लाला जी इस नक़ाबपोश डाकू के परिचित स्वर को पहचानने की चेष्टा कर रहे थे।

"शमशेरसिंह"—सरदार ने अपने साथी से कहा—चाबुक मुझे लाओ, आज इस जमींदार के बच्चे से गिन-गिन कर बदला चुकाना है—और फिर नक़ाब उलट कर बोला—देख और पहिचान ले।

"अरे तुम ! मोहन—हाँ ठीक ही है तुम्हें बदला तो लेना ही चाहिये—लाला जी की आँखों के सामने वह दृश्य आगया जब उन्होंने इसी मोहन को पेड़ से बँधवा कर पीठ पर हंटर लगवाये थे।

"हाँ मैं मोहन, नहीं, वह मोहन तो मर चुका अब तो यह नाहरसिंह डाकू तेरे सामने खड़ा है, तेरे उन हंटरों ने ही आज मुझे डाकू बना दिया—सटाक ! सटाक !! कई चाबुक जमींदार को मार दिये उस प्रतिहिंसक ने।

"दया ! दया !! छोड़ दो, छोड़ दो, मत मारो चिल्लाती हुई कमला बेहोश हुई।"

पीड़ा से तड़प कर भी जमींदार ने सोचा अब मेरा प्रायश्चित् पूरा हो रहा है—

जागकर बालिका मीरा ने अपने बंधे हुए माता-पिता को देखा, वह सहम गयी। उसे माता की शिक्षा का स्मरण हुआ संकट काल में भगवान् की शरण का आश्रय लेना चाहिये। दौड़ी-दौड़ी वह गयी और श्यामसुन्दर के चरणों को दोनों से हाथों कस कर पकड़ कर रोने लगी "अम्मा को बचालो, पिता जी को बचालो" मैं तुम्हारी मीरा हूँ, अपनी मीरा की लाज रक्खो मेरे गिरिधर गोपाल—आँखों से आँसुओं की गंगा-यमुना सी पवित्र जल-धार बहाती हुई बलिका और भगवान् की पाषाण-प्रतिमा के पीछे आते हुए डाकू सरदार ने कौतूहल से देखा—बालिका के करुण-विलाप का प्रभाव उस संगदिल पर भी इस लिये हुआ कि इतनी बड़ी उसकी भी रधिया है। आज यदि मुझे भी कोई इस तरह बाँध कर मारता तो मेरी रधिया भी इसी तरह रोती—उसने चाहा इस बच्ची को रोने से रोके इसका रोना अच्छा नहीं लगता। उसने हाथ आगे बढ़ाया और कहना चाहा "मत रो बिटिया" किन्तु उसकी वाणी मूक और जड़ हो गयी यह देखकर कि तो अब यह पत्थर की मूर्ति भी रोने लगी। अरे ! अरे !! भगवान् के आँसू टपक टपक कर इस बच्ची के मस्तक पर गिर रहे हैं। हाय ! हाय !! अब तो भगवान् सिसक सिसक कर रोने लगे—ऐसा तो कभी सुना नहीं, देखा नहीं—उसके हाथ का चाबुक छुटकर पृथ्वी पर गिर पड़ा, दौड़कर घुटने टेक दिये उस पाषण हृदय डाकू ने, उस पाषण-प्रतिमा की ऐसी अनहोनी क्रिया देखकर। उसने झुककर भगवान् की आँखों को देखा जिन आँखों का प्रवाह निरन्तर बढ़ता ही जा रहा था।

दया ! दया !! क्षमा ! क्षमा !!—चिल्लाता हुआ डाकू सरदार पृथ्वी पर लोटने लगा—अपने सुदर्शन से मेरा गला काट लो मगर तुम रोओ मत, मैं तुम्हारा रोना नहीं देख सकता, इस बच्ची का रोना भी नहीं देख सकता'—और उसने जोर जोर से पृथ्वी पर सर पटक पटक कर लहू-लुहान कर लिया। भावावेश में खड़ा हो गया वह और पुचकारते हुए गोद में उठा लिया गिरिधर गोपाल की उस नन्हीं सी मीरा को। मत्त गयंद-गति से झूमता, सर से रक्त की धारें बहाता आया उस बड़भागी दम्पति के समीप। अपने हाथ से उनके बन्धन खोले, दोनों के चरणों को अपने आँसुओं से धोकर क्षमा याचना की। साथियों को समझाया अपने अपने घर चले जाओ, भले आदमियों का जीवन बिताना; रधिया और उनकी माँ से कहना तुम्हारा मोहन अपने श्यामसुन्दर के आँसू पोंछने चला गया है, वे मेरे ही कारण रोरहे हैं।

वह चुपचाप कोठी के बाहर नीरव निस्तब्ध-निशा में न जाने कहाँ चला गया।

सद्भाव पूजा

(श्री हरिकृष्ण मैत्रेय जी)

मानव !

तेरा यह सम्भ्रान्त कर्मजाल क्यों न आडम्बर बनेगा, सत्य ज्योति-प्रकाश के अभाव में। उधर देख क्या हो रहा है अनन्त सागर के पार ? तुझे प्रकृति की छवि बिगाड़ने में आनन्द है, तो उसे सजाने में। तेरी पूजा भौतिक है तो उसकी आध्यात्मिक। तेरा भगवान् सीमित एक देशीय है तो उसका कण-कण व्यापी राम।

स्वरूप ज्ञान के उपरान्त पास में जाने के अधिकारी बनने पर ही तो उपासना है। वहाँ आवश्यकता है भाव भेंट की या किसी अन्य नश्वर तुच्छ द्रव्य की ? भाव देकर भाव लेना ही तो वहाँ की विशेषता है। बचन प्रति पालन बिना उस वक्ता से अनुराग क्या ? अज्ञानान्धकार में विराग क्या ?..................

[१]

देव का स्वरूप शुद्ध हृदय में धारने से।
देव-यज्ञ बन जाता देव बन जाने से॥
शान्तिकारी भर कर प्रेम रूपी उदक से।
स्नान विधि बन जाती देव को चढ़ाने से॥
सत्कर्म सुगन्ध यदि देव को चढ़ाया नहीं।
क्या ? है फिर गन्ध विधि चन्दन लगाने से॥
अमोल बोल चावल चढ़ाये न जो देव को।
तो क्या होता फिर सेरों चावल चढ़ाने से॥

[२]

सेवा भाव सूत्रकर सद्भाव सुमन गूंथ।
दिव्य माला भेंट होती कण्ठ पहिराने से॥
देवता के नाम पर धनधान्य देने ही से।
दक्षिणा नैवेद्य विधि बने यों बनाने से॥
जिसकी कृपाकोर से सर्वत्र प्रकाश होता।
नीराजन होता ज्योति ज्ञान की जलाने से॥
स्वयं देव बनकर देव-यज्ञ होता ठीक।
ठीक नहीं होता कभी ढोंग के फैलाने से॥

[३]

सुधाधार सुरसरी बहे जहाँ आठोयाम।
वहाँ फिर क्या है लोटा जल का चढ़ाने से॥
जहाँ चरण कंज की दासी बनी लक्ष्मी स्वयम्।
मित्र वहाँ होता है क्या पाई के लुटाने से॥
कीड़ी से कुंजर तक पालन जो करता है।
क्या ? विश्वम्भर को डली गुड़ की दिखाने से॥
घट-घट व्यापी प्रभु अन्तरतल जानता है।
उसे कैसे ठगोगे रे जाल के बिछाने से॥

[४]

परहित धर्मधारी धन्य धनवान होते।
होती पर-पीड़ा सम राशि नहीं पाप की॥
तीर्थ का तात्पर्य होता देह धूल धोने में ही।
धूल जब धोई नहीं पर-निन्दा ताप की॥
पूजा पाठ से पुकारना होता भी क्या।
पुकार सुनी न जब दलित विलाप की॥
राम राम रटने से मिटेगी क्या भक्त पीर।
पीर जब मेटी नहीं पीडित प्रलाप की॥

[५]

आर्य ! धर्म संस्कृति के मूल में संस्कृत भाषा।
ध्वजा फहरा रही है गौरव प्रताप की॥
पर पीठ फेर बैठे आज के धर्मान्ध वीर।
प्रिय मित्र देखो कैसी बात है संताप की॥
क्यों जप जपते हैं माला ले चपजाप की।
वीर व्रत विधि बनी पर उपताप की॥
धर्म वेदी बलिदान करने में हुये व्यर्थ
व्यर्थ जय बोलते हैं शिवा या प्रताप की॥

सुख की खोज

एक दिन अन्यमनस्क हो सम्राट ने अपने राज्य-भा से प्रश्न किया—

"सुख की प्राप्ति का उपाय क्या है ?"

सब अवाक हो सम्राट का मुंह ताकने लगे।

प्रश्न साधारण था, पर था विलक्षण। जीवन की अद्भुत किन्तु सच्ची आकांक्षा उसमें झलक रही थी।

कुछ क्षण रहने के बाद विलक्षण बुद्धि वृद्ध मंत्री ने कहा—"श्रीमान्! इस राज्य-सभा में इस प्रश्न का वास्तविक उत्तर प्राप्त नहीं हो सकेगा।"

"क्यों ?" व्यग्र होकर सम्राट ने पूछा।

"अधिकार-परम्परा का निर्माण करने वाली यह राज्य सभाएँ" मन्त्री ने उत्तर दिया "सुख दुखों की बिना चिन्ता किए ही अपने दम्भ और महत्वाकांक्षाओं की कल्पना में ही तल्लीन रहती हैं।"

"तब"

"तब, श्रीमान, अधिकार और स्वार्थ दोनों से दूर की सृष्टि में बसने वाले किसी महान विशेषज्ञ से ही इस प्रश्न का सन्तोषप्रद उत्तर प्राप्त होना सम्भव है।"

"वैसे विशेषज्ञ कहाँ रहते हैं मंत्री ?" सम्राट ने आशंकित हृदय से पूछा।

"सुदूर किसी एकान्त स्थल में" मंत्री ने दृढ़ता से उत्तर दिया, "संसार के कोलाहल से दूर।"

"मैं शीघ्र वहाँ जाना चाहता हूँ" सम्राट ने आदेश दिया। मन्त्री ने तत्क्षण स्वर्ण सज्जित एक सुन्दर रथ तैयार कराया। सम्राट और मन्त्री दोनों उस पर बैठ कर संसार के कोलाहल से दूर सुख की खोज में निकल चले।

[२]

स्फटिक सी एक स्वच्छ शिला पर एक कृशकाय तपस्वी बैठे थे। उन्हें सम्राट अभिवादन कर नीचे बैठ गये।

मन्त्री ने अवनत होकर कहा—'संसार के सर्वश्रेष्ठ पुरुष! मेरा सम्राट आज अविनाशी सुख की एकान्त अभिलाषा में, तुम्हारे निकट आया है।"

तपस्वी ने आश्चर्य की मुद्रा में कहा—"सम्राट! क्या तेरे विशाल राज-भवन में सुख नहीं है?"

हो सकता है श्रीमान्! सम्राट ने उत्तर दिया "पर मैं नितान्त सुख विहीन हूँ।"

तपस्वी क्षण भर मौन रहकर हँस पड़े, बोले—मैं भी सुखी नहीं हूँ।

सम्राट! उसी सुख की तलाश में जिसकी आज तुझे याद आई है, मैं तेरी आकर्षक सृष्टि से बहुत दूर इस निर्जन प्रान्त में आ पड़ा हूँ।"

सम्राट, हताश हो मन्त्री का मुँह ताकने लगे।

मन्त्री ने हाथ जोड़कर कहा—"देव उसका उपाय?"

"किसी सुखी पुरुष की तलाश करो" लापरवाही से तपस्वी ने उत्तर दिया।

"कहाँ मिलेगा वह?" सम्राट ने व्यग्र होकर कहा।

'इस विशाल सृष्टि में उसका अभाव नहीं है?'

मन्त्री तत्काल बोल उठे—'उन्हें पा लेने के बाद महाराज?'

तपस्वी ने धीरे से मुस्करा कर कहा, "तब उनके दो वस्त्र ले लेना। एक मेरे लिये, एक अपने लिये।'

"क्या उसे पाकर सुखी हूँगा देव?" सम्राट ने आश्चर्य से कहा।

"हाँ हाँ अवश्य" तपस्वी ने दृढ़ता से कहा।

दूसरे दिन सुखी पुरुष की खोज के लिये अनेक पुरुष नियुक्त किये गये, ग्राम, नगर, जंगल सभी जगह राज-पुरुष दिन रात एक सुखी पुरुष की खोज करने में लग पड़े।

दिन पर दिन और सप्ताह पर सप्ताह बीतने लगे। पर कोई सुखी पुरुष न मिल सका।

राज भवनमें सम्राट उदास भाव से बैठे रहते थे। मन्त्री ने एक दिन हाथ जोड़ कर कहा 'सम्राट!'

उल्लसित होकर सम्राटने पूछा 'क्या मिला?'

"अभी तक नहीं" मन्त्रीने डरते डरते कहा—महान् आश्चर्य है सम्राट, इतने विस्तृत साम्राज्य में कोई भी सुखी नहीं!'

'तब?'

'खोज हो रही है सम्राट!'

दूसरे दिन सम्राट मन्त्री के साथ शून्य हृदय से उपवन की ओर जा रहे थे। राज पुरुषों की एक भीड़ ने घेर कर कहा 'सम्राट हम सुखी पुरुष को ढूँढ़ने में समर्थ हुये हैं।'

'कहाँ है वह?' सम्राट ने व्यग्र होकर कहा।

'कुछ दूर, नदी किनारे।'

सम्राट शीघ्रता से उसी तरफ दौड़े।

नदी किनारे संतप्त बालुकाराशि पर एक कृशकाय पुरुष अर्ध स्वगतभाव से लेटा हुआ मन ही मन कुछ गुन-गुना रहा था।

सम्राट चकित भाव से जाकर खड़े हो गये।

एक क्षण अद्भुत दृष्टि से सम्राट की ओर देख कर वह हँस उठा और एक ओर को चल दिया।

सम्राट ने व्यग्र होकर पुकारा, "ठहरो, संसार के सर्वश्रेष्ठ पुरुष! कृपाकर मुझे अपने दो वस्त्र लेने दो।"

संसार का एक मात्र सुखी पुरुष बड़े जोर से हँसा, धीरे से बोला—मेरे पास एक भी वस्त्र नहीं है।

सम्राट निष्प्रभ होकर रह गये। सचमुच वह वस्त्र विहीन था। सम्राट क्षण भर अचिन्तनीय भाव से खड़े रहे और फिर अपने सारे बहुमूल्य राजकीय वस्त्रों को नदी में फेंकने लगे।

जोर से हँसकर उन्होंने कहा—"ओह! आज मेरी खोज सफल हुई। मैंने सुख का मार्ग पा लिया है।"

(संकलित)

श्री मत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८ श्री स्वामी महेश्वरानन्द जी महाराज . महामण्डलेश्वर

आजकल—कनखल (हरिद्वार) स्थित सुरत-गिरि के बंगले में निवास कर रहे हैं। वहाँ नित्य प्रति श्री महाराज द्वारा उपनिषदों का सारगर्भित विवेचन होता है।

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य न्यस्तदण्ड श्री स्वामी अखण्डानन्द जी सरस्वती

श्री महाराज इस समय जबलपुर में अपनी पावन वाणी का प्रसाद भक्तजनों को वितरित कर रहे हैं। वैशाख पूर्णिमा के लगभग हरिद्वार पहुँचने की आशा है—जबलपुर का पता—

c/o श्री गिरजानन्दन दुबे.खेतौला बाजार, जबलपुर

पूज्यपाद श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज तथा श्री स्वामी भजनानन्दजी महाराज

स्वामी-द्वय आजकल परमार्थ निकेतन,स्वर्गाश्रम की पावन भूमि में परमार्थ के पथिकों को परमार्थ का का पाथेय (सत्संग) वितरित कर रहे हैं। सदैव की भाँति लगभग ज्येष्ठ पूर्णिमा तक वहीं निवास करेंगे इस अवसर से लाभ उठाने के इच्छुक सत्संग प्रेमी वहाँ पहुँच कर लाभ उठा सकते हैं। भोजन और निवास की समुचित व्यवस्था रहती है। अपने पहुँचने की सूचना व्यवस्थापक परमार्थ निकेतन स्वर्गाश्रम के पते से भेजनी चाहिये।

पूज्यपाद श्री स्वामी प्रकाशानन्द जी महाराज

सिंगाही (लखीमपुर) का सत्संग समाप्त करके बिठूर पहुँच गए। ९ मई की रात्रि में बिठूर से चलकर १० मई को परमार्थ-निकेतन स्वर्गाश्रम पहुँच रहे हैं। उनके दर्शन और सत्संग का लाभ परमार्थ निकेतनमें ज्येष्ठ पूर्णिमा तक मिलनेकी संभावना है।

प्रज्ञाचक्षु श्री स्वामी शरणानन्द जी महाराज

स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश) स्थित छोटे गीता-भवन में आजकल स्वामी जी विराजमान हैं वहीं उनके सत्संग और उपदेश का लाभ भक्तों को प्राप्त हो रहा है।

परम भागवत सेठ जयदयाल जी गोयन्दका

गीता-भवन स्वर्गाश्रम (ऋषीकेश) पहुँच गये हैं और सत्संग का कार्यक्रम सदैव की भाँति प्रारम्भ हो चुका है।

सूचना

भारत सेवक समाज के कुशल कार्यकर्ता, यौगिक स्वास्थ्य केन्द्र (राष्ट्रपति भवन नई देहली) के संचालक तथा भारतीय-संसद के सदस्यों को योगासन सिखाने वाले श्री जगदीशप्रसाद जी अग्रवाल बी० ए०, १० मई को परमार्थ-निकेतन स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश) पहुँच रहे हैं। लगभग एक मास वहाँ रहकर क्रियात्मक रूप से योग के आसन सिखाएँगे। अग्रवाल जी की बताई क्रियाओं पर चलने वाले अनेक रोगियों को आश्चर्यजनक रूप से लाभ हुआ है। योगासन प्रेमियों को इस अवसर से लाभ उठाना चाहिये। आने वाले सज्जन अपने पहुँचने की सूचना अवश्य भेज दें।

विनीत

व्यवस्थापक

परमार्थ-निकेतन, स्वर्गाश्रम

हरि भक्ति बिना ये सब व्यर्थ हैं

कलत्रं धनं पुत्रपौत्रादि कीर्तिः
गृहं बान्धवाः जातिमेतद्धि सर्वम् ।
हरेरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ॥ १ ॥

षडङ्गादिवेदो मुखे शास्त्रविद्या
कवित्वादि गद्यं सुपद्यं करोति ।
हरेरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ॥ २ ॥

अर्थ—यदि स्त्री, धन, पुत्र-पौत्रादि, कीर्ति, गृह, बन्धुवर्ग, उत्तम जाति इत्यादि सभी बातें पूर्ण रूप से हैं किन्तु यदि मनुष्य के हृदय में हरिरूप श्रीगुरुदेव के चरण कमलों में भक्ति नहीं है और उनकी सेवा में मन नहीं लगा है तो यह सारी बातें व्यर्थ और निःसार है। सार वस्तु तो केवल हरिरूप गुरु की भक्ति ही है ॥ १ ॥

यदि कोई मनुष्य शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष इन छः अंगों सहित ऋगादि वेद, पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा, सांख्य, योग, न्याय तथा वैशेषिक आदि शास्त्र एवं चौदह विद्याओं का पूर्ण ज्ञाता हो तथा उसके अन्दर गद्यपद्यात्मक काव्य रचना करने का भी पूर्ण कौशल हो किन्तु यदि उसके हृदय में श्रीहरि की भक्ति नहीं है, उसने श्रीहरि की सेवा में अपने जीवन को समर्पण नहीं कर दिया है तो उसका वेद-शास्त्र सहित चौदहों विद्याओं का ज्ञान व्यर्थ और निष्फल है ॥२॥ (*श्रीमज्जगद्गुरु शंकराचार्य जी महाराज*)

मुद्रक तथा प्रकाशक:— परमार्थ प्रेस, पो० मुमुक्षु आश्रम, शाहजहाँपुर

वार्षिक मूल्य ४॥)　　　　विदेश के लिये ८)

ॐ

परमार्थ मासिक-पत्र

दैवी गुण विकासक, शान्ति संस्थापक, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार आदि अ
प्रचारक, श्री दैवी सम्पद् महामण्डल का प्रमुख सुरुचिपूर्ण सचित्र मासिक

संस्थापकः—

श्री १०८ श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज

श्री १०८ श्री स्वामी भजनानन्द जी महाराज

सम्पादकः—

स्वामी सदानन्द सरस्वती

राजाराम पाण्डेय 'मञ्जुल'

विषय सूची

विषय

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा, बुद्ध्यात्मना वानुसृतःस्वभावात् ।
करोमि यद्यत् सकलं परस्मै, नारायणायेत समर्पयेतत् ॥

वर्ष ५ | मुमुक्षु आश्रम, शाहजहाँपुर १५ जून १९५४ ज्येष्ठ शुक्ल १४ मंगलवार, सम्वत् २०११ | अङ्क—६

चीरि हियो सियराम दिखाए

जानकि एक समै हनुमान के,
मोतिन-माल हिए पहिराए ।
तोरि लख्यो कपि राम को नाम,
न पायो तहाँ, सब फोरि गिराए ॥
हेरि हँसी सिय, खोजत काह ?
रमेश,—बिना तन काहे बराए ।
सो हनुमान हरैं मन मोर,
जो चीरि हियो सियराम दिखाए ॥

—"ऋषि"

परमार्थ-बिन्दु

विचार करो—मलयागिरि के सुवासित चन्दन वृक्ष के आस-पास के बहुत से वृक्ष भी चन्दन ही बन जाते हैं किन्तु बाँस और करील के वृक्ष ज्यों के त्यों बने रहते हैं चाहे उनकी जड़ें चन्दन के वृक्ष से ही क्यों न मिली रहें—जानते हो क्यों ? क्योंकि इन पेड़ों में गांठें होती हैं। इसी प्रकार निश्चय करो कि सन्त-महापुरुषों का सत्संग करने वाले भी संत ही बन जाते हैं किन्तु जिनके कलुषित हृदय में ईर्ष्या,द्वेष, मद, मत्सर और परदोष-दर्शन आदि की अभेद्य गांठें पड़ी हैं वे कदापि सन्त नहीं बन सकते चाहे वे अहर्निश सन्त-महात्माओं के निकट सम्पर्क में ही क्यों न बने रहें।

विचार करो—पुण्यसलिला पतितपावनी भगवती गंगा के दर्शन मात्र से मानव के पाप-ताप शान्त हो जाते हैं और उसमें स्नान करने वालों की तो शुभ गति होती है किन्तु सहस्रों वर्षों से गंगा जी के जल में पड़े हुए पत्थर तो ज्यों के त्यों ही बने रहते हैं—इसी प्रकार निश्चय करो कि भावशून्य और अभिमानी जन भी सत्संग सुरसरी के बीच अहर्निश रहकर ज्यों के त्यों ही बने रहते हैं।

विचार करो—अपने आस-पास के अन्धकार का नाश करने वाला दीपक अपने नीचे अन्धेरा छिपाये रहता है उसके नीचे का अन्धकार दूर करने के लिये यदि दो चार दीपक और जला दिए जायँ तो एक दूसरे का प्रकाश सबके अन्धकार को दूर कर देगा। इसी प्रकार यदि अकेला साधक एकान्त में साधन करेगा तो वह स्वयं अपना अन्धकार दूर नहीं कर सकता, सम्भव है प्रमाद और आलस्य के वशीभूत होकर वह साधन से भ्रष्ट होजाय, इसलिये प्रत्येक साधक को साधकों के समूह में ही रहना चाहिये। अकेला तो सिद्ध ही रह सकता है।

विचार करो—किसी घोड़े के मुँह में यदि तीन लगामें लगाकर उसे तीन व्यक्तियों के सुपुर्द कर दिया जाय तो वह घोड़ा किधर जायगा ? उसकी क्या दशा होगी ? इसी प्रकार यदि कोई साधक अपने साधन का निश्चय कई पथ-प्रदर्शकों से कराना चाहे तो खींचातानी में पड़कर कभी सफल नहीं हो सकेगा। जिस प्रकार घोड़े के लिये एक ही लगाम की आवश्यकता है इसी प्रकार साधक को अपना एक ही पथ-प्रदर्शक चुन लेना चाहिये।

विचार करो—मार्ग में पड़ा पत्थर पथिकों की ठोकरें खाता है किन्तु उसी का सजातीय दूसरा पत्थर किसी चतुर शिल्पी के छेनी, हथौड़ों की मार खाकर जब देवता की मूर्ति बन जाता है तो संसार उसकी पूजा करने लगता है। इस प्रकार दुःख और कष्टों से घबड़ाकर जो शिल्पी रूपी सद्गुरु की शरण से भागता है वह तो मार्ग में पड़े पत्थर के समान है और जो उनकी मार में छिपा प्यार देख लेता है वही एक दिन साधक से सिद्ध बन जाता है।

विचार करो—पानी का स्वाभाविक प्रवाह नीचे की ओर होता है। यदि हमें ऊपर की ओर पानी चढ़ाना है तो अत्यन्त प्रबल उपाय—इञ्जिन व मोटर का आयोजन करना पड़ता है। इसी प्रकार विश्वास रक्खो, मन और इन्द्रियों की स्वाभाविक गति विषय-भोगों की ओर है, भगवान् की ओर नहीं। यदि भगवद्-प्राप्ति करना चाहते हैं तो इन्हें बलपूर्वक दृढ़ता से, सत्संग-भजन, सेवा-परोपकार आदि में लगाना पड़ेगा।

"आनन्द"

परमार्थ निकेतन

(स्वर्गाश्रम—ऋषिकेश)

आश्रम : एक झाँकी

(प्रो० नेमिशरण जी मित्तल, एम० ए०)

पुण्यसलिला भागीरथी के तट पर श्री दैवीसम्पद् महामण्डल के आश्रम परमार्थ-निकेतन स्वर्गाश्रम, ऋषिकेश में गत एक मास से सत्संग साधना की अखण्ड धारा बह रही है। देश के कोने कोने से सैकड़ों नर-नारी बाल-युवा और वृद्ध श्री दैवी सम्पद महामण्डल के प्रधान श्री १०८ श्री परमहंस स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज की अमृतोपम वाणी का प्रसाद एवं पावन चरण-धूलि ग्रहण करने के लिये नित्य आ रहे हैं।

अनन्त दैवी शक्तियों से सम्पन्न इस तपोनिष्ठ ऋषि तथा योगद्रष्टा की चरण-छाया में बैठकर अशान्त से अशान्त मानस में भी शान्ति का साम्राज्य छा जाता है। आध्यात्मिक क्रान्ति तथा नैतिक समुत्थान का संदेश लेकर यह महामानव लोक-परित्राण के लिये इस पुण्यभूमि भारत देश में अवतीर्ण हुआ है। मानव के भीतर सच्चे भावों को भर देने की अभूतपूर्व शक्ति तथा विरोधियों को अपने शाश्वत स्नेह के बल पर अनुयायी बना लेने की क्षमता का अद्भुत संयोग इस विरागी युगस्रष्टा के भीतर हुआ है।

इस महामुनि के अन्तराल में भारत की अन्तरात्मा अवतीर्ण हुई है। बुद्धि और हृदय को वास्तविकता का दर्शन करा देने वाली ओजस्विनी वाणी सच्चे राष्ट्र प्रेम का संदेश, ईश्वर-भक्ति का रहस्य एवं जीवन के कल्याण-पथ की सहज साधना यहाँ प्रति-क्षण निसृत हो रही है।

इस महान राष्ट्र की आध्यात्मिक पूँजी को सुरक्षित बनाये रखने के लिये तथा आत्म-कल्याण के हेतु प्रत्येक भारतीय का धर्म है कि चाहे वह किसी मत का अनुयायी हो यहाँ आकर इस दिव्य-पुरुष की संगति और सहवास का लाभ उठाये।

अन्य सन्त—स्वामी जी के अतिरिक्त यहाँ पर अन्य महात्मागण भी अपनी तपःपूत वाणी का प्रसाद जनता को नित्य प्रति वितरित कर रहे हैं। महामण्डल के उप प्रधान श्री १०८ श्री स्वामी भजनानन्द जी महाराज की दिव्य वाणी हृदय के कलुष को तुरन्त धो डालती है। आश्रम उनकी व्यवस्था में अपने असीम सौरभ तथा विकास को प्राप्त कर रहा है। स्वामी शुकदेवानन्द जी तथा स्वामी भजनानन्द जी महाराज की जोड़ी सचमुच अनुपम और अद्वितीय है। एक में निष्कपट बाल-भाव है तो दूसरे में तीक्ष्ण बुद्धि कौशल तथा व्यवस्था-शक्ति। साधकों के हृदय पर इन दोनों ऋषियों की सेवा परायणता की अमिट छाप है।

पूज्य स्वामी प्रकाशानन्द जी महाराज भी बिठूर से पधार गये हैं। सरल, तर्कयुत वाणी में वह साधकों का मन हर लेते हैं।

इनके अतिरिक्त 'परमार्थ' के सुयोग्य सम्पादक श्री स्वामी सदानन्द जी, श्री स्वामी सद्गुणा-नन्द जी तथा श्री योगीराज जी भी आश्रम में ठहरे हुए हैं तथा जनता-जनार्दन की सेवा में प्रवृत्त हैं।

श्री रामप्रसाद अवस्थी शास्त्री (व्यास) अपने सुमधुर कंठ से श्रीमद्भागवत की विद्वत्तापूर्ण विवेचना कर रहे हैं।

श्री स्वामी सेवासरूप जी सचमुच सेवा के स्वरूप ही हैं तथा आश्रम के प्रकाश एवं जल आदि की व्यवस्था में संलग्न रहते हैं।

आश्रम जीवन—आश्रम जीवन की कुछ प्रमुख विशेषताएँ हैं। इनमें सर्वप्रथम (१) समय की कठोर पाबन्दी तथा द्वितीय (२) चौबीसों घंटों का व्यस्त कार्यक्रम।

पूज्यप्रवर एवं आश्रम की काया के प्राण, महर्षि रात्रि में ठीक ३ बजे अपनी शय्या का परित्याग करके लोक-कल्याण के लिये आध्यात्मिक साधन में जुट जाते हैं। इसी समय से सन्त और विशिष्ट साधक निद्रा का पाश छोड़कर अपनी व्यक्तिगत साधना में निरत होते हैं।

ठीक ३॥ बजे की ब्रह्मवेला में प्रभाती का गायन होता है। ४ बजे पुरुष और महिलाएँ भारत सेवक समाज के कुशल कार्यकर्त्ता, यौगिक स्वास्थ्य केन्द्र, राष्ट्रपति-भवन, नई दिल्ली के संचालक तथा भारतीय संसद् के सदस्यों को योगासनों की शिक्षा देने वाले श्री जगदीशप्रसाद जी अग्रवाल बी० ए० तथा उनकी धर्मपत्नी के निरीक्षण में योगासनों के लिये एकत्रित होते हैं। गंगा जी का पुण्य तट, तथा प्रातः की मन्द, शीतल वन: समीर तन और मन के स्वास्थ्य के लिये अनुपम हैं। अनेक रोगियों को लाभ हो रहा है। ठीक ४.४५ पर सर्वेश्वर भगवान के मन्दिर में शंखनाद व सुमधुर वाद्य के साथ आरती प्रारम्भ हो जाती है। ५ बजे पूज्य स्वामी जी अपनी कुटिया से निकल कर अपने आसन की ओर पग बढ़ाते हैं, भक्त-वृन्द तुरन्त उनके पावन चरणों की रज मस्तक पर चढ़ाने के लिये चरणों में झुक जाते हैं। तुरन्त हरि ॐ की उच्च गगन भेदी ध्वनि के साथ श्री दैवी सम्पद् महामण्डल की प्रार्थना प्रारम्भ होती है। अन्त में पूज्य स्वामी जी जन-प्रेरणा के निमित्त थोड़े से शब्दों में दिन भर के लिये ज्ञान-शक्ति प्रदान करते हैं।

प्रार्थना और प्रवचन के उपरान्त आश्रम-वासी दो वर्गों में विभक्त हो जाते हैं—(१) पुरुष वर्ग (२) महिला वर्ग। पुरुष वर्ग आश्रम से निकल कर स्वामी · द्र के नेतृत्व में पतित-पावनी गंगा जी के तट के किनारे चल पड़ता है। वहाँ आश्रम के घाट के निर्माण के लिये पत्थरों का संचय होता है। वह दृश्य दर्शनीय होता है। पूज्य श्री स्वामीजी तथा स्वामी भजनानन्द जी महाराज पत्थर उठाकर जिस समय पाँव बढ़ाते हैं तो श्रीकृष्ण भगवान् के गोवर्द्धन पर्वत उठाने की स्मृति हो आती है। कभी जब ये दोनों महात्मा एक किनारे पत्थर पर बैठ जाते हैं तथा भक्त-वर्ग पत्थर उठाकर दौड़ता है तो ऐसा प्रतीत होता है मानों राम और लक्ष्मण की सुन्दर जोड़ी सेतु-बन्धन के समय वानर सेना द्वारा पाषाण संचय का अवलोकन कर रही है। श्रम की प्रतिष्ठा और सेवा का यथार्थ पाठ आश्रम-जीवन का एक मूल मंत्र है।

आधा घंटा श्रमदान के उपरान्त सन्त और साधकों का समुदाय विभक्त होकर गंगास्नान व जलपान आदि के कार्यों में लगता है। इस समय साधक अपने जप, पूजन आदि में प्रवृत्त होते हैं।

ठीक ८ बजे से आधा घंटा श्रीमद्भगवद्गीता का सामूहिक पाठ होता है। तदुपरान्त श्रीमद्भागवत की दिव्य कथा एवं सन्त-वर्ग के प्रवचन होते हैं। यह प्रातःकालीन सत्संग का कार्यक्रम पूज्य श्री स्वामी भजनानन्द जी के प्रवचन के साथ ठीक ११ बजे समाप्त हो जाता है।

११ बजे से १ बजकर ४५ मिनट तक साधक भोजन, विश्रामादि करते हैं तथा ठीक १ बजकर ४५ मिनट पर घंटी के बजते ही प्रत्येक कुटी के भीतर हरि ॐ की सुमधुर ध्वनि गूँज उठती है तथा पारिवारिक सत्संग प्रारम्भ हो जाता है जो ठीक २॥ बजे समाप्त होता है। उसी समय साधक

(शेष पृष्ठ २६४ वें पर देखिये)

धर्म क्या है ?

(ले०—श्री स्वामी आत्मानन्द जी 'मुनि' पुष्कर)

[गताङ्क से आगे]

(४) अब अंडज योनि में से प्रकृतिमाता अपने जीवरूपी पुत्र का जरायुज (पशु) योनि में विकास कर देती है। यहाँ अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोश के उपरान्त विज्ञानमय (बुद्धि) कोश का विकास भी हो जाता है और रजोगुण के स्थान पर रज-सत्त्व-गुण तथा गाढ़-स्वप्न अवस्था के बदले केवल स्वप्न अवस्था का विकास होजाता है। विज्ञानमय कोश व रज-सत्त्वगुण के विकास के कारण ही यहाँ पशुओं में जानकारी भी देखने में आती है। कुत्ते, गाय व घोड़े आदि अपने और परायों की पहचान करते हैं और जबकि पहचान है तब जानकारी के संस्कार भी मानने में आते हैं। जब गाय अपने बच्चे को खूब प्यार करती है और कुत्ता अपने मालिक के सिवा दूसरे मनुष्य को देख कर भौंकता है, ऐसा होते हुए भी वे सुख-दुःख की इच्छा वाले और सुख दुःख के साधनों की जानकारी वाले नहीं होते तथा उनमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व का अहंकार भी जाग्रत् नहीं होता, इसलिये वे अपने में अपने कर्मों के पुण्य-पापरूप संस्कारों का संग्रह भी कर नहीं पाते।

(५) सारांश—उद्भिज्ज-योनि से आरम्भ करके जीवभाव का विकास प्रकृति के नीचे बदलता हुआ जरायुज-योनि से मनुष्य-योनि में इसी प्रकार विकसित हो जाता है जिस प्रकार बीज में से अंकुर, कोंपल, तने, डाली, पत्र और फूल विकसित हो आते हैं और फिर फूल से फल विकसित हो जाता है। अब मनुष्य-योनि में पञ्चम आनन्दमयकोश, तीसरी जाग्रत अवस्था और तीसरे सत्त्वगुण का भी विकास हो आया है। अब प्रकृतिमाता जीव-भाव की पूर्णता संपादन करके, अपने जीवरूपी पुत्र को शिशु और बाल्यावस्था से ऊँचा उठाकर और युवा अवस्था को संपादन करके यहाँ अपनी जिम्मेदारी से भी मुक्त हो जाती है। अहंभाव की पूर्णता के कारण अब मनुष्य-योनि में आनन्दमयकोश, जाग्रत अवस्था और सत्त्वगुण का भी विकास हो जाता है। आनन्दमय कोश के परिणाम स्वरूप अब कर्तृत्व-भोक्तृत्व का विकास भी हो जाता है, 'मुझे सुख मिले और ऐसा सुख मिले कि जिसका कभी नाश न हो'—ऐसी बुद्धि विकसित हो आती है। जाग्रत-अवस्था और सत्त्व गुण के परिणाम स्वरूप यहाँ सभी ज्ञान और जानकारियाँ स्थायी होती हैं, जिससे किये हुये कर्मों की स्मृति और संस्कारों का संग्रह होता रहता है। अब जीव लोक-परलोक की जानकारी, सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति का इच्छुक होने से ग्रहण-त्याग बुद्धि व शुभाशुभ पुण्य-पाप रूप संस्कारों का संचय करता रहता है। इस प्रकार अहंकार के पूर्ण विकास के कारण मनुष्य-योनि में जीव अपने कर्मों का आप जिम्मेदार बन जाने से शुभाशुभ कर्मों का कर्त्ता, सुख-दुःख का भोक्ता और जन्म-मरण का धर्त्ता हो जाता है।

इस प्रकार अहंकार की जड़ता जो उद्भिजादि-योनियों में गाढ़ तमोगुणी और गाढ़ सुषुप्ति-अवस्था में पाषाण व बर्फ के समान घनीभूत हो रही थी, वह प्रकृति द्वारा अपनी जवाबदारी से पांच कोश, तीन गुण और तीन अवस्थाओं के विकास द्वारा पानी के समान गला कर पतली कर देती है। इस रीति से अहंकार का विकास तो हुआ, परन्तु अब अज्ञान के फलस्वरूप परिच्छिन्नता अर्थात सीमित भाव में बंधायमान रहने के कारण यह अहंकार बंदर की भाँति आपही स्वार्थ और ममता को पकड़

कर बैठता है तथा उसके परिणामस्वरूप प्राकृतिक नियमानुसार आपही पुण्य-पाप, राग-द्वेष और काम-क्रोधादि विकारों का पात्र बन बैठता है। उद्भिज्जादि योनियों से लेकर अब तक मनुष्य-योनि पर्यन्त प्रकृति देवी ने जिन-जिन सोपानों से जीव का विकास किया है, वे तो अहंकार की जड़ता गलाने में सहायक होने से अपने स्वरूप से धर्मरूप हैं ही। अब मनुष्य योनि में अहंकार का पूर्ण विकास हो जाने से और उसके परिणामस्वरूप कर्तृत्व-भोक्तृत्व के उदय हो जाने से तथा जीव अपने कर्मों का आप ही जिम्मेदार बन जाने से अब प्राकृतिक नियमानुसार मनुष्य पर यह दायित्व आरोपण किया जाता है कि वह अपने अहंकार की परिछिन्नता को जो सम्पूर्ण राग-द्वेषादि अनर्थों का मूल हो रही है, उसे सोपान-कर्म से त्यागरूपी अग्नि में उड़ाने के लिये पुरुषार्थ करें। इसलिये अब जो चेष्टाएँ इस प्रकार इस अहंकार की परिछिन्नता को उड़ाने में सहायक हों वे ही धर्म और जो इस अहंकार की परिछिन्नता को संकुचित करने में सहायक हों वे ही अधर्म कही जा सकती हैं। भगवान् श्रीमुख से गीता में कहते हैं—

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तम् यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥
(अ० १८—१४)

अर्थ—ऐसा कोई भी पदार्थ पृथ्वी, देवलोक अथवा ब्रह्म-लोक में हो ही नहीं सकता, कि जो प्रकृतिजन्य इन तीनों गुणों से छूटा हुआ हो, किन्तु सभी पदार्थ इन तीन गुणों में से कोई न कोई गुणवाला रहना ही चाहिये।

इस नियम के अनुसार पूर्ण विकास को प्राप्त हुआ यह अहंकार भी सात्त्विक, राजसिक या तामसिक गुणवाला होना ही चाहिये। और जैसा गुणवाला अहंकार हो वैसा ही उसका संग, आहार-विहार, रहन-सहन और पठन-पाठन इत्यादि होना ही चाहिये। इसलिये अब पुरुषार्थ और धर्म यही है कि तमोगुणी अहंकार को रजोगुण में और रजोगुणी अहंकार को सात्त्विक में बदला जाय। गीता अ०-१४ श्लोक से १८ में श्री भगवान् ने इन तीनों गुणों के लक्षण विस्तार से वर्णन किये हैं और प्रत्येक गुण के संयोग से देही-आत्मा को जिस प्रकार देह के साथ बन्धन, जैसा-जैसा व्यवहार, जैसी-जैसी परलोक-गति, जैसे-जैसे कर्म और जैसे-जैसे कर्म-फल की प्राप्ति होती है, वह विस्तार सहित वर्णन किया गया है। उनमें से तीन गुणों के लक्षण निम्न प्रकार हैं—

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभः॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥

अर्थ—इस देह के मन-इन्द्रियादि सभी द्वारों में जिस समय ज्ञान व प्रकाश अर्थात् शान्ति का उद्‌बोध हो तब सत्त्वगुण का उद्‌बोध हुआ है, ऐसा जानना चाहिये।

अर्थ—हे भरत श्रेष्ठ! रजोगुण की विशेष वृद्धि के काल में लोक प्रवृत्ति का आरम्भ और कर्म में शमन न होने वाली आसक्ति उत्पन्न होती है।

अर्थ—प्रकाश (सुख-शान्ति) का अभाव, प्रवृत्ति का अभाव (अर्थात् जड़ता), प्रमाद (विपरीत-बुद्धि) और मोह (अज्ञान) भी तमोगुण की विशेष वृद्धि काल में उत्पन्न होते हैं। सुख को दुःख और दुःख को सुख जानना तथा संसार सम्बन्धी भोग-स्वार्थों को ही बटोरने के पीछे पड़ा रहना, यही विपरीति-बुद्धिरूप प्रमाद कहलाता है।

इस प्रकार प्रकृति-राज्य उद्भिज्जादि चार खानियों और चौरासी-लाख योनियों में ही विभक्त है और कोई भी पदार्थ इन तीन गुणों से छूटा हुआ हो, ऐसा कहा नहीं जा सकता। तीन गुणों के भेद वृक्षादि जड़ योनियों में भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं, फिर अन्य योनियों की तो बात ही क्या? वृक्षों में वट, पीपलादि सत्त्वगुणी, आम्रादि रजोगुणी और बबूलादि तमोगुणी कहे जा सकते हैं। जबकि गुण का भेद इतना स्वाभाविक है, तब मनुष्य-योनि में गुणों के भेद से चार वर्णों का भेद पाया जाय तो इसमें बाधा ही क्या? मानव-योनि में पूर्ण विकास के कारण तीन गुणों के भेद से प्रत्येक मनुष्य की प्रकृति का भेद, प्रकृति-भेद से कर्मों का भेद, कर्म-भेद से संस्कारों का भेद और फिर संस्कार-भेद से जाति और भोगों का भेद तो अटल ही है। इसलिये अपने-अपने कर्म-संस्कारानुसार ही मनुष्य का अपनी-अपनी जाति में जन्म स्वाभाविक ही होता है, क्योंकि सभी जन्म-कर्मों का हेतुरूप केवल कर्म-संस्कार ही माने जाते हैं। इस प्रकार यद्यपि तीन गुणों के भेद से प्रकृतिराज्य में नाना भेददृष्टि-गोचर होते हैं, तथापि यदि इन भेदों के प्रवाह को धार्मिक-मर्यादा के अधीन चलाया जाय तो धार्मिक मर्यादा सोपान-क्रम से सभी भेदों को शनैः-शनैः गलाती हुई सच्चे अभेद और खरी समता में इसी प्रकार पहुँचा देने की जुम्मेवार है, जिस प्रकार पथ्य व औषधि रोगी को अपनी मर्यादा में रखते हुए और रोगी के दोषों को बाहर निकाल फेंकते हुए फिर अपने बन्धन से भी मुक्त कर देते हैं। परन्तु यदि हम अपने खोटे व्यवहारिक अभेद को ही अपने में भरे रखकर जनता को इसी मार्ग पर ढकेलें तो भेद निकालने के बजाय यह भेद निकलना कैसा? बल्कि मरणान्त भी यह भेद तो भूत-पिशाच बनकर हम को चिपटे बिना नहीं रहता। क्योंकि सच्चा अभेद तो हम से किसी-न-किसी प्रकार की त्याग की अपेक्षा करता है और जितनी मात्रा में हम त्याग के मार्ग का अनुसरण करेंगे, उतनी मात्रा में ही अभेद की सिद्धि हो सकेगी। परन्तु हम तो केवल व्यवहारिक अभेद का ही अनुसरण करके किसी भी प्रकार के सच्चे त्याग की भेंट नहीं दे रहे हैं। इसके विपरीत अभेद के खोटे अहंकार को ही दृढ़ करते हैं, जिससे अभेद के फलस्वरूप शान्ति प्राप्त करने के स्थान पर हम अधिकाधिक राग-द्वेषादि के ही शिकार बन जाते हैं।

सारांश, यद्यपि उपर्युक्त प्रकार से अहंकार की जड़ता गलाने का कार्य प्रकृति द्वारा वृक्षादि जड़ योनियों से प्रारम्भ करके मनुष्य-योनिपर्यन्त उसका विकास किया गया है, तथापि तमोगुण के कारण मनुष्य-योनि में भी देह सम्बन्धी तथा कुटुम्ब सम्बन्धी स्वार्थ व कामना के रूप में यह जड़ता घर की हुई देखने में आती है। इसलिये अब उस जड़ता को हमें धार्मिक त्यागरूपी अग्नि में उड़ाना इष्ट है। जिन चेष्टाओं के साथ अपने अधिकारानुसार किसी-न-किसी अंश में त्याग का सम्बन्ध हो वे ही धार्मिक चेष्टा कही जा सकती हैं। किसी-न-किसी अंश में खरे त्याग के सम्बन्ध बिना ही कोई भी चेष्टा धर्मरूप बन सके, यह सम्भव नहीं है। त्याग को निम्नलिखित प्रमाण में विभक्त किया जा सकता है—

(१) आर्थिक, (२) शारीरिक, (३) वाचिक, (४) मानसिक। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

(१) धन, भूमि व पश्वादि पदार्थ, जिनमें शरीर सम्बन्धी ममता कल्पी हुई हो, उनका यथा-शक्ति दान, यह आर्थिक त्याग कहलाता है।

(२) शरीर को यथाशक्ति दूसरों की सेवा में लगाना और अपने से वयोवृद्ध, वर्णवृद्ध, आश्रमवृद्ध विद्यावृद्ध और ज्ञानवृद्ध पुरुषों को नमन करना; यह शारीरिक त्याग कहा जाता है।

(३) सच्छास्त्रों का विचार और वाणी द्वारा दूसरों को धर्मपथ व सत्पथ पर आरूढ़ करने के लिये उपदेश तथा पथ-प्रदर्शन करना, यह वाचिक-त्याग कहलाता है।

(४) मन द्वारा भगवत्-चिन्तन, शुभविचार, मनोनिरोध, दूसरों का हित-चिन्तन, आहार-विहार की सरलता तथा काम-क्रोधादि दुर्वृत्तियों का त्याग यह मानसिक-त्याग कहा जाता है।

पहले त्याग से दूसरा, दूसरे से तीसरा और तीसरे से चौथा अधिक महत्त्वशाली और धार्मिक हुआ करता है। जीव-विकास तथा त्याग के पृथक्-पृथक् सोपानों का वर्णन हमारे द्वारा 'आत्मविलास'* ग्रन्थ में विस्तार पूर्वक किया गया है, जिनको जिज्ञासा हो वे वहाँ देखें।

विचार से देखिये तो त्यागने योग्य जो यह सम्पूर्ण संसार-बन्धन है इसको तीन भागों में ही विभक्त किया जा सकता है—(१) अहन्ता, (२) ममता और (३) स्वार्थ। प्रथम जब अपने देह में अहन्ता-बुद्धि होती है, उसके बाद ही देह संबन्धियों में ममता होती है। और जब इस प्रकार अहंता-ममता दृढ़ होती है, तब भोग-दृष्टि को प्रमुख देकर स्वार्थों का प्रवाह बढ़ता है। यद्यपि इस प्रकार अहन्ता से ही ममता और स्वार्थ बढ़ते हैं, परन्तु काटने के लिये तो पहले ही अहन्ता नहीं काटी जा सकती, किन्तु उसके लिये तो विपरीत मार्ग ही पकड़ना पड़ेगा। अर्थात् काटने के लिये प्रथम स्वार्थ को ही काटना चाहिये। धार्मिक मर्यादा के अधीन स्वार्थ-त्याग से ममता शिथिल पड़ती है। ममता शिथिल पड़ने पर ही ममता काटी जा सकती है। फिर ममता-त्याग से अहन्ता शिथिल पड़ती है, और उसके बाद ही अहन्ता समूल काटी जा सकती है। जिस प्रकार यद्यपि मूल से ही वृक्ष का विस्तार होता है, परन्तु वृक्ष को समूल निकालने के लिये तो प्रथम वृक्ष के टहनी पत्ते और तनों को काटना जरूरी है, डाली और तनों को काटे बिना ही मूल नहीं निकाली जा सकती। इसी प्रकार अधिकारानुसार प्रथम स्वार्थ तत्पश्चात् ममता और अहन्ता को काटना, यही मुख्य धर्म है। स्वार्थ को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) अपने स्वार्थ के लिये दूसरों के स्वार्थ को काटना, (२) अपने और दूसरों के स्वार्थों की एकता रखनी। दूसरे प्रकार के स्वार्थ को अंगीकार करने के बाद ममता और अहन्ता काटने के लिये तो जो सोपान-क्रम है, वह हम 'ममता का सच्चा साधन क्या' इस लेख में सविस्तार वर्णन कर आये हैं। अपने-अपने अधिकारानुसार उनका आचरण धर्मरूप ही है। परन्तु जो अपने स्वार्थ बिना ही दूसरे के स्वार्थों को कुचलने के पीछे पड़े हुए हैं, ऐसे पामर पुरुषों और जो अपने अनुचित स्वार्थ के लिये दूसरों के स्वार्थों को काटने में तत्पर हो रहे हैं ऐसे निषिद्ध सकामी पुरुषों का व्यवहार तो केवल अधर्मरूप ही है और उनकी सभी चेष्टाएँ लोक-परलोक से भ्रष्ट करने वाली हैं। ऐसे पुरुषों के लिये ही राजनीति और राज-दण्ड का विधान रचा गया है, जिससे ऐसे पुरुषों को राज-दण्ड के अधीन पामर और निषिद्ध सकाम-कोटि से निकालकर शुभ-सकाम-कोटि में आरूढ़ किया जा सके। शुभ-सकाम-कोटि में आरूढ़ होने के बाद तो प्राकृतिक विधान स्वयं ही किसी कष्ट के बिना वरन् उत्साह पूर्वक ममता और अहन्ता के त्याग के मार्ग में लगाता है। इसलिये यह माना जा सकता है कि जो राजनीति अपने राज-दण्ड से अपनी प्रजा को पामर और निषिद्ध सकाम कोटि से निकाल कर ममता और अहन्ता-त्याग के

* यह पुस्तक भ० गणपतराम-गंगाराम शर्राफ, नया बाजार, अजमेर तथा मुमुक्षु आश्रम शाहजहाँपुर से प्राप्त हो सकती है।

पथ पर चला सके, वही धार्मिक-राजनीति है। इसके विपरीत जो राजनीति केवल विषय-भोग को ही मुख्यता प्रदान करके खोटी व्यवहारिक समता को ही प्रधानता देती है, वह तो कदापि धार्मिक राजनीति नहीं कही जा सकती, क्योंकि धार्मिक-प्रवृत्ति केवल मोक्ष के लिये ही है। प्रथम अपनी धार्मिक-प्रवृत्ति से ही हम विषय-प्रवृत्ति को मर्यादा में रख सकते हैं और उसके उपरान्त विषय-प्रवृत्ति से छूट कर अपने मोक्ष-मार्ग में प्रवृत्त हो सकते हैं। इसके विपरीत जो राजनीति धार्मिक-मर्यादाओं को भंग करके विषय-भोग के लिये अपनी प्रजा को बन्धन हीन बनाती है और विषय-भोग की समता को ही खरी समता मान बैठती है, वह तो महान् अनर्थकारी ही कही जायगी, इसमें सन्देह ही क्या ? ऐसी राजनीति अपनी प्रजा में शान्ति-स्थापन करने के स्थान पर घोर अशान्ति के ही बीज मुक्त-हस्त होकर बोती है। इस प्रकार की राजनीति को समय स्वयं ही शिक्षण देगा और उसे स्वयं ही समझना पड़ेगा, क्योंकि प्रकृति-राज्य में सभी चेष्टाओं का लक्ष्य साक्षात् अथवा परम्परा से एकमात्र शान्ति ही माना जाता है। इसलिये यह विषय स्पष्टतया मानना पड़ता है कि 'राजनीति' और 'धर्म' पृथक्-पृथक् नहीं किये जा सकते, किन्तु राज-दण्ड से धार्मिक-मर्यादाओं को पोषण करने के लिये ही राजनीति है। इसलिये जो राजनीति अपनी प्रजा को खान-पानादि की सुविधा देते हुए, धर्मानुकूल श्रेयः-पथ पर चला सकती है, वही खरी राजनीति कही जा सकती है और वही अपनी प्रजा में खरी शान्ति स्थापित करने में सफल हो सकती है। श्रीमद्भागवत में सूत जी शौनकादि ऋषियों को यही सिद्धान्त समझाते हैं—

धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः॥
कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः॥
वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयं।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

(प्रथम स्कन्ध अ० २ श्लोक ११)

अर्थ—निश्चय ही धर्म मोक्ष के लिये है, धर्म का फल धन नहीं माना जा सकता। धन का फल एकमात्र धर्म ही है कि धन के सदुपयोग द्वारा धर्म उपार्जन किया जासके, धन के द्वारा कामरूप भोगों का संग्रह किया जाय यह फल कदापि नहीं माना जा सकता। इन्द्रियों की प्रीति करना और इन्द्रियों को पुष्ट करना—यह कामरूप भोगों का फल नहीं कहा जा सकता; किन्तु क्षुधा-पिपासादि काम के वेगों को निवृत्त करके जीवन की रक्षा करना—यही फल कहा जा सकता है। और जीवन का फल केवल तत्त्व-जिज्ञासा ही है कि तत्त्व का साक्षात्कार करके संसार-बन्धन से छूटा जाय (सांसारिक कर्मों के बन्धन में बँधकर जन्म-मरण चक्कर अपने लिये तैयार करते रहना—यह जीवन का फल नहीं)। जो वस्तु इस प्रकार साक्षात्कार के योग्य है, उसे तत्त्व-वेत्ता 'तत्त्व,' 'ज्ञान,' 'अद्वय', 'ब्रह्म', 'परमात्मा' और 'भगवान्' इत्यादि शब्दों से बोधन करते हैं।

सारांश, मानव-जीवन का लक्ष्य एकमात्र 'धर्म' ही है, इसलिये मनुष्य को उपर्युक्त रीति से भली-भाँति धर्म के तत्त्व को हृदयंगम करके उसका उपार्जन करना चाहिये और जानना चाहिये कि धर्म का प्राण एकमात्र 'त्याग' ही है, 'पकड़' तो कदापि धर्म का कोई अंग बन ही नहीं सकता और वह धर्म वर्ण-आश्रम के ऊपर ही टिका हुआ है, क्योंकि वर्णाश्रम में अधिकारानुसार त्याग ही निहित है, इसीलिये शास्त्रकारों ने वर्णाश्रम का लक्षण इस प्रकार किया है—

प्रवृत्तिरोधको वर्णो निवृत्तिपोषकश्चाश्रमः।

अर्थात् वर्ण-धर्म प्रवृत्ति को मर्यादा में रखता है और मर्यादा शून्य प्रवृत्ति का निरोध करने वाला

है। तथा आश्रम-धर्म निवृत्ति का पोषण करता है।

वर्ण धर्म तो वर्णानुसार अपनी-अपनी प्रवृत्ति को मर्यादा में रखने के लिये ही हैं, जैसा गीता अ०१८ श्लो० ४१ से ४४ में कहा गया है और प्रत्येक वर्ण में चारों आश्रम भी केवल त्याग-पथ के लिये ही हैं। आश्रम-धर्म में ब्रह्मचर्याश्रम तो त्यागपरायण रह कर वेद-विद्या के शिक्षण के लिये ही हैं, जो दूसरे तीन आश्रमों में त्याग की नींव रखनेवाला है। गृहस्थाश्रम धर्मानुकूल सिर्फ २५ वर्ष तक ही गार्हस्थ्य-प्रवृत्ति के लिये है। वानप्रस्थाश्रम तो तपप्रधान रहकर वैराग्य-सम्पादन करने के लिये है ही तथा संन्यासाश्रम साक्षात् चिज्जड़-ग्रन्थि को काटने के लिये ही है।

सारांश—वर्णाश्रम धर्म का ह्रास ही अशान्ति का मूल है। जितना-जितना यह ह्रास वृद्धि को प्राप्त होगा, उतनी-उतनी ही घोर अशान्ति की वृद्धि होनी भी निश्चित है। और जितना यह धर्म मर्यादा में रक्खा जायगा, उतना-उतना ही शान्ति का प्रसार होना निश्चित है। क्योंकि शान्ति का मूल 'त्याग' अशान्ति का मूल 'कामना' ही सिद्ध हुआ है। जब कुछ भी पकड़ बैठने के लिये है हो नहीं, तब यह वर्णाश्रम धर्म ही सच्चा और खरा कम्यूनिज्म का प्राण है। यही खरी समता का मूल और यही चिज्जड़-ग्रन्थि काटने की चाबी है। इसका अनुसरण किये बिना ही यह चिज्जड़-ग्रन्थि काटी जा सकेगी, अथवा समता व कम्यूनिज्म सफल होगा, यह कदापि नहीं माना जा सकता। जबकि उपर्युक्त रीति से वर्णाश्रम-धर्म के अनुसार कुछ भी पकड़ बैठने के लिये नहीं है, किन्तु धन-धाम व कुटुम्बादि सभी कुछ त्याग करने के लिये ही हैं, तब कहना चाहिये कि लोक-परलोक अर्थात् व्यवहार व परमार्थ की खरी समता और खरा कम्यूनिज्म इस वर्णाश्रम के खरे आचरण के आधार पर ही टिका हुआ है, यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। तथा समता व कम्यूनिज्म के मूल में जो शान्ति ढूँढी जा रही है, वह एकमात्र इस वर्णाश्रम धर्म के द्वारा अनायास ही पाई जा सकती है। शान्ति के लिये दूसरा कोई भी उपाय न हुआ है और न हो सकेगा। इसके विपरीत शान्ति के लिये जिस व्यवहारिक समता और व्यवहारिक कम्यूनिज्म के पीछे हम दौड़-धूप लगा रहे हैं, उस प्रकार से वह शान्ति आज तक किसी ने पाई नहीं है और न कोई प्राप्त कर ही सकेगा। इसलिये आज नहीं तो कल हमें थककर शान्ति के लिये इस वर्णाश्रम-धर्म का अनुसरण करना ही पड़ेगा।

जाग्रति

नर-जन्म इस संसार में मिलता नहीं हर बार है।
हर बार हो सकता नहीं प्रिय विमल बुद्धि विचार है॥
बस इसलिये यदि चाहता तू सदा ही कल्याण है।
दुःख दैन्यता कलुषित विषम से सदा निशि दिन त्राण है॥
तो प्रनतप्रतिपालक प्रभू का सदा उर से ध्यान कर।
दिन रात सुन्दर प्रेम से सिय राम का गुण गान कर॥
जिससे सभी वह कष्ट कटु हैं शीघ्र ही मिट जायँगे।
बिगड़े हुए सब काम भी क्षण मात्र में बन जायँगे॥

(श्री सुन्दरलाल त्रिपाठी)

वाणी का दोष-निन्दा

(पारसमणि से)

वाणी का बारहवाँ दोष है निन्दा। यह प्रबल दोष है जो प्रायः सभी से हो जाता है। इससे तो जिसकी भगवान ही रक्षा करें, ऐसा कोई विरला पुरुष ही मुक्त रहता है। भगवान् कहते हैं कि निन्दा ऐसी बुरी चीज है कि जैसे कोई अपने बन्धु का ही माँस भक्षण करे। महापुरुष का भी कथन है कि निन्दा व्यभिचार से भी बुरी है, व्यभिचार का त्याग करने पर तो भगवान् तत्काल उसे शुद्ध कर देते हैं किन्तु निन्दा के पाप से तो तभी छुटकारा मिलता है जब उस व्यक्ति से क्षमा करा ले जिसकी कि निन्दा की हो। एक भगवत्प्रेमी ने कहा है कि एक बार मैंने महापुरुष से सर्वोत्तम उपदेश पूछा था; उस समय उन्होंने कहा—छोटे से छोटे शुभकर्म को भी अल्प न समझे। यदि किसी प्यासे को एक कटोरा जल देने का अवसर प्राप्त हो जाय तो उसे भी भगवान् का उपकार माने। सब पुरुषों के प्रति प्रसन्नता का भाव रक्खे तथा किसी की भी निन्दा न करे। निन्दा का लक्षण यह है कि बात भले ही सच्ची हो, किन्तु यदि उससे किसी के हृदय को दुःख पहुँचता है तो उसे कहना निन्दा के ही अन्तर्गत है। जैसे किसी लम्बे से 'लम्बा' काले से 'काला' अथवा अन्धे से 'अन्धा' कहा जाय तो यह निन्दा ही मानी जानी जायगी। अथवा किसी छोटी जाति के पुरुष से उसकी जाति का नाम लेकर बोलना, दासीपुत्र से 'दासीपुत्र' कहना, बहुत बोलने वाले से 'वाचाल' कहना, चोर को 'चोर' कहकर पुकारना तथा किसी को नास्तिक, मूर्ख, अपवित्र, कंजूस, बेईमान, असंयमी, आलसी, गन्दा या वाचाल कहना भी निन्दा के ही अन्तर्गत है। तात्पर्य यह है कि बात चाहे ठीक ही हो तथापि जिसे सुनकर उसके चित्त में संताप हो, वह उस व्यक्ति की निन्दा ही होगी। इस विषय में महापुरुष की सहधर्मिणी का कथन है कि एकबार मैंने एक स्त्री के विषय में कहा था कि वह बौनी है। इसपर महापुरुष ने कहा कि ऐसा कहकर तुमने उसकी निन्दा की है, तुम तुरन्त थूक दो। किन्तु जब मैंने थूका तो मेरे मुख से खून निकला।

फिर भी कुछ स्थूलबुद्धि पुरुषों का आग्रह है कि दुष्कर्मियों की बुराई करना निन्दा नहीं है, क्योंकि ऐसा करने से धर्म की वृद्धि होती है। किन्तु उनका यह कथन ठीक नहीं। अथवा यदि कोई ऐसा ही अवसर आजाय कि वहाँ किसी का दोष बताने से उसका हित होता हो तो ऐसा कर सकते हैं, किन्तु बिना प्रयोजन वैसा कहना उचित नहीं। साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिये कि निन्दा केवल वाणी से ही नहीं होती, अपितु नेत्र, हाथ या किसी भी अंग से संकेत करके यह दिखाने से भी कि अमुक व्यक्ति ऐसा है, हो सकती है। यह भी त्याज्य है। तथापि किसी का नाम न लेकर यदि ऐसा कहा जाय कि किसी व्यक्ति ने ऐसा काम किया है तो यह निन्दा नहीं कहलाती।

परन्तु कोई कोई विद्वान् और तपस्वी तो महापुरुषों की निन्दा करके भी कहते हैं कि हमने नहीं की। वे अपनी गोष्ठी में बैठकर चर्चा करते हैं —"भाई यह माया बड़ी ठगिनी है, इसके छल से छूटना बड़ा कठिन काम है। इसी से देखो, अमुक व्यक्ति यद्यपि था तो बड़ा ही सज्जन तथापि माया के अमुक चाल में फँस गया। सो, उसे क्या दोष दिया जाय, हम-तुम भी तो माया से छले ही हुए हैं। वास्तव में यह माया ऐसी ही दोषरूप है।" इस प्रकार के कथन का अभिप्राय प्रायः अपनी निन्दा के व्याज से दूसरे की निन्दा करना होता है; यह बड़ी भूल

की बात है। यदि कोई व्यक्ति आकर इन लोगों से कहता है कि अमुक व्यक्ति से यह अपकर्म हो गया तो यह बड़े आश्चर्यचकित होकर कहते हैं "भगवान् क्षमा करें, यह तो बड़ी असंभव सी बात हो गयी जो ऐसा गुणी आदमी भी माया के छल में फँस गया"। किन्तु ऐसा कहने में उनका अभिप्राय यही रहता है कि इस संवाद को सुनाने वाला पुरुष उत्साहित होकर इसका सविस्तार वर्णन करे और हम सब लोग उसे ध्यान देकर सुनें। अथवा कभी वे ऐसा कहते हैं—'भाई, भगवान् से सब प्रकार डरना चाहिये। अभिमान करना किसी भी अवस्था में ठीक नहीं है। देखो, अमुक पुरुष कैसा सज्जन था, फिर भी वह माया के जाल में पड़ गया। भगवान् उसकी रक्षा करें।" इस प्रकार यद्यपि मुख से तो वे ऐसी सहानुभूतिपूर्ण बातें कहते हैं, किन्तु उनका उद्देश्य यही होता है कि सब लोगों को उस व्यक्ति के अधःपतन का पता लग जाय। यह सब निन्दा के ही अन्तर्गत है और ऐसा महान कपट है कि दम्भपूर्वक अपने को सर्वथा अनिन्द्य प्रकट करना चाहता है। ऐसे व्यक्ति को दो पाप लगते हैं— (१) निन्दा और (२) कपट। किन्तु मूर्ख समझता है कि मैंने निन्दा नहीं की। यह बात तो प्रसिद्ध ही है कि निन्दा करने वाला और निन्दा सुनने वाला दोनों समानरूप से पाप के भागी होते हैं। किन्तु जब निन्दा सुनने वाले के चित्त में ग्लानि रहे और वह निन्दक को रोकने का सामर्थ्य न रखता हो तो ऐसी स्थिति में उसे निन्दा सुनने का दोष नहीं लगता। अतः जिज्ञासु को उचित है कि यथासम्भव निन्दक को निन्दा करने से रोक दे।

इसके सिवा जैसे मुख से निन्दा करना पाप है उसी प्रकार हृदय से भी निन्दा करना पापरूप ही है। किसी के दोष को चित्त में स्मरण करना—यह हृदय से निन्दा करना कहलाता है, यह भी बहुत बड़ा पाप है। इस विषय में महापुरुष का कथन है कि दूसरे का द्रव्य (धन) चुराना, किसी की हिंसा करना और किसी के विषय में बुरा अनुमान करना—ये तीनों बहुत बड़े पाप हैं। किन्तु यदि ऐसा कोई संकल्प अकस्मात् फुर आवे और तुम उसे बुरा समझकर निवृत्त करने का प्रयत्न भी करो तो, तुम्हें उसका पाप नहीं लगेगा। इसकी यही परीक्षा है कि जब तुम्हारे चित्त में किसी के दोष का संकल्प स्फुरित हो अथवा तुम किसी के मुख से वैसी बात सुनो, तो फिर उसके हृदय में ही वह बात लीन हो जाय। उस समय तुम्हें यही सोचना चाहिये कि जिस प्रकार मेरे मन में अनेक पाप उठते रहते हैं वैसे ही अन्य मनुष्यों का भी सर्वथा निष्पाप होना बहुत कठिन है। और जिस प्रकार मैं अपने पापों को छिपाना चाहता हूँ उसी प्रकार मुझे दूसरे के पापों को भी प्रकट नहीं करना चाहिये। तथा मैं किसी के दोषों को स्पष्ट जान ही लूँगा तो उससे मुझे क्या लाभ होगा? अतः उन्हें जानने का प्रयत्न करना व्यर्थ ही है। हाँ, यदि तुम्हें किसी के भी कोई दोष निश्चित रूप से मालूम हो जायँ तो उसे तुम्हें एकान्त में नम्रतापूर्वक समझा देना चाहिए, किसी के भी आगे उसके छिद्रों का वर्णन नहीं करना चाहिए।

याद रक्खो, निन्दा की अभिलाषा भी मनुष्य के हृदय का एक रोग है। अतः इसका उपाय करना भी बहुत आवश्यक है। यह उपाय दो प्रकार का है। इनमें पहला उपाय सार्वभौम है अर्थात् वह सब प्रकार की निन्दा निवृत्ति को नष्ट करने में समर्थ है। उसके भी दो भेद हैं—प्रथम तो यह कि निन्दा का निषेध करने के लिये महापुरुष ने जो जो वचन कहे हैं उनका बार-बार विचार करे और ऐसा समझे कि निन्दा करने वाले के सम्पूर्ण शुभकर्मों का फल उसी को प्राप्त होता है जिसकी कि वह निन्दा करता है। इस प्रकार निन्दक पुरुष सर्वथा पुण्यहीन रह जाता है। महापुरुष का कथन

है कि जैसे अग्नि सूखी घास को भस्म कर डालती है वैसे ही निन्दा से सम्पूर्ण सुकृत तत्काल नष्ट हो जाते हैं। दूसरा भेद यह है कि अपने अवगुणों का विचार करे और ऐसा समझे कि जिस प्रकार मैं अवगुणों के अधीन हूँ वैसे ही और मनुष्य भी उनसे सर्वथा शून्य नहीं हो सकते; क्योंकि भगवान् की माया अत्यन्त प्रबल है। यदि किसी को अपना अवगुण दिखाई न दे तो समझना चाहिये कि यह अवगुण न दीखना ही बहुत बड़ा अवगुण है। और यदि वास्तव में कोई पुरुष सर्वथा निर्दोष और गुणसम्पन्न हो तब तो उसे भगवान् का उपकार मानकर धन्यवाद देना चाहिये और निन्दा से दूर रहना चाहिये। तथा यह समझना चाहिये कि यदि मैं किसी की निन्दा करूँगा तो वह भी भगवान् की ही निन्दा होगी, क्योंकि सबको उत्पन्न करने वाले तो वे ही हैं। अतः जैसे कारीगरी की निन्दा करने से कारीगर की ही निन्दा होती है; उसी प्रकार मनुष्यों की निन्दा करने से भी भगवान् की ही निन्दा होती है। इस प्रथम उपाय के ये दो भेद समग्र रूप से सभी प्रकार की निन्दा से मुक्त कर देने वाले हैं। दूसरे उपाय के कई भेद हैं, उनको निन्दा के विभिन्न कारणों को दृष्टि में रखकर प्रयोग किया जा सकता है। अतः पहले जिज्ञासु को यह विचारना चाहिये कि मैं निन्दा क्यों करता हूँ। निन्दा के ऐसे आठ कारण होते हैं। उनके अनुसार उनकी निवृत्ति के भी भिन्न-भिन्न उपाय हैं। आगे हम उनका पृथक्-पृथक् विवेचन करते हैं—

१—निन्दा का प्रथम कारण क्रोध है। जब यह मनुष्य पर कुपित हो जाता है तो उसकी निन्दा करना चाहता है। जब ऐसा हो तो जिज्ञासु को विचारना चाहिये कि दूसरे पर क्रोध करने की अपेक्षा अपने को नरकगामी करना तो बड़ी मूर्खता की बात है। यदि वह भली प्रकार विचार करेगा तो उसे मालूम होगा कि अपनी ऐसी प्रवृत्ति के लिये तो उसे अपने पर ही क्रोध करना चाहिये। इस विषय में महापुरुष का भी कथन है कि जब यह पुरुष भगवान् की प्रसन्नता के लिये अपने क्रोध को शान्त कर लेता है, तब इस पर प्रभु कृपा करते हैं।

२—जब यह पुरुष किसी को निन्दा करते देखता है तो उसकी प्रसन्नता के लिये स्वयं भी निन्दा करने लगता है। इस प्रवृत्ति को दूर करने का यह उपाय है कि इसे ऐसा विचार करना चाहिये कि ऐसा करके मैं लोगों की प्रसन्नता के लिये भगवान् को अप्रसन्न कर देता हूँ यह कैसी मूर्खता है? अतः जिज्ञासु को चाहिये कि निन्दक पुरुष को देखकर रोष धारण करे और उसके संग से दूर रहे।

३—जब इस पुरुष का कोई छिद्र प्रकट हो जाता है तो यह उसका दोष दूसरों के मत्थे रखने का प्रयत्न करने लगता है और अपने को बचाना चाहता है। यह भी अनुचित ही है। इसे याद रखना चाहिये कि मेरी किसी चतुराई के कारण भगवान का रोष निवृत्त नहीं हो सकता। तथा मैं जिस अभिमान से बचने के लिये यह चतुराई करता हूँ उसकी अपेक्षा प्रभु का क्रोध अत्यन्त तीक्ष्ण है और उसका मूल कारण अपने किसी अपराध का दोष दूसरे के मत्थे रखना ही है। इसके सिवा यदि कोई पुरुष अपने अपराध को दबाने के उद्देश्य से दूसरे के अपराधों का वर्णन करने लगता है तब यह उसकी मूर्खता ही होती है। जैसे यदि कोई कहे कि अमुक पुरुष भी अशुद्ध जीविका करता है और राजा का अन्न भी स्वीकार कर लेता है, इसीसे मैं भी ऐसा करता हूँ। तो उसका यह सोचना बड़ी मूर्खता की बात है। क्योंकि किसी मनुष्य का मलिन कर्म देखकर स्वयं भी मलिनता में विचारना अनुचित ही है। किसी को आग में जलते देखकर स्वयं भी अग्नि में प्रवेश करना उचित तो नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार

पापी को देखकर पाप में प्रवृत्त होना अनुचित ही है।

४—कोई लोग अपनी स्तुति के लिये दूसरों की निन्दा किया करते हैं। यदि कोई कहता है कि अमुक पुरुष शास्त्र-वाक्यों का तात्पर्य नहीं समझता तथा अमुक व्यक्ति पाखण्ड नहीं छोड़ता, तो इसका यही तात्पर्य होता है कि मैं बड़ा समझदार और पाखण्डशून्य हूँ। सो, ऐसी प्रवृत्ति भी ठीक नहीं। ऐसे पुरुष को समझना चाहिये कि बुद्धिमान पुरुष तो तुरन्त मेरे कपट को पहचान लेगा और वह मेरी निष्कामता में कभी विश्वास नहीं करेगा। तथा जो पुरुष स्वयं ही मूर्ख है उसकी प्रीति या प्रतीति से मुझे लाभ ही क्या हो सकता है। अतः यह भी मेरी बुद्धिहीनता ही है कि मैं भगवान् के प्रति तो अपने को लज्जित करता हूँ और पराधीन जीवों में अपना मान बढ़ाना चाहता हूँ।

५—निन्दा का पाँचवाँ कारण ईर्ष्या है। जब किसी व्यक्ति का धन और मान बहुत बढ़ जाता है तो ईर्ष्यालु पुरुष उसका उत्कर्ष सहन नहीं कर सकता। इसलिये वह उसके अवगुण ढूँढने लगता है और उससे वैर ठान लेता है। किन्तु वह मूर्ख ऐसा नहीं समझता कि इस प्रकार तो मैं अपने से ही शत्रुता कर रहा हूँ, क्योंकि ऐसा करने से वह इस लोक में तो ईर्ष्या की अग्नि में जलता रहेगा और परलोक में निन्दा आदि पापों के कारण दारुण यातनायें भोगेगा। अतः ऐसा पुरुष दोनों लोकों के सुखों से वञ्चित रहता है। वह मूर्ख इतना भी नहीं समझता कि प्रभु की इच्छा से जिसे धन और मान मिले हैं, मेरे ईर्ष्या करने से उसकी क्या हानि हो सकती है?

६—जिनका हँसी का स्वभाव होता है उनसे भी निन्दा हो जाती है। वह यह नहीं समझता कि मैं हँसी करके किसी व्यक्ति को जितना लज्जित करता हूँ उतना ही मुझे भी भगवान् के सामने लज्जित होना पड़ेगा। यदि वह यह जान जाय कि निन्दा और हँसी करने से परलोक में मेरी ऐसी दुर्गति होगी तो फिर ऐसी क्रिया कदापि न करे।

७—किन्हीं मनुष्यों का सात्त्विकी हृदय किसी का कोई अवगुण देखता है तो विषाद करने लगता है। ऐसी स्थिति में उसकी चर्चा करते हुए यदि उसका नाम भी निकल जाय तो यह एक प्रकार से निन्दा ही हो जाती है। ऐसे लोगों को समझना चाहिए कि यद्यपि अपने हृदय की कोमलता के कारण वे दयावश उस व्यक्ति में कोई दोष नहीं देखना चाहते, तथापि उसका नाम प्रकट कर देने से वे उस दया के पुण्य से वंचित रह जाते हैं।

८—कोई पुरुष यद्यपि धर्मनिष्ठ होने से ही किसी में कोई अवगुण नहीं देखना चाहता। किन्तु यदि वह अपने को शुद्ध समझकर दूसरे का कोई छिद्र मालूम होने पर आश्चर्य प्रकट करता है और यह सोचकर कि उसने ऐसी अवज्ञा क्यों की, विस्मय प्रकट करते हुये दूसरे लोगों के आगे नामोल्लेख करके उसकी त्रुटि प्रकट कर देता है तो वह भी अनुचित ही है और प्रायः निन्दा ही के समान है। अतः किसी की कोई त्रुटि देखकर आश्चर्य नहीं करना चाहिये तथा विनम्र ही रहना चाहिये।

याद रक्खो, निन्दा भी झूठ की तरह ही एक महापाप है। अतः किसी अत्यन्त आवश्यक कार्य के बिना निन्दा कभी नहीं करनी चाहिये। इसलिये अब मैं उन्हीं कार्यों का वर्णन करता हूँ जिनमें निन्दा करना भी उचित माना जा सकता है।

१. यदि किसी ने इसे कष्ट पहुँचाया हो अथवा इसका धन लूट लिया हो और इसे उसके विषय में किसी से शिकायत करनी हो तो वह बिना निन्दा किये तो हो ही नहीं सकती। तो भी जिस पुरुष से कहने पर किसी प्रकार की सहायता मिलनी सम्भव न हो उससे उसकी निन्दा नहीं करनी चाहिये।

२. जब किसी स्थान पर कोई पाप होता दिखाई दे और ऐसा जान पड़े कि यदि इसे प्रकट नहीं किया जायगा तो यह बढ़ता ही जायगा, तो ऐसी स्थिति में किसी ऐसे ऐश्वर्यमान् व्यक्ति से उसे प्रकट करे जिसके भय से वह पाप नष्ट हो जाय।

३. यदि कोई धर्मात्मा पुरुष किसी नास्तिक या अनाचारी का संग करता हो तो उसे उसके दोष बता देने चाहिये, क्योंकि उसकी ओर से असावधान रहने पर उस धर्मात्मा की हानि हो सकती है। इसी पर महापुरुष ने भी कहा है कि तीन प्रकार के मनुष्यों की निन्दा करने में पाप नहीं होता—(१) अन्यायी राजा, (२) सन्तों की मर्यादा के विपरीत चलने वाला नास्तिक और (३) प्रसिद्ध दुराचारी। इनकी कोई क्रिया गुप्त तो होती ही नहीं, अतः उसे कह देने में निन्दा का दोष नहीं होगा।

४. जब लोगों में किसी का नाम उसके अंगभंग आदि की दृष्टि से ही प्रसिद्ध हो, जैसे—सूरदास, मन्दहष्टि, कोढ़ी अथवा बहिरा आदि तो उसे उसी प्रकार सम्बोधन करना भी निन्दा या पाप नहीं है। ऐसा कहने से वह स्वयं भी अप्रसन्न नहीं होता। किन्तु यदि इसे भी किसी दूसरे नाम से पुकारे तो और भी अच्छा हो।

५. कोई लोग स्पष्ट ही निर्लज्ज होते हैं, जैसे—नपुंसक, नर्तक और मद्यप आदि; इन्हें कोई लज्जा तो होती ही नहीं। अतः अपनी करनी की बात सुनकर ये लज्जा भी नहीं मानते। इसलिये संयोगवश इनकी चर्चा हो जाने पर भी निन्दा का दोष नहीं होता। निन्दा तो वही होती है जिसे सुनकर दूसरे के हृदय में ताप हो।

अतः भगवत्प्रेमी पुरुषों को चाहिये कि जब इससे कोई अपराध बन जाय तो तुरन्त ही उसे क्षमा करावे तथा अपने पाप का प्रायश्चित्त करले। महापुरुष ने भी कहा है कि इसीलोक में अपने पापों को क्षमा करा लो, क्योंकि परलोक में जब हमें उनका विशेष दण्ड मिलेगा तब हमारे पास उनके प्रायश्चित की कोई सामग्री नहीं होगी। इसके सिवा उनके एक वचन में यह भी आया है कि जिस पुरुष की इसने निन्दा की हो उसके निमित्त भगवान् से प्रार्थना करके उससे क्षमा माँगे। पर कुछ मनुष्यों ने इस बात पर विशेष जोर दिया है कि जिसकी निन्दा की हो उससे क्षमा माँगने की कोई आवश्यकता नहीं, उसकी अपेक्षा भगवान की प्रार्थना करना ही श्रेष्ठ है। किन्तु यह बात ठीक नहीं, भगवान् के ही आगे प्रार्थना करना तो तब ठीक हो सकता है जब वह व्यक्ति जीवित न हो, अथवा बहुत दूर हो। किन्तु जब वह मिल सकता हो तब तो नम्रता और दीनता सहित उसीसे क्षमा माँगना अच्छा है। ऐसा करने पर भी यदि वह क्षमा न करे तब तो उसीको पाप होता है।

* सुमति के दोहे *

जड़ताई मति की हरत, पाप निवारत अंग।
कीरति सत्य प्रसन्नता, देत सदा सत्संग॥

कबिरा संगति साधु की, नित प्रति कीजै जाय।
दुर्मति दूर बहावसी, देती सुमति बताय॥

श्री सद्गुरुदेव

(वर्ष ४ अङ्क १२ से आगे)

श्री मन्जुल जी

मियाँगंज के प्रेमी भक्तों की प्रार्थना स्वीकार हुई, और आपने एकबार वहाँ चलकर सर्व साधारण को दर्शन देने का वचन दिया। श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी तथा भजनानन्द जी आदि के आनन्द का पार नहीं रहा। सचमुच जीवन में यथार्थ आनन्द का दिन वही है जब किसी जीवन्मुक्त महापुरुष के सत्संग का लाभ हो, उसमें भी परम प्रिय श्री गुरुदेव के गृह पर आगमन की बात हो *"पावा परम तत्व जनु योगी। अमृत लहेउ जनु संतत रोगी।।"* अथवा *"जन्म रंक जनु पारस पावा"* के समान है।

समस्त शिष्य मंडली आनन्द मग्न हो गई। श्री शुकदेवानन्द जी ने गाँव में आकर अपने समस्त प्रेमियों को यह सुखद संदेश सुनाया। सभी सहयोगियों के मन-मयूर प्रसन्नता से नाच उठे। पूज्य सद्गुरुदेव के शुभागमन पर क्या क्या होना चाहिये, उनका स्वागत कैसे किया जावे? उनका प्रवचन उपदेश कब, कहाँ होना चाहिये? इत्यादि बातों पर बहुत गम्भीरता से विचार विनिमय होकर कार्यक्रम निश्चित किया गया। सारे ग्राम के प्रमुख मार्गों में प्रायः समस्त गृह लीप-पोत कर स्वच्छ किये गये; उनकी दीवारों पर गेरू से चुनी हुई चौपाइयाँ और दोहे लिख दिये गये। किसी दीवार पर *"चितवत पंथ रहेउँ दिनराती, अब प्रभु देखि जुड़ानी छाती।"* लिखा गया तो किसी दीवार पर *"नाथ सकैल साधन मैं हीना, कीन्हीं कृपा जानि जन दीना।"* अंकित कर दिया गया। पंडाल की भूमि समतल करके सुन्दर बना दी गई। घर-घर में *"वन्दनवार पताका केतू, सबन्हि बनाये मंगल हेतू।"* भली भाँति सजा दिये गये।

श्री स्वामी भजनानन्द जी को गुरुदेव के लाने का कार्य सौंपा गया। इधर जब स्वागत की तैयारी होगई, तब श्री भजनानन्द जी आपको लेने के लिये सराय प्रयाग भेजे गये, उन्होंने यथा समय पहुँच कर आप से चलने की प्रार्थना की। सहज स्वभाव से आप तत्काल ही चल पड़े। इधर आपके आगमन के ठीक एक घंटा पूर्व श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी अपने समस्त सहयोगी प्रेमियों और ग्रामवासियों को लेकर घंटा, शंख, घड़ियाल आदि मंगलवाद्य बजाते हुये ग्राम से आधा मील दूर आगे स्वागत के लिये पहुँच गये। प्रेमियों के हृदय में पल-पल पर भाव उठ रहे थे कि श्री गुरुदेव जब आयेंगे और हम उनके पावन चरणों में अपना मस्तक रखकर दंडप्रणाम करते हुए पाहिमाम् प्रभो कहेंगे, तब वे अपना वरदहस्त हमारे मस्तक पर रखकर हमें उठाते हुए कहेंगे, प्यारे! आनन्द पूर्वक हो, उस समय सचमुच वह हमारे जीवन की परम सुखमयी घड़ी होगी।

उत्सुकता पूर्वक सभी उसी ओर टकटकी लगाये देख रहे थे, सहसा गुरुदेव भगवान् का इक्का (यान) आता दिखाई दिया "श्रीगुरुदेव भगवान की जय" के गगनभेदी घोष के साथ समस्त जनसमूह उसी ओर दौड़ पड़ा। स्वामी शुकदेवानन्द जी ने पुलकित शरीर आनन्दाश्रु-पूर्ण नयनों से दौड़कर गुरुदेव के चरण पकड़ लिये, उनको उठाकर गुरुदेव ने उनके शिर पर हाथ फेरा, आशीर्वाद दिया, कुशल पूछी। उसके पश्चात् क्रमशः सभी लोगों ने हर्षोल्लास पूर्वक गुरुदेव भगवान का अभिवादन किया। सभी से यथायोग्य मिलने के पश्चात् गुरुदेव ग्राम की ओर चले, समस्त जन समूह शंख, घंटा, घड़ियाल का तुमुलनाद करता हुआ साथ-साथ चला। ग्राम में पहुँच
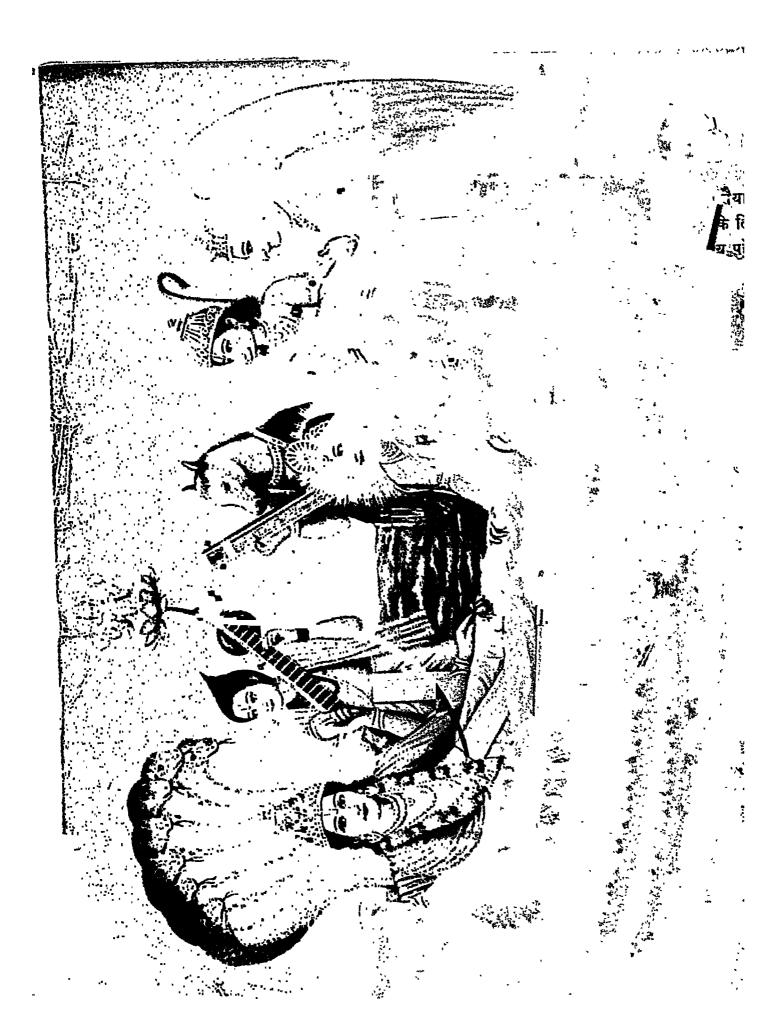
कर अट्टालिकाओं पर बैठी नारियाँ पुष्प-वर्षा करने लगीं। आगे-आगे भक्तों का समूह गद्गद् कंठ होकर "*चितवत पंथ रहेउँ दिनराती, अब प्रभु देखि जुड़ानी छाती*" आदि चौपाई गाता हुआ आगे-आगे चल रहा था। चारों ओर से मानों आनन्द का सिन्धु सा उमड़ता हुआ प्रतीत हो रहा था। धीरे-धीरे सभामंडप में सब लोग पहुँच गये। श्री गुरुदेव भगवान् को सिंहासनासीन कराया गया। सारा पंडाल खचाखच भरा हुआ था, भक्तों ने विधिवत गुरुदेव का पूजन प्रारम्भ किया। पाद्य, अर्घ्य, आचमन, पुष्प आदि समर्पण के बाद धूप-दीप आरती की गई। अन्त में प्रार्थना प्रारम्भ हुई। "आज मिले दीनानाथ हमारे" सम्पूर्ण पद इतने करुणापूर्ण प्रेम भरे शब्दों में गाया गया कि समस्त उपस्थित समाज का हृदय प्रेमरस-धार में निमग्न हो गया, सभी के नेत्रों में प्रेम-जल उमड़ आया। सजीव प्रार्थना इसी को कहते है। जिस प्रार्थना में हमारी हृत्तन्त्री के समस्त तार झंकृत न हो उठें अथवा जो रसमय ब्रह्म के "रसो वै सः" में हमें देह-गेह की विस्मृति न करा दे, सर्वतो भावेन हमें निमग्न न करादे, वह प्रार्थना वास्तविक प्रार्थना नहीं, केवल उपचार मात्र है।

हमारी प्रार्थना उस अनन्त आनन्दमय से संयोग करा देने वाली हो। हृत्तंत्री का एक एक तार करतार से मिलकर बजने लगे वही यथार्थ प्रार्थना है। इधर भक्तों की प्रार्थना समाप्त हुई, उधर आनन्द रसामृत पूर्ण घन की भाँति द्रवीभूत होकर दयालु देव ने उपदेश-वर्षा आरम्भ करदी। जिस प्रकार लघुचातक की परितृप्ति के लिये समय पर स्वाँति-घन अपनी समस्त सम्पत्ति उड़ेल देता है, उसी प्रकार गुरुदेव ने अपना अनुभूत पांडित्य- पूर्ण दिव्य उपदेश प्रारम्भ किया। लगातार कई घण्टे धारावाहिक रूप से मानव जीवन के हेतु सर्वोपयोगी प्रवचन को सुन कर श्रोता समाज चकित रह गया। जिन बातों को ग्रहण करके उसी समय से आचरण में लाते हुए प्रत्येक व्यक्ति लाभ उठा सके ऐसे उपदेशों को सुनकर लोग धन्य-धन्य कहने लगे। उपदेश समाप्त हुआ। अधिकांश श्रोता समाज में परस्पर यही चर्चा होने लगी कि ऐसे दिव्य महात्मा और इतने लाभकारी उपदेश तो जीवन में कभी मिले ही नहीं। धन्य है यहाँ का प्रेमी भक्त समाज, जिसकी कृपा से हमें यह अलभ्य लाभ मिला सचमुच ऐसे ही महापुरुषों से यह पृथ्वी सधी हुई है।

उपदेश के अन्त में सहस्रों व्यक्तियों को श्री शुकदेवानन्द जी और भजनानन्द जी की ओर से खूब प्रसाद बाँटा गया, श्री गुरुदेव अपने विश्रामस्थान पर चले गये।

लोग कहते हैं बदलता है जमाना लेकिन।
मर्द वह हैं जो ज़माने को बदल देते हैं॥

सत्संग का सुख सात्विक अन्तःकरण वालों को तो भली भाँति प्राप्त होता ही है किन्तु तमोगुणी और रजोगुणी पुरुष भी महापुरुषों के अलौकिक प्रभाव से थोड़ी देर के लिये दिव्य आनन्द में मग्न हो जाते हैं। उनका मन भी इस अपूर्व सुखोपभोग के लिये लालायित हो जाता है। इसलिये श्री नारद भक्ति सूत्र में लिखा है कि "महत्संगस्तुदुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च" महान पुरुषों का सतसंग अमोघ (अव्यर्थ) होता है। आपके उपदेश से मियाँगंज का वातावरण बदल गया। अनेक ने भाँग, चरस, गाँजा, अफीम, शराब, चोरी जुआ आदि का परित्याग कर दिया। बहुतों ने क्रोध छोड़ा, किसी-किसी ने "अखण्ड प्रफुल्लित रहो दुःख में भी" की प्रतिज्ञा की। गुरुदेव ने कई दिन तक वहाँ निवास किया श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी के ज्येष्ठ भ्राता जी श्रीमान सेठ गजाधर प्रसाद जी जो उस ओर सब से अधिक प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। आपके अनुयायी हो गये। उस दिन से आज तक वे गुरुदेव

भगवान के अनन्य भक्तों में हैं; अपनी सम्पत्ति का अधिकांश भाग साधु ब्राह्मणों की सेवा में लगाते रहते हैं। इसके अतिरिक्त बहुत से व्यक्ति आपके अनुयायी बन गये। यों तो श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी तथा भजनानन्द जी का ही समस्त धन श्री गुरुदेव भगवान् के शुभागमन, उत्सव, साधु-सन्तों की सेवा में खर्च होता रहा किन्तु प्रथम बार तो बड़ी विचित्र घटना हुई। लेखक से श्री स्वामी भजनानन्द जी ने स्वयं कहा कि जिस समय हम लोगों ने गुरुदेव भगवान को पहले-पहले अपने यहाँ बुलाया तब मेरी आर्थिक स्थिति बहुत ही निर्बल थी पूँजी में केवल पाँच रुपया शेष थे। श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी लक्षाधिप घराने के थे। उनके लिये सम्पत्ति की कमी नहीं थी किन्तु मेरे पास केवल पाँच रु० मात्र ही सम्पत्ति शेष रह गयी थी परस्पर मित्रता के नाते मैं सदैव श्री शुकदेवानन्द जी के बराबर ही खर्च में भाग लिया करता था किन्तु इस बार हृदय में बहुत खेद और चिन्ता थी कि मैं गुरुदेव भगवान् के शुभागमनोत्सव पर कुछ भी खर्च नहीं कर सकूँगा। गुरुदेव को जब मैं सराय प्रयाग लेने गया तब लौटते समय मन ही मन मैंने उनके चरणों में प्रार्थना की "गुरुदेव क्या अब की बार इस दीन को सेवा करने का कुछ भी अवसर नहीं मिलेगा? हम तो आपके हैं अपने साथ ही जब हम आपके चरणों में अपने सब कुछ समेत समर्पित हो चुके तब यह कैसे हो सकता है कि इसमें से आप कुछ भी स्वीकार न करें।" मैं मन ही मन उनके पीछे बैठा हुआ यह विचार ही रहा था कि अन्त में उन्होंने मेरी ओर देखकर मुस्करा दिया मैं समझ गया कि सेवा स्वीकार हुई। घर पर पहुँच कर मैंने उस पाँच रु० वाली सन्दूकची से आवश्यकतानुसार रुपया निकालना प्रारम्भ किया दो, चार, छः, दस, बीस, पचीस जब जितनी आवश्यकता पड़ती थी उनका ध्यान करके उसमें से निकाल लिया करता था। उत्सव के बीच में मैंने न जाने कितना रुपया निकाला अन्त में जब उत्सव समाप्त हुआ और उस सन्दूकची को खोलकर देखा तो मैंने उसमें वही पाँच रु० पड़े पाये। मैं मन ही मन हर्ष गद्गद् कण्ठ पुलकित होकर गुरुदेव भगवान् की महिमा का ध्यान करता हुआ अपने को धन्य मानने लगा। उत्सव पूर्ण हो गया गुरुदेव अपने आश्रम पर चले गये।

इस प्रकार कई बार आपका शुभ गमन मियाँगंज में हुआ। सहस्रों व्यक्तियों ने आपके दर्शन और उपदेशों से लाभ उठाया। एक बार जब आप आये थे उन्हीं दिनों एक श्री वैष्णव जी अपना सालाना कर वसूल करने के लिये आये थे ग्राम में ठहरे हुए थे। उन दिनों साम्प्रदायिकता का प्रचार इतना अधिक उन नामधारी वैष्णवों ने कर रक्खा था कि शैवों और सन्यासियों को ग्राम में कोई भिक्षा भी नहीं कराता था। आपके ग्राम में आने से उन वैष्णव महोदय के चित्त में बड़ी खलबली पड़ गई उन्हें जान पड़ा कि यह सन्यासी बाबा बड़े प्रभावशाली हैं, इनके आगे हमारी दाल नहीं गलेगी। लोग इनपर अधिक श्रद्धा करते हैं। इस तरह से हमारे शिष्य उधर कट जावेंगे, हमारी वार्षिक आय बन्द हो जावेगी, अतएव जब आप एक दिन श्रीमान सेठ गजाधरप्रसाद जी के यहाँ से भिक्षा करके उनके साथ अपने ठहरने के स्थान पर लौटे आ रहे थे 'अचानक मार्ग में वे वैष्णव जी एक दुकान पर बैठे हुए दिखाई दिये, आपने साधुता के नाते उनसे नारायण-नारायण कहा। वह आप को देखते ही आगबबूला हो गया। तत्काल ही उलटी गालियाँ बकने लगा, तू धूर्त है, यहाँ हमारे भक्तों को ठगने आया। तुझे लज्जा नहीं आती दो पैसे की गेरू लेली, कपड़े रंग लिये, बाबा बनगया, इससे तेरी अधोगति होगी, इत्यादि-इत्यादि। आप उसकी बातें सुनकर खड़े खड़े मुस्कराते रहे।

साथ के भक्तों को बहुत क्रोध आया वे लोग उसको मारने को तैयार हो गये। किन्तु आपने सबको समझा-बुझाकर रोक दिया। "तुल्यनिन्दास्तुति-मौनी सन्तुष्टोयेनकेन चित्त" तत्व के अभ्यासी आत्मस्थिति में ही मग्न रहने वाले महापुरुषों पर उसकी बातों का क्या प्रभाव पड़ सकता है ? आप आनन्दपूर्वक मुस्कराते हुए अपने स्थान पर चले गये। सभी भक्त आपकी इस अपूर्व क्षमा को देख कर चकित रह गये बदला लेने की पूर्ण शक्ति रखकर भी जो अपराधी के अपराध को सहनकर ले यही तो यथार्थ क्षमा है। आपके लोकोत्तर गुणों को देखकर ग्राम के आस पास के बहुत से प्रतिष्ठित लोग अनुयायी बन गये। आप दो दिन रहकर पुनः अपनी कुटिया पर लौट आये।

व्यवहार और परमार्थ

(श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज)

व्यवहार और परमार्थ—ये दो ऐसे मार्ग हैं जिन्हें मनुष्य पूरा भले ही तय न कर पावे किन्तु उन चलना अवश्य ही पड़ता है। देखने में दोनों मार्ग अलग अलग प्रतीत होते हैं किन्तु लक्ष्य की दृष्टि से दोनों एक ही हैं। इनके साधन अलग-अलग किन्तु फल एक। मार्ग अलग-अलग किन्तु गन्तव्य स्थान एक। कार्य अलग-अलग किन्तु परिणाम एक। इन सब बातों के होते हुए भी आज ये दोनों मार्ग इतने अलग-अलग प्रतीत होने लगे हैं कि प्रत्येक मनुष्य को इतना पूर्ण निश्चय सा हो गया है कि व्यवहार का कार्य करने वाला परमार्थ की प्राप्ति नहीं कर सकता और परमार्थ पर चलने वाला व्यवहार में सफल नहीं हो सकता। व्यवहार में फँसा व्यक्ति परमार्थ को एक आश्चर्य की दृष्टि से देखता है। उसे यह विश्वास नहीं हो पाता कि व्यवहार में लगा व्यक्ति परमार्थ-मार्ग पर पूर्णतया चल सकता है। परमार्थ का ग्रहण करने के लिये उसे यदि कोई महापुरुष प्रेरित करता है तो उसके सामने एक बड़ी भारी समस्या सी उठ खड़ी होती है। वह उसे असम्भव सा मानने लगता है। उसी प्रकार परमार्थ पर चलने वाला व्यक्ति व्यवहार से सदा दूर ही रहना पसन्द करेगा। उसे व्यवहारिक जीवन अखरने सा लगता है। व्यवहार में पड़ जाना ही उसके लिये एक समस्या बन जाती है। किन्तु हमें देखना यह है कि दोनों लक्ष्य से किस प्रकार एक हैं तथा दोनों पर चलते हुए हम किस प्रकार अपने जीवन में शान्ति व सुख की प्राप्ति कर सकते हैं।

प्रत्येक प्रकार के व्यवहार का शिक्षण-केन्द्र समाज है। यदि समाज है तो व्यवहार है और व्यवहार है तो समाज है। दोनों एक दूसरे पर आश्रित हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रत्येक मनुष्य व्यवहारिक परिस्थितियों से पूर्ण समाज में जन्म लेता है और वहीं विकास पाता है। इस प्रकार बड़ा होने पर उसके सामने सर्वप्रथम व्यवहारिक मार्ग ही आता है और उसी पर उसे चलना सिखाया जाता है। इस अवस्था में उसे परमार्थ नाम का कोई मार्ग दिखलाई नहीं पड़ता किन्तु यह कहना कठिन है कि परमार्थ-मार्ग उससे दूर है। परमार्थ-मार्ग व्यवहार-मार्ग का रूपान्तर मात्र है। अधिकांशतः लोग यह समझते हैं कि व्यवहार और परमार्थ के बीच में एक बहुत बड़ी खाई है जो दोनों को एक दूसरे से अलग

करती है किन्तु वास्तव में वे दोनों इतने मिले हुए हैं कि एक पर चलने से दूसरे का रास्ता स्वयमेव तय होने लग जाता है।

यदि आज किसी व्यक्ति को परमार्थ का उपदेश किया जाता है तो वह समाज और व्यवहार को दोष देने लगता है। वह समझता है कि समाज और व्यवहार में रहते हुए परमार्थ होना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव है किन्तु ऐसा सोचना बड़ी भारी भूल है। परमार्थ के अर्थ लोग न जाने क्या क्या सोचने लगते हैं। व्यवहार में लगे लोगों के लिये तो यह एक समस्या बन जाती है। किन्तु वास्तव में परमार्थ एक गन्तव्य स्थान है जिसे प्राप्त करने पर मनुष्य को सुख और शान्ति की उपलब्धि व अनुभव होता है। परमार्थ का लक्ष्य है शान्ति की प्राप्ति। परमार्थ की प्राप्ति और शान्ति की प्राप्ति एक ही वस्तु है। परमार्थ की प्राप्ति के लिये साधन किया जाता है। परमार्थ स्वयं कोई की जाने वाली वस्तु नहीं है। इस प्रकार हम समझ सकते हैं कि परमार्थ की सिद्धि के लिये केवल साधन की आवश्यकता है। ये साधन व्यवहार में भी उपलब्ध हो सकते हैं। समाज में रहते हुए भी ये साधन किये जा सकते हैं। इन साधनों के अनेक रूप हैं अनेक मार्ग हैं, अनेक भेद हैं। किन्तु सबसे सरल साधन है व्यवहार। व्यवहार के द्वारा परमार्थ की सिद्धि सरलता से हो सकती है किन्तु वह व्यवहार किस प्रकार होना चाहिये यह जान लेने की परम आवश्यकता है। व्यवहार में स्वयं कोई बुराई नहीं होती किन्तु जिस प्रकार मेघों से गिरा हुआ शुद्ध व स्वच्छ जल मिट्टी के संयोग से गंदा हो जाता है इसी प्रकार स्वार्थ के संयोग से वह व्यवहार भी अशुद्ध हो जाता है। यहीं पर व्यवहार दो रूपों में हो जाता है शुद्ध और अशुद्ध। अशुद्ध व्यवहार से स्वार्थ की क्षणिक पूर्ति भले ही हो जावे किन्तु परमार्थ की प्राप्ति तो कदापि हो ही नहीं सकती और इसके विपरीत शुद्ध व्यवहार से परमार्थ की प्राप्ति तो सरल होती ही है साथ ही स्वार्थ की भी सिद्धि हो जाती है। परमार्थ में कोई बुराई नहीं होती। वह तो शुद्ध है ही हमारा व्यवहार ही बिगड़ा है। व्यवहार के अशुद्ध होने से ही परमार्थ की प्राप्ति हमारे लिये एक बड़ी भारी समस्या बन जाती है यदि हमारा व्यवहार शुद्ध रहे तो सुख और शान्ति रूप परमार्थ तो स्वयं ही प्राप्त हो जावेगा। शुद्ध व्यवहार की सबसे सुन्दर पहचान यह है कि—वह व्यवहार जिसमें स्वार्थ की सिद्धि के साथ-साथ दूसरों को भी लाभ हो और हमारे व्यवहार से उन्हें भी प्रसन्नता की प्राप्ति हो तथा वे भी हमारे व्यवहार से अपने को उन्नत बना सकें—यही शुद्ध व्यवहार है। आज के व्यवहार में केवल स्वार्थपरता ही रह गयी है, दूसरों को हानि भले ही हो किन्तु अपना उल्लू सीधा हो जावे। इसी कारण आज का व्यवहार बिगड़ चुका है। ऐसे व्यवहार से न अपने को और न दूसरों को ही सुख और शान्ति की प्राप्ति होती है। दोनों ही एक दूसरे के साथ अविश्वासी बनकर जीवन काटते हैं। यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति आज के युग में घोर अशान्त दिखलाई पड़ रहा है।

समाज का बहाना

आज के वातावरण में समाज का बहाना प्रत्येक व्यक्ति के हृदय तक पहुँच गया है। यह बहाना उसकी स्वयं की उन्नति में कितना घातक और बाधक है यह वह नहीं जानता। जब किसी व्यक्ति से यह कहा जाता है कि भाई अपने व्यवहार को शुद्ध बनाओ। जहाँ तक हो सके व्यवहार में छल, कपट, झूठ, मिलावट आदि न आने दो, तो झट उसका उत्तर यही मिलता है कि महाराज—सारा समाज ही बिगड़ा है, सभी ऐसा करते हैं। ऐसे व्यक्ति उन अनजान पतिंगों की भाँति हैं जो छल, कपट, झूठ आदि से पूर्ण अशुद्ध व्यवहार रूपी तेज अग्नि की

ओं में पड़कर अपने जीवन को नष्ट कर रहे हैं। उन्हें अपने को इस तीव्र अग्नि से बचाना चाहिये और बचने का एकमात्र साधन है शुद्ध व्यवहार। प्रत्येक व्यक्ति समाज को दोष देता है। समाज कोई अलग साँचे में नहीं ढाला जाता। समाज एक वस्त्र की भाँति है जिसका प्रत्येक व्यक्ति सूत के स्थान पर है। यदि वस्त्र का प्रत्येक सूत घिस गया है तो क्या एक सूत या दूसरे सूत के खराब हो जाने का बहाना करना हमारी समझ में आसकता है कदापि नहीं। इसी प्रकार आज समाज का प्रत्येक व्यक्ति स्वार्थ-सिद्धि में लगा है। प्रत्येक में झूठ, छल, कपट समा गया है। अतः प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने को ठीक बनाने का प्रयत्न करे। प्रत्येक व्यक्ति समाज की इकाई है। यदि एक-एक व्यक्ति अपने को ठीक बना लेता है तो एक दिन समाज स्वयं ही ठीक हो जावेगा इस प्रकार समाज के ऊपर दोषारोपण करना केवल बहाना मात्र है। हमें अपने को ठीक मार्ग पर चलाना चाहिये। एक आलू जब जमीन में जाकर अपने को गला देता है तो उससे बीसियों आलू उत्पन्न हो जाते हैं। और बीसियों के गलने पर हजारों की संख्या में नवीन आलू तैयार हो जाते हैं इसी प्रकार यदि व्यक्ति अपने को आदर्श बना लेता है तो दूसरे भी उसका अनुकरण करके अपने को आदर्श बनाने का प्रयत्न करने लगते हैं। अपने व्यवहार को शुद्ध करने से समाज का सुधार स्वतः होने लगता है। नीति और मर्यादा के लिये भगवान् राम का जीवन उच्चकोटि का है। शुद्ध व्यवहार के लिये युधिष्ठिर, हरिश्चन्द्र आदि का आदर्श अनुकरणीय है। आधुनिक समय में भी महात्मा गान्धी ने पहले अपना सुधार किया। पहले उन्होंने अपने व्यवहार में सत्य का सम्पुट लगाया। उस सत्य का समाज पर प्रभाव पड़ा। समाज उनके आदर्श को ग्रहण करने के लिये लालायित हुआ किन्तु निजी स्वार्थ-परता ने उस आदर्श पर परदा डाल दिया। फिर भी आज संसार उनके सत्य और अहिंसा के आदर्श को अनुकरण करने के लिये प्रयत्न करना चाहता है। इसी प्रकार यदि सभी व्यक्ति दूसरों के दोषों को देखे बिना ही अपने जीवन को ऊपर उठाने का प्रयत्न करें अपने व्यवहार को सत्य बनावें तो सारा समाज एक आदर्श रूप हो सकता है।

लक्ष्य की दृढ़ता

मनुष्य का जैसा लक्ष्य होता है उसी के अनुसार वह प्रत्येक कार्य करता है। एक बढ़ई का लक्ष्य सुन्दर-सुन्दर लकड़ी का सामान बनाकर धन पैदा करना होता है। यदि वह जड़ी बूटियों से पूर्ण किसी जंगल में पहुँच जावे तो वह केवल ऊँचे-ऊँचे अच्छी लकड़ी वाले पेड़ों को ही देखेगा जड़ी बूटियों की ओर उसका ध्यान भी न जावेगा। इसी प्रकार जिसका जैसा लक्ष्य होता है उसी के अनुरूप उसकी सारी क्रियायें होती है। आज के मनुष्य का लक्ष्य केवल अर्थ और कामनाओं का पूर्ति ही रह गया है। वह इन्हीं की पूर्ति में सुख देखता है। किन्तु इससे वह सुखी नहीं हो पाता। अर्थ और कामनाओं की पूर्ति क्षणिक है सुख भले ही दे दे, किन्तु शान्ति की उपलब्धि तो कदापि नहीं हो सकती। यदि हमारा लक्ष्य शान्ति की प्राप्ति है तो हमारा जीवन स्वयमेव ही धार्मिक बन जावेगा। हमारा व्यवहार पवित्र और शुद्ध हो जावेगा। हमारी प्रत्येक क्रिया छल-कपट से रहित हो जायगी। हमारा मन सदा परहित-साधन में लग जावेगा। और हमारी दिनचर्या दूसरों के लिये आदर्श बन जायगी। इस कारण लक्ष्य की ओर भी ध्यान देना परमावश्यक है। यदि हमारा लक्ष्य शान्ति और सुख की प्राप्ति है तो हम अपने जीवन में आवश्यकताओं की पूर्ति भले ही करें किन्तु इच्छायें दिन-प्रति-दिन कम होती जावेंगी। इच्छा और

आवश्यकता दोनों विभिन्न वस्तुयें हैं। आवश्यकताओं की पूर्ति के बिना शरीर की रक्षा भी असम्भव है। किन्तु इच्छायें पूर्ण नष्ट हो जाने पर भी जीवन आनन्द से चल सकता है। आवश्यकताओं की पूर्ति में अधिक परिश्रम की आवश्यकता नहीं होती और इच्छाओं की पूर्ति में धन तथा समय का अपव्यय एवं मुख्यतया विलासिता की वस्तुओं का संग्रह होता है। ये वस्तुयें जीवन में चिन्ताओं का विकास करती हैं और मानसिक शक्तियों का ह्रास करती है। इस प्रकार इच्छाओं की कमी करना भी शान्ति प्राप्ति का एक मुख्य साधन है।

वास्तव में परमार्थ की सिद्धि के लिये व्यवहार या समाज के बिगाड़ने की बात कहना या परिस्थितिओं का विपरीत होना तो केवल बहाना मात्र है। वास्तव में यदि हमारा लक्ष्य परमार्थ की सिद्धि एवं सुख और शान्ति की प्राप्ति है तो हमारे मार्ग में कोई भी बाधक नहीं बन सकेगा। यदि हमारा निज का व्यवहार शुद्ध है तो समाज हमारे आदर्श का अनुकरण करेगा। यदि हमारे जीवन में सत्य है तो परिस्थितियाँ हमारे अनुकूल बन जावेंगी। यदि हमारा स्वभाव छल-कपट-झूठ से रहित है और हमारी प्रत्येक क्रिया मनसा-वाचा-कर्मणा एक है तो हमारे जीवन की ईश्वरीय शक्तियाँ विकसित करेंगी और हमें शान्ति का पूर्ण अनुभव होगा।

व्यवहार की शुद्धता, लक्ष्य की वास्तविकता एवं स्वभाव की स्वच्छता के सम्बन्ध भलीभाँति समझने के लिये उसके मार्ग-दर्शन की भी परमावश्यकता है। यदि हम अपने व्यवहार की शुद्धि करना चाहते हैं, यदि स्वभाव को निर्मल बनाना चाहते हैं और यदि लक्ष्य की दृढ़ता करना चाहते हैं तो इसके लिये एक ही मार्ग है और वह है सत्संग। सत्संग का अर्थ प्रायः लोग यह लगाते हैं कि जहाँ केवल भगवान की भक्ति या आत्म ज्ञान का उपदेश होता हो वही सत्संग है। सत्संग का यह अर्थ सीमित है। इसका वास्तविक अर्थ यह है कि उन महापुरुषों व सन्त-महात्माओं का संग—जिनके उपदेश से हमें अपने कर्त्तव्य-पालन नीति-मर्यादा, सच्चे आदर्श एवं जीवन के वास्तविक लक्ष्य का ज्ञान हो वही सत्संग है। सत्संग का फल केवल महापुरुषों के वचन सुनना मात्र ही नहीं है वरन् उसका सच्चा फल यही है कि सन्त महापुरुष जो उपदेश दें उसके अनुकूल चलकर अपने जीवन को आदर्श के साँचे में ढालें। उनकी आज्ञा पालन करके अपना परमार्थ-पथ प्रशस्त बनावें—इसके साथ ही उनकी आज्ञाओं व उपदेशों का समाज में वितरण करें और अपनी दिनचर्या इस प्रकार बनावें जिससे समाज हमारा आदर्श ग्रहण करे।

व्यवहार और परमार्थ के मार्ग देखने में अलग-अलग और विरोधी प्रतीत होते हैं किन्तु ऐसा होते हुए भी यदि हम अपने व्यवहार को शुद्ध करलें, अपने जीवन को आदर्श बनालें, अपनी प्रत्येक क्रिया में सत्य का संपुट लगालें तो इसी मार्ग से हम परमार्थ की प्राप्ति एवं सुख व शान्ति का अनुभव कर सकते हैं।

'सहजो' मुख हाँसी छुटै, कबहूँ टपकैं नैन।
प्रेम दिवाने जे भये, कहैं बहकते बैन।

—सहजो बाई

सद्शिक्षा से शान्ति

(श्री स्वामी प्रकाशानन्द जी महाराज)

भारत अध्यात्म प्रधान देश है, यहाँ के बहुसंख्यक निवासी ईश्वर (मोक्ष) व धर्म का लक्ष्य रख कर ही संसार-क्षेत्र में प्रवेश करते रहे हैं। अध्यात्मवाद सतोगुण से सम्बन्धित है, इसीलिये वे अपना भाव, भोजन, भाषा, वेष और विचार आदि सतोगुण प्रधान ही दृढ़ता से रखते थे तथा रजोगुण उत्पादक व कामना मूलक भौतिकवाद को प्रथम स्थान नहीं दिया करते थे क्योंकि रजो व तमोगुण से सम्बन्धित भौतिकवाद तो केवल परिवर्तन शील जड़ वस्तुओं की उन्नति तक ही सीमित है जिसे अर्थ व काम के नाम से भी कहा जाता है जो केवल मन व इन्द्रियों की ही कुछ अंश में पूर्ति कर सकता है। हाँ, भौतिकवाद को गौणरूप से उतनी सीमित मात्रा तक आदर भी दिया करते थे जिससे आध्यात्मिकता को ठेस न लगे अर्थात् अर्थ व काम को इतना विशेष रूप में नहीं अपनाते थे कि जिससे अध्यात्म (मोक्ष व धर्म) का लक्ष्य निर्जीव हो चलता और केवल बाह्य रूपरेखा से लहलहाता हुआ भौतिकवाद ही दृष्टिगोचर होता।

इस समय शिक्षा के परिवर्तन से भौतिकवाद ने अपना झण्डा फहरा दिया और अध्यात्मवाद अस्त-व्यस्त होकर धराशायी हो गया। जहाँ देखो वहाँ केवल मन को लुभाने तथा इन्द्रियों को फँसाने वाले बाजार गर्म हो रहे हैं इसीलिये मन व इन्द्रियों की पूर्ति वाली अनेक प्रकार की निराली वस्तुओं तथा विचित्र भोग सामग्रियों से भरे भवन उपस्थित होते हुये भी, मानवी हृदय शान्ति के लिये, कराहते, रोते, तथा तड़पते पाये जाते हैं। इतना ही नहीं अपितु जिन वस्तुओं के संग्रह करने में प्राणी ने ईश्वर का सम्बन्ध तोड़ा, धर्म का गला मरोड़ा; बुद्धिमानी का मार्ग छोड़ा, मनमानी का पथ जोड़ा; आकाश में उड़ा, पाताल में घुसा; समुद्र में धँसा, परतन्त्रता में फँसा यहाँ तक कि रात-दिन परिश्रम कर सिर का पसीना पैरों तक बहाते हुये अपना दिव्य-मानव-जीवन बिता डाला, वे ही वस्तुयें दुःख की हेतु बन रही हैं। ऐसा क्यों हो रहा है? इसका क्या कारण है? इसका कारण है आध्यात्मिक शिक्षा का अभाव। हम विशेषतः आध्यात्मिक शिक्षा के श्रवण से वञ्चित होते गये जिससे वह हमसे दूर सी होती गई तथा जो भी कुछ अस्त-व्यस्त रूप से सुनने में आई उसका न तो हम ठीक रूप ही समझ पाये और न विश्वास करके आचरण ही कर पाये।

पूर्वकाल में अध्यात्म सम्बन्धी विद्या का सुयोग था। घर में, वन (आश्रम) में, हर स्थान में अध्यात्म सम्बन्धी चर्चायें हुआ करती थीं, उन शब्दों से वातावरण तो शुद्ध रहता ही था साथ ही उनका प्रभाव सभी पर पड़ता हुआ बालक बालिकाओं पर अधिक पड़ा करता था। उनके नूतन व कोमल हृदय पर ईश्वर व धर्म सम्बन्धी भावनायें अमिट रूप से अङ्कित हो जाया करती थीं जिससे उनका भावी जीवन पवित्र, उच्च, आदर्शमय, धर्म व ईश्वरीय दो स्तम्भों (खम्भों) पर निर्भय रूप से स्थिर रहता था। उनका जीवन शान्ति-युक्त, सुखमय व्यतीत होता था। कहाँ तक कहा जाय शिक्षा (शब्द) का प्रभाव तो गर्भस्थ बालक पर भी पड़ता है। अष्टावक्र, अभिमन्यु तथा प्रह्लाद का जीवन इस बात का साक्षी है। प्रह्लाद ने जब ईश्वरीय ज्ञान का कथन अपने समवयस्क बालकों के समक्ष उपस्थित किया तब उन्होंने प्रश्न कर दिया कि भाई

प्रह्लाद! तुम यह ईश्वरीय ज्ञान कहाँ से सीख आये जबकि हम व तुम सभी एक साथ ही खेलते रहे हैं? प्रह्लाद ने कहा कि भाइयो! "जब हमारे पिता जी तपस्या करने के लिये चले गये थे उस समय देवता लोग हमारी माता कयाधू को पकड़ कर लिये जा रहे थे अकस्मात् नारद जी ने माता जी का रोना सुनकर देवताओं से छुड़ा लिया और उन्हें आश्वासन देते हुये अपने यहाँ रखकर ईश्वरीय ज्ञान व भगवत् चरित्र सुनाते रहे। मैं उस समय गर्भ में था उसी ज्ञान का प्रभाव तथा अपूर्व विश्वास अभी तक मेरे मस्तिष्क में ठीक-ठीक काम कर रहा है। यह है श्रवण (शब्द) का महत्व।"

शब्द का आकाश से सम्बन्ध होने के कारण शब्द का प्रभाव आकाश पर पड़ता है अर्थात् शुद्ध या अच्छे शब्दों के द्वारा वहाँ का वायुमण्डल शुद्ध बन जाता है। यही कारण है कि जहाँ कीर्तन, भगवत कथायें, भजन आदि अधिकांश में हुआ करता है वहाँ पर पहुँचने से स्वतः ही चित्त को शान्ति सी मिलने लगती है। आकाश की शुद्धता से शेष चारों तत्त्व (१. वायु २. अग्नि ३. जल ४. पृथ्वी) शुद्ध होने लगते हैं क्योंकि वे चारों तत्त्व आकाश से ही उद्भूत हुये हैं इसलिये इन चारों का मूल भूत आकाश ही है जोकि और चारों तत्त्वों से सूक्ष्म होने के कारण सर्वत्र उन सभी में रम रहा है। और आकाश का गुण शब्द है इसीलिये शब्द की पहुँच बड़ी शीघ्रता से सर्वत्र हो जाती है तथा उसका प्रभाव भी हर किसी पर विशेष रूप से पड़ता है। आज का विज्ञान, रेडियो-यन्त्र से इसका प्रत्यक्ष अनुभव प्रकट कर रहा है।

यह सभी को ज्ञात है कि बालक जब माता के उदर से बाहर आता है तब उसे प्रत्यक्ष में किसी प्रकार की भाषा का ज्ञान नहीं होता है किन्तु कुछ ही समय पश्चात् वह उसी प्रकार के पहिले टूटे-फूटे तथा पीछे को शुद्ध रूप से वही शब्द उच्चारण करने लगता है जो कि उसके संरक्षक (माता पितादि) अथवा पड़ोसी उच्चारण करते रहते हैं तथा उन्हीं के सिखाये हुए शब्दों के द्वारा वह अपने को नाम रूप की कल्पना में एवं माता-पिता आदि सम्बन्धियों तथा घर आदि की वस्तुओं में "मेरे पन" की भावना को दृढ़ कर लेता है जैसे किसी बालक को 'देवदत्त' ब्राह्मण आदि का सङ्केत किया जाता है तो वह अपने को देवदत्त ब्राह्मण ही याद कर लेता है और अन्त समय तक अपने को देवदत्त ब्राह्मण ही समझे रहता है, देवदत्त पुकारने पर वही बोलता है कि देवदत्त मैं हूँ। जिस प्रकार ग्रामोफोन के तवे से वही शब्द निकले हैं जो कि किसी समय उसमें भरे गये थे। यदि किसी ब्राह्मण शिशु को शिशुकाल में वैश्य निश्चय करा दिया जावे तो बड़ा बूढ़ा-होकर भी वह अपने को वैश्य ही समझता व कहता रहेगा।

शुद्ध अध्यात्म-ज्ञान मन्दालसा रानी ने अपने पुत्रों को नाम-जाति के सम्बन्धित शब्दों से सर्वथा अलग रक्खा और केवल "संसार (शरीर) स्वप्नवत् है तुम शुद्ध-बुद्ध स्वरूप आत्मा हो अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो रहो" आदि शब्दों का प्रयोग किया जो कि केवल अध्यात्म सम्बन्धी थे इससे वे बालक नाम-रूप की बेड़ियों एवं सीमित (मैं मेरे) भाव में फँसे हो नहीं तथा शुद्ध समदर्शी होकर उत्तम आनन्दमय जीवन बिताने वाले बने। रामराज्य में वयोवृद्ध पुरुष राम के गुणानुवाद गाते और उनका आदर्श चरित्र शिशुओं को सुनाते थे—

"जहँ तहँ नर रघुपति गुण गावहिं।
बैठि परस्पर इहै सिखावहिं॥
"भजहु प्रनत प्रतिपालक रामहिं।"

आदि-आदि। जिसके कारण सभी गुणवान पंडित और परोपकारी होते थे—

"वैर न कर काहू सन कोई।"
"सब गुणज्ञ सब पंडित ज्ञानी।"
"सब नर करहिं परस्पर प्रीती।"
"सब के गृह गृह होहिं पुराना।"

आदि आदि।

किन्तु आज इसके विपरीत शिक्षा दी जाती है—

मातु पिता बालकन बुलावहि।
उदर भरै सोइ धर्म सिखावहिं॥

यदि किसी माता-पिता (संरक्षक) ने अपनी सन्तान को उदर भरने (अर्थ व काम) की ही शिक्षा दी तो विशेषता क्या हुई? उदर तो कुत्ते, बन्दर, भेड़िये व चीते भी आपस में लड़ झगड़कर, छीन खसोटकर धर्माधर्म से भर ही लेते हैं। घर के वयोवृद्ध पुरुष को चाहिये कि वह अपनी सन्तान को अध्यात्म सम्बन्धी शिक्षा स्वतः दें तथा साधु महात्माओं द्वारा प्रबन्ध करें जिससे वह ईश्वर व धर्म के दृढ़ विश्वासी सदाचारी क्षमा, दया, सत्य, उदारता एवं उपकार के आगार बने साथ ही भौतिकवाद की भी उचित मात्रा में शिक्षा दी जाय तो कुछ अनुचित नहीं है। यदि बालकों के मस्तिष्क रूपी मनोवेग में सद्शिक्षा का शुभ धन भर दिया जाय तो उनका जीवन उज्ज्वल हो सकता है सन्तान के लिये अधिक धन आदि को संग्रह कर रख देने की चिन्ता तो व्यर्थ सी है क्योंकि यदि पुत्र को विवेकशील व गुणज्ञ बनाया है तो वह धन आदि स्वतः उपार्जन कर सुखी हो जायगा तथा पुत्र शब्द (पु=नरक+त्र=त्राण अर्थात् पिता को नरक से रक्षा करने वाला) को सार्थक कर दिखायगा और यदि पुत्र बुद्धू (मूर्ख) रह गया तो धन-सम्पत्ति, घर-बार आदि को फूँक कर स्वाहा कर डालेगा तथा पाप कर्मों में खर्च करेगा।

आजकल ऐसे समय में जब कि सर्वत्र घर में, स्कूल, कालिजों में, सड़कों व बाजार में भौतिकवाद की शिक्षा के बादल मँडराते हुए दृष्टि-गोचर हो रहे हैं जिनकी अर्थ व काम (भोग) सम्बन्धी शब्दों की अनवरत वर्षा से लगभग सभी के मस्तिष्क सराबोर हो रहे हैं तथा नवीन हृदय बालक तो इस भोग-बहाव में बहते हुए ठहर ही नहीं पा रहे हैं। जिन बालकों पर सुख शान्ति की आशा से टकटकी लगाये हुए राई लोन उतारा जा रहा है, जो एक प्रकार से देश के मेरुदण्ड हैं, *भारत के भाग्य-विधाता* हैं उनकी ही दूषित शिक्षा के अनुसार भावी जीवन की रूप रेखायें खिंचती चल रही हैं साथ ही उन्हीं अशुद्ध रेखाओं पर उनके पैर भी चल पड़े हैं। तब हमें व उन्हें शान्ति का दर्शन होना कहाँ तक सम्भव है? हाँ, यदि अध्यात्म सम्बन्धी प्रबल पूर्वी हवा के झोंके चलने लगें तो सम्भव है कि इस पश्चिमी भौतिक सभ्यता के बादलों का जमघट अपना प्रभाव उत्पन्न न कर सके। अतएव इस समय बड़ी आवश्यकता है कि सतसंग की झड़ी लग जावे; नित्य ही घर-घर प्रार्थना, कीर्तन, कथा, भगवत-चरित्र, ईश्वर व धर्म सम्बन्धी चर्चायें हों गाँवों, मुहल्लों में दैनिक अथवा साप्ताहिक सत्संग का आयोजन हो जिससे वातावरण तो शुद्ध होगा ही, साथ ही उन शब्दों का प्रभाव सभी के हृदयों पर पड़ेगा जिससे अशुद्ध (मायावी) शब्दों का प्रभाव कम हो जावेगा और जीवन अध्यात्मवाद की ओर झुक जावेगा जिससे शान्ति का दर्शन सम्भव हो सकेगा। हमारी और भारत के अध्यात्म की रक्षा हो जायगी।

बुद्धि तथा विद्या का सदुपयोग

(साधु-वेष में एक पथिक)

किसी प्रकार की शक्ति का जब सदुपयोग होता है, तब वह बहुत ही शुभ, सुन्दर, स्तुति-योग्य हो जाती है; लेकिन जहाँ उसी शक्ति का दुरुपयोग होता है, तब वही अशुभ, असुन्दर और निन्दनीय बन जाती है।

जिस अस्त्र (हथियार) से अपनी रक्षा की जाती है अथवा अपने कार्य सिद्ध किये जाते हैं, उसी अस्त्र-शस्त्र का उचित ढंग से उपयोग करने में यदि भूल हो जाती है, तो उससे अपने अंगों की क्षति होती है। इसी प्रकार जिस बुद्धि और विद्या के सदुपयोग से जन्मान्तरों के बन्धन कट जाते हैं, दुःखों का अन्त होता है, मुक्त जीवन एवं परमानन्द की प्राप्ति होती है; उसी बुद्धि, विद्या का यदि मानव दुरुपयोग करता है, तो कितने ही जन्मों के लिये कर्म-बन्धन बढ़ जाते हैं, दुःखों की भीड़ एकत्रित हो जाती है। अन्याय, अधर्म-जनित पापों, अपराधों से जीवन काला हो जाता है, बोझिल बन जाता है।

बुद्धिमान् मनुष्यो ! यदि तुम्हारे पास कुछ भी विद्या है, तो उसके द्वारा पशुओं और असुरों के समान केवल भोग-सुखों की वासना कामना की पूर्ति न करो वरन् बुद्धि, विद्या के बल से ही बल-नाशक अशुभ कामना, वासना का दमन-शमन करो।

जो व्यक्ति भोग-वासना, सुख-कामना की पूर्ति के लिये ही बुद्धि, विद्या का उपयोग करते हैं वे ही अधिकतर छली, कपटी, पाखण्डी और धूर्त बनते हैं। इसके विपरीत जो पुरुष भोग-वासना तथा सुख-कामना का दमन करने में बुद्धि, विद्या का सदुपयोग करते हैं, वे ही संयमी, सन्तोषी, सरल, उदार, दानी, तपस्वी, त्यागी, ज्ञानी और प्रेमी बनकर सर्वहितैषी होते हैं।

ऐसे मनुष्य चारों ओर भरे पड़े हैं जो बुद्धिमान विद्वान होते हुए भी लोभी हैं, अभिमानी हैं, विषयासक्त अथवा सुखासक्त हैं, वह अपनी बुद्धिमत्ता, विद्वत्ता के बल से ही अशिक्षितों, बुद्धिहीनों को पीड़ित करने वाले होते हैं। निर्दयतापूर्वक ऐसे व्यक्ति अपने ही सुख-स्वार्थ की पूर्ति करते रहते हैं।

जो बुद्धिमान, विद्वान, दीन-दुखियों पर दया नहीं करता, जो बड़ों, गुरुजनों व ज्ञानियों की आज्ञा का पालन नहीं करता, जो अभाव-पीडित सुपात्रोंकी अपनी सम्पत्ति से सहायता नहीं करता, अपनी शक्ति से अशक्तों, निर्बलों की सेवा नहीं करता, जो सन्तोषी, कष्ट-सहिष्णु, श्रद्धालु, भगवत्प्रेमी नहीं होता; वह अवश्य ही पापी, अपराधी, सत्य-विमुख, धर्म-भ्रष्ट होता है।

पाठक सज्जनों ! अब तुम अपनी ओर देखो और विचार करो कि तुम्हारी बुद्धिमत्ता और विद्या का सदुपयोग हो रहा है या कहीं-कहीं दुरुपयोग भी होता है। जहाँ कहीं त्रुटि हो उसे सम्हाल लो। अपनी बुद्धि तथा विद्या के द्वारा तुम दूरदर्शी बनो, सत्यदर्शी बनो, अपने कर्त्तव्य और लक्ष्य को जानो। दोषों के त्याग, साथ ही सत्य-अनुराग की पूर्णता के लिये ही बुद्धि, विद्या का उपयोग करो। सांसारिक सुख तथा सुखदायी वस्तुओं एवं व्यक्तियों की प्राप्ति प्रारब्ध पर छोड़ दो। जो तुम्हारे हिस्से का है वह तुम्हें मिलेगा ही। जो नहीं मिल रहा है उसके लिये सन्तोष धारण करो। बुद्धि तथा विद्या के द्वारा वह ज्ञान प्राप्त करो जिसके बल से तुम सदा निर्भय, शान्त प्रसन्न रहकर कर्त्तव्य-धर्म-परायण हो सको।

ऐसे विद्यार्थी सहस्रों देखे जा रहे हैं जो कि ऊँची कक्षाओं में पहुँच जाने पर भी विद्या का सदुपयोग नहीं करते।

यदि तुमने कोई ऊँची कक्षा की उपाधि प्राप्त की है, तो विचारपूर्वक देखो! उससे तुममें यथार्थ ज्ञान कितना हुआ है और अभिमान कितना बढ़ा है? तुम्हारे सामने कम पढ़े व्यक्ति नासमझी से यदि चोरी करते हैं, रिश्वत लेते हैं, झूठ बोलकर, छल से धोखा देकर अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं; अभिमानवश यदि वे विद्या. विवेक की कमी के कारण अपनी झूठी प्रशंसा चाहते हैं, निन्दा अथवा अपने विरुद्ध कुछ शब्दों को सुनकर वे क्रोध से लाल होकर लड़ाई-झगड़ा कर बैठते हैं, कुछ कीमती कोट, सूट-बूट पहिनकर, एक घड़ी बाँधकर ही अपने को श्रेष्ठ पुरुष सिद्ध करना चाहते हैं, जैसे वे नहीं हैं। वैसे अपने को वे इसीलिये दिखाने का प्रयत्न करते हैं, क्योंकि उनमें उच्च-बुद्धि नहीं है, विद्वत्ता गम्भीरता नहीं है। किन्तु तुम यदि उच्चकोटि के विद्वान हो तो कदापि लोभ, अभिमानवश वैसा नहीं करो जैसा दूसरे करते हैं। तुम्हें तो अपनी हानि के समय सन्तोष धारण करना चाहिये, अपमान के समय क्रोध के वशीभूत न होकर मौन विनम्रभाव की शरण लेनी चाहिये। तुम्हें विद्या का अभिमान न दिखाकर उसके द्वारा अपने भीतर छिपे हुए दोषों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। यही बुद्धि तथा विद्या का सदुपयोग है।

तुम्हारी बुद्धि जितनी अधिक शुद्ध और विशाल होगी उतनी ही सुन्दरता से विद्या का सदुपयोग कर सकोगे। विद्या के अभिमानी लाखों दीखते हैं किन्तु विद्या के द्वारा सत्य-असत्य का ज्ञान प्राप्त करके असत्य से विरक्त और सत्य में अनुरक्त होने वाले बिरले भाग्यवान हैं।

प्रिय पाठको! अभिमान की प्रबलता में यह सद्गति प्रेरणा प्रिय न लगेगी। यदि तुम्हें यह प्रेरणा रुचिकर है तो सावधान रहना! कहीं अभिमान तथा मिथ्या-दृष्टि की पुष्टि न करना। विद्या वही है जिससे सत्य का ज्ञान हो, सत्य की भक्ति हो और दोषों की निवृत्ति हो। यदि ऐसा न हो सका तो विद्या के नाम पर चाहे जितनी ऊँची उपाधियाँ किसी ने प्राप्त की हों, परन्तु वह विद्या नहीं वरन् अविद्या ही कही जायगी। क्योंकि अज्ञान, माया, मोह, अभिमान, लोभ, द्वेषादि विकारों का विस्तार अविद्या की सीमा में ही होता है।

बुद्धिमान पुरुष को विद्या का उपयोग केवल भोग-सुखों के लिये, धनादिक पदार्थों की प्राप्ति के लिये न करते हुए बन्धनों से, दोषों से, दुःखों से मुक्त होने के लिये करना चाहिये। जो व्यक्ति ऐसा नहीं करते उनके लिये विद्वानों ने बहुत ठीक कहा है:—

शास्त्र-ज्ञान निष्फल सकल, जो नहिं पूर्ण विवेक।
स्वाद न जानत करछुली, चाखत पाक अनेक॥

साधारण मनुष्यों की तो बात ही क्या है, रावण सरीखे महाविद्वान भी केवल मान तथा सांसारिक सुखोपभोग के लिये यदि विद्या का दुरुपयोग करेंगे तो अन्त में दुर्गति दुःख-विनाश ही जीवन के साथ लगेगा। इसीलिये सावधान होकर बुद्धिमान मनुष्यों! तुम अपने जीवन में विद्या के द्वारा दैवी सम्पत्ति के धनी बनो और आसुरी सम्पत्ति का त्याग करो।

"यदि तुम बुद्धिमान हो
मानव-जीवन व्यर्थ बिताते क्यों हो?
ऐसा अवसर पाकर अपने
हित में देर लगाते क्यों हो?
जिसके द्वारा मानवता में
सरस दिव्यता लाई जाती।
शुभ कर्मों का सद्भावों की

जिससे शक्ति बढ़ाई जाती ॥
जिसके बल से दृढ़ प्रतिज्ञ बन
पाशव-प्रकृति मिटाई जाती।
कितने ही जन्मों के पीछे
जो जीवन में पाई जाती ॥
उस विद्या का दुरुपयोग कर
अपने पाप बढ़ाते क्यों हो?

(पथिकोद्गार के उद्धृत)

विद्या, बुद्धि, विवेक को, तजै सभी अभिमान।
सो पावै प्रभु प्रेम को, जिहि सम तुलै न ज्ञान ॥'
'विद्या, वित्त, सुरूप, गुन, सुत, दारा, दुख-भोग।
नारायण हरि-भक्ति बिन, यह सब ही हैं रोग ॥'

अनुष्ठान का बल

[कहानी]

(श्री रामस्वरूप जी गुप्त)

अप्रत्याशित दुःखों के प्रबल झंझावात में पड़ा मानव जीवन अचानक इतस्ततः होकर जब छिन्न-भिन्न होने लगता है, नैराश्य और विवशता की घनघोर काली घटाएँ जब संतप्त जीवन को चारों ओर से घेर लेती हैं तब असहाय-निरुपाय मानव तन-मन का सारा जोर लगाकर संकटहारी हरी को पुकारता है। अन्तर्हृदय की मूक वेदना जब नेत्रों से अविरल जलधार के रूप में परिवर्तित होकर शान्त निर्झरणी सी प्रवाहित होने लगती है तब उन करुणा-विगलित आँसुओं की जंजीरों में जकड़ा हृदयस्थित अन्तर्यामी का सिंहासन भी हिल जाता है जब आँसुओं के खारे सागर में यह स्वार्थी संसार डूब जाता है तब उस पार, दयामय की अपार दया का अलक्षित हाथ बरबस अपनी शरणागत वत्सलता का साक्षात् परिचय देता है। ऐसी विषम परिस्थितियों में अभिशप्त मानव के सामने दो ही अवलम्ब शेष रहते हैं, मंगलमय प्रभु की आकुल पुकार अथवा उनके नित्यावतार रूप संत भगवान का खुला दरबार। संत और भगवन्त की करुणामयी कृपा कोर से निराशा का घनीभूत अन्धकार जब सहसा सुखद आलोक से जगमग हो जाता है तब उस अलौकिक चमत्कार से इतर भावुक जन अपने भावी जीवन को आनन्दमय बनाने के लिये अपने अन्तःकरण में एक अद्भुत प्रेरणा का अनुभव करते हैं। यही प्रेरणा अध्यात्मवाद की जननी

× × ×

ला० दीनानाथ के द्वार पर बजती हुई शहनाई के मधुर स्वर वातावरण को संगीतमय बना रहे हैं। आज उनकी दुलारी बेटी सरला का विवाह है। जब वह नन्हीं सी पाँच वर्ष की बच्ची थी तब उन्होंने अपनी मरणासन्न पत्नी को सान्त्वना दी थी कि तुम्हारी सरला को सुखी बनाने के लिये मैं अपने जीवन की बाजी लगा दूँगा। मृत्यु की चिरशान्तिदायिनी गोद में जाने से कुछ समय पूर्व अपने देवता की आँखों से झरझर बहते आँसुओं को अपने काँपते, सूखे हाथों से पोंछती हुई सरला की जननी आश्वस्त हुई। भ्रमित मन का पूरा भार पिघल-पिघल कर नेत्रों के मार्ग से प्रवाहित हो चला, कण्ठावरोध से वाणी मूक होगई थी किन्तु अन्तर्भावनाओं से प्रदीप्त, पीत-शुष्क मुख मंडल मानों पुकार कर कह रहा था—"मेरे नाथ! तुम्हारी इस महानता को अपने में समाकर मैं बड़े सुख से इस नश्वर संसार को छोड़ रही हूँ'।

अन्तिम समय के उस हृदय-वेधी दृश्य को दीनानाथ कभी नहीं भूल सके। मन ही मन उन्होंने पत्नी की मृत्यु-शय्या को साची बनाकर आजीवन अविवाहित रहने की प्रतिज्ञा की। आज उसी आदर्श जीवन संगिनी की वेदनामयी-मधुर-स्मृति से विचलित दीनानाथ, दिवंगता पत्नी के पुष्पमाला वेष्ठित तैल-चित्र के सामने, चुपचाप एकान्त शयन-कक्ष में आँसू बहा रहे हैं। आँसुओं का यह तार टूटने का नाम ही नहीं लेता। जिस प्रकार एक वेगमयी सरिता के प्रवाह में अन्य द्रुतगामिनी नदी के सम्मिलित प्रवाह की गति होती है, कुछ ऐसी ही दशा आज दीनानाथ के उद्विग्न मन की भी है। सर्वगुण सम्पन्न सरला बेटी के भावी वियोग से उनकी मनोदशा विचित्र होगई। पत्नी और पुत्री दोनों की स्मृति रूपी झील से करुणामयी दो सरितायें अलग-अलग बहकर भी आज एकाकार हुई जा रही थीं। "चाचा जी! चाचा जी!!"—दीनानाथ के दुःखदायी दिवा-स्वप्न को भंग करके मनोहर ने आते-आते कहा—"चाचा जी! मैं बड़ी देर से आपको खोज रहा।" मनोहर चौंका—उसने देखा, उसके सदाप्रसन्न चाचा आज अपने बहते आँसुओं को, छिपा कर पोंछ रहे हैं। उसके भावुक हृदय में आघात हुआ—मेरे देवतास्वरूप चाचा भी रो सकते हैं? इन्हें क्या दुःख है? सामने की दीवाल पर उसकी चाची का तैल-चित्र टँगा है और पास ही टँगी घड़ी टिक-टिक टिक-टिक कर रही है।

काशी-हिन्दू-विश्व-विद्यालय के एम० ए० प्रीवियस के चतुर छात्र मनोहर को वस्तुस्थिति को समझने में देर नहीं लगी।

"क्या बात है बेटे!"—भावनाओं के प्रबल प्रवाह में बहते-बहते चौंककर, प्रकृतिस्थ होकर भर्राए गले से बोले दीनानाथ।

"चाचा जी बात यह है"—कंठ के अवरोध को खखार कर ठीक करते हुए मनोहर ने कहा—"रानीगंज से टेलीग्राम आया है कि स्पेशल ट्रेन का रिजर्वेशन दो दिन बाद के लिये हुआ इसलिये बरात आज न आकर परसों आवेगी।"

"शुभ-मुहूर्त्त का टलना तो एक प्रकार का अपशकुन है"—दीनानाथ ने कुछ हताश होकर कहा—खैर कोई बात नहीं, इसमें भी कोई भलाई छिपी होगी। पुरोहित जी से कोई विशेष पूजा करा देंगे।

विवेकी जन अपने सद्विचारों से प्रतिकूलता को भी अनुकूलता में परिवर्तन करने की क्षमता रखते हैं।

× × × × ×

उस छोटी सी नगरी के प्रमुख नागरिकों ने निष्काम समाज-सेवी दीनानाथ की कन्या के विवाह में अपनी हार्दिक प्रसन्नता का परिचय दिया। कई स्थानों पर बन्दनवार और पताकाओं से सुसज्जित फाटक बनाये गये, सड़कों पर छिड़काव हुआ। जगह-जगह पर स्वागत के लिये सुवासित शीतल जल, शर्बत और पान, इलायची की व्यवस्था थी।

यथा समय स्पेशल ट्रेन से बरात आई। स्टेशन से जनवासे तक स्वागत-सत्कार की सुव्यवस्थित योजनाओं से सन्तुष्ट बरातियों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की। बरात और द्वाराचार को देखने के लिये आमंत्रित नागरिक, बराती जन और दर्शकों का समूह सैकड़ों की संख्या में द्वार पर एकत्रित था। कौतूहल प्रिय नारियाँ और बालक, समीपस्थ मकानों के छज्जों पर खड़े तमाशा देख रहे थे। वर के बड़े भाई अपनी उत्साह के प्रदर्शन में दनादन फायर किए जा रहे थे। सहसा किसी के धक्के से उनका हाथ बहक गया उसी समय बन्दूक का घोड़ा दबा और दूसरे ही क्षण सामने के छज्जे पर एक

भयङ्कर चीत्कार के साथ किसी के गिरने का धमाका हुआ। अब तक जो फायर हो रहे थे वे तो खाली कारतूसों के थे किन्तु दुर्भाग्य से शीघ्रता में यह गोली वाला कारतूस लग गया।

रंग में भंग हो गया। नियति-नटी ने एक क्षण में ही आनन्द के लहराते सागर को शोक का मरुस्थल बना दिया। प्रसिद्ध थियेट्रिकल कम्पनी के रंगमंच पर सीन-ट्रांसफर के समय, खटका दबाते ही सहसा जैसे सर्वथा विपरीत दृश्य आँखों के सामने आकर दर्शकों को शोकाकुल बना देता है ठीक इसी प्रकार का यह दुःखद परिवर्तन एक क्षण में उस बन्दूक के खटके ने कर दिया।

रिटायर्ड पुलिस आफीसर मिस्टर सिनहा का मकान था वह। विगत २० वर्षों में दो पत्नियों को समाप्त करके संतान की कामना से उन्होंने यह तीसरा विवाह किया। तृतीय पत्नी से पुत्र का जन्म हुआ था। सिनहा दम्पति अपने उस प्रमोद को वंश दीपक कहा करते थे। प्रमोद ने इसी साल फर्स्ट डिवीजन में मैट्रिक पास किया था। प्यार और दुलार में पले प्रमोद ने अबतक अपने नन्हें से जीवन के पन्द्रह बसन्तों की बहार देखी और सोलहवें बसन्तोद्यान में पदार्पण करते ही उसकी जीवन-माला का सूत्र इस निर्मम रीति से टूट गया। गोली उसकी दाहिनी कनपटी पर लगी, मस्तक चकनाचूर हो गया, रक्त की धारों और माँस के छिछड़ों से पास खड़ी उसकी जन्मदात्री तर बतर हो गई।

"हाय! मेरे लाल, मेरा छौना, मेरा दीपक—" गैया सी डकराती प्रमोद की मैया छाती पीटती पछाड़ें खाने लगीं।

नीचे से दौड़ कर ऊपर आने वाले सिनहा साहब ने यह दृश्य देखा तो 'हाय! मेरा दीपक बुझ गया' कहकर शोकावेग से मूर्च्छित हो गये।

देखने वाले रो पड़े। मित्रों और पड़ोसियों को सान्त्वना देने की कोई युक्ति नहीं सूझ रही थी। दीनानाथ और उनके अग्रज रामनाथ का बुरा हाल था। बरात में आने वाले अधिकांश जन विचार रहे थे अच्छी मुसीबत में फँसे।

पुलिस इन्सपेक्टर घटनास्थल पर चार सिपाहियों के साथ आगये, कुछ लोगों के बयान लिखे और वर के बड़े भाई जीवनलाल के हाथों में हथकड़ी पहनाते हुए दीनानाथ की ओर देखकर नम्र वाणी से बोले—माफ कीजिएगा लाला जी, फिर हथकड़ी की चाबी निकाल कर, उपस्थित जन समुदाय को देखते हुए कहा—"साहबान! बहुत अफ़सोस है कि फ़र्ज़ अदायगी में मुझे आप सभी का दिल दुखाना पड़ा।" सब निस्तब्ध थे—सहसा अपने सेहरे और मौर को नोच कर एक ओर फेंकता हुआ जीवन का सहोदर अपने अग्रज से लिपट गया—"मेरे कारण आपको यह दिन भी देखना पड़ा भैया!"—उसकी आँखों से जलधार प्रवाहित हो चली—सिसकते हुए उसने कहा—"आपको जेल भेजकर मैं यह विवाह नहीं करूंगा।"

"मेरे भाई"—डबडबाई आँखों से कम्पित वाणी में हथकड़ी वेष्ठित हाथों को अनुज के मस्तक पर फेरता जीवन बोला—निर्दोष होकर भी मैं अपराधी हूँ, मेरे द्वारा एक किशोर की हत्या हुई किन्तु मेरे अपराध का दण्ड और किसी को न मिले अन्यथा मैं कभी अपने को क्षमा नहीं कर सकूँगा—रुके हुए आँसू छलक पड़े। दर्शकों ने रूमाल से अपनी-अपनी आँखें पोंछीं। सबको हाथ जोड़कर जीवन शीघ्रता से इन्पेक्टर के साथ जीप में बैठ गया।

× × × × ×

ससुराल में आकर, सुखों में पली सरला संकट में पड़ गई। अपनी सास के सम्बन्ध में उसने सुना था कि वे देवी और लक्ष्मी हैं। ननद और जिठानी भी सुशिक्षित और सीधे सरल स्वभाव की

हैं। किन्तु उस दुर्घटना की प्रतिक्रिया ने उन सबको सरला के प्रति कठोर बना दिया। जैसे राख में दबी अग्नि वायु-संचार से आवरण हीन होकर दहकने लगती है इसी प्रकार इस घटना ने उनके [illegible] सुलभ परदोष-दर्शन और ईर्ष्या-द्वेष को होने पर प्रज्वलित कर दिया। समय के विपरीत [illegible]र अपने भी पराये हो जाते हैं।

"इसी कुलच्छनी के कारण मेरे लाल पर मुसीबतों के पहाड़ टूट पड़े।" दिन में दो चार बार सास जी अवश्य कहतीं।

"बहूरानी के आने से पहिले ही मैं तो बरबाद हो गई और अब आगे न जाने क्या होगा"—सरला की जिठानी आने वाली महिलाओं के आगे आँसू बहाकर अनेक व्यंग्य बाणों की वर्षा करतीं, मर्मभेदी व्यंग्यों को सुनकर भी सरला सदा मौन ही रहती।

भावुक सुरेश सदैव चिन्तामग्न रहता, वह सोचता था कि—सदा हँसी की फुलझड़ियाँ छूटती रहती थीं वहाँ का आनन्दमय वातावरण अब कितना विषमय बन गया है? कभी-कभी सोचता सरला का त्याग करदूँ तो···किन्तु इस विकल्प के उठते निर्दोष-अपमानिता सरला की सरल मूर्ति आँखों के सामने आती और भैया का आदेश कानों में गूँजता। वह किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो जाता पितृतुल्य भैया की स्मृति उसे बेचैन बनाए रहती।

तीस वर्षों तक पुलिस की अफसरी करने वाले सिनहा साहब को अपने पुत्र की वियोगाग्नि शान्त करने का एकमात्र उपाय प्रतिहिंसा में ही दीख पड़ा। निर्दोष जीवन को फाँसी के फन्दे में झुलाने के लिये उन्होंने एड़ी चोटी का पसीना एक कर दिया। उन्हें समझाने के लिये दीनानाथ और उनके मित्रों ने बहुत प्रयत्न किए किन्तु उस पाषाण-हृदय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। सिनहा की प्रतिहिंसक पैरवी से जमानत पर छूटे जीवन पुनः कारागार में बन्द हुए। केस सेशन सुपुर्द झूठी गवाहियों से मुकदमे की दशा बिगड़ती गई। सिनहा के बैरिस्टर ने सिद्ध कर दिया कि यह हत्या दुरुस्त होशोहवास में जानबूझ कर की गई है।

झूठी गवाहियों के बल पर टिका अन्धोन्याय विजयी हुआ। न्यायाधीश और जूरियों से एकमत होकर जीवन को आजीवन कारावास का दंड सुना दिया।

× × ×

प्रेम-दीवानी मीरा अर्द्धोन्मीलित नेत्रों से गरल का प्याला होठों से लगा रही हैं और उनके गिरधर गोपाल मन्द-मदिर मुस्कराहट से, अन्तरिक्ष में अपना वरद-हस्त उठाये, मीरा के मन मन्दिर में प्रेम की अजस्र धारा सी प्रवाहित कर रहे हैं। अन्तर की वह सरस धार आँखों के मार्ग से निकल कर मतवाली मीरा के वक्षस्थल को भिगो रही है। पिता से आग्रहपूर्वक इस हृदयहारी चित्र को सरला अपने साथ लाई थी। अलमारी के नीचे वाले खाने में सजाया था उसे।

अपमान, व्यंग्य, तिरस्कार और उपेक्षा से जर्जर हृदया सरला आज अपने कमरे को भीतर से बन्द किये नीरव-निस्तब्ध निशा में एकटक इस अलौकिक दृश्य को ध्यानस्थ सी देख रही है। विष को अमृत में परिवर्तित करने वाले श्यामसुन्दर के अलक्षित चरणों का प्रक्षालन उसकी अश्रुधारा से हो रहा था। ऐसी कई रातें बिताई थीं उस दुःखिनी ने, किन्तु आज तो उसके आँसू रुकने का नाम ही नहीं लेते।

···सहसा किसी के शब्द से उसका ध्यान भंग हुआ। उसके पति का नाम लेकर कोई पुकार रहा था। स्वर परिचित था। खिड़की खोलकर सरला ने नीचे झाँका, उसका भैया मनोहर ताँगे से नीचे खड़ा है। दौड़ी दौड़ी गई और भैया के वक्षस्थल-

पर मस्तक रखकर फफक कर रो पड़ी; आहट से घर के सभी प्राणी जग पड़े।

अपने सहपाठी और साले को देख सुरेश के मन का बाँध भी टूट गया, भ्रातृ वियोगी आज अपने अन्तरंग सखा को पाकर बालकों की भाँति फूट-फूट कर रोने लगा। माता और भाभी दोनों के हाथ पकड़कर भीतर ले गईं। रोते-रोते मनोहर ने दोनों के चरण स्पर्श किये—"आप सभी की ऐसी दशा देख-देख कर हृदय में बहुत आघात लगता है"—सिसकियाँ लेते हुए मनोहर बोला—

"मनोहर भाई"—सुरेश ने अपनी अन्तर्व्यथा व्यक्त करते हुए कहा—'ऐसा लगता है कि सब के पूर्वार्चित पाप-पुञ्ज एक साथ उदय हो गये अन्यथा मेरे निर्दोष भैया आज कारागार में क्यों बन्द होते—सुरेश की आँखें भैया को अन्वेषण कर रही थीं, सुरेश की वेदना विगलित वाणी सभी को रुला रही थी; वातावरण को बदलते हुए मनोहर ने कहा—"हमें आशावादी बनकर धैर्य से अच्छे समय की प्रतीक्षा करनी चाहिये—मैंने अपने चाचा की बात को आज तक असत्य होते नहीं देखा। आजीवन कारावास के समाचार से विचलित होकर उन्होंने तुरन्त मुझे यहाँ यह सन्देश देकर भेजा है कि निर्दोष जीवनलाल शीघ्र ही कारामुक्त होकर घर पर आयेंगे। मेरे सामने ही चाचा जी ने कलकत्ता के एक विख्यात बैरिस्टर से फ़ोन पर बात की थी। आज सुप्रीम कोर्ट में अपील दायर होगी। मुझे तो उनके छूटने में तनिक भी सन्देह नहीं है।"

मुर्झाई आशा लतिका में शीतल जल पड़ा। जल डूबते को तिनके का सहारा मिला कृतज्ञता और विश्वास की आभा ने सबके शुष्क मुखमण्डल चमका दिए। "आज ही देहरा एक्सप्रेस से चाचा जी हरिद्वार जा रहे हैं जीजी को साथ ले जाने की उनकी इच्छा है। माता जी! आप यदि आज्ञा देंगी तो बहिन को यहीं स्टेशन पर चाचा जी के पास छोड़ आऊँगा"। मनोहर ने माता जी की ओर देखते हुए कहा—

"इस समय हरिद्वार जाने का क्या कारण है?" माता जी ने प्रश्न किया।

"माता जी! मैंने भी यही प्रश्न किया था, किन्तु जब चाचा जी बताने को तैयार नहीं थे तो मैंने बहुत हठ किया तब उन्होंने कहा—तुम किसी से यह भेद बताना नहीं, सो आप भी यदि किसी को न बतावें तो मैं आपको बता सकता हूँ"—मनोहर के मनोरञ्जन से सभी हँस पड़े गम्भीर होकर मनोहर ने कहा—"मेरे चाचा जी गृहस्थी में छिपे हुए एक सन्त हैं। उनके आदर्श और तपस्वी जीवन की प्रशंसा करनी ही पड़ती है, उनके गुरु महाराज उत्तर काशी से आगे हिमालय की परम पुनीत निर्जन तपोभूमि में, सुरम्य सुरसरी के पावन तट पर निवास करते हैं। कुछ दिनों तक उनके चरणों में रहकर चाचा जी उनकी आज्ञा से कोई अनुष्ठान करेंगे। चाचा जी ने प्रतिज्ञा की है कि जीवनलाल जब जेल से छूटकर उन्हें बुलाने जायेंगे तभी घर को लौटेंगे।"

स्तब्ध रह गये सभी यह सुनकर। आत्म-गौरव की लालिमा सरला और मनोहर के मुखों पर छा गई। श्रद्धा, कृतज्ञता और आत्म-ग्लानि की ऊहापोह में सुरेश तथा उसकी माता और भाभी की विचित्र स्थिति थी। भावावेश में सहसा सरला उठी, उसने अपनी सास और जिठानी के चरणों को एक साथ दोनों भुजाओं से लपेटकर अपना मस्तक रख दिया। आँसुओं से दोनों के पैर भिगोती हुई दुःखिनी सरला ने दृढ़ स्वर में कहा—आपके पवित्र चरणों की सौगन्ध खाकर प्रतिज्ञा करती हूँ कि जेठ जी के लौटने पर ही अन्न का दाना ग्रहण करूँगी। आप मुझे सहर्ष पिता जी के साथ जाने की आज्ञा दें।

"बच्ची मेरी" सास ने बरबस बहू को उठाकर हृदय से लगाया, आँचल से बहू का मुख पोंछा। वृद्धा के आँसू मानों आशीर्वाद की वर्षा करने लगे 'बहू! अपनी पगली बहन को क्षमा कर देना"— पति-वियोगिनी जिठानी की अश्रु धारा में ईर्ष्या द्वेष आत्मग्लानि और पश्चात्ताप का सम्मिलन था। मनोहर अपनी इस देव-कन्या सी बहन का ऐसा अलौकिक रूप देखकर गर्व के आँसू रूमाल से पोंछ रहा था और सुरेश का उल्लसित मन उस समय किसी अलौकिक स्वप्न-लोक में विचरण कर रहा था

× × ×

दीनानाथ और सरला सद्गुरुदेव के दिव्य आश्रम की एक कुटी में विधिवत अनुष्ठान करने लगे। केवल गङ्गाजल लेकर ही वह, विषपानोद्यता मीरा और उनके गिरिधर नागर के भावमय चित्र की पूजा करती और उन्हें मन ही मन अपनी व्यथा सुनाकर महर्षि के बताये मंत्र का जाप करती। ऊंचे शैल-शिखर की इस कुटिया से वहाँ की मनोरम दृश्यावली प्रकृति नटी के अद्भुत वैभव का प्रदर्शन करती है। हिमाच्छादित उत्तुंग पर्वत श्रेणियों में दूर तक जाने वाली दृष्टि, क्लांत मन को शान्ति का सुखद सन्देश देती है। प्रातःकाल भगवान् अंशुमाली की स्वर्णिम किरणमाला स्फटिक से धवल शिखरों में अपार स्वर्ण राशि बिखेरती सी दीख पड़ती है। ऊंचे-नीचे पत्थरों में उछलती कूदती पुण्यसलिला भागीरथी का कलकलनाद, त्रिविध ताप सन्तप्त मानव को अहर्निश एक दिव्य संगीत सा सुनाता रहता है।

सरला की ऐसी तपश्चर्या से गुरुदेव का शिष्य समुदाय प्रभावित हुआ। इन दिनों कई भक्त नर-नारी आये थे वहाँ। दैनिक कृत्यों से निवृत्त होकर भावुक देवियाँ श्रद्धा से चुपचाप तपस्विनी सरला के पीछे दूर बैठकर मानसिक जप करतीं दूसरे भाग में दीनानाथ की तन्मयता में बाधा न पहुँचा कर निःशब्द साधक समुदाय बैठ जाता। सायंकाल को गुरुभगवान् के सारगर्भित प्रवचन और भक्तों की सुमधुर संकीर्तन ध्वनियों से वह पवित्र तपोभूमि आनन्द की वर्षा करती।

ग्यारह दिवस व्यतीत हुए। सरला अत्यधिक कृश-काया हो चली। पिता, गुरु और श्रद्धालु माताओं ने जीवन रक्षा के लिये व्रत भंग की सरला को सलाह दी किन्तु वह अडिग रही। महर्षि ने कहा पार्वती और सावित्री जैसी दृढ़ इच्छा शक्ति वाली पुत्री तेरी विजय अवश्य होगी—महाराज के आशीर्वचन से भक्त समुदाय प्रसन्न हुआ।

दुर्बलता के कारण सरला अब बैठ नहीं सकती थी। एक दिन उसकी नाड़ी की गति बहुत धीमी हो गई। दीनानाथ को दुखी देखकर मुस्कराती सरला ने क्षीण स्वर में कहा—"पिता जी आप चिन्ता न करें मैं मरूंगी नहीं।"

सुरेश और मनोहर को टेलीग्राम मिले कि सरला की हालत चिन्ताजनक है। दो दिन बाद अपील का फैसला सुनकर उन लोगों का जाने का प्रोग्राम था ही किन्तु ऐसा तार पाकर उनकी माता और भाभी घबड़ा गयीं और एक नौकर के साथ हरिद्वार चली गयीं। चलते समय सुरेश ने डबडबाई आँखों से कहा—ऐसा आशीर्वाद दीजिये कि भैया के साथ ही वहाँ आकर आपके चरण स्पर्श करूं।

× × × ×

सिनहा ने सरला के समाचार अपनी पत्नी से सुने। उनके हृदय पर आघात हुआ कि मेरे कारण दो परिवार संकट में पड़े हुए हैं। झूठी बात को सत्य सिद्ध करने में इधर कई दिनों से सिनहा को आन्तरिक ग्लानि हो चली थी। न जाने किन पापों का परिणाम था यह और अब इस पाप का फल क्या होगा? हृदय पर आघात लगा। उसी समय उन्होंने लिखित बयान तैयार किया जिसमें स्पष्ट स्वीकार किया कि मेरे बालक की मृत्यु अचानक

गोली लगने से हुई थी बदला लेने की भावना से ही मैंने झूठा केस चलाया था। मैं स्वीकार करता हूँ कि जीवनलाल बिल्कुल निर्दोष है।

सिनहा के इस लिखित बयान से जीवनलाल निर्दोष होकर जेल से छूटे। जेल के फाटक पर सुरेश और मनोहर दौड़कर रोते-रोते जीवन के पैरों से लिपट गये। अपनी मुक्ति के लिये सरला के कठोर व्रत की बात जीवन जेल में ही सुन चुके थे। "उस देवी के दर्शन करके ही मैं जल ग्रहण करूँगा"—श्रद्धा के अश्रु-पुष्प चढ़ाते हुए जीवन ने कहा—मनोहर की कार स्टेशन की ओर चली।

× × × ×

"दादा जी कितनी देर में आरहे हैं"—अत्यन्त क्षीण स्वर में सरला ने पूछा—सासु की गोद में सरला का मस्तक था, जिठानी नब्ज के पास महर्षि की दी हुई एक औषधि मल रही थीं। दीनानाथ कुछ दूर पर गम्भीर भाव से शान्तमुद्रा में बैठे थे। स्वामी जी बार-बार सरला की नब्ज देखते और सामने का मार्ग देखते जैसे किसी की प्रतीक्षा कर रहे हों।

"आगये ! आगये !!—सहसा दूर से आते तीन व्यक्तियों को देखकर स्वामी जी ने कहा—सरला ने आँखें खोलीं।

"कहाँ है मेरी तपस्विनी लक्ष्मी बहू"—विक्षिप्त की भाँति दौड़कर आते-आते जीवन ने कहा।

सरला ने उठना चाहा, इस समय की उसकी स्फूर्ति देखकर सभी को आश्चर्य हुआ। स्वामी जी ने कहा—बेटे जीवन तुम अपने हाथों से संतरे का रस निकालो,, तुमने ठीक समय पर आकर इसे परलोक जाने रोक लिया।

बहते हुए आनन्द के आँसुओं से धुले पवित्र अन्त:करण वाले उपस्थित भक्त नर-नारी अपने भावावेश को न रोक सके और एक स्वर से बोल उठे।

"देवी सरला की जय" भक्त और उनके भगवान् की जय।"

आश्रम : एक झाँकी

[२६४ वें पृष्ठ का शेष]

अपनी कुटियों से निकल कर सत्संग-भवन में एकत्रित हो जाते हैं जहाँ सर्वप्रथम रामचरित मानस का पाठ होता है तथा सत्संग का अन्य कार्यक्रम संचालित रहता है।

४॥ बजे पूज्य स्वामी शुकदेवानन्द जी व्यास मंच पर रखे हुए व्याघ्र चर्म पर अपना आसन ग्रहण करते हैं तथा ५॥ बजे तक साधकों को अपनी दिव्य वाणी से अमृत-रस में प्लावित रखते हैं।

५॥ बजे पुनः सवेरे जैसा श्रम-आयोजन होता है जिसके पश्चात् आश्रमवासी जन अपने व्यक्तिगत कार्यों में लगते हैं तथा ७॥ बजे तक निवृत्त होकर श्री सर्वेश्वर भगवान के मन्दिर में आरती के ये एकत्रित हो जाते हैं। आरती, भजन, कीर्तन का यह कार्यक्रम ८॥ बजे तक चलता है।

८॥ से ९॥ बजे तक पूज्य स्वामी जी भक्तों की शंकाओं का समाधान करते हैं। इस प्रकार दिन भर का व्यस्त कार्य-क्रम पूर्ण होत है। ठीक १० बजे आश्रम में प्रत्येक व्यक्ति अपनी शैया ग्रहण कर लेता है।

प्रमुख आगन्तुक—आश्रम देश भर के लोगों के लिये आकर्षण का केन्द्र बनता जा रहा है। देश के कोने-कोने से दर्शक एवं सन्त यहाँ समय-समय पर पधारते रहते हैं। मई मास के प्रमुख आगुन्तकों में निम्न सज्जनों का परिचय उल्लेखनीय है:—

१. **श्रीयुत नन्दलाल वर्मा**—(भारत सेवक, समाज प्रधान कार्यालय, दिल्ली।) श्री वर्मा जी १० मई

को आश्रम में पधारे तथा पूज्य स्वामी जी से मिले उन्होंने पूज्य स्वामी जी से भारत सेवक समाज के नैतिकोत्थान के कार्य में सहायता माँगी तथा परामर्श चाहा। पूज्य स्वामी जी ने उन्हें अपने उत्तर [illegible] कर दिया। श्री वर्मा जी आश्रम एवं पूज्य [illegible] व अन्य संतों के प्रवचनों से अत्यन्त [illegible] हुए। वह १२ मई को आश्रम से दिल्ली के [illegible] चले गये।

२: पूज्यपाद श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी तथा ला० हरदेव सहाय जी—पूज्य ब्रह्मचारी जी महाराज व लाला जी गो-रक्षा के विषय में आश्रम में पधारे तथा पूज्य ब्रह्मचारी जी ने एक लिखित सन्देश में गो-रक्षा का महत्व बतलाया।

३. श्रीयुत रघुवरदयाल जी गोयल

(एडवोकेट—बीकानेर तथा भूतपूर्व मन्त्री राजस्थान सरकार)—श्री गोयल जी २२ मई को आश्रम में पधारे। यहाँ पूज्य स्वामी जी से मिले। उन्होंने आश्रम की भूरि भूरि प्रशंसा की। वह एक दिन से अधिक न ठहर सके चलते समय वह पूज्य स्वामी जी के दर्शनों को गये तो उनके मुख से यही निकला कि यह स्थान इस योग्य नहीं है कि यहाँ से एक दिन में लौट जाया जाए। इस उद्‌गार से उनके अन्तर पर पूज्य स्वामी जी तथा आश्रम जीवन की छाप स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

४. परमहंस परिव्राजकाचार्य न्यस्तदंड श्री १०८ श्री स्वामी अखंडानन्द जी सरस्वती वृन्दावन—पूज्य स्वामी जी ३० मई को प्रातः आश्रम में पधारे तथा आश्रम वासियों के समक्ष अपनी ओजमयी वाणी में प्रवचन किया। स्वामी जी ने त्याग और समता पर वेदों का उद्धरण देते हुये बल दिया। वे यहाँ से गंगोत्री की यात्रा के लिये चले गये।

श्री सर्वेश्वर मन्दिर—आश्रम के भीतर सर्वेश्वर भगवान का सुन्दर मन्दिर है जिसमें नित्य नियमित रूप से पूजा-पाठ, आरती, प्रसाद इत्यादि होते हैं। भक्तों की ओर से पूजा की सामग्री व प्रसाद आदि अथवा पूजन-व्यय स्वीकार किया जाता है।

मन्दिर में श्री राधा-कृष्ण, श्री शंकर भगवान् तथा श्री सीता-राम की मनोहारी मूर्तियाँ हैं। नित्य प्रातः सायं मन्दिर के खुले आँगन में भगवन्नाम का मधुर संकीर्तन होता है।

निवास व्यवस्था—आश्रम के भीतर प्रविष्ट होते ही बायें हाथ पर पूछताछ कार्यालय है जहाँ साधकों को आश्रम सम्बन्धी जानकारी प्राप्त हो सकती है तथा दाहिने हाथ की ओर पुस्तक विक्रय-विभाग है जहाँ से दैवी सम्पद् मण्डल का समस्त साहित्य व मासिक पत्र 'परमार्थ' प्राप्त हो सकता है।

गुफाओं व कमरों को मिलाकर इस समय कुल ११० निवास स्थान हैं इनके अतिरिक्त अन्य कमरों का निर्माण हो रहा है आशा है निकट भविष्य में दानी-मानी महापुरुषों के सौजन्य से आश्रम के भीतर एक तीसरा ब्लॉक भी निर्मित हो सकेगा जिससे निवास की समस्या बहुत कुछ हल हो जायगी।

आश्रम का एक सम्मिलित भोजनालय है जिसमें अकेले आने वाले व्यक्तियों के भोजन की समुचित व्यवस्था रहती है। परिवारों के लिये कमरों के निकट ही पाकशालाएँ बनाई गई हैं।

आश्रम का अपना उद्यान है जिसमें से पूजा के लिये फूलों की पर्याप्त उपलब्धि हो जाती है। इसके अतिरिक्त आश्रम की अपनी गौशाला है जिसमें कुछ स्वस्थ गौएँ हैं।

आश्रम में स्त्री-पुरुषों के लिये पृथक टट्टियाँ बनी हुई हैं। एक सप्ताह के भीतर फ्लश सिस्टम की १० टट्टियों का एक सेट भी तैयार हो जावेगा।

आश्रम के मध्य में एक कुआँ है जिसका शीतल मधुर जल आस-पास में प्रसिद्ध हो गया और उसमें

इञ्जिन द्वारा अपने पानी निकालने की व्यवस्था है जिससे सिंचाई का प्रबन्ध होता है।

आश्रम का अपना बिजली बनाने का यन्त्र भी है जिसके द्वारा अपने उपयोग के लिये पर्याप्त विद्युत-धारा उत्पन्न करली जाती है। सत्संग में प्रवचनों को प्रसारित करने के लिये आश्रम का अपना माइक्रोफोन व लाउडस्पीकर का सेट भी है जो नित्य प्रयोग में आता है।

साधकों की सुविधा की दृष्टि से आश्रम में कुछ बर्तनों आदि की व्वस्था भी है परन्तु प्रायः साधकों को यथावश्यक पात्र संग में लाने चाहिये।

आश्रम के भण्डार से दैनिक उपयोग की प्रायः सभी खाद्य सामग्री मिल जाती है। भोजन आदि में साधकों से विशेष सादगी की आशा की जाती है। आश्रम के बाहर हलवाई की दूकान भी है जहाँ साधकों को यथावश्यक दूध व जल-पान की सामग्री शुद्ध मिल जाती है।

आश्रम में डाक व समाचार पत्रों की पर्याप्त सुविधा है। आश्रम में पुस्तकालय से साधकों को यथावश्यक साहित्य पठनार्थ दिया जाता है।

कुछ सम्मतियाँ

"…… ……यह स्थान योग साधन के लिये अत्यन्त आकर्षक है। आशा है शीघ्र भविष्य में ही मैं कुछ दिन के लिये यहाँ आकर निवास कर सकूँगा।"

श्री युत मिश्रा जी

(११—१०—५२) सप्लाई-मंत्री-बिहार।

"…………आज स्वामी सद्गुणानन्द जी ने "परमार्थ निकेतन" दिखाया।…… …मुझे खेद है कि मैं पूज्य स्वामी श्री शुकदेवानन्द जी से चर्चा नहीं कर सका। उनके उपदेशों से मैं अत्यन्त प्रभावित हुआ हूँ। पुनः यहाँ आने तथा पूज्य स्वामी जी से चर्चा करने की आशा करता हूँ। नहीं कह आध्यात्मिक आनन्दमय क्षणों को विस्मृत कर सकूँगा।

—श्रम व वाणिज्य मन्त्री, उड़ीसा।

"…………मुझे पूज्य स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज से भेंट करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मैं यहाँ के आध्यात्मिक वातावरण से इतना प्रभावित हुआ हूँ कि यहाँ से जाने की कल्पना ही मेरे मन में नहीं आती। दैवी सम्पद् मण्डल एक अत्यन्त महान कार्य कर रहा है।…………स्वामी जी एक महान आध्यात्मिक क्रान्तिकारी तथा नैतिक सुधारक हैं,…… ……।

—श्री नन्दलाल वर्मा

(१२ मई १९५४) भारत सेवक समाज प्रधान कार्यालय नई दिल्ली।

वानप्रस्थ आश्रम

आश्रम में वानप्रस्थियों के निरन्तर निवास की आयोजना भी की जा रही है। यहाँ उन्हें समुचित आध्यात्मिक मार्ग-दर्शन देने की व्यवस्था रहेगी। इच्छुक सज्जनों को पूज्य स्वामी जी से इस विषय में पत्र-व्यवहार करना चाहिये। नियमावली आगामी अंकों में प्रकाशित होगी।

धन दारा अरु सुतन में, रहत लगाए चित्त।
क्यों रहीमखोजत नहीं, गाढ़े दिन को मित्त॥

'परमार्थ' प्रेमियों से विनम्र प्रार्थना

अपने शैशव के चार वर्षों में 'परमार्थ' ने जनता-जनार्दन की सामयिक सेवा के जो प्रयास किए वे आपसे छिपे नहीं हैं। सन्त-महात्माओं की कृपा और अशीर्वाद से 'परमार्थ' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इसके द्वारा आध्यात्मिक जगत की सेवा चिरकाल तक होती रहे, इसी उद्देश्य को लेकर दैवी सम्पद् मण्डल के प्राण, स्वामी-द्वय पूज्यपाद शुकदेवानन्द जी तथा भजनानन्द जी महाराज के संरक्षण में 'परमार्थ' प्रकाशित हुआ। महात्माओं, विद्वानों और प्रेमियों ने इसे अपनाया। कई सज्जनों ने लगन और उत्साह से इसके प्रचार में अपना हार्दिक सहयोग दिया। उन सभी के प्रेम पूर्ण सहयोग के लिये हम आभारी हैं। इन सद्प्रयत्नों के होते हुए भी अभी तक 'परमार्थ' अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो सका है। प्रति वर्ष पर्याप्त घाटा रहता है। सार्वजनिक संस्था की वस्तु होने के नाते 'परमार्थ' आपका अपना ही है। अतएव इसकी आर्थिक हानि भी आपकी अपनी ही हानि है। 'परमार्थ' को स्वावलम्बी बनाने के लिये अपने प्रेमी ग्राहकों का साधारण सा सहयोग यदि प्राप्त हो जाय तो इस कमी की पूर्ति बड़ी सरलता से हो सकती है। यदि प्रत्येक प्रेमी पाठक कम से कम दो ग्राहक बनाने का संकल्प करलें तो उनकी कृपा से 'परमार्थ' परमुखापेक्षी नहीं रहेगा।

आशा है आप हमारी इस प्रार्थना पर ध्यान देकर एक या दो ग्राहक बनाकर इस आध्यात्मिक ज्ञान-यज्ञ में अपना सहयोग देते हुए पुण्य लाभ करेंगे।

—*विनयावनत*

व्यवस्थापक

फ़ोन नं० १०१ रजिस्टर्ड नं० ए-८७८

सार्थक जीवन

देहेऽस्थिमांसरुधरेऽभिमतिं त्यज त्वं
जायासुतादिषु सदा ममतां विमुञ्च ।
पश्यानिशं जगदिदं क्षणभंगनिष्ठं
वैराग्यरागरसिको भव भक्तिनिष्ठः ॥

अस्थि, मांस और रुधिर से भरे हुए इस देह में अभिमान छोड़ दो, स्त्री-पुत्रादि की ममता का त्याग सर्वथा कर दो । यह जगत क्षण भंगुर है— ऐसा निरन्तर विचार करो, वैराग्य के रसिक बनो और भक्तिनिष्ठ हो जाओ । निरन्तर धर्म का सेवन करो, लौकिक धर्मों को त्याग दो, साधु पुरुषों की सेवा करो और विषयों की तृष्णा त्याग दो । तथा शीघ्र ही दूसरों के गुण-दोषों का चिन्तन छोड़कर भगवत्-सेवा-कथा-रस का भरपेट पान करो ।

मुद्रक तथा प्रकाशक:— परमार्थ प्रेस, पो० मुमुक्षु आश्रम, शाहजहाँपुर

सचित्र मासिक-पत्र

वार्षिक मूल्य ४॥)

विदेश के लिये ८)

परमार्थ मासिक-पत्र

दैवी गुण विकासक, शान्ति संस्थापक, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार आदि अध्यात्मवाद प्रचारक, श्री दैवी सम्पद् महामण्डल का प्रमुख सुरुचिपूर्ण सचित्र मासिक-पत्र

संस्थापकः—

श्री १०८ श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज

श्री १०८ श्री स्वामी भजनानन्द जी महाराज

सम्पादकः—

स्वामी सदानन्द सरस्वती

राजाराम पाण्डेय 'मञ्जुल'

विषय सूची

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा, बुद्ध्यात्मना वानुसृतःस्वभावात् ।
करोमि यद्यत् सकलं परस्मै, नारायणायेति समर्पयेतत् ॥

वर्ष ५ | मुमुक्षु आश्रम, शाहजहाँपुर १५ जुलाई १९५४ | अङ्क—७
आषाढ़ शुक्ल १५ बृहस्पतिवार सम्वत् २०११

पादुका-पूजन

पूजन करत भरत मन लाए।
चित्रकूट ते प्रभु-प्रतिनिधि स्वरूप पाँवरी जो लाए॥
दिव्य-हेम-मनि-जटित सुखद-सिंहासन महँ पधराए।
गंध पुष्प-मालिका धूप दै, सुमधुर भोग लगाए॥
राज महल महँ बने तपस्वी सकल भोग बिसराए।
मुकुलित कमल-नयन जुग सोहत, हिय सिय-राम बसाए॥
मन-मधुकर गुंजार स्वामि गुन, कर करताल सुहाए।
नेम-प्रेम लखि अटल, 'जुगल-सरकार' तहाँ चलि आए॥

—'ऋषि'

विचार कीजिये—कुम्हार मिट्टी के घड़े को बनाते समय उसे लकड़ी की थापी से पीटता है और साथ ही एक हाथ घड़े के भीतर भी लगाये रहता है। पीटने वाला ऊपर का थापी वाला हाथ तो सबको दिखाई पड़ता है लेकिन भीतर वाला सहारे का हाथ दिखाई नहीं पड़ता। इसी प्रकार निश्चय कीजिए हम पर जो दुःख और संकट आते हैं वे यद्यपि स्पष्ट दीखते हैं उनके दर्द और तकलीफों की गहरी अनुभूति भी होती है किन्तु इनके पीछे छिपी हुई मङ्गलमय प्रभु की असीम करुणामयी कृपा को हमारी भौतिक आँखें देखने में असमर्थ हैं। वास्तव में तो उनकी मार में भी प्यार समाया रहता है।

विचार कीजिये—डाक्टर जब किसी के घाव या फोड़े का आपरेशन करता है तो रोगी उसे अपना शत्रु समझकर गालियाँ बकता है लेकिन अच्छा होने पर उसी डाक्टर को धन्यवाद देकर कहता है कि आपकी कृपा से जहरबाद होने से बच गया आपने मेरे प्राणों की रक्षा की इत्यादि। इसी प्रकार जब हम पर संकट और मुसीबतों की बाढ़ आजाय तो निश्चय करना चाहिये कि यह लीला हमारे अन्तःकरण की शुद्धि के निमित्त प्रभु की प्रेरणा से हो रही है। दुःखों की अग्नि में तपकर हमारे मन-बुद्धि जब शुद्ध सतोगुणी बन जायँगे तब हम स्पष्ट रूप से देखेंगे कि उस समय के अमुक दुःख के परिणाम स्वरूप आज हमें इस आनन्द की अनुभूति हो रही है।

विचार कीजिये—छोटे-छोटे अबोध बालक जब बर्र, ततैया या दीपक की लौ को पकड़ने के लिए लपकते हैं तो माता उनका हाथ खींचकर दूर ले जाती है कि मेरे लाल को इनके स्पर्श से तकलीफ न होने पावे। इसी प्रकार निश्चय कीजिए कि भगवान भी अपने प्रिय भक्तों को माया की मादकता से दूर रखने के लिये सदैव एक न एक अभाव का संयोग बनाए रखते हैं।

विचार कीजिये—खिलाड़ी बालक को, माता-पिता स्कूल भेजने के लिये जब जोर-जबरदस्ती करते हैं तो वह मन ही मन उन्हें अपना शत्रु समझता है क्योंकि वे उसे खेल से हटाकर गुरू के पास भेज देते हैं। बालक की मन बुद्धि को तीव्र बनाने के लिये गुरू जब ताड़ना करते हैं तब उन्हें तो वह बालक यमराज की भाँति ही समझता है। किन्तु जब वही बालक बड़ा होकर पढ़-लिख कर किसी योग्य बन जाता है तब कहता है कि मेरे माता-पिता यदि बाल्यकाल में पकड़ पकड़ा कर स्कूल न भेजते और गुरू जी ताड़ना न करते तो आज मैं इस योग्य नहीं बन पाता। इसी प्रकार निश्चय करना चाहिये कि—हमारे असली माता-पिता और गुरू रूपी भगवान् की करुणामयी प्रेरणा से ही हमारे सामने दुःख-अपमान और अनेक प्रकार की आपत्तियाँ इसीलिये आती हैं कि इनको सहन करके हम ऐसी बुद्धि प्राप्त करलें जिनके द्वारा नकली और असली के पारखी बन कर अपने वास्तविक लक्ष्य की परख करके उस ओर चलते जायँ।

विचार कीजिये—सोना और पीतल अथवा काँच और हीरा दूर से देखने में एक जैसे ही जान पड़ते हैं लेकिन उनकी असली पहचान तो आग में तपाने पर या घन से पीटने पर ही होती है। आग में तपने पर सोना दमकने लगता है और पीतल काली पड़ जाती है और घन से पीटने पर काँच चकनाचूर होजाता है किन्तु हीरा ज्यों का त्यों रहता है। इसी प्रकार निश्चय करना चाहिये कि स्वर्ण अथवा हीरे के समान अपना मूल्य बढ़ाने के लिये हमें विघ्न बाधाओं और प्रतिकूलताओं की अग्नि में तप कर कुन्दन सा दमकना है और आपत्तियों के घन चलने पर हीरे सा कठोर बना रहना है।

ब्रह्मलीन श्री उड़ियाबाबा जी के उपदेश

प्र०—सत्संग किसे कहते हैं ?

उ०—सत्पुरुष या सत् अर्थात् परमात्मा के संग को सत्संग कहते हैं। सत्—परमात्मा का संग होने के लिये हमें उसका संग करने की आवश्यकता है कि जो परमात्मा के मार्ग में तत्पर—तत्परायण है, जिसने परमात्मा की प्राप्ति कर ली है या जो उसे पाने के लिये प्रयत्नशील है ऐसे सिद्ध या साधकों के संग को सत्संग कहते हैं।

प्र०—सत्संग क्यों करना चाहिये ?

उ०—सत्संग करने से भगवत्प्राप्ति का मार्ग दिखलाई पड़ता है। जिस मार्ग से सत्पुरुष गये हैं, उनका संग किये बिना वह भगवत्प्राप्ति का मार्ग हमें नहीं मिल सकता। जो भगवान् के पास गये हैं अथवा उनके पास रहे हैं वे ही मार्ग बता सकते हैं। सत्संग तो ऐसे सिद्ध पुरुषों को भी करना चाहिये जिनको भगवान की प्राप्ति हो गयी है। साधक को तो भगवत्-प्राप्ति का मार्ग देखने के लिये और भगवान् का स्वरूप जानने के लिये सत्संग करना चाहिये तथा सिद्ध पुरुषों को सत्संग में अपने प्यारे का चिन्तन होता है—इसलिए सत्सङ्ग करना उचित है।

प्र०—सत्सङ्ग करने से क्या लाभ है ?

उ०—सत्सङ्ग करने से भगवान में हमारी आसक्ति दिनोंदिन बढ़ती है। जिस वस्तु का निरन्तर चिन्तन होगा उसमें आसक्ति बढ़ेगी ही, इसलिए निरन्तर सत्सङ्ग करना चाहिए।

प्र०—सत्सङ्ग करने से क्या हानि है ?

उ०—भजन तो एकान्त में भी कर सकते हैं, परन्तु काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दोष सत्सङ्ग किए बिना दूर नहीं हो सकते। सत्सङ्ग में इन्हीं के नाश करने की बातें होती हैं। इसलिए सत्सङ्ग में जाने से अवगुण छोड़ने की इच्छा होती है और फिर प्रयत्न करने पर अवगुण छूटते हैं। बिना सत्सङ्ग किये प्रायः बहुत भजन करने वालों के भी दोष नहीं छूटते और जो सत्सङ्ग करेगा वह भजन अवश्य करेगा। जो सत्सङ्ग करेगा उसके पाप न छूटें, यह असम्भव है। सत्सङ्ग में एक बिजली है, उस वायुमण्डल में बैठ जाने मात्र से ही अन्तःकरण पवित्र हो जाता है, क्योंकि वहाँ का वायुमण्डल ही पवित्र है। इसलिये सत्सङ्ग की निन्दा करने वाले भी वहाँ जाने लगने पर पवित्र हो जाते हैं और धीरे-धीरे वे भी भगवत्परायण होने लगते हैं। सत्सङ्ग की महिमा का कोई वर्णन कर ही नहीं सकता। सत्सङ्ग से महापुरुषों में प्रीति होगी। कुछ भी न करके यदि सत्सङ्ग में जाकर बैठ ही जाय तो भी लाभ होता ही है।

प्र०—सत्सङ्ग करने का कौन अधिकारी है ?

उ०—मनुष्य नहीं, जीवमात्र इसके अधिकारी हैं। मुसलमान, ईसाई, यहूदी, चाण्डाल आदि सभी सत्सङ्ग कर सकते हैं, क्योंकि इसके सभी अधिकारी हैं। जब चूहे, बिल्ली, कुत्ते, तोते, पक्षी आदि सभी पवित्र हो जाते हैं तब मनुष्य की तो बात ही क्या है ?

प्र०—सत्सङ्ग करने वालों से पाप-कर्म क्यों नहीं छूटते ?

उ०—यह बात तो वे ही लोग कह सकते हैं जो सत्सङ्ग में नहीं जाते। पाप का कितना भण्डार भरा पड़ा है और उसमें कितना कम हुआ है—यह बात सत्सङ्ग करने वाला ही जान सकता है। सत्सङ्ग में प्रतिदिन अनन्त पाप क्षीण होते हैं यह सत्सङ्ग में नित्य-प्रति जाने वाले लोगों का अनुभव है। हम चाहते हैं कि तुरन्त ही सारे पाप नष्ट हो जायँ, पर पाप की कमी तो धीरे-धीरे होती है। इसी से पापों का पूरा नाश प्रतीत नहीं होता।

प्र०—सत्संग पुरुषार्थ से मिलता है या भाग्य से?

उ०—भक्तों का यही सिद्धान्त है कि सत्संग भगवत्कृपा से मिलता है। पुरुषार्थवादी कहते हैं कि वह पुरुषार्थ से मिलता है। किन्तु मेरे विचार से तो इनमें भगवत्कृपा ही प्रधान है।

प्र०—यदि भगवत्कृपा से ही सत्संग मिलता है तो फिर पुरुषार्थ क्यों करना चाहिये?

उ०—प्रभुकृपा से हमें कोई खज़ाना मिल जाय तो उसकी रक्षा करने के लिये भी कुछ परिश्रम करने की आवश्यकता होती ही है किन्तु यह पुरुषार्थ भी भगवत्कृपा से ही होता है। भक्त तो भगवत्कृपा के सामने पुरुषार्थ को कोई चीज़ नहीं मानता। सत्संग में जाने के लिये पुरुषार्थ की आवश्यकता है, पर यह पुरुषार्थ करेगा वही जिसमें कृपा का अंकुर होगा। बिना कृपा के तो सत्संग में कोई पैर भी नहीं रक्खेगा।

प्र०—सत्संग मिलने के लिये क्या उपाय करना चाहिये।

उ०—प्रभु से या भक्तों से प्रार्थना करनी चाहिये, भक्त और भगवान् तो एक ही हैं।

प्र०—महाराज जी! सन्तों में अनुराग भी तो भगवान् की कृपा से ही होगा?

उ०—अनुराग तो दोनों ओर से होता है। जब तक लोहा और पारस दोनों नहीं मिलते तब तक सुवर्ण कैसे होगा?

प्र०—सत्संग में प्रीति कैसे बढ़े?

उ०—प्रतिदिन सत्संग करने से सत्संग में प्रीति बढ़ती है। एक दिन सत्संग में गये और चार दिन नहीं गये—इससे प्रीति नहीं बढ़ती।

प्र०—सत्संग करने पर भी लोग सत्संग के परायण क्यों नहीं होते?

उ०—वे नियमपूर्वक नित्यप्रति निरन्तर सत्सङ्ग नहीं करते जो वैसा करते हैं वे परायण हो जाते हैं।

प्र०—महात्मा की परीक्षा करने के लिये सत्सङ्ग करने से भी लाभ है या नहीं?

उ०—परीक्षा करने के लिये सत्सङ्ग करने से भी लाभ है क्योंकि इस निमित्त से वह सत्सङ्ग में तो जाता है और महात्मा भी उसके लिये भगवान् से प्रार्थना कर सकते हैं कि इसकी आप में प्रीति हो। यदि ऐसा न हो तो भला सत्सङ्ग की महिमा भी क्या रहेगी?

प्र०—दम्भ या मानवृद्धि के लिये सत्सङ्ग करने से भी लाभ होता है या नहीं?

उ०—इससे भी लाभ ही है। पहले-पहले यह सब नकली होता है, पीछे धीरे-धीरे सब दोष दूर हो जाते हैं। पहले नकल होती है, पीछे वह असल हो जाती है। परन्तु दम्भ और मानवृद्धि की इच्छा को त्यागकर ही सत्सङ्ग करना चाहिए।

प्र०—सत्सङ्ग किनका करना चाहिये?

उ०—जो पुरुष भगवान के गुणानुवाद तो करता है, किन्तु स्वयं कामी, क्रोधी अथवा लोभी है, उसके विषय में पहले मेरा ऐसा विचार था कि उसका संग न करे; किन्तु एक महात्मा ने मुझसे कहा, "हलवाई की मिठाई खाने वाला उस हलवाई के गुण-दोष नहीं देखता।" परन्तु यह बात ऊँची कोटि के लिये है; साधारण साधक के लिये नहीं। अतएव साधक के लिये तो सर्वसद्गुणसम्पन्न भगवद्भक्त का ही सङ्ग करना लाभप्रद है, नहीं तो दोष देखकर उसके सत्सङ्ग से अरुचि हो जायगी या वह दोषों का अनुकरण करने लगेगा।

शुद्ध व्यवहार

(साधुवेश में एक पथिक)

जिस व्यक्ति का आहार, विहार शुद्ध सात्विक होता है, उसी का व्यवहार भी शुद्ध हो सकता है। शुद्ध अशुद्ध व्यवहार के अनुसार ही मनुष्य का भाग्य भी शुद्ध या अशुद्ध बना करता है।

जहाँ तक अपने ही सुख की भावना प्रबल है, अपनी ही रुचि पूर्ति का सतत् प्रयत्न है, अपना ही सन्मान सर्वत्र प्रिय है, अपने लाभ तथा मान के लिये जिसमें किसी से राग किसी से द्वेष का सम्बन्ध चलता रहता है, जिसका छल, कपट, क्रोध के बिना काम ही नहीं चलता, वहाँ तक मानव का व्यवहार शुद्ध नहीं हो सकता और न उसका भविष्य के लिये भाग्य भवन ही सुन्दर बन सकता है।

शुद्ध व्यवहार ही मनुष्य के अन्तःकरण की पवित्रता का परिचय है। जिसने परमात्मा कृष्ण की गीता में कही हुई दैवी सम्पत्ति को धारण कर लिया है, उसी का अन्तःकरण पवित्र कहा जा सकता है।

सत्य ज्ञान के प्रेमियो! यदि आप दूसरों के असद् वर्ताव से छल, कपट, कलह, क्रोध से बचना चाहते हो, तो स्वयं दूसरों के साथ छल कपट पूर्ण अशुद्ध व्यवहार न करो।

जैसा व्यवहार आप दूसरों से चाहते हो, वैसा ही स्वयं भी दूसरों के साथ करो। कदाचित आप को कोई कष्ट देवे, आप से द्वेष करे, हानि पहुँचाये, तो अपने किसी दुष्कर्म का भोग समझ कर शान्त रहो।

यह भी स्मरण रक्खो कि दूसरों के दिये हुये दुःखों को द्वेष रहित होकर सहन कर लेने से पाप क्षीण होते हैं और दूसरों के दिये सुखों के अनायास भोग से अपने ही पुण्य क्षीण होते हैं।

स्वयं कष्ट सहकर दूसरों को सुख देने से पुण्य बढ़ते हैं और दूसरों को कष्ट पहुँचाकर सुखी होने से पाप बढ़ते हैं। इस प्रकार पुण्यों के संचय से ही मनुष्य इच्छानुसार सुख भोगता है और पापों के संचय होने पर अनिच्छा से भी दुःख भोगता है।

यदि आप दुःख भोग से बचना चाहते हो तो किसी को दुःख देकर पापों का संचय न करो। यदि सुख चाहते हो तो स्वयं दुःख सहते हुये दूसरों को सुख पहुँचा कर पुण्यों का संचय करो। दूसरों को सुखी करते हुये इतना ध्यान रखना अत्यावश्यक है कि किसी को ऐसा सुख न दो जिससे उसका अहित हो। जैसे कि एक बालक खेलते रहने में ही सुख मानता है, एक रोगी कुपथ्य करने में सुख मानता है, एक दुर्व्यसनी उस व्यसन की पूर्ति में ही सुख मानता है, एक भोगासक्त केवल भोगों की अधिकता में ही सुख मानता है तो इस प्रकार के सुखासक्त जीवों को सुख पहुँचाने में समर्थ व्यक्ति यदि इनके भविष्य पर ध्यान न देगा अर्थात् हित-दृष्टि न रखेगा, तो ऐसे प्राणियों को सुख देते रहने से इनकी महान हानि होगी। अतः बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिए कि दूसरों को हितप्रद सुख देवें, अनिष्टकारी सुख न देवें।

दूसरों के साथ व्यवहार करने के लिये सर्वोपरि आवश्यकता है दूरदर्शी बुद्धि की, जिसके द्वारा आप प्रत्येक कर्म के भविष्य में आने वाले परिणाम को देख सकेंगे और सावधान रहेंगे।

आप इस सत्य को भी स्मरण रक्खें कि संसार में जिन जीवात्माओं से आपका सम्बन्ध है यदि वे छली, कपटी, स्वार्थी एवं केवल अपने ही मन का सुख चाहने वाले लोभी, अभिमानी हैं; तो आप उन्हें आप अपनी इच्छानुसार बदल नहीं सकते। जब

तक वे स्वयं न चाहें, तब तक आप सदाचारी धर्म परायण नहीं बना सकते, किन्तु प्रारब्धवश उनके बीच में रहते हुए आप अपने को दुराचारी, अधर्माचरण से बचाते हुए, सदाचारी धर्मानुयायी बने रह सकते हैं।

जब आप के पास कोई अज्ञानी सुखासक्तिवश छल, कपट, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेषपूर्वक व्यवहार करता है; किन्तु उसके दोषों को आप स्वीकार नहीं करते, अर्थात् आप उसके साथ वैसा ही व्यवहार नहीं करते, जैसा वह तुम्हारे साथ करता है। तब बिना कुछ कहे ही यह सिद्ध हो जाता है कि आप यथार्थ विवेकी, गम्भीर, धीर, वीर-पुरुष हैं, किसी दोषी के छेड़ने पर भी आप निर्दोष ही हैं।

परस्पर के सम्बन्ध में आप जितना ही दोषों, दुर्विकारों के त्यागी दीखेंगे, उतनी ही मात्रा में आप के ज्ञान की गहराई सिद्ध होगी। इसी प्रकार अपने प्रेम-पात्र के लिये जितना ही शुभ, सुन्दर वस्तु दान करते देखे जायेंगे उतना ही अधिक आप के प्रेम की प्रगाढ़ता सिद्ध होगी।

अधिकतर मनुष्य वाणी द्वारा अपने को सर्वश्रेष्ठ त्यागी, ज्ञानी तथा प्रेमी दिखाते ही रहते हैं; किन्तु वाणी से कुछ न कहकर व्यवहार में त्याग, ज्ञान और प्रेम का परिचय देने वाले महापुरुष कहीं-कहीं विरले ही दीखते हैं।

पारस्परिक व्यवहार में ही मनुष्य या तो अपने में दैवी गुणों को बढ़ाता जाता है या तो आसुरी गुणों या पशु-प्रकृति को पुष्ट करता है।

अपमान, अनादर का अवसर सुलभ होने पर ही आप अपने भीतर देख सकते हैं कि अभिमान कितना प्रबल है और विनम्रता कितनी परिपुष्ट है; क्योंकि अभिमान की प्रबलता में ही अपमान का दुःख होता है और विनम्रता की परिपुष्टि में अपमान जनित दुःख का प्रभाव नहीं पड़ता है।

हानि का प्रसंग उपस्थित होने पर ही आप देख सकेंगे कि अपने मन में लोभ कितना प्रबल है और सन्तोष कितना पुष्ट है। जितना अधिक लोभ होता है उतना ही अधिक हानि का दुःख होता है, सन्तोष की अधिकता में ही हानि का दुःख नहीं व्यापता।

प्रिय सम्बन्धी का वियोग होने पर ही आप अपनी परीक्षा कर सकते हैं कि मोह कितना प्रबल है, और निष्काम प्रेम कितना पुष्ट है? मोह की प्रबलता में वियोग का दुःख प्रतीत होता है, शुद्ध प्रेम में ही वियोग का दुःख नहीं होता; क्योंकि प्रेमी अपने प्रेम पात्र से अपने लिये कुछ नहीं चाहता वरन् अपने द्वारा सदा प्रेम-पात्र की चाहों की पूर्ति करता रहता है। जो दूसरों से कुछ नहीं चाहता वह उनके वियोग में दुखी भी नहीं होता।

मृत्यु निकट दीखने पर ही आप समझ सकते हैं कि देह के प्रति ममता कितनी प्रबल है और अविनाशी आत्मा का ज्ञान कितना पुष्ट है? क्योंकि ममत्त्व की प्रबलता में ही मृत्यु का भय कष्ट देता है। आत्म-ज्ञान पुष्ट होने पर मृत्यु का भय नहीं सताता।

यदि आप स्वतन्त्रता तथा शान्तिपूर्वक जीवन का आनन्द चाहते हैं, तो दैनिक व्यवहार के बीच में ही दुःखदायी दोषों का त्याग कीजिए और सद्गुणों, सद्भावों को परिपुष्ट होने दीजिये।

आपको अपने में यदि सद्गुणों की कमी दीखे, तो अपमान के अवसर में ही विनम्रता को पकड़ लीजिये और अभिमान का त्याग कीजिये। हानि के अवसर में ही सन्तोष को धारण करके लोभ का तिरस्कार कीजिये। वियोग के अवसर में ही निष्काम प्रेम को अपनाइए केवल देते रहना ही कर्त्तव्य समझिए; मोहवश अपनी रुचि-पूर्ति के स्वभाव छोड़ दीजिये। मृत्यु के अवसर में ही

दैहिक ममता को मिटाकर अविनाशी स्वरूप में ही बुद्धि को स्थिर कर लीजिए।

लोगों के साथ अविवेकपूर्वक व्यवहार रखने से ही प्रकृति में अभिमान, क्रोध, लोभ, मोहादि दोषों की पुष्टि होती है, वहीं पर सद्विवेक पूर्वक व्यवहार द्वारा ही विनम्रता, उदारता, प्रेम तथा निष्कामता, क्षमा, दया आदि सद्गुणों की पुष्टि होती है।

महापुरुषों का आदेश है कि परमार्थ का प्रेमी क्रोध करने वालों के प्रति क्रोध न करके क्षमा करके दया को पकड़े। सताने वालों का भी अनिष्ट, बुरा न चाहे। अपनी निन्दा करने वालों की निन्दा न करके उनका भी भला चाहे। अपने प्रति शत्रुता रखने वाले के प्रति भी परमेश्वर से कल्याण की प्रार्थना करे।

यदि तुम्हें अपनी झूठी निन्दा सुनकर दुःख होता है, तो अवश्य तुमने अपनी झूठी प्रशंसा सुनकर मान का रस लिया है। प्रायः ऐसा ही देखा जाता है कि झूठी निन्दा, बुराई की बात सुन कर सभी दुखी होते हैं; लेकिन झूठी प्रशंसा का प्रायः लोग विरोध नहीं करते। इसीलिये कि अभिमानी अहङ्कारी को सुख मिलता है। उसी अहङ्कारी को अपनी बुराई सुनकर दुःख होता है।

जब तुम सन्मान, बड़ाई में सुख न मानोगे, तभी अनादर, निन्दा का तुम्हें दुःख न होगा। जब तुम संयोग के सीमित सुख को तुच्छ देखोगे, तभी वियोग का दुःख भी तुच्छ, हलका प्रतीत होगा। जब तुम्हारी दृष्टि में लाभ का सुख असुन्दर दिखाई देगा, तभी हानि का दुःख तुम्हें अपनी ओर आकर्षित न कर सकेगा। जब तुम सांसारिक सुखों के पीछे न दौड़ोगे, तब दुःख भी तुम्हारे पीछे न दौड़ेगा।

दुःखों से पीछा छुड़ाने के लिये सुखासक्ति का त्याग करो, तभी तुम्हारी बुद्धि समदर्शी हो सकेगी और अपने को दोषों, दुर्विकारों के शासन से मुक्त पाओगे।

राम-राज्य के अन्तर्गत सुख को चाहने वाला मनुष्य श्री राम-राज्य के स्वतन्त्र आनन्द को न पा सकेगा; इसीलिये तुम त्यागी होकर काम के शासन से मुक्त बनो, तभी राम के भक्त हो सकोगे। भक्त ही मुक्त है मुक्त ही भक्त है।

जब तक तुम मन, वाणी, शरीर से होने वाली क्रियाओं के पीछे सद्विवेक और सद्भाव को प्रधानता नहीं देते हो अर्थात् जब तक तुम्हारा व्यवहार विकार रहित नहीं होता, तब तक तुम शक्ति एवं शान्ति-प्राप्ति के लिये मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग, राजयोग अथवा गीता के अनुसार कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग आदि किसी भी साधन-पद्धति का अभ्यास करते हुए समय व्यतीत करोगे, किन्तु पूर्ण सफलता नहीं मिल सकती।

पारस्परिक व्यवहार में ही पाप, पुण्यमय कर्म बनते रहते हैं। पापों से बचने के लिये छल, कपट, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, हिंसा तथा व्यभिचार का, दूसरों को दुःख देने वाले स्वभाव का त्याग करना ही पड़ेगा। इन्द्रियों का संयम, मन का निरोध करना ही पड़ेगा। अनुचित अभ्यास को, किसी व्यसन को छोड़ने के लिये दृढ़ संकल्प तथा व्रत का पक्ष लेना ही पड़ेगा।

तुम जो कुछ साधन, भजन करो, उसका फल यही चाहो कि मन शुद्ध हो, चित्त अचञ्चल हो, बुद्धि स्थिर हो और अहङ्कार संगाभिमान रहित हो।

अनेक बातों के साथ यह भी एक सुन्दर प्रेरणा है कि तुम अपनी आवश्यकताओं को कम करो; यहाँ तक कि उतने को ही स्वीकार करो जितने के बिना काम न चले।

आवश्यकताओं की अधिकता में तुम्हारी मनोवृत्ति, बुद्धि-वृत्ति, रजोगुणी ही रहेगी श्रम भी अधिक करना पड़ेगा, श्रम करते हुए जब आवश्यकताओं की पूर्ति होते न देखोगे, तब कहीं चोरी, छल से काम लोगे, कहीं दीन दुःखी होकर चिन्ता में समय, शक्ति नष्ट करोगे।

आवश्यकताओं को मर्यादित करने पर ही जितने के बिना जीवन का काम नहीं चलता, उतने का ही पक्ष लेने पर तुम्हारे पास जो कुछ शक्ति सम्पत्ति बचेगी, उसी से तुम दूसरे अभाव पीड़ितों की सेवा सहायता भी कर सकोगे।

जब कभी तुमसे किसी की सेवा बन जाय तब उसका बदला न चाहो, समाचार पत्रों में नाम निकलने की तरस न रक्खो। तुम्हारा कोई यशोगान करता रहे, परन्तु तुम उसमें हर्ष न मानो; यही समझकर अपने को समस्थिति बनाये रहो कि मैंने वही किया जो कि करना ही चाहिये, अपने कर्त्तव्य-पालन के अतिरिक्त कुछ नहीं किया, इस प्रकार समझते हुये तुम कुछ करने के अभिमान से अपने अहंकार की रक्षा करते रहो।

जब तुम्हें कभी अभिमान और लोभ की अधिकता में अपना अनादर या अपनी हानि देखकर क्रोध आजाय, तो उसे शब्दों द्वारा प्रकट न होने दो शान्त रहो, मौन रहो, परन्तु किसी को कटु कठोर वाक्य न कहो।

किसी से कुछ वादा कर लो, तो ठीक समय पर पूरा करो। किसी से मिलने का जो समय निश्चित करो उसको झूठ न होने दो। यदि पूरा न कर सको तो संदिग्ध शब्दों में वचन दो, पूर्ण निश्चित समय निर्धारित न करो। किसी के यहाँ से कोई वस्तु लाओ, तो उसे निश्चित समय में ही वापस कर आओ। प्रायः लोग वस्तु के लाने में समय का ध्यान रखते हैं और काम निकल जाने पर आलस्यवश वह वस्तु वापस नहीं लौटाते। किसी की वस्तु-हानि हो जाय तो उसी तरह की वस्तु उसे खरीद कर दो। उससे कीमत लेने की बात न कहो बल्कि पूर्ण गम्भीरता तो तब कही जायगी जब उसके सामने बिना प्रश्न उठाये उसकी वस्तु चोरी जाने और दूसरी लाकर देने की बात ही न करो। यदि माँगी हुई वस्तु बिगड़ जाय तो मरम्मत कराके दो।

तुम स्वयं किसी को कोई वस्तु दान करो, तो कभी खराब वस्तु न दो। समय के अनुसार आवश्यक वस्तु का दान करो।

अपने ऊपर बड़ी कड़ी दृष्टि रक्खो, दूसरों पर दया करो, अपने ऊपर अपने आप के द्वारा शासन रक्खो। अपने हृदय को इतना पवित्र बना लो कि किसी भी पतित के भीतर भी नित्य स्थित रहने वाले पावन तत्त्व को अपनी निर्दोष दृष्टि द्वारा देख सको।

तुम उन अल्प बुद्धि वालों के पीछे न चलो जो बिना सोचे-समझे ही किसी की सज्जनता, साधुता में भी दोषारोपण करते रहते हैं। वे बिचारे अभी सद्गुणों की सीमा में पहुँच नहीं सके हैं, तभी क्षुद्र बातों में रस लेते रहते हैं।

सुख तो सभी प्राणी चाहते हैं, किन्तु धर्म पूर्वक सुख प्राप्ति का ज्ञान सबको नहीं है। इसीलिये अज्ञान वश सुख का इच्छुक प्राणी पापी, अपराधी बनता रहता है।

धर्म ज्ञान पूर्वक सुख को प्राप्त करने का पक्षपाती व्यक्ति ही मानव है; जो धर्म ज्ञान को भूला सुख प्राप्त करता फिरता है, वही अनाचारी, दुराचारी और व्यभिचारी कहलाने वाला आसुरी का व्यक्ति है।

तुम किसी से घृणा न करो। सभी में रहने वाले उसीकी सत्ता में जीने वाले

है। कभी न कभी पापी भी पुण्यात्मा होगा, बद्ध भी मुक्त होगा, अज्ञानी भी ज्ञानी होगा।

वास्तव में तुम जितना ही निर्दोष, पवित्र प्रज्ञा-सम्पन्न बनोगे, उतनी ही तुममें गम्भीरता, क्षमा, दया की अधिकता दिखाई देगी। तुम संसार में उन पुरुषों को देखो, जिन्होंने पतितों, अधमों को भी प्रेमदान दिया है, अपनी साया में स्थान दिया है।

तुम दूसरों की निन्दा से छिद्रान्वेषण से बहुत ही सावधान होकर बचो, क्योंकि यह अत्यधिक सरलता से होने वाला प्रबल पाप है। प्रायः अच्छी समझ वाले पुरुष भी इस अपराध से नहीं बच पाते। तुम्हारी कोई निन्दा करे, तो दुःखी न होकर उत्तेजित क्षुभित न होकर विचार करो, निन्दा में यदि कुछ सत्यांश है, तो अपने दोष को दूर करो और निन्दक को एक धोबी की भाँति हितैषी समझो जो सदा सबके मैले वस्त्रों को ही देखता फिरता है। उजले कपड़े देखकर व्यापार-लाभ में बाधा प्रतीत होती है। सन्तों ने तो ठीक ही समझाया है:—

निन्दक नियरे राखिये आँगन कुटी छवाय।
पानी साबुन के बिना निर्मल करत सुभाय॥

तुम्हारी जब कोई निन्दा करे तभी अपने में गुण-पुष्टि का एक शुभ अवसर समझो, क्योंकि जहाँ तुम्हें अनेक व्यक्ति अपनी प्रशंसा करने वाले मिलेंगे वहीं पर कुछ निन्दकों की भी आवश्यकता है, इससे तुम अपने भीतर देख सकोगे कि कितना (प्रशंसा सुनकर) अभिमान बढ़ा है। निन्दा सुनकर जितना ही तुम्हें दुःख होगा, उतनी अभिमान की मात्रा स्पष्ट होगी और किंचित भी दुःख न होने पर विनम्रता का परिचय मिलेगा। अभिमान की अधिकता में ही निन्दक के प्रति द्वेष और स्तुति करने वालों के प्रति राग दृढ़ होगा।

तुम निन्दित होने, अपमानित होने पर अपना प्रारब्ध-भोग समझकर समबुद्धि से शान्त रहो, द्वेष पूर्वक किसी से बदला लेने की इच्छा न करो, ऐसा तुम तभी कर सकोगे जब सद्गुणों का अत्यधिक विकास हो चुकेगा। केवल सद्गुणों के ज्ञान या सद्भावना मात्र से तुम जब तक शान्ति न पा सकोगे। जब तक व्यवहार में सद्गुणों का ही दैनिक अभ्यास दृढ़ न होगा।

द्वेष करोगे, द्वेष बढ़ेगा, प्रीति करोगे प्रीति।
जैसा मुख वैसा दीखेगा, जग दर्पण की रीति॥

परस्पर के व्यवहार में प्यार के बदले प्यार और तिरस्कार का उत्तर तिरस्कार देने वाले तो सभी ओर लाखों व्यक्ति दिखाई देते हैं, किन्तु ऐसे उदार हृदय के पुरुष कम दिखते हैं जो प्यार न करने वालों के प्रति बदला चाहे बिना ही प्यार सत्कार करते हैं और ऐसे विशाल हृदय के महापुरुष कहीं विरले ही मिलते हैं, जो अपना तिरस्कार करने वालों के प्रति भी प्यार की भावना रखते हैं।

कर्म-व्यवहार के मध्य में ही दानवी प्रकृति का बल पशु-प्रकृति पर शासन करता है, मानवी प्रकृति का बल दानवी प्रकृति के दमन से बढ़ता है इसी प्रकार दैवी-प्रकृति मानवी-प्रकृति का सदुपयोग करती है। और ईश्वरीय प्रकृति का बल दैवी-प्रकृति में उतर कर संसार का कल्याण करता है।

परमशान्ति से वंचित बुद्धिमान मनुष्यो! आप शरीर से, वाणी से, मन से जो कुछ व्यवहार करें। वह शुद्ध सतोगुणी भाव की, विवेक की प्रधानता में करें। जिससे कहीं भी अभिमान, लोभ, मोह, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष की पुष्टि न होकर केवल सद्गुणों की पुष्टि होती चले।

सबसो रहु निरवैर ह्वै मुख सों मीठा बोल।
तन सों रच्छा जीव की चरनदास कहे खोल॥

कड़वा वचन न बोलिए तनसो कष्ट न देय।
अपना सा सब जानि के बर्तै तो दुख हरिलेय॥

मन को अनुकूल बनाने के उपाय

(श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज)

साधक प्रायः कहा करते हैं कि हमारा मन भजन और ध्यान में अधिक नहीं लगता। कभी-कभी तो संकल्पों की बाढ़ सी आने लगती है। किन्तु दुकानदारी, आफिस, अथवा अन्य सांसारिक कार्यों में मन एकाग्र रहता है। कभी नोटों के गिनने में नींद का भान नहीं होता किन्तु भजन करते समय नींद के वेग में माला भी हाथ से छूट पड़ती है। सत्संग में बैठने पर खूब झपकियाँ आती हैं। इन सभी प्रतिकूलताओं के मूल कारण में माया से मन की तद्रूपता ही है और वह स्वाभाविक भी है क्योंकि जन्म जन्मान्तरों में हमारा मन विषयाकार ही तो रहा है। प्रतिकूल मन को भजन और ध्यान में लगाने के लिये युक्तियों से काम लेने की आवश्यकता है। सबसे पहिले साधक को अपनी दिनचर्या दृढ़ता से नियमित बना लेनी चाहिये। नियम पालन के साँचे में पड़कर हमारा प्रतिकूल मन एक न एक दिन अवश्य साधन के अनुकूल बनेगा।

ब्राह्ममुहूर्त्त में शौच स्नानादि से निवृत्त होकर ऐसे पवित्र-एकान्त स्थान पर जाओ जहाँ का वातावरण पूर्ण सतोगुणी हो। वह स्थान नीरव और निर्जन हो तो अत्युत्तम। किसी प्रकार के विक्षेपात्मक शब्द कानों में नहीं पड़ने चाहिये। यदि ऐसा सतोगुणी स्थान सुलभ न हो तो अपने मकान में एक कमरा, केवल भजन-पूजन और ध्यान के लिये ही सुरक्षित रक्खो। समय के अतिरिक्त उस कमरे को बन्द ही रक्खो। उसमें किसी प्रकार का भी सांसारिक कार्य वर्जित रहे। अशुद्ध अवस्था में उसमें प्रवेश का निषेध भी हो। कचहरी में पहुँच कर न्यायाधीश जैसे एक विशेष प्रकार के वस्त्र पहन कर कुर्सी पर बैठता है तब अपराधियों के मुकदमों का फैसला करता है। इसी प्रकार भजन और ध्यान के निमित्त, हाथ के कते-बुने शुद्ध खादी के वस्त्र का परिधान बना लो, जिसका प्रयोग केवल उसी समय होना चाहिये। उन वस्त्रों को धारण कर पवित्र भावना से आसन पर बैठ जाओ और सबसे पहिले अपने चञ्चल मन से बातचीत कर लो। मनीराम से पूछो कि इस निर्धारित समय में तुम्हें क्या करना है? यदि इतने से काम न चले तो इन्हें भयभीत करो कि यदि तुम अभी भजन में न लगे तो यह शरीर छूट जाने के बाद असंख्य दुःख भोगने पड़ेंगे जिस धन और स्त्री पुत्रादि तथा शारीरिक सुखों के संकल्प विकल्पों से तुम विचलित हो रहे हो वे तो सब के सब एक दिन छूट ही जायँगे, और अगले जन्मों में तुम्हारे किसी भी काम नहीं आवेंगे। बार-बार ऐसा समझाने से मन अवश्य ही संकल्प रहित होकर भजन में लग जायगा। एकाग्रता होते ही अन्तःकरण में आनन्द की धारा स्वयमेव प्रवाहित होने लगेगी।

जिस प्रकार आँख में यदि बालू का एक कण भी पड़ जाय तो बहुत कष्ट होता है, इसी प्रकार एक भी संकल्प उठने से आन्तरिक आनन्द उस संकल्प के द्वारा बाहर निकल जाता है। अतएव उस भीतरी आनन्द के स्रोत का मुख बन्द करने के लिये बीच-बीच में वृत्तियों का निरोध करते रहो। जिस क्षण मन भजन से भागने लगे उसी क्षण सचेत होकर निश्चित युक्तियों का प्रयोग करो। उस समय यह चिन्ता मत करो कि हमें ११ या २१ माला फेरनी हैं। माला फेरना बन्द करके पहिले तो अपने मनीराम को फेर लेना बहुत आवश्यक है। क्योंकि ये मनीराम महाशय ही भजन करने वाले हैं और ये ही संकल्प-विकल्प के निर्माता हैं। भजन के पूर्व इन्हें समझाते रहने से साधक को अवश्य

सफलता मिलती है। वस्तुतः मन ही बन्धन और मोक्ष दोनों का मूल कारण है।

"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।"

वृत्तियों के निरोध का सदभ्यास हो जाने से पारमार्थिक लाभ के साथ-साथ शारीरिक और सांसारिक लाभ भी बहुत होता है। परिश्रम करने के पश्चात अधिक थकावट का अनुभव होने पर थोड़ी देर विश्राम करने से आराम मिलने पर जैसे नई स्फूर्ति मिल जाती है इसी प्रकार अहर्निश माया में लगा मन थक कर चकनाचूर हो चुका है, संकल्प रहित होना ही मन का विश्राम है। मन के स्थिर होते ही तुम्हें एक नवीन स्फूर्ति, उत्साह और उमङ्ग की अनुभूति होने लगेगी, और फिर पुनः अपने कार्यों को सरलता से कर सकोगे। सफलता तुम्हारी दासी बन जायगी। अखण्ड पुरुषार्थी बन जाने की भी यही एक सीधी और सरल युक्ति है। तब तुम स्वयं ही मन की अपार शक्तियों का अनुभव करते हुए एकाग्रता से चरम लक्ष्य की ओर अग्रसर होते जाओगे।

कोल्हू के बैल की भाँति निरन्तर माया की गुलामी करने से मानसिक शक्तियाँ बिल्कुल क्षीण हो जाती हैं। अतएव माया के कार्य दाल में नमक के समान सीमित समय तक ही करो। हर समय अपनी वृत्तियाँ संसार में लगाये रखना बुद्धिमानी नहीं अज्ञानता है। सोचो और विचारो कि असंख्य धनराशि एकत्रित कर लेने पर भी यह माया तुम्हें भोजन और वस्त्र के अतिरिक्त क्या दे देगी? जिन स्त्री पुत्रादि की रक्षा के लिये चिन्तित होकर दिन रात लगे रहते हो वे मृत्यु के समय अथवा परलोक में तुम्हारी क्या सहायता करेंगे? धन-वैभव, पुत्र-कलत्र सब कुछ एक दिन यहीं छूट जायँगे। अपने साथ तो केवल शुभ और अशुभ कर्मों का समूह ही जायगा। अतएव बड़ी सावधानी से शुभ कर्मों का संचय कर लेना चाहिये क्योंकि शरीरांत के बाद भी तुम्हारा जीवन अनन्त है और उस अनन्त जीवन को सर्वदा के लिये आनन्दमय बनाने का पुरुषार्थ इसी मानव योनि में ही हो सकता है, फिर कदापि ऐसा स्वर्ण-संयोग प्राप्त नहीं हो सकेगा।

सांसारिक कार्यों में सीमित समय लगाने के पश्चात तुम्हारे पास जो समय बचे उसमें से अपनी दिनचर्या के अतिरिक्त शेष परोपकार में लगा दो आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद जो धन बचे उसे सार्वजनिक-समयोपयोगी सेवा में लगा दो। परोपकार में समय और धन लगाने से जन्म-जन्मार्जित पाप-राशि नष्ट हो जायगी और इस जीवन में ही तुम्हें संसार में कोई वस्तु दुर्लभ नहीं रहेगी।

परहित बस- जिनके मन माँहीं
तिन कहँ जग दुर्लभ कछु नाँहीं॥

विचार करो कि अपने पुत्र को पढ़ाने में यदि सौ रुपया मासिक व्यय होते हैं तो क्या तुम्हें अपने पुत्र से इसके बदले में कुछ आशीर्वाद मिलता है? तुम कहोगे यह तो हमारा कर्त्तव्य ही है पुत्र भी यही कहेगा कि यह तो हमारे पिता का कर्त्तव्य है ही। किन्तु यदि किसी ऐसे लड़के की शिक्षा में जिसका तुमसे किसी प्रकार का नाता नहीं है, पाँच रुपया मासिक भी व्यय होगये तो वह धन तुम्हारा सार्थक हो गया। शिक्षित होकर वह जीवन भर तुम्हें याद रक्खेगा। उसकी अन्तरात्मा तुम्हें आशीर्वाद देगी। आज मनुष्य ने अपना सर्वस्व स्त्री, पुत्र और परिवार के हाथों में ही सौंप दिया है, अपने शरीर को बेच दिया है, अपने जीवन की बाजी लगादी है, वह भूल गया है कि इन चार छः प्राणियों के अतिरिक्त और भी अनेक प्राणियों की सेवा का भार अपने ऊपर है जिसे चुकाए बिना उसका निस्तार असम्भव है।

माता-पिता, देश और देवताओं का ऋण चुकाए बिना वह मंगलमय प्रभु के दरबार में प्रविष्ट होने का अधिकारी नहीं है। प्रमादवश यदि हमने अपने शरीर और शरीर से संबन्धित जनों की सेवा में ही जीवन बिता दिया तो परलोक में हमसे जवाब तलब किया जायगा। वहाँ का न्यायाधीश हमें पुनः वापस भेजेगा और कहेगा कि अपने ऋण का परिशोध करके ही तुम यहाँ आने के अधिकारी बन सकते हो। उस समय वह हमें मनुष्य-योनि में नहीं भेजेगा क्योंकि इस शरीर में रहकर तो हम केवल अपने शरीर की ही सेवा करते रहे थे। तब वह हमें घोड़ा, बैल, कूकर, शूकर अथवा वृक्षादि योनियों में भेज देगा कारण कि इनके द्वारा सहस्रों की सेवा हो सकेगी। तब विवश होकर हमें अपना शरीर परोपकार में लगाना पड़ेगा। विचार कीजिये यदि हमारा जीवन परोपकारमय नहीं है तो मनुष्य शरीर पाने का लाभ ही क्या मिला? जब तक जीवन रहा दूसरों से अपनी सेवा कराकर कष्ट देते रहे और शरीर छूटने के बाद भी दूसरों के कष्टों के कारण बने। शव का दाह करने के लिये पाँच छः मन लकड़ियाँ चाहिये, यदि धनी परिवार के हुये तो चन्दन और दुशाले की आवश्यकता है। फिर दसवाँ तेरहीं और वर्षी में धन लगे, प्रति वर्ष पितृ पक्ष के दिनों में ब्राह्मण भोजन हो, इत्यादि। इसके विपरीत पशु जब तक जीवित रहता है तब तक उसका शरीर दूसरों की सेवा में ही लगा रहता है और मरने के बाद भी उसके शरीर का सदुपयोग हो जाता है। चमड़े के जूते बने और हड्डियाँ भी काम में लगीं। इस प्रकार मनुष्य से अधिक उपयोगी तो पशु ही सिद्ध हुआ। किन्तु यदि मनुष्य अपने कर्त्तव्य-धर्म के प्रति सचेत होकर तदनुसार अपना जीवन व्यतीत करे तो नर से नारायण की पदवी तक पहुंचता है।

पशु की बनै पनहियाँ नर का कछू न होय।

नर जो करनी करै तो नर से नारायण होय॥

प्राचीन काल में अपने समृद्ध भारत में सर्वत्र सुख और शान्तिका साम्राज्य इसीलिये था कि धर्म-प्रधान प्रत्येक भारतीय अपने जीवन को प्रारम्भ से ही परोपकारमय बनाकर व्यतीत करते थे। आज जो बात दुरूह और असम्भव जान पड़ती है, उस काल में सुगम थी। तात्पर्य यह कि अपने मन को अनुकूल बनाकर ही हम अपना जीवन सफल बना सकते हैं। ऐसे साधन-पथ पर चलकर हमारे लोक परलोक दोनो सुधर जायँगे और राष्ट्र का उत्थान होगा।

धिक्कार

वासना वह्नि में जलता रहा, प्रभु प्रेम पयोधि को जान न पाया।
दान को हाथ उठे न कबहुँ, नित भोग की गोद में चित्त रमायो॥
सङ्ग किया नहि सन्तन का, बहुबार तुझे सबने समुझाया।
धिक्कार अरे शतबार तुझे, यह स्वर्णिम जीवन व्यर्थ गँवाया॥

—श्री हृदयनाथ जी शास्त्री, साहित्यरत्न

श्रेयः साधन

(लेखक—सुखस्वरूप वानप्रस्थी)

गीता में अर्जुन का एक ही प्रश्न है और समस्त भगवद्गीता उसी एक प्रश्न के उत्तर का उपाख्यान है। वह प्रश्न है श्रेय का।

जिससे जीव का कल्याण हो, उसे श्रेय कहते हैं—श्रेय का प्रतियोगी होता है प्रेय, जो प्रकट में तो प्यारा लगता है, मन को भाता है परन्तु उसका फल अहितकर निकलता है और जीव को अधोगति में ले जाता है।

कठोपनिषद् में जब नचिकेता ने यम से यह प्रश्न किया कि मुझे आत्मा का तत्त्व समझाओ और आत्म-प्राप्ति का मार्ग दिखलाओ तब यम ने उससे कहा कि तू संसार के समस्त भोग-विलास, बड़ी आयु, मनमानी सम्पत्ति आदि क्यों नहीं मांग लेता? चाहे जितना बड़ा राज्य और चक्रवर्ती राजा के सुख मांग ले उन्हें भी मैं दे दूँगा। आत्मा की प्राप्ति के लिये व्यर्थ क्यों प्रश्न कर रहा है? इस पर नचिकेता ने उत्तर दिया कि ये सब भोग-विलास, सुख-सम्पत्ति चक्रवर्ती राज्य आदि अत्यन्त रमणीय हैं—नाशवान हैं, देखने में प्रिय लगते हैं, परन्तु उसका परिणाम अच्छा नहीं होता, आत्मा का सुख नित्य है अतः मुझे आत्म-प्राप्ति ही का मार्ग बताइये—यम समझा कि नचिकेता सच्चा जिज्ञासु है अतः बोलाः—

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे,
नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधुर्भवति,
हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥
श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्य मेत,
स्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयोहि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते,
प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥
सत्वं प्रियान् प्रियरूपाँश्च कामान्,
अभिध्यायन् नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ॥
नैतां सङ्कां वित्तमयीमवाप्तो;
यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ॥
(कठ, अ० १ व २ मं० १, २, ३)

अर्थात्—श्रेय और प्रेय भिन्न-भिन्न हैं और उनका फल भी जीव को भिन्न-भिन्न ही मिलता है। श्रेय के ग्रहण करने वाले का कल्याण होता है और प्रेय के पीछे भागने वाले की अधोगति होती है। अतः धीर और ज्ञानी पुरुष श्रेय और प्रेय का विवेक करके श्रेय की प्राप्ति चाहते हैं और मंदभागी जीव प्रेय को खोजते रहते हैं। हे नचिकेता! तू ज्ञानी है, तैंने दिखावटी और नाशवान् सुखों की वास्तविकता को पहिचान लिया है जिनमें अनेक प्राणी फंस रहे हैं।

इसी श्रेय की प्राप्ति के आकांक्षी अर्जुन ने भगवान् कृष्ण से कहा कि मैं अपने स्वजनों की हत्या करने में कोई श्रेय नहीं देखता।

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥

परन्तु भगवान कृष्ण ने इस पर भी अर्जुन से युद्ध करने ही के लिये कहा तो फिर अर्जुन भावनात्मक शब्दों में कहता हैः—

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्,
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।

भगवन्! राज्य-सुख के लिये भीष्म और द्रोण

सरीखे गुरुजनों की हत्या न करके भिक्षा माँगकर पेट भर लूँ इसमें मुझे श्रेय प्रतीत होता है।

परन्तु भगवान् कृष्ण जानते थे कि अर्जुन अशोच्य पदार्थों के सम्बन्ध में शोक कर रहा है और ज्ञानियों की सी बातें करता है। इस पर जब उसे डाँटा और युद्ध करने के लिये आग्रह किया तो कृष्ण के वाक्यों में अटल श्रद्धा रखने वाला अर्जुन किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गया, उसकी बुद्धि पथप्रदर्शन करने में असमर्थ हो गई अतः घबड़ाकर बोला:—

> कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः,
> पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
> यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे;
> शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥

हे कृष्ण! मेरी बुद्धि भ्रम में पड़ गई है, किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो गया हूँ—श्रेय और प्रेय के धर्म का विवेक करने में असमर्थ हूँ—मैं आप का शिष्य हूँ, आपकी शरण हूँ, मेरा उद्धार कीजिये और कृपा करके निश्चित रूप से बतलाइये कि मेरा श्रेय किसमें है।

इसी प्रश्न के उत्तर के साथ भगवद्गीता के आख्यान का प्रारम्भ होता है और इसी प्रश्न के उत्तर में गीतान्तर्गत समस्त सिद्धान्तों, विवेचनों तथा दर्शनात्मक विचारों का समावेश हो जाता है।

कठोपनिषद् के उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि जिस आत्मा के ज्ञान की प्राप्ति के लिये नचिकेता ने यम से प्रश्न किया था उसी ज्ञान को यम ने श्रेय बतलाकर नचिकेता की जिज्ञासा की प्रशंसा की है। अतः भगवान् कृष्ण के उत्तर में भी सबसे पहिले आत्मा की अमरता को ही स्पष्ट किया गया है और देह तथा देही (आत्मा) के तत्त्व को समझा कर यह निर्धारित किया गया है कि आत्मा ही सत्य और नित्य वस्तु है उसका कभी नाश नहीं होता—अन्य सब पदार्थ अनित्य, और अस्थिर हैं—इसी आत्मा का साक्षात्कार करने में जीवात्मा का श्रेय है, और यह भी बतलाया कि यह श्रेय कर्मसन्यास द्वारा नहीं, किन्तु कर्मयोग द्वारा प्राप्त होता है। तदनन्तर कर्मयोग का विवेचन किया और उसमें स्वधर्म पालन के ऊपर सबसे अधिक जोर देकर कहा:—

> स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
> धर्म्याद्धि युध्याच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥
>
> (गी० अ० २ श्लो० ३१)

कि क्षत्रिय के लिये धर्मयुद्ध में बद्धपरिकर होकर लड़ना स्वधर्म का पालन करना है और इसमें क्षत्रिय का श्रेय है। स्वधर्म के सिद्धान्त-तत्त्व को बतलाते हुए प्रसंगवश स्थिर-बुद्धि तथा निश्चयात्मिका बुद्धि की प्रधानता दिखलाई और स्थितप्रज्ञ होना ही ब्राह्मीस्थिति का आधार बतलाया—इस पर फिर अर्जुन की बुद्धि भ्रान्त होगई; उसे संदेह हुआ कि कर्म का तो उपदेश दिया जाता है और बुद्धि की प्रधानता स्थापित की जाती है। अतः कहने लगा कि:—

> ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
> तत् किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥
> व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
> तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥
>
> (गी० अ० ३ श्लो० १, २)

हे जनार्दन! यदि आप बुद्धि को कर्म से ऊपर समझते हैं तो फिर युद्ध सरीखे घोर कर्म में मेरा श्रेय किस प्रकार हो सकता है। आप तो बुद्धियोग और कर्मयोग दोनों ही का उपदेश कर रहे हैं, मेरी बुद्धि तो इससे बड़े उलझन में पड़ गई, मुझे निश्चित रूप से एक बात बताइये जिसके द्वारा श्रेय की प्राप्ति हो।

अर्जुन की इस उलझन को दूर करने के लिये श्रीकृष्ण ने कर्म की फिलासफी की व्याख्या

वैज्ञानिक रूप से की और संक्षेपतः बतलाया कि देहधारी के लिये कर्म तो अनिवार्य है, उस अनिवार्य कर्म को किस प्रकार करे जिससे कर्मबन्धन न हो और तदर्थ बुद्धियोग की आवश्यकता बतलाई अथवा कहा कि बुद्धियोग कर्मयोग का आवश्यकीय अङ्ग है। बुद्धि की धारणा ही कर्म को निष्काम अथवा सकाम बना देती है। निष्काम कर्म द्वारा श्रेय की प्राप्ति होती है और निर्भय बनने के लिये बुद्धि-शोधन की आवश्यकता है और इसी में बुद्धि की प्रधानता है। बुद्धि की शुद्धि के लिये इस भावना का दृढ़ हो जाना अत्यन्त आवश्यक है कि समस्त सृष्टि एक है, हम सब उसी एक योजना के भिन्न-भिन्न अवयव हैं। सब का हित परस्पर एक दूसरे से ऐसा निकटस्थ और सम्बन्धित है कि एक के लाभ में दूसरे का लाभ, एक की हानि में दूसरे की हानि, एक के सुख में दूसरे का सुख और एक के दुःख में दूसरे का दुःख सन्निहित है। यही समष्टि का स्वरूप है। यही भाव भगवद्गीता के निम्नलिखित श्लोकों में प्रकट होते हैं:—

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।
(गी० अ० ७ श्लोक १६)

सर्वभूतेषु एनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तद्ज्ञानं विद्धिसात्त्विकम्॥
(अ० १८ श्लो० २०)

यदाभूतपृथक्भावमेकस्थमनु पश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्मसम्पद्यते तदा॥
(अ० १३ श्लोक ३०)

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि॥
(अ० ११ श्लोक ७)

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा॥
(अ० ११ श्लोक १३)

अर्थ यह है कि ऐसा ज्ञानी महात्मा कठिनता से ही मिलेगा जो समस्त विश्व को भगवान् का एक रूप समझे। जिस ज्ञान द्वारा मनुष्य भिन्नता में एकता, नानात्व में एकत्व देखता है वह सात्विक ज्ञान है। जब समस्त पृथक्-पृथक् व्यक्तियों तथा पदार्थों को मनुष्य एक ही समष्टि रूप में अनुभव करता है तब उसे ब्रह्म के स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है। भगवान कृष्ण ने जब अर्जुन को अपना विश्वरूप दिखलाया तो यही संकेत किया कि तू इस एक रूप ही में समस्त चराचर को देख—ये सब एक ही अवयवी के अवयव हैं, तब अर्जुन ने दिव्यदृष्टि द्वारा समस्त विभक्त जगत को एक ही रूप में—एक ही शरीर में समष्टि रूप से स्थित देखा और कृतकृत्य होकर वह इस विश्वरूप भगवान् की स्तुति करने लगा।

इसी एकत्व को सिद्ध करने वाले अनेक स्थल गीता में हैं—इस लेख में संक्षेपतः इस सत्य को दिखलाते हुये हमें यह सिद्ध करना है कि श्रीकृष्ण भगवान् ने अर्जुन को श्रेय का तत्त्व बतलाते हुये यह निर्धारित किया कि बुद्धि को विशुद्ध और निष्काम बनाने के लिये समस्त सृष्टि को एक शरीर ही नहीं एक पुरुष समझकर कर्म करना चाहिये और ये समस्त कर्म सृष्टि की स्थिति तथा लोक-संग्रह रूपी महायज्ञ के पारस्परिक सहयोगी अंग बनाये गये जिनकी नियुक्ति सृष्टि की रचना के साथ ही आवश्यक थी। श्री गीता में कहा है:—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

अर्थात् सृष्टि की रचना के साथ ही जो कि

भगवान् का एक महायज्ञ रूपी कर्म था प्रजा के कर्म भी नियुक्त होकर आये—यही सबके स्वधर्म और स्वाभाविक कर्म हैं और इस रचना के साथ ही ब्रह्मा ने आदेश किया कि अपने अपने कर्म को, स्वधर्म को करते हुए ही तुमको समस्त इष्टों की प्राप्ति होगी। मूल सिद्धान्त इन नियुक्त कर्मों का यह था कि उनमें पारस्परिकता और सहयोगिता विद्यमान रही—सबके कर्म एक दूसरे के हित को ध्यान में रखते हुये करने का सिद्धान्त उनके अन्तर्गत रहा—उन कर्मों को यज्ञार्थ अर्थात् समष्टि के हित को ध्यान में रखते हुए करने में कर्म बन्धन से भी मुक्ति प्राप्त होना सिद्ध किया:—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर॥

यदि कर्म यज्ञ के लिये न किये जायँ अर्थात् समष्टि के हित की कामना से परस्पर हित को ध्यान में रखते हुये न किये जायँ—स्वार्थ को त्याग कर स्वधर्म को पालन करने के लिये न किये जायँ तो उनसे संसार का बन्धन नहीं छुटता ऐसे महायज्ञ की भावना से ही उनके करने में श्रेय है जिसको अलङ्कारिक भाषा में कहा कि:—

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

अर्थात् यज्ञ के स्वरूप में तुम्हारे किए हुए कर्मों से दिव्य शक्तियाँ सन्तुष्ट होंगी और फिर वे दिव्य शक्तियाँ तुमको सन्तुष्ट करेंगी और इस प्रकार परस्पर एक दूसरे को सन्तुष्ट करते हुए परम श्रेय की प्राप्ति का लाभ होगा—तदनन्तर यह बतलाते हुये कि यज्ञ से वृष्टि, वृष्टि से अन्न, अन्न से प्रजा की रक्षा होती है भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से कहा कि यह सृष्टि की रचना का एक मौलिक नियम है जो सहयोग और सहकारिता के सिद्धान्त पर अवलम्बित है। जो मनुष्य इस सहयोग और सहकारिता के प्रवर्तित चक्र के अनुसार कर्म नहीं करते उनकी बुद्धि कदापि शुद्ध नहीं हो सकती उनका जीवन भी व्यर्थ ही जाता है और उनके लिये श्रेय की प्राप्ति असम्भव है। इसी सिद्धान्त को निर्धारित करने के लिये भगवान् ने गीता के दशवें अध्याय में "सबमें मैं हूँ" यह विभूति योग और "सब मुझमें है" यह विश्वरूप ग्यारहवें अध्याय में दिखलाया है।

'परमार्थ' के प्रमुख वाक्य 'सर्वभूत हितेरताः' का महत्त्व भी समष्टि की एकता, परमात्मा की सर्वव्यापकता की ओर संकेत करता है। अतः सबके हित में संलग्न रहने में ही भगवान की पराभक्ति का लाभ भगवान् ने श्रीमुख से कहा है।

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूत हितेरताः॥
(अ० १२ श्लोक ४)

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूत हितेरताः॥
(अ० ५ श्लोक २५)

जो अपनी स्वार्थपरा इन्द्रियों को संयम के द्वारा वश में रखते हुये, सब प्राणियों को समान भाव से देखते हुये, समस्त चराचर के हित में प्रेम पूर्वक संलग्न रहते हैं वे 'सर्वभूत हितेरताः' सिद्धान्त के साधक मुझे ही (ईश्वर) प्राप्त करते हैं। तथा जो ऋषिगण माया-जनित द्वैत भावों को त्याग कर समाहित चित के साथ प्राणिमात्र के हित में रत रहते हैं वे भी समस्त पापों से रहित होकर ब्रह्म की प्राप्ति कर लेते हैं इत्यादि प्रकार से स्वधर्म पालन के तत्व और सिद्धान्त को बतलाते हुये भगवान् कृष्ण ने स्वधर्म का महत्त्व दिखलाने के लिये कहा:—

श्रेयान्स्वधर्मोविगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

अपना स्वभाव नियत धर्म-कर्म गुणों वाला

होने पर भी परधर्म से चाहे वह अधिक गुणों वाला हो अधिक श्रेयस्कर है। स्वधर्म पालन में अपने प्राण तक जाते रहें तो भी तुमको श्रेय प्राप्त होगा— परन्तु परधर्म का लालच तुम्हारे लिये भयकारक सिद्ध होगा।

एवं श्रेय की प्राप्ति का साधन बतलाते हुए श्रीकृष्ण ने आगे कहा कि अर्जुन जिन यज्ञों के लिये कर्म करना चाहिये वे द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ और ज्ञानयज्ञ चार प्रकार के होते हैं। उनमें ज्ञानयज्ञ सर्वश्रेष्ठ है। 'सर्वंकर्माखिलं पार्थज्ञाने परिसमाप्यते'—ज्ञान प्राप्त हो जाने में ही कर्मों की समाप्ति है, ज्ञानाग्नि में समस्त कर्म भस्म हो जाते हैं—ज्ञान के समान पवित्र और कुछ नहीं है—ज्ञान द्वारा योगी परम शक्ति को प्राप्त करता है, ज्ञान सर्वोपरि है।

ऐसा कहने पर अर्जुन फिर भ्रम में पड़ गया और कहने लगा—महाराज! आप कभी तो कर्मयोग को और कभी ज्ञानयोग को अच्छा बतलाते हैं मुझे तो निश्चित रूप से यह बतलाइये कि इन दोनों में से श्रेय किसके द्वारा प्राप्त होता है:—

'यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्।'

तब भगवान् कृष्ण बोले कि कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों ही परम श्रेय के देने वाले हैं परन्तु कर्मों के त्याग की अपेक्षा कर्म करने में अधिक लाभ है और उसके पश्चात् ज्ञानयोग और कर्मयोग की व्याख्या करते हुए यह बतलाया कि व्यष्टि रूप से आत्मा की, समष्टि रूप से ईश्वर की व्यापकता का अनुभव करलेना ही पुरुषार्थ है और उसी के द्वारा परम श्रेय प्राप्त हो सकता है—परन्तु आसुरी सम्पदा जीवात्मा को अधोगति का कारण बन जाती है। जिसके मूल कारण काम क्रोध, और लोभ हैं, ये तीनों नरक के द्वार हैं:—

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥

काम, क्रोध और लोभ इन तीनों से विमुक्त होने पर जीव अपनी आत्मा का श्रेय प्राप्त करता है। और इन तीनों से छुटकारा पाने के तीन उपाय— यज्ञ, दान और तप बतलाये अर्थात् दान द्वारा लोभ, तप द्वारा क्रोध और यज्ञ द्वारा काम के ऊपर विजय प्राप्त होती है। और निर्देश किया कि:—

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेवतत्।
यज्ञोदानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥

यज्ञ, दान और तप कभी नहीं त्यागने चाहिये—ये तीनों जीवात्मा को पवित्र कर देते हैं—आत्मा के ऊपर काम, क्रोध, लोभ आदि द्वारा जो मल, विक्षेप और आवरण आजाते हैं यज्ञ, दान, तप उनको दूर करके आत्म-साक्षात्कार करा देते हैं।

इस प्रकार परम श्रेय प्राप्त होगा। अतएव अर्जुन! तू स्वधर्म का पालन कर और तदर्थ १८ वें अध्याय में फिर दुहराया कि अपना स्वधर्म कम गुण वाला होवे तो भी परधर्म की अपेक्षा उसे ही पालन करना चाहिए। स्वधर्म श्रेय का दाता और परधर्म प्रेय, मोह और अज्ञान को दूर करने वाले इस गुह्यतम उपदेश की धारणा बना कर गद्गद् होकर अर्जुन बोले:—

नष्टोमोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मिगतसंदेहः करिष्येवचनं तव॥

श्री सद्गुरुदेव

(गतांक से आगे)

(श्री मञ्जुल जी)

बाह्यरूप से भी महापुरुषों का जीवन निर्विकारी होता है, अन्तर से तो काम क्रोधादि विकार उनको कभी स्पर्श भी नहीं कर सकते। आश्रम पर रहते हुये आप के साथ कोई भी व्यक्ति उचित-अनुचित कैसा भी व्यवहार करे आप सदैव शान्त रहा करते थे। एक मूर्ख व्यक्ति आप की कुटिया में जूते पहिने हुये सीधा आप के आसन पर आकर बैठ जाता था आपने यह सोचकर कि यदि डाँट कर उसको कुछ कहा जायगा तो इसे दुःख होगा, अतएव उससे कभी कुछ नहीं कहा। आप कहा करते थे कि साधुनीति और राजनीति में बहुत अन्तर है। साधु को सदैव सहनशील होना चाहिये। कितना भी कोई साधु को सतावे अथवा उसके साथ अनुचित व्यवहार करे किन्तु फिर भी साधु के मन में सदा भगवतबुद्धि से सहन करने की भावना बनी रहनी चाहिये। महात्मा जितना ही आत्मबुद्धि से सहन करता है उतना ही उसका आत्मिक बल बढ़ता है। यही उसका महान तप है। जिस प्रकार स्वर्ण तपाने से अधिकाधिक चमक-दमक वाला खरा निकलता चला आता है उसी प्रकार मन भी प्रतिकूल परिस्थितियों में समता में स्थित रखने से शुद्ध हो जाता हैं, साधु का भूषण तप है।

राजनीति में न्याय अन्याय, उचित-अनुचित, भला-बुरा सब ध्यान पूर्वक देखकर व्यवहार करना पड़ता है। राजा को अन्तर से साधु रहना चाहिये, और बाह्य रूप से पापी-पुण्यात्मा सज्जन और दुर्जन देखकर विचार पूर्वक व्यवहार करना चाहिये। मैं साधू हुआ हूँ मैंने जैसे कपड़े पहने हैं उसी प्रकार का स्वाँग मुझे करना चाहिये, मुझे इस काल्पनिक भेद प्रपंच पूर्ण जगतसे मनोवृत्ति हटाकर आत्मा की ओर लगाना है। स्वप्न-संसार में कोई स्वर्ण के सिंहासन पर बिठा दे तब क्या लाभ है अथवा कोई धक्का देकर बाहर निकाल देवे तो क्या हानि है ?

सपने होइ भिखारि नृप रंक नाकपति होय।
जागे हानि न लाभ कछु तिमि प्रपंच जिय जोय॥

इस भावना को पुष्ट करना है, यह व्यक्ति व्यवहार-दृष्टि से अनुचित व्यवहार करता है। किन्तु मैं आत्माराम हूँ—मेरी इससे क्या हानि है ?

वह मूर्ख कई महीने ऐसा ही करता रहा। आपने उससे कभी कुछ नहीं कहा, उलटे उसको आदर पूर्वक बिठाकर जल पिलाते थे। प्रेम पूर्वक कुशल पूछते थे। एक दिन सराय प्रयाग के प्रमुख रईस बाबू जगतनारायण जी अचानक उसी समय आ गये। वे बहुत श्रद्धा भक्ति पूर्वक आश्रम के बाहर जूते उतार कर हाथ मुंह धोकर तब स्वामी जी के पास आये, आते ही उन्होंने देखा कि एक व्यक्ति जूते पहने हुए स्वामी जी के आसन पर बराबर बैठा हुआ है। उन्हें यह अनुचित व्यवहार देखकर बहुत क्रोध आया। उन्होंने डाँटकर कहा क्यों जी! तुम तो बिलकुल मूर्ख मालूम पड़ते हो तुम्हें यह नहीं दिखाई देता कि यह एक महात्मा का आश्रम है। भजन-पूजन करने की पवित्र जगह है। इसमें जूता पहन कर आना चाहिये ? तिस पर भी सीधे स्वामी जी के सर पर ही आकर बैठ गये! तुम्हें लज्जा नहीं आती ? तुमसे तो शूकर-कूकर पशु अच्छे हैं। वे कभी महात्मा के बराबर तो आकर नहीं बैठते —तुम्हारे मनुष्य शरीर पाने से क्या लाभ हुआ ? जब तुम्हें बैठना भी अभी नहीं आया। जो मनुष्य होकर भी यह नहीं समझ पाता कि हमें कहाँ बैठना चाहिये, किससे किस प्रकार बोलना

चाहिये, संसार में किस प्रकार व्यवहार करना चाहिये। वह मनुष्य नहीं है वरन् मनुष्य रूप में पशु है। तुम आश्रम से अभी निकल जाओ अन्यथा अभी डंडों से मार मार कर तुम्हारी अकल ठिकाने कर दी जायेगी।

आपने बाबू जी से कहा कि जाने दो प्यारे! यह अज्ञानी है अब और अधिक कुछ मत कहो। बाबू जी ने कहा महाराज, आप तो अपने साधु-स्वभाव से कुछ नहीं कहते किन्तु इस मूर्ख की तो महान हानी हो रही है इसका सुधार यदि नहीं होगा तो इसका कल्याण कभी नहीं हो सकता। मैं यहाँ का जमींदार हूँ अस्तु मेरा काम है कि मैं ऐसे मूर्खों को डण्डे के बल पर ठोक पीठ कर सीधे मार्ग पर ले आऊँ। आप इसमें कुछ न बोलिए। वह व्यक्ति बाबू जी के हाथ जोड़कर बोला कि बाबू जी! मुझसे बड़ी भारी भूल हुई अब आप मुझे क्षमा कीजिए। बाबू जगत नारायण जी ने कहा, क्षमा तुम्हें श्री स्वामी जी महाराज से मांगनी चाहिए वे यदि कृपा पूर्वक तुम्हें क्षमा कर देंगे तभी तुम्हारा कल्याण हो सकता है अन्यथा कदापि तुम्हारा कल्याण न होगा।

वह काँपता हुआ आपके चरणों में गिर पड़ा महाराज! मुझे क्षमा करो, मैं महामूर्ख हूँ। आपके साथ में लगातार छः माह से इसी प्रकार का धृष्टता-पूर्ण अनुचित व्यवहार कर रहा हूँ किन्तु आप सदैव छोटे-छोटे बच्चों की भाँति देखकर केवल मुस्करा देते थे। सचमुच आप पृथ्वी की भाँति क्षमाशील हैं और गिरिराज की तरह अटल हैं। आप मुझे क्षमा कीजिये। आपने बड़े प्रेमपूर्वक उसके मस्तक को पकड़कर उठाया, सान्त्वना देते हुए कहा प्यारे! तुम तो हमारी आत्मा हो, परम प्यारे हो। मैं तुम्हारी भूल की ओर कभी ध्यान नहीं देता था। वास्तव में मैं जब तुम्हें कर्त्ता ही नहीं मानता फिर अपराध किसका? किन्तु फिर भी तुम्हारे सन्तोष के लिये कहे देता हूँ कि मैंने तुम को क्षमा किया। जाओ आनन्द पूर्वक अपने घर जाओ। गृहस्थाश्रम में रहकर सदैव मर्यादानुसार चलो। इस उपदेश को स्मरण रखना। गृहस्थ यदि यह उपदेश याद रक्खे तो सदा सुखी बना रह कर अखण्ड प्रफुल्लित रह सकता है। इतना समझाकर आपने उसको विदा किया। श्री बाबू जी भी प्रणाम करके अपने घर चले गये। सराय-प्रयाग में निवास करते हुए आपकी कीर्ति-कौमुदी दूर-दूर तक फैल गई। बैरी महिपालपुर जिला कानपुर के निवासी चौधरी रामनारायण जी ताल्लुकेदार ने सुना कि सरैया के बाबा जी बड़े ज्ञानी, ध्यानी, तपस्वी, विद्वान, त्यागी सिद्ध महापुरुष हैं। उनके दर्शन अवश्य ही करना चाहिये। चोधरी साहब का सम्बन्ध भी सराय-प्रयाग में था। आप समय निकाल कर महाराज के दर्शनार्थ आये। प्रणामादि के पश्चात सत्सङ्ग प्रारम्भ हुआ, एक घण्टे भर के उपदेश में ही चौधरी साहब ने समझ लिया कि अपने सद्गुरु बनाने के योग्य यही महापुरुष हैं। जीवन में नित्योपयोगी कल्याणकारी यह सत्सङ्ग यदि एक घण्टे, आधा घण्टे नित्य ही प्राप्त हो जाया करे तब तो बहुत बड़े महान पुण्य की बात होगी। किन्तु यह तभी हो सकता है जब कि यह महापुरुष यहीं रहने की कृपा करें। देखो! यह सौभाग्य कैसे प्राप्त हो। मन ही मन वे सोच ही रहे थे कि इतने में एक तरुण तेजस्वी अवधूत महात्मा ने आकर दूर से नमस्कार किया श्री महाराज ने उन्हें बहुत प्रेम-पूर्वक पास बुलाकर अपने समीप बिठाल लिया।

उससे पूछा प्यारे! तुम कहाँ से आ रहे हो, तुम ने बहुत ही अच्छा किया जो यहाँ आकर हमें दर्शन दिये। तुम्हारा शरीर तो स्वस्थ है? मेरे योग्य यदि कोई सेवा हो तो निस्संकोच बतलाओ। उस महात्मा ने ऐसे प्रेम भरे शीतल वचन सुनकर हाथ

जोड़ते हुए कहा—भगवन्! मेरा शरीर वंगदेशीय है। भारत के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध महात्माओं के दर्शन का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ मुझे हठयोग के साधन में प्रारम्भ से ही अत्यधिक अभिरुचि रही है। गृह-त्याग पश्चात् तो हठयोग को ही आत्मपद प्राप्ति के लिये अपने जीवन का प्रमुख साधन बना लिया है। हठयोग की अनेकानेक क्रियाओं की चिरकाल तक साधना करने के पश्चात् मुझे शाम्भवी मुद्रा जानने की और उसमें स्थित होकर आत्मचिन्तन की प्रवल उत्कण्ठा उत्पन्न हुई। भारत के विभिन्न भागों में प्रसिद्ध-प्रसिद्ध महात्माओं के दर्शन किये और उनसे अपनी जिज्ञासा प्रकट की किन्तु मुझे अबतक सन्तोषजनक रीति से उत्तर तथा क्रियात्मक रूप से उसके करने की युक्ति कहीं भी प्राप्त नहीं हुई, अन्ततोगत्वा मैं अब इस निश्चय पर पहुँचा हूँ कि शाम्भवी मुद्रा साधन-सम्पन्न योगी अथवा सिद्ध महापुरुष अब भारतवर्ष में नहीं हैं। उस महात्मा की ऐसी नैराश्यपूर्ण वाणी सुनकर आप उसकी ओर मुस्कराते हुए बोले। प्यारे! ऐसा मत कहो कि शाम्भवी मुद्रा सिद्ध योगी अब अपने देश में नहीं रहे। ऐसा कह सकते हो कि मुझे अभी तक नहीं मिले तुम्हारी यदि प्रवल इच्छा उसको जानने की है तब मैं उसे तुमको अभी बतला सकता हूँ, तुम अभी मुझ से सीख लो।

उसने दौड़कर चरण पकड़ लिये, भगवान्! यदि ऐसा है तब तो मुझे अपने जीवन के चरम लक्ष्य प्राप्ति का साधन सहज ही प्राप्त हो गया। आज अलभ्य लाभ मिल गया आप दया करके अभी बतला दीजिये। आपने कहा देखो प्यारे! इस प्रकार बैठना चाहिये, ऐसा कहकर आपने शाम्भवी मुद्रा करके दिखला दी। लगभग आधा घंटे तक समस्त उपस्थित समाज का मन निर्वात दीप-शिखा की भाँति स्थिर होगया। तत्पश्चात् आपने उसको अपने सामने बिठाल कर सिद्धासन लगवाकर उसकी विधि बतलाई और थोड़ी देर तक उसको उसी अवस्था में बैठने का आदेश दिया। पाँच मिनट में ही उसको प्रगाढ़ शान्ति प्रतीत होने लगी। चंचल मन उतनी देर के लिये निश्चल होगया, क्रिया-समाप्ति के पश्चात् उसने गद्गद् कंठ होकर आपके चरण पकड़ते हुए कहा प्रभो! आज मुझे सद्गुरु की प्राप्ति होगई, जीवन सफल होगया। वर्षों भटकने के पश्चात् आज महान निधि की प्राप्ति हुई। आज के दिन की यह शुभ घड़ी मेरे जीवन में परम सिद्धि दायक सिद्ध हुई।

आपने प्रेम पूर्वक उसे उठाते हुए कहा कि संसार में असम्भव कुछ नहीं। प्रत्येक बात का समय होता है, सुयोग होता है। विश्वम्भर के विधान में यह अटल नियम है कि कोई भी जीवन का अलभ्य लाभ अपने समय से, अवसर पर प्राप्त होगा। विशेषतः परमार्थ के पथ में तो नैराश्य को कभी आने ही न देना चाहिये। यह साधक का परम शत्रु है प्रत्येक परमार्थ-पथ के पथिक को यह श्लोक सदैव अपने सन्मुख रखना चाहिये।

उद्योगं साहसं धैर्यं बल बुद्धिः पराक्रमम्।
षडभिर्यस्य तिष्ठन्ति स सर्वं प्राप्नुयात् पुमान्॥

उद्योग (प्रयत्न) साहस (हिम्मत) धैर्य (धीरज) बल (शक्ति) बुद्धि (समझ) पराक्रम (कठिन परिश्रम) यही छः बातें, साधक का अक्षय सम्बल हैं इनको कभी न छोड़ना चाहिये। यदि साधक इन छः बातों को दृढ़ता से पकड़े रहे तब सब सिद्धियाँ उसके द्वार पर स्वयं आकर उपस्थित हो जावेंगी। तुम इन बातों को सदा स्मरण रखना, अब तुम अपनी इच्छानुकूल जा सकते हो, वह महात्मा महाराज की प्रदक्षिणा करके प्रणाम करता हुआ चला गया। चौधरी साहब तथा अन्य उपस्थित जन आश्चर्य-चकित रह गये, थोड़ी देर बाद वे सब लोग प्रणाम करके अपने-अपने स्थान को चले गये।

चौधरी साहब ने अपने गृह पर पहुँचकर रेलवे लाइन के समीप एक बहुत सुन्दर आश्रम बनवाया। बी० बी० सी० आई० रेलवे के शिवराजपुर स्टेशन के ठीक पश्चिम की ओर डिस्ट्रिक्ट सिगनल से मिला हुआ यह आश्रम जो बाद को मोक्षाश्रम के नाम से प्रसिद्ध हुआ अब भी स्थित है। जहाँ पर आज भी श्री गुरुदेव भगवान् के प्रिय शिष्य श्री स्वामी समतानन्द जी महाराज श्री दैवी सम्पद् मण्डल का प्रचार कर रहे हैं। वे प्रतिवर्ष आश्विन मास में वहाँ पर एक बहुत बड़ा उत्सव मनाया करते हैं। जिसमें भारत के प्रमुख विद्वान् महात्मा पधार कर आस-पास की जनता को सुख-शान्ति का सन्देश सुनाते हैं। चौधरी जी ने बहुत सुन्दर उपवन (बगीचा) लगाकर उसके मध्य में सब ऋतुओं में सुख पहुँचाने वाली एक विशाल कोठी बनवाकर तैयार करदी और अवसर पाकर आपके पास पहुँचकर प्रार्थना की, प्रभो! इस ओर की जनता का अब कल्याण बहुत कुछ हो चुका है। अब कृपा करके उस ओर चलकर हम सबको कृतार्थ कीजिये आपके ठहरने के लिये कुटिया प्रस्तुत है। आपने कहा प्यारे! तुमने मुझसे बिना पूँछे ही इतना बड़ा आश्रम बनवा डाला। अरे इस शरीर के रहने के लिये चार हाथ भूमि पर्याप्त है। यह देखो, वह छोटी सी एक कोठरी है यही मेरे अनुकूल है। अतएव इसे छोड़कर कहीं जाने की इच्छा नहीं होती। भविष्य में जैसी प्रभु की इच्छा होगी वही होगा। चौधरी साहब आपकी रुचि न देखकर चुप हो गये। सराय-प्रयागी के भक्तों को बहुत हर्ष हुआ।

अर्चना लो!

देव, मेरी अर्चना लो।

स्नेह, गुण, सद्पात्र पूरित दौत्य दीपक है जलाया।
अन्य सामग्री सजाकर मन सुमन मैंने जुटाया॥
हृद-कपट, पट खोलकर, प्रदत्त पद-रज वन्दना लो।
देव, मेरी अर्चना लो॥ १॥

हृदय की चिरकाल पोषित भावना की लोल लहरें।
होकर प्रवाहित वेग से वे पाद पङ्कज मध्य छहरें॥
आ रही श्रद्धामयी स्वीकार कर अभ्यर्थना लो।
देव, मेरी अर्चना लो॥ २॥

विधि, भली विधि विदित मुझको है नहीं, कैसे रिझाऊँ?
मन सुमन भी धूसरित है, रूठते! कैसे मनाऊँ॥
विकट भव-पथ भ्रान्त-प्रति पृथकत्व तज अपना बना लो।
देव, मेरी अर्चना लो॥ ३॥

(श्री सूर्यप्रसाद दीक्षित 'सुरेश')

धर्म ही उन्नति का हेतु है

(ले०—श्री बलराम साधु)

आज इस विज्ञान के युग में मनुष्यों के मस्तिष्कों का परीक्षण होरहा है। एक ओर नूतन आविष्कारों का झमेला और भौतिक शिक्षा की भ्रान्ति है तथा दूसरी ओर धर्म और संस्कृति के रक्षण की खौखलाहट। अजीव रस्साकशी है, अनोखा भ्रमजाल है। कोई करे तो क्या करे? दुःख इस बात का नहीं है कि ऐसा क्यों हो रहा है अपितु इस बात का है कि भ्रम की भूल-भुलैया मानव को भटका रही है। वास्तव में न तो विज्ञान का पहलू ही सही है और न धर्म का ही ठीक समर्थन होरहा है। हमने दोनों को ही गलत समझा है। हमारी दृष्टि में दोनों का केवल भौतिक मूल्य ही रह गया है। विज्ञान हमारे लिये रुपया कमाने का साधन-मात्र बन गया है, संसार के रहस्य को समझने का क्रमबद्ध प्रयास नहीं। इसी होड़ के परिणाम में आज उदूजन बम और नाइट्रोजन बम का भी आविष्कार होगया। इसी प्रकार धर्म भी सस्ती साधुता तथा सम्मान-संग्रह करने का साधन बन गया, स्वरूप-दर्शन का साधन नहीं। वास्तव में धर्म और विज्ञान दोनों एक ही गन्तव्य स्थान पर पहुँचने के राजमार्ग हैं।

आज हम भौतिक-सम्पत्ति की चमक-दमक से प्रभावित होकर उसकी प्राप्ति के आनन्द से प्रमत्त हैं। परिणाम को भूलकर भौतिक-समृद्धि की ओर अन्धाधुन्ध दौड़ लगा रहे हैं। हमारी आँखों में सोने की चकाचौंध और कानों में सम्पन्नता की रंगरेलियाँ समा गई हैं। कलों की गरिमा से प्रमत्त कलियुग, 'धर्म' को एक ढकोसला मानता है। 'अन्त भला सो भला' वाली बात हम भूल चुके हैं। किन्तु इस सोने की दौड़ के युग में भी कुछ ऐसे वीतराग महात्मा हैं जो दौड़कर किसी से आगे निकलने का प्रयास न करके एकान्त में शान्ति-लाभ कर रहे हैं। उनका हृदय भौतिकवाद की उष्णता से दग्ध न बनकर आध्यात्मिक-सम्पत्ति से शीतल है। वे ही वास्तव में सुखी हैं।

संसार उन्नति करे और खूब करे। किन्तु उसकी उन्नति टिकाऊ होनी चाहिये। टिकाऊ होने के लिये उसे आध्यात्मिक आधार की आवश्यकता है, धर्म-मूला उन्नति ही असली उन्नति है। धर्म समता की साधना का नाम है, भौतिक-उन्नति विषमता की जन्मदात्री है। संस्कृति धर्म का एक अंग है। समता शान्ति की दूसरी संज्ञा है और विषमता पुंजीभूत पीड़ा की। विषमता में घोर व्यवधान है। 'कमल' और 'पाटल' विविधता के विकार हैं विषमता के नहीं। आज का संसार विषमता की साधना में लीन है।

आज की दुनिया 'धन को धर्म' मानती है, वह विनाश की पुजारिणी है। विषमता इस युग की सर्वोच्च-सिद्धि है। इसीलिये आज मानसिक शान्ति काफूर हो गई। दुनिया देवालयों की पवित्रता तथा शान्ति के दर्शन, 'कलकत्ते के बसस्टैन्ड' पर करना चाहती है। कण्व-तपोवन की दैवी आभा "रॉयल टाकीज' में देखना चाहती है। 'हरहरबम' के महोच्चार का आनन्द 'डैम-फूल' के कुकथन में खोजती है। परब्रह्म के संयोग सुख का अनुभव कांठबाजार की परियों के परिरम्भण में करने की इच्छा करती है। यह है इस बढ़े-चढ़े भौतिकवाद का नग्न नर्त्तन। शान्ति अभिलाषियों को इसे बदलना ही पड़ेगा। कलों की पूजा और चाँदी की साधना बन्द गलियाँ हैं। इनमें भटक-भटक कर आज नहीं तो कल टक्कर खाकर श्रुति-सम्मत मार्ग पर आना ही पड़ेगा। आज संकुचित स्व तक ही हमारी स्वार्थमयी क्रियायें

सीमित हैं। शान्ति-लाभ के लिये अन्ततोगत्वा हमें विश्व के कण-कण में आत्मदर्शन करना पड़ेगा। संकुचित भावना को व्यापक बनाकर ही हम "आत्मवत् सर्वभूतेषु" के सिद्धान्त तक पहुँच सकेंगे। सहानुभूति का पाठ व्यापक दृष्टिकोण में सन्निहित है। चोर-बाजारी नहीं दान-पुण्य, उत्कोच नहीं उत्सर्ग। तृष्णा नहीं त्याग, शोषण नहीं पालन, भौतिक उन्नति नहीं, आध्यात्मिक सम्पत्ति ही मानव की आवश्यकतायें हैं। मानवता का वास्तविक मूल्य बाहरी-ठाठ-बाठ में नहीं आन्तरिक उत्कर्ष में है। दुनिया का कल्याण विशुद्ध धर्म की धुरी पर ही आधारित है।

'यतोऽभ्युदयः निश्रेयः स सिद्धिः——' उससे दूर हटकर गिरावट ही है। इससे प्रमाद करने पर तो पतन अवश्यम्भावी है। इसी प्रमाद के कारण ही अपना जगद्गुरु भारत आज गुरु से गोरू (पशु) बनता जा रहा है। भौतिकवाद की दवा से इसका मर्ज़ बढ़ता ही जा रहा है। लाभ के लोभ में मूलधन भी नष्ट हुआ जा रहा है।

विश्वोत्कर्ष का द्वेषी तो कोई नहीं हो सकता किन्तु विशाल और असीम तृष्णाओं का जाल उत्कर्ष नहीं वरन् मानसिक अशान्ति ही सिद्ध हुआ है। विश्व के विविध वैज्ञानिक चमत्कारों से द्वेष नहीं। हाँ, निरीह मानवों के शोणित से पलती हुई कलों को देखकर अवश्य कुढ़न होती है। समस्त संसार को बाबा जी बनाकर प्रजातन्तु का विच्छेद करना अभीष्ट नहीं है किन्तु प्रजा की परिपूर्ण पौर तथा बसने के लिये ठौर न पाकर अवश्य ही रोष है। संसार की असफल शिक्षा के प्रति उतना रोष नहीं जितना कि उसके तुच्छ उद्देश्य पर-पेट भरना मात्र। अफ़सोस! संसार की फूलती हुई तोंदों से मुझे ईर्ष्या नहीं है परन्तु सूखी हुई जीर्ण ठठरियों पर दया अवश्य आती है। कब तक चलती रहेगी यह विषमता समझ में नहीं आता?

संसार एक विशाल रङ्गमञ्च है। विश्वनियन्ता भगवान् इसके सूत्रधार हैं और हम उसके कठपुतले। इस मञ्च पर आकर अपना पार्ट कुशलता से अदा करना ही हमारा धर्म है। वह जितना स्वाभाविक होगा उतना ही अच्छा। कार्य करना ही प्रसन्न रहना है, कार्य कुशलता ही योग है। यही योग शाश्वत उन्नति का साधन है। 'कुबेर का लकड़दादा' भी ऐसी उन्नत अवस्था के दर्शन न कर पाया होगा कि निराकांक्ष होकर इतना कह सके—यहाँ आकर मुझे न कुछ देखना बाकी है; न कुछ सुनना बाकी है न कुछ पाना या जानना बाकी है।' यह धर्म प्राण का ही भाग्य है। धर्मानुष्ठान से ही ऐसी भूमा स्थिति प्राप्त हो सकती है। सही और टिकाऊ उन्नति का साधन धर्म ही है।

सोने की दौड़ में भाग न लेने वाले महात्माओं से विनय है कि वे इस हाँफते हुए संसार को शान्ति दें। वे आध्यात्मिक शक्ति के भण्डार हैं, धर्म-क्रिया द्वारा महाप्राण हो चुके हैं। उनके इंगित-मात्र से भौतिकता की भित्ति हिल सकती है। यह धनापेक्षी धर्म और नाश की पूजा समाप्त हो सकती है। उन्नति और धर्म की जड़ें पाताल में पहुँच सकती हैं। वे चाहें तो पीछे छोड़कर भागने वालों में साथ लेकर चलने की भावना भर सकते हैं। वे चाहें तो शोषकों को पोषक बना सकते हैं। केवल उनके अनुग्रह की देर है।

आत्म-सम्पत्ति के इन अधिकारियों की एक पाई संसार को सम्पन्न बना सकती है। इनके शान्ति-सरोवर की एक बूँद विश्ववेदना को शान्त कर सकती है। इन आत्मवीरों की एक ही हुङ्कारकृति से दानवता का अन्त हो सकता है मानवता उभर सकती है। धर्म इन्हीं महात्माओं के अनुभवों का प्रसाद है। उन्नति इन्हीं धीरों के अनुग्रह का फल है। अब हिमालय की कोई वीरप्रसू कन्दरा आक्रान्त विश्व की वेदना को शान्त करने ही वाली है, चित्तौड़ का कोई कण अब चेतन होने ही वाला है।

विश्वरूपा गौ

(लेखक—श्री वेदव्रत शर्मा)

वैदिक ऋचाओं में गौ तथा बैल के महत्त्व पर पर्याप्त प्रकाश मिलता है। इसीलिये अनादि काल से इस देश में गौ माता का प्रमुख पारिवारिक स्थान है। भोजन में गौ-ग्रास का निकालना भी एक स्थायी स्थान रखता है।

अथर्ववेद के नवें काण्ड के सातवें सूक्त में गाय के अंगों में सम्पूर्ण देवताओं के निवास का वर्णन है। इस सूक्त में २६ मन्त्र हैं। उनको पढ़ने पर पता चलता है कि केवल गाय में ही सब देवों के स्वरूप सन्निहित हैं।

इसलिये गाय के विश्व स्वरूप के दर्शन हेतु उस सूक्त के कतिपय मन्त्रों का शब्दार्थ हम पाठकों की जानकारी के लिये दे रहे हैं।

प्रजापति और परमेष्ठी का निवास गाय के सींगों में, इन्द्र शिर में, ललाट में अग्निदेव, यम गले के घेंटी में, राजा सोम मस्तिष्क में, द्युलोक ऊपर के जबड़े में और पृथ्वी का निवास नीचे के जबड़े में है। जीभ में बिजली, दांतों में मरुत्, गर्दन में रेवती कन्धे में कृत्तिका, ककुद के पास में सूर्य सब अवयवों में वायु, कृष्णाद्र में स्वर्ग, पृष्ठ देश में धारक शक्ति का निवास है।

श्येन उसकी गोद में; अन्तरिक्ष पेट में बृहस्पति ककुद् में तथा कोहन में, देवपत्नियाँ पीठ के भाग में उपसद इष्टियाँ पसुलियाँ हैं। मित्र और वरुण कन्धे में, त्वष्टा, अर्यमा और महादेव बाहुभाग में, इन्द्रपत्नी गुह्यभाग में, वायु पुच्छ में, पवमान वायु बालों में निवास करती है।

ब्राह्मण-क्षत्रिय नितम्ब भाग में, बल जाघों में, धाता सविता टखनों में गंधर्व जाघों में, खुर-भाग में अप्सरायें तथा अदिति का निवास है। हृदय में चेतना, यकृत् में मेधाबुद्धि, व्रत उसकी आंतों में है।

नदी मूत्र नाड़ी है, वर्षापति मेघ उसके स्तन हैं, गर्जने वाले मेघ दूध से पूर्ण स्तन हैं। सर्वत्र फैला आकाश चर्म है, औषधियाँ लोम हैं, नक्षत्र रूप है।

क्षुधा कोख है, अन्न बड़ी आँत है, पहाड़ छोटी आँत है, क्रोध उसके गुर्दे हैं, मन्यु अण्डकोष हैं, प्रजा जननेन्द्रिय है।

देवजन गुदा हैं, मनुष्य आँतें हैं, भक्षक प्राणी उदर हैं, राक्षस रक्त हैं, इतर जन अपाचित अन्न हैं, मेघ मेदा है, निधन मज्जा है, अग्नि आसन है, अश्विनीकुमार उत्थान है।

इन्द्र गौ के प्राची भाग में, यम दक्षिण दिशा में, धाता पश्चिम में, और सविता उत्तर दिशा में अवस्थित रहते हैं।

जब तृण हेतु गौ आती है तब सोम राजा तृण को प्राप्त होता है, अवलोकन करने पर सूर्य और परावृत्त होने पर आनन्द रूप वही हो जाता है। जब गाय का पुत्र वृषभ जोता जाता है तब सब देवों का उससे सम्बन्ध होता है, जोतने पर वह प्रजापति और छोड़ने पर सब कुछ बनता है। यह निस्सन्देह गौ का रूप है, यही गौ का विश्व रूप तथा सर्वरूप है, जो इस बात को जानता है उसके पास विश्व रूपी और सर्वरूपी सब पशु रहते हैं।

ऐसी देवमयी गौ देवी के वध रोकने के लिये आज का समाज पक्षाघात ग्रसित है। उसकी बुद्धि मन्द पड़ गई है, सांस्कृतिक-उत्थान की भावना साम्प्रदायिकता से दूषित बताई जाती है। परन्तु जिस प्रकार हिन्दू को हिन्दू कहने में लजीला बना दिया गया था, वह अब जग गया है, वह अपने देश में उन

लोगों के हाथों से, जो शिखा-सूत्र हीन हैं अपना सांस्कृतिक विनाश नहीं होने देगा। आज गौ माता की करुण पुकार गाँव-गाँव के प्राणी के प्राणों में पुकार उठी है। उसके वध पर प्रतिबन्ध लगाना होगा और इस प्रकार गौ, उसके बछड़े तथा बैल और सांडों पर प्रतिबन्ध लगाकर इनका वध रोकना होगा तभी इस देश का कल्याण होगा अन्यथा यह सब अरबों रुपयों की खर्चीली योजनायें विफल हो जायँगी और भ्रष्टाचार को जन्म देकर देश की परम्परा में घातक प्रवृत्तियों को जन्म देंगी।

मान-भंग

(लेखक—श्री "अनन्त")

"आइये महर्षि!" सभा-मंडप के द्वार पर ही विनम्रता की प्रतिमूर्ति अयोध्या नरेश अजातशत्रु ने गार्ग्य बालाकि का अभिवादन किया। महाराज के शान्त एवं सौम्य मुख-मंडल पर स्मित हास्य रेखा क्रीड़ा कर रही थी। क्षण भर के लिये शास्त्रास्त्र-युयुत्सु गार्ग्य हतप्रभ हो गये, उनकी विद्वता का दर्प महाराज की शान्त मुख-मुद्रा के समक्ष पराजित हुआ। अनेक बार विद्वन्मंडली में उन्होंने अयोध्या-पति महाराज अजातशत्रु के उत्कृष्ट ब्रह्म-ज्ञान की चर्चा सुनी थी। क्षत्रिय को ब्रह्मविद्या में पारंगत सुनकर बालाकि का दर्प तिरस्कृत हो उठा। उसे यथा स्थान विस्थापित करने के लिये वे उतावले हो उठे और महाराज अजातशत्रु के द्वार पर आ पहुँचे। गर्वोन्नत द्विज की हुंकार और कुंचित भृकुटि से भयभीत द्वारपाल ने महाराज को सूचना दी तो कुलक्रमागत शालीनता तथा अभिजात्य की प्रतिमूर्ति महाराज स्वयं ही द्वार पर स्वागतार्थ आये। नम्रता से मस्तक झुकाते हुए महाराज ने मधुर वाणी से कहा "अहो भाग्य मुनिनाथ! आप के दर्शन कर मैं कृतार्थ हुआ। अपने चरणों की पावन-धूलि से सभा-मंडल को पवित्र करने की कृपा करें।

"राजन, तुम्हारा कल्याण हो।" अर्घ्य-पाद्यादि ग्रहण कर गार्ग्य बोले—"मैंने सुना है कि तुम ब्रह्म-विद्या में महान् योग्यता रखते हो? अतएव मैं तुम्हारी परीक्षा लेने आया हूँ। अभी तक मुझे उपयुक्त शिष्य नहीं मिला यदि तुम उत्तीर्ण हुये तो तुम्हें ब्रह्म-विद्या के वे रहस्य बताऊँगा जो अभी तक गोपनीय हैं। मैंने ब्रह्म दर्शन का सरल एवं सुगम मार्ग ढूँढ निकाला है उसके अधिकारी की मुझे खोज है।"

"आचार्यपाद!" महाराज विनम्रता से बोले—आपने ब्रह्म का साक्षात्कार किया है इसलिये कृपा करके मुझे बताइये कि ब्रह्म स्वरूप क्या है? क्या वह चक्षुगम्य है जो आप उसे देख सकें?

"हाँ राजन! वह तेजोमय ब्रह्म आदित्य मंडल का अन्तरात्मा है। भानु ही परब्रह्म है। तुम भी उसे उसी रूप में जानो!"

"भगवन! तब क्या चन्द्र मण्डलादि ज्योतिस्फुलिंग परब्रह्म की ज्योति से रहित हैं?" महाराज ने शंका प्रकट की—"क्या उनकी अन्तरात्मा परब्रह्म से अतिरिक्त हैं?"

राजन्! मैं ब्रह्म को अविच्छिन्न और एकदेशीय नहीं मानता।" मर्माहत गार्ग्य बोले—"तुम स्यात् मेरा अभिप्राय उचित रीति से समझे नहीं। छाया, ध्वनि, प्रकाश, मेघ, आकाश, वायु, अग्नि, जल और स्थल सभी अलग-अलग पुरुष की व्याप्ति से परब्रह्म ही हैं।"

"मुनिवर! ऐसा तो नहीं है।" महाराज ने नम्रता

से कहा—"जिन उपकरणों और मंडलों को आपने ब्रह्म-संज्ञा का रूप प्रदान किया वह स्वयं ब्रह्म नहीं हैं। यह समस्त वस्तुएँ ब्रह्म के कर्म मात्र हैं। ब्रह्म तो वह एक ही है, जिसके नियंत्रण में यह सब वस्तुएँ कार्य किया करती हैं। यथार्थ ब्रह्म को आपने स्यात् नहीं पहचाना ?"

गार्ग्य निरुत्तर होगये। उन्होंने स्वीकार किया वास्तव में वह ब्रह्म को नहीं पहचानते। उनका समस्त ब्रह्म-ज्ञानाभिमान मिट गया। नम्र होकर जिज्ञासु की भाँति उन्होंने पूछा "राजन्! ब्रह्म का सत्य स्वरूप क्या है? मुझे बताओ!"

"आइये मुनिराज!" महाराज ने उनके अनुनय को स्वीकार किया। वे उन्हें सोते हुये एक पुरुष के पास लाए, और उसे पुकारा परन्तु उसने उठकर उत्तर नहीं दिया (वह जगा नहीं) तब उसके एक छड़ी कोंच दी। वह हड़बड़ा कर उठ बैठा। तब अयोध्याधिपति ने कहा 'यह मनुष्य हाथ, पाँव, नाक सब रखते हुये कुछ क्षण पूर्व शव की भाँति पड़ा था कारण''' ''इसकी समस्त इन्द्रियाँ निष्क्रिय थीं''''' इसका चैतन्य आत्मा से सम्बन्ध न था। उसी भाँति जिस चैतन्य व्यापक आत्मा के बिना समस्त अचेतन विश्व मृतवत् रहता है, जिसके बिना न सूर्य चमकता है, न चन्द्र ज्योत्सना प्रदान करता है, और न तारे झिलमिलाते हैं। जिसकी चमक से चपला चमकती है, जिसके गुरु गंभीर घोष से मेघ गरजते हैं वही विभु चैतन्य आनन्द रूप आत्मा परब्रह्म है। वह एक स्वतंत्र सर्वव्यापी सत्ता है। वही उपास्य है''''''ज्ञेय है'''मन्तव्य है मुनिवर''''''''' ''''" महाराज कह रहे थे, और मंत्रमुग्ध, दंभहीन गार्ग्य बालाकि सुन रहे थे चुपचाप चेतना शून्य से। क्षितिज में संध्या की लालिमा प्रगाढ़ हो रही थी।

साधना का पथ कठिन है

है असम्भव जीर्ण नौका, से उदधि को पार करना।
तेज असि की धार पर, दुश्वार है पैदल निकलना॥
चपल अस्थिर भ्रमित मन से योग साधन ही कठिन है।
साधना का पथ कठिन है॥

राग रस अरु गन्ध के बटमार पग-पग पर खड़े हैं।
स्पर्श रूपी सर्प चहुँदिशि आज मुँह बाये अड़े हैं॥
रूप रूपी जाल से बचकर निकलना भी कठिन है।
साधना का पथ कठिन है॥

वासनाओं को हृदय में जो कभी घुसने न देते।
विश्व के सब भोग तजकर नाम का आधार लेते॥
साध्य-पथ से तब उन्हें डिगना-डिगाना भी कठिन है।
साधना का पथ कठिन है॥

श्री 'जगदीश'

स्वामी विवेकानन्द और मूर्ति-पूजा*

(प्रेषक—श्री रामजीवन चौधरी)

श्री श्रीरामकृष्ण परमहंस देव के महाप्रयाण के बाद उनके प्रधान और अन्तरङ्ग शिष्य श्री नरेन्द्रनाथ अर्थात् स्वामी विवेकानन्द ने रामकृष्ण मठ की स्थापना करके अपने गुरु के आदर्श से सर्व दिशाओं को प्रकाशित करने की नींव डाली। मठ स्थापना होने के कुछ समय बाद आप तीर्थ भ्रमण करने के लिये निकले। उस तीर्थ पर्यटन के समय स्वामी जी विभिन्न स्थानों और विभिन्न राज्यों में गये। हर तरह के मनुष्यों से उनका परिचय हुआ। जिज्ञासु-जन स्वामी जी से बहुधा विचित्र-विचित्र प्रश्न पूछा करते थे। आप बड़ी सुन्दर रीति से बहुत शान्ति के साथ एवं बिना विरक्ति से उन प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर देकर प्रश्न कर्त्ताओं की समस्याओं का समाधान कर दिया करते थे। स्वामी जी के अनुयायियों में हिन्दुओं के अतिरिक्त मुसलमान भक्त भी रहा करते थे।

सन् १८९१ में जब आप राजपूताना में भ्रमण करते हुए फरवरी महीने में अलवर राज्य में पहुँचे और पण्डित शम्भूनाथ जी अवकाश-प्राप्त सरकारी इञ्जीनियर के यहाँ ठहरे। थोड़े ही समय में वहाँ के लोग आपके उपदेश और व्यक्तित्व से इतने प्रभावित हुए कि सारे शहर में स्वामी जी की चर्चा फैल गई। धीरे-धीरे यह बात अलवर महाराज के दीवान मेजर रामचन्द्र जी के कानों तक पहुँची कि शहर में एक महात्मा आये हुए हैं, जो बहुत बड़े विद्वान और ज्ञानी हैं। यह बात विदित होते ही मेजर साहब स्वामी जी को अपने वासस्थान पर ले गयें और आप से वार्तालाप होने पर रामचन्द्र जी को निश्चय हो गया कि शहर में बढ़ती हुई अंग्रेजियत को नष्ट करने के लिये स्वामी जी का प्रभाव बहुत काम देगा। यही सोच कर मेजर साहब ने महाराज को सन्देश भेजा कि एक महात्मा शहर में आये हुए हैं, जो अँग्रेजी भाषा के भी प्रकाण्ड पण्डित हैं। महाराज उस समय शहर से २/३ मील दूर एकान्त महल में निवास करते थे। दीवान जी का सन्देश पाकर महाराज ने दूसरे ही दिन दीवान जी के घर पर पहुँचकर स्वामी जी का दर्शन किया और दण्डवत् नमस्कार के पश्चात् आसन ग्रहण किया।

महाराज ने पहले पहल प्रश्न पूछा "स्वामी जी! सुना है आप अद्वितीय पण्डित हैं। आप तो अपनी विद्या-बुद्धि से ही अर्थ उपार्जन कर सकते हैं, तब फिर आप ने भिक्षा-वृत्ति क्यों अपना रखी है? स्वामी जी ने भी वैसा ही एक प्रश्न किया, "महाराज, क्या आप बता सकते हैं कि आप राजकार्य की अवहेलना करते हुए दिन-रात अँग्रेजों के साथ खाना खाने में और शिकार खेलने में ही क्यों बिताते हैं?" उपस्थित सभासद तो स्वामी जी के ऐसे प्रश्न से कुछ भयभीत हुए और सोचने लगे न जाने इन महात्मा के भाग्य में क्या लिखा है, जो इस प्रकार का दुःसाहसिक प्रश्न महाराज साहब से पूछ रहे हैं। किन्तु महाराज ने शान्त भाव से उस प्रश्न को सुना और कुछ सोचने के बाद उत्तर दिया "यह तो मैं नहीं बता सकता मैं क्यों इस तरह खाना खाकर और शिकार खेलकर साहबों के साथ समय बिताता हूँ। किन्तु ऐसा करने में मुझे आनन्द मिलता है।" स्वामी जी भी सहर्ष बोले "ठीक है,

---

* श्री प्रमथनाथ बसु लिखित "श्री विवेकानन्द" के आधार पर

यही हाल मेरा भी है, साधु-वेश में भिक्षा करने में मुझे भी सुख मिलता है।"

महाराज ने फिर पूछा "अच्छा स्वामी जी, लोग मूर्तिपूजा करते हैं, इसमें मुझे बिलकुल ही विश्वास या श्रद्धा नहीं है, तो मेरी क्या गति होगी?" कदाचित, महाराज ने यह बात व्यंग्य भावना से कही थी, क्योंकि प्रश्न पूछने के साथ-साथ वे जोर जोर से हँसने लगे। स्वामी जी को महाराज के इस तरह के प्रश्न का वास्तविक कारण समझ में न आया वे समझे "महाराज शायद विनोद कर रहे हैं।" महाराज ने कहा, नहीं स्वामी जी, मैंने विनोद की भावना से यह प्रश्न नहीं किया यह बात सत्य है कि मैं काठ, मिट्टी, पत्थर, धातु इन सब की पूजा अन्य लोगों की तरह बिलकुल नहीं करता। क्या, इस कारण मुझे अगले जन्म में नीच गति प्राप्त होगी?" स्वामी जी ने अधिक व्याख्या न करते हुए, एक छोटा सा उत्तर दिया "जिसका जैसा विश्वास हो, उसको वैसा ही फल मिलता है।" ऐसा उत्तर सुनकर स्वामी जी के भक्तों में खलबली मच गई और सोचने लगे "स्वामी जी ने यह कैसा अनोखा उत्तर दिया, इससे तो महाराज की अश्रद्धा को प्रोत्साहन ही मिलेगा। क्योंकि यह तो महाराज का मन रखने वाला ही उत्तर हुआ। वास्तव में स्वामी जी की खुद की भावना तो ऐसी नहीं है?" ये लोग सब के सब मूर्तिपूजा में आस्था रखते थे और सब कृष्ण-भक्त थे। स्वामी जी की कृष्ण-भक्ति उन लोगों ने अपनी आखों से देखी है एवं ऐसे-ऐसे मौके भी आये हैं जब स्वामी जी बिहारी जी की मूर्ति के सामने प्रेम में पागल होकर लोटने लगे हैं और अश्रुधारा में परिप्लावित हुए हैं। इसलिए स्वामी जी के उत्तर के ढंग से उन लोगों के हृदय में उपरोक्त संशय उत्पन्न हुआ। किन्तु उसी क्षण स्वामी जी की अद्भुत युक्ति और निर्भीकता ने सबको स्तम्भित कर दिया।

सामने दीवाल पर अलवर महाराज का एक चित्र टँगा हुआ था। स्वामी जी ने उस चित्र को लाने का आदेश दिया। उस चित्र को अपने हाथ में लेकर स्वामी जी ने पूछा "यह चित्र किसका है?" दीवान जी ने उत्तर दिया "महाराज साहब का।", लेकिन किसी के समझ में कुछ न आया कि स्वामी जी के प्रश्न का रहस्य क्या है? क्षण भर बाद ही स्वामी जी ने दीवान जी को आदेश दिया, "दीवान जी! आप इस चित्र को जला दीजिये।" उपस्थित जनों के होश गुम हो गये। महाराज के सामने ही ऐसा दुःसाहस! स्वामी जी ने फिर सब सभासदों की ओर देखकर कहा "तुम में से जो चाहे इस चित्र को जला डाले" लेकिन कोई भी इसके लिये तैयार नहीं हुआ। "यह क्या? यह तो सिर्फ एक कागज़ है, तब फिर इसे नष्ट करने में क्या आपत्ति है?" दीवान जी एवं अन्य सब लोग भय के कारण कभी महाराज की ओर कभी स्वामी जी की ओर काष्ठवत देख रहे थे। दीवान जी ने असमञ्जस में पड़ते हुए कहा "स्वामी जी यह आप कैसा आदेश दे रहे हैं? यह तो हमारे महाराज साहब की प्रतिकृति है—इसका असम्मान हम लोग कैसे कर सकते हैं?" स्वामी जी ने कहा "क्यों? इस चित्र में महाराज का शरीर तो विद्यमान नहीं है। इसमें न तो हाड़, मांस, रक्त ही है, न भाषण-शक्ति ही है, न चलने फिरने की शक्ति है, यह तो सिर्फ एक कागज का टुकड़ा मात्र है। ऐसा ज्ञान होते हुए भी उसे जलाने में तुमको संकोच क्यों है?" किसी ने इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया और न कोई उक्त अभिप्राय के अनुसार कार्य करने को तत्पर ही दिखाई दिया। अन्त में स्वामी जी ने ही इस समस्या का समाधान किया "तुम लोगों को भय इसलिये है कि इस चित्र में तुम लोग महाराज का सादृश्य एवं महाराज की छाया देख रहे हो। यदि इस चित्र को जलाओगे

तो तुम्हें यह अनुभव होगा जैसे महाराज का घोर अपमान कर रहे हो।" इतनी देर बाद दीवान जी और उपस्थित लोगों में जान आई और कहा "जी हाँ, यही बात है।"

स्वामी जी तब महाराज की ओर देखकर बोले "महाराज ! देखिए—यद्यपि यह चित्र आप खुद नहीं हैं, यह केवल एक कागज का टुकड़ा है, किन्तु तो भी ये लोग इस चित्र को भी आप ही के जैसा देख रहे हैं। क्योंकि आपका प्रतिबिम्ब उसमें है। इस कारण देखा जाय तो एक प्रकार से उस चित्र में और आप में कोई भी अन्तर नहीं है। चित्र की ओर देखते ही आपकी स्मृति इन लोगों के हृदयपट पर अङ्कित हो जाती है। अनुभव होने लगता है जैसे आप ही सामने मौजूद हैं। इसलिये सब कोई असली महाराज का जिस तरह सम्मान करते हैं, चित्र को भी उसी भावना से देखते हैं। भगवान के भक्त भी पत्थर या धातु-निर्मित देव देवियों की मूर्तियों को उसी भावना से देखते हैं। वे लोग पत्थर या धातु-बोध से उन मूर्तियों की पूजा नहीं करते बल्कि उन मूर्तियों को भगवान् की किसी लीला का प्रत्यक्ष करते हुये पूजते हैं। मूर्ति तो केवल इष्टदेव की स्मृति को प्रस्फुटित करती है एवं उनके गुणों का स्मरण कराते हुए चित्त को भगवान् के प्रति आकर्षित करने में सहायक होती है। मूर्ति-पूजा का यही वास्तविक तत्त्व है। मैंने पर्याप्त पर्यटन किया है, किन्तु कहीं भी मूर्तिपूजक को यह कहते हुए नहीं सुना "हे पत्थर, मैं तेरी उपासना करता हूँ, हे धातु, तुम मुझपर दया करो।" महाराज ! मूर्तिपूजक भी उसी पूर्ण परब्रह्म परमात्मा की उपासना करते हैं, एवं परमात्मा भी भक्त की भावना और आकांक्षा के अनुसार उसके सामने आत्म स्वरूप प्रगट करते हैं। पत्थर या धातु की मूर्ति का दर्शन करते ही भक्त को उसी चिन्मय इष्ट का स्मरण हो जाता है, इसीलिये भक्त मूर्ति में इतनी श्रद्धा करता है।"

इतनी देर तक महाराज मङ्गलसिंह एकाग्र होकर स्वामी जी की बात सुन रहे थे। स्वामी जी का उपदेश पूर्ण होते ही हाथ जोड़ निवेदन किया "स्वामी जी, आपने जैसी बात कही, वह अक्षरशः सत्य है। इतने रोज मैं अन्धकार में था, कुछ भी नहीं समझ में आता था। आज मेरी आँखें खुल गई हैं।" गुरुदेव ! मुझपर अनुग्रह कीजिये।" जवाब में स्वामी जी ने कहा "राजन् ! परमात्मा के अतिरिक्त कोई किसी पर अनुग्रह नहीं कर सकता। वे असीम करुणा सागर है। आप उनकी शरण में जाइये, वे निश्चय ही आप पर कृपा करेंगे।"

माँ का हृदय

(कहानी)

(लेखक—श्री इन्द्रचन्द्र जी एम० ए०)

अरण्यक अपने माता-पिता का इकलौता पुत्र था। उमर ढलने पर पैदा हुआ था। इसलिये अत्यन्त लाड़ तथा स्नेह में पला था। दोनों उसे देख कर जीते थे। पिता माण्डलिक राजा थे, अतुल ऐश्वर्य और प्रभुत्व के स्वामी।

राजा ने एक दिन भगवान् बुद्ध का उपदेश सुना अपनी उमर ढलती देखी, दीक्षा लेने का विचार हुआ, साथ में रानी भी तैयार हो गई। उन्होंने अरण्यक से राज्य-भार संभालने के लिये कहा, किन्तु वह न माना। उसे विश्वास था माता-पिता जिस पथ पर जा रहे हैं वह अप्रिय या अहितकर नहीं हो सकता। अरण्यक भी साथ ही दीक्षित हो गया।

पिता अरण्यक को बड़े स्नेह से रखते थे। उसे भिक्षा के लिये न भेजते अच्छा भोजन देते, अच्छे

वस्त्र पहिनाते। भिक्षु के उपयुक्त आवश्यक दैनिक कृत्यों को भी यथासम्भव वे ही पूरा कर डालते साधु होने पर भी वे मोहपाश को न तोड़ सके। कुछ समय बीतने पर पिता का देहान्त होगया, अरण्यक अकेले रह गये। गच्छ के आचार्य का भी अरण्यक पर पर्याप्त स्नेह था। किन्तु वे यह न चाहते थे कि वह कर्त्तव्य पालन से विमुख रहे। उनकी इच्छा थी—"अरण्यक साधु जीवन का कठोरता से पालन करे, शास्त्रों को पढ़े, धर्म का तत्त्व समझे और एक दिन गच्छ का नायक बन जाय।"

ज्येष्ठ का महीना चिलचिलाती कड़ी धूप थी भगवान सूर्य उग्र रूप से तप रहे थे। पृथ्वी तवे की भाँति जल रही थी चारो ओर आग बरस रही थी। अरण्यक मुनि नङ्गे पैर और नंगे सिर भिक्षा के लिये निकले। कुछ चलने पर ही पैरों में छाले पड़ गये। शरीर झुलसने लगा। मन ही मन पछताने लगे, "भिक्षु-व्रत मेरे वश का नहीं है, मैंने अपने आप यह मुसीबत मोल ली है, किसी प्रकार छूट जाऊँ तो ठीक है।"

सामने एक वृक्ष था, वे छाया में खड़े होगये। शरीर स्वस्थ और सुन्दर था किन्तु मुख पर मलिनता छाई हुई थी।

दक्षिण की ओर एक सुन्दर प्रासाद था, बहुत ऊँचा और विशाल। ऐसा जान पड़ता था, उसका स्वामी सम्पन्न व्यक्ति रहा होगा। खिड़की खुली थी उसमें एक युवती बैठी थी। झरोखे से उसने तरुण तपस्वी की ओर देखा, सहानुभूति से हृदय भर गया। कहाँ यह कोमल शरीर और कहाँ यह कठोर व्रत! सचमुच भिक्षुओं के हृदय नहीं होता। कहीं रुई के खंभों पर प्रासाद खड़ा किया जा सकता है? उसे उठाने के लिये पाषाण चाहिये। उसने दासी भेज कर मुनि को निमन्त्रित किया।

अरण्यक आये। सहानुभूति धीरे-धीरे स्नेह में परिणित होने लगी। युवती उनकी ओर आकृष्ट होती गयी। उसने पौष्टिक तथा रसयुक्त भोजन से पात्र भर दिया। कुछ देर विश्राम करने की प्रार्थना की और वहीं बैठकर भोजन करने का आग्रह किया, स्वयं पङ्खा झलने लगी। अरण्यक उसकी प्रार्थना को आज्ञा के समान मानते गये।

वे उसी युवती के साथ रहने लगे। भोग-विलास तथा आनन्द में दिन कटने लगे अनुकूल रहन-सहन और भोजन के कारण अरण्यक का शरीर कई गुना चमक उठा।

अधिक समय बीतने पर माता अपने पुत्र को देखने के लिये अधीर हो उठी, ममता पिघल कर आँखों से बह चली। साध्वी होने पर भी वह मोह के बन्धन न काट सकी, वह अरण्यक को ढूँढ़ने लगी। गलियों में घूमती, सड़कों पर घूमती दिन भर अरण्यक-अरण्यक पुकारती रहती। लोग उसे 'पगली' कहते। बालकों का झुण्ड पीछे लग जाता। कोई कहता अरण्यक उधर है तो वह उसी ओर दौड़ पड़ती। लोगों की हँसी और मनोरञ्जन को वह पुत्र-वियोगिनी सत्य ही समझती थी।

एक दिन इसी प्रकार चिल्लाती हुई वह उस प्रासाद के नीचे से निकली। अरण्यक अपनी प्रेयसी के साथ खिड़की में बैठा था। माँ के शब्द कानों में पड़े। पुरानी स्मृतियाँ जागृत हुईं दौड़ा-दौड़ा नीचे आया, सामने आकर बोला "माँ! मैं यह रहा। जिसको तुम ढूँढ़ रही हो, मैं वही अरण्यक हूँ।"

माँ ने आँखें फाड़-फाड़ कर देखा सामने स्वच्छ सुन्दर परिधान तथा आभूषण से अलंकृत एक युवक खड़ा था।

माँ ने कहा—"मेरा अरण्यक तो साधु था, तू तो मेरा अरण्यक नहीं है।" वह अरण्यक-अरण्यक चिल्लाती हुई आगे चलदी।

अरण्यक फिर प्रासाद में न जा सका। वह उसी समय वन की ओर चल दिया। धूप से जलती हुई शिला पर समाधि लगा कर बैठ गया। उसका शरीर झुलस रहा था।

अपने पुत्र को खोजती माँ भी आ पहुँची। अरण्यक का शरीर जल रहा था, किन्तु वह निश्चल समाधि में लीन था। हर्षोन्मत्ता माँ चिल्लाकर बोली—"यह रहा मेरा अरण्यक।"

मानव जीवन में कर्म का महत्त्व

(*श्रीरामबाबू अग्रवाल आई० काम०*)

कर्म ही मनुष्य को सत्य अर्थों में मनुष्य बनाता है। जो कर्म शून्य है उनका जीवन भी शून्य है। किन्तु जीवनोपयोगी विविध साधन और उपकरण के विना मनुष्य कर्म में रत नहीं हो सकता। और जो व्यक्ति अपने पास के लोगों के सामयिक जीवन का ध्यान न रखकर अपने ही स्वार्थ में रत रहता है उसका कर्म-क्षेत्र भी सीमित ही रहता है। विश्व की गतिशीलता व्यापक दृष्टि के कर्म पर ही आश्रित रहती है।

विचारहीन कोई भी कर्म नहीं करना चाहिये, बहुत से विचारमग्न तो रहते हैं किन्तु उनका प्रेम अकर्मण्यता से अधिक रहता है इसका प्रभाव मनुष्य के जीवन तथा उसके आलसीपन का घुन सामूहिक रूप से समाज की शृंखला को कमजोर बना देता है। वास्तव में आकर्मण्यता और आलस्य राष्ट्र का जैसा व्यापक अहित करते हैं वैसा किसी अन्य प्रकार से नहीं होता अतएव अकर्मण्यता का उन्मूलन राष्ट्र को सच्ची सेवा है। देश की एक इकाई होने के नाते हमें सबसे पहिले अपने जीवन को कर्मठ बनाने की आवश्यकता है। भगवान श्रीकृष्ण कर्म का महत्त्व बताते हुये कहते हैं:—

"न हि कश्चित क्षणमपि जातु तिष्ठत्य कर्मकृत"

अर्थात् मनुष्य किसी भी क्षण बिना कर्म किये हुये नहीं रह सकता है। इस वाक्य को बहुत गम्भीरता से समझते हुये भगवान् ने कर्म पर बहुत अधिक बल दिया है और स्पष्ट शब्दों में कहा है कि "कार्य करना ही परमात्मा की उपासना है।" यह निष्काम कर्मयोग की जीती-जागती और सरल सीधी व्याख्या है।

कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का निर्णय तो शास्त्र, संत अथवा अपना शुद्ध 'स्व' ही दे सकता है। यदि किसी कार्य में कोई भी बुराई का पता लग जाता है वह काम 'लोक लाज' के कारण सदैव अच्छे कर्म की ओर प्रेरित करता है और मनुष्य अपने कर्म सदैव निर्मल, पवित्र और शुद्ध करने का प्रयत्न करता है। जिन कामों में मानव-समाज का कल्याण हो और विकास हो वे ही अच्छे कर्म है।

संसार कार्य-क्षेत्र है आराम का घर नहीं, जीवन और कर्म एक संयुक्त सूत्र में बंधे हुए हैं यदि कोई मनुष्य अकर्मण्य है तो वह जीवित शव के समान है। संसार में कोई भी देश ऐसा नहीं जहाँ कि लोगों को कोई कर्म न करना पड़े मनुष्य की प्रकृति कैसी भी हो, उसे कार्य करना ही पड़ता है मनुष्य के जीवन को उन्नतिशील एवं सफलता की ओर ले जाने वाला कर्म अथवा उद्योग ही तो है:—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-
दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति।
दैवं विहाय कुरु पौरुषमात्मशक्त्या,
यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्रदोषः॥

अर्थात् लक्ष्मी सिंह के समान उद्योगी बलवान् पुरुषों को प्राप्त होती है, "भाग्य देता है" ऐसा तो कायर पुरुष कहते हैं। भाग्य के भरोसे न रहकर अपनी शक्ति से पुरुषार्थ करो। यदि यत्न करने पर भी कार्य सिद्ध नहीं होता तो इसमें कोई दोष की बात नहीं ऐसी स्थिति में पुरुषार्थ का आश्रय न छोड़कर विचार करना चाहिये कि हमारे कार्य में क्या दोष रह गया है कि जिससे कार्य सिद्ध नहीं

हुआ। पुनः उसी के लिये पुरुषार्थ करते रहने पर निश्चय ही सफलता मिलेगी।

इतिहास साक्षी है कि प्रातः स्मरणीय महापुरुषों के आदर्श जीवन की आधार-शिला कर्मठ जीवन पर ही अवलम्बित है। महात्मा गांधी जी 'कर्म ही जीवन है" इस सिद्धान्त के अनुयायी थे। उनका कहना था कि प्रत्येक व्यक्ति को कर्मशील होना चाहिये।

जो व्यक्ति अपने विचार से स्वकर्म का शीघ्र निर्णय कर लेता है, उसके काफी समय की बचत हो जाती है, तथा साथ ही साथ वह अपने कार्य को तुरन्त कर लेता है। उसका कर्म अच्छा कर्म कहा जावेगा। जो व्यक्ति अधिक समय विचारने में लगा देता है और अधिक समय उसके पूरा करने में लगा देता है तो उसका कर्म अच्छा नहीं कहा जावेगा। साथ ही साथ मनुष्य को अधिक से अधिक कर्म करना चाहिये जिससे कि अपने राष्ट्र का उत्थान हो क्योंकि पुरुषार्थ पर ही देश की उन्नति निर्भर है।

अपने वेद-पुराणों और शास्त्रों में तो पग-पग पर कर्म की महिमा का ज्ञान और बखान है। राम चरित मानस, गीता और महाभारत इसके ज्वलन्त उदाहरण हमारे सामने हैं। गीता का सिद्धान्त है कि "इस निष्काम कर्मयोग में आरम्भ अर्थात् बीज का नाश नहीं है, उल्टा फलरूप दोष भी नहीं होता है इसलिये निष्काम कर्मयोग रूप धर्म का थोड़ा सा साधन जन्म मृत्यु रूप महान् भय से उद्धार करता है।"

कर्म के कुछ लक्ष्य होते हैं, उन्हीं लक्ष्यों के अनुसार मनुष्य कार्य करने में अग्रसर होता है यदि मनुष्य का कोई लक्ष्य स्थिर नहीं है तो वह कर्म में नहीं लग सकता। किसी मनुष्य का लक्ष्य यश-प्राप्ति, किसी का विद्या, किसी का स्वर्ग-प्राप्ति, किसी का धन-प्राप्ति और किसी का लक्ष्य योग-प्राप्ति होता है और उसी के आधार पर उसकी जीवनचर्या बनती है। जो अपना लक्ष्य निश्चित नहीं करेगा तब तक वह कर्म-रत हो ही नहीं सकता। यदि एक विद्यार्थी बहुत बड़ा विद्वान बनना चाहता है लेकिन वह विद्या-प्राप्ति करने का लक्ष्य नहीं बनाता तो वह कदापि भी विद्वान नहीं बन सकता। इसलिये मनुष्य को कर्म करने के लिये "कर्म का लक्ष्य" बनाना पड़ता है। इस प्रकार कर्म ही ऐसी वस्तु है जो मनुष्य को उन्नति-पथ पर अग्रसर करती है।

कर्म के द्वारा मनुष्य क्या नहीं कर सकता कोई भी मनुष्य हो जो असफलता की सीढ़ी से फिसल गया हो लेकिन अपने कर्म पर निरन्तर संलग्न रहे तो अवश्य ही सफलता की प्राप्ति कर लेगा। आजकल के लोगों में स्वाभाविक रूप से यह बात पाई जाती है, कि यदि वे अपने कर्म में असफल हो जाते हैं तो आत्म-हत्या तक कर लेते हैं। विद्यार्थी, व्यवसायी अथवा उद्योग पति सभी में यह बातें समान रूप से पाई जाती हैं। क्योंकि आजकल के अधिकांश पुरुष कर्म की अपेक्षा भाग्य को सर्व-श्रेष्ठ मान बैठे हैं जिससे अनेकानेक कष्टों का सामना करना पड़ता है। ऐसे भाग्यवादी व्यक्तियों से हम पूछना चाहते हैं यदि उन्हें एक कोठरी के अन्दर बन्द कर दिया जाय तो वह किस प्रकार से अपना जीवन निर्वाह कर सकेंगे। हम तो कहेंगे कि दो दिन भी उस कोठरी के अन्दर रहना असम्भव हो जायगा। तब उस समय वह अपने भाग्य को भूलकर कर्म को ही सर्वश्रेष्ठ मानेंगे। इस प्रकार से हम अपने व्यक्तिगत विचारों के आधारों पर कह सकते हैं कि कर्म ही मनुष्य को मनुष्य के आसन पर ले आता है।

तात्पर्य यह कि कोई भी मनुष्य कर्म से परे रह कर जीवन का निर्वाह करना चाहे तो उसके लिये जीवन दुर्लभ हो जायगा। जो मनुष्य कर्म नहीं करता तिस पर भी वह कर्म से शून्य नहीं होता क्योंकि उसके वचन, मन, तन, की समस्त क्रिया प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सूक्ष्म या तीव्र गति से चलती ही रहती है। वह मनुष्य स्वयं अन्न-वस्त्र न उत्पन्न कर सके परन्तु उसके हृदय में उसे पाने के लिये इच्छा तो होती ही है।

अतएव अपने मानव जीवन को सफल बनाने के लिये हमें 'पुरुषार्थ' के अमोघ मन्त्र को दृढ़ता से हृदयंगम कर लेना चाहिये।

कौन महापुरुष चतुर्मास कहाँ बितायेंगे

(श्री स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज)

गंगोत्री और उत्तराखण्ड की यात्रा करते हुये स्वर्गाश्रम ऋषिकेश में उपदेश-वचनामृत का लाभ प्रदान करते हुये गुरु-पूर्णिमा तक अपने आश्रम पर वृन्दावन पहुँच रहे हैं। चतुर्मास वहीं करेंगे।

(प्रज्ञाचक्षु श्री स्वामी शरणानन्द जी महाराज)

जयपुर में चतुर्मास करेंगे।

(श्री स्वामी भजनानन्द जी महाराज)

ता० २४-६-५४ को परमार्थ निकेतन से मैनपुरी चले गये, गुरु पूर्णिमा के पश्चात् मैनपुरी आश्रम पर रहेंगे। इस बार वे भी चतुर्मास कदाचित परमार्थ निकेतन पर ही करें—ऐसी सम्भावना है।

(पूज्यपाद श्री स्वामी प्रकाशानन्द जी महाराज)

परमार्थ-निकेतन से बिठूर होते हुये गुरु-पूर्णिमा पर मैनपुरी पहुंचेंगे।

(श्रद्धेय भाई श्री हनुमान प्रसाद जी पोद्दार)

ता० २२-६-५४ को गोरखपुर से स्वामी चक्रवर्ती जी के साथ स्वर्गाश्रम पहुँचे। सूर्य-ग्रहण के कुछ दिन बाद तक वहाँ ठहरने का विचार है। भाई जी के भक्ति रस पूर्ण व्याख्यानों से श्रोताओं की आँखों से अश्रुवर्षा होने लग जाती है।

(श्री आचार्य चक्रपाणि जी)

स्वर्गाश्रम, गीताभवन, परमार्थ-निकेतन के सत्संगियों को दर्शन व सत्संग का लाभ दे रहे हैं, शीघ्र ही वृन्दावन आश्रम पर पहुंचेंगे।

(परम भागवत सेठ जयदयाल जी गोयन्दका)

आषाढ़ी पूर्णिमा के बाद स्वर्गाश्रम का सत्संग समाप्त कर बाँकुड़ा होते हुये गोरखपुर जायँगे।

(श्री स्वामी रामसुखदास जी)

इस बार चतुर्मास अमरावती (सी० पी०) में करेंगे।

फ़ोन नं० १०१ रजिस्टर्ड नं० ए-८७८

श्री गुरु पूर्णिमा महोत्सव

श्री सद्गुरुदेव

'परमार्थ' प्रेमियों को यह जानकर विशेष आनन्द होगा कि सदैव की भाँति इस वर्ष भी श्री एकरसानन्द आश्रम मैनपुरी में श्री—सद्गुरुदेव (जिनकी धारावाहिक जीवनी 'परमार्थ' में प्रकाशित होती है) निर्वाण पद प्राप्त, ब्रह्मलीन परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८ श्री स्वामी एकरसानन्द सरस्वती जी महाराज की प्रतिमा का पूजन आषाढ़ की पूर्णिमा को अत्यन्त समारोह से सम्पन्न होगा। इसी उपलक्ष में ता० १३, १४, १५ जुलाई को विराट सत्संग का आयोजन भी रहेगा। इस अवसर पर दैवी सम्पद् मण्डल के महात्माओं के अतिरिक्त अनेक भारत-विख्यात संत-महापुरुष एवं प्रसिद्ध कथावाचक और विद्वान पधारेंगे। महात्माओं के दुर्लभ दर्शन, सद्गुरुदेव का पूजन एवं सन्तों की पावन वाणी का प्रसाद प्राप्त करने के लिये सपरिवार इष्ट मित्रों सहित पधार कर अपने मानव जीवन को सफल बनाइये।

इस मंगलमय समारोह में प्रति वर्ष सहस्त्रों की संख्या में, भावुक भक्त नर-नारी सम्मिलित होते हैं। आप भी पधारें और इस चिरस्मरणीय दृश्य से अपने नेत्रों को तथा उपदेशों से कानों को पवित्र बनाकर अलभ्य लाभ प्राप्त करें।

आश्रम की ओर से मैनपुरी स्टेशन पर स्वयं सेवक तथा स्काउट नियुक्त रहेंगे जो आप को सुविधा से आश्रम तक पहुँचा देंगे। आश्रम में निवास और भोजन की यथासंभव व्यवस्था रहेगी।

नोट:—पूज्यपाद श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज गुरु-पूर्णिमा के पश्चात् श्रावण की अमावस्या ता० २६ जुलाई से भाद्रपद के अन्त तक परमार्थ निकेतन, स्वर्गाश्रम पर (चातुर्मास) निवास करेंगे। इन दिनों सत्संग का सुन्दर कार्य-क्रम भी चलता रहेगा। साधक और सत्संगी उनके सान्निध्य का लाभ उठावें। स्वामी भजनानन्द जी महाराज के चातुर्मास की संभावना भी परमार्थ निकेतन में ही है।

—व्यवस्थापक
श्री एकरसानन्द आश्रम (मैनपुरी)

मुद्रक तथा प्रकाशक:—परमार्थ प्रेस, पो० मुमुक्षु आश्रम, शाहजहाँपुर

परमार्थ
वर्ष ५
अङ्क ८
सर्व भूत हिते रताः

परमार्थ मासिक-पत्र

दैवी गुण विकासक, शान्ति संस्थापक, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार आदि अध्यात्मवाद प्रचारक, श्री दैवी सम्पद् महामण्डल का प्रमुख सुरुचिपूर्ण सचित्र मासिक-पत्र

संस्थापकः—

श्री १०८ श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज

श्री १०८ श्री स्वामी भजनानन्द जी महाराज

सम्पादकः—

स्वामी सदानन्द सरस्वती

राजाराम पाण्डेय 'मञ्जुल'

विषय सूची

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा, बुद्ध्यात्मना वानुसृतःस्वभावात् ।
करोमि यत्यत् सकलं परस्मै, नारायणायेत्र समर्पयेतत ॥

वर्ष ५ } मुमुक्षु आश्रम, शाहजहाँपुर १५ अगस्त १९५४ { अङ्क—८
श्रावण शुक्ल १४ शनिवार सम्वत् २०११

सूर-श्याम

प्रेम परपूरित हृदय से परम विह्वल हो,
ले के इकतारा सूर हरिगुन गाते हैं।

भव्य भक्ति भाव-रज्जु में बँधे श्याम जू,
स्वयमेव भक्त सम्मुख खिंचे चले आते हैं।

जिनका मुखार विन्द योगी भी न देख पाते,
वे ही भक्त मुख को निरखि न अघाते हैं।

सूर-श्याम में हैं लीन, श्याम-सूर में हैं लीन,
दोनों भिन्नता को तजि अभिन्न हुये जाते हैं।

—श्री हृदयनाथ जी शास्त्री "साहित्यरत्न"

परमार्थ-बिन्दु

विचार करो—वर्षा काल में सूखे हुये तालाब और पोखरे जल से लबालब भर जाते हैं। सूखी हुई नदियों और नालों में जल की वेगवती धारा और गहराई तो आश्चर्य की बात बन जाती है, किन्तु इसके विपरीत ऊँचे-ऊँचे टीलों और मरुभूमि में अति वृष्टि का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता वे तो ज्यों के त्यों ही बने रहते हैं। ठीक इसी प्रकार निश्चय करना चाहिये कि जिनके अन्तःकरण मिथ्याभिमान में ऊँचे टीलों के समान बन गये हैं अथवा श्रद्धा और विश्वास के नितान्त अभाव से जिनका हृदय मरु भूमि सरीखा बन चुका है उन्हें संत-महापुरुषों की उपदेशामृत-वर्षा में अहर्निश रहने पर भी किंचित लाभ नहीं होता वे ज्यों के त्यों ही बने रहते हैं।

विचार करो—सर्व साधारण की सुविधा के लिये गवर्नमेंट जब किसी लम्बी नहर के निर्माण की योजना निश्चित कर देती है तो उस निर्दिष्ट मार्ग के कंकड़-पत्थर झाड़-झंखाड़ और ऊँचे-नीचे टीलों को साफ करवा कर एक निश्चित लम्बाई और गहराई तक खुदाई करती है तब उसमें किसी नदी के द्वारा छोड़े हुए जल के प्रयोग से जनता को स्थाई सुख होता है इसी प्रकार निश्चय करना चाहिये कि यदि हम स्वयं सुखी बनकर दूसरों को भी सुखी बनाना चाहते हैं तो पहिले हमें अपने हृदय की कलुष-कालिमा और अभिमान को हटाने का प्रबल पुरुषार्थ—त्याग और तपोमय जीवन बनाकर करना होगा और फिर अतःकरण की शुद्धि होजाने पर जब संत-कृपा से, अन्तःप्रवाहिनी आनन्दमयी भगवद्-भक्ति रूपिणी सरिता उद्भूत हो जायगी तो अपने साथ-साथ अनेकोंके आनन्द का कारण बन जायगी।

विचार करो—वर्षाऋतु में सर्वत्र हरियाली छा जाती है। सूखी हुई खेतियाँ लहराने लगती हैं। सर्वत्र एक अनोखा और लुभावना वातावरण बन जाता है। तीखी गर्मी और लू से झुलसे हुये सन्तप्त प्राणी आनन्द मनाते हैं किन्तु ऐसी सुखमयी स्थिति में भी अर्कआ और जवासा बिल्कुल झुलस कर सूख जाते हैं। जानते हो, ऐसा क्यों होता है? इस लिये कि उन्हें यह स्थिति सह्य नहीं होती उन्हें तो गर्म लू के झोंके और भीषण गर्मी ही अनुकूल पड़ती हैं। ठीक इसी प्रकार निश्चय करना चाहिये कि सन्त महापुरुषों की अहैतुकी कृपा से जब कभी सत्संग-सुधा की त्रिविध तापहारिणी वर्षा होती है तो उस मंगलमय स्थिति में भी पर-छिद्रान्वेषी अनेक काल्पनिक आलोचनाओं से जनता में भ्रामक प्रचार करके स्वयं ही कल्पित द्वेषाग्नि में दग्ध होते हैं।

विचार करो—सर्वत्र भीषण वर्षा होने पर जब सरिताओं में बाढ़ आ जाती है तब उनके तटवर्ती जन-समुदाय को अनेक कष्टों का सामना करना पड़ता है। किन्तु जहाँ जहाँ पहिले से ही सुदृढ़ बाँध बने होते हैं, वहाँ के निवासियों को किसी प्रकार की असुविधा नहीं होती। अतएव जो बुद्धिमान हैं वे वर्षारम्भ से पूर्व ही उन संदिग्ध स्थानों को छोड़-कर सुरक्षित स्थानों पर पहुँच, अपनी तथा अपने परिवार की रक्षा कर लेते हैं। इसी प्रकार निश्चय करना चाहिये कि सांसारिक दुःखों की बाढ़ से बचने के लिये सत्संग रूपी बाँध के किनारे, साधक-समुदाय में रहने वालों को स्वप्न में भी भौतिक दुखों की अनुभूति नहीं होने पाती।

आत्म-निरीक्षण

(एक ब्रह्मनिष्ठ सन्त की वाणी से)

आत्मनिरीक्षण का वास्तविक अर्थ है अपने पर अपना नेतृत्त्व करना। अपना-निरीक्षण अपने बनाये हुए दोषों की निवृत्ति का सबसे पहिला उपाय है। अपने निरीक्षण के बिना निर्दोषिता की उपलब्धि सम्भव नहीं है। क्योंकि विवेक के प्रकाश में देखे हुये दोष सुगमता से मिटाये जा सकते हैं।

अपना निरीक्षण करने पर असत्य का ज्ञान एवं सत्य से एकता और प्राप्त बल तथा योग्यता का सदुपयोग स्वतः होने लगता है। यदि असत्य को देख पायें अथवा सत्य से अभिन्न एवं अपने कर्त्तव्य से परिचित नहीं हुये तो समझना चाहिये कि हमने अपना निरीक्षण नहीं किया। अपना यथेष्ट निरीक्षण करने पर किसी अन्य गुरू या ग्रन्थ की आवश्यकता ही नहीं रहती कारण कि जिसके प्रकाश में सब कुछ होरहा है उसमें अनन्त ज्ञान तथा अनन्त शक्ति विद्यमान है। अपना निरीक्षण करते-करते प्राणी उससे अभिन्न होजाता है जो वास्तव में सब का सब कुछ होते हुये भी सबसे अतीत है। अपना निरीक्षण हमें बल के सदुपयोग और विवेक के आदर की प्रेरणा देता है बल के सदुपयोग से निर्बलतायें और विवेक के आदर से अविवेक स्वतः मिट जाता है।

प्रत्येक प्राणी अपने से अधिक बलवानों के कसी भी प्रकार के बल का अपने प्रति सदुपयोग की आशा करता है परन्तु वह स्वयं अपने प्राप्त-बल का निर्बलों के प्रति दुरुपयोग करता है। यह प्राप्त विवेक का अनादर नहीं तो क्या है ?

बल का अर्थ है सभी प्रकार के बल अर्थात् तन-बल, धन-बल, विद्या-बल और पद अथवा प्रभुता-बल इत्यादि। धन के सदुपयोग से ही समाज में निर्धनता, शिक्षा अर्थात् ज्ञान, विज्ञान और कलाओं के दुरुपयोग से समाज में अविवेक की वृद्धि, तन-बल से दुरुपयोग से समाज में हिंसा और चोरी, प्रभुता के दुरुपयोग से विरोधी शासन का जन्म आदि दुर्गुणों की वृद्धि होती है।

प्रत्येक प्राणी को अपनी रक्षा स्वभावतः प्रिय है, फिर भी स्वयं अहिंसक न रहकर हिंसा में प्रवृत्त होता है, जिससे हृदय वैर भाव से भर जाता है जो संघर्ष का मूल है। अतः संघर्ष मिटाने के लिये प्रत्येक भाई-बहिन को अपना हृदय वैर-भाव से रहित करना होगा। वैर-भाव से रहित होने के लिये अहिंसक होना अत्यन्त आवश्यक है। अपनी रक्षा की प्रियता का विवेक हमें अहिंसक होने की प्रेरणा देता है जो अनादि सत्य है पर आज तो हम वैज्ञानिक आविष्कार के द्वारा हिंसात्मक प्रयोगों में संघर्ष मिटाने की बात सोच रहे हैं जो सर्वथा असम्भव है कारण कि विवेक के अनादर से ही प्राणी के मन में संघर्ष उत्पन्न हुआ है। अतएव जब तक विवेक पूर्वक मन का संघर्ष न मिटेगा तब तक समाज में होने वाले संघर्ष कभी नहीं मिट सकते चाहे वे वैयक्तिक हों या कौटुम्बिक अथवा सामाजिक।

प्रत्येक अपराधी अपने प्रति क्षमा की आशा करता है और दूसरों को दण्ड देने की ही व्यवस्था चाहता है। वह अपने प्रति तो दूसरों से अहिंसक निर्वैर, उदार क्षमाशील, त्यागी, सत्यवादी और विनम्रता आदि दिव्य गुणों से पूर्ण व्यवहार की आशा करता है किन्तु स्वयं उसी प्रकार का सद्व्यवहार दूसरों के प्रति नहीं कर पाता। अपने प्रति मधुरता युक्त सम्मान की आशा करता है, परन्तु दूसरों के प्रति अपमान एवम् कटुता पूर्ण असद्व्यवहार करता है, जो वास्तव में भूल है

इसका परिणाम यह होता है कि प्राणी अपने प्रति रागी और दूसरों के प्रति दोषी हो जाता है जो सभी दुखों का मूल है।

अपने प्रति होने वाले अन्याय को सहन करते हुये यदि अन्याय कर्त्ता को क्षमा कर दिया जावे तो द्वेष प्रेम में बदल जाता है और अपने द्वारा होने वाले अन्याय से स्वयं पीड़ित होकर जब उससे (जिसके प्रति अन्याय हो गया है) क्षमा माँग ली जाय और इस प्रकार उससे क्षमा माँगते हुये अपने प्रति न्याय कर स्वयं दण्ड स्वीकार कर लिया जावे तो राग, त्याग में बदल जाता है।

जब राग और दोष-त्याग और प्रेम में बदल जाते हैं तब मुक्ति और भक्ति की प्राप्ति स्वतः हो जाती है। अथवा यों कहो कि अभिन्नता असंगता आ जाती है। यही वास्तविक आनन्द है।

अपना निरीक्षण करने पर यह भी स्पष्ट होजाता है कि जब हम राग से प्रेरित होकर इन्द्रियों की ओर गतिशील होते हैं तब इन्द्रिय-जन्य ज्ञान के आधार पर हमें अनेक प्रकार की विषमताओं का भास होता है और इन्द्रिय-जन्य स्वभाव में प्रवृत्त होने से क्रिया-जन्य सुखों की आसक्ति तथा परतंत्रता जड़ता आदि में आबद्ध होजाते हैं। इतना ही नहीं अन्त में हम शक्ति-हीनता का अनुभव कर स्वाभाविक विश्राम अर्थात् निवृत्ति को अपनाते हैं जिसके फलस्वरूप शक्ति हीनता मिटती जाती है और बिना प्रयत्न के ही आवश्यक शक्ति की उपलब्धि हो जाती है।

यदि शक्ति हीनता, जड़ता, विषमता इत्यादि दुखों से दुखी होकर हम निवृत्ति द्वारा संचित शक्ति का व्यय न करके विषयों से विमुख होकर अन्तर्मुख हो जावे तो भोग, योग में जड़ता, चेतना में विषमता, समता में पराधीनता स्वाधीनता में और अनेकता, एकता में बदल जाती है। फिर स्वभाविक आवश्यकता की पूर्ति एवं अस्वाभाविक इच्छाओं की निवृत्ति स्वतः हो हो जाती है जो मानव की माँग है।

अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति का यथेष्ट, स्पष्ट परिचय प्राप्त करना ही वास्तविक आत्म-निरीक्षण है। उसके बिना हम अपने को निर्दोष बना ही नहीं सकते। मानव में दोष-दर्शन की दृष्टि स्वतः विद्यमान है।

पर प्रमाद वश प्राणी उसका उपयोग अपने जीवन पर न करके अन्य पर करने लगता है। जिसका परिणाम बड़ा ही भयंकर एवं दुखद सिद्ध होता है पराए दोष देखने से सब से बड़ी हानि यह होती है कि प्राणी अपने दोष देखने से वञ्चित होजाता है। और मिथ्याभिमान में आबद्ध होकर हृदय में घृणा उत्पन्न कर देता है यद्यपि हृदय प्रीति का स्थल है घृणा का नहीं। पर ऐसा तभी सम्भव है जब मानव पराये दोष न देख कर अपने दोष देखने में सतत प्रयत्नशील बना रहे। अपने तथा पराये दोष देखने में एक बड़ा अन्तर यह है कि पराये दोष देखते समय हम दोषों से सम्बन्ध जोड़ लेते हैं जिससे कालान्तर में स्वयं दोषी बन जाते हैं। पर अपना दोष देखते ही हम अपने दोषों से असंग कर लेते हैं जिससे स्वतः निर्दोषता आ जाती है जो सभी को प्रिय है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि दोष-दर्शन की दृष्टि का उपयोग केवल अपने ही जीवन पर करना है किसी अन्य पर नहीं।

यद्यपि अनादि सत्य बीज रूप से प्रत्येक मानव में विद्यमान है पर उसका आदर न करने से प्राणी उस सत्य से विमुख हो गया है और परिवर्तनशील वस्तु अवस्था एवं परिस्थितियों में आबद्ध होकर उसने अपने को दीन हीन तथा अभिमानी और परतन्त्र बना लिया है। इस दुःखद-बन्धन से छुटकारा पाने के लिये यह अनिवार्य हो जाता है कि प्राणी प्राप्त विवेक के प्रकाश में जो चिरसत्य है, अपनी दशा का निरीक्षण करे और वस्तु अवस्था आदि से असंग होकर दुराचार को सदाचार में परिवर्तित करके अपने को निर्विकार बनाये।

गो-वंश की दयनीय दशा

(परम तपस्वी श्री ब्रह्मचारी प्रभुदत्त जी महाराज) *

कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने ।
प्रणत क्लेशनाशाय गोविन्दाय नमोनमः ॥

समुपस्थित महानुभावो !

गौ हमारी माता है; हमारे धर्म का प्रतीक है, संस्कृति का केन्द्र विन्दु है। गौ की रक्षा का अर्थ हुआ, हिन्दूधर्म की रक्षा; गौ के वध का अर्थ है, हिन्दूधर्म का वध, हिन्दू जाति का नाश। जब हम में धर्म की आस्था थी, तब लोग गौ के नाम पर प्राण निछावर कर देते थे, अनेक स्थानों में एक-एक गौ के पीछे बड़े-बड़े दंगे हुए। हरिद्वार के पास कटारपुर में एक गौ के ही पीछे कितना बड़ा दंगा हुआ, सैकड़ों हिन्दू पकड़े गये, मुकदमा प्रिवी कौंसिल तक पहुँचा। कितने लोगों को फाँसी, काले पानी की सजा हुई। हमारे यहाँ मूसी में भी ऐसा ही दंगा हुआ महामना मालवीय जी ने उसकी पैरवी की, लाखों रुपये उसमें उठे, बहुतों को फाँसी की सजा हुई। पीछे प्रयत्न करने पर वही आजन्म कारावास के रूप में परिणित होगयी।

इसी प्रकार हम एक-एक गौ को बचाने के लिये अपना सर्वस्व होम देते थे। आज तो वर्ष में ५०-५० लाख गौएँ कट जाती हैं और हम सुनी अनसुनी कर देते हैं। कह देते हैं, पीठ पीछे कुछ होता रहे, किन्तु पीठ पीछे हमारे कोई घर को लूट लेजाय तो क्या हमारी हानि न होगी। आज खुल्लमखुल्ला गौएँ कसाइयों के घरों में काटी जाती हैं। जीवित गौओं के चर्म उतारे जाते हैं। उनकी आँतें विदेशों में भेजी जाती हैं। गर्भस्थ बच्चों के मुलायम चमड़े एक रुपये तोले बेचे जाते हैं, कल मुरादाबाद के लोग हमसे रेल पर मिलने आये थे वे बताते थे चार देशी कारखाने गौओं की आँते व नसें विदेश भेजने के लिये अभी हाल में खुले हैं, उनके स्वामी हिन्दू ही हैं। हमारी धार्मिक भावना कितनी गिर गयी है, आज प्रत्येक काँग्रेसी कसाइयों की सहायता करता है, अधिकांश धनी धन के लोभ से चमड़े के शेयर खरीदते हैं अर्थात् वे गोहत्या के लाभ से अपनी आजीविका चलाते हैं। लाला जी ने ही बताया—ठंडे घर में एक बड़े भारी धनी हिन्दू अग्रवाल के यहाँ ३०० गौओं का माँस रखा गया था। जब हमारा इतना पतन हो गया है और हम धर्म-धर्म चिल्लाते हैं तो कैसे धर्म की रक्षा होगी, कैसे गोरक्षा होगी ?

हम जब किसी धनिक से जेल जाने या सत्याग्रह करने को कहते हैं, तो वह दाँत निकाल कर कह देता है, मैं तो वाणियाँ हूँ, जेल नहीं जा सकता।

अरे भाई ! कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य तो वैश्य का स्वभावज कर्म है। तुम गीता पढ़ते हो, गीता की रोज बात करते हो "स्वधर्मे निधनं श्रेयः" का रोज पाठ करते हो, और जब स्वधर्म-पालन की बात आती है, तो वनियाँ बन कर अपनी विवशता दिखाते हो। "एक धनिक विवाह में ५० हजार रुपये तनिक देर में व्यय कर देता है, किन्तु गोरक्षा के लिये वह बहुत सोच समझ कर ११) रुपये निकालेगा, फिर भी यह सोच कर कि माँगने वाले इतने प्रतिष्ठित लोग आए हैं, उनका मुख देख कर देता है।" तो आप ही सोचें ऐसी दशा में गोरक्षा कैसे हो सकती है ?

---

* श्री ब्रह्मचारी जी की उपस्थिति में उनका यह लिखित उपदेश, उनकी आज्ञा से परमार्थ-निकेतन, स्वर्गाश्रम में भक्तों ने सुना।

अब तो स्पष्ट बात है, यदि आपको अपने धर्म और गौ की रक्षा करनी है, तब तो बलिदान करना होगा, नहीं तो आप गोमांस खाने को तैयार होजायँ. आप स्वेच्छा से गोमांस न खायँगे तो बल पूर्वक आपके मुख में ये कांग्रेसी गोमांस ठूँसेंगे।

सन् ५७ के गदर तक गो-हत्या बन्द थी, अँग्रेजों ने गदर के बाद अपना आतंक जमाने को गाँवों में जाकर फौज के द्वारा बल पूर्वक हिन्दुओं के मुँह में गौ का माँस बन्दूक की नली से ठूँसा था। यही दशा आपकी होगी। अतः आप इसे साधारण काम न समझें। गौ रक्षा के लिये तन, मन, धन से सहायता देने को उद्यत हो जायँ, यही मेरी प्रार्थना है। यही बताने मैं आज सम्पूर्ण देश में घूम रहा हूँ।

गो माता की जय !

भगवत्कृपा का रहस्य

(पूज्य श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज)

किसी विशाल नगरी के प्रत्येक घर में, कोने-कोने में, सड़कों पर, प्रकाश की जो जगमगाहट दृष्टि-गोचर होती है, अनेक कारखाने और मशीनें जिसकी शक्ति से संचालित होती हैं, उस महान् शक्ति का केन्द्र एक पावर-हाउस में होता है। जहाँ से विद्युत धारा प्रवाहित होकर सभी बल्वों, पंखों, और मशीनों को गतिमान बनाती है। यदि पावर हाउस फेल होजाय तो सभी क्रिया-कलाप स्वतः बन्द हो जायगा। अर्थात् इन सभी की अपनी कोई निजी शक्ति नहीं, इनका चैतन्य तो पावर हाउस में अन्त-र्हित है। ठीक इसी प्रकार मनुष्य के शरीर की रचना हुई है। आँखों का देखना, पैरों का चलना, जिह्वा का स्वाद, त्वचा का स्पर्श तथा बहत्तर हजार नस नाड़ियों की गति शीलता आदि जितनी शारी-रिक क्रिया है सभी में एक चैतन्य-शक्ति काम कर रही है। जिस क्षण वह शक्ति अपने अधिष्ठान में विलीन हो जाती है उसी क्षण शरीर की समस्त क्रिया अपने आप रुक जाती है। तब कहा जाता है यह मर गया, अब तो मिट्टी है। अर्थात् इस देह का निजी कोई अस्तित्व नहीं, यह जड़ है। भगवान् की चैतन्य-सत्ता ही इसमें कार्यशील रहती है। भगवान् की कृपा से ही इसमें जीवत्व है। जिस चैतन्य के किंचित अंश से यह शरीर बनकर चलता फिरता है, संसार के सभी कार्य करता है, उसी महा चैतन्य का प्रकाश समस्त ब्रह्माण्ड में प्रकाशित है। उसी की सत्ता से नित्य सूर्योदय और सूर्यास्त होता है, वायु गतिमान है। शीतल जल की प्राप्ति उसी की कृपा है। उद्भिज, स्वदेज, अंडज, पिंडज, पर्वत सरिता, सागर, सूर्य, वायु, पृथ्वी आदि सभी में वही महा महिमामयी शक्ति अपना काम कर रही है। समस्त ब्रह्माण्ड की चैतन्य-शक्ति का एक मात्र वही अधिष्ठान है।

उस जगन्नियन्ता अखिल ब्रह्माण्ड नायक ने अपने अविनाशी अंश जीव के निमित्त ही सभी वस्तुओं का निर्माण किया है। जैसे एक चक्रवर्ती सम्राट अपने राजकुमार के लिये सब प्रकार के प्रबन्ध करता है, सर्वत्र उसी कृपा-सागर की कृपा अजस्र अनवरत जीव के चारों ओर अहर्निश वर्षा की भाँति बरसती रहती है। उसी की कृपा से हमारा गर्भावस्था में पोषण हुआ था। उसी की कृपा ने जन्म लेने से पूर्व ही माता के स्तनों में दूध भरकर भोजन का प्रबन्ध किया। माता के हृदय में स्नेह और ममत्व की मन्दाकिनी प्रवाहित कर उसी की कृपा शैशव काल में हमारी रक्षक बनी। मनुष्य तो यह

भी नहीं जानता कि इस समय मैंने जो कुछ भोजन किया है वह आधे घण्टे बाद शरीर के किस भाग में और किस रूप में होगा। भोजन का रूपान्तर रस, रक्त,मांस, मज्जा,वीर्य आदि के रूप में क्योंकर हो गया ? क्या इसमें मनुष्य का कोई निजी पुरुपार्थ है ? गम्भीरता पूर्वक विचार कीजिये तो आप को जान पड़ेगा कि यह किसी आन्तरिक शक्ति का काम है जो पावर हाउस के समान किसी महाशक्ति के द्वारा प्राप्त होकर अपना काम सोते-जागते,उठते-बैठते हर समय करती रहती है। उसकी सत्ता के बिना हम अपनी उँगली भी नहीं हिला सकते।

भगवान् की ऐसी असीम कृपा के लहराते हुये महासागर में रहकर भी यदि हम कहें कि भगवान् हमारे पर कृपा करें, तो यह मूर्खता की बात है। गंगा जी के पावन तट पर भी यदि तुम प्यासे रहते हो तो यह दोष क्या गंगा जी का है ? प्रयत्न करके अंजलि बाँधकर जल का पान क्यों नहीं कर लेते ? किसी घर में दस कैंडिल पावर का बल्व लगा है उसका गृहस्वामी अपने पड़ोसी के अधिक प्रकाश को देखकर कहे कि इनके घर में तो बड़ी रोशनी हो रही है मेरे यह ऐसा प्रकाश क्यों नहीं होता ? उसे विचार करना चाहिये कि पड़ोसी ने पाँच सौ कैंडिल पावर का बल्व लगाया है यही कारण अधिक प्रकाश होने का है। यदि वह पड़ोसी के अधिक और अपने घर के कम प्रकाश में पावर हाउस को दोषी मानता है तो यह उसकी मूर्खता है पागलपन है। पावर हाउस किसी का पक्षपात नहीं करता। जो व्यक्ति जितनी शक्ति का बल्व लगाता है उसे उससे अधिक प्रकाश कदापि नहीं मिल सकता। भगवान् सूर्य के उदय होने पर भी यदि कोई अपने मकान की खिड़कियाँ बन्द रक्खेगा तो भीतर अंधेरा ही रहेगा। प्रकाश तो खिड़कियों के खोलने से ही हो सकता है। सर्वशक्तिमान की शक्ति सर्वत्र समान रूप से व्यापक है। अधिक पावर का बल्व लगाकर बटन दबाते ही जैसे तुरन्त प्रकाश से कमरा जगमगा उठता है इसी प्रकार उस महा शक्ति के द्वारा किसी प्रकार की शक्ति प्राप्त करने के लिये अपने को उपयुक्त बनाने का पुरुषार्थ करना होगा। कृपा में विलम्ब नहीं, विलम्ब है केवल कृपा पात्र बनजाने में।

पतित-पावनी, पुण्यतोया भगवती भागीरथी की तीव्र धारा अनादि काल से अनवरत प्रवाहित हो रही है। उसके निकट पहुँच कर जितना बड़ा पात्र ले जाओगे उतने जल की ही प्राप्ति होगी। आश्चर्य की बात है कि सदैव उसी जल में रहने वाली मछली प्यास से व्याकुल हो जाती है। जल के बिना मछली का जीवन नहीं, वह तीव्र धार के विरुद्ध चल सकती है, किन्तु अपनी प्यास नहीं बुझा सकती। प्यास बुझाने के लिये उसे उलट कर मुँह खोलना होगा। जब तक वह सीधी रहेगी तब तक पानी की एक बूंद भी उसके भीतर नहीं जा सकती, प्रकृति ने उसे ऐसा ही बनाया है। पलटते ही जल से पिपासा शान्त होने में एक क्षण का भी विलम्ब नहीं होगा। चाहे जितना जल वह मछली पी डाले, गंगा जी के जल में क्या कुछ कमी हो जायगी ? इसी प्रकार यह मनुष्य भी भगवान की कृपा से महासागर में ही निवास करता है। इसकी कृपा के अभाव में मनुष्य का अस्तित्व संभव नहीं।

आनन्द सिन्धु मध्य तव वासा।
बिनु जाने कत मरसि पियासा॥

भगवान की कृपा का रहस्य न जानकर, कृपा की याचना हम अपनी मूर्खता से ही करते हैं। प्रभु की कृपा को न जानना अपने विश्वास की कमी का द्योतक है। सर्वान्तरयामी,सर्व समर्थ,सर्वेश्वर की कृपा भी सर्व व्यापिनी है। उन्हें जब जिस रूप में, जिसने पुकारा वे उसे उसी रूप में, उसी क्षण प्राप्त हुए। यदि अपने धन-बल और जन-बल में विश्वास है तो भगवान को क्यों पुकारते हो ? तुम्हारा विश्वास

तो बैंक और तिजोरियों में रक्खे हुये नोटों के बन्डलों में है, स्वर्ण और हीरे जवाहिरात के बहुमूल्य आभूषणों में है। हृदय पर हाथ रखकर ठंडे दिल से विचार करोगे तो तुम्हें स्वयं ही विदित होगा कि हमारा जितना विश्वास धन और ऐश्वर्य में है उतना विश्वास भगवान् में है ही नहीं। यदि भगवान् में विश्वास होता तो धन की प्राप्ति में जो पुरुषार्थ किया जाता है वैसा पुरुषार्थ भगवत्प्रेम की प्राप्ति के लिये किया जाता। क्या हम वास्तव में भगवान को इस दृष्टिकोण से किसी क्षण भी स्मरण करते हैं कि उनके पुनीत पावन पादारविंदों में प्रीति हो? अपने हृदय को टटोल करेंगे तो आप स्वयं ही इस निश्चय पर पहुँचेंगे कि अधिकांश भजन हमारा भोगों की प्राप्ति के निमित्त ही होता है। दीनवन्धो! दस सहस्र रुपये दे दो, सोने चाँदी का भाव गिरता जा रहा है उसे तेज करदो। लड़की सयानी हो गई है उसके विवाह का संयोग बना दो, बीमार स्त्री को ठीक कर दो इत्यादि अनेक कामनाओं की पूर्ति के लिये ही आसनी बिछाकर, पद्मासन लगाकर माला सरकाई जाती है। अर्थात भगवान् को हम ऐसे आज्ञाकारी सेवक के रूप में देखना चाहते हैं जिसके द्वारा हमारी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति होती रहे। यह क्या भगवान के प्रेम और विश्वास की बात है? जिन सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति के लिये भगवान की प्रार्थना और पूजा करोगे वे वस्तुएँ ही तुम्हें प्राप्त हो सकती हैं। परमशान्ति अथवा भगवान् की प्राप्ति नहीं होगी। जिनके रोम-रोम में कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड समाये हुए हैं, जिनकी भृकुटि-विलास से ही संसार बनते और बिगड़ते हैं उनसे की हुई याचना कदापि व्यर्थ नहीं जायगी। जो माँगोगे वही मिलेगा। सौभाग्य से यदि कोई सम्राट किसी व्यक्ति से प्रसन्न होकर कहे कि तुम्हें जो चाहिये इस समय माँगलो, जो माँगोगे वही मिलेगा। यदि वह व्यक्ति उस समय की अपनी क्षुधा-निवृत्ति के लिये दो मुट्ठी चने ही माँगे तो हम उसे मूर्ख कहेंगे। उसे तो जीवन भर की क्षुधा-निवृत्ति के लिए प्रचुर धन सम्राट से मिल सकता था। दो मुट्ठी चनों की याचना ही क्या महामूर्खता नहीं है? ठीक इसी प्रकार उस प्रभु ने जीव को कल्पवृक्ष के सदृश यह मानव शरीर प्रदान किया है। इसके द्वारा वह सब कुछ प्राप्त कर सकता था। नर से नारायण बन सकता था। किन्तु माया पिशाचिनी के प्रभाव से सार्वभौम राज्य को छोड़कर दो मुट्ठी चनों की याचना करता है। हीरे, जवाहरात, मणि-माणिक्य को फेंक काँच, कङ्कड़, पत्थर बटोरता है। थैली में भरी हुई अशरफियाँ गिरती जा रही हैं, उनकी ओर तो उसका ध्यान ही नहीं, थैली न गिरने पावे इसी बात की चिन्ता उसे सताती रहती है।

तुम्हारा जैसा रूप होगा, वैसा ही दर्पण में दिखाई देगा। भगवान को यदि सर्वव्यापक मानकर विश्वास करोगे तो वे दयासिन्धु हमारे लिये सर्वव्यापक बन जयँगे यदि एकदेशीय मानोगे तो एकदेशीय बन जायँगे। महाभारत के विज्ञ पाठक जानते हैं कि दुर्वृत्त दुर्योधन के दुराग्रह से दुःशासन ने एकवस्त्रा द्रौपदी को जब वस्त्रहीन करना चाहा तो उसने पहिले अपने पाँच वीर पतियों का विश्वास किया। द्रौपदी को विश्वास था कि मेरे वीर पति अपने बाहुबल से इन दुष्टों का दमन करके मुझे इस सङ्कट से मुक्त करेंगे। जब उधर से निराश हो गई तो धर्मज्ञ धर्मभीरु भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य आदि महापुरुषों की ओर आशा भरी दृष्टि से देखा। किन्तु सर्वत्र ही जब आशा निराशा में परिणित हो गई तो अन्त में पांचाली ने आर्त्तस्वर से पुकारा "दुःखहरो द्वारिकानाथ शरण मैं तेरी" घटघटवासी, सर्वान्तरयामी श्यामसुन्दर को द्वारिकानाथ के नाम से पुकारे जाने के कारण आने में विलम्ब हुआ। सङ्कटग्रस्ता निराश

पदी की आशा बनकर दीनवत्सल प्रभु ने वस्त्र- : में प्रकट होकर उसकी लाज बचाई। द्रौपदी ने गवान् श्यामसुन्दर से प्रश्न किया, प्रभो ! आपने : बड़ा विलम्ब किया, क्या मेरी करुण पुकार आपने उसी समय नहीं सुनी थी। लीलापुरुषोत्तम : हंसते हुए कहा—कृष्णा ! तुमने मुझे जिस नाम से स्मरण किया था उसके अनुसार विलम्ब होना तो स्वाभाविक ही था। द्वारिका से दौड़कर यहाँ तक आने में कुछ समय तो लगना ही चाहिये था। यदि तुम घट-घटवासी, सर्वव्यापक के नाम से पुकारतीं तो कदापि इतना विलम्ब न होता। वास्तव में भगवान् तो जीव के इतने समीप हैं जितने समीप और कोई वस्तु हो ही नहीं सकती। जीव अपने भ्रम से ही उन्हें दूर मानता है। अपने संकुचित दृष्टि-कोण से निस्सीम को सीमित मानकर स्वयं अपने दुःख का कारण बनता है। पार्थ-सारथी भगवान् श्यामसुन्दर ने अर्जुन से कहा—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

वास्तव में आज के युग में हम भगवान् की कृपा का रहस्य भूल गये हैं। उनकी कृपा पर तो किंचित विश्वास नहीं है। विश्वास है अपने धनमें, स्त्री-पुत्रों में। बैंक में जो सहस्रों-लाखों रुपये संचित हैं, वे ही काम आयेंगे। वृद्धावस्था में स्त्री-बच्चे सेवा करेंगे। इस प्रकार के विश्वास में भगवान् की कृपा आच्छादित हो गई है। भगवान का कृपा-पात्र बनने के लिये पूर्णरूपेण एकमात्र भगवान् के सहारे की ही आवश्यकता है। भोगों का लक्ष्य बनाने से कदापि भगवत्कृपा की प्राप्ति नहीं होगी। मनुष्य आज अनेकानेक कामनाओं के सम्मुख होने के कारण भगवान से विमुख है। पापों का पुञ्ज निरन्तर बढ़ता जा रहा है। यही कारण है सर्वत्र अशान्ति का दुःखदायी साम्राज्य मानव को संत्रस्त बनाकर पतन के गम्भीर गर्त्त में लिये जा रहा है। मंगलमय प्रभु ने अपनी मंगलमयी, अभयदायिनी घोषणा के द्वारा जीव को सचेत किया है—

सन्मुख होइ जीव मोहिं जबहीं।
जन्म कोटि अघ नाशहिं तबहीं॥

इस भगवदीय संदेश को पाकर भी यदि उनकी असीम अहैतुकी कृपा का सम्पादन जीव नहीं करता तो वह स्वयं अपराधी है। अपराधी के लिये ही तो इस लोक और परलोक दोनों स्थानों में दण्ड-विधान की व्यवस्था प्रकृति माता ने की है।

जप, तप, यम, नियम, सत्संग, स्वाध्याय, तीर्थाटन आदि समस्त साधन भगवान् की कृपा और विश्वास के निमित्त ही निर्मित हुए हैं। इनके द्वारा अपनी मानसिक दुर्बलता दूर करो। भोगों का लक्ष्य रहने से भगवान् तुम से दूर रहेंगे। यदि भगवत्प्राप्ति का लक्ष्य बन गया तो वे निकट से भी अति निकट बनकर हमारे हृदय में सदैव निवास करेंगे। अपने अन्तर से कामनाओं का मल निकाल कर श्यामसुन्दर की वन्शी की भाँति बन जाओ। गोपियों ने वंशी से प्रश्न किया क्या कारण है कि मोहन तुम्हें अपने अधरों से लगाये रहते हैं ? बंशी ने कहा मेरे भीतर देखो कुछ नहीं है, यही कारण है वे मुझे प्यार करते हैं। जिसके भीतर कुछ नहीं रहता वही उनका प्रेमपात्र बन जाता है। वे जैसा चाहते हैं मुझे निमित्त बनाकर बजाते रहते हैं। तात्पर्य यह कि जब तक भोग लक्ष्य के कारण देहाभिमान है तभी तक वे दूर हैं। जब लक्ष्य परिवर्तन होगा तभी यह 'मैं' और 'मेरा' मिलकर 'तू' और 'तेरा' बन जायगा।

मैं मैं मेरी' तब तक दूरी—मैं मैं मेरे मिले हजूरी।

"यदा चाहं तदा मोक्षो, यदाऽहं बन्धनं तदा।"

भगवान् कृपा करते थे, करते हैं, करते रहेंगे

ऐसा पूर्ण विश्वास करते हुए उनकी निःसीम कृपा का सम्पादन करते हुए जीवन व्यतीत करो। समुद्र की लहर जैसे समुद्र से दूर नहीं है इसी प्रकार उन कृपासागर की कृपा से तुम भी विलग नहीं, उनकी कृपा को प्राप्त करने के लिये उन्हीं को आर्त्तस्वर से पुकारते रहो। वे तो प्रतिक्षण तुम्हें अपना कृपापात्र बनाने के लिये उत्सुकता से तुम्हारी बाट देख रहे हैं।

जीते जी मर जाना *

(श्री स्वामी प्रकाशानन्द जी महाराज)

सूरज व हम दो की स्वीकृति में एक तीसरी वस्तु छाया बन जाती है जो अपने समान क्रिया भी करती है, अपना हाथ हिलाने पर वह हाथ या पैर इधर-उधर करने पर उसी प्रकार हिलाती है। कहाँ तक कहें यदि हम चलते हैं तो वह भी चलने सी लगती है। यद्यपि वह हमसे ही अस्तित्व रखती है फिर भी हम जैसा चाहें सर्वथा वैसा नहीं करती। कभी-कभी वह भयभीत करती है। यदि यह न होती तो दो ही दशाएँ हो सकती थीं कि या तो हम बड़े आनन्द से चुप रहते अथवा सूरज की ओर देखते या चलते। इसने उत्पन्न होकर बड़ा ही दुखी बना डाला है अतएव इसे मिटा डालना ही अच्छा है। यदि सरल रीति से यह छाया चली जावे तो अच्छा है, अतएव इससे प्रार्थना करो कि हे छाया देवी! अब तुम कृपा करो हम सब पर और जहाँ चाहो वहाँ चली जाओ। नहीं जाओगी? अच्छा कुछ रुपए, पैसे, कपड़े आदि के प्रलोभन देने से जावेगी, नहीं जायगी। तो अब दया न करो इसे लट्ठ मारकर, तलवार से काटकर, पानी से सड़ाकर अथवा हवा से ही उड़ा दो। इस रीति से भी नहीं गई। तो किस प्रकार भगाई जा सकती है? यह बड़ी बुरी बला आगई। इसका उपाय तो केवल यही है कि या तो सूरज को मिटा दिया जाय अथवा हमको हटा दिया जाय।

इसी प्रकार सूरज के समान परमात्मा व हम रूपी अहं (सीमित भाव) की स्वीकृति होने पर तीसरी वस्तु छाया रूप माया का अस्तित्व प्रतीत होता है जो मम रूप माया सर्वथा ही दुःख दिया करती है अर्थात् जहाँ, जिस-जिस वस्तु में मम (मेरा है ऐसा भाव) लगा लिया जाता है उसी की चिन्ता एवं संयोग-वियोग का दुःख होने लगता है। जैसे जगत में स्त्रियाँ अनेक हैं उन सभी का दुःख नहीं होता, दुःख उसी का होता है जिसमें मम लगा है। इसी प्रकार लड़के, मकान, जानवर व वृक्ष आदि जगत् में अनेक हैं किन्तु दुःख उसी लड़के मकान आदि के वियोग में होता है जिसमें मम लगा हुआ होता है। ऐसे ही शरीर संसार में अनेक हैं जो एक से एक बढ़िया अथवा घटिया हैं किन्तु दुःख उसी मम वाले शरीर का होता है। यही मम रूप मन व इन्द्रियाँ भी है तथा इसी प्रकार मन व इन्द्रियों का सम्पूर्ण क्षेत्र दुःख का हेतु है। यदि यह क्षेत्र स्वरूप माया न होती तो हमको मम निश्चय करने की उपाधि ही नहीं होती। उसके प्राप्त करने का अथवा रक्षा करने का प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसी दशा में जब कि छाया रूप माया का अभाव होता तो हम अपने निज-स्वरूप में निमग्न रहते अथवा सूरज के समान परमात्मा को देखने या समझने में लग जाते। अतएव यह समझ में

* (मुमुक्षु आश्रम से प्रकाशित) स्वामी प्रकाशानन्द जी लिखित पुस्तक 'सुखदर्शन' से उद्धृत—सम्पादक

आ गया कि इसी माया की गपड़तान से ही जीव परम दुखी है।

हरे! हरे! यह तो अनेक नये-नये रुप धारण कर नित्य ही सामने आती है तथा जीवों को बाँधने के लिये पुराने रूप में रहती ही नहीं, क्षण-क्षण में रंग बदला करती है। फिर विचारा अज्ञानी जीव क्यों न इसके नचाये नाचे? श्री गोस्वामी जी भी ऐसा ही लिख रहे हैं कि:—

या माया सब जगहिं नचावा।
जासु चरित लखि काहु न पावा॥

फिर भी इसका अस्तित्व बच्चे के हौआ की तरह है जो कि तीन काल में नहीं है किन्तु उसके नाम से ही बेचारे बच्चे की जान परेशान है। "यदपि असत्य देत दुःख अहई" ऐसी दशा में इस दुःख स्वरूपा माया को नष्ट कर डालना ही अच्छा है ताकि सभी का कंटक कट जावे और भक्ति-पथ के साधक की तो खूब ही बन आवे क्योंकि जब माया रहे नहीं तब केवल परमात्मा के रह जाने से खूब ही आराम से भक्ति करते रहें लेकिन भाई, जिस प्रकार माया को मिटाने के लिये केवल एक ही युक्ति बतलाई गई है उसी प्रकार यह माया परमात्मा व हमारे रहने पर मिट नहीं सकती। उपाय केवल यह है कि या तो परमात्मा ही न रहे अथवा हम न रहें लेकिन परमात्मा तो सदैव सर्वत्र है वह कभी न बनता है न मिटता है; न कभी आता है न कभी जाता है; न सोता है न जागता है; बल्कि वह बिना कानों के सुनता है; बिना आँखों के देखता है; वह तो बड़ी ही अलौकिक शक्ति वाला है, वह मिट नहीं सकता। फिर अच्छा यह है कि जीव अपने ही अहं को समाप्त कर देवे क्योंकि यह तो बनता है, मिटता है आता है, जाता है इत्यादि तथा सुषुप्ति दशा में अपनी अहं सत्ता को समाप्त भी कर बैठता है यह रोज ही देखने में आता है। इस सुषुप्ति दशा में माया का पता ही नहीं होता है कि—दुःख क्या, सुख क्या; अपना क्या, पराया क्या; मेरा कौन; मिटा कौन? आदि। अपना सुखी रहता है घर में चाहे आग लगे, जगत चाहे उलट-पलट हो जाय कोई भी दुःख नहीं और शरीरान्त होने पर भी लगभग यही दशा होती है। इससे यह समझ में आगया कि अपने को ऐसी अवस्था में लाया जा सकता है जैसी अवस्था सुषुप्ति के समय होती है तथा यह भी ज्ञात हुआ कि यह जीव अपनी कल्पित सत्ता स्वीकार कर लेता है क्योंकि सुषुप्ति में कल्पना से रहित सा होता है। यह स्वप्न में एक नवीन सृष्टि बनाता है व जागृत अवस्था में और ही कल्पना करता है। अतएव माया एवं आवागमन के मिटाने का सब से अच्छा उपाय यही है कि जीते जी मर जावे। अर्थात् परमात्मा की नित्य सत्य-सत्ता में अपने कल्पित अनित्य अस्तित्व को सवथा ही विलीन कर देवे (उसी परमात्मा में तद्रूप हो जावे) अथवा अपने अहं को भूल जावे। जिस प्रकार क्षुद्र बिन्दु अगाध सिन्धु में तद्रूप हो जाता है। बस फिर क्या, निष्के-वली भाव में एकरस सर्वत्र परमात्मा के रह जाने पर छाया रूपी माया का पता भी नहीं चलेगा कि है या नहीं।

"जीते जी मर जावे। सोइ परम पद पावे॥"

तुलसीदास जग आप सहित जबलगि निर्मूल न जाई।
तबलगि कोटि कल्प उपाय करि मरिय तरिय नहिं भाई॥
मरता मरता जग मुआ, मरा न जाना कोय।
ऐसा मरना जो मरै, बहुरि न मरना होय॥

धन जोबन यों जायगो, जा विधि उड़त कपूर।
नारायण गोपाल भज, क्यों चाटै जग-धूर॥

मन की व्याकुलता या सत्य की खोज

(*श्रीमती शशांक मंजरी देवी—राजमाता*)

भक्ति-योग के आचार्यों ने ईश्वर के प्रति परम अनुरक्ति को भक्ति कहा है, भक्ति क्या है? प्रेम की एक शाखा। लेकिन प्रश्न यह होता है कि मनुष्य ईश्वर को कैसे प्रेम करेगा—हमें इसकी मीमांसा करनी होगी। इस प्रश्न को लेकर तरह-तरह की भूल, भ्रान्ति और धोखे में फँस जाना पड़ता है। बहुत दिनों तक भूल के ऊपर ही मैं बहुत बड़ी इमारत तैयार किया करती थी। अन्त में एक ही धक्के में इमारत गिर कर नष्ट हो जाया करती थी। परिश्रम की उस विफलता पर भगवान् के ऊपर झुंझलाहट भी हो जाया करती थी। यहाँ तक कि उन्हें बहुत कुछ बक भी देती थी, ऐसा होते यों ही गिरते पड़ते आखिर को गुण-दोष निर्णय करने के लिये प्रमाण बाहर खोजती थी, किन्तु अब यही कुशल है कि उससे रक्षा भी हो जाया करती थी, क्योंकि एक सन्देह करने वाला भीतर था—जो लोग साकार रूप से ईश्वर को मूर्तिमान् समझ कर भक्ति द्वारा पूजन करते हैं उनके लिये तो सम्भव है कुछ सहल है, किन्तु निराकार रूप का चिन्तन करना प्रेम-भक्ति करना सहल नहीं है, ईश्वर सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान, निर्गुण, निराकार, नित्य, अनन्त, अविनाशी, अजन्मा सब जगह व्याप्त है, जो इस प्रकार समझ गया है वह कैसे मूर्ति रूप से स्वीकार कर सकता है। यह मैं नहीं कहती हूँ मूर्ति-पूजा करना ठीक नियम नहीं है, सो बात नहीं है. किसी चीज को उसी रूप में ध्यान करना पहिले अग्रसर होता है। बस इतने पर रुक जाना तो ठीक नहीं जब वेद पुराणों से प्रमाण मिलता है कि वह सर्व शक्तिमान, परमात्मा है, यानी सबकी आत्मा है। तो वह एक निर्जीव रूप से एक स्थान पर कैसे रह सकता, जब वह स्वरूप है, अचल रूप से व्याप्त है, सब जीवधारियों में जीव आत्मा रूप से विराजमान है। यह भी पुराणों से ज्ञात हुआ, बहुत रूप से प्रमाणों के साथ समझाया गया है।

दूसरा प्रश्न—वह जड़ है या चेतन, यदि जड़ है तो हमको उससे लाभ ही क्या होगा, और यदि चेतन है तो ज्ञान स्वरूप है या ज्ञान से रहित, यदि ज्ञान से रहित है तो वह हमको कैसे समझेगा? और क्या दे सकेंगे और यदि ज्ञानशक्ति वाले हैं तो वे अल्प शक्ति हैं या सर्व शक्तिमान, अल्पशक्ति हैं तो हममें और उनमें भेद ही क्या रहा? और यदि वे सर्वशक्तिमान, सर्वान्तर्यामी, सर्वदा और सर्वव्यापी हैं तो हमें यह मानना ही पड़ेगा कि वह हमारे हृदय के भावों को प्रगट होने से कहीं पहले सभी बातें जानते हैं।

हे मेरे प्रभु! तुम कौन हो, अगर तुमको आत्म-दर्शन न देना है तो यह जो प्रेम की अभिलाषा है उस अग्नि को क्यों भड़काया, मैं तुमको कैसे समझ सकूँ। आखिर जानते हो संसार की माया के बन्धनों की बेड़ियाँ मेरे पाँवों में पड़ी हैं। मालूम होता है तुमने किसी के प्रेम को इस तरह अनुभव नहीं किया। वरन् कुछ मेरे ऊपर जरूर दया करते। बुद्धि कहती है कि जिसके कारण रोती हो, उसको अनुभव करती हो। किसी बात में मन नहीं लगता। कभी ख्याल आता कि क्या मैं उसे देख सकूँगी जिसने मेरी दुनिया को बर्बाद करके नयी प्रेम की दुनिया में मुझे बसाया है। लो मेरे मालिक! मैं अपना यह जीवन तेरे चरणों में विनयावनत होकर अर्पण करती हूँ। नाथ! तुमने मेरा सर्व ऐश्वर्य तो ले लिया मेरे पास अब अपना कहने वाला एक तुच्छ सच्चा प्रेम है। वह मैं तेरे चरणों में अर्पण

करती हूँ। तुझ से भिन्न मेरी कोई हस्ती ही न रहे। मैं नहीं जानती कि मुझे किस साधन-पथ से अग्रसर होना चाहिये ? मैं कब अपने लक्ष्य को प्राप्त करूँगी ? उसके लिये कौन सा साधन उत्तम है, भगवन् ! तुम ही जानते हो।

तुम्हें सृष्टिकर्त्ता कहते हैं पर पहिले मैं यह देखूं कि तुम रहते कहाँ हो। तुम्हारा निवास किस स्थान पर है, क्या मन्दिर में, या वन में, मठ या गंगा में, पहाड़ों में या तीर्थों में, या दिल के मन्दिर में। मैंने हर एक जगह ढूँढ़ा कहीं नहीं पाया। (हो सकता है भक्तों के हृदय में) लेकिन मैं भक्त कहाँ हूँ, मन्दिर भी मन्दिर नाम के कारण नहीं, लोग मन्दिर में जाकर प्रार्थना करते हैं, वे किसकी प्रार्थना करते हैं ? और किसलिये करते हैं ? जगत स्वार्थी है और वह ईश्वर को मनमाना भोग पदार्थ देने वाला समझता है। परन्तु उन्हें याद रखना चाहिये कि यदि परमेश्वर के मन्दिर में दर्शन करने के लिये जाते हैं तो मंगतेपन को छोड़कर भिखारीपन को दूर फेंक कर प्रभु के प्रेम प्राप्ति के साधन की याचना करें।

मैं तो अभागिनी हूँ, यदि मैं भगवान् के दर्शन की अधिकारिणी होती तो क्या अबतक उससे वंचित रहती मेरा जीवन व्यर्थ और जीना भी व्यर्थ है। मेरे जीवन का जो एक मात्र उद्देश्य है जिसके लिये मेरे जीवन की समस्त चेष्टाएँ हैं, उससे वंचित रह कर भगवान् की कृपा से दूर रहकर, संसार की उलझनों से बचते रहना, भला यह भी कोई जीवन है। ऐसे जीवन को रखकर करना क्या है ?

प्रेम क्या है, प्रेम में सत्य है, पवित्रता है, लगन है, व्याकुलता भी है। प्रेम का अन्त नहीं, प्रेम की सीमा नहीं, प्रेम का बन्धन मोक्ष के निमित्त है, प्रेमी प्रेम-बन्धन में जो आनन्द अनुभव करता है वह एक त्यागी त्याग में नहीं कर सकता है प्रेम में ही त्याग है, प्रेम स्वार्थ-हीन है, प्रेम में संकीर्णता नहीं, प्रेम में सदैव स्थिरता (उदारता) है। सहने की शक्ति है, प्रेम का मार्ग सुगम है पर उसे स्वार्थ, कुटिलता और मोह ने दुर्गम बना रखा है, संसार मोह को प्रेम मान बैठा है। ममता को प्रेम कहा जाता है। सत्यता यह है प्रेम श्रेयस्कर है, प्रेम से जीवन की वृद्धि होती है। मोह से बुद्धि चंचल होती है, ज्ञान की कमी होती है।

जिन्हें प्रेम में आनन्द आने लगता है उनके लिये विश्व दुःख-धाम न रहकर आनन्द-धाम हो जाता है। ममता मनुष्य के हृदय को सिकोड़ती है। जब मनुष्य सबको अपने समान या सबको अपना ही रूप देखता है तो फिर मोह, शोक नहीं रहता, प्रेमी स्वज प्रेम करता है बदले की इच्छा नहीं रखता। प्रेम ही अनन्य भक्ति हो सकती है, लेकिन प्रभु मैं तुम्हारा प्रेमी कहाँ हूँ। यह प्रेम करना सहज बात नहीं है, मानवीय प्रेम वहीं बढ़ता है जहाँ बदले की आशा होती है, समझे ! बदले की आशा टूट जाने पर प्रेम के स्थान पर उदासीनता छा जाती है। बदले की आशा के बिना प्रेम का विकास ही कम देखा जाता है। पतंगा अग्नि को प्यार करता है और अग्नि को आत्म-समर्पण कर प्राण-त्याग देता है। पतंगा स्वभाव से ही इस प्रकार का प्रेमी है।

हे भगवन् ! जगत् में जिस ओर नजर जाती है मनुष्य दुःख के सागर में डूबे हुए ही दिखाई देते हैं। संसार में कोई भी सुखी नजर नहीं आता तुम दया के सागर हो, तुम भी मुझ पर दया नहीं करोगे ? क्या दया का सागर मेरे लिये सूख गया ? हाँ, जरूर सूख गया है, सचमुच तुमसे दया जाँचने का मुझे क्या अधिकार है, तुम दया भी क्यों दिखाने लगे जब मैं तुम्हें ही भूलती हूँ। माया के आवरण में जब सत्य को त्यागकर झूठ को ही सत्य मानती हूँ। न दया की याचना

ही कर सकती हूँ न तुम्हीं मेरे जैसे पापियों पर दया कर सकते हो। तुम्हारी दया और कृपा के पात्र होने के लिये मेरी योग्यता ही कहाँ है? हम ऐसे हैं कि जब हमारे पास लक्ष्मी हो जब हम सुख चैन में पड़ीं हों तब तुम्हें भूल जाती हूँ। जब मेरे शरीर पर और कुटुम्ब पर सङ्कट के बादल छा जाते हैं तब मैं तुमको पुकारती हूँ। यह पुकार भी मेरी सच्चे दिल की नहीं होती।

फिर भी प्रभु, तुम उस समय आओगे जब मेरा कहने के लिये कुछ भी न रहेगा। प्रभु! इसलिये तुम दीन और अनाथों के नाथ दीनबन्धु कहलाते हो। किन्तु मैं दीन कहाँ हूँ, जो तुम मेरे लिये आओगे। दीन तो वह है जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, व्यसन हिंसा समस्त मत्सर त्याग चुका है नम्रता को स्वीकार कर लिया है। सन्तोष और शान्ति को ग्रहण किया है। जो शत्रु और मित्र को समान समझता है जिसका अलौकिक त्याग है, सुख-दुःख को हर हालत में एक सा भाव रखता है हर एक अवस्था में स्थिर रहता है, प्रभु तुम जरूर एक न एक दिन आओगे, भगवन् तुम्हीं आओगे, मुझे विश्वास है तुम मुझे नहीं भूलोगे, मैं तुम्हें भूलती हूँ। मैं तुम्हारा स्मरण भी नहीं करूँगी, पर तुम मुझे कभी नहीं भूल सकोगे। क्योंकि तुम दयालु हो, घट-घट व्यापी, अन्तर्यामी हो, मेरे प्रभु! तुम्हीं आकर मेरे को कीचड़ से निकालो, न। तुम्हीं आये थे नाथ! जब गजेन्द्र ने तुमको याद किया तुम्हीं गये थे न, जब पांचाली ने तुमको पुकारा, तुम्हीं तो दौड़ते-दौड़ते चले गये थे न, जब ध्रुव आरण्य में बैठा था। तुम्हीं ने मीरा के जहर का कटोरा अमृत से भर दिया और नरसिंह रूप धारण करके प्रह्लाद को बचाया।

तुम तो जानते सब हो, कि यह आवाज हृदय से आ रही है अथवा बनावटी है। आवाज अन्तर की थी। अन्तर से निकल रही थी तुमको ही सिर्फ सुनाने के लिये। पर यह आवाज कैसे मेरी निकलेगी प्रभु। यह आवाज आसानी से नहीं निकलती है। यह आवाज निकलती है जब कण्ठ रुक जाता है, शरीर गद्गद हो जाता है, नेत्रों से अश्रु धारा बहती है। अपने को भूल जाता है।

हे मेरे नाथ! ऐसा समय कब आवेगा जब मैं भी ऐसा पुकार कर सकूंगी। हे कृपासिंधु! मैं जब तुम्हारा स्मरण करने बैठती हूँ तो निमिष-मात्र के लिये मन स्थिर नहीं रहता। हजारों बातें उस समय मन को उथल-पुथल कर देती हैं, आ आकर मन कहीं फिरता है और मैं आवाज किया करती हूँ। ऐसी स्थिति में हे परमात्मन! ऐसा अन्तर्नाद मैं कैसे कर सकूंगी। इस अधिकार को मैं कैसे प्राप्त कर सकूंगी।

हाँ होगा तो अवश्य, जब मैं अपनापन भूल जाऊंगी। जब मैं तन-मन-धन सर्वस्व तुम्हारे चरणों पर न्योछावर कर दूंगी जब मैं यह समझूंगी कि तुम ही एक मेरे हो। मेरे दूसरा कोई नहीं। प्रभु! मैं उसी क्षण की प्रतीक्षा कर रही हूँ। चातक के ऐसा स्वाती के बूंद की आशा पर बैठी हूँ। लेकिन यह विश्वास मेरे दिल पर दृढ़ता से किस रूप में जमेगा। निराश होकर भी आशा के फल पर निगाह किये बैठी हूँ। ईश्वरकी कृपा के बिना इस शक्ति को पाना दुर्लभ है।

तुलसी या जग आय कै, पाँच रतन हैं सार।
संत मिलन अरु हरिभजन, दया, दान, उपकार॥

जप और उसकी महिमा

(श्री कृष्णदेवनारायण एम. ए, यल. यल. बी., एडवोकेट)

भगवान् कृष्ण ने गीता में अपनी विभूतियों का वर्णन करते हुए कहा है "यज्ञानाम् जपयज्ञोऽस्मि" समस्त यज्ञों में मैं जप हूँ अर्थात् जप समस्त यज्ञों में श्रेष्ठ है। आधुनिक युग में बुद्धिवाद इतना प्रबल है कि जब तक हम किसी भी वस्तु को बुद्धि रूपी शीशे से देख कर उसके "क्यों और कैसे" को समझ नहीं लेते हैं उस समय तक उस पर विश्वास नहीं जमता और बिना विश्वास किसी कार्य को करने से उससे प्रगति तथा विकास सम्भव नहीं है। इस भौतिक युग में अधिकांश लोगों का कार्य किसी न किसी प्रकार के भौतिक लाभ के लिये ही होता है। कोई कुछ करता है या कहता है या लिखता है तो उससे वह भौतिक लाभ की ही आशा रखता है। निष्काम सत्यान्वेषण का स्थान भौतिक सुखार्थ अन्वेषण ने ले लिया है परन्तु पुराने युगों में यह बात नहीं थी। उस समय सत्य के लिये ही सत्य का अन्वेषण हुआ करता था ऐसा करने में अन्वेषकों को किसी भौतिक लाभ की अपेक्षा नहीं थी तो उन अन्वेषकों, ऋषियों तथा महात्माओं के वाक्यों को झूठा कैसे मान लिया जाय क्योंकि ऐसा करने में उनको कोई स्वार्थ सिद्ध नहीं करना था। इसकी पुष्टि इसीसे होती है कि पुराने ब्रह्मवेत्ता, ऋषियों, दर्शन तथा धर्मशास्त्र के रचयिताओं ने अपनी रचनाओं में कहीं अपना नाम नहीं दिया है उनके भाष्यकारों ने उनका नाम दे दिया हो यह दूसरी बात है। दूसरे जिन लोगों ने इसकी खोज में अपना जन्म तथा सम्पूर्ण समय लगा दिया है और जिनका कथन मान्य है क्योंकि उन लोगों ने उसका पूर्णरूपेण अन्वेषण किया है वे लोग भी इसकी पुष्टि करते हैं। कबीर, सूर, तुलसी, ज्ञानेश्वर, तुकाराम, रामकृष्ण इत्यादि जितने भी आधुनिक महात्मा इस मार्ग के अन्वेषक हो गये हैं उन्होंने मुक्तकण्ठ से जप की महिमा गाई है। अपने मानस में महात्मा तुलसीदास जी कहते हैं—"*नाम जपत मंगल दिसि दसहूं*"। या तो इन वाक्यों को मान ही लेना पड़ेगा नहीं तो स्वयं अन्वेषण करके इसको झूठ साबित करना पड़ेगा, मगर दोनों में से एक भी न करना तो जड़ता है। या तो विश्वास हो, नहीं तो (spirit of research) अन्वेषण की प्रवृत्ति। मानवता तो यही है और इसी के हेतु मनुष्य को बुद्धि मिली है। अब देखना यह है कि जप है क्या. कैसे किया जाता है और आध्यात्मिक साधन में. इसका इतना महत्त्व क्यों है?

किसी बीजाक्षर, ईश्वर के नाम अथवा किसी मन्त्र को बारबार दोहराने को या उसकी आवृत्ति करने को ही जप कहते हैं। जप कई प्रकार से किया जाता है और उसके बहुत से भेद हैं, वाचिक उपांशु, मानसिक तथा अजपा ये मुख्य भेद हैं।

वाचिक जप वह होता है जिसमें मन्त्राक्षरों का उच्चारण जोर से किया जाता है जिसको जप करने वाला और दूसरे भी सुन सकते हैं। मन्त्र तथा बीजाक्षरों का वाचिक जप नहीं होता, केवल भगवन्नाम का हो सकता है। उपांशु जप में होठ चलते हैं और जीभ हिलती है इसे दूसरा नहीं सुन सकता अपने कानों को अवश्य सुनाई देता है। अधिकतर नया जप करने वाले उपांशु जप ही कर सकते हैं। मानसिक जप बहुत श्रेष्ठ चीज है इसमें केवल मन द्वारा आवृत्ति की जाती है और मन्त्र बीजाक्षर अथवा नाम के अर्थ का चिन्तन तथा उसकी भावना मन ही मन की जाती है। शब्द और अर्थ की एकता हो जाने से मन एकाग्र होकर उसमें

लय हो जाता है और उस समय के लिये चित्त की सारी वृत्तियों का निरोध हो जाता है और समाधि की प्राप्ति होती है। योगसूत्र समाधि पाद में भगवान पातञ्जलि ने ऐसे ही जप को समाधि का साधन बतलाया है। चौथा जप है अजपा जप, इस जप में साधक को कोई कार्य (Consciously) नहीं करना पड़ता है, साधक की ओर से कोई Positive (धनात्मक) क्रिया नहीं होती। अजपा जप में सहज रूप से क्रिया होती रहती है जैसे श्वास-प्रश्वास की। यह साधक की बहुत ऊँची स्थिति का द्योतक है और विरला ही साधक इस स्थिति पर पहुँच पाता है और जो इस स्थिति पर पहुँच जाता है वह साधक की अवस्था पार कर जाता है वेदान्त साधना की तुरीयावस्था से इसकी समानता है।

जप का सिद्धान्त—जप क्यों किया जाय इसको समझने के लिये जप के सिद्धान्त को समझना आवश्यक है। चिरशान्ति, आत्मानन्द अथवा ईश्वर-प्राप्ति के लिये बहुत से आध्यात्मिक साधन ऋषियों तथा आत्मपुरुषों ने बतलाये हैं। योग-दर्शन में महर्षि पातञ्जलि ने अष्टांग योग के साथ-साथ "ईश्वर प्रणिधान" की भी साधना बतलाई है। प्रणव (ओंकार) उस ईश्वर का वाचक है और उसकी प्राप्ति का मार्ग है। "तज्जपस्तदर्थ भावनम्" (यो० सू० १/२८) अर्थात् अर्थ की भावना के सहित उसका जप। इस प्रकार के जप से महर्षि पातञ्जलि के अनुसार जितनी अन्तराय (बाधायें) हैं वह शान्त हो जाती हैं। बीमारी, कमजोरी, संशय, प्रमाद, आलस्य, विषय-लोलुपता, भ्रम, अस्थिरता तथा चित्त-विक्षेप बाधायें हैं जो जप द्वारा शान्त हो जाती है और साथ ही साथ इसके साथी दुःख, निराशा, शरीर की अस्थिरता तथा श्वास व प्रश्वास का भी प्रतिषेध हो जाता है (यो० सू० १/२९/३०/३१)

जप द्वारा अन्तराय या बाधायें कैसे शान्त हो हैं इसको बहुत सुन्दर रीति से महर्षि व्यास ने अपने भाष्य में बतलाया है। ये बाधायें चित्त की वृत्तियों के साथ-साथ रहती हैं। उनकी अनुपस्थिति में ये बाधायें भी शान्त रहती हैं। जीव प्रत्येक चेतन होने पर भी परन्तु अविद्या से घिरे रहने के कारण अपने स्वरूप को देख नहीं सकता। ईश्वर की सर्वव्यापकता तथा सर्वज्ञता की भावना करने से स्वरूप की पहचान हो जाती है क्योंकि ईश्वर और जीव में समानता के कारण संग स्थापित हो जाता है।

"ये तावदन्तराया व्याधि प्रभृतयस्ते ताव-दीश्वर प्रणिधानान्न भवन्ति स्वरूप-दर्शनमप्यस्य भवति यथैवेश्वरः पुरुषः शुद्धः केवलोऽनुपसर्गस्तथायमपि बुद्धेः प्रतिसंवेदी यः पुरुषस्तमधि गच्छति। (यो० भा० १।२९)

और फिर दो समान वस्तुओं में एक का ज्ञान होने पर दूसरे का भी ज्ञान हो जाता है। जैसे एक विद्या का ज्ञान होने पर उससे मिलती जुलती दूसरी विद्या का भी ज्ञान सरलता से हो जाता है श्री मद्भागवत् में भगवान् ने मुक्ति अथवा परमशान्ति प्राप्त करने के केवल तीन साधन बतलाए हैं। कर्म, ज्ञान तथा भक्ति इनके अतिरिक्त अन्य को दूसरा साधन मनुष्य के कल्याण के हेतु नहीं (भा० ६।२०।६) संसार के जितने भी अन्य साधन है उनका समावेश इन्हीं तीनों में से किसी न किसी में हो जाता है जप मुख्यतः भक्ति का साधन है और इसीलिये भक्ति-शास्त्र तथा तन्त्रशास्त्रों में इसको बहुत ऊंचा स्थान दिया गया है ईश्वर से भाव तथा भाव के उपरान्त नामरूप वाली सृष्टि उत्पन्न होती है जिसने जीव को उसके स्व स्वरूप से पृथक करके बन्धन में डाल रखा है। प्रकृति का एक अटल नियम है कि जिस वस्तु की जिस क्रम से रचना होती है उसका नाश उलटे क्रम से होता है। जैसे बीज बोने पर पहले जड़ निकलती है और फिर तना, डालें, पत्तियाँ इत्यादि

और जब उसका नाश होता है तो उसके उलटे क्रम से अर्थात् जड़ का नाश सबसे अन्त में होता है। जप द्वारा मनुष्य नाम अथवा शब्द तथा रूप का आधार लेकर भाव और फिर परमात्म-तत्त्व में चित्त-वृत्तियों का लय करता है और इसी हेतु नारद, गर्ग, भृगु इत्यादि मन्त्र-योग के आचार्यों ने जप को इतनी प्रधानता दी है। एक तत्त्वाभ्यास की साधना जो योग-दर्शन में बतलाई है वह जप द्वारा सुगम हो जाती है और बहिर्मुखी चित्त की वृत्तियाँ अन्तर-मुखी होकर मन को शान्त कर देती हैं। किसी भी आध्यात्मिक साधन के लिये चाहे वह कर्म का हो या भक्ति का हो अथवा ज्ञान का हो, दो बातें मुख्य हैं एक तो उसका अभ्यास निरन्तर हो और दूसरे दीर्घकाल तक किया जाय परन्तु अभ्यास श्रद्धा सहित होना चाहिये। भगवान ने गीता में इन्हीं दो प्रकार के अभ्यासों को लक्ष्य किया है।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
(गीता ८। १४)

और इस प्रकार के अभ्यासी का फल योग-दर्शन में बतलाया है।

'स तु दीर्घकालनैरन्तर्य सत्कार सेवितोदृढभूमिः'
(यो० सू० १। १४)

भक्ति-सूत्र ने भी ऐसे ही अभ्यास को प्रधानता दी है।

"अव्यावृत भजनात्" (ना० भ० सू ३६)

भक्ति की प्राप्ति का साधन निरन्तर भजन बतलाया है, प्रयत्न में कमी नहीं होनी चाहिये यदि रोग इत्यादि के कारण शारीरिक प्रयत्न तथा अभ्यास न हो सके तो मानसिक ही होता रहे। ऐसा प्रयत्न कभी भी किसी दशा में निष्फल नहीं होता। गीता में कहा है—

"स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्"
तथा (२, ४०)

"न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति"
(६। ४०)

अर्थात् थोड़ा सा किया हुआ धर्म-कार्य भी बड़े पाप से रक्षा करता है और सुकृति का नाश नहीं होता और न सुकृत करने वाले की दुर्गति होती है। परन्तु जीव के संसारी होने के कारण वह सदैव ही आध्यात्मिक साधना में तो नहीं लगा रह सकता। संसार में रहने के कारण उसे सांसारिक कार्य के लिये तो समय देना ही है सच्ची साधना का निरन्तर (Continuity) अभ्यास तथा प्रयत्न करने की इच्छा व रुचि से बनी (क़ायम) रहती है। साधना में लगन होनी चाहिये चाहे शारीरिक प्रयत्न हो सके अथवा नहीं। स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने बहुत सुन्दर दृष्टान्त इस लगन का दिया है, जैसे पनिहारिन का ध्यान सर के घड़े पर ही रहता है, चाहे वह ऊँचे-नीचे चले अथवा बात करती रहे। उसी प्रकार साधक का ध्यान निरन्तर अपने इष्ट पर रहना चाहिये चाहे वह कुछ भी करता रहे। जप का महत्त्व इसी में है कि वह साधक में इस प्रकार के ध्यान का अभ्यास करा देता है। श्रवण, कीर्त्तन तथा स्मरण, नवधा भक्ति के इन तीनों अंगों का एक साथ समावेश जप में हो जाता है और इसका लाभ यह होता है कि अन्तःकरण का जितना भी मल है वह धीरे धीरे नष्ट होकर अन्तःकरण की शुद्धि करता है और इसीलिये "हर भक्ति विलास" में कहा है कि ऊँचे साधक प्रभु का कीर्त्तन तथा स्मरण ही करते हैं।

एवमेकान्तिनां प्रायः कीर्तनस्मरणं प्रभो।
कुर्वतां परमप्रीत्या कृत्यमन्यन्न रोचते॥

श्रीमद्भागवत में भी कहते हैं कि संसार के बन्धनों में जकड़े हुए मनुष्य को अभय पद प्राप्त

करने के लिये भगवान् तथा उनके गुणों का सुनना, कीर्तन करना तथा स्मरण करना चाहिये (भा०२।१।५) सब आध्यात्मिक साधनों का मूलतत्त्व यह है कि बहिर्मुखी चित्त की वृत्तियों को अन्तर्मुखी बना देना तथा मन को विषयों से हटा कर ईश्वर अथवा परम तत्त्व में स्थित कर देना। जप द्वारा यह कार्य जितनी सुगमता तथा सरलता से होता है उतना अन्य यौगिक क्रियाओं द्वारा नहीं।

मन्त्र-जप तथा उसके अनुष्ठान व सिद्धि की बहुत विस्तृत विधि आगम ग्रन्थों में बतलाई है तन्त्रों में तो मंत्र-सिद्धि तथा मन्त्रानुष्ठान का विधान किसी वैज्ञानिक प्रयोगशाला के प्रयोगों के विधान से कम नहीं है और तन्त्र का दावा है कि यदि उसकी बताई हुई विधि से अनुष्ठान किया जाय तो सिद्धि अवश्य प्राप्त होगी चाहे वह किसी कामना पूर्ति के लिये हो अथवा ज्ञान व मुक्ति के लिये हो। परन्तु तन्त्र का मार्ग खतरे से खाली नहीं है।

भगवन्नाम-जप एक ऐसा सुगम साधन है कि जो सरल होते हुये भी महान फलप्रद है। योगचूडामन्योपनिषद् का वाक्य है—

शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि यो जपेत् प्रणवं सदा।
न स लिप्यति पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥

अर्थात् पवित्रता अथवा अपवित्रता किसी भी दशा में जो नित्य ओंकार का जप करता है वह कीचड़ में जमे हुये कमल के समान पाप में लिप्त नहीं होता। रामपूर्वतापिनी उपनिषद् में कहा है कि भगवान् रामचन्द्र अपने चरित्र द्वारा धर्म तथा नाम द्वारा ज्ञान व अपने ध्यान द्वारा वैराग्य तथा अपने पूजन द्वारा ऐश्वर्य प्रदान करते हैं। (१/४) श्रुति स्मृतियों में वर्णित जो बहुत से धर्म और कर्म हैं वह इतने अधिक विधि तथा नियमों से घिरे हुये हैं कि हर एक मनुष्य उनको करने की शक्ति नहीं ... परन्तु भगवन्नाम की ही यह विशेषता है कि भगवन्नाम जपने वाला सब यज्ञों का फल प्राप्त कर लेता है।

विहितमखिलकर्म ब्राह्मणानाम् मुनीन्द्रै-
र्विधिनियमसमेतं शक्यते नैव कर्तुम्।
तदखिलमपि हित्वा यो महादेव शब्दं
पठति फलमशेषं प्राप्नुयात्सोऽनवद्यम्॥
(ब्रह्मवैवर्त पुराण)

जप की महिमा—पूर्व वर्णित बातों से जप की महिमा प्रत्यक्ष ही है। इसके अतिरिक्त स्मृतियों ने भी इस साधना का महत्व बहुत बतलाया है। मनु ने कहा है—

विधियज्ञात् जपयज्ञोविशिष्टो दशभिर्गुणो।
उपांशुः स्यात् शतगुणः सहस्त्रो मानसः स्मृतः॥

यम का कहना है—

"जपयज्ञस्तु यज्ञानां सर्वेषामुत्तमः स्मृतः।"

उशानस के अनुसार:—

"दानात शतगुणो यागो यागात शतगुणो जपः।"

और भी ऋषियों तथा स्मृतिकारों ने जपकी महिमा गाई है मनु ने तो यहाँ तक कहा है कि जो साधक जप करता है वह समस्त यज्ञों का फल प्राप्त कर लेता है चाहे अन्य कुछ करे अथवा नहीं।
(मनुस्मृति २.८७)

"जपस्तु सर्वधर्मेभ्यः परमोधर्म उच्यते" इत्यादि कथन भी मिलता है जप की बड़ी महिमा होने का मुख्य कारण यह है कि इसके करने के हेतु किसी वस्तु, काल अथवा स्थान विशेष की अपेक्षा नहीं होती जैसा कि दूसरे साधनों के लिये, तथा नाम जप के साधनों में किसी गुरू विशेष से दीक्षा न भी ली जाय तो कोई हानि नहीं परन्तु मंत्र-जप बिना गुरू से दीक्षित अथवा उपदेशित हुए सिद्धिप्रद नहीं होते। वैश्वानर स्मृति में कहा है—

"न देशकाल नियमः शौचाशौचविनिर्णय
परं संकीर्तनादेव राम रामेति मुच्यते ।"

हिंसादि भी जप-यज्ञ में नहीं यह भी इसके महत्त्व का कारण है। नाम-जप के बारे में तो ऋषियों तथा धर्मग्रन्थों ने यहाँ तक कहा है कि कलियुग में नाम-जप व स्मरण के अतिरिक्त मानव के कल्याण के लिये दूसरा कोई साधन नहीं है। बृहद् नारदीय पुराण का कथन है कि—

"हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम् ।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥
(बृ० ना० पु० ३८/१२७)

पद्म पुराण में कहा है—

हरेर्नामे हरेर्नामे हरेर्नामैव केवलम् ।
हरे राम हरे कृष्ण कृष्ण कृष्णेति मंगलम् ॥
एवं वदन्ति ये नित्यं न हि तान् बाधते कलिः।
(४/८०/२०३)

भक्त तथा महात्माओं ने तो नाम-जप को बहुत ही ऊँचा स्थान दिया है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने नाम-जप तथा भजन की महिमा का इतना वर्णन किया है कि वह कहते हैं कि "राम न सकहिं नाम गुण गाई", नाम नामी से बड़ा है। बार-बार नाम की महिमा का अपने मानस में वर्णन करने पर भी जब तुलसीदास जी को सन्तोष नहीं हुआ तो उन्होंने विनय पत्रिका में इसकी शपथ लेकर कहा कि—

संकर साखि जो राखि कहौं कछु तो जरि जीह गरो।
अपनो भलो राम नामहिं ते तुलसिहि समुझि परो ॥

यह बात विचारणीय है कि इतना बड़ा भक्त और महात्मा इतने दृढ़ निश्चय के साथ असत्य भाषण नहीं करेगा। गीता में श्री भगवान् कहते हैं कि—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥
(गी० ८/५)

तथा

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥
(गी० ८/१३)

अर्थात् मरने के समय केवल भगवान् को स्मरण करता हुआ तथा ॐ इस शब्द को उच्चारण करके जो शरीर त्यागता है वह परमगति को प्राप्त करता है श्रीमद्भागवत में स्मरण तथा कीर्तन का लाभ यह बतलाया है कि मनुष्य जन्म का केवल इतना ही लाभ है कि चाहे जैसे हो जीवन को ऐसा बना लिया जाय कि मृत्यु के समय भगवान् की स्मृति बनी रहे (भा० २/१/६) और नाम-जप का सब से बड़ा महत्त्व यह है कि इस स्मृति को स्थिर रखने में वह बहुत बड़ा सहायक होता है क्योंकि जप के करने से अभ्यास बन जाता है तथा अन्त समय में वही नाम याद आता है।

जप द्वारा विशेष लाभ के लिये ऋषियों ने उसके लिये स्थान तथा काल का भी निर्णय किया है कूर्मपुराण में कहा है कि—

"एकान्ते गुह्यदेशे च तस्माज्जप्यं समाचरेत् ।"

एकान्त तथा बाधा रहित स्थान में जप करना चाहिये, जप एक बहुत बड़ी साधना है और साधना को गुप्त रखने से वह फलीभूत होती है जप के दस विघ्न भारद्वाज ने बतलाये हैं—

"निष्ठीवजृम्भण क्रोधनिद्रालस्य क्षुधामदाः।
पतितश्वान्त्यजालोकाः दशैते जप वैरिणः ॥"

तथा बृहस्पति के अनुसार शान्त मन, पवित्रता, मौन, मन्त्रार्थ-चिन्तन, अव्यग्र तथा उद्वेगरहित,

अवस्था, जप-सिद्धि के कारण होते हैं। खड़ा होकर अथवा चलते हुए जप नहीं करना चाहिये परन्तु यह सब नियम केवल मन्त्र-जप के लिये है नाम जप के लिये कोई नियम नहीं नाम-जप के लिये तो तुलसीदास जी कहते हैं कि—

भाय कुभाय अनख आलस हू।
नाम जपत मंगल दिसि दसहू॥

ॐ शान्ति

कल चलना है

यह भूल न जाना दीवाने,
यदि आज नहीं कल चलना है।
कल की कलकल में विश्व विकल, पर कभी न पाता कल्पित कल।
जो गया न वापस आता कल, कल-कल मय कल की कलना है॥
यह भूल न जाना दीवाने,
पल-पल नर-जीवन गलना है।
यदि आज नहीं कल चलना है॥

मुँह बाये मौत प्रचण्ड प्रेत, बन आती सब होते अचेत।
फिर मांस अस्थि-पंजर समेत, तन अङ्गारों पर जलना है॥
यह भूल न जाना दीवाने,
जो कर्म किये फल मिलना है।
यदि आज नहीं कल चलना है॥

व्यामोह 'अटल' ममता बिसार, आसक्ति हीन कर विश्व प्यार।
चिर तत्त्व-मनन, परहित प्रसार, कर सके न तो कर मलना है॥
यह भूल न जाना दीवाने,
ममता, मद झूठी छलना है।
यदि आज नहीं कल चलना है॥

श्री रामलाल जी शास्त्री
"अटल"

भक्तिमती मन्दाकिनी

(भक्त-गाथा)

(लेखक—श्री स्वामी जयरामदेव जी)

श्री बद्री-केदार के मार्ग में लाठी टेक-टेककर चलती हुई एक वृद्धा माता जा रही थी, उसके साथ केवल एक २५ वर्षीया उसकी कन्या थी। जीर्ण-शीर्ण, अस्थियों वाली वह वृद्धा माता दुर्गम पहाड़ की चढ़ाइयों पर चढ़ती हुई हृदय विकंपक हिमशीत को सहती, लुढ़कते-पुढ़कते अनेक यंत्रणाएँ सहती चली जारही थी। चलते-चलते मार्ग में थक कर बैठ गई और बोली—"बेटी मंदाकिनी! अब श्री केदारनाथ जी कितनी दूर हैं? मुझसे तो अब जरा भी चला नहीं जाता।" मंदाकिनी ने माँ का पसीना पोंछते हुये कहा—"माँ! साहस मत छोड़ो, अब तो थोड़ी ही चढ़ाई शेष है।"

पंजाब में रावलपिन्डी एक प्रसिद्ध नगर है। मन्दाकिनी का जन्म रावलपिन्डी में एक ब्राह्मण-कुल के प्रख्यात परिवार में हुआ था। पाकिस्तान बनाने के समय मंदाकिनी के पतिदेव और पिता तथा भ्राता आदि यवनों के द्वारा मारे गये। मन्दाकिनी अपनी माता के साथ हरिद्वार में आकर पहिले ही से रहने लगी थी, इसलिये इन दोनों के प्राण बच गये। अब मन्दाकिनी अपनी माता की प्रबल लालसा को पूर्ण करने के लिये बद्री-केदार यात्रा को आई थी।

मार्ग में माता का स्वास्थ्य अत्यन्त खराब हो गया। यहाँ तक कि केदारनाथ केवल एक मील रह गये तब बर्फीली भूमि पर चलते समय फिसलकर माता ने प्राण त्याग दिये।

अब मन्दाकिनी मातृहीना और बिल्कुल एकाकिनी हो गयी। कोई भी सहायक नहीं। केवल एक मात्र भगवान का ध्यान करती हुई आगे बढ़ी। श्री केदारनाथ के दर्शन करके एक रात्रि वहीं विश्राम किया। वहाँ पर उसने शिव-सरोवर की महिमा सुनी। सुना कि—"वहाँ पर बड़ा अद्भुत सरोवर है वहाँ अनेक चमत्कार दृष्टिगोचर होते रहते हैं।"

मंदाकिनी अकेली ही अत्यन्त दुर्गम चढ़ाई पर चल पड़ी। २५ वर्ष की युवती, सौन्दर्यशालिनी! किन्तु जिसे भगवान का और अपने सदाचार का बल है उसे भय किसका? शिव-सरोवर पर्वत के ऊपरी खण्ड पर है, हिमालय मार्ग—जिस पर चढ़ने का साहस बड़े-बड़े बलवान भी नहीं करते। बर्फ के कारण शरीर गलने लग जाता है। किन्तु मन्दाकिनी खान-पान की परवाह न करके, मृत्यु का भय भूलकर, ऊपर चढ़ती ही गयी। भगवान की भक्ति के प्रभाव से वह शिव-सरोवर पर जा पहुँची। वहाँ की अनिर्वचनीय शोभा देखकर उसका हृदय आनन्द से भर गया।

जिन दिव्य चमत्कारों की चर्चा सुनी थी, जिनको प्रत्यक्ष देखने की लालसा से प्राणों की बाजी लगाकर आयी थी, हिममय घोर पर्वताच्छन्न सरोवर-तट पर भयङ्कर शीत सहती हुई रात्रि में वही भावना भर कर भगवान् के ध्यान में तन्मय हो गयी।

अर्धरात्रि के अन्तर शिव-सरोवर सहसा प्रकाशित हो उठा। सरोवर के मध्य में धीरे-धीरे एक कमल निकल कर विकसित होगया। उस कमल पर श्वेत वर्ण का सर्प विराजमान था।

यह दृश्य देखकर मन्दाकिनी का सम्पूर्ण शरीर जड़वत् हो गया। उसे केवल इतनी चेतना रही कि देखें अब क्या होता है? उस दिन कमल के दर्शन से उसकी दिव्य दशा बन चुकी थी। कुछ देर बाद कमल से उत्तर कर वह सर्प सहसा कमल के चारों

ओर घूमने लगा और उस कमल पर भगवान शङ्कर आकाश-मार्ग से आकर प्रकट होगये। फिर वह कमल हिलता हुआ मन्दाकिनी के निकट आने लगा, अत्यन्त समीप आजाने पर भगवान् शङ्कर को देखकर मन्दाकिनी ने चाहा कि साष्टाङ्ग दण्डवत करें, किन्तु वह शरीर को हिला भी न सकी। फिर वाणी से प्रणाम करना चाहा तो बोल भी न सकी।

कृपालु शङ्कर उसकी दशा देखकर स्वयं ही बोले "—माँग! वरदान माँग! क्या चाहती है?" इस दिव्य वाणी के कानों में पड़ते ही उसकी जड़ता जाती रही। हर्ष से प्रफुल्लित होकर वाणी स्वयमेव निकल पड़ी—"केवल आप के चरणों की भक्ति चाहती हूँ, और कुछ नहीं।" यह सुनकर भगवान् शङ्कर अत्यन्त प्रसन्न हुए और "एवमस्तु" कहकर अदृश्य होगये। वह कमल और सर्प भी अदृश्य होगया।

दूसरे दिन मन्दाकिनी शिव-सरोवर से नीचे उतर आयी। उसके हृदय में दिव्य ज्ञान-ज्योति प्रज्वलित हो उठी थी। वह अब साधारण स्त्री नहीं रही, वह तो मानव स्वभाव-सुलभ भावनाओं की सीमा को पार कर महान सिद्ध देवी बन चुकी थी। उसके मुखमण्डल पर विचित्र तेज छा रहा था। प्यास, शीत उष्ण, काम-क्रोध आदि सब द्वंद दूर हो चुके थे।

ऋषिकेश में आकर प्रायः मौन धारण करके वह रहने लगी। लोग उसे पगली समझते थे। उसने केवल अपनी कुछ प्रिय सखियों को ही शिव सरोवर की बात बताई थी, अन्य लोग तो केवल इतना ही जानते हैं कि वह किसी से कुछ न माँगती है, न खाती है, न पीती है, न सोती है। सदा किसी का ध्यान मग्न होकर जप करती रहती है। इसलिये कुछ लोग उसे संतोषी पागल मानते थे। लेकिन कभी-कभी किसी पर कृपा करके कुछ भविष्य बता देती तो वह भविष्य में वैसी ही घटनाएं होतीं। इसलिये कुछ लोगों की उस पर विशेष श्रद्धा हो गई थी।

एक दिन उसने अपने समीप आने वाली एक वृद्धा माता से अपना सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनाकर कहा कि अब मैं शरद-पूर्णिमा को मोक्ष प्राप्त करूँगी। ऐसा ही हुआ भी। शरद पूर्णिमा को गंगा-तट पर बैठकर पद्मासन लगाकर, देखते-देखते ब्रह्मरंध्र से प्राण त्यागकर मन्दाकिनी ने परम-पद प्राप्त कर लिया।

त्यागी बन के वन-वन डोलें, कर न सके मन पर अधिकार।
मूड़ मुड़ाया जटा रखाये, वेष बनाये विविध प्रकार॥
ऋद्धि-सिद्धि पा पग पुजवाये, जा न सके भ्रम-सागर-पार।
जिनका जीवन तप-मय बीते, वह जाता है हरि के द्वार॥

हरिनाम-महिमा

हरि नाम जप हरि नाम जप शुभ गीत है सुन्दर गाते चल।
अरु कष्ट विनायक दायक सिद्धि सदैव यही लव लाते चल॥
त्रय-ताप निवारक मंत्र महा शुचि धारण दिव्य जमाते चल।
सुख-शान्ति का साधन एक यही धरि ध्यान हिये अपनाते चल॥

श्री बचान प्रसाद जी शुक्ल

यह अनन्त प्रसार मेरा

(रचयिता—श्री वृजनन्दन अग्निहोत्री)

रेशमी नव रश्मियों में
अरुण का निर्झर जगाता
गगन को आलोक से भर
अवनि तल पर छा रहा हूँ।
यह प्रकाश अपार मेरा।
यह अनन्त प्रसार मेरा ॥

पवन बनकर कुन्द कलियों
से चिपट आमोद पूरित-
चुम्बनों के भार से भर
विजन को महका रहा हूँ।
यह विलास उदार मेरा।
यह अनन्त प्रसार मेरा ॥

आम्र कुसुमों का सुवासित
द्रव्य पी उन्मत्त हो इस
डाल से उस डाल पर उड़
कोकिला बन गा रहा हूँ।
उल्लसित उद्गार मेरा।
यह अनन्त प्रसार मेरा ॥

नील सागर के हृदय को
सित तरङ्गों से मथित कर
शारदी जादू गिराता
चाँद बन मुसका रहा हूँ।
तारकों का हार मेरा।
यह अनन्त प्रसार मेरा ॥

भव्य विकट प्रहेलिका सा
गुह्य अन्तर में छिपाये
तुहिन - मणि - विजड़ित
धवल आश्चर्य बन मैं भा रहा हूँ।
गिरि विराट उभार मेरा
यह अनन्त प्रसार मेरा ॥

शंका-समाधान

(एक सन्त के सत्सङ्ग से)

शङ्का—आध्यात्मिक उन्नति के जितने भी प्रयत्न हैं, वह सब केवल अपना तथा अपनी आत्मा के ही उत्थान के लिए हैं। इससे दूसरे का क्या कल्याण होगा? यह भी तो निरा स्वार्थ ही है, क्योंकि चिन्ता केवल अपने उद्धार की है। यह चेष्टा क्या स्वार्थपूर्ण नहीं है?

समाधान—परोपकार से तुम्हारा ध्येय यही है कि तुम दूसरों को सुख देना चाहते हो। मगर सोचो तो कि क्या तुम स्वयं सुखी हो। यदि नहीं हो तो तुम दूसरों को कहां से सुख प्रदान कर सकते हो? क्या निर्धन किसी को धन दे सकता है? क्या रोगी दूसरे को स्वास्थ्य का मार्ग बता सकता है? तो फिर तुम्हारी क्या योग्यता है कि तुम दूसरे को सुख दे सको। भगवन्नाम का साधन तुम्हें सुख देगा, सांसारिक नहीं। आध्यात्मिक, शक्ति ही ऐसी है जिसके बल से तुम अन्य को सुख पहुँचाने की योग्यता प्राप्त करोगे। किसी भी महापुरुष को ले लो कपिल, कणाद से दयानन्द व महात्मा गांधी तक; क्या हर एक ने पहिले साधक बनकर स्वयं सुख-संचय नहीं किया? क्या आज यह उनका वह सुख-संचय करना आज भी असंख्य प्राणियों को सुखी नहीं कर रहा है? फिर कैसे कहते हो कि आत्मोद्धार का साधन स्वार्थ है? अरे भाई! एम.ए. को पढ़ाने के लिए कम से कम एम. ए. की योग्यता तो होनी ही चाहिए। यदि तुम्हारा आदर्श ऊँचा है यदि वास्तव में तुम देश या समाज की सेवा करना चाहते हो तो पहले उसके योग्य बनो और योग्य बनने का एक मात्र उपाय अपनी आध्यात्मिक उन्नति में ही सन्निहित है।

नवशिक्षित नाविक की तरह यदि मझधार में नाव डालदी तो यह क्षणिक उत्साह जो परिस्थितियों के कारण तुम में उत्पन्न हुआ है, जब विलीन हो जायगा तब या तो तुम अपनी इस जल्दबाजी पर पछताओगे अथवा दुःख और कठिनाइयों का सामना करने में हिम्मत हार जाओगे। जब तक आत्मा में बल नहीं तब तक न तुम्हारे वाक्य में न कार्य में ही ओज होगा। ध्येय पर निरन्तर दृष्टि रहने के लिये आत्मिक-बल अत्यावश्यक है और आत्मिक-बल बिना साधन के नहीं मिलता। आजकल ९९ प्रतिशत परोपकारी व देश भक्त नेता आत्मिक-बल नहीं रखते। उनमें स्वार्थ, काम, क्रोध, लोभ द्वेषादि विकार भरे हुए हैं। ऐसे मनुष्यों से देश अथवा समाज का कल्याण नहीं हो सकता। दैवी सम्पद् विहीन पुरुष परोपकार करने के सर्वथा अयोग्य है। अब प्रश्न उठता है कि क्या जब तक मनुष्य बिलकुल आदर्श तक न पहुँच जाय कुछ करे ही नहीं? तो उत्तर है कि हाँ, जिस व्यक्ति ने विश्व के कल्याण के लिये बीड़ा उठाया है—ध्यान दीजिए—मैंने यहाँ विश्व का कल्याण शब्द प्रयोग किया है। मैं ऐसे पुरुष के ध्येय को देश और समाज तक ही सीमित नहीं रखना चाहता। जो विश्व का कल्याण करना चाहता है उसे आदर्श पुरुष ही होना चाहिये। महात्मा गांधी आदर्श पुरुष थे क्योंकि उनका अहिंसा का सन्देश देश और समाज तक ही सीमित नहीं है। यह संन्देश विश्व भर के लिए है और इसी कारण उनका विश्व में मान हुआ। रही छोटी-छोटी क्रियायें सो तो हरएक को अपनी योग्यता के अनुसार करनी ही चाहिए। यह परोपकार करने की छोटी-छोटी क्रियायें भी तो तुम्हारी साधना की एक अंग हैं। यदि उन्हें नहीं करोगे तो ऐसे कार्यों में श्रद्धा कैसे बढ़ेगी। अस्तु, भगवद्भजन की साधना में आत्मोद्धार का लक्ष्य

सदा विश्व-कल्याण" होना चाहिए। यदि यह सामने रहा तो तुम्हारा साधन अद्वितीय है और तुम बहुत बड़ा परोपकार कर रहे हो। फिर यह शंका तुम्हारे मन में नहीं उठेगी।

शंका—व्यवहार और आदर्श एक नहीं हैं इसका कारण क्या है ?

समाधान—जहाँ व्यवहार के साथ स्वार्थ रहेगा वहाँ आदर्श सत्य का पालन नहीं हो सकता। स्वार्थ ही असत् कार्य करने को बाध्य करता है। स्वार्थ की दृष्टि हट जाने पर दोनों में कुछ अन्तर नहीं रहता। हर कार्य में भाव प्रधान है। कसाई अगर रोटी कमाने के लिये यह पेशा करता है मगर हृदय से जीव मात्र से दया और प्रेम-भाव रखता है तो वह आदर्श का पालन कर रहा है। उसी प्रकार किन्हीं परिस्थितियों में फँसकर हमें आदर्श के प्रतिकूल कुछ करना भी पड़े तो अपना भाव सदा शुद्ध रक्खें। उस कार्य में पश्चात्ताप और ग्लानि का होना भाव की शुद्धता बतलाता है। एक मरीज यदि दुर्बल होकर खाट पर ही शौच करता है, मगर मन में उसे इस कार्य से घृणा और ग्लानि है तो उसे दोषी कौन कहेगा ? इसी प्रकार यदि स्त्री अपनी बीमारी में मजबूरी के कारण अपने पति से सेवा कराती है, मगर हृदय में उसके लिये पश्चात्ताप है तो वह क्यों दोषी हुई ? अस्तु, निस्वार्थ भाव से व्यवहार करने में आदर्श का पालन होता है।

कैसे जीवन सफल करोगे ?

(श्री 'प्रभाकर' बी० ए०, 'साहित्यरत्न')

जीवन-पथ पर संबल के बिन,
साथी कैसे पहुँच सकोगे ?
माँझी ! बिन पतवार बता दो,
कैसे भव-सागर उतरोगे ?
सुदृढ़ नीव बिना, शिल्पी तुम,
कैसे भव्य-भवन रच दोगे ?

चित्रकार ! कह, बिना तूलिका,
कैसे चित्र अनूप खिचेंगे ?
कलित कलाधर कहो ! चन्द्रिका,
बिन कैसे जग को मोहोगे ?
कह मानव ! खोकर चरित्र को,
कैसे जीवन सफल करोगे !

वाणी के दोष

(अङ्क ६ से आगे)

किसी बात में छिद्र ढूँढना अथवा उसकी चुगली करना तेरहवाँ विघ्न है। यह बड़ा भारी पाप है। महापुरुष का कथन है कि चुगली करने वाला पुरुष कभी सुखी नहीं होता। तथा ऐसा भी कहा है कि चुगली करने वाला सब की अपेक्षा नीच है। इस विषय में एक कथा प्रसिद्ध है। कहते हैं, एक बार एक देश में दुर्भिक्ष हुआ। तब महात्मा मूसा और उस देश के लोग मिल कर भगवान् से प्रार्थना करने लगे। उस समय मूसा को आकाशवाणी हुई कि तुम्हारे देश में एक चुगल है, उसी के पाप से वर्षा नहीं होती। मूसा ने पूछा, "वह चुगल कौन है ?" इस पर आकाशवाणी हुई कि मैं तो चुगल को अपना शत्रु मानता हूँ, अतः यह कह कर कि अमुक व्यक्ति चुगल है मैं ही उसकी चुगली कैसे कर सकता हूँ ? इसका उपाय तो यही है कि तुम सब लोगों को चुगली करने से रोक दो। बस, तुरन्त वर्षा हो जायगी। इस पर उन्होंने वैसा ही किया और फिर बड़ी भारी बर्षा हुई एवं दुर्भिक्ष दूर होगया।

एक प्रसंग और भी है। कहते हैं, एक भगवत्प्रेमी दो हजार कोस की यात्रा करके एक बुद्धिमान के पास पहुँचा और उससे यह प्रश्न किये—

१—आकाश से भी विशाल क्या है ?

२—धरती से भारी क्या है ?

३—पत्थर से कठोर क्या है ?

४—अग्नि से भी अधिक तीक्ष्ण क्या है ?

५—वर्फ से भी अधिक शीतल क्या है ?

६—समुद्र से भी उदार क्या है ?

७—जिस बालक के माँ और बाप मर गये हों तो उससे अधिक निर्मान और दुःखी कौन है ?

तब उस बुद्धिमान ने उसे ये उत्तर दिये—

१—सत्य वचन आकाश से भी विशाल है।

२—निर्दोष मनुष्य को दोष लगाने का पाप पृथ्वी से भी अधिक भारी है।

३—मन्मुखों का हृदय पत्थर से भी ज्यादा कठोर होता है।

४—ईर्ष्या अग्नि की अपेक्षा भी तीक्ष्ण है।

५—भाव और सहनशीलता वर्फ से भी अधिक शीतल होती है।

६—सन्तोषी पुरुष समुद्र से भी अधिक उदार होता है।

७—चुगली करने वाला मनुष्य मातृ-पितृहीन बालक की अपेक्षा भी मान हीन होता है। चुगली का अर्थ है—वचन कर्म अथवा संकेत द्वारा किसी के आगे किसी अन्य व्यक्ति के दोष को प्रकट करना और उसके चित्त को चोट पहुँचाना। यह बड़ा भारी पाप है। अतः जिज्ञासु को चाहिये किसी का पर्दा न उघाड़े। हाँ किसी विशेष परिस्थिति में उसे प्रकट करना भी आवश्यक होता है।

इसके सिवा यदि कोई पुरुष तुम्हारे पास आकर कहे कि अमुक व्यक्ति तुम्हारा बुरा चाहता है, या तुम्हारे लिये दुर्वचन कहता है तो उसे चुगली से निवृत्त करने के लिये इन युक्तियों का आश्रय लेना चाहिये।

१—प्रायः चुगुल और दुराचारी पुरुष झूठे होते हैं अतः उनके कथन पर विश्वास करना ठीक नहीं।

२—यदि अपना अधिकार हो तो उसे चुगली करने से रोक दो।

३—चुगली करने वाले पुरुष से मित्रता मत करो।

४—जब किसी के दोष की बात सुनो तो बिना देखे उसके विषय में कोई दूषित अनुमान करना बहुत बुरा है।

५—किसी की बुराई सुनकर यह खोज न करे कि यह बात सत्य है या झूठ।

६—चुगली करने वाले पुरुष के विषय में भी किसी से यह न कहे कि यह चुगल है। अर्थात् गम्भीरता पूर्वक उसके दोष को छिपा ले।

इस प्रकार सभी को इन छः युक्तियों से काम लेना चाहिये। इस विषय में एक प्रसंग भी है। एक बुद्धिमान से किसी ने आकर कहा कि अमुक व्यक्ति तुम्हारी निन्दा करता है। इस पर उसने कहा "यद्यपि तुम हमारे दर्शनों के लिये आये हो,तथापि तुमने तीन पाप इसी समय किये हैं—(१) तुमने मुझे उसके ऊपर क्रुद्ध किया, (२) मेरे चित्त को विक्षेप में डाला और (३) तुम स्वयं भी चुगली करने वाले बने। इसी से हसन बसरी नाम के एक संत ने कहा कि यदि कोई मनुष्य तुम्हें किसी के दोष सुनाता है तो निःसन्देह जानो कि वह तुम्हारी बात भी दूसरों को जाकर सुनावेगा। अतः उसे अपना शत्रु और निन्दक समझ कर उसकी संगति त्यागो। तात्पर्य यह है कि चुगली करने वाले से कितने जीवों का घात होता है। कहते हैं, किसी पुरुष ने एक दास मोल लिया। उस समय दास बेचने वाले ने उससे कहा कि इसमें कोई और दोष तो है नहीं, किन्तु यह चुगली और वाक्यच्छल (बनावटी बातें) अवश्य करता है। इस पर वह बोला, "खैर, इतने दोष की क्या बात है ?" बस अब वह दास उनके घर में रहने लगा। एक दिन उसने अपने स्वामी की पत्नी से कहा कि तुम्हारे पति दूसरा विवाह करना चाहते हैं और तुमसे उनका चित्त फिरा हुआ है। सो एक काम करना, जब वे सो जायँ तो उनके गले का एक बाल काट कर मुझे दे देना। मैं एक ऐसा मन्त्र पढ़ दूँगा जिससे उनका प्रेम तुम्हारे साथ अटल हो जायगा। स्त्री से इस प्रकार कह कर उधर स्वामी को यह समझाया कि तुम्हारी पत्नी का प्रेम किसी अन्य पुरुष से लगा हुआ है और वह तुम्हें मारना चाहती है। अतः रात में जब तुम शयन करो तो सावधान रहना। बस, जब रात हुई तो स्वामी घर आकर शैया पर लेट गया, किन्तु बीच-बीच में जागता रहा। इसी समय उसकी स्त्री उस्तरा लेकर आयी और उसके बाल काटने लगी। किन्तु पति समझा कि यह मेरा गला काटना चाहती है। अतः वह कुपित होकर स्त्री को पीटने लगा। यह बात जब स्त्री के सम्बन्धियों ने सुनी तो वे उस पुरुष को पीटने लगे। इस प्रकार दोनों ओर के सम्बन्धियों में परस्पर युद्ध छिड़ गया और कई लोग मारे गये। यह है एक चुगल की बात में विश्वास करने का परिणाम।

१४—दो विरोधियों के साथ वाक्यच्छल करना और अपनी-अपनी जगह दोनों ही का मित्र होकर दिखाना—यह चौदहवाँ विघ्न है और चुगली से भी बड़ा पाप है। इस विषय में महापुरुष का कथन है कि इस लोक में जिसका स्वभाव वाक्यच्छल का होगा, परलोक में उसे दो जीभें मिलेंगी, जिनके कारण बहुत दुःख होगा। अतः बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि जब दो विरोधी व्यक्तियों से मिले तब दोनों की बातें सुनकर मौन रहे। अथवा जो यथार्थ बात हो उसे कह देना भी अच्छा है। किन्तु एक की बात दूसरे से कहना अच्छा नहीं। तथा कपट पूर्वक दोनों ही को मित्र बनकर दिखाना भी बहुत बुरा है।

१५—किसी की व्यर्थ स्तुति करना—यह पन्द्रहवाँ विघ्न है। इससे छः पाप और उत्पन्न होते हैं, जिनमें से दो सुनने वाले को लगते हैं और चार कहने वाले को। कहने वाले को चार पाप इस प्रकार लगते हैं।

१—जब वह किसी की योग्यता से अधिक

स्तुति करता है तो उसमें निःसन्देह असत्य रहता ही है।

२—यदि वह प्रीति के बिना ही स्तुति करता है तो वह एक प्रकार का कपट ही है।

३—जिसके गुणों का अपने को पता न हो उसकी स्तुति करना भी अनुचित ही है। जैसे बिना जाने ही किसी को विरक्त या पुण्य कर्मा कह डालना मिथ्या भाषण करना ही होगा।

४—यदि किसी तामसी पुरुष की स्तुति की जायगी तो वह भी उससे प्रसन्न होकर और भी अधिक तमोगुण की ही वृद्धि करेगा। सो यह भी अच्छा नहीं। इसी पर महापुरुष की स्तुति करता है तब उस पर भगवान् कुपित होते हैं। ये तो हुए स्तुति करने वाले को लगने वाले पाप। अब स्तुति सुनने वाले के पाप बतलाते हैं—

१—जो पुरुष अपनी प्रशंसा या स्तुति सुनता है वह स्वभाव से ही अभिमानी हो जाता है।

२—जब कोई पुरुष अपने गुण अथवा विद्या की प्रशंसा सुनता है तो वह आगे शुभ कर्मों में प्रवृत्त होने से रुक जाता है और ऐसा समझ बैठता है कि मुझे तो परम पद प्राप्त होगया। इसी पर महापुरुष ने कहा है कि तीक्ष्ण शस्त्र से प्रहार करना तो अच्छा किन्तु किसी के मुख पर स्तुति करना अच्छा नहीं क्योंकि जब वह अपनी प्रशंसा सुनता है तब उसका मन उसे अपने स्थान से गिरा देता है। किन्तु बुद्धिमान तो अपने को पहिचानता है, अतः जब वह अपनी स्तुति सुनता है तब और भी अधिक विनयी हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि जब कहने और सुनने वाला इन छः पापों से रहित हो तब स्तुति करने में कोई दोष नहीं। किन्तु अपने ही मुख से अपनी स्तुति करनी तो बड़ी भारी नीचता है। इसे तो शास्त्रों में भी निन्दनीय कहा है।

अतः जिज्ञासु को चाहिये कि जब कोई उसकी स्तुति करे तो अपनी महिमा सुनकर अभिमान न करे. ऐसा समझे कि यदि मैं परलोक के दुःखों से मुक्त नहीं होऊँ तब तो मेरी अपेक्षा शूकर-कूकर भी अच्छे हैं। इसलिये अपनी स्तुति सुनकर लज्जित ही होना चाहिये तथा अपनी नीचता को ही सामने लाना चाहिये।

कहते हैं कोई पुरुष एक सन्त की स्तुति करने लगा। तब वे अत्यन्त दीन होकर भगवान से प्रार्थना करने लगे कि प्रभो, यह पुरुष तो मुझे नहीं जानता, किन्तु आप तो अच्छी तरह जानते हैं। अतः आप ही मुझे क्षमा करें। इसी प्रकार एक और सन्त की भी जब किसी ने प्रशंसा की तो वे कहने लगे, "भगवन्! यह पुरुष जो मेरी प्रशंसा करता है, इसका दण्ड आप मुझे न दें। और इसे जो मेरे दोषों का पता नहीं है, उन दोषों को भी आप ही निवृत्त करें। तथा यह जैसा मुझे समझता है कृपा करके उससे भी अधिक गुणवान आप मुझे बनाएँ। एक पुरुष ऐसा था जिसके हृदय में यद्यपि प्रीति या विश्वास कुछ भी नहीं था, पर सामने आने पर उसने कपट पूर्वक एक महात्मा की स्तुति की तब महात्मा ने उससे कहा "भैया! तू मुख से जैसा कहता है उससे तो मैं अत्यन्त निकृष्ट हूँ। हाँ, हृदय में जैसा समझता है उसकी अपेक्षा निःसन्देह उत्कृष्ट हूँ।

(पारस मणि से)

साधु सङ्ग संसार में, दुर्लभ मनुष सरीर।
सतसङ्गति सूँ मिटत है, त्रिविध ताप की पीर॥

मैंने क्या देखा

(परमार्थ-निकेतन स्वर्गाश्रम, में पधारने वाले सज्जनों की लेखनी से)

परमार्थ-निकेतन में सेवा करने का अवसर मुझे प्रथम बार मिला। यहाँ का प्राकृतिक दृश्य अत्यन्त मनोरम है। आश्रम कलकलनादिनी गंगा के सुरम्य तट पर स्थित है। गंगातट से लेकर आश्रम-प्रवेश तक आश्रम की ओर से सीढ़ियाँ बनाई गई हैं। आश्रम के अन्तर्गत सत्संग-भवन विशेष महत्त्व रखता है जहाँ पर भारतवर्ष के अधिकांश व्यक्ति एवं विदेशों के भी कतिपय व्यक्ति आकर सत्संग से प्रतिवर्ष लाभ उठाया करते हैं। आश्रम में ठहरने के लिये यात्रियों को पूरी सुविधा दी जाती है। लगभग १२५ कमरे अब तक बन चुके हैं। आश्रम की उन्नति दिनों-दिन होती जारही है।

आश्रम के संचालक श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी तथा श्री स्वामी भजनानन्द जी महाराज हैं आश्रम के कार्यों में स्वामी प्रकाशानन्द जी का भी पूर्ण सहयोग है इसके अतिरिक्त आश्रम में कई महात्मा एवं शिष्य निवास करते हैं जो सतसंग के विषय में एवं सेवा-कार्य में पूर्ण सहयोग देते हैं ऐसी संस्थाएँ यदि भारतवर्ष के कोने-कोने में स्थापित होजायँ तो देश का शीघ्र ही कल्याण हो सकता है।

इस संस्था को देखकर मैं बापू के रामराज्य की कल्पना का पूर्ण रूप से अनुभव कर सका। मेरा तो विश्वास है कि यदि दैवी संपद् मंडल के अनुयायी अपने पूर्ण त्याग, और तपस्या के द्वारा-समाज सेवा में दिनों-दिन उत्साह बढ़ाते रहेंगे तो एक दिन ऐसा अवसर आयेगा कि समस्त भारत के प्रत्येक परिवार में राम-राज्य की व्यवस्था दृष्टिगोचर होगी क्योंकि अनुभव के आधार पर १२५ कमरों में पारिवारिक सत्संग पूर्ण सफल रहा। साढ़े तीन बजे प्रातः प्रभात फेरी एवं पौने दो बजे पारिवारिक सत्संग प्रारम्भ हो जाता था। सत्संग में प्रत्येक कमरे में रामायण, गीता और पुराणों की कथा एवं कीर्तन बड़े धूम-धाम से किया जाता था। आश्रम में साधक एवं उपदेशक तथा यात्री सभी श्रमदान में पूर्ण सहयोग देते थे। इन दिनों पत्थर ढोने का कार्य चला। संस्थापक महोदय अपने भक्तों के साथ स्वयं पत्थर ढोने में आनन्द लेते हैं। इस संस्था में जो भी निवास करेगा और स्वामी जी का सत्संग प्राप्त करेगा वह व्यक्ति ईश्वर, देवताओं और देश के प्रति एवं माता-पिता के प्रति पूर्ण श्रद्धावान् बनकर देश, जाति, समाज एवं परिवार को सुखी बनाने तथा ईश्वर-प्राप्ति में अपने को योग्य बना सकेगा। ईश्वर इस संस्था को दिनों-दिन उन्नति पथ पर लावें यह मेरी शुभ कामना है।

धर्मानुरागी भारत-वासियों से मेरी प्रार्थना है कि ऐसी संस्था में धन, समय, श्रम तथा बुद्धि-दान करके इसे पूर्ण रुप से सहयोग प्रदान करें।

वैद्यनाथ प्रदीप
मंत्री—बाड़ावाला सोसाइटी
१७—६—५४ पो० रुद्रपुर जि० नैनीताल

परमार्थ-निकेतन, परमार्थ-साधन के लिये बड़ा ही सुन्दर और सुखद स्थान है। ऐसे हर स्थान की ओर आकृष्ट करने वाली एक महान आत्मा होनी चाहिए। श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज, वैसे ही महान आत्माओं के रूप में यहाँ वर्तमान हैं। मन्दिर की दिव्य झाँकी मन को बरबस अपनी ओर खींच लेती है। अधिक दिनों तक ठहर कर यहाँ का आनन्द लेना चाहिए।

जगत् नारायण लाल
उपाध्यक्ष
बिहार विधान सभा, पटना

मैंने क्या देखा

मैं पिछले वर्ष जून १९५३ में प्रथम बार परमार्थ-निकेतन स्वर्गाश्रम में आई। मन में पहिले धार्मिक विश्वास था तो, परन्तु अनेकों तर्क-वितर्क उठते थे। सत्संग आदि पर विशेष विश्वास न था। पर यहाँ आकर सब सन्तों तथा श्री १०८ श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी के सदुपदेश सुनकर सब तर्क-वितर्क और सन्देह नष्ट होगये। धर्म और सत्संग पर पूर्ण आस्था होगई फल स्वरूप इस वर्ष जून सन् १९५४ में फिर सत्संग-लाभ के लिये इस पावन तपोभूमि परमार्थ निकेतन में आई और देख कर मन में जो भाव उदय हुए उन्हें कुछ पंक्तियों में व्यक्त करने का प्रयास किया है।

श्रीमती ज्ञानवती मिश्रा

मुनि की रेती, सामने गंगा के उस पार,
भव्य भवन परमार्थ का देखि मिटैं दुख भार ॥

प्राचीर देख कर ही सुन्दर, हृदय प्रफुल्लित होता है।
त्रय ताप नशावन सी सुखकर, कल्पना हृदय में लाता है ॥
बैठे नौका में जा करके और गंगा के उस पार हुए।
मानों भूतल में स्वर्गलोक के, सब सपने साकार हुए ॥
अब पहुँचे हम परमार्थ में, सर्वेश्वर के दर्शन पाये।
भव्य मूर्तियाँ निरख निरख मन के सारे दुख बिसराये ॥
राधा-कृष्ण की वह सौम्य मूर्ति और सीता-राम की यह जोड़ी।
जो कुछ भी प्रशंसा की जावे वह रहती है थोड़ी थोड़ी ॥
प्राचीन देवताओं के चित्र हैं दीवारों पर जड़े हुए।
मानों यह याद दिलाते हैं हम स्वर्गलोक में खड़े हुए ॥

श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी अधिकारी हैं परमार्थ के।
मिले उन्हें दर्शन किया धन्य जन्म निज जान के ॥
श्री स्वामी भजनानन्द जी, भी हैं सहायक आपके।
दोनों की ही सद्भावना, सम्मुख खड़ी है आपके ॥

स्वामी जी ने सारा जीवन, परमार्थ पर वार दिया।
सतसंग करो औ सुख से रहो, यह बतला कर उपकार किया ॥
भूले-भटके मानव हम सब संसार के दुख से तप्त हुए।
कुछ दिन आएँ सतसंग करें भव-बन्धन दुख से मुक्त हुए ॥
भक्तों की सब सुविधायें, रहने खाने और सोने की।
परमार्थ लक्ष्य के लिए सदा सत्संग में सबको आने की ॥
प्रातः मध्यान्ह और सायं को सतसंग की मीटिंग होती है।
स्वामी जी की अमृत वाणी त्रय-ताप हृदय का हरती है ॥

समय-समय पर और सब सन्त करें उपदेश।
पावन-वाणी प्राप्त कर सब पाते निर्देश ॥

जो आते हैं लेकर जाएं, सुख शान्ति और विश्वासों को।
दुर्गुण छोड़े सद्गुण पकड़े, दैवी सम्पद के नियमों को ॥

यह तपो-भूमि सुन्दर प्यारी, है स्वर्गलोक साकार हुआ।
इस कलियुग में भी, सतयुग की वार्तों का प्रादुर्भाव हुआ॥
स्वामी जी की निर्मल वाणी यदि कुछ भी मन में धारेंगे।
दुख द्वन्द मिटें संदेह हटे बेड़े को पार उतारेंगे॥
ईश्वर यही विनय मेरी सतसंगति बारम्बार मिले।
परमार्थ-निकेतन में आकर, जीवन के सब दुख दर्द मिटे॥
जो कुछ भी कहें सो थोड़ा है, कहने की शक्ती है ही कहाँ।
न ज्ञान न विद्या बुद्धी है, लिखने की शक्ती है ही कहाँ॥

दिन प्रतिदिन उन्नति करें हम सबका परमार्थ।
यहाँ स्वार्थ ही है कहाँ जो कुछ है परमार्थ॥
स्वर्गलोक की कल्पना यहाँ हुई साकार।
सब सन्तों के पद—कमल वन्दौं बारम्बार॥
तर्क, वितर्क, कुतर्क सब मिटे हुआ आनन्द।
'ज्ञान'' हृदय निर्मल हुआ, धन्य धन्य सतसंग॥

सुख की खोज

(पं० रामनारायण शर्मा)

सत्यव्रत नाम का एक राजा अपने देश में राज्य करता था नीति पूर्वक, न्याय से राज्य करते-करते उसको एक दिन यह विचार हुआ कि मेरे कोई सन्तान नहीं है। अतः किसी अच्छे बालक को गोद लेकर उसको इस राज्य का अधिकारी बना दिया जाय। बालक की खोज हुई। एक सुन्दर योग्य बालक जिसके लिए राजा और प्रजा दोनों सहमत थे गोद लेकर राज्य का भार उसके सुपुर्द कर दिया गया। राजा मन में बड़ा प्रसन्न हुआ और अपनी रानी सहित भजन-पूजन में लग गया। कुछ दिनों बाद बालक-युवराज क्षय-रोग से पीड़ित होगया उसके जीने तक की आशा न रही, राजा बड़ा दुखी हुआ। ऐसा प्रतीत होने लगा, यदि युवराज जीवित न रहा तो राजा भी अपने प्राण छोड़ देगा। राजा अपनी धर्मनिष्ठ रानी और गुरु के पास गया और अपना सारा वृत्तान्त कहा। गुरू जी ने सोचा कि बिना युक्ति के कार्य सिद्ध न होगा। क्योंकि प्रारब्धानुसार आई हुई मृत्यु को कौन टाल सकता है, क्योंकि बालक तो बचने का नहीं। राजा अपने प्राणों को व्यर्थ खो देगा। यह सोचकर दूसरे दिन गुरू जी राज दरबार में आये और उन्होंने राजा से कहा कि राजन मेरे घर पर बड़े अच्छे वैद्य आये हैं, वह कहते हैं कि हम युवराज को अच्छा कर देंगे। राजा तो हर प्रकार चिकित्सा कराकर हार ही गया था और अपनी कुल सम्पत्ति तक देने को तैयार होगया था।

गुरू जी से कहने लगा महाराज जी आज्ञा हो सो शिरोधार्य, है उसी की चिकित्सा की जावे। गुरू जी ने कहा कि वह वैद्य रुपया पैसा धन-दौलत तो कुछ चाहते नहीं, उनकी एक शर्त है वह आप पूरी करें। राजा बोला महाराज क्या शर्त है ? मैं तो हर प्रकार से सेवा करने को तैयार हूँ। गुरू जी ने कहा कि वह वैद्य किसी सुखी मनुष्य के घर कर एक पैसा चाहते हैं। दूसरे दिन प्रातः-काल ही उठकर राजा अपनी राजधानी में एक मुखिया के मकान पर गया और मुखिया से सब हाल कहा। मुखिया बोला मेरी धन-सम्पत्ति सब आपकी ही है परन्तु जैसा आप मुझे समझ रहे हैं वैसा मैं सुखी नहीं हूँ मेरे घर में कुलटा स्त्री है। वह दिन-रात कलह मचाए रहती है घर के अन्दर पैर रक्खा कि हृदय जलने लगता है। वहाँ से चलकर राजा अपने नगर में एक सेठ के यहाँ गया। सेठ ने राजा के आने का कारण पूछा राजा ने सब हाल कहा। सेठजी कहने लगे कि राजन हम तो बड़े दुखी हैं निरन्तर धन की रक्षा की चिन्ता लगी रहती है। लड़के अयोग्य हैं वह सब धन बरबाद कर देंगे। जिसके कारण निरन्तर क्लेश रहता है। राजा वहाँ से भी चला और राजाओं के शिरोमणि महाराज विजयसिंह के यहाँ पहुँचा। राजा दरबार कर रहे थे। मन्त्री, प्रजा सब लोग उपस्थित थे। राजा सत्यव्रत को अकेला देखकर राजा विजयसिंह को बड़ा अचम्भा हुआ उनको एकान्त में ले जाकर सब हाल पूछा। हाल मालूम होने पर महाराज विजयसिंह कहने लगे तुम मुझको जो बाहर से सुखी देखते हो सो ऐसी बात नहीं है मेरे पुत्र न होने के कारण मैं भी अति दुखी हूँ। यह सब धन सम्पत्ति मेरे बाद कौन भोगेगा ? क्या होगा ? राजा हताश होकर अपने घर लौट आया और विचार करने लगा कि संसार में वास्तविक सुख है ही नहीं। मैं बड़ा मूर्ख हूँ जो सांसारिक वस्तुओं में सुख की खोज करना चाहता हूँ। संसार का वैभव तो सब नश्वर है। सभी कार्य एक ईश्वरी विधान से चल रहे हैं। उसी प्रभु की शरण में जाना चाहिए तभी वास्तविक सुख प्राप्त होगा और जिस स्थिति में वह रक्खे उसी में सन्तोष करना चाहिये निरन्तर मन से यह कहते रहना चाहिये, "राजी हैं हम उसी में जिसमें तेरी रज़ा है" प्रथम तो भगवान् के शरणागत होने से दुःख आता ही नहीं यदि आता भी है तो शूली का काँटा होजाता है। सच्चे भक्तों की भगवान् ऐसी वृत्ति कर देते हैं कि दुःख उनकी प्रसन्नता का कारण बन जाता है। सुख और दुःख में उनकी सम वृत्ति बन जाती है। ऐसा विचार कर राजा भगवान् की शरण में हो गया और अपने सभी दुखों से छुट्टी पागया। युवराज का तो रोग-ग्रस्त होने से देहान्त होगया परन्तु राजा इसे दैवी विधान समझ कर भगवत चरणों में मन को लगाता रहा और निरन्तर जप, ध्यान-कीर्तन करते हुये अन्त में परमपद का अधिकारी होगया।

बस, वास्तविक सुख तो भगवान् के चरणों में ही है जो लोग उन चरणों को त्याग कर इस नश्वर संसार की वस्तुओं में सुख खोजा करते हैं उनका प्रयास व्यर्थ ही है। यह संसार तो उस प्रभु की क्रीड़ास्थली है। वेद की वाणी है कि प्रसन्न चित्त होकर अपने प्रत्येक कार्य शास्त्रोक्त रीति से निरन्तर हरि स्मरण करते हुये उसी प्रभु को सर्वत्र मानकर, अपना मानव जीवन सफल बनाना चाहिये।

परमार्थ-प्रेमियों से निवेदन

'परमार्थ' को आर्थिक हानि से मुक्त करने के लिये गत वर्ष ग्रीष्म-कालीन सत्संग के सुअवसर पर परमार्थ-निकेतन स्वर्गाश्रम में कतिपय विशिष्ट धर्मानुरागी सज्जनों की बैठक हुई थी जिसमें निश्चय हुआ कि 'परमार्थ' को स्वावलम्बी बनाने के लिये १०१) या इससे अधिक प्रदान करने वालों को संरक्षक माना जाय और उन्हें आजीवन सदस्य के नाते निःशुल्क 'परमार्थ' के सभी अंक मिलते रहें। इस प्रस्ताव के अनुसार अब तक जितने उदारमना प्रेमी, 'परमार्थ' के आजीवन सदस्य बने हैं उनकी नामावली निम्न लिखित है।

दानवीर भक्तों से प्रार्थना है कि वे 'परमार्थ' के संरक्षक बनकर इस ज्ञान-यज्ञ के द्वारा जनता-जनार्दन की आध्यात्मिक सेवा का पुण्य-लाभ प्राप्त करें।

'परमार्थ' के संरक्षक

१—११००) श्री सेठ मटरूमल जी बाजोरिया, बम्बई।
२—११००) श्री बच्चूभाई कृष्णदास, बम्बई।
३—५००) श्री भागीरथमल रामस्वरूप, देहली।
४—२५१) श्री ठा० विजयपालसिंह जी, बिजनौर।
५—५००) श्री साहू रामस्वरूप जी, बरेली।
६—१०१) श्री रासबिहारी लाल जी वकील, बरेली।
७—१०१) श्री लाला शान्तीस्वरूप जी खण्डसारी, बरेली।
८—१०१) श्री पं० निरंजनलाल जी भगानिया एडवोकेट, झरिया।
९—१०१) श्री सेठ हनुमान प्रसाद जी डालमिया, बम्बई।
१०—१०१) श्री कैलाशचन्द्र जी अग्रवाल, बरेली।
११—१०१) श्री मदनमोहन नाथ जी कुंजरू, कानपुर।
१२—१०१) श्री रामगोपाल जी मित्तल, फिरोजाबाद।
१३—१०१) श्री रामचन्द्र कैलाशचन्द्र जी, आगरा।
१४—१०१) श्री वंशीधर नन्दलाल जी, हाथरस।
१५—१०१) श्री रामदास जी अग्रवाल, बड़ागाँव।
१६—१०१) श्रीमती रानी साहिबा (लखना) भगवती देवी, इलाहाबाद।
१७—१०१) श्रीमती राजकुमारी राधाकृष्ण जी रुइया, बम्बई।
१८—१०१) श्री रामस्वरूप जी खण्डेलवाल, बरेली।
१९—१०१ श्री रघुवीर सिंह अग्रवाल, नजीबाबाद।
२०—१०१ श्रीमती गुणवती देवी, न्यूदेहली।

पैक मूल्य ४॥)

विदेश के लिये ८)

परमार्थ मासिक-पत्र

दैवी गुण विकासक, शान्ति संस्थापक, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार आदि अध्यात्मवा प्रचारक, श्री दैवी सम्पद् महामण्डल का प्रमुख सुरुचिपूर्ण सचित्र मासिक-पत्र

संस्थापक:—

श्री १०८ श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज

श्री १०८ श्री स्वामी भजनानन्द जी महाराज

सम्पादक:—

स्वामी सदानन्द सरस्वती

राजाराम पाण्डेय 'मञ्जुल'

विषय सूची

विषय — पृष्ठ संख्या

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा, बुद्ध्यात्मना वानुसृतःस्वभावात् ।
करोमि यद्यत् सकलं परस्मै, नारायणायैव समर्पयेतत् ॥

वर्ष ५ | मुमुक्षु आश्रम, शाहजहाँपुर, १५ सितम्बर, १९५४ | अङ्क—६
आश्विन कृष्ण ३ बुधवार सम्वत् २०११

जय-दुर्गे

शङ्ख, चक्र, तोमर, त्रिशूल गदाधारिनी जो,
भव के त्रिताप की निवारिनी कहावै है ।
मुकुट मनोहर, भाल-चन्द्र गले मञ्जुमाल-
दुर्गा दुरन्त दुःख दारिद दुरावै है ।
दुष्ट, दैत्य, दानव कौं दलति दुहाई देत-
प्रबल प्रचण्ड वैरि-झुण्ड बिड़रावै है ।
चंड-मुंड-खण्डिनी, महिषासुर मर्दिनी जो-
भक्त-भय-भंजिनी सो सिंह चढ़ी आवै है

—पं० गयाप्रसाद त्रिपाठी "शास्त्री"

परमार्थ-बिन्दु

विचार करो—एक चींटी को बहुत थोड़ी सी शकर मिलने पर वह सब अकेली नहीं खाती; वह अनेक चींटियों को बुलाकर प्रेम से मिल-बाँट कर खाती है। परन्तु यदि एक कुत्ते को एक विशालकाय हाथी का मुर्दा भी मिल जाय तो क्या वह अन्य कुत्तों को बुलाकर, मिल बाँटकर मांस खायगा? कदापि नहीं। अन्य कुत्तों को बुलाना तो दूर रहा, यदि कोई अन्य कुत्ता पास के मार्ग से भी जा रहा होगा तो उस अनेक कुत्तों के लिये कई दिनों तक पर्याप्त मांस को खाना छोड़कर पहले उस जाने वाले कुत्ते पर गुर्रायगा—लड़ेगा। इसी प्रकार, याद रक्खो, जो पुरुष कर्मानुसार प्राप्त अल्प भोग पदार्थों को भी अन्य प्राणियों में यथा योग्य मिल बाँटकर खाते हैं वे ही सज्जन मनुष्य कहलाने योग्य हैं; परन्तु जो नीति वा अनीति जैसे-तैसे बहुत से पदार्थ संग्रह करके भी—अन्य प्राणियों में यथायोग्य मिल-बाँटकर भोगना दूर रहा—उनके साथ इर्ष्या-द्वेष लड़ाई-झगड़ा, मुकदमा आदि करते रहते हैं वे कुत्तों से भी गये बीते मनुष्य रूप में असुर नहीं तो और क्या?

विचार करो—समतल भूमि पर खड़े होकर मैदान की ओर देखने से दूर-दूर तक कहीं छोटी-छोटी घास, कहीं पौधे और कहीं लम्बे लम्बे वृक्ष दिखलाई देते हैं परन्तु पास ही के ऊँचे पहाड़ या मीनार पर खड़े होने पर क्या वह घास पौधे और वृक्ष ऊँचे नीचे दिखाई देंगे? कदापि नहीं। पहाड़ व मीनार पर से सब हरे-हरे समतल ही दिखाई देंगे। इसी प्रकार विश्वास रक्खो, जब तक देह व इन्द्रियों की दृष्टि से देखोगे तब तक संसार में ब्राह्मण-शूद्र, राजा-रंक, हाथी-चींटी आदि ऊँच-नीच दिखाई देंगे परन्तु जब ज्ञान दृष्टि से देखोगे तो संसार में कोई ऊंच-नीच नहीं दिखाई देगा केवल परमात्मा ही परमात्मा दिखाई देगा।

विचार करो—कोई स्त्री अपने पति के फोटू (जो कि विवाह के समय में लिया गया था) की तो पूजा ऊंचे सिंहासन पर रखकर पुष्प चढ़ाकर तथा आरती उतार कर करे—परन्तु जब साक्षात् पति दूसरी वेष-भूषा पहनकर आवे तो यथायोग्य सम्मान भी न करे, निर्बल असहाय होने पर सेवा करने के स्थान पर वाणी व क्रिया द्वारा दुखी बना दे तो क्या यह उसकी वास्तविक पूजा हुई? कदापि नहीं। वास्तविक पूजा तो तब ही होगी जब साक्षात पति के आ जाने पर (चाहे वे विवाह के वेष से अतिरिक्त अन्य किसी वेष में आवे) फोटो की पूजा आरती छोड़कर साक्षात् पति की सेवा-पूजा व सहायता करें तब ही उसका पति उससे प्रसन्न होगा। इसी प्रकार निश्चय रक्खो, भगवान की प्रतिमाओं की तो पूजा धूप-दीप नैवेद्य, आरती स्तुति करना परन्तु दीन दुखियों, असहायों के रूप (वेष) में उपस्थित होने पर उसी घटघटवासी परमात्मा की सेवा-सहायता न करके वाणी अथवा कर्म द्वारा उन्हें दुखी करते रहना—यह वास्तविक पूजा नहीं हुई। इससे भगवान कभी प्रसन्न नहीं होंगे। भगवान तभी प्रसन्न होंगे जब कि इन चलते-फिरते मन्दिरों में विराजमान भगवान की सेवा पूजा मुख्य होगी। (भगवान की प्रतिमाओं की पूजा करना बुरा नहीं है उत्तम साधन है।)

"आनन्द"

ब्रह्मलीन पूज्य स्वामी सिद्ध जी महाराज के वचनामृत

(१) बहुत खाना (२) बहुत सोना (३) बहुत इधर उधर की फजूल बातें करना एवं (४) बहिर्मुख मनुष्यों की संगति करना ये चार बातें साधक को नीचे गिराने वाली हैं, इन चारों को जो छोड़ता है, वही साधन-भजन से लाभ उठाता है।

शरीर की आरोग्यता अल्प भोजन से है, मन की आरोग्यता सद्विचार से है, इन्द्रियों की आरोग्यता संयम है, और प्राणों की आरोग्यता शान्ति से है, ईश्वर प्रेम की प्राप्ति सत्संग से है, और ईश्वर प्रेम की रक्षा त्याग से है।

द्राक्षा (किशमिश) नारियल, बेर, एवं सुपारी के समान चार प्रकार के मनुष्य होते हैं। प्रथम कोटि के श्रेष्ठ मनुष्य वे हैं—जो द्राक्षा के समान अन्दर बाहर शीतल, मधुर, एवं विनम्र (सरल) रहते हैं। द्वितीय कोटि के मनुष्य वे हैं—जो नारियल की तरह अन्दर शीतल मधुर एवं विनम्र रहते हैं लेकिन बाहर से रूक्ष एवं कठोर मालूम होते हैं। तृतीय कोटि के कपटी मनुष्य वे हैं—जो बेर के समान बाहर से मीठे एवं अच्छे दिखलाई देते हैं, परन्तु अन्दर से कठोर एवं रूक्ष हैं। चतुर्थ कोटि के अधम मनुष्य वे हैं जो सुपारी के समान अन्दर एवं बाहर कठोरता से ही भरपूर है।

[पूज्य स्वामी सिद्ध जी का सन्यासाश्रमीय नाम स्वा० महेशानन्द गिरिजी था। आप स्वामी सुरतगिरिजी महाराज्य के शिष्य थे। आप बड़े भारी विद्वान्, विरक्त एवं मौनी थे। कहते हैं कि—आपने बड़े ही परिश्रम से काशी में विद्याध्ययन किया था पूर्ण विद्वान होने के बाद आप कुछ विद्यार्थी एवं महात्माओं को साथ लेकर सनातन धर्म प्रचारार्थ भारत का भ्रमण करने लगे। आप से बड़े-बड़े पण्डितों की भेंट होती थी, परन्तु आप की सर्वतोगामिनी-प्रतिभा से सभी पण्डित स्तब्ध एवं नतमस्तक हो जाते थे। एक समय आप जयपुर पधारे वहाँ के पण्डितों से राजा के समक्ष आपका शास्त्रार्थ हुआ। परन्तु आपकी विमल-विद्या के प्रभाव से पण्डितों को मूक होना पड़ा। राजा जी स्वयं विद्वान् थे, अतएव आपकी उन्होंने बड़ी भारी मान-प्रतिष्ठा की। इस प्रकार कुछ समय तक भारत-भ्रमण कर आप अपने पूज्य गुरु महाराज स्वामी सुरतगिरिजी महाराज (मण्डलेश्वर) का दर्शन करने के लिये हरिद्वार (कनखल) पधारे। गुरु जी के समक्ष बात में बात छिड़ जाने पर आपने कुछ अहंकार के भाव से या अपनी बड़ाई के भाव से पण्डित-पराजय एवं अपने विजय की बातें सुनाईं। एकान्तवासी योगीराज गुरुमहाराज को यह बात पसन्द नहीं आयी। गुरु जी ने कुछ रोष में भर कर कहा—"क्या तूने ब्राह्मण पण्डितों को पराजित करने के लिये ही विद्या पढ़ी है? ऐसी अहंकार की बात करते तुझे शरम नहीं आती। पश्चात् शान्तभाव से गुरुजी कहने लगे कि अरे भाई! विद्या तो अपने कल्याण के लिये होनी चाहिये, जिस विद्या से अविद्या की निवृत्ति न हो वह विद्या ही क्यों होने लगी? प्रकाश तो उसी का नाम है—जो अन्धकार को दूर करे। इत्यादि।"

श्रेष्ठ-पुरुषों के लिये एक ही चोट काफी होती है। गुरुजी का उपदेश आपने ग्रहण कर लिया। आप उसी समय तमाम पुस्तकों का तथा सभी वस्त्रों का परित्याग कर नंग-धड़ंग अवधूत वेष से हिमालय की तरफ एकाकी चुप-चाप चल दिये।

(विश्वनाथ से)

इसी अंक से इस नवीन स्तम्भ का श्रीगणेश हुआ है। प्रेमी पाठक पाठिकाओं से निवेदन है कि वे अपने जीवन की वह सत्य घटना लिख भेजने की कृपा करें जिसके प्रभाव से उन्हें आध्यात्मिक उन्नति, भगवान के प्रति श्रद्धा और चारित्रिक उत्थान को आश्चर्यजनक प्रेरणा मिली हो। घटना, कापी साइज के एक पेज से अधिक नहीं होनी चाहिए। —सम्पादक

उन दिनों मैं कालेज मे पढ़ता था। इन बाबा लोगों तथा भगवान् पर मेरी श्रद्धा न के बराबर थी। एक प्रसिद्ध ग्रेजुएट महात्मा का अपने नगर में आगमन सुनकर मैं परीक्षा लेने के भाव से उनके पास पहुँचा।

"तुम कौन हो?" मेरी ओर देखकर उन्होंने पूछा।

"ब्राह्मण" गर्व से मैंने उत्तर दिया

"झूठा कहीं का—ब्राह्मण बनता है—ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः—क्या तुम परमात्मा को जानते हो?—अपने आपको तो जानता ही नहीं, ब्राह्मण होने का मिथ्या अभिमान करता है!" विचित्र भाव से उन्होंने कहा।

"चौबे जी चले छब्बे बनने को—होगये दूबे" वाली कहावत चरितार्थ होगयी, महात्मा जी के उस अद्भुत उत्तर को सुनकर। फिर भी अपनी झेंप मिटाने के लिये मैं साहस बटोर कर बोला—

"परमात्मा है भी? है तो कहाँ? बताइये!"

"दो पैसे हैं तुम्हारे पास" भाव बदलते हुए प्रेम से उन्होंने पूछा।

"जी हैं"

"तो इस प्याले में दो पैसे का दूध ले आओ" कटोरा देते हुए उन्होंने कहा।

शीघ्र ही बाजार से दूध लाकर मैने उनके सामने वह कटोरा रख दिया।

"बेटा! बताओ तो, इस दूध में मक्खन है कि नहीं? यदि है तो कहाँ? दूध की ओर इशारा करते हुए उन्होने पूछा "नीचे कि ऊपर, इधर कि उधर।"

"अवश्य है और दूध में नीचे-ऊपर, इधर-उधर सब जगह" जोर देते हुए मैंने कहा।

"परन्तु दिखाई तो नहीं देता?

"दिखाई भले ही न दे, परन्तु अपने ज्ञान से मैं कह सकता हूँ कि न दिखाई देते हुए भी इस दूध में मक्खन सब जगह विद्यमान है।" मैने कहा।

"तो बेटा! ठीक इसी तरह समझ लो कि वह परमात्मा भी इस संसार में सर्वत्र व्यापक है चाहे तुम उनके दर्शन इन आँखों से कर सको या नहीं।

"और बेटा यह भी जानलो कि जैसे दूध को पहले दही बनाकर, फिर खूब मथने से मक्खन प्राप्त होता है, उसी प्रकार दंभ, छल-कपट, काम-क्रोध आदि दोषों से अपने मन को निर्मल करके जब इस संसार में निरन्तर दृढ़ पुरुषार्थ द्वारा ढूँढोगे तभी उस परमात्मा के दर्शन हो सकेंगे।"

बस उसी क्षण से मेरे जीवन के लक्ष्य का परिवर्तन होगया और आज वह बाबा लोगों पर अश्रद्धा करने वाला स्वयं बाबा बन गया। —सदानन्द सरस्वती

उन दिनों मैं अत्यन्त दुखी था और दुख का मुख्य कारण था भविष्य की चिन्ता। बेकारी से पीड़ित होकर एक ऐसे स्थान पर नौकरी करना स्वीकार कर लिया था जहाँ मेरे लिये सब कुछ प्रतिकूल था। मेरे मन पर मेरे मामा जी की विशेष छाप पड़ी है। उन्होंने बचपन से ही मुझे गुरु-मन्त्र के रूप में यह शिक्षा दी थी कि भगवान् की कृपा में सदा विश्वास रक्खो। मैंने इस शिक्षा को अपनी जीवन नौका का एक मुख्य पतवार बना लिया है और उसी के सहारे संकट और विपत्ति की बाढ़ में भी जीवन नैया खेता चला जा रहा हूँ। इसी विश्वास का सहारा मुझे उन दिनों भी था। रोज़ शाम को नौकरी से छुट्टी पाकर एकान्त में गंगा-तट पर चला जाता और उस दीनबन्धु से प्रार्थना करता कि मुझे इन प्रतिकूलताओं से उबारो। मेरे अन्धकारमय भविष्य को प्रकाशित करो। ऐसा करते मुझे तीन महीने बीत गये किन्तु न मेरे विश्वाश में और न मेरी प्रार्थना में ही कमी हुई। मेरा हृदय रह-रह कर कहता था कि तुम्हारी पुकार अवश्य सुनी जायगी। एक दिन वह समय आ ही गया जब कि सुबह ही दरवाजे पर तार वाले ने आवाज़ दी। उस तार द्वारा मुझे कानपुर में एक स्थायी नौकरी मिलने का सन्देश था। इस स्थान के लिये न मैंने कोशिश ही की थी और इसकी स्वप्न में भी मुझे आशा नहीं थी। इस सुखद समाचार से मुझे उस रात बिल्कुल नींद नहीं आई। मेरा हृदय बार-बार यही सोचकर प्रसन्न हो रहा था कि भगवान् के दरबार में छोटे-बड़े सबकी पुकार सुनी अवश्य जाती है। उस दरबार में देर है, अन्धेर नहीं। इस घटना ने भगवत्कृपा में विश्वाश को सदैव के लिये अटल कर दिया।

—हरिशंकरप्रसाद वर्मा, एम. एस सी.

भानमती का तमाशा

पू० भोलाबाबा

★ ★

जब जनक-नन्दिनी, रामवल्लभा, सीता जी बाल्मीकि ऋषि के आश्रम में रहती थीं, तब उनका एक ऋषि पत्नी से इस प्रकार सम्वाद हुआ—

ऋषिपत्नी— हे राजकुमारी ! हे राम वल्लभे ! तू राजा दशरथ के पुत्र रामचन्द्र जी की प्रिया है, दशरथ की सम्पदा देखकर यक्षपति कुबेर भी लज्जित होता है और दशरथ के ऐश्वर्य की देवता भी स्पर्धा करते हैं। रामचन्द्र के समान पृथ्वी पर तो क्या, तीनों लोकों में कोई सुन्दर नहीं है। ऐसे शोभाधाम पति के साथ समस्त ऐश्वर्य की सामग्रियों से सुसज्जित महलों में तू रहती थी। हजारों दासियाँ तेरी सेवा में खड़ी रहती थीं, अब तू यहाँ अकेली रहती है, अपना सब काम अपने ही हाथों करती है। ऋषि के वृक्षों को पानी देकर सींचती है, शिर पर जल का घड़ा रख कर कूप से कुटी में ले जाती है। हे सुकुमारी ! क्या तुझे अपने महलों में बिछे हुये, रेशम से बुने हुये, चाँदी की पट्टी और स्वर्ण के पावों के, सफेद चादर से ढके हुये, कोमल गद्दों वाले पर्यंकों की याद नहीं आती ? बिना अपराध ही तुझे तेरे पति ने जनपूर्ण महलों में से सुन्सान वन में भेज दिया है। सर्वदा के लिये भेज दिया है और कलंक लगाकर निकाल दिया है। हे विदेह कन्ये ! क्या तुझे अपने निर्दयी पति पर कभी क्रोध नहीं आता ?

ऋषिपत्नी के ऐसे प्राकृत स्त्रियों के से अविवेक युक्त वचन सुनकर विदेह राजा की कुमारी, वसुन्धरा देवी की दुलारी, श्रीराम की नित्यप्यारी, वीर लवकुश की महतारी, शोक-मोह हारी, कानों और मन को सुखकारी, शिष्ट सम्मत अमृतमय वचन इस प्रकार कहने लगीं—

सीता—हे बहिन ! यह जगत भानमती का तमाशा है, इसमें सुख की क्या आशा है ? जैसे भानमती के तमाशे में भानमती और भानमती की सब सखी सहेली पुतलियाँ सूत्रधार के आधीन हैं, सूत्रधार की इच्छानुसार सब पुतलियों को बैठना, उठना, नाचना आदि करना पड़ता है। कोई पुतली स्वतंत्र कुछ नहीं कर सकती। इसी प्रकार इस जगत में सब नर-नारी ईश्वर के आधीन हैं। जो-जो कार्य ईश्वर उनसे करावा है, वही उनको करना पड़ता है, स्वतंत्र कोई कुछ कर नहीं सकता। श्रुति कहती है कि ईश्वर के भय से अग्नि तपता है, सूर्य तपता है, इन्द्र, वायु और पाँचवां मृत्यु दौड़ता है। हे बहिन जब ये पाँचो देवता ईश्वर की आज्ञा को उलांघ नहीं सकते, तब दूसरों का तो कहना ही क्या ? कोई शरीरधारी काल और कर्म का उल्लंघन नहीं कर सकता, जिस समय जो कुछ होना होता है, अवश्य होकर रहता है, किसी के टाले टल नहीं सकता, तब परवश बात में शोक क्यों करना चाहिये ? होना न होना ईश्वर के अथवा प्रारब्ध के हाथ है और शोक करना न करना, अपने हाथ है। तब होने वाला तो होगा ही, उसमें तो हम परवश है, शोक करें या न करें, इसमें हम स्वतंत्र हैं, फिर स्वतंत्र होकर भी परतंत्र के समान

बुद्धिमान को शोक क्यों करना चाहिये ? कभी न करना चाहिये। जो बहिन-भाई हानि-लाभ में शोक हर्ष नहीं करते; वे ही धीर और ज्ञानी हैं।

हे सखी ! जो बहिनें अथवा भाई ईश्वर की माया से मोहित हैं, उनको यह जगत तमाशा होते हुये भी सच्चा प्रतीत होता है, सच्चा प्रतीत होने से उनको अवश्य दुख होता है। न होता हुआ भी दुख होता है यानी दुख है नहीं, फिर भी होता तो है ही। जो लोग ईश्वर के भक्त हैं, जिन लोगों के ऊपर ईश्वर की कृपा है, वे लोग इस जगत को भानमती का तमाशा समझते हैं। उन पुण्यात्माओं को जगत में कुछ भी दुख नहीं है, दुख न हो, इतना ही नहीं, उनको उलटा तमाशा देखने में विनोद होता है। इस प्रकार यह जगत विनोद रूप है। मैं महलों में रत्न जटित पर्यंकों पर अनेकों दासियों के साथ रहती थी, फिर भी जैसा यहाँ है, वैसा वहाँ न था, क्योंकि वहाँ अनेक प्रकार की परतन्त्रता थी, प्रत्येक काम के लिये दूसरे का ही मुख देखना पड़ता था। चक्रवर्ती महाराजा की रानी होने से अपनी योग्यता नुसार वस्त्राभूषण आदि रुचि न होते हुये भी लादने पड़ते थे, और उनकी देख भाल के लिये दूसरों के अधीन रहना ही होता था। चौदह वर्ष के बनवास में मैंने अनुभव किया है कि जो सुख त्याग में है वह सुख परिग्रह में नहीं है। सुख ही नहीं परिग्रह में उलटा दुख है, परन्तु रानी होने से वहाँ परिग्रह करना ही पड़ता था। यहाँ परिग्रह का काम ही नहीं है इसलिये यहाँ, वहाँ की अपेक्षा अधिक सुख है।

हे बहिन ! यह तो लोक की रीति कही, विचार कर देखा जाय तो सुख-दुःख जगत में बाहर नहीं है किन्तु अपने मन में ही है। जिनका मन संसार के भोग-विलास के पदार्थों में लगा रहता है, उनका मन विक्षिप्त रहता है। विक्षिप्त मन दुखी रहता है। जिनका मन परमानन्द-स्वरूप ईश्वर में लगा रहता है उनको संसार के दुखों का भान ही नहीं होता। क्योंकि वे तो अथाह सुख-सागर में डूबे रहते हैं। उनको संसार के पदार्थों का आना-जाना नाटक के परदे के गिर जाने अथवा उठ जाने के समान है। फिर उन्हें दुःख कैसा ? हे बहिन ! जैसा परदेश में गये हुये अपने प्यारे का ध्यान रहता है, वैसा घर में रहने वाले का ध्यान नहीं होता, यह बात सबके अनुभव से सिद्ध है। महलों में विद्यमान होने से मैं रघुनाथ जी का कभी ध्यान नहीं करती थी; क्योंकि पास होने से ध्यान का कुछ काम ही नहीं था। जब से, यहाँ आयी हूँ निरन्तर भगवान का ध्यान करती रहती हूँ। ध्यान करने से मेरा मन प्रति क्षण भगवान् में तदाकार रहता है। तदाकार होने से काम, क्रोध, लोभ, चिन्ता, ईर्षा, द्वेष आदि तो मन में प्रवेश ही नहीं कर सकते। अक्षय शान्ति का अनुभव होता है। अक्षय शान्ति होने से किसी अन्य पदार्थ का स्मरण नहीं आता, स्मृति ही संसार का कारण है। जहाँ किसी वस्तु का स्मरण न हो और सुषुप्ति भी न हो वह राम का स्वरूप है, राम सबके आत्मा हैं, जो अपने आनन्द के सागर आत्मा में मग्न हैं, उसके लिये कहीं किंचित किसी प्रकार का दुख का लेश नहीं है, सर्वत्र सर्वदा सुख ही है, ऐसे सुख के साथ तद्रूप हुई मुझ में दुःख आवे ही कहाँ से।

हे बहिन ! तू राम के स्वरूप को नहीं जानती इसलिये राम को निर्दयी बताती है और मेरे स्वरूप को भी नहीं जानती इसलिये तू मुझ से प्रश्न करती है कि क्या कभी तुझे क्रोध नहीं आता। राम एक हैं, अद्वितीय हैं, शुद्ध हैं, बुद्ध हैं, मुक्त है, असंग हैं, न कभी कुछ क्रिया करते हैं, न कभी कुछ कांक्षा करते हैं क्योंकि वह अक्रिय हैं और पूर्ण काम, आप्तकाम, आत्म-काम है क्योंकि सर्वत्र-सर्वदा पूर्ण हैं अपरिच्छिन्न हैं; देश से, काल से, वस्तु से उनका परिच्छेद नहीं होता ऐसे राम में क्रिया का सम्भव ही नहीं है तब वे निर्दयी अथवा क्रूर कैसे हो सकते हैं ? नहीं हो

ते। मैं राम की इच्छा हूँ, वेद में मुझ राम की च्छा को ईक्षण कहा है। राम की इच्छा मैं जगत् । उत्पत्ति, स्थिति, और लय करने वाली हूँ। मैं वतार धारण करके अनेक प्रकार की लीलायें रती हूँ, राम कुछ नहीं करते। राम के स्वरूप को । जानने वाले अज्ञानी मेरी क्रिया का राम में आरोपण करते हैं, इसलिये वे ऐसा कहते हैं कि के राम निर्दयी हैं, उन्होंने अपनी प्रिया को विना पराध ही निकाल दिया है ऐसा कहना उनका अज्ञान के कारण से है। राम ने मुझको नहीं निकाला, राम निर्दयी भी नहीं हैं मैंने ही अपने को निकाला है यदि हूँ तो मैं निर्दयी हूँ, नहीं तो मैं भी नहीं हूँ क्योंकि यह जगत् स्वभाव से ही वर्तता है।

ऋषिपत्नी—(आश्चर्य करती हुई) सुभगे ! पूर्व में तो तूने कहा है कि यह जगत् भानमती का तमाशा है और अब कहती है कि मैं ही इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय करने वाली हूँ तब क्या तू ही भानमती है ? जगत् तो ईश्वर ने रचा है ऐसा वेद कहता है।

सीता जी—(हंसती हुई) हां बहिन जैसा तू कहती है ऐसा ही है। मैं ही भानमती अथवा भानुमती हूँ और राम भान अथवा भानु हैं। चेतन होने से राम भान अथवा भानु कहलाते हैं क्योंकि भान अथवा भानु प्रकाश का नाम है इसलिये राम प्रकाश-स्वरूप होने से भान अथवा भानु हैं और मैं राम की इच्छा भानमती अथवा भानुमती हूं। जैसे प्रकाश-स्वरुप सूर्य की छाया धूप भी प्रकाश वाली है इसी प्रकार प्रकाश-स्वरूप राम की इच्छा मैं भी प्रकाश वाली हूँ। राम की इच्छा से मैं ही जगत का रचना करती हूँ परन्तु राम की इच्छा मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ किन्तु राम के अधीन हूँ इसलिये वे देवता राम को यानी ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता कहते हैं। यदि मैं राम की इच्छा राम से अलग और स्वतन्त्र होऊँ तो जड़ होऊँ और जड़ होने से सृष्टि की रचना नहीं कर सकूँ। जड़ में इच्छा नहीं होती चेतन में ही इच्छा होती है और हो सकती है। चेतन-स्वरूप राम की इच्छा मैं राम के चेतन स्वरूप से चैतन्य होकर इस जगत की रचना करती हूँ इसलिये मैं सृष्टि करने वाली होने पर भी राम ही इस सृष्टि के कर्त्ता कहे जाते हैं। परन्तु परमार्थ से राम कुछ नहीं करते क्योंकि वे कूटस्थ हैं, निर्विकार हैं, अक्रिय हैं और असंग हैं, ऐसे राम में मुझ भानमती विना सृष्टि की सम्भावना नहीं है।

हे सुबुद्धे ! जैसे सूर्य की प्रभा सूर्य से दूर नहीं है, अभिन्न भी नहीं है और भिन्नाभिन्न भी नहीं है क्योंकि सूर्य की प्रभा सूर्य को छोड़कर नहीं हो सकती। इसलिये वह सूर्य से भिन्न नहीं है, अभिन्न यों नहीं है कि भिन्न होकर भासती है। भिन्नाभिन्न भी नहीं है क्योंकि भिन्न अभिन्न दोनों धर्म एक धर्मी में नहीं रह सकते, इसी प्रकार मैं राम से भिन्न अभिन्न अथवा भिन्नाभिन्न नहीं हूँ। ऐसा होने से अर्थात् किसी प्रकार मेरा वर्णन न होने से वेदवेत्ता मुझे अनिवर्चनीय कहते हैं। मेरे बिना राम इस जगत की रचना नहीं कर सकते। इसीलिये वेदवेत्ता मुझे राम की शक्ति कहते हैं। विवेक दृष्टि से मेरी सिद्धि नहीं होती। इसलिये मेरा नाम माया है, मेरा कार्य जगत प्रसिद्ध है, इसलिये कोई कोई मुझे प्रकृति कहते हैं। किसी ने आज तक मुझे देखा नहीं है, इसलिये विवेकी पुरुष मुझे अव्यक्त कहते हैं। सृष्टि की रचना करने में मैं मुख्य हेतु हूँ। इसलिये कोई कोई आचार्य मुझे प्रधान कहते हैं, जीवों को अनेक प्रकार के तमाशे दिखाती हूँ। इसलिये साधारण जनों में भानमती नाम से प्रसिद्ध हूँ, यह सब जगत मेरा तमाशा है। इस तमाशे को दिखाने के लिये कूटस्थ राम को भी कभी कभी तमाशाई बना लेती हूँ। राम से भिन्न हूँ नहीं, राम की ही इच्छा हूँ राम बिना कुछ नहीं कर सकती। इसलिये यद्यपि मैं अपना तमाशा आप ही देखती हूँ। फिर भी

तमाशा और तमाशाई राम हैं, ऐसा प्राकृत मनुष्य कहते हैं और हैं भी ऐसा ही, क्योंकि अकर्त्ता होते हुये भी स्वतंत्र कर्त्ता तो राम ही हैं जो स्वतंत्र कर्त्ता होता है, वही वास्तविक कर्त्ता होता है।

हे बहिन ! मैं भानमती तीन ईंट लेती हूँ, पाँच रोड़े लेती हूँ और उनसे यह सब ब्रह्माण्ड, अपना कुटुम्ब बनाकर खड़ा कर देती हूँ। इसलिये लोक में प्रसिद्ध है कि 'कहीं का ईंट कहीं का रोड़ा, भानमती ने कुनबा जोड़ा' बात ठीक ही है कि कहीं की ईंट और कहीं का रोड़ा ही है, क्योंकि सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण तीन ईंटें हैं, ये तीनों विरुद्ध स्वभाव वाले हैं। सतोगुण ज्ञानरूप और सुखरूप है, रजोगुण दुःखरूप है और तमोगुण अज्ञानरूप है, इन विरुद्ध स्वभाव वाली ईंटों से ब्रह्माण्ड रूप मकान चुनकर खड़ा कर देती हूँ। आकाशादि पंचभूत भी ऐसे ही हैं। आकाश पोला है, वायु चलने वाला है, अग्नि जलने वाला है, जल ठंडा है और पृथ्वी बोझ वाली भारी है। इस प्रकार यह पाँचो रोड़े भी विरुद्ध स्वभाव वाले हैं और इन पाँचो में से चार रोड़ों के तो परमाणु ऐसे हैं कि परस्पर मिल नहीं सकते अर्थात् उनका संयोग-सम्बन्ध नहीं हो सकता फिर भी मैं तो इन रोड़ों को ईंटों के साथ इस प्रकार जोड़ देती हूँ कि बड़े-बड़े बड़े विद्वानों की बुद्धि चक्कर खा जाती है और यथार्थ निर्णय नहीं कर सकती कि ईंट और रोड़े जुड़े हुये हैं या नहीं। प्रायः सबको जुड़े हुये ही प्रतीत होते हैं। इस प्रकार राम को चेतनता लेकर मैंने इन ईंट और रोड़ों से देव, मनुष्य, तिर्यक् इत्यादि बहुत बड़ा कुनबा बना लिया है।

जैसे ब्रह्मांड में देव, मनुष्य तिर्यक आदि का मेरा महान कुटुम्ब है, इसी प्रकार शरीर में पाँच ज्ञानेन्द्रिय. पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण और चार अन्तःकरण इन उन्नीस का मेरा कुनबा है. पाँच ज्ञानेन्द्रियों से सुनती हूँ, छूती हूँ, देखती हूँ, चखती हूँ और सूंघती हूँ। पाँच कर्मेंद्रियों से बोलना, पकड़ना चलना आदि क्रियायें करती हूँ पाँच प्राणों से श्वास प्रश्वास लेना आदि व्यापार करती हूँ। बुद्धि से निश्चय करती हूँ, चित्त से स्मरण करती हूँ और अहंकार से अभिमान करती हूँ। इस प्रकार समस्त विश्व में मेरा कुटुम्ब ही काम कर रहा है। जब सब मेरा कुटुम्ब है, तो सब कार्य मेरा ही है। फिर मैं किस की कामना करूं, क्यों हर्ष करूं, क्यों दुःख करूं, और क्यों क्रोध करूं ? इसीलिये मुझे महलों की कभी याद नहीं आती ? सिवाय इसके मैं राम की इच्छा शक्ति होने से स्वयं मिथ्या हूँ, तब मेरा कुटुम्ब भी मिथ्या ही है। एक राम ही केवल सत्य है, इस लिये भी मन में किसी प्रकार का विक्षेप आने का कोई प्रयोजन नहीं है। हे बहिन ! मुझे तो कहीं, कभी, किसी प्रकार सिवाय राम के अन्य कुछ दिखाई नहीं देता। वह स्वप्न के पदार्थों के समान मिथ्या है। स्वप्न में राजा होने का कोई हर्ष नहीं करता और कंगाल होने का कोई शोक नहीं करता, तब मैं हर्ष शोक क्यों करूं ? मन से राम का ध्यान और कर से घर का काम करती रहती हूँ।

सीता के इस प्रकार के ज्ञान, भक्ति और वैराग्य से युक्त वचन सुनकर ऋषि-पत्नी बहुत ही संतोष को प्राप्त हुई अपने मन का आह्लाद इस प्रकार प्रकट करने लगी—

ऋषिपत्नी—हे सीते तेरे वचन बहुत ही सन्तोष जनक और शान्ति दायक हैं सचमुच श्रीराम ईश्वर के अवतार हैं और तू जगदीश्वरी का अवतार है। राम को तू प्यारी है और तुझे राम प्यारे हैं। तुम दोनों का कभी वियोग नहीं है किन्तु सर्वदा योग है। जगत् का कल्याण करने के लिये तुम दोनों का जन्म है, नहीं तो अजन्मे का जन्म कैसा ? संसारी जीव विषय भोगों में फँस रहे हैं। विषय-भोगों को ही पर्याप्त समझते हैं, विषय भोगों की प्राप्ति के लिये कोल्हू के बैल के समान चक्कर खाते और

लद्दू बैल के समान चक्कर खाते और लद्दू बैल के समान बोझा ढोते रहते हैं, विचारों का मनोरथ पूरा नहीं होने पाता कि यमराज के दूत खड़े होते हैं और उनकी इच्छा न होते हुए उनको ऐसे देश में ले जाते हैं कि फिर उनके बांधव उनको देख नहीं सकते। ऐसे जीवों को आप दोनों जन्म लेकर उपदेश देते हैं कि संसार के पदार्थ क्षणभंगुर हैं और ईश्वर अविनाशी है, इसलिये सबको भोगों की आसक्ति छोड़कर सर्वदा ईश्वर भजन में लगना चाहिये। ईश्वर का नाम लेने से पाप क्षीण होते हैं ईश्वरावतारों की कथा श्रवण करने से मन में अपूर्व आनन्द होता है, तो ईश्वर के ध्यान से मन में आह्लाद हो, इसमें कहना ही क्या है ? ईश्वर का भजन करने वालों को संसार के पदार्थ नहीं खींच सकते, क्योंकि ब्रह्मानन्द के रस के सामने सब फीके हैं।

पाठक ! लवकुश के द्वारा सीता जी का समाचार पाकर और वाल्मीकि ऋषि के अनुमोदन करने से श्री रघुनाथ जी ने वसिष्ठ आदि ऋषियों के समक्ष जब सीता जी से अपने सतीत्व की परीक्षा देने को कहा तो सीता जी इस प्रकार कहने लगीं—

सीता—हे धर्मज्ञ ! परीक्षा एक बार ली जाती है और दी जाती है बारम्बार नहीं ली दी जाती, एक बार अग्नि में प्रवेश करके परीक्षा दे चुकी हूँ, फिर भी आप सब ऋषि मुनियों का आग्रह है तो अच्छा देती हूँ, साँच को आँच कहाँ इतना कहकर जगन्माता सीता ने अपनी माता वसुन्धरा को संबोधन करते हुए परीक्षा देना आरम्भ किया—

सीता—यदि मैंने स्वप्न में भी सिवाय राम के कोई दूसरा देखा हो, तो हे मातेश्वरी वसुधे ! आप मुझे छाती से लगा लीजिये ! यदि मैंने कभी भूल से भी सिवाय रघुवीर जी के दूसरा सुना हो, तो हे देवी वसुमती ! आप मुझे अपनी गोदी में बैठा लीजिये ! यदि मैंने धोखे से भी सिवाय दशरथ कौशल्यानन्दन के दूसरे को छुआ हो तो हे अम्बे ! हे रसे ! आप मुझे अपने अंग में सुला लीजिये। यदि मैंने कभी प्रमाद से भी सिवाय भरताग्रज के कोई दूसरा चक्खा हो, तो हे विश्वम्भरे ! आप मुझे अपने गले से लगा लीजिये। यदि मैंने कभी भ्रम से भी सिवाय अपने पति के दूसरा सूंघा हो, तो हे अचले ! आप मुझे अपने पास बुला लीजिए, यदि मैंने कभी, कहीं भी विश्वामित्र का यज्ञ पूर्ण करने वाले, अहिल्या के तारने वाले, शिवधनुष तोड़कर मुझे व्याहने वाले, पिता का वचन मानकर राज्य छोड़कर वन में जाने वाले, चित्रकूट पर निवास करने वाले, वाल्मीकि आदि ऋषियों के दर्शन करने वाले, सूर्पणखा को कुरूप करने वाले, खरदूषणादि चौदह हजार राक्षसों को मारने वाले, मायामृग के पीछे दौड़ने वाले, मेरे लिये विलाप करने वाले, शबरी को भक्ति देने वाले, गिद्ध का श्राद्ध करने वाले, वानर रीछों की सेना एकत्र करने वाले, समुद्र का सेतु बाँधने वाले, लंकेश रावण को कुटुम्ब सहित मारने वाले, विभीषण को लंका का राज्य देने वाले, पुष्पक विमान में बैठकर मेरे और सखाओं सहित अयोध्या में आकर राज्य करने वाले और मुझको वाल्मीकि आश्रम में भेजने वाले, लवकुश के पिता के सिवाय दूसरे का ध्यान न हो तो हे सर्वसहे देवी ! आप मुझे अपने में मिला लीजिये।

इतना सुनते ही स्थिरा देवी ने अपनी प्यारी पुत्री को अपने में मिला लिया, पृथ्वी पर वशिष्ठादि ऋषि और अंतरिक्ष में ब्रह्मादि देवता दांतों में अंगुली दे गये और 'साधु-साधु अच्छी परीक्षा दी और सम्यक् अद्वैत दर्शाया' ऐसा कहने लगे, क्योंकि जब एक देवों के देव के सिवाय दूसरा है नहीं तो दूसरे को देखती ही कहाँ से ? एक देव ही सच्चा है, तत्त्व-दर्शियों को सर्वत्र, सर्वदा वह ही दिखाई देता है। सच कहा है—

माया का सब खेल है, जितना है संसार।
सच्चा जाने मूढ़ नर, मरता बारम्बार ॥
मरता बारम्बार, कष्ट नाना है पाता।
झूँठा जाने प्रज्ञ, शान्ति से समय बिताता ॥
तत्व एकरस नित्य, गया ना कुछ ना आया।
भोला मत कर शोक, नहीं काया ना माया ॥

श्री सद्गुरुदेव

श्री "मञ्जुल" जी

अङ्क ७ से आगे

सरायप्रयाग के भक्तों का प्रेम और अधिक होगया प्रत्येक प्रेमी नियम पूर्वक आपके दर्शन और सत्संग के लिये नित्य-प्रति आने लगा। यों तो प्रेम अनिर्वचनीय है, वाणी के द्वारा उसको प्रकट करके दिखलाया नहीं जासकता किन्तु फिर भी बाह्य क्रिया द्वारा यत्किञ्चित भीतर के प्रेम का पता चल ही जाता है। आपके प्रेमियों में श्री गजाधर प्रसाद जी नित्य-प्रति कुछ न कुछ शाक चुपचाप आपके आश्रम पर रख जाया करते थे श्री जुम्मन खाँ रात को रोशनी के लिये मिट्टी का तेल दे जाया करते थे।

उन्हीं दिनों स्वर्गीय श्री जगतप्रकाश जी ब्रह्मचारी (मास्टर जगतसिंह जी) मियाँगंज से स्थानान्तरित होकर सराय-प्रयाग पहुँच गये। उनका जीवन प्रारम्भ से ही साधु जीवन रहा था। वे एक क्षत्रिय कुल में जन्म लेकर अपने निजी पुरुषार्थ से विद्याध्यन करके साधना और संयम से उन्नति करते हुए सुयोग्य अध्यापक पद पर पहुँच गये थे। बड़ी योग्यता से अपना अध्यापन कार्य करते हुए वे परोपकार, साधु-सेवा, सत्संग में ही अपना समय विताया करते थे। श्री गुरुदेव से जगतप्रकाश नाम और महात्मा के वस्त्र पाकर तो वे अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक साधु सेवा में ही लगे रहे। भारत विख्यात परम तपस्वी श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी झूँसी, (प्रयाग) के आश्रम में रहकर सतत् सेवा में संलग्न उन्होंने अपनी जीवन-लीला पूर्ण की थी। सराय प्रयाग में पहुँच कर उन्हें आपका सत्संग प्यासे को जल की भाँति प्राण-स्वरूप से प्राप्त हो गया। वे चूके हुए लगातार नित्यप्रति आपका दर्शन न जाते थे। श्री गुरुदेव ने आप से एक दिन कहा कि प्यारे "अखण्ड प्रफुल्लित रहो दुःख में भी" यह तीसरा उपदेश और "सभी पर अति प्रेम रक्खो" यह छठा उपदेश है। वीतराग परमार्थ पथ-पथिक को इन दो उपदेशों को सदा स्मरण रखना चाहिये। विरक्त इन दो उपदेशों की निरन्तर धारणासे सदा ही आनन्द सिन्धु में निमग्न बना रहता है। यों तो ये उपदेश गृहस्थ और विरक्त दोनों ही के लिये परम लाभकारी हैं किन्तु विरक्त को तो इनका नित्य अभ्यास करते ही रहना चाहिये।

ब्रह्मचारी जी ने पूछा महाराज! इनके अभ्यास की विधि क्या है, किस प्रकार मनन करने से इनकी धारणा बनी रह सकती है। आपने कहा देखो प्यारे! अपने से मिलने पर हृदय कमल खिल जाता है। अपने पर सब कोई प्रेम रखते हैं, संसार में अपना ही सुख का मूल है, पराया समझना दुःख का हेतु है, मनुस्मृति में मनु महाराज लिखते हैं कि—

सर्वं परवशम् दुखं सर्वमात्मवशं सुखं।

संसार में सब कुछ अपने वश में होना ही सुख है और सब कुछ पराये वश में होजाना ही दुःख है। वस्तुतः अपने पराये का भेद दुःख का मूल है। अस्तु सदा ही यह निश्चय करो कि सब अपना ही है। सदा सब रूपों में अपना आत्माराम ही खेल रहा है इस धारणा से वे दोनों उपदेश आचरण में लाये जा सकते हैं। ब्रह्मचारी जी ने कहा महाराज बात तो सर्वोत्तम है, किन्तु समय पड़ने पर बड़े-बड़े ज्ञानी-ध्यानी यह ज्ञान भूल जाया करते हैं। मैं आपकी आज्ञा पालन करने का पूर्ण प्रयास करूँगा। आपने समझ लिया कि इसको मेरी बात पर विश्वास नहीं आया, आश्रम से चलते समय आप ने कहा

देखो प्यारे ! आगामी पूर्णिमा को श्रृंगी ऋषि के आश्रम पर (सिंगीरामपुर) निवास करने वाले सिद्ध महापुरुष श्रद्धेय श्री स्वामी शिवानन्द जी महाराज के दर्शनों को तुम्हें भी मेरे साथ चलना होगा। उधर ही श्री गंगा-स्नान का भी सौभाग्य प्राप्त हो जायेगा। ब्रह्मचारी जी ने कहा जो आज्ञा महाराज ! अवश्य ही चलूँगा, इतना कहकर प्रणाम करते हुए ब्रह्मचारी जी चले गये।

पाँच दिन बाद पूर्णिमा का दिन आया, श्रीजगत प्रकाश जी अपना झोला लेकर आपकी कुटिया पर पहुँचे गुरुदेव ने मुस्कराते हुए आप की ओर देख-कर कहा आगये प्यारे ! बहुत ही अच्छा किया चलो हम भी चलने को तैयार ही बैठे हैं। उन्होंने पूछा कि क्या भगवन् ! पैदल ही चलने का विचार है ? आपने कहा हां प्यारे ! पैदल ही चलना ठीक है कारण कि तप और त्याग के बिना सन्त भगवन्त के दर्शन नहीं होते। तप और त्याग से ही सर्व की सिद्धि होती है। हम लोग शरीर से पैदल यात्रा करेंगे। यह हो गया तप, और माया और अभिमान का परित्याग करेंगे यह हो गया त्याग। इन दोनों से ही सन्त-दर्शन का यथार्थ फल प्राप्त होगा। इसके अतिरिक्त यह भी किसी सन्त कवि का वचन है कि

सन्त मिलन को जाइये तज माया अभिमान।
ज्यों ज्यों पग आगें परें कोटिन यज्ञ समान॥

ब्रह्मचारी जी ने कहा ठीक है भगवन् ! इसी प्रकार चलिये. आपने अपना अचला उठाकर बगल में दबा लिया और कमण्डलु लेकर चल दिये। ब्रह्मचारी जगतप्रकाश जी भी आपके पीछे-पीछे रवाना हो गये। सराय प्रयाग से शृंगीरामपुर के मार्ग में सड़क पार करके गंगा के किनारे-किनारे बहुत जंगल पड़ता है। विशेषतः श्रीस्वामी शिवानन्द जी का आश्रम तो घोर जंगल में है। आप सत्संग-चर्चा करते हुए वन में प्रविष्ट हुए। खुले मैदान में चलते हुए. सूर्य के ताप से जगतप्रकाश जी का शरीर तप रहा था। सघन वन के वृक्षों की शीतल छाया तथा शीतल पवन के झोंके बहुत सुखद प्रतीत हो रहे थे। आपने कहा देखो प्यारे ! परहित व्रत निरत इन स्थावर सन्त-तरुओं से हम लोगों को कितना सुख प्राप्त हो रहा है। सचमुच ये महान सन्त हैं। निरन्तर एक स्थान पर वर्षा, शीत घाम सहकर घोर तप करते हुए प्रतिपल सबको सुख ही पहुँचाया करते हैं। सतत स्वार्थ परायण मानव से इनका स्थान बहुत ऊँचा है। इनका जीवन धन्य है, प्रतिक्षण यह मूक भाव से स्थित होकर "*सर्वभूतहितेरताः*" का पाठ पढ़ा रहे हैं। हमें इनसे यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। श्री जगतप्रकाश जी ने कहा ठीक है भगवन् ये यथार्थ ही सच्चे सन्त हैं। हम लोगों से इनका स्थान बहुत ऊँचा है। इन वृक्षों को क्या कहें मार्ग में पड़ा हुआ एक तृण भी निरन्तर परहित ही में जीवन उत्सर्ग किया करता है। इस प्रकार सत्संग-चर्चा करते हुए आप श्री स्वामी जी की कुटिया में पहुँच गये। श्री जगतप्रकाश जी ने कुटिया में पहुँच कर कहा महाराज ! यहाँ बड़ी शान्ति प्रतीत होती है। आपने कहा भजन करने वाले महात्माओं की यही पहचान है कि उनके स्थान पर पहुँचते ही अद्भुत शान्ति मिलती है। श्री स्वामी जी दोनों की वार्त्ता सुनकर बाहर निकल आये। आपने उनको अत्यन्त श्रद्धा के साथ दंड प्रणाम किया। श्री जगतप्रकाश जी के प्रणाम करने के पश्चात आपने स्वामी जी का पूजन किया, फूल माला पहनाई, आरती उतारी। श्री स्वामी जी ने प्रसन्न होकर कहा कि धन्य हैं आप ! वस्तुतः सन्त ही सन्त की वास्तविक पूजा कर सकता है। गगन ही गगन का आलिङ्गन कर सकता है, आप सच्चे सन्त हैं। अतएव आप ही सन्तों का यथावत् समादर कर सकते हैं।

आपने कहा महाराज ! सन्तों की दया-दृष्टि जिस पर हो जावे वही सन्त बन जाता है। कवियों

ने पारस और सन्त में बहुत बड़ा अन्तर बतलाया है। पारस तो अपने स्पर्श से लोहे को केवल स्वर्ण बना सकता है, पारस नहीं बना सकता। किन्तु सन्त तो अपने सहज स्वभाव से समीपवर्ती असन्त को भी अपने समान सन्त बना लेते हैं। आज आपके दर्शन से बहुत सुख प्राप्त हुआ। स्वामी शिवानन्द जी ने कहा, आप तो एकरसानन्द हैं, सुख स्वरूप ही हैं। इस प्रकार दोनों महापुरुषों में परस्पर वार्तालाप होता रहा। थोड़ी देर बाद श्री गंगा जी के स्नान की अनुमति माँगी, श्री स्वामी जी ने कहा ठीक है। आप जैसे सन्तों को तो गंगास्नान अवश्य ही करना चाहिये। राजर्षि भगीरथ से श्री गंगा जी ने पूछा कि—

किं चाहं न भुवं यास्ये नरा मय्यामृजन्त्यघम्।
मृजामि हृदघं कुत्र राजँस्तत्र विचिन्त्यताम्॥

मैं भूतल पर जाकर क्या करूँ? वहाँ अनेकों पापी मेरे जल में स्नान करके अपना पाप धोयेंगे। बस समस्त एकत्रित पाप-पुंज को, मैं स्वयं ले जाकर कहाँ धोऊँगी? अतएव मैं भूतल पर नहीं जाऊँगी।

राजर्षि भगीरथ ने कहा माता! इसके लिये कुछ भी चिन्ता न करो। तुम्हारे पाप पंक को धोने के लिये तो मैं बहुत ही सरल साधन निवेदन करता हूँ।

साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मनिष्ठा लोकपावनाः।
हरन्त्यघंतेऽङ्ग सङ्गास्ते ष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः॥

माता! वीतराग, ब्रह्मनिष्ठ, लोक-पावन शान्त साधु-जन तुम्हारे तटपर विचरते हुए जब तुम्हारे जल में स्नान करेंगे तब उनके अंग-संग से उनके शरीरों का स्पर्श करते ही तुम्हारा सारा पाप पल में धुल जायगा। क्योंकि समस्त पापों को नाश करने वाले भगवान श्रीहरिः उनमें सदा निवास करते हैं।

अतएव पतित-पावनी भागीरथी को पावन बनाने के लिये आप को श्री गंगा-स्नान करना अत्यावश्यक है, शीघ्र ही जाइये। स्नान के पश्चात् इधर दर्शन देते हुए ही अपनी कुटिया को जाइयेगा।

आपने विनम्र भाव से कहा अवश्य दर्शन करके ही यहाँ से जाऊँगा। ऐसा कहकर आप जगतप्रकाश जी को लेकर श्री गंगा जी की ओर चल पड़े। श्री गङ्गा तट पर पहुँचकर आप ने अत्यन्त श्रद्धा भक्ति से प्रणाम किया। गुरु-शिष्य दोनों ही पतित पावनी सुरसरी में हर्षोल्लास पूर्वक स्नान करके हरि-स्मरण करते हुए पुनः वहाँ से लौटकर चल दिये। सामान्यतः गंगा-तट पर जलपान हो ही चुका था अतएव श्री स्वामी जी के अधिकाधिक सत्संग लाभ की आशा में शीघ्रातिशीघ्र कुटिया की ओर ही चले। कुटिया पर पहुँच कर कुछ थोड़ा सा विश्राम करके पुनः श्रीस्वामीजी से सत्संग प्रारम्भ हुआ।

तच्चिन्तनं तत्कथन मन्योन्यं तत्प्रबोधनम्।
एतदेकं परत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः

परस्पर परम तत्त्व का कथन और प्रबोधन करते हुए बहुत समय का कुछ ध्यान ही न रहा। भगवान् भुवनभास्कर कभी के अस्ताचल की ओर गमन कर गये। विविध पक्षि-वृन्द कलरव करते हुए जब अपने नीड की ओर द्रुतगति से आने लगे तब उनका कोलाहल सुनकर आपकी सहसा सत्संग-समाधि भंग हुई। आपने विनीत भाव से कहा भगवन् आज आप का बहुत सा अमूल्य समय मैंने ले लिया अब मुझे जाने की आज्ञा दीजिये। मुझे आज ही रात्रि को कुटिया पहुँच जाना चाहिये कल कुछ प्रेमियों से मिलने का वचन दिया है। स्वामी जी ने कहा ठीक है आपने मुझे यहाँ कुटिया पर पधार कर स्वयमेव कृतकृत्य किया—धन्य हो स्वामिन्। अब आप सुख पूर्वक जाइये, भद्रमस्तु आप शीघ्र ही स्वामी जी को प्रणाम करके श्रीजगतप्रकाश जी के साथ सरायप्रयाग की ओर चल दिये

कुटिया से निकलते ही घनघोर वन के बीच से मार्ग प्रारम्भ हुआ।

यद्यपि पूर्णिमा की रात्रि थी। कुशल कलाधर अपनी सम्पूर्ण कलाओं से गगन मंडल में उदीयमान होकर अपनी प्रिय प्रिया का सर्वतोभावेन अनुरञ्जन कर रहे थे, किन्तु सघन-वन के अनेक वृक्षों की ओट में तमा भी साधिकार अपने प्रदेश में चन्द्रप्रभा के प्रवेश का विशेष रूप से निषेध की चुनौती सी दे रही थी। तमा के एकाधिपत्य शान्ति साम्राज्य को मंद करती हुई पवन की विपुल लहरियाँ सरसर-मरमर का शब्द करके पादप पल्लवों को आन्दोलित करती हुई मानो मयंक मयूरों का आवाहन करने लगी। पवन ने पल्लव के अञ्चल दूर किया। चन्द्रप्रभा पुनः-पुनः झुक-झुक झाँक-झाँक मार्ग के बटोहियों को देखती हुई सी मन्द-मन्द मुस्कराने लगी। विटपों ने शाखाओं को हिला-हिला कर भयङ्कर प्रभा का स्वागत किया, कोयल ने बार-बार कुहू-कुहू कहकर स्वागत का गान गाया युग-पथिकों के पाद प्रक्षेप की आहट पाकर झाड़ियों में छिपे बैठे हुए वन्य जीव इतस्ततः भागने लगे। श्री जगतप्रकाश जी के हृदय में भय का सञ्चार होने लगा। उन्होंने पूछा कि गुरुदेव! अब इस समय अखंड प्रफुल्लित कैसे रहा जा सकता है, क्षण-क्षण पर वनविभीषिका हृदय में भय का भाव भर रही है। बीच में भयानक वन्य-जन्तुओं के बार-बार मार्ग काट कर जाने से तो और भी भयङ्करता बढ़ती जा रही है। हिंसक भयानक वन्य-जीवों से कैसे अति प्रेम किया जावे? यह बात समझ में नहीं आती है। सचमुच आपके उपदेशों को सदैव आचरण में लाना अति कठिन है। भगवन् मेरा चित्त तो इस समय भय से अतीव विह्वल हो रहा है, भगवान न करे कि इस समय कोई चीता अथवा व्याघ्र निकल आवे तब क्या होगा? सारा उपदेश हृदय से हवा हो जायेगा। आपने हँसते हुए कहा—प्यारे! समय पड़ने पर ही तो धारणा की परीक्षा होती है। देह भाव से ऊपर उठ कर सर्वत्र स्वात्म भावना करने से क्रोध घृणा भय आदि का भाव ही मन में उदय नहीं होता। सर्वत्र वही अपना आत्माराम, इन नाना रूपों में खेल रहा है—इसका क्षण-क्षण पर अभ्यास करो। जो भी विभिन्न नाम रूप वाले जीव सन्मुख आवें उनमें अखिल कल्याण गुणगण निलय पूर्ण-काम स्वात्मा राम ही रम रहे हैं। वही भीतर बैठे हुए नैनों के पर्दे से झाँक रहे हैं। जब ऐसी दृढ़ धारणा हृत्पटल पर अंकित रहेगी, तब स्वभावतः सभी प्राणियों पर अति प्रेम की भावना बनी रहेगी। कल्पना करो यदि अभी व्याघ्र जैसा हिंसक जीव इस समय अपने लोगों के सन्मुख आजावे और मध्य में हमारा मार्ग रोक कर खड़ा हो जावे तब उस समय हमें क्या भयभीत होकर भाग जाना चाहिये। नहीं नहीं। वह भी हमारा आत्माराम स्वरूप ही है। हमारा अपना आप और उसकी आत्मा दोनों एक हैं। जब इस प्रेममयी भावना से एक बार उसकी ओर देखेंगे तब वह हम पर आक्रमण कदापि न करेगा। हमारी प्रेममयी संकल्प की

अपनी भूल

युवावस्था में मैं सोचा करता था कि बादलों की गरज मृत्यु का कारण होती होगी, पर बड़ा होने पर मुझे पता चला कि मृत्यु का कारण बादलों की गर्जन नहीं, बिजली है। बस, उसी दिन से मैंने गरजना कम कर दिया और चमकना शुरू कर दिया।

—एक महापुरुष

विद्युत धारा उसके नेत्रों में प्रविष्ट होकर उसकी भयानक हिंसक प्रवृत्ति को प्रेम में अवश्य ही परिवर्तित कर देगी। अब यदि तुम देखना चाहते हो तब देखो।

इतना कहते ही एक व्याघ्र घोर गर्जन करता हुआ समीप की झाड़ी से निकल कर मार्ग में दोनों के आगे बीस पग की दूरी पर आकर खड़ा हो गया। श्री जगतप्रकाश जी के तो उसे देखकर होश उड़ गये। वे उसी जगह ठहर कर भय से थर-थर काँपने लगे और सहसा उन्होंने भय से नेत्र बन्द कर लिये। गुरुदेव ने कहा, "आओ प्यारे आओ, आज तुमने व्याघ्र रूप में आकर दर्शन दिये। तुम्हारी इस भयानक छवि को देखकर मैं भयभीत कदापि नहीं हो सकता। इस भवाटवी के मध्य में सुख-दुःख भयादिक विविध भावों में भूत भावन भगवान् आप ही तो विलास कर रहे हो, धन्य हो, आपने स्वयमेव ही मेरे मध्य मार्ग में समुपस्थित होकर दर्शन दिया। तुम्हें बार-बार मेरा नमस्कार।"

आपकी इस प्रकार प्रेममयी वाणी को सुनकर वह भयानक हिंसक जीव भी बार-बार प्रेम पूर्वक आपकी ओर देखता हुआ एक ओर झाड़ियों में जाकर अदृश्य हो गया। श्री जगतप्रकाश जी ने कुछ देर बाद अपने नेत्र खोले तब उन्होंने देखा कि गुरुदेव अपना एक हाथ उनके शिर पर फेरते हुए कह रहे हैं प्यारे! यह तो तुम्हारा मित्र आत्माराम था। उससे भयभीत होने की क्या आवश्यकता? वह देखो तुम्हें भयभीत देखकर स्वयमेव तुम्हारी ओर प्रेम पूर्वक देखता हुआ वन में जाकर छिप गया। चलो उठो! हम लोग अब शीघ्र ही अपने मार्ग पर चलें ताकि अर्धरात्रि तक अपने स्थान पर पहुँच जावें। श्री जगतप्रकाश जी ने आपके चरण पकड़ लिये। कृतज्ञता पूर्ण गद्‌गद् चित्त करुणा पूर्ण कंठ से कहा नाथ! सचमुच आप प्रेम पयोधि हैं। आपने अपने दशों उपदेश अपने जीवन में परिपूर्ण रूप से चरितार्थ किये हैं। आप जैसे ब्रह्मस्वरूप गुरुदेव को पाकर मैं कृतकृत्य हो गया। मेरा जीवन सफल हुआ।

गुरुदेव ने कहा चलो हम लोग अब शीघ्र यहाँ से चलें। ऐसा कहकर आप शीघ्रता से उसी मार्ग पर चल दिये। श्री जगतप्रकाश जी भी आपकी दिव्य प्रेम शक्ति तथा अद्भुत प्रभु महिमा का पुनः पुनः मनन करते हुए पीछे-पीछे चल पड़े। सन्तों का हृदय कितना महान होता है, सचमुच वे पुहुमि पर प्रेम पीयूष वर्षा पयोद है। जो निरन्तर अपनी प्रेम मयी अजस्र प्रेम वारि धार से, जगत के नीरस जीव में प्रेमरस अप्लावित किया करते हैं। इस प्रकार मनन करते हुए अर्धरात्रि के पश्चात् आप गुरुदेव की कुटिया पर आ गये। श्री जगतप्रकाश जी के जीवन में यह घटना उनके मानस पटल पर चिरस्थायिनी बनी रही इसी के फलस्वरूप उनके अध्यापन काल में उनके छोटे-छोटे विद्यार्थी अपनी माता के पास न रहकर, दिन भर उनके पास रहने में बहुत प्रसन्न रहते थे। श्री जगतप्रकाश के निकट सम्पर्क में जो भी आया वह उनके प्रेममय व्यवहार से आकृष्ट होकर सदैव के लिये उनका बन गया। भारत के प्रायः सभी प्रसिद्ध महापुरुष उनको अपने आत्मज जैसा अत्यन्त प्रेम करते थे। उनके प्रेममय स्वभाव के ही कारण उन्होंने भारत विख्यात प्रसिद्ध तपस्वी श्रद्धेय श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी की गोद में श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे की घनघोर संकीर्तन ध्वनि के बीच, तीर्थराज की पावन पुण्य स्थली में अन्तिम सद्‌गति पाई। यह श्री गुरुदेव की कृपा का प्रत्यक्ष प्रसाद था।

(क्रमशः)

समाज सुधार पर एक दृष्टि

लेखक—

श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज
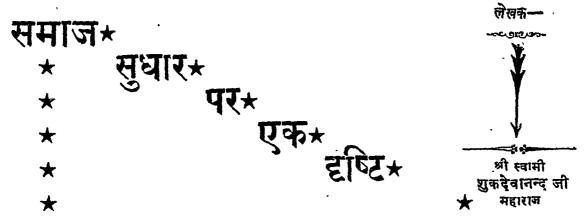
समाज मनुष्य जीवन का एक उच्चत्तम शिक्षा केन्द्र है। प्रत्येक व्यक्ति समाज के आधार पर अपने जीवन का उत्थान व पतन कर सकता है। यदि हमें किसी भी जाति के उत्थान व पतन का ज्ञान करना है तो ,हमें उसके सामाजिक इतिहास के पृष्ठों में देखना चाहिये। महात्मा गांधी जी ने अपने जीवन में रामराज्य के सुख की कल्पना की। क्या किसी ने रामराज्य को देखा है? नहीं, कदापि नहीं। फिर उसकी कल्पना कैसे की गई? इसका उत्तर यही हैं कि रामराज्य कालीन सामाजिक इतिहास को देखने से हमें उसके सुख व शान्ति का अनुभव होने लगता है। हमें यह पूर्ण निश्चय सा हो जाता है कि उस समय लोग कितने सुखी रहे होंगे। इस प्रकार हम प्राचीन इतिहास को देखकर ही उस समय के समाज के उत्थान व पतन का ज्ञान सरलता से कर लेते हैं। इतिहास की रचना का एक यह भी अभिप्राय है कि मनुष्य अपने पूर्वजों के द्वारा अपनाये हुए मार्ग से यह ज्ञान करे कि वह किन किन बातों से अपने जीवन का मार्ग प्रशस्त बना सकता है तथा किन-किन बातों के ग्रहण से वह पतनोन्मुख हो सकता है।

व्यक्ति और समाज का पारस्पिक घनिष्ट संबंध है। यदि समाज समुन्नत और शिक्षित व चरित्रवान् है तो उसमें रहने वाला एक नवीन व्यक्ति भी उसी प्रकार बनने का प्रयत्न करेगा। इसके विपरीत यदि समाज में बुरे लोगों का बहुमत है तो हो सकता है कि वह सारा समाज ही एक न एक दिन शिष्ट व शिक्षित लोगों के द्वारा निन्दनीय बन जावेगा। जब हम वर्तमान समाज पर अपनी दृष्टि डालते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि आज मानवता की किरणें प्रकाश हीन सी बन चुकी हैं। मानवता के स्थान पर दानवता ने अपना साम्राज्य कर लिया है।

लोगों ने रामराज्य के सुख की आशा की है किंतु जब हम उस प्रचीन समाज व आधुनिक समाज की तुलना करने लगते हैं तो यह समाज किसी अंश में भी उसकी बराबरी करने में नहीं टिकता। यदि आज के समाज की कमियों को लिपिबद्ध किया जावे तो बड़े-बड़े पोथे लिखे जा सकते हैं। किन्तु फिर भी यदि हमारा समाज से सम्बन्ध है तो प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह समाज की कमियों को दूर करे। और उसे सन्मार्ग का दिग्दर्शन कराये।

जब किसी भी महापुरुष की दृष्टि समाज सुधार की ओर जाती है तो उसके सामने दो ऐसी बड़ी कमियाँ आती हैं जो सामाजिक पतन का मुख्य कारण है। उनमें एक है—व्यक्तिगत स्वार्थ-परता और दूसरी है—पुरुषार्थ हीनता। व्यक्तिगत स्वार्थ की मात्रा यहाँ तक बढ़ चुकी है कि ऐसा व्यक्ति जो स्वार्थ साधन में लगा हुआ है अपने कुटुम्ब अथवा सगे सम्बन्धियों से भी इस कार्य में नहीं चूकता और

इसके साथ ही साथ दानवता का इतना विकास हो चुका है कि हमारे व्यवहार से दूसरे का अहित भले ही हो जावे अथवा दूसरे को अपने प्राणों से ही हाथ धोना क्यों न पड़े किन्तु हमारे स्वार्थ की पूर्ति अवश्य होनी चाहिये। ब्लैक मार्केट रिश्वत-खोरी और मिलावट इसका छोटा किन्तु व्यापक उदाहरण है। इससे समाज का कितना प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष अहित होता है इसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता। इन्हीं बातों से एक सबसे बड़े रोग की उत्पत्ति होती है जिसे कहते हैं मानसिक चिन्ता। मानसिक चिन्ता का सारे शरीर पर कितना प्रभाव पड़ता है इसे सीमाबद्ध करना कठिन है। हार्टफेल इस मानसिक चिन्ता की ही देन है। आज अधिकांश व्यक्ति हार्ट फेल की बीमारी के शिकार बन जाते हैं। कुछ दिन पूर्व की एक सत्य घटना है—एक सेठ ने ४२) प्रति मन के भाव से कई बोरे शकर खरीदी और जब ६२) भाव हुआ तो बेच दी। इसका मतलब हुआ कि उसे ५०% लाभ हो गया किन्तु दूसरे दिन जब उसके मुनीम ने उन्हें यह सूचना दी कि सेठ जी शकर का भाव आज ८२) हो गया है। यह सूचना सुनते ही सेठ जी का हार्टफेल हो गया। ऐसा क्यों हुआ? वास्तव में उनके व्यक्तिगत स्वार्थ और मानसिक चिन्ता ने उनके हृदय को पहिले से ही जर्जर कर दिया था जो इस आघात को सहन नहीं कर सका। अहर्निश केवल अपने स्वार्थ चिन्तन में लगे मनुष्य मानसिक घात प्रतिघातों का सामना करते-करते आन्तरिक संतुलन को स्वयं ही खो बैठता है। प्रत्येक व्यक्ति दम्भ छल कपट के द्वारा अपने को पूर्ण सच्चा बतला कर अपने स्वार्थ की पूर्ति करना चाहता है।

इसके बाद जो दूसरी कमी आती है वह है पुरुषार्थ हीनता। इसी कमी ने भारतवर्ष को अब परतन्त्र तथा पतनोन्मुख बनाये रक्खा। जब दृष्टि दूसरे देशों की ओर पड़ती है तो हमें सब से पहिली बात जो दिखाई पड़ती है वह है उनका पुरुषार्थ एवं अथक परिश्रम। अन्य देशों में पुरुषार्थ का जितना बोलबाला है भारतवर्ष में उतना ही आलस्य का साम्राज्य है। यहाँ का प्रत्येक व्यक्ति कम से कम पुरुषार्थ के द्वारा अधिक से अधिक धन प्राप्ति की चेष्टा करता है। और यदि कहीं उसे बैठे ही बैठे सारी सामग्रियों की उपलब्धि हो जाती है तो वह अपने को बड़ा सौभाग्यशाली मानता है। मैंने ऐसे लोगों को भी देखा है जो, शरीर से बिल्कुल स्वस्थ, पुष्ट एवं नवयुवक हैं किन्तु फिर भी दूसरों के सामने हाथ फैला कर भीख माँगने से नहीं लजाते, क्योंकि वे अपने शरीर के द्वारा कुछ परिश्रम करना ही नहीं चाहते। एक तो लोगों में शारीरिक शक्ति ही नहीं है किन्तु जो शरीर से कार्य कर सकते हैं उन्हें हाथ से कार्य करने में अपना अपमान मालूम देता है। पोजीशन के भय से वे कार्य में हाथ ही नहीं लगाते प्रायः ऐसे भी लोग देखे जाते हैं जो अपना छोटा सा हैन्ड बेग लेकर भी नहीं चल सकते और स्टेशन पर कुली की राह देखा करते हैं। यहाँ के नौजवान लड़कों में विलासिता ने इतना घर कर लिया है कि उन्हें स्वयं अपना काम अपने हाथ से करने में शर्म आती है और थोड़े-थोड़े परिश्रम से भी जी चुरा कर भागना चाहते हैं। इसी स्वार्थ और पुरुषार्थ हीनता से आज प्रत्येक व्यक्ति का जीवन चिन्ताओं से ग्रस्त है। यूं तो शरीर व्याधि मन्दिर ही होता है किन्तु चिन्तित पुरुष तो स्वयं ही अनेक रोगों का आवाहन करता है। कहावत है कि चिता तो मरने के बाद मनुष्य को जलाती है, किन्तु चिन्ता जीवित मनुष्य को ही जलाती रहती है। यदि मनुष्य के अन्दर चिन्तायें नहीं हैं किन्तु शरीर से निर्बल है तो उसे अधिक कष्ट प्रतीत नहीं होगा। किन्तु यदि किसी व्यक्ति का शरीर पुष्ट है लेकिन उसे मानसिक चिन्तायें घेरे हुए हैं, तो उसे रात में सुख की नींद नहीं आ सकती। उसे भोजन का स्वाद भी पूरा-पूरा नहीं आ सकता। यह मानसिक चिन्ताओं का प्रभाव है।

अब सब से बड़ी समस्या है समाजसुधार की। समाज का प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति पर अलग-अलग पड़ता है। समाज सुधार के आज अनेक उपाय हो रहे हैं, किन्तु सुधार की आशा पूरी होती नहीं दीखती। इसका एक विशेष कारण है, वह यह कि मनुष्य के अन्दर प्रत्येक वस्तु को ग्रहण करने की दो शक्तियाँ हैं। वे हैं मस्तिष्क और हृदय। इन दोनों में भी हृदय शक्ति का विशेष स्थान है। जब तक मनुष्य का हृदय किसी वस्तु को ग्रहण करने की गवाही नहीं देता तब तक वह उसे ग्रहण नहीं करता। यद्यपि बहुत से लोग तर्क करके किसी बात को ग्रहण करते हैं। किन्तु यह बात भी हृदय पर आधारित है। तर्क के पश्चात् उनका हृदय उस वस्तु को ग्रहण करने के लिये बाध्य हो जाता है। साधारण सी बात है, आज मादक वस्तुओं के परित्याग के लिये सरकार की ओर से कितने नये-नये कानून बनते हैं। किन्तु क्या वहाँ मादक वस्तुओं का प्रयोग बन्द हो गया? यदि कानपुर में शराब-बन्दी का कानून जारी हो जाता है तो लोग लखनऊ में जाकर शराब पीने के शौक को पूरा करते हैं। इन सब का कारण यही है कि कानून ने आज तक किसी के हृदय को बदल नहीं पाया। जिस दिन उनके हृदय में यह विश्वास हो जायगा कि मादक वस्तु का सेवन बुरा है, उसी दिन से वे उनका उपयोग करना त्याग देंगे। इसकी कई एक घटनायें मेरे सामने की हैं—उनमें दो एक प्रमुख घटनायें हैं।

एक बार देहली में ग्वालियर नरेश के एक कर्मचारी देहली के सत्संग में सम्मिलित हुए। इस सेवक के द्वारा उस समय मादक वस्तुओं के परित्याग का ही विषय चल रहा था। वे सज्जन एक पाव भाँग का दैनिक-सेवन बड़े चाव से करते थे। उन्होंने भाषण-समाप्ति के बाद मेरे पास आकर कहा कि स्वामी जी मैं दैनिक पाव भर भाँग का सेवन करता हूँ। आज आप के भाषण से मैं प्रभावित हुआ, इस कारण मैं आज से भाँग का परित्याग करता हूँ। मैंने उनकी बात को हँसी समझा। भला कहीं कोई पाव भर भाँग खा सकता है? और खाता भी हो तो एक दिन में छोड़ सकता है? किन्तु वास्तव में ऐसा ही था। उस दिन से उन्होंने भाँग का सेवन न करने की प्रतिज्ञा की। इस प्रतिज्ञा का कारण यही था कि उनके हृदय में यह बात बैठ गई कि मादक वस्तुओं का सेवन बुरा और हानिकारक है। इतना सब कहने का आशय यही है कि जब तक मनुष्य के हृदय का सुधार नहीं होता तब तक वास्तविक उन्नति दुर्लभ है। आज धनी, निर्धन, गरीब,-अमीर मिल-मालिक, मजदूर, नेता और जनता सभी के हृदयों में अशान्ति का साम्राज्य छाया हुआ है। एक पक्ष दूसरे पक्ष की कटु आलोचना करने में अपने कर्त्तव्य को अधिकांश में पूरा हुआ मानता है। इस प्रकार अशान्ति के बीज बोकर वे शान्ति की नींद नहीं सो सकते। इन सब बातों को दूर करने के लिये एक मात्र हृदय का सुधार ही परमावश्यक है।

महात्मा गांधी जी ने एक सज्जन के प्रश्नोत्तर में कहा था कि जिस प्रकार एक दूसरा व्यक्ति बिना भोजन किये जीवित नहीं रह सकता; उसी प्रकार बिना ईश्वर की प्रार्थना व सत्संग के मैं जीवित नहीं रह सकता। उनका कहना था कि जिस प्रकार अन्न शरीर का भोजन है उसी प्रकार प्रार्थना व सत्संग हृदय और बुद्धि का भोजन है। महात्मा गाँधी की दैनिक प्रार्थना और प्रातः काल उनका प्राइवेट सत्संग नित्य होता था।

मानव जीवन के सुधार के लिये सत्संग एक अनुभूत साधन है। जिस प्रकार जल भोजन व वायु से शरीर की रक्षा होती है; उसी प्रकार बुद्धि को प्रबल व हृदय को पुष्ट बनाने के लिये सत्संग, प्रार्थना व स्वाध्याय की परमावश्यकता है। सत्संग ही एक ऐसा सुगम साधन है जिसके द्वारा

मनुष्य के हृदय का पूर्ण परिवर्तन हो सकता है। सत्संग से ही ऋषि वाल्मीकि की दानवता मानवता में बदल गयी। सत्संग से उनके हृदय में उस दानवता के प्रति घोर घृणा उत्पन्न हो गई। उन्होंने उसे त्याग दिया।

अधिकांश जन सत्संग का अर्थ भ्रम से प्रायः यह लगा लेते हैं कि जहाँ माला फेरने का उपदेश होता हो, जहाँ भक्ति की गंगा बह रही हो, वहीं सत्संग है। सत्संग का यह सीमित अर्थ है। वास्तव में सत्संग वह संग है जहाँ महापुरुषों व सन्तों के द्वारा हमें अपनी धर्म-नीति, समाज-नीति व अपने कर्त्तव्य का ज्ञान हो। इससे हमें उस सन्मार्ग का ज्ञान होता है। जिस पर चलकर हम सुख और शान्ति की प्राप्ति कर सकते हैं, और दूसरों को भी सुख प्राप्ति में सहायता दे सकते हैं। इसके द्वारा मनुष्य को अपना जीवन उन्नत बनाने की प्रेरणा मिलती है। उसके अन्दर स्वार्थपरता के स्थान पर परोपकार की भावना जाग्रत हो जाती है। सारांश यह है कि यदि हमें अपना और अपने समाज का सुधार करना है तो इसके लिये सर्वप्रथम हृदय सुधार की परमावश्यकता है और हृदय का सुधार सत्संग के द्वारा ही हो सकता है।

चेतावनी

चलत का टेढ़ टेढ़े टेढ़े।
दसों द्वार नरक में बूड़े दुरगंधों के बेढ़े।
फूटे नैन हृदय नहिं सूझे, मति एकौ नहिं जानी।
काम क्रोध तृष्णा के मारे, बूड़ि मुए बिनु पानी ॥१॥
जारे देह भसम ह्वै जाई, गाड़े माटी खाई।
सूकर स्वान काग के भोजन, तन की यहै बड़ाई ॥२॥
चेति न देखु मुगुध नर बौरे, तोते काल न दूरी।
कोटिन जतन करै बहुतेरे, तन की अवस्था धूरी ॥३॥
बालू के घरवा में बैठे, चेतत नाहिं अयाना।
कह कबीर एक राम भजे बिन, बूड़े बहुत सयाना ॥४॥

—सन्त कबीर
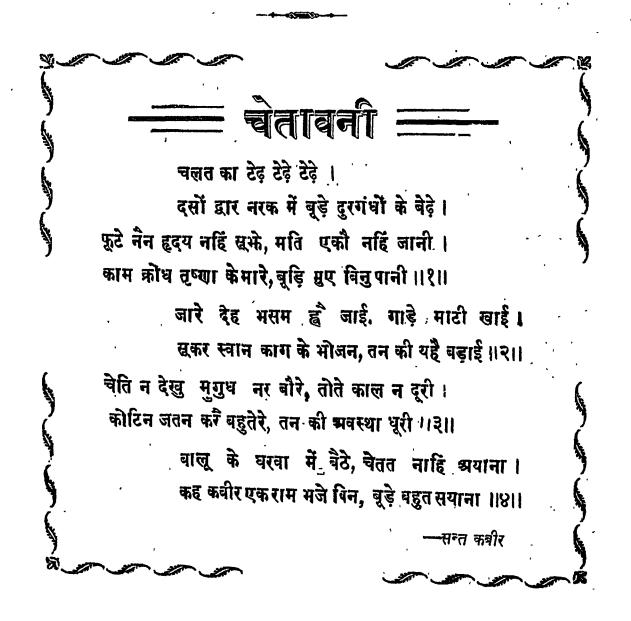
चरित्र की बलिवेदी पर

नंगे पैर चीथड़े लपेटे हुए लड़के ने आगे बढ़कर एक राह चलते सज्जन से कहा—'महाशय, दो-चार डिबिया दियासलाई खरीद लीजिये !"

उन्होंने कहा—"नहीं भाई, मुझे दियासलाई नहीं चाहिये।"

"ले लीजिये, एक ही पैसा तो दाम है।" कहकर लड़का उनके मुँह की ओर देखने लगा, फिर भी उन्होंने कहा—"मुझे इनकी जरूरत नहीं है।"

"अच्छा, एक पैसे की दो डिबियाँ ले लीजिये।"

किसी तरह लड़के से पिंड छुड़ाने के लिये उस भले आदमी ने एक डिबियाँ ले ली; पर जब देखा कि पास में पैसा नहीं है तो डिबिया वापस कर दी और कहा "मैं कल खरीद लूंगा" लड़के ने फिर नम्रता से कहा—"आज ही लीजिये, मैं पैसे भुना-कर ला दूंगा।"

बालक की बात सुनकर उन्होंने उसे एक रुपया दे दिया। थोड़ी देर तक वे खड़े रहे, पर लड़का न लौटा। उन्होंने सोचा कि शायद अब बाकी पैसे न मिलेंगे और कुछ देर राह देखकर अपने घर चले गये।

शाम को नौकर ने आकर खबर दी की एक लड़का आप से मिलना चाहता है। उत्सुकता से उन्होंने उसे अन्दर बुलाया। देखते ही समझ गये कि शायद यह उस लड़के का भाई है। यह उसकी अपेक्षा और भी अधिक चिथड़ों से लिपटा हुआ था। उसके शरीर में हड्डियाँ ही दीख पड़ती थी; पर चेहरे पर एक प्रकार की चमक थी। थोड़ी देर चुप रहने के बाद उसने कहा—"क्या आप ने ही मेरे भाई से दियासलाई की एक डिबिया खरीदी थी ?"

"हाँ"

'लीजिये ये बाकी पैसे। वह खुद नहीं आसका, उसकी तबीयत ठीक नहीं। एक गाड़ी से टकरा गया और गाड़ी उसके ऊपर से निकल गई। उसकी टोपी डिबिया और आप के बाकी पैसे न मालूम कहाँ गये और उसकी दोनों टाँगें टूट गईं। वह अच्छा नहीं है। डाक्टर कहते हैं कि बचेगा नहीं। उसने किसी तरह ये पैसे भेजे हैं।" कह कर बालक रोने लगा। उस भद्र पुरुष का हृदय पिघल गया। वे उसे देखने गये।

जाकर देखते क्या हैं कि वह अनाथ बालक एक बूढ़े शराबी के घर में रहता है। लड़का फूस पर लेटा हुआ था। इन्हें देखते ही वह पहचान गया और लेटे-लेटे बोला—'मैंने पैसे भुना तो लिये थे; और लौटकर आ ही रहा था कि घोड़े से टकराकर गिर पड़ा और मेरी दोनों टांगे टूट गईं।" इतना कहकर बालक दर्द से कराहते हुए अपने छोटे भाई से बोला—"प्यारे भैया, मेरी तो मौत आ रही है, पर तुम्हारी देख-भाल कौन करेगा ? मेरे न रहने पर हाय तुम क्या करोगे !" यह कहते हुये उसने उसे गले से लगा लिया। उसकी आँखों से आँसू बह रहे थे।

उक्त सज्जन ने दुःखी बालक के हाथ को अपने हाथ में लेकर कहा—"बेटा, तुम चिन्ता मत करो। मैं तुम्हारे भाई की रक्षा करूंगा।"

बालक समझ गया। उसकी शक्ति क्षीण हो रही थी, फिर भी बची खुची शक्ति के बल पर उसने उनकी ओर देखा। आँखों से धन्यवाद और कृत-ज्ञता के भाव साथ-साथ निकल रहे थे। हृदय कुछ कहना चाहता था पर शब्द मुँह से नहीं निकलते थे। उसी समय उसकी आँखें बन्द हो गईं और इस क्षणभंगुर शरीर को त्यागकर उसकी आत्मा जगत् पिता की गोद में जा पहुँची।

भगवान ने उस छोटे से घायल और मरते हुए लड़के को बहुत बड़े सिद्धान्त सिखाये थे। बड़े-बड़े धनियों की अपेक्षा वह ईमानदारी, सचाई, महानता सहृदयता के मूल्य को कहीं अधिक समझता था। ये ही सद्गुण मनुष्य को देवता बना देते हैं। इन्हीं की बदौलत मनुष्य इस लोक तथा परलोक में पूजे जाते हैं।

—स्वेट मार्डेन के Pushing to the front से उद्धृत

बुद्धि का सदुपयोग कीजिये

मनुष्य के जीवन का आधार अन्न है, इसलिये अन्न एक आवश्यक वस्तु है। किन्तु अन्न से भी अधिक आवश्यकता जल की होती है। अन्न के अभाव में तो शरीर बहुत दिनों तक चल सकता है किन्तु जल के बिना अधिक समय तक जीवन की रक्षा होनी कठिन है। अब इसके आगे विचार करें तो आप इस निश्चय पर पहुँचेंगे कि अन्न और जल से भी अत्यधिक महत्व की वस्तु वायु है क्योंकि वायु के बिना तो हम एक मिनट भी जीवित नहीं रह सकते। वायु के अभाव में तो इस स्थूल शरीर की इति श्री होने में अधिक विलम्ब नहीं लग सकता। अर्थात जीवन की रक्षा के निमित्त वायु का महत्त्व सर्वाधिक है। मानव शरीर के पोषण और जीवनी शक्ति का संचय करने के लिये अपने-अपने अनुपात से इन सभी की आवश्यकता है!

श्री स्वामी महाराज

भजनानन्द जी

अब इसके भी आगे सूक्ष्म दृष्टि से देखिये तो आपको विदित होगा कि स्थूल शरीर की रक्षा तो इन तत्त्वों से हुई किन्तु अन्त: शरीर की रक्षा के निमित्त इन सब की अपेक्षा बुद्धि के विकास की आवश्यकता अधिक प्रतीत होती है। क्योंकि यदि बुद्धि का विकास इस मानव योनि में नहीं हो पाया तो फिर जीव की अधोगति अवश्यम्भावी है। किन्तु बुद्धि का विकास भौतिक जगत के निमित्त न होकर यदि आध्यात्मिक उन्नति के लिये होता है तभी यह मानव-जीवन सार्थक बनता है, अन्यथा मनुष्य और मनुष्येतर योनियों में अन्तर ही क्या? क्योंकि भौतिक उन्नति से तो केवल इन्द्रियों और मन की तृप्ति के ही साधन मिलते हैं और इन में आसक्त हो जाने पर यह विषयासक्त मन निश्चय ही जीव को अधोगति के गहन गर्त्त में ले जाकर पटक देगा।

जिन तत्त्वदर्शी संत महापुरुषों ने, एकान्त साधन की गहन अनुभूति द्वारा, अपने विचारों को जन-हितार्थ प्रकट किया है उन सभी से स्पष्टत: यही प्रकट होता है कि मनुष्य जीवन की प्राप्ति का उद्देश्य आध्यात्मिक उन्नति में ही सन्निहित है। ऐसी उन्नति के मार्ग पर चलने का अधिकार उसी को प्राप्त हो सकता है जिसकी बुद्धि शुद्ध सतोगुणी हो। अतएव इस स्थिति को प्राप्त करने के निमित्त ही हमारे संत और शास्त्रों के अनेक प्रकार के साधन बातये हैं जिन पर अपनी-अपनी रुचि के अनुसार चलकर मनुष्य अपने इस जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है!

केवल आध्यात्मिक उन्नति ही नहीं वरन सांसारिक उन्नति के लिये भी बुद्धि के विकास की आवश्यकता है। आप किसी ओर भी दृष्टि उठाकर देखें तो आपको स्पष्ट रूप से यही विदित होगा कि बुद्धि के अभाव में मनुष्य अपने को मनुष्य कहने का एक प्रकार से अधिकारी ही नहीं हैं। बुद्धिहीन मनुष्य तो जड़ता की ओर तीव्रगति से अग्रसर होता हुआ अपने भावी जीवन को स्वयं ही दु:खमय बना रहा है। ईश्वर का अविनाशी अंश 'जीव' नित्य शुद्ध-बुद्ध और सुखस्वरूप ही है किन्तु अज्ञान अर्थात बुद्धिहीनता के मोटे आवरण से ढका होने के कारण अब दु:ख-स्वरूप बन गया। जिस मानव योनि की सराहना करते हुए देवता थकते नहीं उसे आज सर्वत्र अपने चारों ओर दु:खों का अथाह सागर लहराता हुआ दिखाई देता है। ऐसा क्यों? इस बात का

गहराई तक सोचने से पता चलता है कि जगतपिता ने मनुष्य योनि को सर्वोत्तम बनाया और स्वयं श्रीमुख से उसकी प्रशंसा भी की, इसीलिये इस योनि में जीव को प्रभु ने 'बुद्धि' तत्त्व प्रदान किया। जिसको विकसित कर उसके सदुपयोग से वह अनन्त शक्ति का आगार बन सकता है। किन्तु यदि वह इस ईश्वर प्रदत्त शक्ति का दुरुपयोग करेगा तो निश्चय ही एक दिन यह दिव्य-शक्ति उससे छीन ली जायगी और तब वह हाथ मल-मलकर पछताने के सिवा और कुछ भी नहीं कर सकेगा।

फिर पछताये होत क्या, जब चिड़िया चुग गई खेत।

बुद्धि के दुरुपयोग और सदुपयोग के अनेकानेक उदाहरणों से अपना इतिहास भरा पड़ा है। जिन्होंने बुद्धि का सदुपयोग किया वे सतोगुणी अर्थात् दैवी-सम्पदा वाले कहलाये और जिन्होंने उसका दुरुपयोग किया वे आसुरी सम्पदा वाले कहे गये। इस प्रकार दोनों की मीमांसा करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने प्रिय सखा अर्जुन को सभी प्रकार के साधन समझाकर अन्त में कहा—

"दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता"

अर्थात् दैवी सम्पदा तो मुक्ति प्रदात्री है और आसुरी संपदा जन्म-मरण के असीम चक्र में डालने वाली है अतएव दैवी सम्पत्ति वाला अपना स्वभाव बने ऐसा प्रयत्न मनुष्य को अहर्निश करना चाहिए।

दैवी सम्पदा वाले पुरुषों ने सदैव अपने सामने आने वाली प्रतिकूलताओं को भी अनुकूलता में परिवर्तित कर दिया। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् को को जब वन गमन की आज्ञा हुई तो उन्होंने उसे अभिशाप न मानकर वरदान माना, उन्होंने बिलखती हुई माता को सान्त्वना देते हुए कहा:—

पिता दीन्ह मोहिं कानन राजू।
जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू॥

वे हँसते हुए वन को चले और उनकी आँखों में आँसू की एक बूँद नहीं निकली किन्तु परिवार और प्रजाका जो हाल हुआ उसे तो सभी मानस प्रेमी जानते ही हैं। यह सब दैवी सम्पदा के चमत्कार की बात थी। मर्यादा पुरुषोत्तम ने अपनी लीलाओं से संसार को शिक्षा दी कि अपनी बुद्धि का परिमार्जन करके तुम इस दुःखालय को भी सुखालय बना सकते हो। तुम पर यदि घोर संकट आजायेंगे तो भी तुम उन्हें हँसते हुए सहन करने की शक्ति प्राप्त कर लोगे। तुम स्वयं उन संकटों से चारों ओर से घिरे रह कर भी भीतर से प्रसन्न हो रहोगे। अर्थात् पूर्व जन्मार्जित प्रारब्धानुसार संकट और दुख आवेंगे ही किन्तु तुम्हें लगेंगे नहीं क्योंकि बुद्धि के परिमार्जन से तुम्हारा हृदय बलिष्ठ बन जायगा और तब तुम उस प्रतिकूलता का भी सदुपयोग करने में समर्थ हो जाओगे।

अभी कुछ वर्षों पूर्व की ही एक घटना है जब स्वतन्त्र सेना के अमर सेनानी शहीद भगतसिंह को फाँसी लगी तो भारत की जनता क्षुब्ध हो उठी। जगह-जगह पर प्रदर्शन हुए। महात्मा गाँधी उस समय बम्बई में थे। अपनी प्रतिशोध—भावना को व्यक्त करने के लिये क्रोधांध जनता ने महात्मा जी के निवास स्थान पर जाकर काले झंडे दिखाये। एक मूढ़ युवक ने उनके गले में जूतों का हार पहना दिया। अहर्निश बुद्धि का सदुपयोग करने वाले स्थित-प्रज्ञ गाँधी जी ने इस लोमहर्षक प्रतिकूलता को जितने सुन्दर रूप से सहन कर लिया उसे समझ कर एक अद्भुत प्रेरणा मिलती है और बरबस ही उस महामानव की प्रशंसा में धन्य-धन्य की हार्दिक ध्वनि स्वयं निकल जाती है। विश्ववन्द्य महात्मा जी को जब जूतों का हार पहनाया गया, तो उन्होंने हंस कर उन प्रदर्शनकारियों से कहा—भाइयो! आपने मेरा सत्कार काले झण्डों और जूतों से किया, यह ठीक ही किया। क्योंकि आपके न्याय से मैं अपराधी सिद्ध होता हूँ अतएव जनता-जनार्दन की इस इच्छा

के सामने मुझे नत-मस्तक होना ही चाहिये। यह तो आप की उदारता ही है कि मेरा अधिक अपराध होने पर भी आपने इस साधारण दण्ड द्वारा ही उसका निवारण कर दिया। इतना सुनते ही उस क्रोधांध जनता के हृदय का एक क्षण में परिवर्तन हो गया, विरोधी भी उनका समर्थन करने लगे।

तात्पर्य यह कि इस प्रकार के असंख्य उदाहरणों से यही सिद्ध होता है कि बुद्धि के सदुपयोग से ही हमारा यह मानव जीवन सार्थक बन सकता है। अतएव संतों और शास्त्रों की सम्मति से हमें अपनी बुद्धि के सदुपयोग की कला सीखनी चाहिये अन्यथा अन्त में पश्चात्ताप के अतिरिक्त और कुछ हाथ लगेगा नहीं, फिर—

मन पछितैहै अवसर बीते ।

प्रेम युक्त कर्म

(श्री केवल कृष्ण जी)

प्रेमयुक्त कर्म ही संसार और अपने लिये अनन्त सुख का कारण है। प्रेम ही सत्य है, जो सत्य है वही अमर है तथा जो अमर है वही महान् और वही अनन्त है।

आज का संसार राग का पुजारी होने के कारण उसी में खो गया है। उस खोई हुई अवस्था में वह पुकार-पुकार कर राग को ही प्रेम सिद्ध कर रहा है। प्रेम को छोड़कर राग को अपनाने वाला यह युग अत्यन्त दुःखी होने पर भी उसे नहीं छोड़ रहा। कारण ? कारण तो वही कुत्ते के मुँह में हड्डी वाला है। जैसे कुत्ता अपने ही मुख से निकले हुए रुधिर का रस लेकर समझता है कि यह आनन्द मुझे हड्डी दे रही है और उसे नहीं छोड़ता वैसा ही आज के रागग्रस्त संसार का हाल है।

हम लोग कर्म करते समय कहते हैं कि कौन देखता है। यह तो ऐसी ही बात है मानो सारा ब्रह्माण्ड तो अन्धा है और केवल हम ही हैं आँखों वाले। भैया ! ऐसी बात नहीं है। शायद तुम नहीं जानते कि और तो क्या, ये कर्म ही जिन्हें तुम जड़ और निष्प्राण समझते हो, तुम्हारे मानसिक भावों के महान् वक्ता—विशाल पोस्टर हैं, जो तुम्हारे विषय में संसार को सुना देते हैं कि तुम ऐसे हो, तुम ऐसे हो। जो अच्छे कर्म हैं वे प्रसन्नता, प्रफुल्लता और गौरव से ऊँचा मस्तक किये अपने कर्ता का यश गाते हैं तथा बुरे कर्म अपने कर्ता को बुरा

अनमोल सीख

हमारी सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि हम हमेशा एक ऐसे बहुत अच्छे अवसर की फिराक में रहते हैं जिसके द्वारा हम क्षण भर में महान हो जाँय। जुए के दाव के समान हम बिना कोशिश के ही विजय और धन-दौलत प्राप्त करना चाहते हैं। हम बिना काम किये उस काम में पारंगत कहलाना चाहते हैं, अध्ययन से दूर रहने पर भी ज्ञानावन कहलाना चाहते हैं, उधार के धन पर श्रीमन्त बनना चाहते हैं। कैसा कपट पूर्ण व्यापार है ! इस प्रकार की धोखे की टट्टी कब तक टिक सकेगी ? इस प्रकार जीवन का क्यों सत्यानाश करते हो ?

सारा दिन आप आलस्य में क्यों बिताते हो ? हाथ-पैर हिलाइये, काम कीजिये और ज्ञान की बढ़ती हुई सम्पत्ति में और वृद्धि करके अपने को कृतार्थ कीजिये। मनुष्य बनिये।

अवसर की बाट मत देखो,
स्वयं ही खोजो-पहचानो।

—एक महापुरुष

भला कहते हुए संसार को यह बता देते हैं कि हमारी दुष्टता, निर्बलता और नीरसता का कारण एकमात्र हमारा कर्म है, जो संसार के, अपने और हमारे लिये अत्यन्त हानिकारक है।

क्रिया व्यक्ति के हृदय अर्थात् भावों का ही आकार रूप होती है। क्रिया ही व्यक्ति के विषय में बतलाती है कि वह कैसा है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को कर्म करते समय यह सोच लेना चाहिये कि हम अपने-आपको संसार से तो छिपा सकते हैं परन्तु अपने कर्मों से नहीं छिपा सकते। इसलिये अपनी भलाई, क्रिया शुद्धि और संसार की उन्नति के लिये एकमात्र प्रेमयुक्त कर्म ही सबके लिये परम आवश्यक सिद्ध होता है।

स्वस्थ मन का निर्माण कैसे हो ?

(डाक्टर बुद्धिप्रकाश जी प्राकृतिक चिकित्सक)

जिस प्रकार बड़ा ही सुन्दर मकान हो, परन्तु रहने वाला हो पागल तो उसकी सुन्दरता घट जाती है; उसी प्रकार यदि हम शरीर से किंचित हृष्ट-पुष्ट हैं पर यदि हमने स्वस्थ मन का निर्माण नहीं किया है, तो न तो हम अपने लिये ही उपयोगी सिद्ध होंगे और न विश्व के ही काम आ सकते हैं। प्रायः यह देखने में आया है कि ऐसे महापुरुष जिन्होंने अपने मन का ठीक ठीक निर्माण कर लिया था, शरीर से दुर्बल प्रतीत होते हुए भी उनके जीवन की उपयोगिता संसार के हित में कहीं अधिक थी और है।

एक बार इंगलैंड में प्रश्न उठा जब कि एक नौका में सर्व श्री चर्चिल, चेम्बरलेन, और महात्मा गाँधी बैठे थे। नौका जब नदी के बीच धार में पड़ी थी एक भयङ्कर तूफान आगया। तीनों नेताओं में से केवल एक ही के जीवन की रक्षा की जा सकती थी। अतएव परस्पर में विचार हुआ कि सर्व प्रथम किन महानुभाव के जीवन की रक्षा संसार के हित में अनिवार्य है। वाद-विवाद के पश्चात् यह निर्णय हुआ कि महात्मा गाँधी के जीवन की रक्षा ही सर्व प्रथम होनी चाहिये। भगवान् की कृपा से सब बच गये।

"बापू के कारावास की कहानी" नामक ग्रंथ में जहाँ बहुतों के स्वास्थ्य का उल्लेख किया गया है वहाँ श्रीमती डाक्टर सुशीला नैयर ने बापू को तन और मन दोनों से स्वस्थ बताया है।

अब प्रश्न यह उठता है कि गाँधी जी को जिनके शरीर में उनके मुट्ठी भर हाड़ था क्यों स्वस्थ माना गया? मेरी समझ में इसका कारण यह है कि गाँधी जी में मनोबल इतना था कि मन में किसी कार्य के करने में आगे पीछे का चिंतन नहीं होता था। हमेशा वर्तमान का सदुपयोग करते थे। उनके मन में जो संकल्प उठता था उसके विपरीत क्रिया नहीं होती थी। छोटे से छोटे एवं बड़े से बड़े कार्य में वे सामान्य रूप से अपने आपको पूरा लगा देते थे। उपरोक्त वाक्यों से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि स्वस्थ मन का होना मोटे ताजे शरीर से कहीं अधिक महत्त्व की वस्तु है।

अब जानना यह है कि मन का ठीक-ठीक निर्माण कैसे हो ? मन के स्वस्थ रहने की साधना यह है कि मन काम में रहे अथवा राम में रहे; कारण कि खाली मन शैतान का घर है।

'Empty mind is the devil's workshop'

किसी सन्त ने एक बार एक बड़े विश्व विख्यात

नेता से पूछा कि "आप के मन में भोग वासना का उदय होता है कि नहीं? नेता ने उत्तर दिया' महात्मा जी! हमारे ऊपर इतने अधिक कार्यभार का उत्तरदायित्व रहता है कि इस सम्बन्ध में सोचने की फुर्सत ही नहीं मिलती। पाठक जरा ध्यान देंगे कि जिस मन को विषय विमुक्त करने के लिये कठोर साधनायें करनी पड़ती हैं, एक नेता अपने आप को पूरा व्यस्त रख-कर सहज ही में विषय-विमुक्त हो जाता है।

दूसरी बात यह है कि क्रिया शक्ति के रहते हुए यदि हम अपने आप को क्रियाशील नहीं बनायेंगे तो धीरे-धीरे प्रत्येक इन्द्रिय शिथिल पड़ती जायगी, परिणाम यह होगा कि जो अंग शिथिल पड़ जायगा उसके लिये हमें दूसरों की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। जिससे हम एक प्रकार से परतन्त्र बन जायेंगे। सुन्दर मानव वही है जिसने अपना निर्माण ऐसा कर लिया है कि संसार को आवश्यकता उसको नहीं प्रतीत होती बल्कि बेचारा संसार ऐसे मानव की प्रतीक्षा करता है। इसका कारण यह है कि यदि हम संसार के मन की बात यथाशक्ति धर्मानुसार पूरा करने में समर्थ होंगे तो संसार हमसे बँध जायगा। इसके विपरित यदि हम संसार से अपने मन की बात पूरी करवायेंगे तो हम संसार से बँध जायेंगे।

यह तो हुई 'काम' की बात। अब इसके बाद प्रश्न यह उठता है कि 'काम' के बाद 'राम' कैसे आये इसकी साधना यह है कि जब तक हम प्रत्येक कार्य साधन बुद्धि से नहीं करेंगे तब तक यह संभव नहीं। यानी प्रत्येक काम राम के नाते हों। काम राम के नाते होने के लिये हमारी प्रत्येक क्रिया भाव में विलीन हो, भाव लक्ष्य में विलीन होना चाहिये। इस तरह क्रिया भाव एवं लक्ष्य में एकता होने से राम का ध्यान करना नहीं पड़ेगा बल्कि स्वतः ध्यान होने लगेगा। काम के बाद राम के संबंध में मुझसे कुछ मित्रों ने कहा कि काम के बाद राम का ही ान क्यों करें? जितनी देर राम का ध्यान करेंगे उतनी देर सांसारिक बात सोचें तो क्या इससे अधिक उपयोगी नहीं होगी। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि चिंतन सर्वदा उसका करना चाहिये जिससे देश-काल की दूरी न हो जो उत्पत्ति विनाश रहित न हो जिसमें जड़ता का दोष न हो।

संसार की ऐसी कोई भोग्य सामग्री नहीं जिसे हम चिंतन से प्राप्त कर सकते हैं। सांसारिक भोगों के लिये कर्म अपेक्षित है। चिंतन से केवल प्रभु की प्राप्ति हो सकती है क्योंकि वे ही सर्वकाल में समान रूप से विद्यमान हैं। आज तो प्रायः यह देखने में आता है कि संसारिक भोगों की उपलब्धि के लिये स्मरण, चिंतन, ध्यान होता है और भगवान् के लिये बड़े-बड़े कर्म काण्ड किये जाते है।

स्वस्थ मन के निर्माण की दूसरी साधना यह है कि वही संकल्प मन में उत्पन्न हो जो आचरण में आ जाय परन्तु यह तभी संभव होगा जब कि हमारे जीवन में निज ज्ञान का आदर हो। साधारण प्राणी में और महापुरुष में यही अन्तर होता है कि साधा-रण व्यक्ति के मन वाणी एवं क्रिया में एकता नहीं होती जब कि महापुरुष जो जानते हैं वही मानते हैं जो मानते हैं उसीके अनुरुप ही क्रिया होती है। मन वाणी एवं कर्म में एकता स्थापित करने के लिये दृढ़ निश्चय भी होना परमावश्यक है। यदि किसी के कार्य करने में मन को सुख प्रतीत हो, परन्तु बुद्धि यह आदेश दे कि इसमें अपना हित नहीं बुद्धि जन्य ज्ञान से दृढ़ता पूर्वक मन की इस निर्बलता पर विजय प्राप्त करना चाहिये। यह स्मरण रहे कि जो व्यक्ति यह सोचता है कि आज मन को सुखी करलूं कल मन को पुनः वश में करलूंगा वह मनपर कभी भी विजय नहीं प्राप्त कर सकता। अपने जीवन के वर्षों निरी-क्षण के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि मन की आवाज पर एक बार भी जिस कार्य को कर लिया उससे अपने आप को हटाने के लिये बड़ी कठोर साधना करनी पड़ी। इसके विपरीत कठिन से

कठिन साधनाओं में जिसमें पहले पहल दृढ़ता पूर्वक प्रवृत हो गया वह जीवन का अंग बन गया।

चौथी और अंतिम साधना जो कि मन के निर्माण करने में मुझे अब भी सहायता देती है वह इस प्रकार है। यह एक संत का वाक्य था:—

जिस साधक में धैर्य साहिष्णुता नम्रता यह दैवी बल है।
उठता ही साधन के द्वारा यह अथः पवित्र जीवन है॥

भूले-साधकों से

(साधु वेष में एक पथिक)

जो व्यक्ति किसी मन्दिर में प्रतिष्ठित भगवान् की मूर्ति के आगे तन, मन, धन समर्पण करते हुए घण्टों पाठ, पूजा, जपादि करते रहते हैं, वे इतने से ही सच्चे भक्त नहीं कहे जा सकते और न उनकी शरणागति ही पूर्ण होती है, जब तक कि पूर्णरूप से वासनारहित, निष्काम होकर अपने आराध्य की ही इच्छा पर परम सन्तुष्ट न रहने लगें। प्रायः अधिकतर इस प्रकार के पूजा-पाठ करने वाले व्यक्ति लौकिक या पारलौकिक सुखों की प्राप्ति के लोभवश या अन्य किसी महत्वाकांक्षा को लेकर, या किसी प्रकार के संकट-निवारणार्थ ही समर्थ भगवान की शरण लेते हैं। इसीलिये वे अपने स्वार्थ के भक्त होते हैं, भगवान् के नहीं। ऐसे भक्त जो कि मन्दिर, मसजिद या गिरजाघर में होने वाली घन्टा शंख आदि की ध्वनि सुनकर तो दौड़ पड़ते हैं, लेकिन किसी रोते, बिलखते, आहें भरते हुए दीन दुखी की करुण ध्वनि पर ध्यान नहीं देते, देखते सुनते हुए भी जो कठोर हृदय होकर बैठे रहते हैं, इनसे वे दयालु हृदयवान पुरुष भगवान के कृपापात्र होने के लिये बहुत आगे बढ़े हुए हैं, जो मन्दिर मस्जिद या गिरजाघर के संकेतों को सुनकर भले ही अनसुने से बैठे रहते हों अर्थात् वहाँ न जाते हों, परन्तु किसी दीन-दुखी, असहाय की क्रन्दन-ध्वनि सुनकर उसकी ओर दौड़ जाते हैं और सहानुभूति पूर्वक उनकी यथोचित सेवा-सहायता रूप पूजा के लिये तत्पर रहते हैं। वस्तुतः ऐसे लोग प्रकृतिमय परमात्मा की सचेतन मूर्ति के पक्के पुजारी हैं और वे ही वास्तविक कृपा पात्र भी हैं।

मन्दिर में जो मूर्ति के पुजारी हैं उनमें से कोई-कोई तो अपने स्वार्थपूर्ण भावों एवं कर्मों द्वारा भगवान की आस्तिकता का ही खण्डन करते हुए मिलते हैं, परन्तु दूसरे प्रकार के जो दीन, दुखियों, असहायों के पुजारी हैं, वह किसी मानी हुई भगवान की मूर्ति आदि के सामने प्रार्थना पूजा न करते हुए भी प्राणी मात्र में ही परमात्मा की सत्ता को देखते हुए सच्ची आस्तिकता का परिचय देते हैं।

संसार की अनेकता के परे जो एक मात्र परमाधार सत्य है उससे अज्ञानवश विभक्त हुआ जीव तभी अपने को भक्त पाता है जब उसके अन्तःकरण में सद्ज्ञान प्रकाश हो और विशुद्ध प्रेम का विकास हो।

भगवान के सच्चे भक्त वे ही हैं जिनके प्रत्येक भाव तथा कर्म के द्वारा ईश्वरीय गुणों की झलक मिलती है, जो अपने आराध्य प्रभु की आदर्श प्रीति, नीति और रीति को अपने जीवन में चरितार्थ करते रहते हैं; जो दया, सहनशीलता, क्षमा, करुणा एवं प्रेम की प्रत्यक्ष मूर्ति होकर जन समाज के सामने दैवी विभूति के उदाहरण बने रहते हैं।

इस प्रकार के एकान्त वासी, त्यागी भी भूल रहे हैं जो अपने वर्ण व्यवसाय को छोड़ कर जन संसर्ग से दूर किसी निर्जन स्थान में शरीर से तो जा बैठे हैं, परन्तु उनके मन में सांसारिक भोगसुखों की वासनाओं, कामनाओं एवं इच्छाओं का द्वन्द्वात्मक कोलाहल पूर्ववत् मचा हुआ है। देह से निर्जन, एकान्त होने पर भी मन से विषय-प्रपञ्च के संगी बने हुए हैं। ऐसे व्यक्ति तो अभी रागी ही हैं, त्यागी नहीं।

इस प्रकार के विरक्त ज्ञानी भी भूल रहे हैं जो संसार के सम्बन्ध-प्रपञ्च को दुःखमय तथा मिथ्या कहते हुए उन्हीं सांसारिक सम्बन्धियों के वियोग में दुःखाक्लान्त होते दीखते हैं। इसीसे सिद्ध हो जाता है कि जिसे वे मुँह से दुःखमय और मिथ्या बताते हैं वही उनके हृदय के लिये सुखमय है, तभी तो अपने सुखद पदार्थों के वियोग में उन्हें दुःखानुभव होता है। सच्चे ज्ञानी तो सांसारिक पदार्थों के सम्बन्ध को दुःखमय जानकर पूर्ण विरक्त हो जाते हैं। जो ज्ञानी पूर्ण विरक्त हैं वे कभी सुखासक्त नहीं हो सकते। इसीलिये ज्ञानी पुरुषों को संसार की वस्तुओं का वियोग-दुःख प्रतीत नहीं होता।

दाया करै धरम मन राखे, घर में रहे उदासी।
अपना सा दुःख सबका जाने, ताहि मिलें अविनाशी॥

ऐसे प्रेमी भी भूल रहे हैं जो अपने प्रेमास्पद प्रभु से किसी तरह के सांसारिक सुख भोग के लिये धन-वैभव, आदि अन्यान्य वस्तुओं को माँगते हैं। क्योंकि सच्चे प्रेमी तो अपने प्रेमास्पद के अतिरिक्त अपने लिये और कुछ भी नहीं चाहते। सच्चे प्रेमी तो प्रेमास्पद की प्रसन्नता के लिये ही समस्त कर्म करते हैं। लेकिन जो अपनी प्रसन्नता का पक्ष लेते हैं वे प्रेमी भूल रहे हैं। भूलने के कारण ही ऐसे प्रेमी अपने सर्वस्व को प्रेमास्पद के अर्पण नहीं कर पाते। प्रायः अपने तन, मन और धन को कथन मात्र के लिये प्रियतम प्रभु को देते हैं, परन्तु अपने को अलग रखने के कारण इन सबका उपयोग अपने ही अर्थ-पूर्ति के लिये करते रहते हैं। ऐसे व्यक्ति अपने अहं को प्रिय लगने वाली वासनाओं, कामनाओं और इच्छाओं की पूर्ति के लिये ही ऐसी शक्ति चाहते हैं जो शक्तिमान प्रभु से मिल सकती है। इसीलिये शक्ति-प्राप्त्यर्थ शक्तिमान की शरण लेते हैं। तभी ऐसे लोगों में न तो सच्चा प्रेम है न समर्पण ही है।

इस प्रकार के ध्यानी भी भूल रहे हैं, जो परम प्रभु परमात्मा के तत्त्वतः सत्स्वरूप को न जान कर अपनी-अपनी रुचि के अनुसार पसन्द आये हुए रूपों को ही परमात्मा का सत्य रूप मान लेते हैं और भिन्न-भिन्न भावानुसार ध्यान करते हुए जब कभी भाव-योग से स्वनिर्मित रूप के दर्शन होते हैं तो उसी को परमात्म तत्त्व का साक्षात्कार समझ लेते हैं। वे यह नहीं जानते कि ध्यानाभ्यास से दर्शित होने वाला रूप तो ध्यानी के भाव का ही बना हुआ रूप है लेकिन भावमय रूप के पीछे उस अरूप का चिन्मात्र स्वरूप तो विलक्षण ही है।

जो ध्यानी 'उस' एक अद्वैत परमाधार तत्व का अनुभव नहीं कर पाते, जो कि अनेक भक्तों के भावानुसार अनेक रूपों में दर्शित होते हुए भी तत्वतः अरूप ही है वही अपने ध्येय के माने हुए रूपों में भूल रहे हैं।

हमारी महानता इसमें नहीं है कि हम कभी गिरें ही नहीं, वरन् इसमें है कि जब भी हम गिरें, तुरन्त उठ खड़े हों।

—महात्मा कन्फ्यूसियस

कहानी

सत्य की खोज में

(श्री रामस्वरूप जी गुप्त)

आवागमन के दुरूह चक्र को चकनाचूर करने वाली श्रद्धा और विश्वास की अलौकिक शक्ति को सावधानी से संजो कर जो कल्याण-कामी अपने मानव जीवन को सफल बनाने का दृढ़ निश्चय कर लेता है तो उसके मार्ग में आने वाली प्रतिकूलता और विघ्न-बाधाएँ मंगलमय-प्रभु की प्रेरणा से अनायास मिटती चली जाती है। दुःखों का प्रबल झंझावात और संकटों की घनघोर काली घटा करुणामय की कृपा कोर से पल भर में छिन्न-भिन्न होती देखी गई है। तटवर्ती स्नानार्थी को महासागर की विकराल लहरें अपने में आत्मसात् करने के लिये भयंकर वेग से आती हैं और चली जाती हैं। पहले तो वह उन्हें भयभीत होकर देखता है किन्तु शीघ्र ही इन आने-जाने वाली लहरों को निर्भीक होकर देखता हुआ सागर-स्नान के आनन्द की अनुभूति करता है। इसी प्रकार भवसागर के दुकूल पर खड़ा श्रद्धालु भक्त भी जब प्रारब्धवशात् अपने पर आने वाली महान विपत्तियों की मर्मान्तक वेदना से छटपटाने लगता है तब उसकी निश्छल श्रद्धा से उद्भूत एक अदृश्य शक्ति उसे सहसा जैसे हाथ पकड़कर उबार लेती है। ऐसी स्थिति में अपने प्रियतम प्रभु की अपार करुणा और दया से परिप्लावित अन्तःकरण में स्वाभाविक ही अटूट विश्वास का दिव्य आलोक प्रकाशित हो जाता है। उस प्रकाश की जगमगाहट में वह बड़भागी उस सर्वव्यापिनी शक्ति को अपने अन्तर्चक्षुओं से, कण-कण में व्याप्त देखता है। इस प्रकार के संबल-संबल को प्राप्त कर उसकी बहिर्मुखी वृत्तियाँ अनायास अन्तर्मुखी बन जाती हैं और इस मायामय संसार की प्रबल आकर्षण शक्ति और मोह का मादक पाश फिर उसे अपने बंधन में बाँध नहीं सकता। भ्रमात्मक मान्यताओं का मिथ्या आवरण छिन्न-भिन्न हो जाता है और रह जाता है वह आवहीन सत्य जिसकी खोज के लिये ही यह नर-देह उस अहैतुक करुणासागर ने अपने अविनाशी अंश को प्रदान की है।

× × ×

सत्संग में तीर्थ-यात्रा की आध्यात्मिक महिमा का वर्णन सुनकर शम्भूनाथ के हृदय में तीर्थों के भ्रमण की उत्कट अभिलाषा जागृत हुई। आयु छप्पन को पार कर रही थी, इसी वर्ष पेंशन भी मिली थी, सरकारी नौकरी से अवकाश मिल चुका था। पोस्टल विभाग में अधिक छुट्टियाँ नहीं मिलतीं इसलिये उन्होंने पेंशन मिलने के बाद दत्तचित्त होकर किसी एकान्त स्थान में जाकर साधन-भजन में मन लगाने की बात बहुत दिनों से सोच रक्खी थी। भगवत्कृपा से अब वह सुयोग प्राप्त हुआ तो इसका सदुपयोग करने का कार्यक्रम मन ही मन बनाते अपने विचारों में तन्मय, पार्क के एक कोने पर पड़ी बेंच पर बैठे थे। "पोस्ट मास्टर साहब"—किसी ने पुकारा उन्हें, तल्लीनता भंग हुई। सामने उनके पड़ोसी मित्र मायाराम ने उस ओर आते हुए कहा—"आज आप बहुत तड़के चले आये थे क्या?

"हाँ भाई आज तीन बजे ही आँख खुल गई इसलिये नित्य कर्म से निबट कर घूमने चल दिया"—शम्भूनाथ ने उत्तर दिया—

"अब तो बेफ़िकरी की नींद आनी चाहिये, सर्विस का झमेला समाप्त होगया, ड्यूटी पर जाने की चिन्ता नहीं, बेटे भी फर्माबरदार हैं बहुयें आपकी सेवा करने में होड़ लगाये रहती हैं। सचमुच आप बड़े भाग्यवान हैं"—मुस्कराते हुए मायाराम एक साँस में इतनी बातें कह गये

"भैया यह सब ठीक है"—एक लम्बी सांस लेकर पोस्टमास्टर ने कहा—सत्य ही मुझे ऐसी कोई चिन्ता नहीं, भगवान् का दिया हुआ संतोष के योग्य थोड़ा-बहुत सभी कुछ है लेकिन असली चिन्ता का समय तो अब आया है"

"क्यों! क्यों!! ख़ैर तो है, चिन्ता करने का ऐसा क्या कारण है"?—मायाराम ने प्रश्न किया

"नौकरी से रिटायरमेंट तो हुआ, अब इस शरीर से रिटायर होने की तैयारी भी तो करनी है"—पोस्ट मास्टर के स्वर में अन्तर्वेदना के स्वर झंकृत हो रहे थे

"ओ हो ' यह बात है"—मायाराम ने ठहाका लगाकर हँसते हुए कहा—मैं तो समझा था कि कोई ख़ास बात है, लेकिन भाई साहब तो सन्यासी बन कर घर-द्वार छोड़ने की चिन्ता में दुबले हुए जारहे हैं

"हँसने की बात नहीं है मायाराम ! सन्यासी तो साक्षात् भगवान के अवतार ही होते हैं मेरे ऐसे भाग्य कहाँ ? हाँ, कहीं धूम-फिर कर संतों के दर्शन और सत्संग की इच्छा बहुत हो रही है। जीवन की संध्या समीप आती जा रही है न जाने कब यह पिंजरा खाली हो जाय—पोस्ट मास्टर ने अपनी चिन्ता व्यक्त की—

मायाराम अपने इस पड़ोसी मित्र को मन ही मन सनकी स्वभाव का समझते थे। मित्रों में जब उनकी चर्चा चलती तो उनके पूजा-पाठ की खिल्ली जरूर उड़ाते। शम्भूनाथ जी नित्य ब्राह्ममुहूर्त में उठकर उच्चस्वर से प्रार्थना करते तो मायाराम जी की आँख खुल जाती। मीठी नींद में बाधा पड़ने पर झुंझलाकर अपनी पत्नी से कहते—अजीब आदमी है भगवान ने रात बनाई है सोने के लिये और यह जोर-जोर से चिल्ला कर नींद में खलल डालता है। 'चुप भी रहो, लाज नहीं आती तुम्हें भगवान की भक्ती को चिल्लाना कहते हो"—पत्नी उन्हें मीठे स्वरों में झिड़कती—उठो भी कब तक सोते रहोगे आज टहलने नहीं जाना है क्या ? मायाराम जी शय्या का परित्याग करते और प्रायः हंसते हुये कहते कि पड़ोसी की भक्ती से इतना लाभ तो अवश्य हुआ कि मुझे अलार्म टाइमपीस नहीं खरीदनी पड़ी। वायु-सेवन के लिये दोनों पड़ोसी प्रातःकाल एक साथ घूमने जाते थे, आज साथ नहीं हुआ था। मार्ग में कभी कभी पोस्टमास्टर जी से बहस छिड़ जाती तो मायाराम जी कहा करते—यह ठीक है कि अपनी भावना आस्तिक होनी चाहिए लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि संसार के और सब काम छोड़कर माला सटकाते रहो, मैं तो यह सब ढोंग और दिमागी गुलामी समझता हूँ। अपने पड़ोसी को उत्तेजित देखकर शम्भूनाथ जी हंसते हुये मौन हो जाते और फिर बातों का सिलसिला बदल जाता।

घर लौटने में आज कुछ विलम्ब हो गया था। मुहल्ले में गली की मोड़पर घूमते हुये उन्होंने देखा सामने से चार व्यक्ति एक अर्थी को कंधे पर उठाये इसी ओर आ रहे हैं और उसके पीछे लगभग सौ सवा सौ व्यक्ति 'राम नाम सत्य है' 'सत्य बोले मुक्ति है' दुहराते चले जा रहें हैं। दो व्यक्ति एक रोते-चिल्लाते नवयुवक को पकड़े हैं। मायाराम और शम्भूनाथ जी ने परस्पर प्रश्न सूचक दृष्टि से देखा शीघ्रता से दोनों आगे बढ़े, यह देखकर उनके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा कि उसी मुहल्ले में रहने वाले प्रतिष्ठित वकील जिनसे कल दोपहर को

ही देर तक बातें हुई थीं, उन्हीं का पुत्र "हाय पिता जी मुझे अनाथ छोड़कर कहाँ चले गये"—करुण स्वरों में कहकर आँसुओं की धाराएँ प्रवाहित कर रहा है। साथ चलने वालों में बहुत से व्यक्तियों की आँखों में आँसू छलछला रहे थे। वे उन्हें रूमाल से पोंछते बार-बार नाक साफ करते हुए बगल में धोती दबाये साथ चले आरहे थे। एक व्यक्ति को रोक कर पूछने पर विदित हुआ कि वकील साहब शाम को भोजन करके भले-चंगे विश्राम करने गए थे। रात में दो बजे सहसा छाती में दर्द हुआ और जब तक डाक्टर आवें-आवें उनका हार्ट-फेल होगया।

"हार्ट फेल होगया !"—आश्चर्य और दुख से दोनों मित्रों ने एक साथ कहा।

घर से अपनी-अपनी धोतियाँ लेकर दोनों मित्र अपने इस परलोक गामी मित्र के प्रति अपने अन्तिम कर्त्तव्य की पूर्ति के निमित्त स्मशान घाट तक पहुँचे।

चिता की दिव्य सवारी में उस प्रतिष्ठित वकील को लिटाया गया। बंधु-बाँधवों और सगे-सम्बन्धियों ने उनकी छाती पर मोटे-मोटे लक्कड़ रख दिये। प्यारे पुत्र ने अपने प्यारे पिता की चिता में अपने हाथों से आग लगा दी।

धू-धू कर जलती हुई चिता और चटखने वाली हड्डियों ने उपस्थित जनों को एक अमर-संगीत सुनाया।

"सैंकड़ों के मुकदमों का फैसला कराने वाले वकील अपना मुकदमा फैसल नहीं कर पाये उनकी मिसल तो ज्यों की त्यों दबी रही और मुकदमा खारिज हो गया—पोस्टमास्टर जी सोच रहे थे।

"एक दिन अपना भी यही हाल होना है"—और लोगों की तरह मायाराम भी स्मशान वैराग्य से अछूते नहीं बचे।

कहीं दूर, दर्द भरे स्वरों में कोई गा रहा था—

जायेगा जब यहाँ से कोई न पास होगा।
दो गज कफ़न का टुकड़ा तेरा लिबास होगा॥

× × ×

दोनों पुत्रों और बहुओं को सान्त्वना देकर शम्भूनाथ जी तीर्थयात्रा में श्री भगवद्-विग्रहों और साधु-सन्तों के दर्शन-सत्संग का लाभ लेते हरिद्वार पहुँचे। उत्तर और दक्षिण भारत के प्रमुख तीर्थों का पर्यटन अब तक कर चुके थे। चलते समय मायाराम ने कहा था, हरिद्वार पहुँचकर मुझे टेलीग्राम देना। बद्री-केदार की यात्रा में आप के साथ मैं भी चलूंगा। शम्भूनाथ का तार पाकर मायाराम भी हरिद्वार आ पहुँचे।

प्रकृति की लीलास्थली, पर्वतराज हिमालय के उत्तुंग शिखरों की नयनाभिराम छवि को निर्निमेष नयनों से देखने का सौभाग्य किन्हीं विरले जनों को ही प्राप्त होता है। मार्ग-जनित कष्टों को श्रद्धालु और प्रेमी जन तो तपस्या की भावना से सहर्ष सहन करते चले जाते हैं किन्तु अर्द्धश्रद्धालु यात्री तो शीघ्र ही ऊब कर मन ही मन कहता है कि अच्छे आकर फँसे। बेचारे मायाराम जी भी ऊबकर मनाने लगे कि शीघ्र ही इस यात्रा का अन्त हो।

जिसका आदि है उसका अन्त भी अवश्यंभावी है। यह आध्यात्मिक शान्ति-प्रदात्री किन्तु शरीर और इन्द्रियों को कष्टदायिनी यात्रा समाप्त हुई और दोनों मित्र लौट कर ऋषिकेश पहुँच गए। निश्चय हुआ कि स्वर्गाश्रम में घूम फिर कर कल या परसों घर वापस चलेंगे।

दूसरे दिन प्रातः लक्ष्मण-झूला और स्वर्गाश्रम के मनोरम दृश्यों को देखते हुए गीता-भवन के घाट पर पहुँच, गंगा जी में स्नान किया दोनों मित्रों ने। इस रमणीक स्थान को देखकर बहुत प्रसन्नता हुई। "आगे भी कुछ देखने योग्य है"—शम्भूनाथ जी ने एक यात्री से पूछा—

"हाँ ! आगे कुछ दूर पर ही महात्माओं का एक आश्रम है 'परमार्थ-निकेतन' अभी वहाँ का सत्संग प्रारम्भ होने ही वाला है और स्वर्गाश्रम

आकर आपने यदि वह आश्रम नहीं देखा तो फिर कुछ नहीं देखा—यात्री ने कहा।

और जब वे दोनों वहाँ पहुँचे तो सीढ़ियों से ऊपर चढ़ते ही परमार्थ-निकेतन की अद्भुत छटा को देख कर मुग्ध होगए।

"उस पार से देखने पर तो ऐसा लगता था कि यह जैसे कोई प्राचीन ऐतिहासिक किला होगा, उधर से यह छोटे-छोटे खाली मन्दिर भी अजीब से लग रहे थे"—मायाराम ने अपने भाव व्यक्त किए।

दाहिनी ओर सामने सर्वेश्वर-भगवान् के मन्दिर की आरती समाप्त हो रही थी। शंख, घंटा-घड़ियाल की ध्वनि अभी शान्त हुई है। मध्य में भूतभावन भगवान, भोलानाथ शंकर की प्रस्तर मूर्ति है। शम्भूनाथ अपने आराध्य देवता की ऐसी मनोहारिणी छबि देखकर एक क्षण ठगे से खड़े रह गये। ओंकार में ध्यानावस्थित भगवान् आशुतोष, मानो विश्व कल्याणार्थ चिन्तन कर रहे हैं। हलाहल विष से भस्मसात होते-होते जगत को बचाने वाले भोले बाबा की यह छबि क्या कोई दर्शक अपने जीवन में विस्मृत कर सकेगा? शम्भूनाथ ने बाहर बराम्दे में लोटकर दण्डवत् प्रणाम किया। दाहिनी ओर मन्द मन्द मुस्कराते, अपने भक्तों के मन को चुराते भगवान श्री श्यामसुन्दर और अभयदायिनी श्री राधारानी की बाँकी झाँकी है। बाईं ओर धनुषधारी भक्तभयहारी, असुरारी भगवान श्रीरामचन्द्र और जगज्जननी श्री जनक-नन्दिनी जी के दर्शन हैं। राम—कृष्ण और शिव तीनों देवों को एक ही स्थान पर एकत्रित देख, भक्त शम्भूनाथ का हृदय आनन्द विभोर हो गया। मायाराम मन्दिर की अनोखी चित्रकारी देखने में तल्लीन थे।

सत्संग की घंटी बजी और सैकड़ों नर-नारी सामने के उस विशाल सत्संग-भवन में एकत्रित होने लगे। वहाँ के सत्संग में दोनों को कुछ ऐसा आनन्द मिला कि उस दिन फिर ऋषिकेश लौटने की इच्छा ही न हुई

भगवन्नाम की सुमधुर संकीर्तन ध्वनि से सत्संग प्रारम्भ हुआ। संत भगवान् की ओजमयी वाणी को श्रोता मन्त्रमुग्ध होकर सुन रहे थे। उनकी अनुभूत विचारधारा और वर्णन-शैली तथा सीधी सरल युक्तियाँ भावुक शम्भूनाथ के हृदय पर सीधी चोट कर रही थीं।

'न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः'

और

'अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।'

—की ऐसी विशद और मनोहारिणी व्याख्या तो आज के पहिले उन्होंने कभी नहीं सुनी थी। आनन्दातिरेक से उनकी आँखों ने कई बार मूक श्रद्धाञ्जलि अर्पित की। शम्भूनाथ को लगा, यहाँ आने से जैसे उनकी तीर्थ-यात्रा सफल होगई।

× × ×

समुद्र-मंथन के पश्चात्, जलनिधि से उद्भूत जब समस्त सुन्दर वस्तुओं का वितरण होचुका तब शेष रहा हलाहल-विष। विष की भयंकर ज्वाला से संसार दग्ध होने लगा। सुर-असुर सभी भयभीत हुए, यह सब परिश्रम व्यर्थ होता देखकर। सर्व संहारकारी इस विष से त्राण पाने के लिये सभी, अवढर दानी, आशुतोष भगवान शिव की शरण में गये। करुणा के अवतार, दया के सागर भोले बाबा ने समाधि से आँखें खोलीं और विश्व के कल्याणार्थ उस हलाहल को कंठ में धारण कर लिया। प्रलय होते-होते बची, संसार ने चैन की साँस ली।

किंवदन्ती है कि हलाहल पान के पश्चात् भगवान शंकर ने जहाँ पर अखण्ड समाधि लगाई थी वह स्थान स्वर्गाश्रम से छः-सात मील ऊपर चढ़ाई पर है। प्रातःकाल कुछ यात्रियों को उधर जाते देख, शम्भूनाथ भी नीलकंठ महादेव के दर्शनों का लोभ

संवरण न कर सके। मायाराम ने उनका यह प्रस्ताव एकदम अस्वीकृत कर दिया। "आपको जाना है तो शौक से जाइये मैं तो अब कहीं नहीं जाऊँगा"। शम्भूनाथ ने अपना थैला लिया और सायंकाल तक सब के साथ लौटने की बात कहकर चले गये।

लौटते समय, इधर से साथ जाने वालों का संग छूट गया, शम्भूनाथ मार्ग भूल गये। जिस पगडंडी पर चले वह गहन वन की ओर गई थी। मार्ग कुछ अपरिचित सा लगा तो पीछे लौटे, बीच की एक पगडंडी से चले यह सोचकर कि यह पश्चिम की ओर जा रही है किन्तु उन्हें तो दिग्भ्रम होगया, वस्तुतः वह मार्ग पूर्व दिशा की ओर गया था। बहुत देर तक चलते रहे उसी पर, कदाचित अब चौड़ी सड़क मिल जायगी तो उसी पर सीधे चलकर ठिकाने पर पहुँच जाऊँगा। चलते-चलते थक गये, किन्तु वह चौड़ी सड़क भला क्यों मिलने लगी। भगवान भुवन-भास्कर अस्ताचलगामी हुए। सन्ध्या के आगमन से पूर्व ही अन्धकार का साम्राज्य फैलने लगा किन्तु उस अन्तहीन मार्ग का छोर नहीं मिला। जैसे-जैसे वह वन्य-प्रदेश तमसाच्छन्न होता जा रहा है उसी अनुपात से भय और आतङ्क भी आन्दोलित करता जा रहा है उनके तन-मन को। सुना है, यहीं पास में ही कहीं पर कदली वन है जिसमें भयंकर सिंह, व्याघ्र और हाथियों का निवास है। सहसा पासमें ही सरसराहट का शब्द सुनकर, थैले से निकाल कर टार्च जलाई तो उधर देखते ही सन्न रह गये। भयंकर काला सर्प टार्च के प्रकाश को अपना चौड़ा फन फैलाये देख रहा है। पीपल के पत्ते के समान काँप गये वह। यदि पैर पड़ जाता तो क्या दशा होती?

हताश, निरुपाय और संत्रस्त शम्भूनाथ एक बड़े वृक्ष के नीचे पड़े हुए ऊँचे पत्थर पर बैठ गये। जहाँ तक दृष्टि जाती ऊँचे लम्बे वृक्षों और अन्धकार में ही खो जाती। वृक्षों से टकराती, हू-हू करती हुई वेगवती वायु इस भयंकरता को द्विगुणित कर रही है। कहीं दूर पर हाथी की चिंघाड़ जैसा शब्द सुनाई पड़ रहा है, ओफ़! क्या मैं कदली वन में फँस गया। अरे! यह दहाड़ सिंह की है और यह तो अधिक समीप आती जान पड़ती है। हाय! तो अब इस जीवन का अन्त यहाँ ऐसे निर्जन एकान्त में इस प्रकार होना बदा था। हाय! अब क्या अपने प्यारे बालकों को नहीं देख सकूँगा। शम्भूनाथ फूट-फूट कर रो पड़े बच्चों की तरह। "दया करो! रक्षा करो!! भगवान् नीलकंठ तुम्हारी शरण में आने पर भी मेरी ऐसी दुर्दशा क्यों"? आँसुओं का तार बढ़ता गया और मानस पटल पर चल-चित्र की भाँति दोनों पुत्रों की मूर्तियाँ आने-जाने लगीं। तीर्थ-यात्रा की घटनाएँ भी याद आईं। और फिर ॐकार में अवस्थित सर्वेश्वर भगवान की शाप-संताप हारिणी, अभयदायिनी मूर्ति भी स्मृति-पट अंकित हुई। सहसा वेग का रोमांच हुआ, तन का एक-एक रोम कटहल के काँटे जैसा खड़ा हो गया। अरे! जिन कर्पूरगौरं करुणावतारं देवाधिदेव भगवान नीलकंठ महादेव की शरण में आया उन्हीं को भूलकर न जाने यह कायर मन कहाँ कहाँ भटका रहा है। धिक्कार है मुझे और मेरी इस तीर्थ यात्रा को। हरे! हरे!! इतना भी विश्वास नहीं तो अब तक यह कोरा पाखण्ड नहीं तो और क्या था?

अश्रुधारा का वेग बढ़ता गया किन्तु तब में और इस क्षण के आसुओं में आकाश-पाताल का अन्तर है।

आत्मग्लानि और पश्चात्ताप की आँसू नदी में देहाभिमान बहता चला जा रहा था। अरे! इस अविश्वासी जीवन का तो अन्त होना ही भला। इस नाशवान शरीर के लिये इतना मोह क्यों? क्या मैं यह शरीर ही हूँ इसके आगे और कुछ भी नहीं? इस शरीर के नष्ट हो जाने पर क्या मेरा भी नाश हो जायगा?

शरीर और संसार का मोह इस विवेक

के प्रबल झंझा में तिनके सा उड़ा चला-जा रहा था।

"न जायते म्रियते………" और "अन्तकालेच मामेव……" की अमर-ध्वनि कानों में गूंज गई। अन्तर्चक्षुओं से शम्भूनाथ ने देखा, कल के सत्संग में जिन संत-शिरोमणि के उपदेशों ने हृदय में प्रवेश किया था, वे जैसे तर्जनी उठाकर कह रहे हैं—"निश्चय करो मैं यह देह नहीं वरन सच्चिदानन्द घन का अविनाशी अंश हूँ" "प्रलय काल का दुख भी मेरा कुछ बिगाड़ नहीं सकता" आँसू रुके, सद्विवेक जागृत हो चुका था। सहसा सिंह की दहाड़ समीप आती प्रतीत हुई। अब समय आ गया है "अन्तकाले च मामेव……" को चरितार्थ करने का। ऊंचे स्वरों से "नमामीश मीशान निर्वाण रूपं" को करुणा विगलित वाणी में गायन कर, पुकारने लगे अपने आराध्यदेव भगवान सदाशिव को। हृदय की वीणा के तार बज रहे थे इस स्वर-लहरी के साथ-साथ। समस्त बनवासी जीव जन्तु वायु और दिशाएं जैसे उन स्वरों में अपना ताल लगाने लगे।

प्रार्थना समाप्त हुई। शम्भूनाथ भाव-समाधि में तल्लीन हुए।

कौन हो तुम ! कौन हो !!—मेघ गर्जन सी एक गम्भीर ध्वनि उनके कर्ण-रंध्रों में प्रविष्ट होती हृत्तंत्री के तारों को झंकृत करने लगी, आँखें खोलकर देखा—चन्द्रदेव की शीतल स्वच्छ किरणें सघन वृक्षों से छनकर चाँदी के असंख्य तारों की भाँति लटकी, दूर-दूर तक फैल रही हैं और सामने चन्द्र-ज्योत्सना में एक तेजस्वी शुभ्र गौरवर्ण नव-युवक और एक सर्वाङ्ग-सुन्दरी, षोडशी-बाला खड़े हैं। युवक ने अपने हाथ का मोटा लट्ठ पृथ्वी पर पटक कर कहा—"यहाँ क्यों आए तुम ? भागो यहाँ से, जानते नहीं हम लोग यहाँ के राजा-रानी हैं।"

शम्भूनाथ टकटकी लगाकर देखना चाहते हैं उन्हें किन्तु इस समय उनकी आँखें धोखा दे रही हैं न जाने क्यों झपक जाती हैं बार-बार। भयशून्य हृदय में न जाने आनन्द की सरिता क्यों उमड़ती चली आ रही है। कौन हैं ये ? कौन हैं ?

अनिंद्य सुन्दरी बाला के पीछे एक भयानक सिंह दूर से छलांगे मारता हुआ आया और दुम हिलाता खड़ा हो गया जैसे पालतू कुत्ता। शम्भूनाथ ने उस भयङ्कर सिंह को देखकर दोनों हाथों से आँखें मीच लीं।

"आँखें खोलो देखो तुम कहाँ पहुँच गए"—पुनः वही ध्वनि हुई किन्तु—इस बार ऐसा लगा जैसे कोई बहुत दूर से बोल रहा है।

हड़बड़ा कर आँखें खोलीं तो आश्चर्य से अवाक शम्भूनाथ ने देखा सामने पुण्य-सलिला कलकल-नादिनी भगवती भागीरथी हैं, दाहिनी ओर दूर पर चाँदनी में लक्ष्मण-झूला का पुल साफ दीख रहा है और पीछे सड़क के ऊपर ऊंचा गिरि शिखर। रात आधी से अधिक बीत चुकी है।

हाय ! साक्षात भवानी-शङ्कर के दर्शन करके भी मैं मूढ़ ही बना रहा उनके चरणों की धूल भी अपने मस्तक में लगाने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ।

उस परम सौभाग्यशाली भक्त की आँखों से गंगा-यमुना सी पवित्र जलधार वक्षस्थल को भिगोती हुई गंगा की बालुका में विलीन होने लगी।

× × ×

संसार को उसके रहने से क्या लाभ हुआ जिसने कभी दुखिया के आँसू नहीं पोंछे, कभी निराश हृदय को उत्साहित नहीं किया। उसका हृदय पत्थर का है और उसका देवता स्वर्ण है।

—वाल्टेयर

सत्संग-समाचार

परमार्थ-निकेतन स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश) और मुमुक्षु आश्रम शाहजहाँपुर के संस्थापक दैवी सम्पद् मण्डल के प्रधान, पूज्यपाद श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज, लगभग १।। वर्ष बाद भक्तों के विशेष आग्रह से ता २६ अगस्त को देहली पधारे। मुहल्ला चूड़ीवालान की बड़ी धर्मशाला में नित्य प्रातःकाल स्वामी जी का सरल, युक्ति पूर्ण, सारगर्भित प्रवचन श्रवण करने के लिये भक्त नर-नारियों की भारी भीड़ एकत्रित होती थी। स्वामी जी देहली में ७ दिन तक ठहरे। कूचा पातीराम की धर्मशाला, स्वतन्त्र भारत मिल, निकलसन स्क्वायर, बाबरलेन, कैन्टूमेंट राजघाट (राष्ट्रपिता, महात्मा गांधी का समाधि-स्थल) आदि कई स्थानों में श्री महाराज के प्रवचनों से सहस्रों भक्तों ने लाभ उठाया।

भारत सरकार के योजना मंत्री, श्री गुलजारीलाल नन्दा, भारतीय लोक-सभा के अध्यक्ष श्री मावलङ्कर महोदय तथा प्रसिद्ध समाज-सेवक श्री ब्रजकृष्ण जी चाँदीवाला से राष्ट्र-उत्थान में सहायक सामयिक विचार विनिमय भी हुआ।

देहली का कार्यक्रम समाप्त कर ता० ५ को स्वामी जी ने झरिया के लिये प्रस्थान किया। पूज्य श्री स्वामी भजनानन्द जी तथा प्रसिद्ध कथावाचक श्री 'मंजुल' जी का प्रोग्राम वहाँ कई दिनों से चल रहा था। ६ ता० को स्वामी जी भी झरिया पहुँच गये। मंजुल जी की श्रीमद्भागवत-कथा और दोनों महापुरुषों के उपदेशों से झरिया के भक्तों ने अपूर्व लाभ उठाया। इस सत्संग का श्रेय श्री सेठ रामकृष्ण जी अग्रवाल और श्री निरंजनलाल जी भगानियाँ, एडवोकेट को है।

१२ सितम्बर को झरिया का कार्यक्रम समाप्त कर १३ ता० को कलकत्ता पहुँचें। १८ सितम्बर तक इस महानगरी के विभिन्न स्थानों में सत्संग के सुन्दर प्रोग्राम चलते रहेंगे।

कलकत्ता से ता० १४ को मुजफ्फरपुर के लिये प्रयान होगा। श्री राधेश्याम जी मेहरोत्रा के यहाँ रमना में विशाल सत्संग का आयोजन संभवतः एक सप्ताह तक रहेगा।

पूज्य स्वामी शुकदेवानन्द जी, झरिया कलकत्ता और मुजफ्फरपुर का प्रोग्राम समाप्तकर परमार्थ-निकेतन स्वर्गाश्रम पधारेंगे। नव-रात्र से कार्तिक-पूर्णिमा तक श्रीमहाराज का निवास परमार्थ निकेतन में ही रहेगा। इन दिनों इस पावन तपोभूमि का मौसम बहुत सुहावना रहता है। भक्तों को महाराज के सत्संग और सान्निध्य का लाभ उठाना चाहिये।

प्रेषक—
एक भक्त

आवश्यक सूचनाएँ

सदैव की भाँति इस नवरात्र में भी श्री रामचरितमानस के नवाह्न पारायण अधिक से अधिक संख्या में भक्तों को करने चाहिये। सामूहिक रूप से अथवा अलग-अलग पाठ करने वाले प्रेमी पाठ-संख्या 'परमार्थ' कार्यालय में लिख भेजने की कृपा करें।

मोक्षाश्रम बैरी (कानपुर) में श्री स्वामी समतानन्द जी की अध्यक्षता में श्री दैवीसम्पद् मंडल का वार्षिकोत्सव ता० ३, ४, ५ अक्तूबर होगा। प्रसिद्ध संत-महात्मा और कथावाचक पधारेंगे प्रेमी-भक्त इसमें सम्मिलित होकर लाभ उठावें।

श्री दैवी सम्पद्-महामण्डल का

विराट् महोत्सव

मंगलमय प्रभु की असीम अनुकम्पा से इस वर्ष ता० २७ नवम्बर से ५ दिसम्बर तदनुसार शुभमिती मार्गशीर्ष कृष्ण ७ से १४ तक दैवी सम्पद् मण्डल का विराट् महोत्सव श्री एकरसानन्द आश्रम मैनपुरी में होना निश्चित हुआ है। दैवी-सम्पत्ति के पुनरुद्धारक ब्रह्मलीन श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीस्वामी एकरसानन्द जी सरस्वती ने इसी आश्रम में अपने पांचभौतिक शरीर का परित्याग किया था, यहीं उनका दिव्य समाधि-मन्दिर है। गुरु-पूर्णिमा पर सहस्रों की संख्या में भक्त नर-नारी उनके पूजन के निमित्त एकत्रित होते हैं किन्तु वर्षाकाल होने के कारण सत्संग का वास्तविक लाभ नहीं उठा पाते। अतएव भक्तों के विशेष आग्रह से इस उत्सव का निश्चय हुआ। मैनपुरी में इस प्रकार नौ दिनों का यह अपूर्व उत्सव प्रथम बार ही होगा।

भारत के सुविख्यात महामण्डलेश्वरों, वीतरागी संत-महापुरुषों उच्चकोटि के विद्वानों और प्रसिद्ध कथावाचकों ने सम्मिलित होने की स्वीकृत दे दी है। आपसे सानुरोध निवेदन है कि इस आदर्श और चिरस्मरणीय उत्सव में आने का समय अवश्य निकालें। जीवन में ऐसे संयोग भगवान् की कृपा से ही प्राप्त होते हैं। संतों के दर्शन एवं उनकी पावन-वाणी के प्रसाद को प्राप्त कर अपने मानव-जीवन को सफल बनाइये।

—विनीत

स्वागताध्यक्ष

श्वास-दमा की औषधि

गत वर्षों की भाँति इस वर्ष भी शरद्-पूर्णिमा को श्वास और दमा की अचूक औषधि दैवी सम्पद मंडल के सभी प्रमुख केन्द्रों परमार्थ-निकेतन स्वर्गाश्रम, मुमुक्षु आश्रम शाहजहाँपुर, एकरसानन्द आश्रम मैनपुरी और मोक्षाश्रम बैरी में बाँटी जायगी। औषधि के प्रयोग से अनेक रोगियों ने लाभ उठाया है।

रोगी अपने समीप के केन्द्र पर ता० ११-१०-५४ को पहुँचने का प्रयत्न करें। नियमानुसार उस दिन व्रत रक्खें और अपने साथ मिट्टी के पात्र में साठी के चावल की खीर गाय के दूध में बनाकर लेते आवें, खीर में शक्कर न मिलायें। औषधि प्रयोग के लिये अपने पहुँचने की सूचना समीपस्थ केन्द्र में अवश्य भेज दें।

मुद्रक तथा प्रकाशक:—परमार्थ प्रेस, पो० मुमुक्षु आश्रम शाहजहाँपुर।

वार्षिक मूल्य ४॥) **"दीपावली सबको मंगलदायिनी हो"** विदेश के लिये ८)

परमार्थ मासिक-पत्र

दैवी गुण विकासक, शान्ति संस्थापक, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार आदि अध्यात्मवाद प्रचारक, श्री दैवी सम्पद् महामण्डल का प्रमुख सुरुचिपूर्ण सचित्र मासिक-पत्र

संस्थापक:—

श्री १०८ श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज

श्री १०८ श्री स्वामी भजनानन्द जी महाराज

सम्पादकः—

स्वामी सदानन्द सरस्वती

राजाराम पाण्डेय 'मञ्जुल'

विषय सूची

आवश्यक-निवेदन

"परमार्थ" के पञ्चम वर्ष की सेवा दिसम्बर मास में समाप्त हो जायगी। इस वर्ष का विशेषाङ्क 'चरित्र निर्माण अंक" तथा समस्त मासिक अङ्क पाठकों को विशेष उपादेय और रुचिकर लगे। देश की महान विभूतियों, विद्वानों और प्रेमियों ने इस विशेषांक की सराहना की।

अनादि काल से सुख और शान्ति की खोज में भटकता हुआ जीव, प्रभु-कृपा से मानव-योनि में आया। जन्म-जन्मान्तरों में जिन विषयों में उसने सुख की खोज की, उन्हीं में रच-पच कर आज भी सुख और शान्ति की खोज में अहर्निश लगा है किन्तु असफलता और अशान्ति की बाढ़ आज मानव को विनाशकारी प्रवाह की ओर लिये जा रही है। देव-दुर्लभ नर-देह पाकर भी हमारी ऐसी दुर्गति क्यों? संतप्त और संत्रस्त मानव को दुःख और अशान्ति से छुटकारा कैसे मिले? अपने चिर अभीप्सित लक्ष्य' सुख और शान्ति" की प्राप्ति कैसे हो? इत्यादि अत्यावश्यक और महत्त्वपूर्ण समस्याओं का समाधान करने के लिये आगामी जनवरी में "परमार्थ" के छठे वर्ष का विशेषांक "सुख-शान्ति अंक" प्रकाशित करने का निश्चय हुआ है।

"सुख-शान्ति अंक" में सदैव की भाँति, सुप्रसिद्ध वीतराग संत महापुरुषों, मण्डलेश्वरों, लोक प्रिय नेताओं तथा चोटी के विद्वानों और कवियों के लेख व कवितायें, चरित्र, भक्त गाथायें, कहानियां तथा अनेक रंगीन व सादे चित्र प्रकाशित होंगे, जिससे यह विशेषांक भी बहुत सुन्दर और संग्रह की वस्तु होगा।

आगामी वर्ष का वार्षिक शुल्क भी विशेषांक सहित ५॥) ही रहेगा। केवल विशेषांक का मूल्य ३॥) होगा। जो महानुभाव मनीआर्डर द्वारा ५॥) भेज देंगे उनकी सेवा में यह विशेषांक रजिस्ट्री द्वारा कार्यालय के खर्च से भेजा जायगा। जिन सज्जनों का रुपया पहिले नहीं पहुँचेगा और मनाही का कार्ड भी नहीं मिलेगा तो उनकी सेवा में विशेषांक वी. पी. द्वारा पहुँचेगा। ऐसी स्थिति में वी० पी० खर्च ग्राहक को देना होगा।

अतएव प्रार्थना है कि ५॥) का मनीआर्डर आगामी वर्ष के शुल्क रूप में शीघ्र भेज कर अनुगृहीत करें। मनीआर्डर फार्म इसी अंक में संलग्न है। आप स्वयं तो मनीआर्डर भेजें ही, साथ में कम से कम एक और नवीन ग्राहक बनाकर इस आध्यात्मिक ज्ञान-यज्ञ में अपना पुनीत सहयोग प्रदान करके पुण्य संचय करें।

मनीआर्डर फार्म में अपना नाम पता और ग्राहक संख्या स्पष्ट अक्षरों में लिखने की कृपा करें।

व्यवस्थापक
परमार्थ मासिक पत्र

॥ श्रीहरिः ॥

परमार्थ मासिक-पत्र

के प्रथम वार्षिक विशेषाङ्क

'सुख-शान्ति अङ्क' की विषय-सूची

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः । सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग्भवेत् ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वानुसृतःस्वभावात् ।
करोमि यद्यत् सकलं परस्मै, नारायणायेति समर्पयेतत् ॥

वर्ष ५ | मुमुक्षु आश्रम, शाहजहाँपुर, १५ अक्टूबर, १९५४ | कार्तिक कृष्ण ४ शुक्रवार सम्वत् २०११ | अङ्क—१०

आजु सखि, श्याम रचाई रास

आजु सखि, श्याम रचाई रास ॥ ध्रुव ॥

सरस शरद्, पूनम पूरन शशि ।
चहुँ दिशि विमल उजास ॥ आजु० १ ॥

निर्मल नभ, सरिता, सर निर्मल ।
सरसिज करत विकास ॥ आजु० २ ॥

जलचर, थलचर, नभचर, प्रमुदित ।
कूजत भरे उलास ॥ आजु० ३ ॥

ललिता सखी विसाखा, राधा ।
सब सँग ब्रह्म प्रकाश ॥ आजु० ४ ॥

—श्री गयाप्रसाद त्रिपाठी "शास्त्री"

परमार्थ-बिन्दु

विचार करो—यदि किसी निर्धन मनुष्य की पत्नी से कोई प्रेम करना चाहे तो क्या वह निर्धन व्यक्ति चुप चाप सहन कर लेगा? कदापि नहीं। अपनी शक्ति रहते वह उस दुष्ट को पूरा दण्ड देगा। इसी प्रकार, सोचो तो, सर्वशक्तिमान प्रभु की पत्नी लक्ष्मी से जो अनुचित प्रेम करने का प्रयत्न करते हैं क्या उनको दैवी दण्ड नहीं मिलेगा? अवश्य मिलेगा। उदाहरण के लिये, रावण प्रभु-पत्नी सीता को अपना बनाने के लिये उठा लेगया तो जानते हो क्या परिणाम हुआ? लंका जलादी गई—रावण का परिवार सहित नाश हुआ यहाँ तक कि-

"रहा न कोउ कुल रोवनिहारा"

अतः यदि लक्ष्मी का निवास अपने घर में चाहते हो तो मालूम है क्या करना चाहिये? लक्ष्मी पति नारायण को अपने यहाँ बसा लो-बस पतिव्रता लक्ष्मी जी को मजबूर होकर आप के यहाँ निवास करना पड़ेगा।

विचार करो—बच्चे का कोई अंग सूज जाने पर माँ स्वयं डाक्टर के द्वारा उस अंग की चीर-फाड़ (Operation) कराती है और वह बच्चा मन ही मन माँ को कोसता है। परन्तु सोचो तो क्या यह उसकी मूर्खता नहीं? क्या इस आपरेशन करवाने में माँ की अपार कृपा नहीं? अवश्य है। यदि उस अंग का आपरेशन नहीं करवाया जायगा तो जानते हो क्या हाल होगा? सूजे अंग में भरी हुई पीप के कारण बच्चे को एक सेकेण्ड भी चैन नहीं मिलेगा सो तो नहीं ही मिलेगा परन्तु कुछ समय के बाद उस अंग को सड़ जाने के कारण कटवा भी देना पड़ेगा। इसी प्रकार विश्वास रक्खो, जब हमारे पर दुःख आवे तो उससे दुखी होना बुद्धिमानी नहीं—क्योंकि वह दुःख नहीं वास्तव में परम सुहृद परमपिता परमात्मा की कृपा है—हमारे हृदय में रोग हुआ है जिसका आपरेशन है। यदि आपरेशन नहीं हो तो हमें निश्चय ही उस आपरेशन से कई गुना अधिक दुःख नरक तथा पशु-पक्षी, कीट-पतंग, पेड़-पौधे आदि मनुष्येतर योनियों में भोगना पड़े। और फिर अपने गये जीवन की ओर तो देखो—क्या दुःख के बाद आपकी उन्नति नहीं हुई? क्या दुःख में स्वाभाविक ही भगवान् का स्मरण नहीं हुआ? वास्तव में यह दुख की दया ही है जो हमको दुःखहारी दया-सिन्धु परमपिता से मिला देती है, कहा भी है—

सुख के माथे सिल पड़ो जो नाम हृदय से जाय।
बलिहारी वा दुःख की जो पल-पल राम रटाय॥

विचार करो—बादशाह और गुलाम दोनों पुरुष हैं परन्तु जानते हो बादशाह किसको कहते हैं और गुलाम किसको? बेगम को जो जीत जाय सो बादशाह और जो बेगम से हार जाय सो गुलाम। इसी प्रकार, याद रक्खो, जो मन इन्द्रियों को वश में करते वही मानव वास्तविक मानव है और जो मन-इन्द्रियों के वश में है वह मानव-देह होते हुए भी दानव (पशु) है। भर्तृहरि महाराज ने कहा भी है कि "आहार निद्रा भय मैथुन" की दृष्टि से तो मानव और दानव समान है परन्तु जिसका जीवन धर्ममय है, जो स्वभाव से मन-इन्द्रियों के वश में नहीं है वही मानव है—अन्यथा इस मानव देह का दुरुपयोग है।

संत-वाणी

(एक ब्रह्मनिष्ठ संत)

यदि कोई कार्य ऐसा हो जिससे शारीरिक उन्नति होती हो किन्तु मानसिक अवनति हो, तो ऐसी अवस्था में मानसिक उन्नति का अधिक ध्यान रखना चाहिये और मानसिक उन्नति की अपेक्षा आत्मिक उन्नति का अधिक ध्यान रखना चाहिये, क्योंकि आत्मिक उन्नति होने पर और किसी उन्नति की आवश्यकता नहीं रहती और मानसिक उन्नति होने पर शारीरिक उन्नति की आवश्यकता नहीं रहती।

विषयासक्त होने पर जीवन की जो अवस्था होती है वह पशु जीवन है, क्योंकि उसमें स्वतन्त्रता लेशमात्र शेष नहीं रहती। पराधीनता जीवन का स्वरूप हो जाती है।

जिसका जीवन दूसरों की पूर्ति के लिये है, अर्थात् जिसने शरीर को संसार के हित में लगा दिया है, उसका जीवन मानव-जीवन है, क्योंकि ऐसा जीवन होने पर ही विषयासक्ति का अन्त हो जाता है।

शरीर संसार के लिये और अपने को सत्य के लिये समर्पण करने पर ईश्वरीय जीवन का आरम्भ होता है। इस जीवन का स्वरूप क्या है ? उसका कथन सिर्फ संकेतमात्र है, क्योंकि वाणी आदि में कथन की शक्ति नहीं है। सिर्फ इतना ही कहा जा सकता है कि ईश्वरीय जीवन से जीवन की पूर्णता सिद्ध होती है।

राग-द्वेष-युक्त जीवन अपूर्ण है। त्याग-प्रेम-युक्त जीवन पूर्ण है। त्याग करने योग्य वस्तुओं का त्याग न करने पर राग उत्पन्न होता है। प्रेम-पात्र से (जो निर्दोष तत्व है) प्रेम न करने पर द्वेष उत्पन्न होता है। राग त्याग से और द्वेष प्रेम से मिट जाता है। प्रेम प्रेमपात्र से तथा त्याग संसार का होता है। जो इसके विपरीत करते हैं वे बेचारे दीनता तथा अभिमान की अग्नि में जलते रहते हैं।

प्रेम प्रेमपात्र का स्वरूप है, संसार का नहीं, क्योंकि चाहयुक्त प्राणी प्रेम नहीं कर सकता। विषयी विषयों की पूजा करता है इसीलिये दीन होता है। प्रेमी प्रेमपात्र की पूजा करता है इसीलिये पूर्ण होता है, क्योंकि प्रेम-पात्र स्वतन्त्र और विषय परतन्त्र है। परतन्त्रता का पुजारी परतन्त्रता और स्वतन्त्रता का पुजारी स्वतन्त्रता पाता है।

जो शरीर आदि वस्तुयें निरन्तर त्याग कर रही है उनका त्याग करने पर उनकी ओर (प्रेमपात्र की ओर) अपने आप ही हो जाओगे। अथवा यों कहो कि वह स्वयं अपना लेंगे। त्याग क्रिया नहीं है, बल्कि असंगता। क्रिया रूप से तो सभी प्रकार का त्याग हो ही जाता है, किन्तु राग के कारण स्वरूप से त्याग होने पर भी त्याग नहीं होता। सच्चा त्याग जीवन में ही हो सकता है, क्योंकि राग अविचार से उत्पन्न हुआ है अतः विचार से मिट जाता है।

दुखी तथा दीन में काफी भेद है। दीन वर्त्तमान परिस्थिति पर सन्तुष्ट सा रहता है, अर्थात् उसके बदले में भय करता है और दुखी वर्त्तमान परिस्थिति बदलने के लिये सब कुछ करता है. अर्थात उस परिस्थिति को किसी प्रकार रहने नहीं देता। अतः दीन, दीनता की अग्नि में जलता है और दुखी आनन्द पाता है।

× × ×

जीव तथा ईश्वर का स्वरूप क्या है ?

गहराई से देखो, प्रश्नकर्त्ता महानुभाव जीव हैं या ईश्वर या दोनों से भिन्न ? यदि प्रश्नकर्त्ता को स्वयं अपना पता नहीं तो जीव, ईश्वर का पता कैसे चला सकते हैं। क्या आपने अपने में से शरीर के संग से उत्पन्न होने वाले भाव का अन्त कर दिया ? यदि अन्त कर दिया तो अब रुचि क्यों शेष है ? देखो, शरीर-भाव का अन्त करने पर भोग-इच्छा का

अन्त हो जाता है, क्योंकि शरीर भोग का उपभोग करने का क्षेत्र है। भोग-इच्छा का अन्त होते ही वास्तविक अभिलाषा जागृत हो जाती है।

वास्तविक अभिलाषा क्या है ? क्या आप सर्वदा एकसा रहना पसन्द नहीं करते ? क्या आप जानना नहीं चाहते ? क्या आप दुःख का अन्त करना पसन्द नहीं करते ? इन अभिलाषाओं के लिये प्रत्येक मानव मजबूर है। जिसको यह रुचि है वही जीव है। जिससे इस रुचि की पूर्ति होती है वही ईश्वर है। जीवत्व उसी समय तक जीवित है जिस समय तक इस रुचि की पूर्ति नहीं हुई। रुचि की पूर्ति होते ही ईश्वर का ईश्वरत्व और जीव का जीवत्व मिट कर एक ही तत्त्व शेष रहता है, जो तत्त्ववेत्ताओं का निज-स्वरूप तथा भक्तों का भगवान् है।

जो सर्वदा नहीं रहता उसको यदि असत् कहते हो तो सर्वदा रहनेवाला सत् है। जिसमें ज्ञान नहीं है उसको यदि जड़ कहते हो तो जिसमें ज्ञान है वह चेतन है। जिसमें दुःख नहीं है वही आनन्द है।

जीव की वास्तविक रुचि क्या हुई ? सत , चित आनन्द पाने की। यह रुचि जिसकी है वही जीव है, और जिससे यह रुचि अभेद होती है वही ईश्वर है, अर्थात् ईश्वर से जीव की जातीय एकता और मानी हुई दूरी है। शरीर से जीव की मानी हुई एकता और जातीय भिन्नता है।

शरीर से संसार की स्वरूप से एकता है। इसी कारण जब तक शरीर-भाव बना रहता है तब तक संसार की आवश्यकता प्रतीत होती रहती है। अथवा यों कहो कि कुल संसार एक शरीर है। कुल संसार एक शरीर जान लेने पर कुल संसार से असंगता हो जाती है। जिसकी असंगता होती है वह जीव और असंग होने पर जिससे एकता होती है वह ईश्वर है। विषय-विराग होने पर जीव-भाव की अनुभूति और ईश्वर भाव होने पर ईश्वर की अनुभूति होती है। यदि ईश्वर और जीव का स्वरूप जानना चाहते हो तो योग्यता सम्पादन करो। यह प्रश्न हल किया जाता है, सीखा नहीं जाता। विषयी संसार को जान जाता है, विषय-विरागी जीव को जान पाता है और जिज्ञासु तथा भक्त ईश्वर को जान पाता है।

* चुभते दोहे *

नारायण हरि भजन में तू मत देर लगाय।
क्या जाने या देर में; श्वास रहे कि जाय॥

धन योवन यूँ जायेंगे जैसे उड़त कपूर।
मन मूरख गोविन्द भज क्यों चाटत जग धूर॥

कबिरा यह तनु जात है सके तो ठौर लगाय।
कै सेवा कर साधु की, कै हरि के गुण गाय॥

खान पान सुख भोग में, पशु भी परम सुजान।
कहा अधिकता मनुज की, जो न भजै भगवान्॥

आध्यात्मिक संस्मरण

मैं एक नास्तिक था, बहुधा संतों को ढोंगी समझता था। मन्दिरों और मसजिदों को पाखंड समझ कर उनसे घृणा करता था। हाई स्कूल-परीक्षा के उपरान्त कुछ घरेलू आपत्तियों और कौटुम्बिक द्वन्दों ने आत्महत्या की ओर प्रेरित किया। जिनको संसार अपना कहता है उनसे घृणा होचुकी थी। कहीं पढ़ा था कि आत्महत्या से जीव को शान्ति नहीं मिलती। बस सोचा यह गया कि सन्यास लिया जाय। यह कैसे लिया जाता है ? क्या होता है ? कुछ पता नहीं। मैनपुरी होकर निकला। किसी ने स्वामी भजनानन्द की ओर संकेत किया, वहाँ गया। स्वामी जी से बड़ी उद्दंडता और निर्भीकता से सब सच्चा हाल बताने योग्य तथा छिपाने योग्य कह सुनाया। संत-हृदय और संतवाणी ! आशा पैदा हुई। स्वामी जी का दिया हुआ गीता; एक अलमोनियम का लोटा, एक थैली में भुने चने अब भी याद हैं। लोटा गाड़ी में बिला टिकट बैठ कर फेंक दिया, अपने योग्य न समझा—चने यों फेंक दिये कि लोग भिखारी समझेंगे—मान और शान का विशेष ध्यान था। गीता अब भी मेरे पास है। मगर पढ़ता कभी नहीं उसके पहले पृष्ठ पर भगवान् कृष्ण का चित्र देख कर यही कहता था कि अगर बिला टिकट पकड़ा गया तो तेरी प्रतिष्ठा पर धब्बा आयेगा मेरा क्या ? क्षुधा ने सताया, माँगना बुरा समझा। सोचा जब उसका सहारा पकड़ा तो माँगना व्यर्थ है। एक फौज का हवल्दार बोला आप भूखे हैं। त्वरित उत्तर दिया कि 'हूँ', उसने अपने घर से लाई पूड़ियाँ मुझे खिलाईं। यह जीवन बदलने में एक प्रारम्भिक घटना घटी। परम पूज्य स्वामी भजनानन्द जी को इसका श्रेय है। जीवन में अबतक उथल-पुथल है। गिरना और गिरकर खड़े होना भी जीवन है। मगर ऐसी श्रद्धा है कि वह सुनेंगे अवश्य, कभी सुनें।

—*शम्भूदयाल चतुर्वेदी, डिप्टी कलेक्टर*

> गत अंक से इस नवीन स्तम्भ का श्री गणेश हुआ है। प्रेमी पाठक-पाठिकाओं से निवेदन है कि वे अपने जीवन की वह सत्य घटना लिख भेजने की कृपा करें, जिसके प्रभाव से उन्हें आध्यात्मिक उन्नति, भगवान् के प्रति श्रद्धा और चारित्रिक उत्थान को आश्चर्यजनक प्रेरणा मिली हो।
>
> घटना, कापी साइज के एक पेज से अधिक नहीं होनी चाहिये।

तीर्थराज प्रयाग में, प्राचीन काल से माघ मेला प्रति वर्ष लगता चला आरहा है। यह घटना उन दिनों की है जब मैं इलाहाबाद युनिवर्सिटी में पढ़ता था। एक दिन मित्रों ने प्रोग्राम बनाया कि झूसी में होने वाले अखण्ड-कीर्तन में सम्मिलित होकर प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी तथा संतों के दर्शनों का सौभाग्य संचित किया जाय। प्रेमवल्लभ सामवेदी, नरोत्तमशरणजी अग्रवाल तथा सरताजबहादुर सक्सेना के साथ मैं इस कार्यक्रम में सम्मिलित हुआ, दारागंज के पास से नावपर सवार होकर हम लोग झूसी की ओर चले। दैवयोग से बीच धार में पहुँचते ही भयंकर वेग की आँधी आगई साथ ही घनघोर वर्षा भी प्रारम्भ होगई। नौका वायु-वेग से आगे न बढ़कर बुरी तरह से डगमग होने लगी। नाविक भी हताश होगया, उसने कहा अब बचना कठिन है। हम लोगों के हाथ पैर फूल गये, विकराल रूप से मृत्यु मुँह बाए जैसे सामने ही खड़ी थी। हमारे साथियों में सरताज बिलकुल नास्तिक था। वह धाड़मार कर रोने लगा। सहसा नौका तीव्र वेग से

पुल की ओर तेज वायु के कारण चली। अब तो कोई चारा नहीं था, एकाध मिनट में ही परलोक जाने की तैयारी थी। निराश होकर भगवान को उच्चस्वर से पुकारने लगे। कीर्तन में सम्पूर्ण वृत्तियाँ लग गईं किसी को किसी बात का भी ध्यान नहीं था। सहसा हमारी नौका खम्भों के बीच से ऐसी निकली जैसे किसी ने खींचकर उधर कर दिया हो। नाविक चिल्ला पड़ा नाव टकराने से बच गई, गंगा मैया ने बचा लिया। हवा मन्द हो चली और आसन्न मृत्यु के कराल गाल में जाते-जाते हम लोग जैसे लौट आये। भूसी पहुँच कर हमने ब्रह्मचारी प्रभुदत्त जी को समस्त घटना सुनाई तो उन्होंने कहा तुम जिनके अखण्ड कीर्तन में आ रहे थे उन्हींने तुम्हारी रक्षा की।

हमारा वह नास्तिक साथी भी उसी दिन से पूरा आस्तिक बन गया। —*शम्भूनाथ मिश्र बीए एलएल बी.*

विनोबा जी ने 'भूदान' में कहा था कि ईश्वर बच्चों की वाणी में बोला करता है। मैं चाहता था कि प्रत्यक्ष प्रमाण मिले तो बात ज्यादा अच्छी तरह समझ में आ जावेगी।

दोपहर को खाने का समय आया मैं कच्चा प्याज खूब खाता था। थाली आने के पूर्व स्वयं प्याज काटना शुरू कर दिया। मेरी ३ वर्ष की बालिका (जो भीषण रोग से पीड़ित थी) पास ही चारपाई पर बेहोश लेटी थी। वह अपने आप स्पष्ट शब्दों में कह उठी "गन्दा लड़का है, प्याज खाता है" मैंने उसके नेत्रों को ध्यान पूर्वक देखा। क्या भगवान के नेत्र उन नेत्रों से भिन्न होते हैं। गुरु जी की अनुकम्पा से प्याज से विरक्ति उत्पन्न हुई। अब मुझे उसका स्वरूप भी अच्छा नहीं लगता ऐसी ही प्रेरणा सिनेमा न देखने की आकस्मिक प्राप्त हुई थी जो अभी तक निभा ली है। हम इन छोटी-छोटी बातों से अपना जीवन सुधार सकते हैं। — *राधेश्याम टंडन बी० ए०*

बात उन दिनों की है जब लखनऊ में मेरा पुस्तक-व्यवसाय का कार्य महायुद्ध के कारण बहुत शिथिल पड़ गया था। मेरे सहयोगी मित्र भी कई कारणों से रुष्ट होगये, कलह-शान्ति के लिये उस घर से भी हटना पड़ा। रहने की समस्या और ... संकट से विवश होकर अपनी जन्म-भूमि तिलहर वापस गया। मेरी प्रथम पत्नी परम धार्मिक और आदर्श स्त्री थी। बाल्यकाल में उसे ब्रह्मलीन स्वामी श्री एकरसानन्द जी महाराज के दर्शन और सत्संग का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उनके अलौकिक प्रभाव की घटनाएं जब वह कभी सुनाती तो मैं बड़े चाव से सुना करता। पत्नी ने मुझे सलाह दी कि इस मानसिक अशान्ति की निवृत्ति हेतु मुझे सम्पुट सहित श्री रामायण जी का अखण्ड पाठ करना चाहिये क्योंकि स्वामी जी अपने भक्तों को संकट निवारण के लिये अखण्ड पाठ का आदेश प्रायः दिया करते हैं। बात मन में बैठ गई। पाठ का आयोजन हुआ। *जेहि बिधि होइ नाथ हित मोरा।*
करिय सो बेगि दास मैं तोरा॥
—के सम्पुट सहित उस प्रथम बार के अखण्ड पाठ में जैसी आनन्दानुभूति हुई वैसी तो आज तक नहीं हुई दूसरे ही दिन शायद सम्वत् १९९६ का प्रथम दिवस था। मित्रों ने बताया मुमुक्षु-आश्रम में एक उत्सव है। सबके साथ आश्रम पहुँचा। उन दिनों यह आश्रम सिविल लाइन्स में था। पूज्य स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज के प्रथम दर्शन हुए। महाराज श्री की प्रशंसा बहुत दिनों से सुन कर भीतर-भीतर दर्शनों की जो लालसा जागृत हुई थी उसकी पूर्ति सहसा इस प्रकार हुई। कुछ देर बाद मेरे मित्र डाक्टर कन्हैयालाल ने कहा आज के शुभ मुहूर्त्त में स्वामी जी से दीक्षा ले लो, निन्यानवे के चक्कर से छूट जाओगे। और उस दिन भारत की इस महान विभूति को सद्गुरु के रूप में प्राप्त कर जो आनन्द हुआ था वह वर्णनातीत है।

मानसिक अशान्ति उसी दिन से काफूर हो गई पूर्व जीवन के अशान्त वातावरण से आज की तुलना जब कभी करता हूँ तो महान आश्चर्य होता है। साथ ही जीवन की धारा को आध्यात्मिक मोड़ देने वाली दिवंगता पत्नी के प्रति कृतज्ञता के भाव हृदय में भर जाते हैं। उसी की प्रेरणा से सद्गुरु के चरणों में ऐसा आश्रय मिला जिस पर मुझे गर्व है। अब जो प्रतिकूलताएँ अपने सामने आती हैं उनमें यद्यपि अशान्ति का आभास मिलता है किन्तु गुरु-कृपा से वह स्थायी नहीं रह पाता, विवेक कहता है यह तो साधारण सी बात है। —*रामस्वरूप गुप्त*

दिव्य-गीत

[श्री स्वामी जयरामदेव जी]

मनमोहन ! तेरी वंशी की ध्वनि छायी जग के कण-कण में।

कोकिल की कण्ठ कलाओं में,
भ्रमरों की गुन-गुन गुंजन में;
मैं सुनता हूँ वह स्वर-लहरी,
गंगा की कलकल लहरन में।

श्यामल घन-घोर घटाओं में,
गंभीर जलधि की गर्जन में,
शशि-रवि के प्रिय आलापों में;
तारावलियों के नर्तन में ॥

चक्की सी चलती पृथ्वी के,
नभ-घर्षण मृदु-मृदु स्वन में;
चातक की चाह भरी रव में,
जग प्राण पवन की सन् सन् में।

वीणा की मधु-झंकारों में,
मंजीरों की रस झनकन में;
अपनी उर-अन्तर की ध्वनि में,
करुणा रस गायन क्रन्दन में ॥

यह दिव्य-गीत अमृत बरसे,
प्रेमी मुनि मानस आंगण में;
इस ध्वनि तल में जो डूब गये,
वह आ निकले वृन्दावन में

दम्भ का स्वरूप

संशो० श्री स्वामी सनातनदेव जी महाराज

याद रक्खो, भगवान् के भजन में दम्भ करना महापाप है और प्रभु से विमुख होना है। अतः इसके समान और कोई रोग नहीं है, क्योंकि वेषधारियों का संकल्प सर्वदा यही रहता है कि किसी प्रकार लोग हमारा भजन देखें और हमें बड़ा भजनानन्दी समझें। जिस भजन में ऐसी वासना रहे उसे भगवान् का भजन नहीं कह सकते, यह तो केवल लोक-पूजा ही है। भजन में जब कोई कामना रहती है, तो उसमें दम्भ घुस बैठता है, और भजन में दम्भ का आजाना तो एक प्रकार की मनमुखता ही है। इसी से प्रभु ने कहा है कि जिस पुरुष को मेरे दर्शन की लालसा है उसे चाहिये कि मेरे भजन में लोगों की पूजा को स्थान न दे, अर्थात् सर्वदा दम्भ से दूर रहे। साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि जो लोग असावधानी और दम्भ पूर्वक मेरा भजन करते हैं वे परलोक में पश्चात्ताप करेंगे। एक बार महापुरुष से किसी ने पूछा था कि इस जीव की मुक्ति कैसे हो सकती है? तब उन्होंने कहा कि यदि यह पुरुष दम्भ छोड़कर भगवान् की आज्ञाओं का पालन करने में तत्पर रहे तो इसकी तत्काल मुक्ति हो जाय।

ऐसा भी कहा है कि परलोक में जब किसी पुरुष से पूछा जायगा कि तूने किस प्रकार भजन किया और वह कहेगा कि मैंने धर्म के लिये सिर दिया था, तो उसी समय आकाशवाणी होगी कि यह झूठ बोलता है, इसने तो अपने को शूरवीर जताने के लिये सिर दिया था, तब वह पुरुष नरक में ही पड़ेगा। फिर जब किसी दूसरे पुरुष से पूछेंगे कि तूने प्रभु की आज्ञा किस प्रकार मानी थी? और वह कहेगा कि मैंने प्रभु के निमित्त धन दान किया है, तब आकाशवाणी होगी कि यह भी झूठ बोलता है, इसने तो अपनी उदारता प्रकट करने के लिये दान दिया था, अतः वह भी नरकगामी होगा। इसी प्रकार जब तीसरे पुरुष से पूछेंगे कि तूने किस प्रकार भजन किया था, वह कहेगा कि मैंने बड़े मनोयोग से प्रभु के वचनों को पढ़ा था, तो उस समय भी आकाशवाणी होगी कि यह भी झूठ कहता है, इसने तो अपने को विद्वान प्रदर्शित करने के लिये पाठ किया था। अतः वह भी नरक में डाल दिया जायगा। फिर जब चौथे पुरुष से पूछेंगे कि मैंने तुझे पृथ्वी का राज्य दिया था, सो तूने किस प्रकार प्रजा का पालन किया? और वह कहेगा कि मैंने शास्त्र-मर्यादा के अनुसार न्याय किया था, तो उसी समय आकाशवाणी होगी कि यह भी झूठ बोलता है, इसने तो अपने को धर्मात्मा प्रकट करने के लिये न्याय किया था, अतः वह भी नरक में पड़ेगा। महापुरुष ने तो यह भी कहा है कि भगवत्प्रेमी को और कोई विघ्न इतना दूषित नहीं करता जितना कि यह दम्भ करता है। परलोक में मनुष्यों के लिये यह आकाशवाणी होगी कि "अरे पाखण्डियों तुमने जिन्हें दिखाने के लिये पाखण्ड किया था, उन्हींसे अब अपने भजन का फल भी माँगो।' इसके सिवा महापुरुष यह भी कहते हैं कि अरे भगवत्प्रेमियों! अपने को दम्भ रूपी नरक से बचाओ और प्रभु से प्रार्थना करो कि भगवान! इस दम्भ रूपी क्लेश से आप हमारी रक्षा करें।

इस विषय में प्रभु ने कहा है कि जिन पुरुषों ने मेरे भजन में लोगों से प्राप्त होने वाली मान-प्रतिष्ठा को मिलाया है, अर्थात् दम्भ किया है वे मुझसे बहुत दूर हैं। मैं उनका भजन उसकी प्रतिष्ठा करने

वाले लोगों को ही समर्पित कर देता हूँ, क्योंकि मुझे किसी के साथ मिलने की अपेक्षा नहीं है। महापुरुष भी कहते हैं कि भगवान् को कोई ऐसा आचरण प्रिय नहीं है, जिसमें रत्तीमात्र भी दम्भ रहता है। कहते हैं, एक बार उमर नामक संत ने किसी पुरुष को सिर नीचा किये बैठा देखा था। तब वे कहने लगे कि भगवन्! आप इसकी ग्रीवा सीधी कर दीजिये, क्योंकि एकाग्रता तो हृदय में होती है, सिर टेढ़ा करने से तो एकाग्रता नहीं होती। इसी प्रकार एक सन्त ने किसी पुरुष को सभा के बीच रोते देखा। तब उन्होंने कहा कि यदि तुम अपने घर के भीतर रोते तो अधिक लाभ हो सकता था। इस विषय में सन्त अली का कथन है कि दम्भी पुरुष के दो लक्षण प्रसिद्ध हैं—(१)जब वह अकेला होता है तो आलस्य करता है और जब लोगों को देखता है तब प्रसन्न चित्त से भजन करने लगता है। (२) जब अपनी प्रशंसा सुनता है तब सब कामों में विशेष सावधान हो जाता है और जब निन्दा सुनता है तब थका सा रह जाता है।

एक बार किसी जिज्ञासु ने एक सन्त से पूछा कि जो पुरुष दान देने में कुछ तो निष्काम भाव से और कुछ संसार में प्रशंसा पाने के लिये दे तब उसकी क्या स्थिति होती है? तब उन्होंने कहा कि वह पुरुष भगवान से विमुख ही रहता है, क्योंकि प्रभु की प्रसन्नता के लिये तो सब काम निष्काम भाव से होने चाहिये। एक समय सन्त उमर से किसी पुरुष की कुछ अवज्ञा हो गई। तब उन्होंने उससे कहा कि तुम इस अवज्ञा के लिये मुझे दण्ड दो। वह बोला कि मैंने भगवान् के और तुम्हारे निमित्त तुम्हें क्षमा किया। इसपर उमर ने कहा कि तुम या तो भगवान के निमित्त ही मुझे क्षमा करो या मेरी प्रसन्नता के लिये ही, दोनों की प्रसन्नता का सम्बन्ध लेकर क्षमा करना तो काम नहीं आता। तब उसने कहा कि मैंने भगवान के निमित्त ही तुम्हें क्षमा किया। सन्त फुजैल ने कहा है कि पूर्व काल में जिज्ञासु जन दम्भ किये बिना ही शुभ कर्म किया करते थे और अब शुभ कर्म किये बिना ही दम्भ करते हैं। एक अन्य सन्त का कथन है कि जब यह पुरुष दम्भ करता है तब भगवान कहते हैं कि देखो यह मेरा जीव मेरे ही साथ किस प्रकार हँसी करता है।

इसी पर महापुरुष ने कहा है कि सात पुरियों के सात देवता रक्षक भी भगवान् ही ने बनाये हैं। सो जब इस पुरुष के शुभ कर्मों का लेखा प्रथम पुरी में पहुँचता है तब उस पुरी का अधिष्ठाता देवता कहता है कि इसकी सभी क्रियायें निष्फल हैं, क्योंकि यह पुरुष लोगों की निन्दा करता था, अतः इस निन्दक के शुभ कर्मों को मैं स्वीकार नहीं करता। जो पुरुष निन्दक नहीं होता उसके कर्मों का लेखा दूसरी पुरी तक पहुँचता है। तब वहाँ का अधिष्ठाता कहता है कि इसके कर्म इसी के मुँह पर डाल दो, क्योंकि इसने शुभकर्म करके स्वयं ही अपनी प्रशंसा की है, अतः मैं इसके शुभ कर्मों को स्वीकार नहीं करता। किसी पुरुष के कर्मों का लेखा तीसरी पुरी तक पहुँचता है। उसमें दान, जप, तप, व्रत आदि अनेकों शुभ कर्मों का उल्लेख रहता है। किन्तु वहाँ का अधिष्ठाता यह कहकर उन्हें अस्वीकार कर देता है कि इसके सब सद्गुण अभिमान के कारण निष्फल हो गये हैं। किसी व्यक्ति के कर्मों का लेखा चौथी पुरी तक पहुँच जाता है तो वहाँ का देवता कहता है कि इसने विद्या और शुभ कर्मों में लोगों से ईर्ष्या की थी इसलिये मैं इसके कर्मों को स्वीकार नहीं करता। किसी का लेखा जब पाँचवीं पुरी तक पहुँचता है तो वहाँ का देवता कहता है कि इसने दुखिया और अनाथों पर दया नहीं की और मुझे भगवान् की यह आज्ञा है कि सुकर्मी होने पर भी यदि कोई पुरुष दयाहीन हो तो तुम उसके शुभकर्मों को स्वीकार मत करना। इसी प्रकार किसी के कर्मों

का लेखा छठी पुरी तक पहुँचता है तो वहाँ का अधिष्ठाता कहता है कि इसने तो लोगों से स्तुति पाने के निमित्त भजन-स्मरण किया था। अथवा इसे परलोक की कामना रहती थी, इसलिये मैं इसके शुभ कर्मों को नहीं मानता। निदान किसी-किसी कर्मों का लेखा सातवीं पुरी में भी पहुँच जाता है। उसके कर्मों का तेज सूर्य के समान देदीप्यमान होता है। तब उसे देखकर वहाँ का देवता कहता है कि इसके हृदय में सूक्ष्म अहङ्कार है और यह अपने को कर्मों का कर्त्ता मानता है। अतः मैं इसके कर्मों को स्वीकार नहीं करता। तात्पर्य यह है कि जिसके कर्म निष्काम और सब प्रकार के दोषों से रहित होते हैं उसी के कर्मों का लेखा सातो पुरियों को पार करके भगवान् के दरबार में पहुँचता है और प्रभु उसे स्वीकार करते हैं; और सबके कर्म तो निष्फल ही होते हैं।

अभिमान

शेख़ सादी लड़कपन में अपने पिता के साथ मक्का जा रहे थे। वे जिस दल के साथ जा रहे थे। उसका नियम था—आधी रात को उठकर प्रार्थना करना। एक दिन आधी रात के समय सादी और उनके पिता उठे प्रार्थना की; परन्तु दूसरे लोगों को सोते देखकर सादी ने पिता से कहा—"देखिये ये लोग कितने आलसी हैं, न उठते हैं, न प्रार्थना करते हैं।"

पिता ने कड़े शब्दों में कहा—'अरे सादी! बेटा! तू भी न उठता तो अच्छा होता। जल्दी उठकर दूसरों की निन्दा करने से तो न उठना ही ठीक था।'

दम्भ का स्वरूप

अपने को विरक्त और भजन-निष्ठ दिखाना, वेश-भूषा के द्वारा संसार में मेल-जोल बढ़ाना, अपनी विशेषता प्रकट करना और अपने प्रति लोगों का विश्वास बढ़ाना,यह सब दम्भ का ही स्वरूप है। यह दम्भ पाँच प्रकार का होता है, जैसे—

१—शरीर को रंग कर अपनी तेजस्विता प्रकट करनी, शरीर को दुर्बल कर देना, भ्रकुटि चढ़ाकर अपने को भयानक प्रकट करना, अपनी गम्भीरता सूचित करने के लिये उच्च स्वर से न बोलना तथा २—उपवासी हूँ, यह दिखाने के लिये ओठों को सूखा रखना। ये सब क्रियायें यदि लोगों को छलने के लिये की जायँ तो उसे दम्भी ही समझना चाहिये।

२—रंगीन, अल्प, मलिन अथवा पुराने वस्त्र पहिनना, अपने को बड़ा तपस्वी दिखाना तथा मृगचर्म आदि धारण करना भी प्रायः दम्भ के निमित्त ही होता है। इन लोगों की वृत्ति ऐसी होती है कि यदि संयोग वश इन्हें कोई विशेष प्रकार वस्त्र पहिनने को कहे तो ये लज्जावश उसे पहन नहीं सकते। कोई-कोई तो ऐसे कपटी होते हैं कि महीन वस्त्रों को फाड़ कर उनकी गुदड़ी सिला लेते हैं, जिससे कि धनी और राजा लोग भी सम्मानित समझ कर इनका आदर करें। इनके पास मोटा वस्त्र फाड़ा हुआ हो तो भी उसे पहन नहीं सकते, क्योंकि इससे इन्हें लोकनिन्दा की आशंका रहती है। ये लोग इतना समझते नहीं कि ऐसा करके हम लोगों की ही पूजा करते हैं, भगवान से तो दूर ही रहते हैं।

तात्पर्य यह है कि दम्भी पुरुष अपने मान के लिये तरह-तरह के कष्ट उठाता है। कभी वह एक ही मास का आहार करता है और कभी निराहार भी रह जाता है। किन्तु ये सारी करतूतें महा पापरूप हैं क्योंकि जप, तप, व्रत और भजन तो भगवान् के लिये ही होने चाहिये। जब इन कर्मों में मान और बड़ाई की कामना रहती है तब तो इन्हें केवल पाखण्ड ही समझना चाहिये। उचित तो यह है कि यदि अपना मान बढ़ाने की इच्छा हो तो व्यवहार

कौशल द्वारा अपनी विशेषता प्रकट करे। उसे पाप नहीं कह सकते, जैसे ज्योतिष, व्याकरण, वैद्यक आदि विद्याओं में अपनी प्रवीणता प्रगट करना। किन्तु मान पाने के लिये अपने को विरक्त या भजनानन्दी दिखाना सर्वथा अनुचित है। हाँ, यदि स्नान और उज्ज्वल वस्त्र के द्वारा शरीर को परिष्कृत करने का ही उद्देश्य हो तो इसे भी दम्भ नहीं कह सकते, क्योंकि यह विचार भी अच्छा ही है कि हमारे शरीर की मलिनता के कारण भगवद् भक्तों की गोष्ठी में किसी को ग्लानि न हो। ऐसा आचरण तो स्वयं महापुरुष का भी रहा है।

यहाँ भजन में दिखलावा करना जो अनुचित बताया है उसके दो कारण हैं।

१—यदि किसी पुरुष के विचार तो सकाम हों किन्तु वह अपने को निष्काम प्रदर्शित करे तो यह प्रकट ही है, क्योंकि जब लोगों को इसकी सकामता प्रकट होगी तो वे इसका विश्वास नहीं करेंगे।

२—भजन, स्मरण और सारे शुभकर्म केवल भगवान् के निमित्त ही करने चाहिये यदि ऐसी क्रियायें संसार को दिखाने के लिये की जायँ तो यह भी भगवान् के साथ उपहास करना ही होगा। यह ऐसी ही बात है जैसे कोई पुरुष किसी मण्डली के अध्यक्ष के समीप रहे और अपने को उसी के सेवक रूप से प्रदर्शित भी करे, किन्तु हृदय में उद्देश्य यही हो कि इस अध्यक्ष के सुन्दर दास को देखता रहूँ। इस प्रकार जब इसकी दृष्टि और वृत्ति उस रूपवान् दास में अटकी हुई हैं तो अपने को अध्यक्ष का सेवक कहना तो उसका उपहास करना ही होगा। इसी प्रकार जो भजन-स्मरण केवल भगवान के लिये होना चाहिये उसे यदि पराधीन जीवों को दिखाने लगे तो यह केवल कपट ही है। इससे तो यही प्रकट होता है कि वह पुरुष भगवान् को दण्डवत् प्रणाम नहीं करता, बल्कि जगत की ही बन्दना करता है, क्योंकि उसके संकल्प की दृढ़ता तो संसार को दिखाने में ही है, अतः जो मनुष्य शरीर से तो भगवान् की वन्दना करता है, किन्तु उसका मन संसार की उपासना करता रहता है वह निःसन्देह भगवान् से विमुख ही है।

३—निरन्तर ओठों को हिलाते रहकर अपने को बड़ा भजननिष्ठ दिखाना, मौन होकर एकाग्रता प्रदर्शित करना, तरह-तरह से शास्त्रों की व्याख्या करना, अपने को बहुत बुद्धिमान प्रदर्शित करना, ठण्डी साँस छोड़कर अपने को प्रेमी प्रकट ... अपनेको बड़ा सत्सङ्गी सूचित करने के लिये अने... बीते हुए सन्तों की चर्चा करना—ये सब पाख... की ही बातें हैं। यह वाणी का दम्भ है।

४—लोगों को देखते ही बहुत सिर झुकाना, नीचा करके बैठना और किसी की ओर दृष्टि उठाना अथवा लोगों को दिखाकर दान देना मार्ग में बड़ी गम्भीर मुद्रा से चलना—यह ... में होने वाला दम्भ है।

५—अपने शिष्य और सखा आदि ... दिखलाना, अपने ऐश्वर्य को भरी सभा में स्वयं प्रकट करना तथा यह कहना कि अमुक राजा हमार सेवक है, अमुक सेठ हमारा पुजारी है। इसी जब किसी से विरोध हो तो उससे यह कहना तेरा गुरु कौन है और किससे तेरा मेल-जोल है मैंने तो इतने वर्ष तक बड़े-बड़े महापुरुषों का ... किया है। यह पाँचवें प्रकार का दम्भ है।

किसी देश की महानता उस देश की लम्बाई-चौड़ाई या खूबसूरती पर अवलम्बित नहीं होती, बल्कि वहाँ के मनुष्यों के चरित्र पर आश्रित होती है। —कालबर्ट

अच्छा पैसा ही अच्छे काम में लगता है

अबुल अब्बास ईश्वर-विश्वासी त्यागी महात्मा थे; वे किसी से भीख नहीं माँगते, टोपी सीकर अपना गुजारा करते थे। एक टोपी की कीमत सिर्फ दो पैसे लेते थे। इनमें से जो याचक पहले मिलता, उसे एक पैसा दे देते। बचे हुए एक पैसे से पेट भरते। इस प्रकार जब तक दोनों पैसे बरत नहीं लिये जाते, तब तक नयी टोपी नहीं सीते। भजन ही करते रहते थे।

इनके एक धनी शिष्य था; उसके पास धर्मादे की निकाली हुई कुछ रकम थी। उसने एक दिन पूछा "भगवन्! मैं किसको दान करूँ?" महात्मा ने कहा, जिसे सुपात्र समझो, उसी को दान करो। शिष्य ने रास्ते में एक गरीब अन्धे को देखा और उसे सुपात्र समझ कर एक सोने की मोहर दे दी। दूसरे दिन उसी रास्ते से एक शिष्य फिर निकला। पहले दिन वाला अंधा एक दूसरे अंधे से कह रहा था कि 'कल एक आदमी ने मुझको एक सोने की मोहर दी थी; मैंने उससे खूब शराब पिया और रात को अमुक वेश्या के यहाँ जाकर आनन्द लूटा।

शिष्य को यह सुनकर बड़ा खेद हुआ। उसने महात्मा के पास आकर सारा हाल कहा। महात्मा उसके हाथ में एक पैसा देकर बोले जा जो सबसे पहिले मिले, उसी को पैसा दे देना। यह पैसा टोपी सीकर कमाया हुआ था।'

शिष्य पैसा लेकर निकला, उसे एक मनुष्य मिला; उसने उसको पैसा दे दिया और उसके पीछे पीछे चलना शुरू किया। वह मनुष्य एक निर्जन स्थान में गया और उसने अपने कपड़ों में छिपाये हुए एक मरे पक्षी को निकाल कर फेंक दिया। शिष्य ने उससे पूछा कि तुमने मरे पक्षी को कपड़ों में क्यों छिपाया था और अब क्यों निकाल कर फेंक दिया?" उसने कहा—आज सात दिन से मेरे कुटुम्ब को दाना पानी नहीं मिला। भीख माँगना मुझे पसंद नहीं। आज इस जगह मरे पक्षी को पड़ा देखकर मैंने लाचार होकर अपनी और परिवार की भूख मिटाने के लिये उठा लिया था और इसे लेकर मैं घर जा रहा था। आपने मुझे बिना ही माँगे पैसा दे दिया, इसलिए अब मुझे इस मरे पक्षी की जरूरत नहीं रही। अतएव जहाँ से उठाया था, वहीं लाकर डाल दिया।

शिष्य को उसकी बात सुनकर बड़ा अचरज हुआ। उसने महात्मा के पास जाकर सब वृत्तान्त कहा। महात्मा बोले—'यह स्पष्ट है कि तुमने दुराचारियों के साथ मिलकर अन्याय पूर्वक धन कमाया होगा, इसी से उस धन का दान दुराचारी अन्धे को दिया गया और उसने उससे सुरा-पान और वेश्या गमन किया। मेरे न्यायपूर्वक कमाये हुए एक पैसे ने एक कुटुम्ब को निषिद्ध आहार से बचा लिया। ऐसा होना स्वाभाविक ही है। अच्छा पैसा ही अच्छे काम में लगता है।

भगवत्कृपा की धारणा

(पूज्यपाद श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज)

संसार के सभी कार्यों को करते हुए मनुष्य समझता है कि यह कार्य मैंने किया है किन्तु यह बड़ी भारी भूल है। जो भी वस्तु हमें दृष्टि-गोचर होती है वह सभी भगवान् की है। मनुष्य का शरीर इन्द्रियाँ और बुद्धि सब भगवान् की सत्ता से ही क्रियाशील रहते हैं अतएव जो कुछ होता है वह सब उसीके द्वारा होता है। मनुष्य को जब कभी सुख मिलता है तो समझता है कि भगवान् की कृपा से इस सुख की प्राप्ति हुई है और जब कभी दुःख आ पड़ता है तो यह समझने लगता है कि भगवान् रूठ गये हैं। वास्तव में जब दुःख आवे तब भी यही समझना चाहिये कि यह भी भगवान् की असीम कृपा है। जिस समय फोड़े का आपरेशन डाक्टर करने लगता है तो रोगी समझता है कि डाक्टर निर्दयी है, किन्तु जिस प्रकार डाक्टर की निर्दयता में दया छिपी हुई है ठीक इसी प्रकार हमारे दुखों के पीछे भी एक ऐसा भगवान् का रहस्य छिपा है जो मंगलमय है और जिसे हम नहीं जान सकते परन्तु भगवान् जानते हैं। बालक जब माता की गोद में खेलता है उस समय दीपक की जलती शिखा को देखकर उसे बार-बार पकड़ने की चेष्टा करता है। माता उसे बार-बार हटाती है किन्तु वह जब हठ करने लगता है तो पीट भी देती है। माता की उस ताड़ना को आप क्या कहेंगे ? मार या प्यार ?

हम सब उस परमपिता परमात्मा के अज्ञानी बालक हैं, क्योंकि हम भी तो अपने पर पड़ने वाले दुःखों में उस प्रभु की छिपी हुई कृपा की झाँकी नहीं कर पाते। जब नन्हा बालक पाठशाला में पढ़ने के लिये जाता है और पढ़ाई की अपेक्षा उसका मन खेल में अधिक लगता है तो उसके मन को भय दिखा कर, उसकी वृत्तियाँ विद्या की ओर लगाने के लिये बालक के अभिभावक अथवा अध्यापक डाँट-डपट करते हैं या मार लगाते हैं। बाल्यकाल में उस ताड़ना के कारण वह अपने माता, पिता और अध्यापकों को शत्रु ही समझता है। किन्तु एक दिन जब वही बालक युवा बनकर अपनी पढ़ाई समाप्त कर, कोई सरकारी आफीसर बनता अथवा अन्य उच्च पद प्राप्त करता है तब प्रसंग चलने पर वह श्रद्धा से अपने उन बाल्यकालीन ताड़कों की प्रशंसा करते थकता नहीं। तब वह कहता है कि गुरुजनों की उस ताड़ना से ही मैं आज इस कुर्सी का अधिकारी बना हूँ। ठीक इसी प्रकार, एक दिन हमें भी, अपने पर इस समय पड़ने वाले दुखों के सम्बन्ध में अनुभव होगा, तब हम निस्संकोच कहेंगे कि उस समय यदि वह दुख उस रूप में न आया होता तो आज का यह सुखद वातावरण कैसे बन पाता ?

वास्तव में, मंगलमय प्रभु की सृष्टि में कहीं अमंगल है ही नहीं क्योंकि जो कुछ अमंगल दीख रहा है, परिणाम में उसके भी मंगल ही छिपा है। अतएव हम पर जब कभी संकट आवे तो हमें इसी धारणा का आश्रय लेना चाहिये। कभी संकट पड़ने पर समझना चाहिये कि भगवान् ने यह थोड़ा दुःख भेजकर हमारा उद्धार कर दिया, इस समय न जाने कौन सी मुसीबत आने वाली थी। इस प्रकार का अभ्यास करते रहने से उस प्रतिकूलता में भी आपको अनुकूलता के दर्शन होंगे और विपत्तियों की भयानक आँधी में भी आप पर्वत जैसे अडिग बने रहेंगे।

किंवदन्ती है कि एक समय अकबर बादशाह और उनके प्रिय मंत्री बीरबल बैठे हुये थे। अकबर प्रत्येक कार्य करने से पहले अपने चतुर मंत्री बीरबल से सलाह अवश्य ले लिया करते थे। बीरबल साधु संतों के सत्संग के प्रभाव से सदैव यह अनुभव करते थे कि हर एक दुःख में भगवान् की कृपा अवश्य छिपी रहती है। बातचीत करते-करते बादशाह सलामत स्वयं चाकू से कोई फल भी छीलते जारहे थे। कुछ असावधानी होने पर उनकी तर्जनी में गहरा चाकू लग गया। खून की धार बह चली। उस समय बीरबल के मुख से निकल गया— "भगवान जो करते हैं अच्छा ही करते हैं"। एक तो करेला दूसरे नीम चढ़ा वाली कहावत चरितार्थ होगई। सहानुभूति के स्थान पर ऐसी बात सुनकर शाहन्शाह अकबर आग बबूला होगये और उन्होंने बीरबल को तुरन्त देश निकाले की आज्ञा दे दी।

कुछ दिनों बाद जब क्रोध शान्त हुआ तो अकबर को बीरबल की याद खटकने लगी। बादशाह जब बाहर जाते थे तो बीरबल को अपने साथ ही ले जाया करते थे। बादशाह एक बार शिकार खेलने गये, बियाबान जंगल में साथी और सिपाही छूट गये। अकबर मार्ग से भटक गये और थकावट से चूर होकर धरती पर ही सो गये। उन्हें सोते हुए देखकर कई डाकुओं ने सहसा रस्सी से कसकर बाँध लिया। अकबर ने बेबसी से उनकी ओर देख कर पूछा—तुम लोग कौन हो? हमें क्यों बाँधा है?

"हम डाकू हैं"—भयंकर डाकू सरदार बोला आज हम किसी मनुष्य का बलिदान देवी के सामने करना चाहते थे, सौभाग्य से तुम हमारे हाथ लग गये। तुम स्वस्थ हो, सुन्दर हो, कालिका देवी तुम्हारी भेंट लेकर प्रसन्न हो जायगी।

अकबर बेचारे क्या करते, परवश थे। हिन्दुस्तान के शाह की ऐसी दुर्गति! जैसा तकदीर में लिखा है, होकर रहेगा। चुपचाप उन आततायियों द्वारा एक प्रकार से घसिटते हुए चल दिये। बलिदान की तैयारी के लिये जब स्नान कराने के लिये उनके कपड़े उतारे गये तो सरदार की निगाह उनकी कटी उँगली पर पड़ी। सरदार ने कहा— अरे! यह आदमी तो अंगहीन है। इसकी भेंट नहीं चढ़ाई जा सकती, छोड़ दो इसे। अकबर छूट गये तो उन्हें बीरबल की बात याद आई—"भगवान जो करते हैं वह अच्छा ही करते हैं" बादशाह को बहुत पश्चात्ताप हुआ। बीरबल की तलाश हुई, जब बीरबल आगये तो बादशाह ने उन्हें सब हाल सुनाया और अपने व्यवहार की क्षमा माँगी। बीरबल ने फिर कहा—आपके द्वारा भगवान ने जो कुछ कराया वह भी अच्छा ही किया। उस समय यदि आप मुझे निकाल न देते तो मैं भी आपके साथ जंगल में होता। आप तो अंग-हीन होने के कारण बच ही जाते और मेरा बलिदान हो जाता।

यह कहानी ऐतिहासिक है या कल्पना यह तो मुझे नहीं मालूम किन्तु इस दृष्टान्त से शिक्षा मिलती है कि संकट काल में भी धैर्यपूर्वक भगवान का भरोसा नहीं छोड़ना चाहिये और विश्वास रखना चाहिये कि यह जो कुछ हो रहा है, इससे मेरी भलाई होगी।

जब सांसारिक पिता भी सदैव यही चाहता है कि हमारी सन्तान सब प्रकार से सुखी रहे। सन्तान को सुखी बनाने के लिये पिता अनेकों प्रयत्न करता ही रहता है, तब क्या हमारा परमपिता परमात्मा हमारे लिये दुःखों की सृष्टि करेगा? ऐसी बात तो समझ में नहीं आ सकती।

रात्रि में जब अबोध शिशु माता की ममता, मयी गोद में सो जाता है और माता उसे जगाकर दूध पिलाती है उस समय भी बालक रोता है। क्या वह अपने बालक को दुःख पहुँचा रही है।

इन प्रश्नों पर आप विचार करेंगे तो आपको स्वयं अपने से ही उत्तर मिलेगा कि भगवान जो

करते हैं अच्छा ही करते है। किन्तु ऐसी धारणा बन जाना साधारण सी बात नहीं है। इसकी प्राप्ति के लिये सदैव शुभ संकल्पों से मन को भरपूर रखने की आवश्यकता है।

हिरण्यकश्यप ने प्रह्लाद को कितने कष्ट दिये। पर्वत के ऊँचे शिखर से गिराया गया। दहकती ज्वालाओं में भस्म कर देना चाहा। किन्तु सभी संकटों में प्रह्लाद ने अपनी दृढ़ धारणा शक्ति के बल पर पिता की सभी क्रियाओं में भगवान की असीम कृपा का ही अनुभव किया फलस्वरूप उन्हें भगवान प्राप्त हुए और लाखों वर्ष बीतने पर आज भी उनकी कीर्ति-पताका ज्यों की त्यों फहरा रही है।

भक्तिमती, राजरानी-मीरा ने विष को भी इसी धारणा शक्ति के सहारे पी लिया। उनकी धारणा ने ही तो उस विष को भी अमृत बना दिया था। संकटों और दुःखों की घनघोर घटायें जब हमें घेरे हुए हों और उस समय भी हम यदि उन महान प्रतिकूलताओं में भी भगवान की कृपा का अनुभव कर सकें तभी अपनी साधना सफल हुई समझनी चाहिये। दुखों के पड़ने पर ही भगवान की याद सच्चे हृदय से की जाती है। फिर उस आकुल पुकार को सुनकर, उन दुःख-भंजन, संत-रंजन को दौड़ना ही पड़ता है। पाण्डवों की जननी देवी कुन्ती ने श्यामसुन्दर से यही वरदान माँगा था कि प्रभो! यदि आप मुझ से प्रसन्न हैं तो यही वरदान दीजिए कि जीवन की अन्तिम सांस तक मुझपर दुःखों की ही वर्षा होती रहे, ऐसा होने से मैं कभी आपको भूल नहीं सकूँगी।

वास्तव में, ऐश्वर्य और वैभव में फँस कर ही मनुष्य भगवान को भूला रहता है। भगवान को भूलकर विषयासक्ति में लिप्त रहने का स्पष्ट अर्थ है कर्त्तव्य-पथ से भ्रष्ट हो जाना। अतएव आध्यात्मिक पतन से हमें पग-पग पर सावधान रहने की आवश्यकता है। जब अपने पास खूब धन-सम्पत्ति आने लगे तो समझो भगवान ने हमारे द्वारा दीन-दुःखी जनों की सेवा और परोपकार के निमित्त यह सम्पत्ति भेजी है। इसके विपरीत जब आर्थिक हानि होजाय तो भी यही समझो कि इसमें भी भलाई होगी।

इस प्रकार सुख और दुःख दोनों में ही भगवान की असीम कृपा का दर्शन निरन्तर करते रहो। पूरे वर्ष की पढ़ाई के पश्चात, जिस प्रकार विद्यार्थी की परीक्षा होती है, इसी प्रकार दुःखों के आने पर अपनी भी परीक्षा समझनी चाहिए। परीक्षा में उत्तीर्ण होने वाले विद्यार्थी को ही डिग्री और डिप्लोमा प्राप्त हो सकता है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए अर्जुन को समझाया—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
सम दुःख सुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥

अर्थात्—हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन! सुख और दुःख को समान समझने वाले जिस धीर पुरुष को यह इन्द्रियों के विषय व्याकुल नहीं कर पाते वही परमपद का अधिकारी हो सकता है।

जब इस प्रकार की श्रद्धा और विश्वास प्राप्त होजाय तो समझो कि हम परीक्षा में उत्तीर्ण होंगे।

भगवत्कृपा की सत्य-धारणा से यह मानव इसी जीवन में देव-पद को प्राप्त कर सकता है, इसमें रंचक मात्र सन्देह नहीं।

ऐसे मँहगे मोल का एक स्वास जो जाय।
तीन लोक नहिं पटतरे काहे रि मिलाय॥

मौत की तैयारी करो

(पूज्यपाद श्री स्वामी भजनानन्द जी महाराज)

हम कभी स्वप्न में भी यह विचार नहीं करते कि एक दिन हमें यह सब कुछ छोड़कर यहाँ से चला जाना है। हमारे सामने जो परिस्थितियाँ हैं, उन्हीं में उलझे हुए हम अपने जीवन को व्यतीत कर रहे हैं आज यह करना है, कल वह करना है, अगले साल ऐसा करेंगे, इत्यादि। अनेकानेक संकल्पों से बँधा जीवन जैसे एक जाल में जकड़ा रहता है। अनेकानेक गुत्थियों को सुलझाने में ही मानव की समस्त शक्तियाँ और समय व्यतीत होता चला जा रहा है। किन्तु द्रौपदी के चीर की भाँति यह अन्तहीन उलझन तो कभी समाप्त होने का नाम ही नहीं लेती। "कभी समाप्त हो भी सकेगी या नहीं ?" इस महत्वपूर्ण समस्या पर विचार करने के लिये मनुष्य को अवकाश ही कहाँ है ? सृष्टि के प्रारम्भकाल से लेकर आज तक के इतिहास के पन्ने उलट जाइये किन्तु आप यह नहीं कह सकते कि अमुक ने अपनी सभी गुत्थियाँ, सभी उलझनें सुलझा ही डाली थीं। तो फिर केवल, प्रतिपल इसी में अपनी प्राप्त शक्तियों का अपव्यय करना तो बुद्धिमानी की बात नहीं है।

वास्तव में भौतिक सुखों की अधिकाधिक प्राप्ति के लिये प्राणपण से जुटे रहने के कारण हम अपने लक्ष्य को बिल्कुल भूल गए हैं—और यही हमारी भयंकर भूल है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि अपने से अधिक सुखी व्यक्ति को देख सुनकर हमारे मन में ऐसी उथल-पुथल होती है कि हमें भी ऐसा सुख मिलना चाहिए। बस पहिले ऐसे विचार बने फिर पुष्ट हुए और प्राप्ति की दौड़ प्रारम्भ हो गई। किन्तु इसके विपरीत पहलू पर जैसे हम जान-बूझकर मन की आँखें मूंद लेते हैं। जैसे किसी दुखी या निर्धन व्यक्ति को देखा तो कभी यह विचार नहीं बनता कि मेरी भी ऐसी स्थिति हो सकती है। उस समय तो हमारे मनीराम कहते हैं कि मुझे तो सुखी ही रहना है, यह तो अपने प्रारब्ध का फल भोग रहा है इत्यादि। दूसरा कोई रोगी हो सकता है हमें तो निरोग ही रहना है। अर्थात दुःखों का निर्माण दूसरों के लिये हुआ और समस्त सुख हमारे हिस्से में आने चाहिये। इस प्रकार ऐसे असम्भव को सम्भव बनाने की कोरी कल्पनाओं में यह शेखचिल्ली मन सदैव डूबा रहता है।

यदि उचित पहलू की ओर मन का मोड़ हो जाय, अर्थात मानव जीवन के वास्तविक लक्ष्य की ओर हमारी दृष्टि हो जाय तो इन गुत्थियों के सुलझने में किंचित भी देर नहीं लगेगी। तब तो हम भली भाँति समझ लेंगे कि मृत्यु तो सदैव हमारे पीछे ही खड़ी रहती है। सम्भव है इस जीवन की शृङ्खला आज ही छिन्न-भिन्न हो जाय। "मेरा यहाँ कुछ नहीं, यहाँ तक कि यह शरीर भी मेरा नहीं क्योंकि इसे भी एक दिन काल का कलेवा बन जाना ही पड़ेगा" ऐसे विचारों की तन्मयता में स्वाभाविक ही दैवी सद्गुण स्वयमेव अपने अन्तःकरण में प्रविष्ट हो जाते हैं। क्योंकि ऐसे विचारशील व्यक्ति का मोह संसार से हट जाता है और स्वप्न में भी फिर उसके द्वारा पाप कर्म नहीं हो पाते।

तर्कशील व्यक्ति यहाँ पर यह तर्क लगायेंगे कि यदि अपने सामने मौत की तैयारी की बात ही सदैव रक्खी जायगी तो फिर संसार के काम तो सुचारु रूप से नहीं चल सकते। ऐसे विचारों से मनुष्य अकर्मण्य बन कर केवल माला सटकाने को ही अपना कर्त्तव्य समझ बैठेगा और कर्म की शृंखला टूट जायगी। किन्तु यह भ्रम है। अथवा ऐसा समझकर जो निष्कर्म और आलसी बनकर बैठ जाय तो वह एक प्रकार से समाज और देश

का शत्रु ही हुआ। क्योंकि समाज और देश का महान ऋण है हमारे इस शरीर पर। यदि उसकी सेवा में अपनी प्राप्त शक्तियों और शरीर का सदुपयोग न हुआ तो अधःपतन निश्चित है। वास्तव में इस रहस्य को सत्संग के द्वारा भली भाँति समझ कर जो कल्याण-कामी लक्ष्य की ओर उन्मुख हो जाता है वह इस संसार के काम जैसे सुन्दर रूप में कर सकता है वैसा तो संसारासक्त कर ही नहीं सकता। वह नाटक के पात्र की भाँति अपने पार्ट को इतनी कुशलता से निर्वाह करता है कि दर्शकों की भाँति समस्त संसार वाह-वाह और धन्य-धन्य कर उठता है। ऐसे असंख्य उदाहरण, प्रेमी पाठकों ने पढ़े हैं, देखे हैं और सुने भी होंगे। अस्तु यह तो निर्विवाद सिद्धान्त है कि संसार की सच्ची सेवा इसी प्रकार के व्यक्ति से ही हो सकती है। ऐसी स्थिति वाला ही सुख-दुःख मान अपमानादि द्वन्द्वों में समदृष्टि रख सकता है।

अब यह प्रश्न है कि ऐसी स्थिति की प्राप्ति के लिये हमें कौन से प्रयत्न करने चाहिये। यद्यपि अनेक साधन हैं इसके लिये, किन्तु सभी में प्रमुख अथवा प्रथम साधन भगवान श्रीकृष्ण जी ने अर्जुन को बताया—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्य मनहंकार एव च।
जन्ममृत्यु जरा व्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥

अर्थात—इस लोक और परलोक के सम्पूर्ण भोगों में आसक्ति का अभाव और अहंकार का भी अभाव एवं जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदि में दुःख-दोषों का बारम्बार विचार करना।

अपने असली मार्ग से भ्रष्ट न होने के लिये इन परमावश्यक बातों पर विचार करना ही चाहिये। ऐसी विचारधारा बन जाने पर मनुष्य का हृदय बलिष्ट बन जाता है। वास्तविकता का पता लग जाने पर ही मनुष्य सांसारिक दुखों से छूट सकता है। सत्-असत् का ज्ञान प्राप्त करने के लिये सत्संग ही एक उपाय है। सत्संग के अभाव में ही मनुष्य माया के कराल चक्र में पिसता रहता है। अतएव, सत्संग से उस तत्त्व का पता लग जाने पर, इस नश्वर शरीर को मौत का शिकार समझो। ऐसा समझ लेने पर हम अपने वास्तविक स्वरूप का पता लगा सकते हैं। अर्थात 'मैं' यह शरीर नहीं 'आत्मा' हूँ परमात्मा का अविनाशी अंश हूँ। शुद्ध-बुद्ध और चैतन्य हूँ। मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ मेरी चाकर हैं और 'मैं उनका स्वामी हूँ' ऐसी धारणा बनते ही अपना जीवन सर्वतोभावेन सुखी बन जायगा। जल में कमल के पत्ते की तरह रह कर इस संसार से जाते समय, महाभाग बालि की तरह मृत्यु का किञ्चित दुःख हमें लग नहीं सकेगा।

रामचरन दृढ़ प्रीति कर बालि कीन्ह तनु त्याग।
सुमन माल जिमि कंठ से गिरत न जानइ नाग॥

मृत्यु का भय ही इस संसार में सब से बड़ा भय है। किन्तु जब मृत्यु की असलियत का पता लग जाता है तो मौत बेचारी कुछ भी बिगाड़ नहीं पाती। मौत ही क्या, प्रलय का दुःख भी उसे विचलित नहीं कर

समय का मोल

खोई हुई सम्पत्ति कम-खर्ची और परिश्रम से प्राप्त की जा सकती है; भूला हुआ ज्ञान अध्ययन से प्राप्त हो सकता है; गंवाया हुआ स्वास्थ्य दवा और संयम से लौटाया जा सकता है; परन्तु नष्ट किया हुआ समय सदा के लिये चला जाता है।

—एल. हूवरिट

सकता। जिस प्रकार परीक्षित ने सात दिन में ही मौत की तैयारी करली थी उसी प्रकार हमें भी मौत की तैयारी कर लेनी चाहिये क्योंकि इन्हीं सात दिनों में हमें भी इस मुसाफिर खाने से कूच करना ही पड़ेगा।

इसलिये स्वामी राम के शब्दों में—

है मौत दुनिया में बस ग़नीमत,
ख़रीदो इसे राहत के भाव।

कौन हूँ मैं कौन हूँ मैं

प्रश्न उठता है हृदय में कौन हूँ मैं तत्व सुन्दर।
कौन से शुचि तत्व से अस्तित्व मेरा विश्व अंदर॥
देह हूँ या और सत्य सुन्दर तत्व हूँ मैं।
कौन हूँ मैं कौन हूँ मैं॥

पंच भौतिक तत्व से निर्मित स्वयं को मान लूँ भी।
सर्वगुण सम्पन्न अपने आपको मैं जान लूँ भी॥
किन्तु है तन तो विनासी और भय से त्रस्त हूँ मैं।
कौन हूँ मैं कौन हूँ मैं॥

कल्पना कर मन स्वयं को, यदि यहाँ पर मान लूँ जो।
सत्य सुन्दर आत्मा के गुण इसी में जान लूँ जो॥
है न क्षमता किन्तु इसमें क्षुद्र चंचल भ्रान्त हूँ मैं।
कौन हूँ मैं कौन हूँ मैं॥

प्राण में जब आत्मा के तत्व को मैं खोजता हूँ।
श्वास अरु प्रश्वास में मैं तेज उसका जोहता हूँ॥
तेज से मैं व्याप्त इसको देखता हूँ तेज हूँ मैं।
कौन हूँ मैं कौन हूँ मैं॥

विश्व मेरा रूप है हूँ व्याप्त सारे विश्व में ही।
तेज हूँ जल हूँ पवन हूँ सूर्य में मैं चन्द में ही॥
शुद्ध हूँ मैं मुक्त हूँ मैं और विभु का रूप हूँ मैं।
कौन हूँ मैं कौन हूँ मैं॥

श्री जगदीश जी आटोन

मानव का प्रमुख कर्त्तव्य

(पूज्यपाद श्री स्वामी प्रकाशानन्द जी महाराज)

मानव-शरीर क्षण-भंगुर है। फिर भी देव दुर्लभ तथा साधन का धाम और मोक्ष का द्वार है। यह परमात्मा की दिव्य देन अथवा अपने किये हुए बड़े शुभ-कर्मों का फल है। मानव-शरीर में बुद्धि की विशेषता है और अन्य शरीर वाले प्राणियों में केवल आहार, निद्रा, भय, मैथुन तथा अपनी रक्षा आदि का सीमित ज्ञान है। उनमें इस प्रकार की बुद्धि नहीं है कि जिससे वह "यह विचार कर सकें कि ईश्वर क्या है? मैं कौन हूँ? धर्म किसे कहते हैं? अधर्म किसका नाम है? हमारी स्वाभाविक अभिलाषा क्या है? और उसकी पूर्ति का सच्चा पथ कौन सा है? आदि-आदि।" इसीलिये वे ऐसा विचार करके, प्राप्ति की क्रिया कर सकने में असमर्थ हैं। किन्तु बुद्धि प्रधान मानव प्राणी इस प्रकार का विचार कर, अपने बुद्धिस्थ ज्ञान को कार्यरूप में परिणित कर सकने के लिये स्वतन्त्र है। इसी कारण मानव-शरीर कर्म-योनि कहा जाता है। हाँ, फिर भले व बुरे कर्म जिस प्रकार की भावना से चाहे करे। "हमको दुःख किञ्चित न हो तथा निरन्तर आनन्द की झड़ी लगी रहे" प्रत्येक प्राणी अन्तरंग से इसी लक्ष्य को सम्मुख रक्खे हुए, किसी पथ का अनुसरण करता है। वह किसी विचार तथा क्रिया में इसलिये प्रवेश नहीं करना चाहता, कि जिससे उसे दुःख की प्राप्ति हो। भली प्रकार समझने पर ऐसा ज्ञात होता है कि आनन्द के बिन्दु तक का तो पता चलता नहीं अपितु अपनी उत्ताल तरङ्गों में दुःख का सिन्धु डुबाता व भ्रमाता है। ज्यो-ज्यों शान्ति के लिये दौड़ते हुए वह अपनी जीवन-नैया आगे बढ़ाता है त्यों-त्यों अशान्ति सागर की गहराई में डूबता जाता है।

न चाहते हुए भी ऐसा क्यों होता जा रहा है? यह तो ऐसी ही विचित्र घटना घट रही है कि ज्यों-ज्यों औषधि की त्यों-त्यों आमय (रोग) बढ़ता ही गया। तो क्या इसका कारण धन की कमी है? नहीं-नहीं यदि धन से पूर्ण शान्ति मिलती, तो आज का धनिक-वर्ग पूर्ण शान्ति-सागर में मग्न होता (किन्तु ऐसा दिखलाई नहीं पड़ता है) तो फिर क्या सन्तान की कमी से यह दशा है? नहीं-नहीं यदि बालकों से शान्ति प्राप्त हो सकती तो आज जिनके दर्जनों बच्चे हैं वह शान्ति की गोद में पड़े होते। किन्तु दिखलाई तो इससे कुछ विपरीत ही पड़ रहा है। फिर क्या स्त्री के अभाव से यह अशान्ति का दृश्य उपस्थित है? नहीं-नहीं! यदि स्त्री से पुरुष को अथवा पति से स्त्री को शान्ति मिलनी सम्भव होती, तो जिनके घरों में उनकी पत्नी अथवा पति हैं उनके हृदय-क्षेत्र में शान्ति का अनुभव होता। कोई-कोई मनचले पुरुष "स्त्री: में शान्ति है" ऐसा विचार कर प्रत्यक्ष रूप से कई विवाह कर लेते हैं, तथा चुपके-चुपके भी व्यभिचार-रत रहते हैं किन्तु फिर भी अशान्त पाये जाते हैं। तो फिर क्या बड़े-बड़े विशाल भवनों में शान्ति निवास करती है? नहीं-नहीं! यदि कहीं ऊँचे भवनों में वह बसी होती, तो गगन से बात करने वाले सभी प्रकार की भोग सामग्रियों से सजे व भरे, भवनाधीशों को शान्ति होती, किन्तु ऐसा भी नहीं दीख रहा है क्योंकि बहुतेरे भवनाधीश अपने बड़े भवनों को किराये पर उठाये हुए उसी के किसी एक कोने में मुँह बनाते पाये जाते हैं।

सद्ग्रन्थ पुकारते हैं, महापुरुष बतलाते हैं तथा उपदेश सुनाते हैं कि इस प्रकार की बाह्य सामग्री के अतिरिक्त कुछ दिव्य वस्तुयें भी तुम्हारे पास हैं। उनमें प्रथम बुद्धि है जिससे कि सदैव ही भाँति-भाँति

के विचार करते हो क्योंकि यदि बुद्धि न होती तो "मैं ब्राह्मण, क्षत्री अमुक × × नाम व हिन्दू हूँ अथवा दूकान पर चलकर कपड़ा, साबुन, अनाज, औषधि आदि लाने का निश्चय एवं दफ्तर में चलकर अमुक × × कार्य करने का विचार तथा सिर में ही टोपी, पैर ही में जूता, यथास्थान सभी कपड़ों के पहिनने का ज्ञान व शौचालय में जाकर शौच करने का ज्ञान कैसे होता ? कहीं बुद्धि विहीन (पागलों) की भाँति जूतों को सिर पर रक्खे भोजनालय में शौच करते अंट-संट बकते, ऊल-जलूल वेष बनाये घूमते होते। दूसरी वस्तु मन है जिससे कि भाँति-भाँति के संकल्प उठाते हुए सुख-दुःख,हानि-लाभ और मान-अपमान का अनुभव तथा शत्रु-मित्र व मध्यस्थ की कल्पना व संशय-शोक के विकल्प करते ही हो, यदि मन न होता तो समाधिस्थ सरीखे, मूर्तिवत्, मूर्च्छित (क्लोरोफार्म सूँघे की सी) अवस्था में दिखलाई पड़ते। तीसरे शरीर भी अधिकार में है ही, जिसके द्वारा दूकान, दफ्तर जाने, सुनने-बोलने, दुःख देने अथवा सेवा करने आदि की क्रिया में तत्पर प्रत्यक्ष ही दिखलाई पड़ते हो। इन्हीं तीनों दिव्य वस्तुओं से अहर्निश वाह्य सामग्री (धन, भवन, स्त्री, पुत्र व सम्मान आदि-आदि) को प्राप्त तथा रक्षा करने के लिये दूध में अरारोट, घी में वेजीटेबिल, आटे में लकड़ी का बुरादा मिलाया, पेट को माँस-मछली के द्वारा कबरिस्तान, मुँह को सिगरेट-बीड़ी के द्वारा फकफक धुआँ निकालते इञ्जन मार्का, घटघट शराब पीते गट-गट अण्डे खाते बुद्धि को दिवालिया बनाया। शरीर की विचित्र रंगामेजी कर तितली छाप का और सिनेमा देख देख कर गजनधन का, सूर्य निकलने के बाद भी सो-सो कर उल्लू का सर्टीफिकेट लिया। डाक्टरों की सुइयाँ, मास्टरों की छड़ियाँ तथा इन्सपेक्टरों की धमकियाँ सहीं। बाबू लोगों की अप्रिय बोलियाँ सुनी तथा वैरियों गोलियाँ खाँई। पराई बेटी-बहुओं पर षड्यन्त्र चलाया और पवित्र देवालयों, शिक्षालयों तथा योगालयों को भोगालय बनाया। ऊपर से मोटे सफेद चिट्टा से बन जेबें भरीं। निर्धन बालबच्चों के स्वास्थ्य की हत्यायें कीं। ऊपर से परोपकार का पदक (तमगा) लगा, घूस, जालसाजी तथा चोरबाजारी के पथ बनाये। "ईश्वर नहीं है" कहते हुए मुँह खोला धर्म का गला मरोड़ा तथा देश-विदेश की धूलि छान कर अत्याचार व अनाचार के पक्के ठेकेदार बन गये। क्या ऐसा करने पर भी किसी भी अंश में आनन्द की पूर्ति हो पाई ? यदि हृदय की गोलक को भली भाँति झाँक कर देखोगे तो आनन्द की सम्पत्ति शिशुपन से भी कम पावोगे और और उत्तर में मुँह से "नहीं" शब्द ही उच्चारण करोगे।

जगत के सभी प्राणियों को साधारणतया दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक प्रकार के वे व्यक्ति हैं जिनका निश्चय यह है "कि हमारे पास जितने ही अधिक प्रमाण में मन व इन्द्रियों की पूर्ति करने वाले विषय भोगों के भौतिक सामान होंगे (वह चाहे किसी प्रकार धर्म-अधर्म चोरी आदि से प्राप्त हों) हम उतने ही अधिक आनन्दित होंगे" इसीलिये वे विषय-पदार्थ (भौतिक-सामान) एकत्रित करने में प्रयत्नशील हो रहे हैं। ऐसे माया का लक्ष्य रखने वाले पुरुष भौतिकवादी कहे जाते हैं। और दूसरी प्रकार के वे पुरुष हैं जिनका निश्चय इस प्रकार है कि हमको पूर्ण सुख-शान्ति ईश्वर अथवा जिनके परिज्ञान तथा धर्म (सर्व भूत हितेरताः) की ओर चलने में होगी" ऐसे पुरुष अध्यात्मवादी कहे जाते हैं। वे ईश्वर का ध्यान रख कर धर्म के पथ पर चलते हुए विषयों (मायावी पदार्थों) को उतनी ही सीमित एवं कम संख्या में अपनाते हैं जितने से अपने लक्ष्य में धक्का न पहुँचे।

भौतिकवाद केवल मन व इन्द्रियों की पूर्ति करने वाले नाशवान सामान को एकत्रित करने के

लिये आदेश देता है। उसके कोष में बुद्धि एवं जीवात्मा की तुष्टि के लिये कोई भी सामान नहीं है। भौतिक पदार्थ मन व इन्द्रियों से जाने जाते हैं। जैसे श्रवण (कान) से शब्द का, त्वचा से शीत-उष्ण स्पर्श का, आँख से रूप का; जिह्वा से रस का तथा नासिका से गंध का ज्ञान होता है। यदि कान, आँख व नासिका आदि न हों तो शब्द, रूप व गंध आदि का भान भी न हो। वह भान भी तब होता है जब कि इन्द्रियों से विषय की एकता होने पर मन का सद्भाव हो, क्योंकि यदि मन कहीं अन्यत्र चला जाता है तो इन्द्रिय व विषय की एकता होने पर भी कुछ पता नहीं चलता है। वह भौतिक पदार्थ किसी अंश में मन व इन्द्रियों की ही पूर्ति कर पाते हैं। फिर वह पदार्थ भी स्वभावतः क्षणिक व परिवर्तन शील हैं तथा मन भी सदा बदलता रहता है जो वस्तु आज मन को प्रिय है, आगामी काल में वही अप्रिय हो जाती है। अतएव जब मन व इन्द्रियाँ विषय पदार्थ सब अपूर्ण और परिवर्तन शील हैं तब एकरस अखण्ड आनन्द (शाश्वत शान्ति) प्राप्ति की संभावना सर्वथा असम्भव है। यदि विचार से देखा जावे तो विषय से प्रतीत होने वाला सुख भी वास्तव में विषयों में नहीं है। वह तो विषयों के द्वारा मन के स्थिर होने पर आत्मानन्द का आभास प्रतीत होता है।

अध्यात्मवाद जिस परमात्मा की सन्मुखता के लिये आदेश करता है, वह परमात्मा सर्वत्र, एकरस अद्वितीय, सत-चिद् आनन्द स्वरूप है जिसमें दुःख का अभाव सर्वथा उसी प्रकार से है, जिस प्रकार से सूर्य्य में अंधकार का अस्तित्व नहीं है। उस परमात्मा का अनुभव मन व इन्द्रियों से न होकर शुद्ध व सूक्ष्म बुद्धि द्वारा होता है। बुद्धि, धर्म के द्वारा शुद्ध होती है। अतएव परमात्मा का लक्ष्य रखकर चलने वाले को, पूर्ण आनन्द की प्राप्ति तथा अत्यन्त दुःख की निवृत्ति हो जाती है। यही हर प्राणी की आन्तरिक अथवा स्वाभाविक चाह है।

अध्यात्मवाद आदेश देता है कि जो विचार, भावना, क्रिया तथा वस्तुयें ईश्वर की सन्मुखता में बाधक बनती हों, उनसे बचकर रहो। इन विचार आदि) के मूल स्रोत बुद्धि, मन व शरीर का शोधन कर उनसे अशुद्ध विचार, अशुभ भावनायें तथा अधर्म उत्पादक क्रियायें न होने दो। इस प्रकार शान्ति के लिये कोई नवीन सामग्री नहीं लानी है किन्तु उपस्थित दिव्य वस्तुओं का शोधन करना है।

बहती-गंगा

"सर्वोत्तम मनुष्य वे नहीं हैं जो अवसरों की बाट देखते रहते हैं परन्तु वे हैं जो अवसर को अपना दास बना लेते हैं लाखों अवसरों को खोजने से शायद ही ऐसा अवसर मिले जो खासतौर से तुम्हारी सहायता कर सके। परन्तु तुम्हारे सामने हमेशा ही अवसर उपस्थित रहते हैं यदि तुममें इच्छा-शक्ति हैं, काम करने की ताकत है तब तो तुम स्वयं ही उनसे फायदा उठा सकते हो। ईश्वर की कृपा रूपी इस बहती हुई गंगा में स्नान करके अपने जीवन को क्यों नहीं सफल कर लेते?

—ई० एच० चेपिन

एक सेठ जी भादों के महीने में यात्रा करते हुये श्री गंगा जी के तट पर जा ठहरे। जब भूख का समय आया तब उन्होंने नौकर (महाराज) से कहा कि देखो! यह बाल्टी ले लो, इसमें जल ले आना। यह नोट लो, इससे आटा व दाल लाकर स्वच्छता के साथ भोजन तैयार करो। इसके अतिरिक्त बर्तन आदि जिस वस्तु की आवश्यकता हो वह पण्डा जी के घर से ले लेना। भोजन हो जाने पर हम व तुम दोनों ही भूख के कष्ट से मुक्त होकर तृप्ति का आनन्द लेंगे। ऐसा कहकर सेठ जी सो

गये। नौकर बाल्टी में गंगा जल भर लाया। जल बहुत ही मिट्टी व कूड़े वाला था। बनिये की दूकान से आटा व दाल ले आया। आटा बिना छना हुआ भूसी, गेहूँ व घुन वाला तथा दाल छिलके व कंकड़ वाली थी। उसने उसी गन्दे जल का प्रयोग-कर उसी आटा व दाल से भोजन तैयार कर दिया। सेठ जी को परोस कर आप भी भोजन करना आरम्भ किया। रोटियाँ किसकती हुई गेहूँ व भूसी युक्त तथा दाल भी किसकती और कंकरीली थी। अतः स्वयं नौकर भी भोजन बनाने का परिश्रम करने तथा बना बनाया भोजन उपस्थित रहने पर भूख से व्यथित रहा और मालिक सेठ को भी प्रसन्न न कर सका। ऐसा क्यों? उत्तर यही होगा कि विचार से काम नहीं लिया। यदि जल को शुद्ध करने के लिये फिटकरी (निर्मली) आटा को शोधन करने के लिये छलनी तथा दाल को स्वच्छ करने के लिये सूप, पण्डा के यहाँ से (जो यों ही मिल सकता था) लेकर सभी वस्तुयें ठीक कर लेता तो काम बन जाता।

ठीक इसी प्रकार सेठ रूपी परमात्मा ने मानव मात्र को यह दिव्य वस्तुयें दी हैं तथा जिनसे काम भी लेते हैं किन्तु अशान्ति नहीं मिट रही है। कारण यह है कि जल, आटा व दाल के समान बुद्धि, मन व इन्द्रियों में अशुद्धता है, यदि फिटकरी रूपी विचार (ज्ञान) के द्वारा जल रूपी बुद्धि व छलनी रूपी भावनाओं (उपासना) के द्वारा आटा रूपी मन, तथा शुभ कर्म रूपी सूप के द्वारा दाल रूपी इन्द्रिय समूह (शरीर) को मानव शुद्ध कर ले, तो वह अपने अभीष्ट लक्ष्य पर पहुँचकर मानव जन्म को सार्थक कर सकता है। साधन (विचार, भावना आदि) पण्डा रूपी संत के द्वारा यों ही प्राप्त हो सकते हैं। अतएव सतसंग ही मानव शरीर का प्रमुख कर्त्तव्य है।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

गोविन्द सुनाम उचारा करो

दिन ही दिन जीवन में मन से,
मन के वश दोष निहारा करो;
छिन ही छिन कंचन काम प्रपंच से,
रंचक चित्त को न्यारा करो।
धन ही धन जीवन सार नहीं,
भगवान का ध्यान भी धारा करो;
मन ही मन 'मंजुल' मंजु मुकुन्द,
गोविन्द सुनाम उचारा करो॥

—"मंजुल"

भावना

श्री मोहनलाल गर्ग 'विशारद'

मेरी दार्शनिक परिभाषायें सुनकर, हे अवाङ्मानसगोचर! मेरा उपहास न करना। कारण यह है, कि मैं शास्त्रीय ज्ञान से नितांत अनभिज्ञ हूँ।

हे रस-रूप, तुमने आनन्द-धाम की रचना स्वरस के असंख्य परमाणु-संयोग से की है न? इसीलिये अपने इस मत को मैं वैशेषिक-वादियों एवम् नैयायिकों के शब्दों में 'परमाणुवाद' और 'आरम्भवाद' कहता हूँ।

कपिल सिद्धान्त से मेरा 'गुण-परिणाम-वाद' तो अवश्य कुछ भिन्न है। तुम्हारे ललित लोचनों में श्याम, रक्त और श्वेत वर्ण देख मैंने त्रिगुणात्मिक। प्रकृति का अनुभव किया है। भाव सृष्टि को मैं इसी वर्ण-त्रयी के संकेत का एक परिणाम मानता हूँ। तो अपने इस मत को मैं 'गुण-परिणामवाद' की संज्ञा क्यों न दूँ।

अब इस शास्त्र विहीन के मुख से 'अनेकान्तवाद' की परिभाषा सुनो। हे अनेक रूप; किसी ने तुम्हारी रूपमाधुरी का किसी एक रूप में आस्वादन किया है, तो किसी ने किसी दूसरे ही रूप में। रूपमाधुरी तो तत्वेन एक ही है, किन्तु उसके आस्वादी अलि अनेक हैं। प्रत्येक भावुक भ्रमर का आस्वादन अनुभव, स्व-स्वदृष्टि से, सत्य और साम्यक है। अतः मुझ मूढ़ की समझ में तो यही मत 'अनेकान्तवाद' है।

निर्गुण और निराकर होते हुये भी, हृदय नाथ! भक्तों की दृष्टि में तुम सगुण और साकार भावित होते हो। हो तो परमदयालु, पर हम जैसे धृष्ट जनों के मुख से तुम्हें सदा निर्दय, निष्ठुरादि उपाधियाँ प्राप्त होती रहती हैं। क्योंकि दृष्टि-दोष से तुम्हारे गुणों में हमें कुछ ऐसा ही भास हो रहा है। इसलिये इस मत को मैं, अद्वैती वेदान्त के रूप में 'विवर्त्तवाद' कहा करता हूँ।

तुम एक हो अथवा अनेक, यह मेरे परिमित ज्ञान से परे हैं। किन्तु यह तो निर्णीत और निश्चित है कि तुम्हारा प्रेम निस्सन्देह एक और अद्वैत है। तुम्हारी प्राप्ति के अन्य समस्त साधनों की उसी प्रेम से उत्पत्ति, उसी में स्थिति और उसी में संहृति भी है। उसी में सत्, चित और आनन्द की अनिर्वाच्य अनुभूति प्राप्त होती है। 'अद्वैत-वाद' का प्रत्यक्ष दर्शन मुझे अपने इसी मत द्वारा हुआ है। इसी से मैं 'अहं ब्रह्मास्मि' न कह कर 'अहं प्रेमास्मि' कहता हूँ।

हे विश्व-रमण! मेरी इन मूर्खता-पूर्ण विचित्र दार्शनिक परिभाषाओं पर तुम अवश्य मन ही मन हंसते होगे।

जीवन की दौड़ !

लेखिका—

श्रीमती ज्ञानेन्दु 'सुषमा'

जीवन में प्रयत्न और प्राप्ति की दौड़ निरन्तर ही लगी रहती है। आदर्श प्राप्ति की क्षुधा लिये हुए भावुक प्राणी का जीवन मानों अनन्त संघर्षों का रणस्थल बन जाता है। किन्तु वह क्या कर पाता है, यह एक उलझी हुई समस्या बन कर रह जाती है। संसार में ज्ञान की कमी नहीं, अनेकानेक शाखायें दिन प्रति दिन ज्ञान के क्षेत्र को विस्तृत करती चली जा रही हैं। ज्ञान की तो कभी कमी थी ही नहीं किन्तु अन्वेषण कर्त्ताओं की भी अब दौड़ बढ़ती ही जा रही है। आकांक्षा और जिज्ञासा नव-नव उत्साह के साथ मनुष्य की सहचरी बन कर आगे-आगे उसका मार्ग प्रशस्त कर रही है, किन्तु फिर भी मनुष्य हारा है, जीता नहीं !

इस छोटे से जीवन में बहुत कुछ पा लेने की महत्त्वाकांक्षा ही मनुष्य को रात-दिन व्यस्त चिन्तनमय, भावुक और कल्पना शील बनाये हुए है। किन्तु प्रश्न यह है, धन, यश, ज्ञान, सम्पत्ति से कोई तृप्त नहीं हो सका, आखिर 'क्यों ? यह 'क्यों' एक ऐसी पहेली है जिसे कोई नहीं समझ सका है। यद्यपि यह सबके ही जीवन में उपस्थित होती रहती है, और मनुष्य सब प्रयत्नों के बाद भी इस 'क्यों' के सम्मुख नत-मस्तक होकर मौन हो जाता है ?

विविध दृष्टिकोणों से विचारने के उपरान्त मनुष्य दृढ़ता से किसी एक निष्कर्ष पर पहुँचा कि वह जीवन पर्यन्त कुछ न कुछ चाहता रहता है इसका एक मात्र प्राप्य है "सुख"। वह अपने आत्मतोष के लिये सब कुछ करता है, प्रत्येक प्रयत्न, प्रत्येक परिश्रम का परिणाम सुखमय होता भी है या नहीं, यह तो परिणाम के पश्चात की बात है किन्तु मनुष्य अपना आधार 'सुख' को ही समझता है और वास्तव में वह 'सुखमय आनन्द' ही उसकी वास्तविक प्रेरणा है।
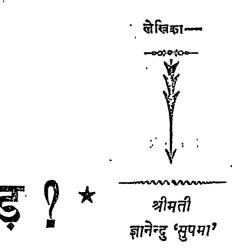
किन्तु वास्तविकता इस से बहुत दूर है, आशा-आकांक्षाओं की दौड़ में थक कर शरीर एक दिन स्पन्दन हीन हो जाता है और प्राप्ति का लक्ष्य दूर और दूर होता चला जाता है। आशायें तो असीम होती हैं किन्तु मृत्यु तो उनकी प्रतीक्षा नहीं कर सकती इसी हेतु मनुष्य हारा है—वह जितना भी विचारता है ठीक उतना ही कर नहीं सकता। अपने हृदय और कल्पनाओं से गढ़ी हुई मूर्ति को वह स्वयं इसी भाव में चित्रित करने में असमर्थ रहता है और इसी प्रकार मनुष्य के आदर्श भी उसकी कल्पना और भावना के अनुसार नहीं उतरते। केवल एक, एक ही वस्तु ऐसी है जिसे मनुष्य ने प्राप्त किया है—वह है 'मृत्यु' किन्तु उसके पश्चात् वह अस्तित्व-हीन हो जाता है। अतः वह भी सफलता नहीं हो सकती।

इन असफलताओं से मनुष्य निराश अवश्य होता है किन्तु यह निराशाएँ ही मानवी प्रेरणाएँ हैं जो उत्तरोत्तर उसको उन्नति के लिये, उसके ठोकर खाये हुए आहत पगों को बल देती चलती हैं—और वह बहुत कुछ जान कर भी अधिक और कुछ जानने के लिये उत्सुक ही बना रहता है। वास्तविक सुख तो, निरन्तर प्रयास में ही है। ज्ञान और अनुभव के नये-नये क्षेत्रों को नित्यप्रति विभिन्न अनुभूतियों द्वारा जानना ही हमारे प्रयत्नों की वास्तविक सार्थकता है।

प्रकृति सदैव से मनुष्य की सच्ची सहचरी है, मनुष्य ने चाहे उसे पहचाना या न पहचाना, किन्तु उसने मनुष्य का सदैव साथ दिया। एक क्षुब्ध, हारा बालक जिस भाँति रो-धोकर, करवटें बदल कर, एक शान्त स्थिति को प्राप्त हो जाता है और निश्चिन्त निद्रा के सुकोमल सुअंक में लिपट कर मानो अपनी सब कुछ व्यथा भूल जाता है। इसी प्रकार मानवीय चिन्ताओं से घिरा मनुष्य भी प्रकृति के सुखमय दृश्यों में अपनी बहुत कुछ उलझनें भूल सकता है—प्रकृति के सहारे जीवन सुरम्य हो उठता है क्योंकि वह अपने अक्षय भंडार के आनन्द-कोष को मनुष्य से छुपाती नहीं और अधिकाधिक आकर्षक रूप प्रदान करती रहती है। प्रकृति परिवर्तन शील है उसमें सौंदर्य की कभी कमी नहीं—यही वास्तविक सुख-सुधा का वह आगार है जो सदैव समस्त संसार को अपने सतरंगे रंगोंमें रंग कर, एक चिर आनन्द से पूर्ण कर देता है।

जीवन का वास्तविक आनन्द हमारे मस्तिष्क में ही है और वह आकांक्षा और जिज्ञासा से ही प्राप्त हो सकता है; "सच्ची कांक्षा एक स्थाई सुख है" इसमें संशय नहीं यही हमारे जीवन को आकर्षण देती है इसका पवित्र वातावरण ही उस आत्मिक आनन्द की कुञ्जी है जिसके लिये मानव निरन्तर भटका करता है।

❀ भूमा ❀

(श्री स्वामी ज्योतिर्मयानन्द सरस्वती, आनन्द-कुटीर, ऋषिकेश)

कितना असीम कितना महान।
घंटा निनादवत् ओम्-गान॥
ओम् ओम् की तान,
ओम् ओम् का गान;
ओम् ओम् पर ध्यान,
ओम् ओम्मय प्राण।
हिम-उपल द्रवित हों क्षण में
सागर के विस्तृत तन में;
विलयन मिलन संयोजन,
भूमा का अनुपम जीवन॥
मृत जीवन को कर पार,
छोड़ कर यह दुखमय संसार,
प्रेम का अविरल पारावार,
अनन्तता का अनुपम आधार।
शान्तिमय शाश्वत समान
ज्योतिर्मय ज्योतित महान;
कितना असीम कितना महान,
घंटा निनादवत् ओम्-गान॥

अन्तःकरण

(प्रो० श्री नेमीशरण मित्तल एम० ए०)

मनुष्य शरीर एक अद्भुत यन्त्र है। इसके भीतर भिन्न-भिन्न प्रकार के तत्त्वों का सम्मिश्रण है। जिस प्रकार ब्रह्माण्ड के भीतर भिन्न-भिन्न पदार्थों में चेतना के विभिन्न स्तर पाये जाते हैं उसी प्रकार मनुष्य शरीर के भीतर सूक्ष्मातिसूक्ष्म धातुओं से लेकर स्थूल अथवा अति जड़ धातुएँ विद्यमान हैं। मनुष्य शरीर भी ब्रह्माण्ड-स्वरूप ही है। शास्त्रकारों ने कहा है—यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे।

शरीर के भीतर समूचा निर्माण आठ धातुओं के सम्मिश्रण से हुआ है इनमें पाँच तत्त्व—पृथ्वी, जल, तेज वायु आकाश तथा तीन गुण—सत्त्व, रजस्, और तमस् हैं। परन्तु इनसे निर्मित तन्तुओं की चेतना-ग्राह्य-शक्ति में अन्तर है। शरीर में प्रधान रूप से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। इन दशों इन्द्रियों की प्रकृति जड़ है, इनका स्वरूप स्थूल है। परन्तु इनमें से सबके पीछे एक-एक सूक्ष्म शक्ति है। और यह सूक्ष्म-शक्तियाँ (अथवा देवता) एक अधिक सूक्ष्म तन्तुजाल अर्थात् मन से जुड़ी रहती हैं।

शरीर के भीतर इन्द्रियों के अतिरिक्त चेतना का एक अनन्त पुंज होता है जिसकी शक्ति, ज्योति और चेतना द्वारा यह देह-यन्त्र चेतन प्रतीत होता है—इसे हम आत्मा कहते हैं। यह सत् (अस्तित्व-वान्—सर्वदा रहने वाला) चित (सर्वदा—ज्ञानमय) तथा आनन्द (सदा आनन्दमय) है। यद्यपि देह के भीतर यही कर्त्ता प्रतीत होता है परन्तु यह स्वयं अकर्त्ता है। यह केवल चेतना प्रसारित करता है। यह अपना सत्-स्वरूप किसी भी पदार्थ को नहीं दे सकता अर्थात् इसके अतिरिक्त और कुछ भी सर्वकालिक नहीं हो सकता, एवं आनन्द भी यही अनुभव कर सकता है। आनन्द का अनुभव करने की शक्ति मन और इन्द्रियों को प्राप्त नहीं हो सकती।

आत्मा की चेतना को ग्रहण करने वाले संस्थान को अन्तःकरण कहते हैं। अन्तःकरण चार उपकरणों द्वारा आत्मा की चेतना को देह में प्रसारित करता है—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार।

मन इस चेतना को इन्द्रियों के विषयों अथवा देवताओं में प्रसारित करता है तथा ये विषय उसे इन्द्रियों में प्रवाहित कर देते हैं। इस प्रकार बिजली की धारा के समान आत्मा की चेतना शरीर के जड़ तत्त्वों में भी प्रविष्ट हो जाती है एवं यह जड़ शरीर चेतनामय हो उठता है। यही चेतना मृत्यु के समय (आत्मा के प्रवास के समय) शरीर को छोड़ देती है और शरीर पुनः जड़ हो जाता है। मन प्रवृत्तियों का केन्द्र है, इसके दो रूप हैं। स्वयं जड़ होने तथा जड़ इन्द्रियों का स्वामी होने के नाते इसमें जड़ता है। दूसरी ओर चैतन्य स्वरूप, आत्म-तत्त्व की शक्ति प्राप्त होने से यह चेतन भी है। इस प्रकार मन दो ध्रुवों के बीच में भ्रमित रहता है। कभी यह अपने निम्नस्तर की ओर आकर्षित हो कर जड़ पदार्थों अथवा नश्वर सृष्टि में तल्लीन होने का उपक्रम करता है तथा कभी उच्च चेतना से अभिभूत होकर परब्रह्म की ओर खिंचता हुआ प्रतीत होता है। इस पर जिस ओर से अधिक बल पड़ता है यह उसी ओर झुक जाता है। यही इसकी प्रवृत्ति है। निरन्तर विषयों के भोगने से यह भोग-परायण हो जाता है और निरन्तर आत्म स्वरूप की साधना द्वारा यह प्रभु-परायण होकर मनुष्य को निःश्रेयस की उपलब्धि करा देता है।

अन्तःकरण का दूसरा तत्त्व बुद्धि चेतना का विचारमय स्वरूप है। चिन्तन परायण चेतना ही बुद्धि है। इसका कार्य नीर क्षीर विवेक अर्थात गुण

दोष, भले बुरे और लाभदायक हानिकारक के मध्य अन्तर बताना तथा निश्चय करना है। चेतना के उस केन्द्र को बुद्धि कहते हैं जो निर्णय करता है।

चित्त अन्तःकरण का तीसरा तत्त्व है। चेतना का वह केन्द्र जो स्मृति का आधार है चित्त कहलाता है। चित्त अन्तःकरण की चेतना का उपयोग स्मृति बनाये रखने में करता है।

अन्त में अहंकार अन्तःकरण चौथा एवं एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। कर्त्तापन का अभिमान चेतना के जिस केन्द्र में उदित होता है उसे अहंकार कहते हैं।

जिस प्रकार मन जड़ और शाश्वत् के बीच चक्कर लगाया करता है उसी प्रकार बुद्धि, चित्त और अहं-कार भी शाश्वत और क्षण भंगुर-अर्थात चैतन्य और चेतन की सत्ता से चेतन भासने वाले जड़ के मध्य चक्कर काटते रहते हैं।

बुद्धि जिस समय इन्द्रियों की प्रतीति के आधार पर जगत में विचरण करती है उसे हम विकृत-बुद्धि अथवा जागतिक बुद्धि कहते हैं। यही अविद्या है। अविद्या का अर्थ है असत में सत्य का आरो-पण करके उसमें आसक्त होना। परन्तु जिस समय बुद्धि असत और सत के मध्य सम्यक विवेक करती है उसे हम विद्या-बुद्धि कहते हैं। बुद्धि चेतना के मूल स्रोत का उसी प्रकार पता नहीं लगा सकती जिस प्रकार इन्द्रियाँ, मन, चित्त और अहंकार उसमें असमर्थ होते हैं। क्योंकि ये सब आत्मा से प्रकाश और चेतना ग्रहण करते हैं, इनमें स्वयं की चेतना नहीं होती।

शाश्वत और सनातन अविनाशी तत्त्व की निरन्तर स्मृति में तल्लीन चित्त मित्र है एवं क्षण भंगुर ऐन्द्रिक जगत के स्मरण में निरत चित्त, शत्रु है। चित्त का धर्म है कि वह जिस चेतना से चैतन्य हो उठा है उसके स्वरूप का स्मरण करे तथा उसके साथ युक्त होवे।

अहंकार जिस समय आत्मा और परमात्मा की शक्ति को पहचान कर उसे जगत के व्यापार का कारण मानता है। विद्या अहंकार होता है परन्तु जब वह उसको भूलकर उसकी सत्ता से चेतन शरीर और मन को कर्त्ता मान लेता है उसे अविद्या अहंकार या देहाभिमान कहा जाता है।

वास्तव में मूल बात यह है कि मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार को सत् की खोज करनी है। यदि ये बाह्य ज्ञान अर्थात ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा संग्रहीत ज्ञान पर अपने अन्वेषण को आधारित करते हैं तो ये माया के भ्रम में पड़ जायँगे क्योंकि इन्द्रियों द्वारा होने वाली सभी प्रतीतियाँ केवल आभास मात्र हैं वे तो सत् की छाया मात्र हैं। सत् इनसे परे है। सत् की खोज के लिये यह देखना होगा कि मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के पीछे कौन सत्ता है। वही सत्ता सत् है। वह स्वयं किसी भौतिक स्वरूप में अभिव्यक्त नहीं होती अतः इन्द्रियगम्य नहीं है। हाँ समूचा भौतिक जगत उसी की सत्ता से टिका हुआ है। वह इसमें है, वह यह नहीं है। उसकी सत्ता है, भासमान जगत की सत्ता नहीं है।

सत्ता आत्मा है देह जड़ है। सत्ता का आदिस्रोत अथवा अन्तिम पुञ्ज परमात्मा अथवा परब्रह्म है। परमात्मा की सत्ता देह में अवतरित होती है और उसी के बल से इस जड़-देह में गति आ जाती है। वह चेतना जहाँ-जहाँ होकर प्रवाहित हो जाती है, देह का वही भाग सक्रिय हो उठता है। शरीर के तन्तु अथवा चेतनावाहक-तार जितने सूक्ष्म और कोमल तथा दृढ़ व शुद्ध धातु के बने होंगे चेतना का प्रवाह उतना ही सम्यक् होगा। जिस दिन तक वह इस सराय में टिका हुआ है इसमें दीप जलते हैं जिस दिन वह निकल जायेगा इसमें पुनः अंधकार छा जायगा अर्थात् यह जड़ पुनः जड़ हो जायगा और अपने पंच तत्वों में विलीन हो जायगा।

मेरा बन्धन

(श्री वृजनन्दन जी अग्निहोत्री)

हिल सकूँ न प्रियतम चरणों से,
मेरे बन्धन ! हो जा अटूट ।

सारे रहस्य का कोष लिये,
खुल पड़े सभी वन्दी राहें;
विस्तृत असीम में दिग्दिगन्त में,
फैल सकें मेरी बाहें ।

छू सकूं गगन के ओर छोर,
'चन्द्रामृत' के ला सकूँ घूँट;
हिल सकूँ न प्रियतम चरणों से;
मेरे बन्धन ! हो जा अटूट ।

चरणों के चुम्बन को आकुल,
त्रैलोक्य सम्पदा द्रुत आती;
माँगे की हंसी अधर पर धर,
वह बंधी मुक्ति हो खिसियाती ।

"दुष्प्राप्य प्रिये ! हो दूर दूर"
यह सहज सरल कर सकूं कूट;
हिल सकूं न प्रियतम चरणों से,
मेरे बन्धन ! हो जा अटूट ।

उन्माद-विगत हेमाङ्कित विजयों-
की माला खोजती शरण;
कातर स्वर से कह उठे 'शरण ! लो;
करलो मुझको सहज वरण ।"

जगमगा उठे चिर-सत्य मुक्त,
तम-गढ़ असत्य का जाय छूट;
हिल सकूं न प्रियतम चरणों से,
मेरे बन्धन ! हो जा अटूट ।

ऋषि मुनियों के उत्कट प्रयास भी,
निकट पहुँच निष्फल आते;
जप, योग, ध्यान, के तंत्र, मंत्र, भी,
जहां न जा रीते आते ।

चरणामृत की आनन्द राशि वह,
जीभर निर्भर सकूं लूट;
हिल सकूं न प्रियतम-चरणों से,
मेरे बन्धन हो जा अटूट ।

ऊषा के स्वर्णिम मधुर प्यार,
झरते वरदानी तारों से;
राकेश गोद में लिये निशा की,
दूध बरसती धारों से ॥

धोकर भर दे कल्याण राग
सब अशुभ अमङ्गल जाय छूट,
हिल सकूं न प्रियतम-चरणों से
हो जा मेरे बन्धन ! अटूट ।

मत्र का कर्त्तव्य

[कहानी]

(श्री "मञ्जुल जी)

विश्व रंगमंच पर अपने निश्चित अभिनय द्वारा जगन्नियन्ता जगदाधार, सूत्रधार को प्रसन्न कर लेना, प्रत्येक जीव अभिनेता का परम कर्त्तव्य है। इसके विपरीत आचरण करने वाले का कहीं ठिकाना नहीं लगता।

मध्य देश का निवासी गौतम ब्राह्मण, बाल्यावस्था से ही कुसंग में पड़ जाने के कारण घोर हिंसक, अत्याचारी डाकू बन गया। उसके हृदय से दया सदा के लिये मानों चली गई। दिन भर झूठ अन्याय, हिंसा में ही उसका समय व्यतीत होता था, वेदाध्ययन, तप, इन्द्रिय संयम् क्षमा, दया आदि अपने सहज धर्मों से रहित देखकर पिता ने उसे घर से निकाल दिया। गृह से निर्वासित होकर वह इधर-उधर भटकता हुआ, उत्तर प्रदेश के पर्वतीय क्षेत्र में एक डाकुओं के ग्राम में जा पहुँचा। डाकुओं के अधिनायक ने उसका सत्कार किया और भोजन कराया। दूसरे दिन प्रातः काल गाँव के अन्य निवासियों से उसकी भेंट हुई।

"प्रकृति मिले मन मिलत है"

इसके अनुसार गौतम का ग्रामवासियों से बहुत प्रेम हो गया। उसे वह स्थान बहुत सुन्दर लगा। उसने डाकुओं के सरदार से उसी ग्राम में रहने की अपनी इच्छा प्रकट की। सरदार ने प्रसन्नता पूर्वक गौतम को रहने के लिये एक घर दे दिया।

जैसे शूकर दुर्गन्धियुक्त पंक में आकण्ठ मग्न होकर स्वर्गीय सुख मानता है, उसी प्रकार पाप निरत प्राणी पाप में मग्न रहकर अपने 'आप को पूर्ण सुखी मान लेता है। गौतम भी उन्हीं डाकुओं में मिलकर डाकू बन गया। वह बहुत क्रूर और हिंसक बन गया। वह दिन में राजहंसों का शिकार कर लाता और रात्रि में डाका डालता था। कुछ दिन बाद सरदार की एक दासी से उसका प्रेम होगया। उसने उस दासी को अपनी पत्नी बनाकर अपने घर में रख लिया। उन्हीं दिनों एक तपस्वी ब्राह्मण का उस ग्राम में आगमन हुआ। संध्या समय उस ब्राह्मण ने गौतम के द्वार पर आकर डेरा जमाया। थोड़ी देर बाद कंधे पर मरा हुआ राजहंस रखे गौतम अपने घर आया, तब निकट से उस ब्राह्मण ने देखा कि यह तो अपने ही ग्राम का निवासी गौतम है। उसके कपड़े रक्त में सने हुये थे तथा मुख से क्रूरता टपक रही थी। उसने मन में कहा कि कुसंग से मनुष्य का कितना अधः पतन हो जाता है इसका यह गौतम प्रत्यक्ष प्रमाण है। विषपान करके मर जाना अच्छा है किन्तु कुसंग में रहना अच्छा नहीं।

उस ब्राह्मण ने गौतम से कहा, 'अरे गौतम! तेरी यह क्या दशा हो गई है? तू कैसी जगह आकर ठहर गया है? अरे अनेकों जन्मों में किये हुए पुण्यों के फल स्वरूप तुझे यह देव दुर्लभ मानव शरीर मिला। तू ने ब्राह्मण के कुल में जन्म लिया, सो क्या कुकर्म करने के लिये? तू ब्राह्मण के कर्म छोड़कर दिन रात पाप कमाता रहता है; तुझे लज्जा नहीं आती? धिक्कार है तुझे! मैं तेरे यहाँ अन्न की कौन कहे अब जल भी ग्रहण न करूँगा।' इतना कहकर वह ब्राह्मण वहाँ से चलने को तैयार हो गया। गौतम ने हाथ जोड़कर कहा 'भाई, आज रात्रि भर तो मेरे गृह पर निवास कर लो. भले ही मेरे यहाँ का अन्न-जल ग्रहण न करना।'

गौतम की प्रार्थना पर वह ब्राह्मण रात्रि भर उसके द्वार पर टिका रहा। घर-गाँव की अनेकों बातें उससे होती रहीं। गौतम को अपने कर्मों पर बड़ी लज्जा आई। रात्रि भर एक उत्तम पुरुष का संग करने से उसके मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया। अतः गौतम भी उस ब्राह्मण के साथ ही प्रातः काल चुप चाप उठकर चल दिया। ब्राह्मण तीर्थ यात्रा के

लिये चला गया और गौतम लज्जा और घृणा से समुद्र में डूबने चला। समुद्र वहाँ से बहुत दूर था। गौतम ने अन्न-जल छोड़ दिया। संध्या समय वह एक परम सुन्दर आश्रम में पहुँचा। उसने देखा कि उस स्थान में निर्मल जल से पूर्ण एक सरोवर लहरा रहा है। सरोवर के चारों ओर मनोहर सघन वृक्षों की छाया है, उन सुन्दर वृक्षों पर नाना प्रकार के पक्षी कलरव कर रहे हैं। सरोवर के समीप सघन वट वृक्ष है। उस वट वृक्ष की शीतल छाया, प्रचण्ड सूर्य के ताप से संतप्त जनों को शीतलता प्रदान कर रही है। गौतम दिन भर का भूखा प्यासा, अत्यन्त श्रमित हो रहा था। अतः वह थक-कर उसकी शीतल छाया में बैठ गया। मन्द-मन्द पवन के झोंके उसके स्वेद बिन्दुओं को सुखाते हुये उसका श्रम हरने लगे। वह तत्काल वट वृक्ष की जड़ पर शिर रखकर लेट गया।

उसी वटवृक्ष पर घोसला बनाकर राजहंस, राजधर्मा निवास करता था। वह दिव्यपक्षी, महर्षि कश्यप का पुत्र था। वह अनेक शास्त्रों का ज्ञाता और परम धर्मात्मा था। नित्यप्रति ब्रह्मलोक में जाकर पितामह ब्रह्मा को प्रणाम कर उधर से लौटते हुए मेरुव्रज नगर के निवासी अपने परम मित्र राक्षसराज विरूपाक्ष से प्रेमपूर्वक भेंट करता हुआ सन्ध्या समय, उसी वटवृक्ष पर आकर विश्राम करता था। संयोग से, गौतम के आने के कुछ क्षणों बाद राजधर्मा उसी वटवृक्ष पर निवास करने के लिये आया। उज्ज्वल दुग्ध फेन जैसे उसके श्वेत पंख थे। गौतम की क्रूर दृष्टि उस पर पड़ी। मीन का जिस प्रकार जल ही जीवन होता है, वह जल के बिना जैसे एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकती उसी प्रकार पापी प्राणी पाप किये बिना एक क्षण भी नहीं रह सकते। मानो पाप ही उनका जीवन बन जाता है। यद्यपि गौतम ने हिंसक दृष्टि से राजधर्मा की ओर देखा, किन्तु धर्मात्मा राजधर्मा ने धर्म के ते सन्ध्या समय जो भी अपने स्थान पर आजाय वह अतिथि है। इस भाव से प्रेरित होकर गौतम का स्वागत किया और कहा कि आप हमारे अतिथि हैं। आप हमारे गृह पर आये हुए हैं, अतः आज हमारा आतिथ्य स्वीकार कीजिये।

इतना कहकर महात्मा राजधर्मा ने उड़कर वृक्षों के कोमल पत्ते इकट्ठे करके गौतम के लिये कोमल शय्या बनादी। पत्तों के दोने बनाकर उनमें पीने के लिये सरोवर का शीतल जल भर दिया। लकड़ियाँ इकट्ठी करके अग्नि जलादी तथा सरोवर से सुन्दर-सुन्दर मछलियाँ पकड़कर पत्तों पर लाकर रखदी। गौतम दिन भर का थका माँदा था। भूख बड़े जोर की लग रही थी। उसने अग्नि में मछलियों को पकाकर भोजन किया और दोनों में रक्खा हुआ शीतल जल पान करके तृप्त हो गया। तत्पश्चात् जब वह सुखपूर्वक विश्राम करने लगा, तब राजधर्मा अपने पंखों से उस पर हवा करने लगा। जब गौतम का श्रम दूर हो गया तब मधुर शब्दों में उसने पूछा कि आप कौन हैं? कहाँ से पधारे हैं? किस लिये इस निर्जन वन में भटक रहे हैं? गौतम ने कहा, 'मेरा नाम गौतम है। मैं ब्राह्मण हूँ, द्रव्य प्राप्ति की आशा में इधर-उधर भटक रहा हूँ। बस इतना ही मेरा वृत्तान्त है।'

राजधर्मा ने कहा, 'भूदेव! धन प्राप्ति के चार साधन अपने शास्त्रों में बतलाये गये हैं। उन्हीं के द्वारा मनुष्य को द्रव्य प्राप्ति होती है। प्रथम—वंश परम्परा से, द्वितीय—प्रारब्ध से, तृतीय—परिश्रम-पूर्वक कार्य करने से, चतुर्थ—मित्र की सहायता से। इन्हीं चारों के द्वारा मनुष्य को धन प्राप्त हो सकता है।' आज आप हमारे अतिथि बने हैं। इससे आप हमारे मित्र हो गये। मैं प्रचुर धन प्राप्ति का उपाय बतलाता हूँ। मेरे एक मित्र राजा विरूपाक्ष हैं, वे यहाँ से दो योजन की दूरी पर मेरुव्रज नगर में निवास करते हैं। कार्तिक पूर्णिमा को वे ब्रह्म-भोज किया करते हैं। भोजन के पश्चात् वे ब्राह्मणों को यथेच्छ दक्षिणा देते हैं। अस्तु कल कार्तिकी पूर्णिमा

को आप उनके यहाँ निर्भय होकर चले जाइये। वहाँ पहुँच कर उनसे कह देना कि मैं राजधर्मा का अतिथि मित्र हूँ। उन्होंने तुम्हारे पास मुझे भेजा है, मुझे धन चाहिये। वे मेरा नाम सुनते ही तुम्हें यथेच्छ धन देंगे।' गौतम ने कहा 'बहुत अच्छा मैं यही करूँगा।

रात्रि भर वटवृक्ष के नीचे विश्राम करने के बाद गौतम प्रातः काल राजधर्मा से विदा माँगकर मेरुव्रज नगर की ओर चल दिया। विरूपाक्ष के नगर में पहुँच कर उसने राक्षसराज की धन धान्य पूर्ण सुन्दर नगरी को देखा। राजभवन के प्रथम कक्षा में पहुँच कर उसने प्रतिहारी के द्वारा राजा विरूपाक्ष को यह सूचना भेजी कि गौतम नाम का ब्राह्मण, आपके परम मित्र राजहंस राजधर्मा का भेजा हुआ आपके पास अर्थ प्राप्ति की आशा से आया है।

प्रतिहारी से सूचना पाकर राजा स्वयं द्वार पर आया और उसने गौतम का स्वागत करते हुए पूछा कि आप किस देश से आये हैं? आपका कुलगोत्र क्या है? और आपने किस जाति की स्त्री से विवाह किया है? उसने कहा, 'मैं गौतम नाम का ब्राह्मण हूँ। मुझे अपनी कुल जाति का केवल इतना ही ज्ञान है। मैंने उत्तर प्रदेश के एक ग्राम में शूद्रा स्त्री से विवाह किया है। इसके अतिरिक्त और मैं कुछ नहीं जानता। कल रात्रि को आपके परम मित्र राजधर्मा का मैं अतिथि बन गया। उन्होंने अर्थ प्राप्ति के निमित्त मुझे आपके पास भेजा है।'

विरूपाक्ष, विलक्षण बुद्धि वाला चतुर व्यक्ति था। उसको गौतम पर विश्वास तो नहीं हुआ। किन्तु फिर भी मित्र के द्वारा भेजे हुये इस अतिथि का सत्कार करना अपना कर्त्तव्य है, ऐसा जानकर विरूपाक्ष ने गौतम से कहा, आइये। विराजिये! आज कार्तिकी पूर्णिमा का पुण्यमय पर्व है, मेरे यहाँ आज अनेकों ब्राह्मण आकर भोजन करेंगे। उन्हीं के साथ आप भी भोजन करके जितनी इच्छा हो उतना द्रव्य दक्षिणा में ले जाइये। इतना कहकर विरूपाक्षने गौतम को आदर पूर्वक बैठाया। निश्चित समय पर सहस्त्रों की संख्या में ब्राह्मण, लाल रेशमी वस्त्र पहने उपस्थित होने लगे। राजा के सेवकों ने तत्काल सबको बैठने के लिये कुशासन डाल दिये। विरूपाक्ष ने पितरों के उद्देश्य से तिल, जल, पुष्प आदि देकर सभी ब्राह्मणों का पूजन किया। पश्चात रत्न जटित सुवर्ण के थालों में सबको परम सुस्वादु भोजन परोसा गया। अन्त में राजा ने सुवर्ण और रत्नों की ढेरी ब्राह्मणों के सम्मुख लगा दी और कह दिया कि दक्षिणा में जो ब्राह्मण जितना द्रव्य चाहे अपनी इच्छानुसार इसमें से ले लेवे। इसके बाद सब लोग निर्भय होकर अपने-अपने घर चले जाँय। आज के दिन राक्षसों से तुम्हें कोई भय नहीं है। ब्राह्मणों ने प्रसन्न होकर अपनी आवश्यकतानुसार उस ढेरी में से द्रव्य ले लिया। गौतम लोभी था अतः उसने बहुत सुवर्ण और रत्न बटोर कर बड़ी सी गठरी बाँध ली।

ब्राह्मण लोग दक्षिणा पाकर अपने-अपने स्थानों को चले गए। गौतम भी वह बड़ी भारी गठरी सिर पर लादे हुए शाम तक उसी वट वृक्ष के नीचे पहुँच सका। वट के नीचे पहुँचकर उसने अपने सिर की गठरी उतार कर रख दी। उसको देखकर राजधर्मा ने पूछा कि कहो, विप्रदेव! तुम्हें यथेच्छ धन प्राप्त हुआ अथवा नहीं। गौतम ने कहा, आप की कृपा से खूब धन प्राप्त हुआ। अब मैं रात्रि भर यहीं विश्राम करके प्रातःकाल अपने स्थान को चला जाऊंगा। राजधर्मा ने कहा, हाँ, हाँ, अवश्य आप आज भी हमारे अतिथि बनिये और हमारी सेवा स्वीकार कीजिये।' ऐसा कहकर महात्मा राजधर्मा ने उसी प्रकार गौतम का आतिथ्य सत्कार किया। भोजन के पश्चात जब गौतम विश्राम करने लगा तब राजधर्मा उसी प्रकार से अपने पंखों से उस पर हवा करने लगा। गौतम थक गया था, इसलिये शीघ्र ही सो गया। राजधर्मा भी उस पर विश्वास करके गौतम के समीप ही निश्चिन्त होकर सोने लगा। ठीक अर्ध-रात्रि के समय पापी गौतम की नींद खुली। अपने पास ही निश्चिंत सोये हुए राजहंस को देखकर उसके मन में पाप वृत्ति जाग्रत हुई। उसने सोचा कि कल दिन भर यह भारी गठरी लेकर चलना है, भोजन का कहीं ठिकाना नहीं देख पड़ता, अतः अच्छा हो कि समीप में सोये हुये इस राजहंसको मारकर इसके मांस से कल के भोजन का काम चलाया जाय, आगे फिर देखा जायगा। ऐसा निश्चय कर उसने जलती हुई अग्नि की लकड़ियों

से महात्मा राजधर्मा को मार डाला। उसके पंख नोचकर फेंक दिये, हड्डियाँ भी इधर उधर डाल दीं, और उसका माँस पकाकर गठरी में बाँध लिया। प्रात: काल उठकर चल दिया।

दूसरे दिन जब राजहंस राजधर्मा बड़ी देर तक अपने मित्र विरूपाक्ष से मिलने नहीं आया तब उन्होने चिन्तित होकर अपने पुत्र से कहा, 'बेटा! आज हमारे परम मित्र राजधर्मा अभी तक नहीं आये। वे नित्य प्रति ब्रह्मलोक से लौटते हुये मुझसे मिलकर तब अपने स्थान को जाते थे। आज न जाने क्या बात है। मेरे प्रिय मित्र अभी तक नहीं आये। मुझे कुछ सन्देह होता है कि कदाचित उस दुष्ट गौतम ब्राह्मण ने जो आकृति से दुराचारी क्रूर और नृशंस प्रतीत होता था, कहीं यहाँ से लौटते हुये मेरे प्रिय मित्र को मार न डाला हो। मेरा हृदय रोकर यही कह रहा है कि वे इस धराधाम पर नहीं है। अत: तुम शीघ्र ही उनके आश्रम पर जाकर पता लगाओ, वहाँ जाकर देखो कि वे कहाँ हैं और उनकी दशा क्या है।

पिता की आज्ञा पाकर उनका पराक्रमी पुत्र अपने साथ बहुत से बलवान् राक्षसों को लेकर, चल पड़ा। थोड़ी देर बाद जब वह आश्रम पर पहुँचा तो उसे पिता जी के सन्देह को सत्य में परिणित देखा। उसने देखा आश्रम पर राजधर्मा के पंख नुचे हुए पड़े हैं और हड्डियाँ एक ओर पड़ी हैं। वह उनकी ऐसी दशा देखकर रोने लगा। तत्काल ही सावधान होकर उसने पापी गौतम को पकड़ने के लिये राक्षसों को भेजा। राक्षसों की इच्छित गति होती है। अत्यन्त शीघ्रता से उन्होंने आगे बढ़कर गौतम को पकड़ लिया। गौतम को पकड़ कर वे लोग विरूपाक्ष के पुत्र के पास ले आये। उसकी गठरी खोजने पर राजधर्मा का मांस उसे मिल गया। राक्षसों ने राजधर्मा की हड्डियाँ, पंख तथा मांस सब कुछ लेकर उन्हें पापी गौतम के सहित विरूपाक्ष के सामने उपस्थित कर दिया।

विरूपाक्ष अपने मित्र का मरण सुनकर विलाप करने लगा। राजधर्मा की मृत्यु सुनकर सारे राजभवन में शोक छा गया। राक्षसराज विरूपाक्ष ने अत्यन्त शोक और क्रोध से गौतम की ओर देखकर कहा, अरे दुष्टात्मा! कृतघ्नी! पापी! तूने हमारे परम-मित्र राजहंस धर्मात्मा राजधर्मा की हत्या नहीं की है बल्कि मेरी की है। अत: तुझे अभी इस पाप का मजा चखाता हूँ। राक्षसों, इस पापी को अभी काटकर खाजाओ। राक्षसो ने राजा की आज्ञानुसार उसको तिल-तिल काट कर फेंक दिया। फेंकने के बाद उन्होंने कहा, 'महाराज हमने एक आज्ञा का पालन किया। अब हम इस कृतघ्नी के मौस को खा नहीं सकते, कारण शास्त्रों में ब्रह्म हत्यारे, गो हत्यारे दुराचारी और मदिरापान करने वाले का प्रायश्चित बतलाया गया है, किन्तु कृतघ्नो पापी का लोक में कोई प्रायश्चित नहीं बतालाया गया है। अत: आप हमें इसके पाप भक्षण करने की आज्ञा न दीजिये।

विरूपाक्ष ने अपने मित्र राजधर्मा के लिये सुन्दर चिता बनवाई। उसके पंख हड्डियाँ तथा मांस सब कुछ आदर पूर्वक उसपर रक्खा गया। चिता में अग्नि दी जाने वाली थी कि उस दिव्य पक्षी का अन्तिम संस्कार देखने के लिये माता सुरभी आकर ऊपर आकाश में स्थित हुई। उनके मुख से जो अमृतमय फेन गिरा उससे राजहंस राजधर्मा तत्काल जीवित हो गये। वे अपने पहले जैसे सुन्दर स्वरूप में आकर चिता से उड़कर अपने परम मित्र विरूपाक्ष के गले में लिपट गये। सब देवता आनन्द से फूल बरसाने लगे। देवराज इन्द्र भी इस समय वहीं आकर उपस्थित होगये। उन्होंने राक्षसराज विरूपाक्ष को बहुत धन्यवाद दिया और कहा कि आज तुमने सच्चे मित्र का कर्त्तव्य पालन किया है। तुमने ही अपने मित्र राजधर्मा की जान बचाई है। विरूपाक्ष ने कहा, 'यह तो मेरा कर्त्तव्य है।' अन्त में महात्मा राजधर्मा ने देवराज इन्द्र से प्रार्थना की, 'सुरपति, आप कृपा करके मुझे आज एक वरदान यह देवें कि मेरा मित्र गौतम जीवित हो जाय। मैं अपने मुख से उससे मित्र कह चुका हूँ। अतएव मेरा भी मित्र की रक्षा करना परम कर्त्तव्य है। सब लोग धन्य-धन्य कहने लगे, देवराज इन्द्र ने अपने दैवी बल से गौतम को जीवित कर दिया। वह लज्जित होकर एक ओर को चला गया और राजधर्मा एवं विरूपाक्ष वे दोनों परम मित्र आनन्द पूर्वक अपने-अपने स्थान को चले गये।

सत्संग-समाचार

श्री एकरसानन्द-आश्रम मैनपुरी में, श्री दैवी सम्पद् मण्डल का विराट महोत्सव जो २७ नवम्बर से ५ दिसम्बर अर्थात् मार्गशीर्ष शुक्ल द्वितीया से मार्गशीर्ष शुक्ल १० तक ६ दिवस तक होना निश्चित हुआ है, इसमें निम्न लिखित संत-महापुरुषों, विद्वानों और कथावाचकों ने पधारने की स्वीकृति दे दी है उनकी नामावली नीचे लिखे अनुसार है।

१—श्री मत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८ पूज्यपाद श्री स्वामी महेश्वरानन्द जी महाराज मण्डलेश्वर बम्बई।
२—श्री १०८ पूज्यपाद श्री स्वामी हरिहरानन्द जी महाराज महामण्डलेश्वर, देहली।
३—श्री न्यस्त-दण्ड श्री १०८ पूज्यपाद श्री स्वामी अखण्डानन्द जी सरस्वती, वृन्दावन॥
४—श्री वयोवृद्ध ब्रह्मनिष्ठ श्री १०८ पूज्यपाद श्री स्वामी हीरानन्द जी महाराज, भाऊपुर।
५—श्री प्रज्ञाचक्षु श्री स्वामी शरणानन्द जी महाराज,
६—श्री स्वामी पलकनिधि जी "पथिक" सीतापुर।
७—श्री स्वामी रामतीर्थ जी, काशी।
८—श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज,
९—श्री स्वामी सनातनन्द जी महाराज
१०—श्री स्वामी प्रकाशानन्द जी महाराज, बिठूर।
११—श्री स्वामी सद्गुणानन्द जी महाराज
१२—श्री स्वामी सदानन्द सरस्वती, सम्पादक, 'परमार्थ'
१३—श्री स्वामी योगीराज जी महाराज
१४—श्री ब्रह्मचारी श्यामप्रकाश जी, झूंसी।
१५—श्री प० गिरधर शर्मा, बनारस।
१६—श्री प्रो० गङ्गाशरण 'शील' M. A, चन्दौसी।
१७— आचार्य श्रीनाथ त्रिपाठी M.A. मुमुक्षु आश्रम।
१८—पं० शिवनारायण जी 'व्यास' वैद्यनाथधाम।
१९— ,, शङ्करानन्द जी प्रतिवादि 'भयङ्कर' वेदाचार्य (जर्मन रिटर्न)
२०— ,, रामप्रसाद अवस्थी B. A. शास्त्री, शमसाबाद।
२१— ,, स्वामीदयाल जी उदास, लखनऊ।
२२— ,, दुर्गाप्रसाद जी 'सरस' जालौन।
२३— ,, राजाराम जी पाण्डेय "मंजुल"
२४— ,, चन्द्रमणि जी, रायबरेली।
२५— ,, रजनीकान्त जी शास्त्री, कानपुर।
२६—श्रीमती रामदेवी जी उपदेशिका, भाऊपुर।

परमार्थ-निकेतन (स्वर्गाश्रम) में साधन-पक्ष

पुण्यसलिला, भगवती भागीरथी के सुरम्य तट पर, परमार्थ-निकेतन (स्वर्गाश्रम) में दीपावली के पश्चात् द्वितीया से कार्त्तिक पूर्णिमा तक पूज्यपाद श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज के साधन सम्बन्धी क्रियात्मक उपदेश होंगे। साधकों और सत्संग प्रेमियों को इस अवसर से लाभ उठाना चाहिये। इन दिनों इस पावन तपोभूमि का वातावरण बहुत शान्त और मनोहर रहता है। प्राकृतिक सौन्दर्य, गंगा जी के स्फटिक से स्वच्छ निर्मल जल और अविरल कलकलनाद में खोकर, साधक का मन-मयूर; अनायास प्रभु के पाद-पंकजों में नाचने लगता है।

आने वाले प्रेमियों को अपने आगमन की सूचना व्यवस्थापक परमार्थ-निकेतन स्वर्गाश्रम के पते से भेजनी चाहिये।

परमार्थ-निकेतन (स्वर्गाश्रम) में राष्ट्रपति जी का शुभागमन

भारतीय जनता की सर्वोच्च सत्ता के प्रभा.पुञ्ज प्रतीक राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद जी, १३ अक्टूबर को मध्याह्न सुरसरी के समीपस्थ, सुरम्य परमार्थ निकेतन में पधारे। राष्ट्रपति के साथ उत्तर भारत के शिक्षाविद् राज्यपाल माननीय श्री के, एम, मुन्शी तथा श्रीमती लीलावती मुन्शी का हार्दिक अभिनन्दन करते हुए पूज्यपाद श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज ने, अपने संक्षिप्त भाषण में, दैवी सम्पद मण्डल के व्यापक कार्य-क्रम पर प्रकाश डाला। स्वामी जी ने अपने उपदेश में बताया कि दैवी सम्पत्ति के गुणों की धारणा और आसुरी सम्पत्ति के दुर्गुणों के परित्याग से ही मानव को सच्ची शान्ति मिल सकती है। सर्वेश्वर भगवान के मन्दिर के सामने कन्द-मूल फल, रुद्राक्ष की माला एवं चन्दन से लिखित "संत" का उपाधि पत्र प्रदान करते हुये स्वामी जी ने गदगद् होकर राष्ट्रपति के गुण स्वभाव और आदर्श जीवन की मुक्त कंठ से प्रशंसा की। दूर-दूर से आये हुए भक्त समुदाय और दर्शकों के जयघोष "राष्ट्रपति संत राजेन्द्रप्रसाद की जय" से परमार्थ निकेतन की पावन तपोभूमि गूंज उठी। उस समय ऐसा प्रतीत होरहा था मानों भारतीय संस्कृति का प्राचीन उज्ज्वल आदर्श मूर्तिमान हो उठा है।

लगभग तीन बजे राष्ट्रपति जी की धर्मपत्नी श्रीमती राजवंशी देवी तथा उनकी पौत्री ने भी पधार कर सर्वेश्वर भगवान् के दर्शन किये। परमार्थ निकेतन की रमणीयता को देखकर उन्हें बहुत प्रसन्नता हुई।

मुद्रक तथा प्रकाशक:—अध्यक्ष परमार्थ प्रेस, पो० मुमुक्षु आश्रम, (शाहजहाँपुर।)

शोक छा गया। ...
क और क्रोध से गौतम की ओर देखकर कहा ...

सचित्र मासिक-पत्र

वार्षिक मूल्य ४।) दर्पण विदेश के लिये ८)

परमार्थ मासिक-पत्र

दैवी गुण विकासक, शान्ति संस्थापक, भक्ति ज्ञान, वैराग्य, सदाचार आदि अध्यात्मवाद प्रचारक, श्री दैवी सम्पद् महामण्डल का प्रमुख सुरुचिपूर्ण सचित्र मासिक-पत्र

संस्थापक:—

श्री १०८ श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज

श्री १०८ श्री स्वामी भजनानन्द जी महाराज

सम्पादक:—

स्वामी सदानन्द सरस्वती

राजाराम पाण्डेय 'मञ्जुल'

विषय सूची

सम्पादक-मण्डल—

पं० गयाप्रसाद त्रिपाठी शास्त्री,' साहित्यरत्न, रामशंकर वर्मा एम० ए० "साहित्यरत्न", रामस्वरूप गुप्त।

वानप्रस्थ-आश्रम की स्थापना

स्थान—परमार्थ-निकेतन, स्वर्गाश्रम-ऋषिकेश (हिमालय)

पू० श्री १०८ स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज

के संरक्षण में

१—४० अथवा ४० वर्ष से अधिक की अवस्था के पुरुषों का इसमें प्रवेश होगा—अकेली स्त्री का प्रवेश वर्जित है। अपने पति के साथ उसका प्रवेश हो सकता है, परन्तु बच्चों का साथ नहीं होगा।

२—प्रवेशार्थी का स्वास्थ्य सामान्यतया ठीक होना चाहिये।

३—प्रवेशार्थी की आर्थिक दशा स्वावलम्बन योग्य होनी चाहिये।

४—प्रवेशार्थी की शिक्षा इतनी अवश्य होनी चाहिये कि वह हिन्दी भाषा में गीता और रामायण के अर्थ समझ सके।

५—पारिवारिक स्थिति इस प्रकार की हो कि वह परिवार के झंझटों से विमुक्त स्वतन्त्रता पूर्वक गृहस्थी से बाहर रह सके।

६—प्रवेशार्थी की मनोवृत्ति में आध्यात्मिक उन्नति करने का उत्साह हो और उसका स्वभाव सत्वगुण की ओर झुका हुआ हो।

७—आध्यात्मिक साधना अध्यक्ष महोदय (श्री स्वामी जी महाराज) के बतलाये हुए विधान के अनुसार नियमित रूप से करनी होगी और साधना में प्रगति की सूचना त्रैमासिक व्यवस्थापक को देनी होगी।

८—आध्यात्मिक साधना में जप, तप, ध्यान, धारणा, स्वाध्याय आदि का समावेश होगा। स्वाध्याय में गीता, उपनिषद्, दर्शन, रामायण, भागवत आदि का अध्ययन कराया जायगा।

९—खाने पीने, रहन, सहन आदि के नियमों में सादगी वर्तनी होगी।

१०—शास्त्रों में वानप्रस्थ के नियम प्राचीन प्रथा के अनुसार कठिन हैं, उनमें देश काल और वर्तमान परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन किया जा सकता है—ऐसा परिवर्तन करने का अधिकार अध्यक्ष महोदय को होगा। अध्यक्ष महोदय के निर्धारित किये हुए नियमों का पालन करना आवश्यकीय होगा।

११—प्रत्येक वानप्रस्थी को जो इस संस्था में प्रविष्ट होगा, दैवी सम्पद् मण्डल के नियमों का पालन करना अनिवार्य होगा।

नोट—उपरोक्त नियमों के अनुसार व्यवस्थापक द्वारा जिसे अध्यक्ष महोदय नियुक्त करेंगे, किसी प्रवेशार्थी का प्रवेश हो सकता है। परन्तु उसके लिये अन्तिम स्वीकृति अध्यक्ष महोदय की आवश्यक होगी। किसी प्रवेश अवस्था में अध्यक्ष महोदय को यह भी अधिकार होगा कि किसी प्रवेशार्थी (स्त्री या पुरुष) को उपर्युक्त नियमों के विरुद्ध किसी विशेष परिस्थितिवश प्रवेश करने की आज्ञा दे दें। इसके लिये जो शर्तें अध्यक्ष महोदय निर्धारित करेंगे वे माननीय होंगी।

१२—परमार्थ-निकेतन, ऋषिकेश, में वानप्रस्थियों के निवास, साधना, अध्ययन, और भोजन आदि का यथोचित प्रबन्ध रहेगा—प्रत्येक प्रबन्ध में यह ध्यान रखना आवश्यक होगा कि उसके व्यय का भार आश्रम के ऊपर न पड़े और प्रत्येक कार्य यथासम्भव स्वावलम्बन के सिद्धान्तानुकूल किया जावे।

१३—वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश चाहने वालों को [illegible] निम्नलिखित पते से प्रवेश के लिये प्रार्थना पत्र

१४—प्रवेशार्थियों को व्यवस्थापक की सेवा में भेजना चाहिये।

१५—प्रवेश प्रारम्भ में ६ मास के लिये होगा—नियमों के सम्यक् पालन तथा व्यवस्थापक को सन्तुष्ट कर देने पर प्रवेश स्थायी कर दिया जायगा—यदि व्यवस्थापक चाहें तो वह ६ मास की अवधि बढ़ाई भी जासकती है।

व्यवस्थापक
वानप्रस्थ आश्रम, परमार्थ-निकेतन
स्वर्गाश्रम, पो० ऋषिकेश (देहरादून)

"परमार्थ" के संरक्षक अथवा आजीवन सदस्यों की सेवा में

आदरणीय महोदय,

आपके सक्रिय सहयोग से 'परमार्थ' को बहुत कुछ बल की उपलब्धि हुई। 'परमार्थ' में अपने 'अर्थ' को लगा कर, आपने जनता-जनार्दन की आध्यात्मिक सेवा में हमारा हाथ बटाया है, इसलिये हम आपके विशेष आभारी हैं।

'परमार्थ' की पंचवर्षीय सेवा, दिसम्बर के आगामी अंक के पश्चात समाप्त हो रही है। जनवरी के विशेषांक 'सुख शान्ति अंक' से छठवें वर्ष की सेवा प्रारम्भ होगी। पत्रिका के लेखों आदि के सम्बन्ध में आपके जैसे विचार हों, निस्संकोच लिखने की कृपा करें, एवं 'परमार्थ' को सर्वाङ्ग सुन्दर और सुरुचिपूर्ण बनाने के लिये आप अपनी बहुमूल्य सम्मति भेजने की कृपा करें। आपको सम्मति देने का पूर्ण अधिकार संरक्षक होने के नाते है ही। आपकी प्रेरणा से 'परमार्थ-परिवार' के उत्साह की वृद्धि होगी।

डाक की गड़बड़ी से यदि कोई अंक आपकी सेवा तक न पहुँच सका हो तो अवश्य लिखें। यहाँ से खोये हुए सभी अंक सेवा में भेज दिए जायँगे, जिससे आपकी फाइल अधूरी नहीं रहेगी।

'परमार्थ' के संरक्षकों की वृद्धि के लिये अपने मित्रों को भी प्रेरित करें कि वे १०१) या इससे अधिक भेजकर इस आध्यात्मिक ज्ञान-यज्ञ में अपने आर्थिक सहयोग से पुण्य और यश के भागी बनें। इस प्रकार उन्हें आजीवन पत्रिका भी मिलती रहेगी और 'परमार्थ' भी स्वस्थ एवं सबल बनेगा।

—सम्पादक

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः । सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग्भवेत् ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वानुसृतःस्वभावात् ।
करोमि यत्यत् सकलं परस्मै, नारायणायैव समर्पयेतत् ॥

वर्ष ५ | पो० मुमुक्षु आश्रम (शाहजहाँपुर) १५ नवम्बर, १९५४ | मार्गशीर्ष कृष्ण ५ सोमवार सम्वत् २०११ | अङ्क—११

कह उठीं सहसा प्रभु ! देखिये

[१]

सुखद सुन्दर धाम सुहावना,
विपिन मध्य बनाकर राम ने,
अनुज दार समेत विपत्ति में,
तनिक सी सुख की जब सांस ली।

[२]

हँस रहा उत मौन कुदैव था,
कुटिल ने अतिसंकट ढा दिया,
हरिण एक मनोहर स्वर्ण का,
जनक नंदिनि के मन भा गया।

[३]

कह उठीं सहसा प्रभु ! देखिये,
सुनहरा मृग जो यह जा रहा,
निज शरासन से बध कीजिये,
मम हितार्थ सुखासन दीजिये।

—श्री गयाप्रसाद त्रिपाठी "शास्त्री"

परमार्थ-बिन्दु

विचार करो—सर्दी और गर्मी के मौसम तो समयानुसार आवेंगे ही चाहे हम सुखी हों अथवा दुखी। परन्तु क्या दुखी होने से मौसम बदल जायगा ? कदापि नहीं। अतः भलाई इसी में है कि यदि हम कड़ाके की सर्दी से दुखी होना नहीं चाहते तो गर्म कपड़े पहिन लें, कम्बल ओढ़ लें। और यदि आग जलाकर तापने बैठ जायेंगे तो हमारे साथ औरों की भी सर्दी बढ़ जायगी। इसी प्रकार, याद रक्खो, संसार में देह रहते देश-काल व परिस्थिति के अनुसार अनुकूलताएँ व प्रतिकूलताएँ तो आवेंगी ही। प्रतिकूलता आने पर दुखी होकर रोने चिल्लाने से प्रतिकूलता मिट थोड़े ही जायगी ? अतः समझदारी इसी में है कि यदि हम दुखी नहीं होना चाहते तो भगवान् की शरण ग्रहण करलें अथवा सद्विवेक को काम में लें। 'स्वरूप' के ज्ञान की धारणा होजाने पर तो दुःख-सुख सब मिट कर सदा आनन्द ही आनन्द हो जायगा। और अपने यहाँ सत्संग स्थापित कर लेने पर अपने साथ-साथ औरों का भी सद्विवेक जागृत हो जायगा जिससे सबको दुःख नहीं व्यापेगा।

विचार करो—एक धनवान पिता की आज्ञाकारी सुशील सन्तान उसकी सम्पत्ति की उत्तराधिकारी होती ही है। परन्तु यदि वह अपने पिता जी की आज्ञा का पालन न करके अपनी मनमानी करने लगे तो क्या पिता उसे अपनी सम्पत्ति के अधिकारों से वंचित नहीं कर देगा ? अवश्य ही। इसी प्रकार, निश्चय रक्खो, हमारा परमपिता परमात्मा भी यही चाहता है कि उसकी सन्तानों में श्रेष्ठ मानव उसकी आज्ञा का पालन करे अर्थात दैवी सम्पत्ति के सद्गुणों को धारण करके मानव सच्चा मानव बने। यदि वह अपनी मनमानी अर्थात् आसुरी सम्पत्ति के अवगुणों में फँस कर भगवान की आज्ञा का उलंघन करता है तो उसे सम्पत्ति के उत्तराधिकार से तो वंचित होना ही पड़ता है साथ ही सूकर-कूकर कीट-पतंगादि नीच योनियों में जन्म लेकर दुःख भोगना पड़ता।

विचार करो—बालक जब तक हँसता खेलता या अपने साथियों में भटकता रहता है तब तक तो उसकी मैया भी उससे निश्चिन्त होकर घर के कामों में लगी रहती है; किन्तु खेल खिलौनों को फेंक-फाँक कर जब वह अपनी माता की गोद के लिये रोने ही लगे तो क्या वह ममतामयी माता अपने हृदय धन से दूर रह सकेगी। कदापि नहीं। तब तो वह तुरन्त उसे अपनी गोद में ले लेगी। इसी प्रकार, विश्वास रक्खो, इस दुःखालय संसार से तप्त होकर जब हम अन्तरात्मा से व्याकुलता पूर्वक दुःख-हारी हरि को पुकारेंगे तो वे करुणा सिन्धु हमें अपनी चिरशान्तिदायिनी गोद अवश्य प्रदान करेंगे।

विचार करो—नन्हा बालक यदि जलती दीप शिखा, अग्नि या बर्र-ततैया को पकड़ना चाहे तो उसकी जन्मदात्री माता बरबस रोकती है और यदि वह नहीं मानता तो भयभीत करने के लिये ताड़ना भी करती है। माता की ताड़ना में बालक भले ही अपने मन में बुरा माने परन्तु क्या हितकामना नहीं छिपी हुई है ? अवश्यमेव। इसी प्रकार, विश्वास रक्खो, जब कोई साधक अपने पथ से भ्रष्ट होकर विषय-भोगों के कंटकाकीर्ण मार्ग में बहक जाता है तो दयामय प्रभु अपने प्रिय भक्त के हित के लिये उसके सुख साधन भोग पदार्थ छीन लेते हैं। परन्तु सोचो तो, क्या भगवान की इस निठुराई में उनकी असीम करुणा नहीं छिपी है ? अवश्यमेव। जिन-जिन पदार्थों में हमारी ममता और आसक्ति बढ़ती जारही है, उनसे वियोग कराके वे हमारी ममता-आसक्ति छुड़वावें तो हमें दुखी होना चाहिये अथवा खूब प्रसन्न ? हमें तो आनन्द मग्न होकर भगवान की अहैतुकी कृपा का सम्पादन करना चाहिये।

"आनन्द"

पं० गयाप्रसाद त्रिपाठी [illegible]

सितम्बर मास से इस नवीन स्तम्भ का श्री गणेश हुआ है। प्रेमी पाठक-पाठिकाओं से निवेदन है कि वे अपने जीवन की वह सत्य घटना लिख भेजने की कृपा करें, जिसके प्रभाव से उन्हें आध्यात्मिक उन्नति, भगवान् के प्रति श्रद्धा और चारित्रिक उत्थान को आश्चर्यजनक प्रेरणा मिली हो।

घटना, कापी साइज के एक पेज से अधिक नहीं होनी चाहिये।

लगभग चार वर्ष पहले की बात है लोगों से सुना कि मुमुक्षु-आश्रम के मन्दिर के भगवान् शङ्कर प्रत्यक्ष फल देने वाले हैं, जो किसी कामना से उनको भजता है उसकी सारी कामनायें सिद्ध हो जाती हैं। मेरे हृदय में भी श्रद्धा उत्पन्न हो गई कि क्यों न मैं भी उनके सम्मुख पहुँच कर अपनी मनोकामना पूर्ण करूँ और मैं नित्य बहुत प्रातः ही उठकर उनके दर्शन हेतु मुमुक्षु-आश्रम की ओर चल देता। भगवान् के सामने पहुँचकर घंटे भर तक कुछ न कुछ गुनगुनाता रहता। थोड़ी सफलता प्राप्त होते देख शीघ्र सफलता पाने के उद्देश्य से घर पर भी रामायण का पाठ प्रारम्भ कर दिया।

उस दिन प्रातः घोर अंधकार था—बिजली चमक रही थी। ज्यों-ज्यों दर्शन को जाने का समय नज़दीक आ रहा था त्यों त्यों वर्षा भी अपना भीषण रूप धारण कर रही थी। तर्क कह रहा था "इतनी वर्षा में जाने से क्या लाभ बीमार हो जाओगे तो दर्शन किस काम आयेंगे?" श्रद्धा कहती कि "चाहे कुछ भी हो नियम नहीं टूटेगा-दर्शन ज़रूर करेंगे।" आखिर श्रद्धा की विजय हुई चट से बरसाती और छाता उठाया और निकल गया घर के बाहर। विशेषता यह हुई कि मन्दिर तक पहुँचते-पहुँचते वर्षा बन्द हो गई। मैं भगवान् के सामने नित्य की भाँति घन्टे भर तक गुनगुनाता रहा फिर उठकर प्रणाम करके आश्रम के बाहर निकला।

कुछ ऐसा नियम सा बन गया था कि आश्रम से बाहर निकल कर एक दो फर्लांग दक्षिण की ओर सड़क-सड़क जाता और उसी समय जेब से चार-पाँच कैंची मार्का सिगरेट निकाल कर धकाधक पी जाता। संयोग से एक महात्मा जी भी ठीक इसी समय टहलने के लिये मेरे पीछे जाया करते थे। वे मेरी इस आश्रम से बाहर निकल कर धकाधक 'कैंची मार्का" का धुआँ उड़ाने की क्रिया को देखते थे। उस दिन भी आश्रम से निकलकर ज्यों ही मैंने सिगरेट सुलगायी तो पीछे से किसी की आवाज़ आई 'प्यारे ज़रा सुनो तो।'

पीछे घूमकर देखा तो वही महात्मा जी थे। मैंने नमो नारायण करते हुये कहा "जी"

"प्यारे! मैं नित्य देखता हूँ कि आश्रम के बाहर निकलकर तो तुम बेचारी सिगरेटों पर टूट से पड़ते हो परन्तु जब तक मन्दिर के सामने बैठे रहते हो तब तक एक भी सिगरेट नहीं पीते" महात्मा जी ने पूछा।

मैंने चट से उत्तर दिया "क्या मैं बेवकूफ़ हूँ जो भगवान् के सामने सिगरेट पीऊँ?"

"क्यों क्या हर्ज है?" उन्होंने पूछा—।

"जी! भगवान् के सामने बुरा काम नहीं करना चाहिये" मैंने कहा।

"तुम्हारी समझ से भगवान् कहाँ कहाँ नहीं हैं?" महात्मा जी ने कहा।

"सब जगह है" सहसा मेरे मुँह से निकल पड़ा।

"तो प्यारे! तुम्हारी समझ में जहाँ भगवान् हो वहाँ कोई बुरा काम कदापि न किया करो" मुस्कराते हुए उन महात्मा जी ने कहा और आगे निकल गये।

मेरी बुद्धि महात्मा जी के उन वचनों को मनन करने लगी और जेब से सिगरेट निकाल कर मुँह में ठूँस दी और दियासलाई जलाई कि भीतर से एक धक्का सा लगा "तुम्हारी समझ में जहाँ भगवान हो वहाँ कोई बुरा काम कदापि नहीं करना चाहिये।"

नोट—आजकल श्री देवकीनन्दन जो वास्तव में बहुत अच्छे साधक हैं—स्वभाव, आचरण व व्यवहार से इन्हें गृहस्थी में रहते हुए एक सन्त कहा जा सकता है। —सम्पादक

दियासलाई बुझा कर फेंक दी, मुंह की सिगरेट निकाल कर डिब्बी में डालली और दौड़कर महात्मा जी के चरणों में सिगरेट की डिब्बी रखते हुए "आज से मैं सिगरेट न पीने की प्रतिज्ञा करता हूँ—कृपया आशीर्वाद दें" मैंने कहा।

"भगवान् तुम्हारा भला करें" कहते हुए उन्होंने मेरे सिर पर हाथ रख दिया। मैं घर पहुँचा, रास्ते भर वही बात गूँजती रही, "भगवान् के सामने बुरा काम नहीं करना चाहिये। माता जी ने भोजन परोस कर सामने रख दिया। नित्य की भाँति मैं उठा—अालमारी खोली बोतल निकाली 'पैग' तैयार किया और ज्यों ही पीने के लिये हाथ उठाया कि जैसे किसी ने हृदय के भीतर से कहा, 'भगवान् के सामने बुरा काम नहीं करना चाहिए' मन में तर्क-वितर्क चलने लगा—"क्या यहाँ भगवान् नहीं हैं? क्या यह बुरा काम नहीं है? बस बुद्धि ने निश्चय किया और मैंने सारी बोतल नाली में उड़ेल दी। भीतर ही भीतर प्रतिज्ञा हो गई कि शराब नहीं पीना चाहिये।

भोजन की थाली तैयार थी, जा बैठा आसन पर, रोटी का का ग्रास तोड़ा—आँखें कटोरियों की वस्तुओं का इन्सपेक्शन करने दौड़ गईं—देखा कि एक कटोरी में हड्डी-मांस "हिंसा"। फिर वही विचार "भगवान् के सामने कोई बुरा काम नहीं करना चाहिये!" ग्रास थाली में ही गिर गया और मैं उठ कर अपने कमरे में चुपचाप लेट गया। माँ के बहुत आग्रह करने पर भी उस दिन भोजन न किया।

.......और इस प्रकार करते-करते अनेकों बुरे काम भगवान् की कृपा ने उस मन्त्र "भगवान् के सामने बुरे काम कदापि न करो" द्वारा छुड़वा दिए। और मुझे दानव से वास्तविक मानव बना दिया।

श्री देवकीनन्दन वर्मा

× × ×

आस्तिक भावना तो मेरी बाल्यावस्था से ही है। इसीलिये कर्मों के अच्छे बुरे फल अथवा प्रारब्ध में भी पक्का विश्वास रहता है।

एक बार गोरखपुर से उन्नाव आरहा था। ट्रेन छूटने वाली थी, शीघ्रता के कारण सामने वाले डब्बे में ज्यों त्यों करके, सामान चढ़ा कर बैठ गया। भीतर [illegible] के मना करते रहने पर भी मैं घुस गया था [illegible] अब उन्होंने कहना प्रारम्भ किया, "आप क्यों इस डब्बे में चढ़ आये इसमें आप नहीं बैठ सकते, फौरन उतर जाइए, इत्यादि।" हक्का बक्का होकर मैं देखने लगा, डब्बा तो थर्ड क्लास का ही है, स्थान की भी खास कमी नहीं है फिर मैं इसमें क्यों नहीं बैठ सकता? मैंने नम्र वाणी में पूछा—"भाई! मैं इस डब्बे में क्यों नहीं बैठ सकता, मेरे आने से आपको क्या कष्ट हुआ?", मेरा इतना कहना था कि वे सबके सब एक साथ बिगड़े—"यह स्टाफ के लिये रिज़र्व है, इसमें बाहरी आदमी नहीं बैठ सकता"—उनमें से एक कुछ अधिक क्रुद्ध था उसने कहा "फौरन उतर जाओ वर्ना हम तुम्हारा सामान खिड़की से बाहर फेंक देंगे"—और वह जैसे फेंकने के लिये तत्पर होने लगा।

ट्रेन चल चुकी थी और अब तो उसकी रफ़्तार भी तेज़ी पर थी। उतरना या जंजीर खींचना, दोनों ख़तरे से खाली नहीं थे। उन लोगों से अनुनय-विनय का प्रभाव भी उल्टा पड़ रहा था। मैं जितनी प्रार्थना करता उतना ही वे सबके सब अधिक बिगड़ते जाते। उनमें से एक ने ऊपर की सीट से सामान उठाकर फ़र्श पर फेंक दिया। डब्बा बिलकुल खाली था फिर भी वे लोग न जाने क्यों मुझे सता रहे थे। सीट से उठने के लिये उन्होंने मुझे विवश कर दिया, मैं हताश होकर सोचने लगा "कैसे हैं ये लोग जिनमें मनुष्यत्व नाम की कोई वस्तु जैसे है ही नहीं" चित्त बहुत दुखी होगया।

सहसा भगवान के सुमधुर नाम का स्मरण हुआ। अपमान के अप्रत्याशित आघात से हृत्तंत्री के तार बज उठे और फिर मन ही मन, आँखें बन्द करके—

"हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥"

की मानसिक ध्वनि भीतर-भीतर गूँजने लगी। भगवन्नाम की प्रत्यक्ष महिमा का प्रत्यक्ष प्रभाव दो मिनट बाद ऐसा हुआ, जिसे सोच कर आज भी मन प्रसन्न होजाता है—जिसने मेरा सामान फेंका था, उसी व्यक्ति ने अपने हाथों उठाकर ठीक से रख दिया और माफी मांगते हुए बोला "आराम से यहाँ बैठ जाइये।" साथ ही उन लोगों ने अपने अपराध के लिये क्षमा याचना भी की।

उसी दिन से जब कभी संकट और दुख की घड़ी आती है, तो वही घटना आँखों के सामने साकार होकर भगवन्नाम स्मरण की स्मृति दिला जाती है। कई बार मेरी कठिन से कठिन समस्याएँ इसी प्रकार भगवन्नाम के सहारे सुलझी हैं।

—बाबूराम शर्मा, उन्नाव

आध्यात्मिक संस्थायें और सामाजिक शिक्षण

(श्री स्वामी शिवानन्द जी सरस्वती)

इन दिनों किसी भी विरक्त साधु, सन्त या सन्यासी को देखते ही लोग यह कहे बिना नहीं रहते कि भारत को रसातल में पहुँचाने वालों में ये ७० लाख भीख मांगने वाले, देश के लिये बोझ और भार स्वरूप ही हैं। कई वर्ष पूर्व, हिन्दी जगत के एक सुप्रसिद्ध लेखक, कवि और साहित्यिक ने जो वैरागियों के ही जीविका स्वरूप श्री रामचरित मानस के टीकाकार भी हैं, कई अंशों में इस सत्य का ही रहस्योद्घाटन किया था कि देश का जो सार्वजनिक धन इन परमुण्डे फलाहार, गांजाहार और धूम्र-पान करने वाले मुफ़तखोरों पर प्रतिवर्ष व्यर्थ ही नष्ट किया जाता है, यदि उसका उचित नियन्त्रण किया जाय तो देश में कम से कम ७६-८० विश्वविद्यालयों का संचालन समुचित रूप से किया जा सकता है। उनके प्रकाशित किये हुए आय व्यय के लेखा अनुसार ५६ लाख साधुओं या भिखमंगों पर प्रतिवर्ष कम से कम ७६ करोड़ रुपये पानी की तरह गन्दे नालों में ही बहा दिये जाते हैं ये साधु रक्त को चूसने वाले जोंक के समान हैं। इन्हें तो हलुआ पूड़ी से ही काम.........ये तो परमुखापेक्षी हैं। अजी. ये देश की सेवा राष्ट्रीय महासभा वा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ आदि सार्वजनिक संस्थाओं में, स्वयंसेवक रूप से सम्मिलित हो कर क्यों नहीं करते ? इन साधुओं के भिक्षाचार और दुराचार से तो पृथ्वी कम्पित हो उठी है...... इत्यादि, इत्यादि।

ये हृदयोद्गार हैं, सुदूर महाद्वीपों में स्वनामधन्य भारत के राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के सत्याग्रह और सत्य-अहिंसा का सन्देश पहुँचाने वाले सुसंस्कृत समाज के सुसंस्कृत अनुयायियों के भी। पर इन उदात्त विचारों को हृदय में स्थान देते हुये भी ये पद-पद पर भिक्षा को ही अपना परम धर्म समझने वाले धर्म-भिक्खुओं के आदिगुरु भगवान बुद्ध और कौपीनवन्त राष्ट्रगुरु भगवान् महात्मा बापू की ही दुहाई देते हैं, जिन्होंने केवल धर्मभिक्षा के आधार पर मानवसमाज के निर्माण का श्री गणेश किया था। इस समय देश को आवश्यकता है, ठोस काम करने वालों की और देश का यह काम होना चाहिये निष्काम भाव से। यह एक निर्विवाद सिद्धान्त है सत्य और सत्य के प्रयोग का। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

त्रिगुणात्मिक प्रकृति के इस भौतिक जगत् में क्या यह निष्काम कर्मयोग सार्वजनिक रूप से सर्व-साधारण के लिये देश को वर्तमान परिस्थिति में सम्भव भी है या नहीं ? यह एक प्रश्न है, जिसे अनिवार्य रूप से हल करना होगा और हल करने का बीड़ा राष्ट्र के सूत्रधारों और कर्णधारों को ही उठाना होगा। भारत की विदेशी सरकार ने तो इसके लिये कुछ किया नहीं; अब यह देखना है कि भारत की स्वतन्त्र सरकार भी कुछ करती है या नहीं ? सच पूछिये तो निस्स्वार्थ सेवा के हित ही विरक्त साधु-सन्तों और सन्यासियों का यह व्रत था जिसे निष्काम कर्मयोग का व्रत कहा जाता है। '*परोकाराय सतां विभूतयाः*" की चरितार्थता इस निस्वार्थ देश-सेवा के लिये सेवाधर्म में ही थी। निष्काम कर्मयोग के इस महान व्रत के लिये देश सेवा की समुचित शिक्षा के निमित ही आध्यात्मिक संस्थाओं की आवश्यकता सर्व कालों में अनिवार्य जानी गई और आज भी जानी जाती है। देश के

कोने कोने में आचार्य-कुल, गुरुकुल अथवा ब्रह्मचर्याश्रम आदि आध्यात्मिक संस्थाओं, आश्रमों और मन्दिरों का केन्द्र निर्माण भी विश्व-कल्याण और जन-सेवा की दृष्टि से लोक-संग्रह के लिये ही हुआ था। और तो क्या, भारत जैसे धर्मप्रधान और ज्ञानरत देश का एक सुवृहद् भाग आध्यात्मिक-ब्रह्म-विचार के लिये हिमगिरि की छत्रच्छाया में आध्यात्मिक आश्रमों के लिये ही सुरक्षित था जो आज आसाम (अथवा आश्रम) के नाम से विख्यात है और अपने एकान्तिक बनों की बाहुल्यता से शान्ति निवृत्ति निष्काम-प्रियता और आध्यात्मिकता का पूर्ण परिचय दे रहा है।

तामिल भाषा का स्कन्द पुराण इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि भारत की आर्य सभ्यता और दिव्यात्मक-संस्कृति को नष्ट करने के लिये ही अनार्य और देहात्मवादी असुरेन्द्रों ने अपनी विजय पताका देवासुर-संग्राम के अवसर पर उत्तर भारत के इस आसाम (आश्रम) भू-भाग में प्रतिष्ठित की थी और असुराधिपति शूरपद्म सिंहमुख और तारकासुर के अनार्य-साम्राज्य की प्रमुख राजधानी इस आश्रम नाम से ही सुप्रसिद्ध-वर्तमान उत्तर भारत के आसाम प्रदेश में ही थी।

यद्यपि आश्रम प्रधान भारत में ही ये आश्रम पाश्चात्य सभ्यता के वर्तमान युग में अधोगति को प्राप्त होकर जन साधारण से उपेक्षित और देश के वर्तमान शिक्षित समाज में घृणित और तिरस्कृत हो रहे हैं, पर विश्व के अन्याय समुन्नत देशों या राष्ट्रों में इन आश्रमों का चर्च या मिशन के रूप में हो रहा है और इनका स्थान विशिष्ट रूप से समादरणीय बना हुआ है। आध्यात्मिक मिशन या चर्च के रूप में ही ये आश्रम अमेरिका, ब्रटेन जर्मनी, फ्रांसादि समुन्नत और सु-सभ्य समझे जाने वाले राष्ट्रों के गुरुपद पर ही प्रतिष्ठित हैं। आज भी सरकार की सहायता से संवर्द्धित और संचालित ये पाश्चात्य धर्म-संघ श्रद्धेय और सम्मान्य धर्मपिता (रेवरेण्ड फादर्स) और राष्ट्रगुरु द्वारा देश के गौरव को उन्नत बना रहे हैं। इन्हीं संघों के तत्वावधान में ही आश्रम, गिरिजाघर, विद्यालय, महाविद्यालय, आचार्यकुल, गुरुकुल, चिकित्सालय तथा अन्य शिक्षणालय देश-सेवा में निरन्तर निरत हैं। लोकसंग्रहार्थ निष्काम कर्म-योग और अखण्ड ब्रह्मचर्य तथा देशसेवा की दीक्षा में दीक्षित अविवाहित शिक्षक, अध्यापक, आचार्य और चिकित्सक, निवृत्तिपथपरायण ब्रह्मचारिणियाँ जन-जन के जीवन को आध्यात्मिक पथ की ओर प्रेरित करने के लिये सतत कर्मपरायण हैं।

> **लाख रुपये की बात**
>
> ऐसी कोई बात किसी आदमी के बारे में मत कहो, जो उस मनुष्य के मुँह पर नहीं कह सकते।
>
> —श्री अरण्डेल

नाम से प्रसिद्ध अन्तर्जातीय साम्यवादी रूस तथा इसके अनुयायियों के अतिरिक्त अन्य सभी समुन्नत राष्ट्रों का एक राष्ट्रधर्म (स्टेट रिलीजन), किसी न किसी रूप में अब भी बना हुआ है। और तत्फलतः ही क्रिश्चियनीटी—जो उनका राष्ट्रधर्म है—किसी न किसी रूप में अखिल विश्व की ही मूल स्थिति (एन्टिटी) या वस्तुस्थिति का ही प्रत्यक्ष रूप धारण कर रही है।

भिक्षा धर्म का अवलम्बन करने वाले धर्मप्रधान भारत और इसके धर्माचार्यों की अधोगति का कारण भिक्षावृत्ति ही है...... न कि भिक्षा धर्म। भिक्षा जहाँ हमारे धर्माचार्यों की स्वतन्त्रमनस्कता

का परिचय देती आई है, भिक्षावृत्ति वहीं भिक्षाधर्म के दुरुपयोग की ओर संकेत करती जा रही है। भिक्षाधर्म धर्मप्रधान भारत की आध्यात्मिकता का सिद्धान्त रहा, किन्तु भिक्षावृत्ति साधारण मानव-समाज के जीवन-निर्वाह का साधन बन गई है, जिसके पीछे अनेकों रहस्य छिपे पड़े हैं…… जिनमें साधुता का और सन्त-समाज का कोई भी दोष नहीं।

क्या गिनती के ६० तथा ७० लाख भिक्षाधर्मावलम्बी भिक्षुक (साधु नहीं) देश सेवा के लिये तैयार नहीं किये जा सकते ? यदि सरकार कानून का ही आश्रय ग्रहण करना चाहती है तो यह कोई असम्भव कार्य नहीं कि तत्कथित भिक्षुक-समाज की उचित भिक्षा-दीक्षा का प्रयत्न किया जा सके और कोई भी भिक्षुक संन्यासाश्रम की दुहाई देकर इनसे बचने का प्रयत्न न करे, क्योंकि लोकसंग्रह और लोकसेवा संन्यासाश्रम के विरुद्ध नहीं ···· ये तो आपस के पूरक ही हैं। सामाजिक शिक्षण का अधिकार जिस सीमा तक साधारण समाज को है, उससे कहीं अधिक शिक्षक समाज को है, संन्यासियों को है। परोपकार के लिये ही विभूतियों का अवतार होता है और आश्रमों में सर्वश्रेष्ठ आश्रम संन्यासाश्रम ही है, अतः विभूतिमत्ता का प्रतिनिधित्व प्रत्येक सन्यासी को करना ही होगा। साधारण जनता भी तभी सामाजिक उत्थान में अपना सहयोग दे सकेगी, और तभी हमारे धर्म का पुनरुत्थान हो सकेगा।

शंका-समाधान

(प्रेषक—एक सत्संगी)

शंका—मंत्र में शक्ति होती है अथवा मंत्र के साथ लगी हुई भावना में।

समाधान—शक्ति मंत्र में भी होती है और उसकी भावना में भी।

मंत्र में शक्ति होने का प्रमाण यही है कि मन्त्र के द्वारा ही मनुष्य ऋद्धियाँ और सिद्धियाँ प्राप्त करता है। मंत्र के द्वारा असाध्य रोग दूर होते हैं। मंत्र के द्वारा मनोवांछित फल मिलता है। यदि मंत्र में बल न होता तो भिन्न-भिन्न फलों के लिये भिन्न भिन्न मन्त्र क्यों होते ? किन्तु यहाँ एक बात विचारणीय है—देखो लक्ष्य भेद की शक्ति तीर में ही होती है। मगर तीर स्वयं लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकता। जितनी शक्ति के साथ धनुष पर तीर खींचा जाता है उतनी ही दूर और उतनी शक्ति के साथ वह जाता है। यही कार्य भावना का है। मंत्र तो लक्ष्य भेद करने का तीर है और भावना उसके छोड़े जाने की शक्ति है। जितनी भावना होगी उतना ही लाभ होगा। यदि चार आना भावना रही तो चार आना लाभ होगा और यदि आठ आना रही तो आठ आना लाभ होगा।

न केवल मन्त्र ही मनोवांछित फल दे सकता है और न केवल भावना ही। दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों का होना आवश्यक है इसीलिये पातंजल योग में लिखा है, *तज्जपस्तदर्थभावनम्* अर्थात जप के साथ उसके अर्थ की भावना करो। भावना की कमी से ही हमें विशेष लाभ मन्त्र के जप से नहीं

दिखाई पड़ता। हम मन्त्र को जपते हैं पर हमारा मन उस समय भी विषयों का चिन्तन करता है। यदि यह चिन्तन मिट जाय और सची भावना से जप करें तो भगवान् का एक बार भी नाम लेकर इस संसार के दुख से निवृत्ति पा सकते हैं। कमी हमारे में पूर्ण भावना की है।

प्रह्लाद की भावना जब तक पूर्ण नहीं हुई भगवान् प्रकट नहीं हुये। जैसे ही उनकी भावना पक्की हो गई वैसे ही भगवान ने उनकी रक्षा के हेतु नृसिंह रूप धारण करके हिरण्यकश्यपु का नाश कर दिया। सन्त कबीर कहते हैं कि:—

माला फेरत जुग गया,
मिटा न मनका फेर।
कर का मन का छाँड़ि के,
मन का मनका फेर॥

अस्तु हमारा कर्तव्य है मन को फेरना। मन जब तक विषयों में सुख का अनुभव करेगा तब तक विषयों का ही चिन्तन करेगा और जब तक विषयों में राग है तब तक भगवान से अवश्य वैराग्य रहेगा। परन्तु जब विषयों से वैराग्य होगा तो भगवान से प्रेम स्वतः ही बढ़ेगा। विषय अन्त में दुख रूप होते हैं, अस्तु बुद्धिमान मनुष्य उसको दुख रूप समझ कर उसका त्याग करते है। भगवान का प्रेम पाने के लिये सच्ची भावना के साथ उसके नाम का जप करना चाहिए।

कल्याण-कामी पुरुष के साधन का प्रारम्भ दुःख की निवृत्ति की उत्कट इच्छा से प्रारम्भ होता है प्रथमावस्था में साधन में उसकी श्रद्धा ही उसे आगे बढ़ाती है। भगवान भी हमारी श्रद्धा को देखते हैं क्योंकि अश्रद्धा से किया हुआ जप-तप अथवा यज्ञ व्यर्थ है। देखो जब बच्चा छोटा होता है तो उसकी तोतली वाणी में कितनी श्रद्धा भरी रहती है और हम उसके शब्दों की अशुद्धता पर ध्यान न देकर उसका आशय समझ जाते हैं और उसकी श्रद्धा पूरी कर देते हैं। बड़ा होने पर उसकी शुद्ध बोली की इच्छा करते हैं और यदि उस समय वह तोतली वाणी का प्रयोग करे तो उसे मूर्ख कहा जायगा।

इसी प्रकार साधन का प्रारम्भ तो श्रद्धा से होता है पर आगे बढ़ने पर मंत्र-जप इत्यादि से उसमें और बल प्रदान करते हैं और अन्त में दोनों की शक्ति से हमें मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। केवल मन्त्र के जप का भी असर होता है और वह यही है कि हमारे अन्दर वैसी ही भावना पैदा कर देता है और फिर मंत्र-जप और उसकी भावना दोनों साथ मिलकर हमें मुक्ति की ओर ले जाती हैं।

अनुरोध

तन बातन में बरबाद किया नर! नाम जपा न हरी हर का।
धन धान्य धरा में धरा सो धरा परमार्थ में ज्ञान घरी भरका॥
मन मानव! मूढ़ बना फिरता भजता न हरी सुघरी घरका।
कर 'राम-स्वरूप' का ध्यान अरे! मिलता तन भाग्य से ही नरका॥

सद्विवेक बिना—
सभी भूलते हैं

(साधु वेष में एक पथिक)

बुद्धि में सद्विवेक न होने के कारण हर एक मनुष्य स्वार्थ, परार्थ और परमार्थ इत्यादि किसी को भी सिद्ध करते हुए भूलते रहते हैं। पूजा, पाठ, जप तपादि के अनुष्ठान एवं विविध यज्ञ होमादि शुभ कर्म करते हुए कोई तो स्वर्गीय भोग-सुखों की कामना रखते हैं, कोई यहीं के धन, पुत्र, ऐश्वर्य, वैभव आदि को चाहते रहते हैं, और कोई इस रिश्वत के द्वारा अपने पापों से मुक्ति की आशा कर रहे हैं।

अनेकों साधक तीर्थों में जाते हुए और रहते हुए भूल रहे हैं क्योंकि; वे तीर्थों में जाकर साधु महात्माओं का सत्समागम नहीं करते। तीर्थ का प्रधान उद्देश्य तो यही है कि साधु-महात्माओं का सत्संग प्राप्त हो और उससे सत्कर्म, सद्धर्म, एवं सन्मार्ग का ज्ञान होवे।

जावे मथुरा द्वारिका, या जावे जगन्नाथ।
सत्संगति हरि भजन बिन, कछू न आवे हाथ॥

यः स्नाता शीतशितया साधु सङ्गति गङ्गया।
किं तस्य नर्नैःकिं तीर्थैःकिं तपाभिःकिम ध्वरै॥

'जो सत्संगति रूपी शीतल निर्मल गंगा में स्नान करता है उसको किसी तीर्थ, दान, तप और यज्ञ से क्या लेना है।'

अनेकों मनुष्य साधु-महात्माओं का दर्शन-सत्संग करते हुए भी भूल रहे हैं; क्योंकि उन्होंने इतने मात्र से ही सन्तोष मान लिया है। वे नहीं जानते कि अनेकों साधु-महात्माओं का समागम करते हुए, एक सन्त रूप में सद्गुरुदेव की प्रतिष्ठा करके उन्हीं की शरण में स्थिर होजाना चाहिये और पूर्ण सत्य-तत्व का ज्ञान प्राप्त करके मुक्ति-लाभ कर लेना चाहिये।

बहुत से मनुष्य श्रद्धास्पद गुरुदेव की शरण में पहुँचकर भी तब तक भूल रहे हैं जब तक वे गुरुदेव के ज्ञान-स्वरूप को न जानकर देह में ही गुरु-भावना और गुरु-तत्व में देह भावना बनाये रहते हैं। वे यह नहीं जानते कि गुरुदेव तो वस्तुतः नाम रूपमय होते हुए भी नाम रूपातीत सच्चिदानन्द रूप हैं। वास्तव में सद्गुरुदेव के सच्चिदानन्द स्वरूप को जाननेवाला सत् शिष्य ही उनका सच्चा उपासक हो सकता है, और ऐसे ही सद्शिष्य को मुक्तिप्रद सदज्ञान की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार के आस्तिक भी भूल रहे हैं जो अस्ति की कल्पना करते हुए और अपने परमाराध्य प्रभु के सत्स्वरूप को न जानकर मन्दिरों में मूर्तियों को ही आराध्य प्रभु मानकर पूजते रहते हैं। मन्दिरों और मूर्तियों के सहारे सद्भावों को बढ़ाते हुए जिस अन्तर्निहित चिन्मात्र स्वरूप परमात्मा को जानना चाहिये, उसे न जानकर वे साधन को ही साध्य मानते रहते हैं, किन्तु परमाराध्य प्रभु का योग लाभ नहीं कर पाते। इस प्रकार के पुजारी भी भूल रहे हैं, जो पूज्यास्पद के सत्स्वरूप को न पाकर अपने भाव की ही पूजा करते रहते हैं। किसी किसी में तो भाव भी नहीं होता. और वह मूर्ति-पूजा की ओट लेकर अपने उदर की पूजा करते रहते हैं।

वह उपासक भी भूल रहे हैं जो उपास्यदेव से मिले बिना ही केवल अपनी रुचि की उपासना करते हुए सन्तोप मानते हैं; क्योंकि अपने उपास्य देव का

सच्चा उपासक वही हो सकता है जो उनके निकटस्थ रहते हुए समयानुकूल होने वाली उनकी रुचि को जानता है और तदनानुसार ही जो उनकी सेवा करता है; यही उपासक की सच्ची उपासना है।

इस प्रकार के विश्वासमार्गी भी भूल रहे हैं जो अपने भगवान् का नाम-जप करते हुए, या निश्चित संख्या में अपने धर्म-ग्रन्थ का पाठ करते हुए, अथवा किसी विशेष स्थान में, मन्दिर में. किसी विशेष मूर्ति में किसी तरह की सामग्री, या कुछ द्रव्य अर्पण करते हुए, अपनी सुखद कामनाओं की पूर्ति चाहते हैं, और इसी आशा में नित्य नियम बाँध कर अपने सुख की सिद्धि के लिये प्रार्थना करते हैं; तरह-तरह के व्रत-अनुष्ठान करते हैं। इसी प्रकार के विश्वासी भक्तों के लिये किसी सन्त ने कहा है:—

फल निमित्त हरि कूँ भजै, धन अरु पुत्र की आस।
इन भक्तन को जानिये, स्वारथ ही के दास॥

वास्तव में अविवेक दशा में आबद्ध ऐसे विश्वासी व्यक्ति भगवान् के भक्त न होकर अपने मन के, स्वार्थ-सुख सिद्धि के दास बने रहते हैं। ऐसे लोग अपनी मान्यता के अनुसार जो कुछ भी साधन करते हैं उसकी महिमा भी प्रायः गाते रहते हैं। जैसे कि अमुक मन्दिर में अमुक देव की पूजा करने से बड़ा लाभ हुआ।

अमुक ग्रन्थ का पाठ करने से यह दुःख मिट गया, या अमुक मन्त्र जप करने से हमको पुत्ररत्न प्राप्त हुआ, या नौकरी लग गई, अथवा अमुक पूजा से रोग दूर हो गया इत्यादि। इन प्रमाणों से अपने को कृपा-पात्र सिद्ध करते हुए गर्वित होते हैं। तब ऐसे लोगों की बातें सुन कर यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि जो व्यक्ति पूजा, पाठ, कीर्तन, जप और यज्ञादि साधन कुछ भी नहीं करते फिर भी उनको अधिक लाभ होता है, उनकी भी इच्छायें पूरी होती हैं, उनको भी सन्तान होती है, उनके भी समयानुसार आने वाले बड़े बड़े दुःख दूर हो जाते हैं, बल्कि किसी किसी को तो ऐसी ऐसी सफलता प्राप्त होती है, ऐसे ऐसे ऐश्वर्य वैभव, के विशाल सुख-भोग सुलभ होते दीखते हैं कि वैसी सफलता, वैसी सुख भोगों की बहुलता अनेकों पूजा-पाठ, जप और ध्यान करने वालों के जीवन में कभी नहीं दिखाई देती। यह विश्वासमार्गी जिन बातों को लेकर भगवान् की कृपा प्रमाणित करते हैं वे बातें इतनी तुच्छ ठहरती हैं जिनसे भगवान् की महत्ता सिद्ध होने के स्थान में दरिद्रता ही सिद्ध होती है; क्योंकि भगवान् अपने इन कीर्तन, पूजा, पाठ करने वालों को जो कुछ देते हैं उनसे कितने गुना अधिक तो उन लोगों को सुख समृद्धि की प्राप्ति होती है जो भगवान् का नाम तक लेना पसन्द नहीं करते। भक्त लोग जिन्हें नास्तिक कहते हैं उन्हीं अभक्तों के सामने दरिद्र, दीन-दुखी और परतन्त्र दशा में जीवन व्यतीत करते हुए यह भक्त अपने भगवान की महती कृपा को जानने का प्रयत्न नहीं करते बल्कि मान करके मन को मनाते रहते हैं। इस प्रकार के विश्वासमार्गी व्यक्तियों को सावधान होकर सन्त सद्गुरु के समीप अपनी बुद्धि से भली प्रकार विचारपूर्वक समझ लेना चाहिये कि पूजा, पाठ, कीर्तन, जप और प्रार्थना आदि शुभ कर्मों से परमात्मा के प्रति सद्भावों का विकास होता है। सद्भावों के दृढ़ होने पर अन्तःकरण पवित्र होता है और तभी सद्ज्ञान रूपी प्रकाश उदय होता है जिससे अज्ञान के अन्धकार का नाश हो जाता है। इसी सत्यज्ञान से जीव बन्धन-दुःखों से मुक्त होता है।

दीवाली

(श्री देवीप्रसाद दीक्षित 'देवेश' विशारद)

हँसता चाँद गगन में, धरती पर मादक अमराई।
शीतल, मलयज मन्द-समीरण, रही सुरभि बिखराई॥
प्रगट प्रात प्राची में प्रतिदिन, पुण्य-ज्योति प्रगटाते।
दिव्य दिवाकर दिग्दिगन्त में, ज्योति-छटा छिटकाते॥

सुख-सर्वत्र समत्त, सभी साधन करते हैं नर्तन।
किन्तु प्रकृति को, अच्छा लगता है परिवर्तन॥
शूल समस्त भूलकर, गाता गायक कोई गाना।
नाच उठा जिसको सुन सुनकर भावुक मन मस्ताना॥

जन गन-मन में विकसित अगणित भाव-सुमन छविधारे।
अम्बर के उपवन में जैसे चमक रहे हैं तारे॥
सिन्धु-समान नील-नभ मानों मोती-जाल बिछाये।
रत्न-कोष अथवा 'कुबेर' निशि में गिनते फैलाये॥

घर-घर द्वार-द्वार पर दीपक ठौर-ठौर पर साजे।
हैं आनन्दमग्न सब निर्धन दुखी दीन महराजे॥
विद्युत माल कहीं नगरों में प्रासादों पर छाई।
निज कुटियों में कृषकों ने भी जीवन-ज्योति जगाई॥

नन्हे-बच्चे दौड़ दौड़ कर दीप घरों में धरते।
तुतली वाणी बोल पिता माता का दिल हैं भरते॥
किंचित घूंघट खोल कभी कुछ बोल गाँव की नारी।
अनुपम छटा देख लजवन्ती सी सकुचीं बेचारी॥

निःसन्देह नहीं हमको दिन इससे कोई प्यारा।
सुरपुर की वसुधा ने वसुधा का शुभ साज संवारा ॥
'हो मंगलमय वर्ष' रटन जन जन हैं यही लगाये।
नये राष्ट्र में नयी ज्योति मानव मन में जग जाये ॥

किन्तु मनुज का भाग्य समय की सरिता में बहता है।
परिवर्तन की परम्परा के वशीभूत रहता है ॥
मंगलमयी! करो मंगलमय नव जीवन की क्रीड़ा।
कमला! करुणा करो, हरो मां! युग की, जन की, पीड़ा ॥

सुधा प्रवाह करो धरती पर मिटे अमा निशि काली।
जगमग हो "देवेश" अमर हो जीवन की दीवाली ॥

प्रियतम पर विश्वास

एक मिलिटरी अफसर अपनी प्यारी पत्नी के साथ जहाज़ में सवार होकर समुद्र-यात्रा कर रहा था। बीच मार्ग समुद्र में भयंकर तूफान आगया-सभी मुसाफिर संत्रस्त हो उठे पर वह अफसर जरा भी नहीं घबराया। उसकी पत्नी भी भयभीत होकर अपने पति से कहने लगी—

"आप निश्चिन्त कैसे बैठे हैं?"

पत्नी की बात सुनकर पति ने फौरन जेब से रिवाल्वर निकाला और उसका मुँह पत्नी की छाती से लगाकर खड़े हो गये। पत्नी डरी नहीं-मुसकाने लगी। पति ने पूछा—

"तुम हँसती क्यों हो—डरती क्यों नहीं!"

पत्नी बोली, "मेरी बात का जवाब न देकर आप यह क्या खेल कर रहे हैं? आपके हाथ में रिवाल्वर हो और मैं डरूँ—यह कैसी बात? आप क्या मेरे वैरी हैं? आपतो मेरे प्रियतम हैं।

'साध्वी!" पति बोले। "जब तुम अपने प्रियतम की रिवाल्वर से नहीं घबरातीं तब मैं अपने प्रियतम जगन्नियन्ता भगवान के हाथ के विधान 'इस तूफान' से क्यों घबराऊ?"

"देवि! भगवान का जीवों पर अगाध प्रेम है, वे वही करेंगे जो वास्तव में हमारे लिये कल्याणकारी होगा। फिर डर किस बात का?"

श्री सद्गुरुदेव

(श्री "मञ्जुल" जी)

[अङ्क ६ से आगे]

"परोपकाराय सताम् विभूतयः"

सन्तों की विभूतियाँ जगत के कल्याण के लिये होती हैं। भवाटवी में भटके हुये भ्रमित पथिकों को मार्ग बतलाना, दुखियों को धीरज बंधाना, भव-सिन्धु में डूबे हुये को पार लगाना उनका सहज स्वभाव होता है। श्री गुरुदेव के पास दूर-दूर से कल्याण-कामी, हरि-भक्त प्रेमी-जन आने लगे। कोंच, जिला जालौन निवासी श्री सन्त ग्यासीलाल जी भी अपने व्यापारिक कार्यवश सरायप्रयाग आये। आपका नाम सुनकर दर्शन करने की उत्कण्ठा उत्पन्न हुई। अत्यन्त श्रद्धा और भक्ति से आप श्रीगुरुदेव की कुटिया पर पहुँचे। दर्शन करते ही चित्त पर अद्भुत प्रभाव पड़ा। गुरुदेव की पीयूषमयी उपदेश वारिधारा में हृदय निमग्न होगया।

कल्याणकामी, परमार्थ-पथानुगामी पथिक को बिना पथ-प्रदर्शक के अपने लक्ष्य तक पहुँचने में कितनी कठिनाइयाँ पड़ती हैं, इसे सामान्य जन नहीं जान सकते। इसका अनुभव तो कोई परमार्थ पथ का पथिक ही कर सकता है। सन्त ग्यासीलालजी पूर्व जन्म के संस्कारवश अपने जीवन के प्रारम्भ काल से ही परम भावुक हरि चरणानुरागी सन्त गुरु-सेवक रहे।

किन्तु बिना अनुभवी सद्गुरु कर्णधार के उनकी जीवन-तरणी साधन-सिन्धु में इतस्ततः भ्रमित हो रही थी। आज जीवन नैया का खेवन-हार उन्हें सहसा प्राप्त होगया। उन्होंने पुलकित शरीर गद्‌गद कण्ठ होकर गुरुदेव के चरण पकड़ लिये और प्रेमावरुद्ध कण्ठ होकर कहा—प्रभो आज मैं कृतकृत्य होगया, जीवन का यथार्थ पथ-प्रदर्शक प्राप्त होगया। साधना-प्रवाह में, "पैरत थके थाह जनु पाई" भटकने की आवश्यकता नहीं रही। मुझे क्या करना चाहिये, मेरा कल्याण किस साधन से होगा। वह कृपा करके बतलाइये।

आपने सन्त ग्यासीलाल जी के शिर पर हाथ फेरते हुये कहा प्यारे! तुम सच्चे साधक हो। तुम्हें जन्म देकर तुम्हारी जननी सचमुच पुत्रवती हुई। तुम निश्चिन्त रहो मैं आवश्यकतानुसार समय-समय पर तुम्हारी साधना में अवश्य ही सहायता करता रहूँगा।

ग्यासीलाल जी अपने अनुकूल साधना की बातें जानकर प्रणाम करके घर चले गये। उस दिन से आज तक उनकी साधना का क्रम अत्यन्त उत्तम रीति से चल रहा है।

लगातार कई वर्षों से वे बराबर फलाहार कर रहे हैं। साथ ही भोजन में नमक का परित्याग कर दिया है। पति-पत्नी दोनों ही साथ रहकर अखंड ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर रहे हैं। नित्य नियम से ठीक समय पर कथा-कीर्तन, सतसंग करना, गृह पर आये हुये अतिथि अभ्यागत साधु-सन्तों का स्वागत सत्कार करना उनका दृढ़ व्रत बन गया है। स्त्री पुरुष दोनों ही वानप्रस्थी से बनकर अपना समय निरन्तर साधु सत्संग कथा-कीर्तन में ही व्यतीत किया करते हैं। गुरुदेव को वे कई बार प्रार्थना करके कोंच लेगये थे। वहाँ बहुत बड़ा स्वागत सत्कार किया, बहुत से उपदेश व्याख्यान करवाये। गुरुदेव के प्रसाद से आज उनके जोड़ का गृहस्थ साधक कदाचित् ही कोई दैवी सम्पद मण्डल में मिले। आज वे एक सच्चे सन्त का सा व्रत धारण कर

अपने आचरण और प्रवचन के लिये बहुतों को हरिभक्त का मार्ग दिखा रहे हैं।

इस प्रकार सरायप्रयाग के निवास काल में बहुत से उत्तम साधकों को आप से अपूर्व लाभ प्राप्त हुआ। बैरी जिला कानपुर के निवासी चौधरी रामनारायण जी के भतीजे चौधरी रामनाथ जी, एक दिन आप के पास आये, उनके हृदय में अष्टांग हठयोग सीखने की प्रबल उत्कंठा उत्पन्न हुई। उपरोक्त अभिलाषा से प्रेरित होकर ही उन्होंने कानपुर से हठयोग प्रदीपिका नाम की एक पुस्तक खरीद ली थी। घर पर आकर बड़े प्रेम और चाव से उन्होंने पहले वह पुस्तक पढ़ी। प्राणायाम की अपूर्व अद्भुत फल श्रुति पढ़कर उन्होंने तत्काल ही प्राणायाम करना आरम्भ कर दिया। किन्तु डाक्टर या वैद्य की सहायता या परामर्श के बिना अपने मन से ही औषधालय से दवा उठा कर खाने-पीने वाले रोगी को जैसे लाभ के बदले हानि का ही सामना करना पड़ता है स्वास्थ्य लाभ के स्थान पर रोग वृद्धि ही जैसे उसके गले आ पड़ती है, वही दशा चौधरी रामनाथ जी की हुई। केवल हठयोग प्रदीपिका पढ़कर ही प्राणायाम करने से कुछ दिन बाद उसको भयानक मूर्च्छा रोग उत्पन्न होगया।

सप्ताह में दिन में कभी कभी दो-दो बार बेहोशी आ जाया करती थी। उन्होंने बहुत से वैद्यों और डाक्टरों को दिखलाया। किन्तु आपकी बेहोशी का कारण उनकी समझ में कुछ भी नहीं आया, विकृत ... से उत्पन्न हुये रोगों को शमन तो सही-रीति से हठयोग की साधना से ही होता है। यह हठयोग का निश्चित नियम है। अस्तु आप की मूर्च्छा तो सम्यक प्राणायाम से जा सकती थी। इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं था, चौधरी साहब अपने रोग से बहुत दुःखी रहते थे। उनके रोग का हाल सभी सम्बन्धियों को ज्ञात होगया था। अन्त में सरायप्रयाग के निवासी बाबू जगतनरायण जी जो कि आप के साले हैं, उन्होंने आप को लिखा कि आप हठयोगी महात्मा की खोज में हैं। वैसे महात्मा इस समय हमारे यहाँ ठहरे हुये हैं। आप शीघ्र ही यहाँ चले आइये। ये महापुरुष आपका सारा रोग शमन कर देंगे।

> **पहिले सोचो**
>
> कोई काम कैसा ही अच्छा वा बुरा क्यों न हो, काम करने वाले बुद्धिमान को पहले उसके परिणाम का विचार करके तब काम में हाथ लगाना चाहिये, क्योंकि बिना बिचारे अति शीघ्रता से किये हुए काम का फल, मरण काल तक हृदय को जलाता और काँटे की तरह खटकता रहता है।
>
> —भर्तृहरि

उनके पत्र को पाकर चौधरी रामनाथ जी सराय प्रयाग आये। बाबू जगतनारायण जी तथा अन्य कई भक्तों के साथ वे गुरुदेव के दर्शनों के लिये कुटिया पर पहुँचे। प्रणाम के पश्चात जब सब लोग बैठ गये, तब बाबू जगतनाराण जीने आपका परिचय दिया। स्वामी जी चौधरी साहब की ओर मुस्कराते हुये बोले, कहो प्यारे! बिना डाक्टर के बताये हुये अपने मन से डिस्पेन्सरी में बढ़िया बोतल देखकर पी लेने से बहुत बड़ी हानि हो सकती है। बिना गुरू के पूछे हुये हठयोग का अभ्यास करने से क्या होता है, इसका अनुभव तुमने कर लिया। रोगी की आकृति मात्र देखकर रोग बतला देने वाला वैद्य ही तो पक्का अनुभवी वैद्य होता है। चौधरी साहब ने कहा ? सत्य है भगवन! यही बात है, मैं अपनी दशा आप से एकान्त में निवेदन करूंगा। आप से बढ़कर हमारे भय और ताप शमन करने वाला महापुरुष अब और हमें कहाँ मिलेगा? इतना कहकर वे चुप हो गये। गुरुदेव का उपदेश प्रारम्भ हुआ। उपदेश सुनते ही

चौधरी साहब को अपूर्व शान्ति प्राप्त हुई। मन ही मन आप को ही सद्गुरु बनाने का निश्चय कर लिया। उपदेश समाप्त होने के पश्चात् सब लोग प्रणाम करके अपने-अपने घर को चले गये।

संध्या समय एकान्त में चौधरी साहब आपसे मिले, उन्होंने प्रारम्भ से अपनी दशा वर्णन की। आप किस प्रकार उनके हृदय में हठयोग सीखने की प्रबल अभिलाषा उत्पन्न हुई, और कैसे हठयोग प्रदीपिका पढ़कर उन्होंने प्राणायाम प्रारम्भ कर दिया अशुद्ध अभ्यास करने के कारण अन्त में वे किस प्रकार मूर्च्छा रोग में ग्रस्त होगये, यह सारी गाथा उन्होंने गुरुदेव को कह सुनाई।

गुरुदेव ने प्राणायाम की विधि देखकर बतला दिया कि इसी में भूल है, जिससे यह तुम्हारे मूर्च्छा रोग उत्पन्न होगया। अब यदि तुम अपना जीवन चाहते हो तब तुम यह सब क्रिया तत्काल बन्दकर दो। चौधरी साहब ने कहा भगवन्! हठयोग सीखने की प्रबल इच्छा है तिस पर अब आप जैसा पूर्ण गुरु हमें प्राप्त हो गया, अब तो मैं अवश्य ही उसे सीखूंगा।

गुरुदेव ने कहा यदि सचमुच तुम हठयोग सीखना चाहते हो और उसके सिखने का तुम्हारे हृदय में दृढ़ निश्चय है, तब मैं वह तुमको सिखा-दूंगा। किन्तु उसके दो नियम अवश्य मानने पड़ेंगे—यदि उन नियमों का पालन करने की तुम प्रतिज्ञा करो तब मैं तुमको विधि पूर्वक हठयोग की क्रियायें सिखाने के लिये तैयार हूँ। चौधरी साहब ने कहा मैं आपके वे नियम (शर्तें) अवश्य मानूँगा। जो आप आज्ञा देंगे वही करूंगा। आप अपनी शर्तें शीघ्र ही बतलाइये।

व्यापक-भावना

(श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज)

एक माता-पिता का आज्ञाकारी और भक्त बालक, किसी विशेष कार्यवश जब विदेश जाने लगा, तो उसने विचार किया कि यहाँ घर पर तो पिता जी और माता जी की सेवा का अवसर प्रत्येक समय मिलता रहता है, किन्तु विदेश में यह सौभाग्य कैसे प्राप्त हो सकेगा? ऐसा विचार कर उसने अपने माता और पिता जी के चित्र ले लिये। बाहर जाकर वह उन चित्रों का विधिवत दैनिक पूजन करता। भोजन करने से पहिले वह दोनों चित्रों को निवेदन कर तब भोजन करता। अपने एक मित्र से अपने पिता के गुणों का बखान करते हुये उसने कहा—मेरे पिता ऐसे बलवान् मल्ल हैं कि उनके नाम से बड़े बड़े नामी पहलवान काँप जाते हैं। मित्र बोला—अच्छा ऐसी बात है! भाई मैं भी तुम्हारे पिता के दर्शन करूँगा उनसे मेरी भी भेंट करा दो। तब उसने वह चित्र उठा कर अपने उस मित्र को दिखाते हुये कहा—यह हैं मेरे पिता जी। मित्र बोला—बस यही हैं तुम्हारे पिता जी! इन्हीं की प्रशंसा में तुम डींग हाँक रहे थे कि बड़े-बड़े पहलवान इनका सामना करने से हिचकते हैं। इन्हें तो मैं एक चुटकी से ही मसल सकता हूँ, तुम सामने खड़े देखते रहो, आधा मिनट भी नहीं लगेगा। पुत्र अपने मसखरे मित्र से हंसकर बोला—अरे भाई! यह तो उनका चित्र मात्र है उनकी शारीरिक आकृति का ज्ञान इस चित्र के द्वारा होता है। उनके गुणों की स्मृति, इस चित्र के सामने रहने से हो जाती है। उनके सामने चलो

तब तुम्हें मेरी बात की सत्यता का विश्वास स्वयं हो जायगा।

इस दृष्टांत से तात्पर्य यह है कि इसी प्रकार हमारे सीताराम राधाकृष्ण और गौरीशङ्कर, बालिश्त या डेढ़ बालिश्त मात्र के ही नहीं हैं। यह मूर्तियाँ मन्दिर और चित्रादि तो उनकी स्मृति के चिन्ह-स्वरूप ही हैं। इनके दर्शन और पूजन से उनकी अलौकिक लीलाओं की मधुर-स्मृति जागृत होजाती है। स्मृति से उनकी विशद विरदावली मानस-पट पर अंकित हो जाती है। अस्तु प्रारम्भिक स्थिति में इन मूर्तियों अथवा चित्रों के माध्यम से उपासक उस सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान, सच्चिदानन्द, सर्वेश्वर को कभी भूल नहीं सकता। वैदिक सनातन धर्म के तत्त्वदर्शी पूर्वज मनीषियों ने, इसी उद्देश्य से मूर्ति पूजा का विधान मानव कल्याण के निमित्त बनाया था। जिस प्रकार बालक को विद्यारम्भ के समय अक्षर का ज्ञान चित्रों के माध्यम से कराया जाता है इसी प्रकार भगवान् का ज्ञान मूर्ति पूजा से आरम्भ होता है।

उस सत्चिद्आनन्द को आप किसी भी नाम से पुकारें, उसे किसी भी नाम से याद करें, इससे उस सर्वशक्तिमान की सर्वशक्तिमत्ता में कोई अन्तर नहीं पड़ता। क्योंकि इस समस्त कल्पित नाम-रूपात्मक जगत में सर्वत्र उसी का पसारा है गाड यदि सत् है तो वही राम है, अल्लाह यदि चिद् है तो वही राम है। अनेक नामों में गाड और अल्लाह भी समझ लो। सभी उसको अपनी भावना और भाषा के अनुसार ही पुकारते हैं। अस्तु इस बात को लेकर कभी किसी के प्रति घृणा की भावना से अपने अन्तःकरण को कलुषित नहीं बनाना चाहिये। निखिल ब्रह्माण्ड-नायक परमपिता, समस्त भूत [illegible]णियों का निर्माता है। इन सब शरीरों के [illegible]त्र यंत्रों में उसी सर्वशक्तिमान की चैतन्य [illegible] अपना चमत्कार दिखा रही है। शक्ति-प्रदाता परमात्मा का अविनाशी अंश आत्मा सभी के हृदय में निवास करता है:—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया॥

इस सिद्धान्त को मान कर चलने वाले आस्तिक पुरुष के द्वारा पाप कर्म तो कदापि नहीं हो सकते। क्योंकि वह तो ईश्वर को सर्वत्र व्यापक देख रहा है। उससे छिपाकर दुष्कर्म करने का तो कोई ठौर ही नहीं। यदि हम वाणी से तो ईश्वर को सर्वव्यापक कहते हैं किन्तु एकान्त में अवसर पाते ही हमारा मन और इन्द्रियाँ पाप-रत होजाती हैं तो वास्तव में हमारे हृदय ने अभी ईश्वर के सर्वव्यापकत्व में विश्वास ही नहीं किया। ऐसी सन्देहास्पद स्थिति में मनुष्य का पाप-कर्मों में लग जाना स्वाभाविक है। पापाचरण-रत व्यक्ति को वास्तव में एक प्रकार से नास्तिक ही समझना चाहिये। क्योंकि वाणी से भगवन्नाम उच्चारण करने वाले, शरीर से पूजादि सत्कर्म करने वाले किन्तु हृदय से पाप-कर्म करने वाले ढोंगी जनों से भगवान् प्रसन्न नहीं होते। कुछ न करने वालों की अपेक्षा, भले ही उन्हें अधिक अच्छा समझा जासकता है, क्योंकि भविष्य में इसी आधार से उनके सुधार की आशा रहती है।

वास्तव में ईश्वर और धर्म की आड़ में, टट्टी की ओट लेकर शिकार खेलने वाले पापाचारी देश और समाज के भयंकर शत्रु हैं। इसके विपरीत जो सत्याचरण को अपने जीवन का ध्येय मानते हैं, किसी को भी दुःख पहुँचाने की भावना जिनके मन में कभी नहीं उठती, सेवा और परोकार जिनके जीवन का मूल-मंत्र है, वह यदि वाणी से भले ही भगवान् का स्मरण न करते हों, पूजा-पाठ न करते हों तो भी वे आस्तिक ही हैं। वे स्वयं अपने को भले ही नास्तिक कहें किन्तु प्रकारान्तर से वे

आस्तिक ही कहे जासकते हैं। क्योंकि उनके आचरण द्वारा "सर्वभूत हिते रताः" का सिद्धान्त कार्यरूप में परिणत होरहा है। हृदयस्थित भगवान् वाणी और क्रिया नहीं देखते वे तो हृदय के गुह्यातिगुह्य प्रदेश में छिपी अन्तर्भावना को ही देखते हैं।

भगवान् श्री कपिलदेव ने अपनी माता देवहूति को उपदेश करते हुए कहा—हे माता! जो व्यक्ति मेरी मूर्तियों, मन्दिरों आदि की तो नियम से पूजा करता है किन्तु चलते-फिरते मन्दिरों में विराजमान् मुक्त परमेश्वर को नहीं देखता, द्वेष और स्वार्थ बुद्धि से जो दूसरों को कष्ट ही पहुँचाता रहता है उससे मैं कदापि प्रसन्न नहीं होता।

उर्दू के किसी भावुक कवि ने इसी भावना को व्यक्त करते हुए लिखा—

मन्दिर मत जाओ मसस्जिद मत जाओ,
तो कुछ नहीं मुज़ायका है।
किसी जीव को दुख मत देना,
यह घर खास खुदा का है॥

तात्पर्य यह कि हमारी उपासना का लक्ष्य यदि संकुचित है तो सर्वशक्तिमान की व्यापक शक्ति का लाभ हमें प्राप्त नहीं होसकता। अतएव हमें अपने दृष्टिकोण को व्यापक बनाने की चेष्टा करनी चाहिये किसी भी इष्ट के उपासक को अपनी उपासना में भेद बुद्धि नहीं रखनी चाहिये। राम कृष्ण, शिव-शक्ति गणेश किसी भी इष्ट के उपासक को सभी देवों में अपनी समान धारणा रखनी चाहिये। यदि आपके इष्टदेव भगवान् शङ्कर हैं तो आप भगवान् श्रीराम के मन्दिर में जाकर ऐसी भावना करें कि हमारे इष्टदेव का यह दूसरा रूप यहाँ विराजमान है। पूजा का विधान अलग-अलग होने पर भी भावना में भेद नहीं होना चाहिये। नाटक के रङ्गमञ्च पर अभिनेता को जैसा पार्ट मिलता है तो उसे तन्मयता से उसी के अनुरूप पार्ट अदा करना पड़ता है। उसकी तन्मयता ही दर्शकों को अपनी ओर आकर्षित करती है और तब दर्शक धन्य धन्य कहकर मुक्त कंठ से उसकी सराहना करते हैं।

विश्व के सभी धर्म, समुदाय, मत-मतान्तरों के विभिन्न मार्ग होने पर, अन्ततोगत्वा लक्ष्य सभी का एक ही है। धर्म प्रवर्त्तकों और आचार्यों के सिद्धान्त ने व्यापक भावना बनाने का ही प्रतिपादन किया है। अतएव हमें अपनी उपासना के माध्यम से उपास्यदेव को सर्वत्र देखकर इसी जीवन में परमशान्ति की अनुभूति करनी चाहिये।

सियाराम मय सब जग जानी।
करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी॥

सीख के दोहे

विद्या पढ़ करते फिरैं औरन को अपमान।
नारायण विद्या नहीं ताहि अविद्या जान॥

दोष पराया देखकर चले हसंत हसंत
अपना याद न आवही जाकी आदि न अन्त॥

संत एकनाथ जी की सहनशीलता

पैठण में कुछ दुष्टों ने मिलकर घोषणा की कि 'जो कोई एकनाथ महाराज को क्रोध दिलायेगा उसे दो सौ रुपये इनाम दिया जायगा।' एक ब्राह्मण युवक ने बीड़ा उठाया। वह दूसरे दिन प्रातःकाल श्री एकनाथ जी के घर पहुँचा। उस समय वे पूजा कर रहे थे। वह बिना हाथ पैर धोये और बिना किसी से पूछे-जाँचे सीधा पूजा-गृह में जाकर उनकी गोद में बैठ गया। उसने सोचा ऐसा करने पर एकनाथ जी को जरूर ही क्रोध होगा—परन्तु उन्होंने हँसकर प्रेम से मधुर वाणी में कहाः—

"भैया! तुम्हें देखकर मुझे बड़ा आनन्द हुआ। मिलते तो बहुत लोग हैं परन्तु तुम्हारा प्रेम तो विलक्षण है।"

वह देखता ही रह गया, उसने सोचा इनको क्रोध दिलाना तो बहुत कठिन है, पर उसे दो सौ रुपये का लोभ था, इससे फिर दूसरी बार चेष्टा करने का विचार किया।

भोजन के समय उसका आसन श्री एकनाथ जी के पास ही लगाया गया—भोजन परोसा गया। घी परोसने के लिए एकनाथ जी की पत्नी गिरिजा-बाई आई. उसने ज्यों ही झुककर ब्राह्मण की दाल में घी परोसना चाहा, त्यों ही वह लपक कर उसकी पीठ पर चढ़ गया। श्री एकनाथ जी महाराज अपनी पत्नी से कहने लगेः—

"देखना, ब्राह्मण कहीं गिर न पड़े"

गिरिजाबाई भी तो संत एकनाथ की धर्मपत्नी थी, उसने मुस्कराते हुए कहा—

"कोई डर की बात नहीं, मुझे हरि (एकनाथजी के पुत्र) को पीठ पर लादे काम करने का खूब अभ्यास है। इस बच्चे को मैं कैसे गिरने दूँगी?"

यह देख-सुनकर तो ब्राह्मण की सारी आशा टूट गई। वह उनके चरणों पर गिरकर गिड़गिड़ाते हुये क्षमा माँगनेलगा।

कविता

प्रियतम का दर्शन कब होगा?

बोल! अरे मन बोल! उस हित (तूने) कष्ट कौनसा ढोया है।
उस पर सभी चढ़ाने को कब, निज को तत्पर जोया है॥
जिस दिन भी तू उस पर अपना, रे! सर्वस्व चढ़ावेगा।
सच कहता हूँ उसी दिवस तू, प्रियतम दर्शन पावेगा॥
निज अभिमान छोड़कर जब तू, उसकी रटन लगायेगा।
उसी रटन की बेरस्सी से (वह) बँधकर दौड़ा आयेगा॥

—श्री मदनगोपाल सिंहल

कर्म त्यागो नहीं, फल प्रभु के अर्पण करो

(पूज्य श्री स्वामी भजनानन्द जी महाराज)

किसी भी शुभ कार्य को प्रारम्भ करने के पूर्व प्राय: भीतर ही भीतर एक ऐसी वात मन में उठती है कि इसका फल मुझे अच्छा मिलेगा। मैं यह पुण्य कार्य कर रहा हूँ। अथवा यूं कहिये कि फल-श्रुति में विश्वास के सहारे मनुष्य को एक प्रेरणा मिलती रहती है। किन्तु इसे भी हमारे मनीषियों ने स्वर्ण शृंखला बताकर कहा कि शुभ कर्मों की फलाशा भी जीव को वन्धन में बाँधने वाली है। इसीलिये भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को *"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन"* का उपदेश किया। भगवान् के इस उपदेश में यह वात स्पष्ट हो जाती है कि यदि शुभ कार्य करते हुए भी फल उत्तम न मिला तो भी हमें दुःख नहीं लग सकता। हाँ यदि हमारे सामने शुभ कर्मों के वदले में सुन्दर-सुन्दर भोग, धन-वैभव अथवा स्वर्गादि प्राप्ति का लक्ष्य है, तब तो दुःख का आना भी अवश्यम्भावी है। क्योंकि स्वल्प या विशाल प्रत्येक सुख में दुःख अवश्य छिपा रहता है। अतएव यदि सुख की कामना ही नहीं रहेगी तो फिर दुःख आएगा ही कहाँ से ? इस प्रकार मानव को शाश्वत सुख और शान्ति का लाभ गीता प्रतिपादित निष्काम-कर्मयोग से सिद्ध होता है। निष्काम कर्मयोग द्वारा लक्ष्य की प्राप्ति करने वालों में राजर्षि-जनक आदि का उदाहरण देकर गीता ने फलासक्ति के त्याग पर अधिक जोर दिया है।

श्री गीता जी के इस समाधान से संतुष्ट न होकर, तर्कशील प्रेमी कहते हैं कि यदि फलाशा का ही त्याग हो जायगा तो फिर स्वाभाविक ही मनुष्य, कर्म में प्रवृत्त नहीं होगा। अर्थात् इस सिद्धान्त के परिणाम में हाथ पर हाथ धर कर बैठने या आलसी वन जाने का प्रोत्साहन मिलता है। इस प्रकार के विचारों को मिथ्या बताते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन का समाधान किया कि:—

नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत

खाली बैठने वाला भी कुछ न कुछ करता ही है, यदि शरीर से नहीं तो मानसिक कर्मों में प्रवृत्त रहता है। ऐसा सिद्ध नहीं होता कि एक क्षण भी कोई व्यक्ति कर्म-विहीन रहता हो। जब ऐसी स्थिति है तो आलसी वन जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार निष्काम कर्मयोग का ही पल्ला भारी बैठता है।

कर्मयोगी को कर्म-रत रहने में ही आनन्द की अनुभूति होती है। अहर्निश परोपकार में लगे रहने को ही वह अपने फल की प्राप्ति समझता है। शुभ और अशुभ के परिणाम चिन्तन से बहुत दूर रह-कर वह यन्त्रवत् अपने कार्य में संलग्न रहता है। उसे यह भी भान नहीं होता कि मैं यह कार्य कर रहा हूँ। वह तो अपने को सदैव निमित्त मानकर ही, सर्वसाधारण में एक उज्ज्वल आदर्श की अमिट छाप लगा देता है। कर्मयोग का आदर्श, दम्भ और ढोंग की धज्जियाँ उड़ा देता है। अज्ञान का अंधकार निष्कामना की ज्वाला में भस्मीभूत हो जाता है और उसके द्वारा एक नवीन आलोक पाकर समाज अपने गन्तव्य की ओर अग्रगामी होता है।

निष्कामना में प्रवृत्त करने के लिये भगवान् ने बहुत सीधी और सरल युक्ति अर्जुन को बताई कि—"सभी शुभ और अशुभ कर्म मेरे अर्पण कर दो, तुम बन्धन से मुक्त हो जाओगे" जैसे कोई विश्वासी धनद अथवा किसी बड़े बैंक का मैनेजर कहे कि तुम अपने धन को मेरे पास जमा कर दो। बुद्धिमानी तो इसी में है कि अपनी सुरक्षा की दृष्टि से अपना धन बैंक में जमा कर दिया जावे। बैंक में जमा करने से तो वह धन ब्याज सहित मिलेगा। इसी प्रकार शुभ कर्म यदि भगवच्चरणों में अर्पित कर दिये तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि वे सभी नष्ट होगये। यद्यपि कर्मयोगी का लक्ष्य, भोगादि की प्राप्ति नहीं तो भी बरबस उसे उन स्वर्गादि भोगों की अनिच्छित प्राप्ति होगी, किन्तु तब अनासक्ति का भाव रहने से उसे उनके छूटने के दुख का लेश भी प्रभावित नहीं कर सकता। इसलिये भगवद्-अर्पण बुद्धि में जिस रस और माधुरी के दर्शन होते हैं वैसे अन्यत्र दुर्लभ हैं।

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम ने अपनी निस्सीम करुणा से परिप्लावित करते हुये अपने भक्तों को बताया कि प्रबल संस्कारों के वशीभूत होकर तुम्हारी मोह-ममता के पाश नहीं टूटते तो भी कोई चिन्ता की बात नहीं। उन सभी को तुम मेरे अर्पण कर दो फिर देखो अनायास तुम इन चिन्ताओं से एक क्षण में मुक्त हो जाओगे:—

जननी जनक बन्धु सुत दारा।
तन धन धाम सुहृद परिवारा॥
सब कर ममता ताग बटोरी।
ममपद मनहिं बाँधि बटि डोरी॥

सभी की ममतामयी डोरी को एक साथ बटकर जब उस प्रबल पाश को भगवान के श्रीचरणों में बाँध दिया तो फिर अपने को उन सभी की चिन्ता कैसी? अब तो उनकी चिन्ता भगवान् करें, अपने को दुखी-सुखी होने का क्या काम?

तात्पर्य यह कि हम जो कुछ कर्म करें वह सब भगवान के अर्पण कर दें। ईश्वरार्पण कर देने से उनमें एक महान और असीम शक्ति का समावेश हो जाता है। अग्नि की तीव्र ज्वाला में जिस प्रकार अच्छा और बुरा सब भस्मीभूत होजाता है इसी प्रकार अपने काम क्रोधादि विकारों को भी अर्पण कर दो उसी ज्वाला में। अर्पण किया और छूटे सभी बन्धनों से। अब प्रश्न होगा कैसे अर्पण करें? कानों से हरिकथा सुनो, आँखों से हरि दर्शन करो, पैरों से तीर्थ यात्रा और सत्संग में जाओ, मुख से भगवन्नाम का सुमधुर स्वरों में उच्चारण करते रहो और भीतर से भावना बनाओ, इस संसार में मेरा तो कुछ भी नहीं जो कुछ भी है भगवान का—है तो फिर उनका उन्हीं को सौंप देने में मेरा क्या लगता है:—

मेरा मुझको कुछ नहीं जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझको सौंपता क्या लागत है मोर॥

यह बात भी नहीं कि उन्हें सब अच्छी और मुख्य वस्तु ही अर्पण की जाय। अरे! भावना से अर्पण किये हुये शबरी के बेरों को भी उन्होंने बड़े प्रेम से ग्रहण किया था। अस्तु:—

घर गुरु गृह प्रिय सदन सासुरे भई जब जहँ पहुँनाई।
तब तहँ कहि सबरी के फलन की रुचि माधुरी न पाई।

तेरे मन कछु और है, हरि के मन कछु और।
हरि के मन की होन दे, मती मचावे शोर॥

अनमोल-वचन

(प्रेषक—श्री स्वामी सहजानन्द जी महाराज)

★ ★ ★

भक्ति में मुक्ति

(श्री एस० के० पाटक 'जिज्ञासु').

जगत में जन्म मृत्यु,
बंधन के काटने को।
राम नाम जैसी और,
कोई नहीं युक्ति है ॥

काम, क्रोध, लोभ, मोह,
मद और मत्सर को।
चूर चूर करने की,
इसमें ही शक्ति है ॥

जीवन-तरी को भव-
सिन्धु से उबारने को।
कर्म और ज्ञान से भी,
श्रेष्ठ प्रभु भक्ति है ॥

कहते 'जिज्ञासु', त्रस्त,
श्रमित समाज हित।
इस कलि-काल में तो,
भक्ति में ही मुक्ति है।

★ ★ ★

१—क्यों वे फायदा फिक्र करते हो? किससे फिजूल डरते हो? कौन तुम्हें मार सकता है? आत्मा न पैदा होता है और न मरता है।

२—जो हुआ सो अच्छा हुआ, जो हो रहा है सो अच्छा हो रहा है, और जो होगा सो अच्छा होगा। तुम भूतकाल का अफसोस मत करो, भविष्य से डरो मत, मौजूदा जो गुजर रहा है उसी का सदुपयोग करो।

३—तुम्हारा क्या गया जो तुम रोते हो? तुम क्या लाये थे जो खो दिया? तुमने क्या पैदा किया जो नाश होगया? न तुम कुछ लेकर आये, जो लिया वह यहीं से लिया और जो दिया वह यहीं पर दिया। जो लिया उससे लिया, जो दिया वह उसको दिया। खाली हाथ आये, खाली हाथ चले। जो आज तुम्हारा है, वह कल किसी और का था, परसों किसी और का होगा। तुम इसे अपना समझ कर खुश होते हो, यही खुशी तुम्हें नाखुशी कर रही है।

४—तबदीली दुनियाँ की जान है जिसको तुम मौत समझते हो यही तो जीवन है। एक मिनट में करोड़ों के मालिक होते हो, दूसरे समय लावारिस बन जाते हो। मेरा-तेरा छोटा-बड़ा, अपना-पराया दिल से मिटा दो, ख्याल से मिटा दो फिर सब तुम्हारा है और तुम सब के हो।

५—न यह शरीर तुम्हारा है और न तुम शरीर के हो; यह आग, मिट्टी, जल तथा वायु से बनता है और इसी में मिल जाता है फिर भी तुम्हारी हस्ती वैसी की वैसी कायम, फिर तुम क्या हो? सोचो!

६—तुम अपने आपको उनके हवाले कर दो, यही सब से उत्तम सहारा है। जो इस सहारे को जानता है वह गम, डर, फिकर से हमेशा के लिये मुक्त हो जाता है।

श्री गुरु महिमा

(ले०—श्री स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती, आनन्द कुटीर, ऋषिकेश।)

सबसे प्रथम हमें यह जानने की आवश्यकता है कि संसार में मनुष्य जन्म का ध्येय क्या है? क्या मनुष्य का जन्म "टू ईट ड्रिंक ऐण्ड बी मैरी" यानी खाने, पीने और मौज उड़ाने के लिये हुआ है? नहीं नहीं, ऐसा नहीं है। यदि ऐसा होता तो फिर मनुष्य और पशु में भेद ही क्या होता—

"आहार निन्द्रा भय मैथुनंच,
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मोहि तेषामधिको विशेषो,
धर्मेण हीनः पशुभिसमानः॥"

अर्थात् भोजन करना, नींद लेना, भयभीत होना, मैथुन ये सभी बातें मनुष्य और पशु में समान रूप से पाई जाती हैं। तो फिर मनुष्य और पशु में भेद ही क्या हुआ? वास्तव में भेद है केवल धर्म का, अर्थात् धर्माचरण केवल मनुष्य ही कर सकता है पशु नहीं। यदि मनुष्य में धर्माचार नहीं है तो वह मनुष्य पशु ही के समान है, इसमें कुछ सन्देह नहीं। यही कारण है कि संसार की चौरासी लाख योनियों में मनुष्य योनि को सब से श्रेष्ठ माना जाता है। मनुष्य में विवेक बुद्धि होती है जो अन्य योनि के प्राणियों में नहीं होती। सत्यासत्य का निर्णय मनुष्य ही कर सकता है। इसी सत्यासत्य के निर्णय का नाम धर्म अथवा कर्त्तव्य है। इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिये हमारे शास्त्रों की दृष्टि से मनुष्य के मुख्य दो कर्त्तव्य माने गये हैं—एक जीव की जीविका करना और दूसरा जीव का उद्धार करना। जीव की जीविका के माने हैं अपना, अपने माता-पिता, स्त्री, पुत्रादि सम्बन्धियों का भरण-पोषण तथा जीव के उद्धार से तात्पर्य है जीवात्मा को परमात्मा में संयोजित करना अर्थात ईश्वर-साक्षात्कार करना। अतः इन दोनों कार्यों को जानने व इनमें निपुणता प्राप्त करने के लिये उसे तत्व सम्बन्धी विद्या सिखाने वाले दो प्रकार के गुरुओं की आवश्यकता है। इन्हीं को क्रमशः शिक्षा गुरु और दीक्षा-गुरु कहते हैं।

शिक्षा-गुरु एक के अतिरिक्त अनेक हो सकते हैं, जैसे स्कूल या पाठशाला में टीचर, कालेज में प्रोफेसर तथा कला-कौशल, व्यापार, व्यवसायादि सिखाने वाले सब ही शिक्षक "शिक्षा गुरु" की श्रेणी में आ सकते हैं। ऐसा होने पर भी शिष्य के लिये तो यही योग्य है कि वह इन सब प्रकार के गुरुओं के प्रति गुरु-भाव, प्रेम व श्रद्धा में कुछ भी न्यूनाधिक्य न रखे। यहाँ पर मैं शिक्षा गुरु के प्रति श्रद्धा-भक्ति के आदर्श को एक दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करना चाहता हूँ। जोधपुर (राजस्थान) में फाऊलाल जी नाम के एक अध्यापक थे जो लोअर प्राइमरी क्लासों को पढ़ाया करते थे। उनके पढ़ाये हुए शिष्यों में से एक शिष्य उच्चतम शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् किसी हाई कोर्ट में जज हुआ। प्रायः बीस-पच्चीस वर्ष बीत गये। इधर गुरू जी भी बहुत काल से नौकरी से अवकाश ग्रहण (रिटायर्ड) कर चुके थे। उनके शिष्य जज साहब की उम्र पचास वर्ष से अधिक होचुकी थी। इस अर्से में इन गुरु-शिष्य की भेंट भी कभी नहीं हुई। संयोगवश एक दिन ऐसा हुआ कि इन गुरू जी को गवाह के रूप में इन्हीं जज साहब के कोर्ट में हाजिर होना पड़ा। धन्य है उन जज साहब की बुद्धि व उनके गुरु भाव को कि ज्यों ही उन्होंने गुरू जी को इजलास के कमरे में घुसते देखा, त्योंही उन्हें इस दीन-हीन दशा में पहचान लिया और झट से अपनी कुर्सी पर से उठकर सामने जा उनको

नमस्कार किया और उनको अन्दर ले जाकर अपने पास अन्य कुर्सी पर बिठाकर उनका आदर-सत्कार किया। इसका नाम है गुरू के प्रति श्रद्धा, प्रेम और भक्ति।

जब शिक्षा गुरु (जो केवल धन कमाने तथा उसके द्वारा सांसारिक विषय भोगों को प्राप्त करने वाली विद्या का सिखाने वाला है) के प्रति गुरु-भक्ति का ऐसा आदर्श है तो फिर दीक्षा-गुरु (जो ईश्वर साक्षात्कार के निमित्त अध्यात्म विद्या का सिखाने वाला है) के प्रति भक्ति-भाव कैसा होना चाहिये, यह पाठक स्वयं विचार सकते हैं।

अब हम यहाँ दूसरे उद्देश्य अर्थात् :जीवोद्धार के लिये दीक्षा-गुरु के सम्बन्ध में कुछ चर्चा करेंगे। यह दीक्षा-गुरु एक ही हो सकता है, शिक्षा-गुरु की नाईं अनेक नहीं। परन्तु वह होना चाहिये श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ। श्रोत्रिय अर्थात् वेद पुराणादि शास्त्रों का जानने वाला तथा ब्रह्मनिष्ठ, जिसने स्वयं ब्रह्म साक्षात्कार किया हो। ऐसा गुरु ही तो हमें भव-बन्धन से मुक्त कर सकता है।

जब तक हमारे इस अज्ञान का कि मैं जीव हूँ, मैं तुच्छ हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ का नाश नहीं होगा हमें ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। जब तक ज्ञान का प्रकाश नहीं होगा तब तक भगवत्साक्षात्कार कैसा ? अतः अज्ञान के नाश तथा ज्ञान के प्रकाश के लिये ही दीक्षा गुरु की आवश्यकता है।

गुः = अँधेरा, रुः = नाश करने वाला यानी जो अज्ञान रुपी अँधेरे का नाश करने वाला है वह गुरु है।

अज्ञानतिमिरांधस्य, ज्ञानांजन शलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै श्री गुरुवे नमः॥

अर्थात् जो मनुष्य अज्ञान रूपी अँधेरे के कारण अन्धे हो रहे हैं उनकी जो ज्ञान रूपी अंजन-शलाका से आँखों को खोल देता है उस सद्गुरु को मेरा नमस्कार है।

गुरु-मंत्र और (इष्टदेव तो) ये पृथक-पृथक दिखते हुये भी तत्त्वतः एक हैं। तंत्रों में कहा है कि मन्त्र गुरु से प्राप्त होता है अतः मन्त्र गुरु का पुत्र है। मन्त्र के द्वारा इष्ट देवता प्रकट होता है अतः इष्ट देवता मन्त्र का पुत्र है। इस क्रम से गुरु, मन्त्र का पिता और इष्ट देवता का पितामह हुआ इसीलिये गुरु का महत्त्व दर्शाते हुये कहा है:—

ध्यान मूलं गुरोर्मूर्ति, पूजा मूलं गुरोः पदम्।
मंत्र मूलं गुरोर्वाक्यं, मोक्षमूलं गुरोः कृपा॥

क्या हम यह नहीं जानते कि भील एकलव्य तो द्रोणाचार्य की मिट्टी की मूर्ति बना उसका ध्यान करते-करते गुरु-कृपा संपादन कर बाण विद्या में निपुण हो गया तो भला जो प्रत्यक्ष गुरू से दीक्षा लेकर उनके बताये हुये साधनों द्वारा अभ्यास कर मोक्ष प्राप्त करने में सफल हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है।

शिष्टाचार

जो व्यक्ति हँसमुख है, प्रसन्नचित्त है और दूसरों के साथ शिष्टाचार से व्यवहार करना जानता है, वह संसार में कहीं भी जा सकता है। जिस झोंपड़े में वह ठहरेगा वहीं आनन्द की लहरें उठने लगेंगी। जिस समाज में वह प्रवेश करेगा उसी का रत्न हो जायगा। जिस देश में वह अपने कदम रखेगा वही अपने को भाग्यवान समझने लगेगा। इस दुःख दर्द से भरे संसार में जो दूसरे को क्षणभर के लिये भी स्वर्गीय आनन्द का स्वाद चखा सकेगा उसका आदर और स्वागत कौन न करना चाहेगा ?

—गेटे

गुरु की महिमा बताते हुये और भी कहा है।

गुरुर्ब्रह्मा, गुरुर्विष्णुः, गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुर्साक्षात् परब्रह्म, तस्मै श्री गुरवे नमः॥

अर्थात् गुरु केवल ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर इन त्रिगुणात्मक देवों के समान ही नहीं है परन्तु इनसे भी ऊपर साक्षात् परब्रह्म परमात्मा ही है। केवल इतना ही नहीं, अरे! भक्त-वृन्द तो इससे भी सन्तुष्ट नहीं हुये। उन्होंने तो यहाँ तक कह डाला है कि गुरु परब्रह्म परमात्मा के तुल्य ही नहीं, उससे भी अधिक है जैसे:—

गुरु गोविन्द दोनों खड़े किसके लागूं पाय।
बलिहारी गुरुदेव की, जिन गोविंद दिया मिलाय॥

अर्थात् किसी भक्त को गुरु और गोविन्द दोनों के साथ ही दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। अब प्रश्न व शंका इस बात की उठी कि पहले किसको नमस्कार किया जाय, गुरु को अथवा भगवान् को। तत्त्वतः निश्चय यह हुआ कि सर्वप्रथम गुरुदेव ही वन्दनीय हैं क्योंकि यह उन्हीं की तो कृपा का फल है कि भगवान के साक्षात् दर्शन हुये हैं। इस सफलता में केवल गुरुदेव ही की बलिहारी है।

यह संसार अथाह दुःख-सागर है। इसमें शोक चिन्ता, भय, दुःख तथा क्लेश के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस भव-सागर से पार उतारने के लिये गुरू ही एक केवट है। सदा गुरु का संसर्ग ध्यान, स्मरण और भक्ति श्रद्धा सहित करनी चाहिये। यही आध्यात्मिक विद्या है, यही ब्रह्म विद्या है, यही श्री विद्या है, यही तत्त्व-ज्ञान है। प्रयत्न कीजिये, और जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाइये।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्ति

चार भिक्षायें

(*लेखिका—श्रीमती ब्रह्मदेवी*)

एक समय की बात है कि एक सन्त ने अपने एक शिष्य को चार भिक्षायें लाने के लिये भेजा परन्तु उसकी समझ में नहीं आया कि वह चार भिक्षायें कौन-सी हैं वह उलझन में पड़ गया। उसने सोचा सन्यासी उदार हृदय के होते हैं अपना सुख दूसरों के उपकार के लिये त्याग देते हैं।

यह विचार कर एक उच्च कोटि के सन्यासी के पास जाकर अत्यन्त नम्रता पूर्वक अपने गुरुदेव की बताई चार भिक्षायें सुना दीं और कहा मेरी समझ में नहीं आ रही हैं। मुझे आपके द्वारा अवश्य ही यह चार भिक्षायें प्राप्त होंगी ऐसी मैं दृढ़ आशा करके आया हूँ।

उस सन्यासी ने कहा पहली भिक्षा को कहो, मैं अर्थ समझाये देता हूँ।

शिष्य—भगवान् मेरे गुरुदेव ने कहा है कि—

पहली भिक्षा अन्न की लाना
ग्राम नगर के पास न जाना
हिन्दू तुरक छोड़ कर आना
लाना झोली भर के॥

शिष्य ने सन्यासी के चरण कमलों में गिरकर कहा भगवन् इसका अर्थ क्या है कृपया समझाने का कष्ट कीजिये।

सन्यासी—बेटा! धैर्य धरो मैं समझा रहा हूँ सुनो इसका अर्थ है कि पहिली भिक्षा अन्न की अर्थात् ब्रह्मज्ञानी का भोजन ज्ञान-भाव ज्ञान रूपी भोजन की भिक्षा ले आना। जीव ब्रह्म की एकता (अभेद दर्शन) मैं ब्रह्म हूँ ऐसी अखण्डाकार वृत्ति का नाम ज्ञान है। अर्थात् ऐसी वृत्ति धारण कर आना, भाव यह है

कि इस 'अहं' 'मम' का अभिमान न करना। सभी नाम-रूपों में एक ही आत्मा का दर्शन करना। यह हिन्दू, यह तुरक ऐसी भेद बुद्धि छोड़ कर आना। बुद्धि रूपी झोली में जीव ब्रह्म की एकता रूपी ज्ञान से लबालब भर कर आना। समता रूपी ज्ञान से बुद्धि रूपी झोली भर कर आना यही पहली भिक्षा का अर्थ है। अब दूसरी कहो बेटा!

शिष्य प्रसन्न होकर सन्यासी के चरणों में गिरकर दूसरी भिक्षा कहने लगा। गुरुदेव का कथन है कि—

दूसरी भिक्षा जल की लाना।
कूप बावली पास न जाना॥
ताल तलाई छोड़ कर आना।
ले आना तूँबी भर के॥

सन्यासी— दूसरी भिक्षा में जल अर्थात नाम रूपी जल।

अर्थात् ईश्वर का ही ध्यान करना तथा ताल-तलैया रूपी स्त्री पुत्रादि का प्रेम, अथवा मोह छोड़ कर ईश्वर की ओर आना और ले आना भी तूँबा भर के। अर्थात ईश्वर-प्रेम रूपी जल से हृदय को लबालब करके आना। ईश्वर-प्रेम बिना मानव कुछ नहीं कर सकता। अर्थात ईश्वर-भक्ति के बिना तृप्ति नहीं होती ईश्वर-प्रेम बिना जीव प्यासा ही रहता है। ईश्वर प्रेम के बिना मानव को सुख शान्ति नहीं मिल सकती। भक्ति से ज्ञान प्राप्त होता है। फिर आत्म-जल से तृप्ति होती है। शिष्य तो आनन्द से उछलने लगा सन्यासी के चरणों का चरणामृत लेकर तीसरी भिक्षा कह सुनाई।

तीसरी भिक्षा मांस की लाना।
जीव जन्तु के पास न जाना॥
जिन्दा मुरदा छोड़ कर आना।
ले आना भी हँडी भर के॥

सन्यासी—सुनो बेटा! इसका अर्थ है भिक्षा मांस की भावना यह है कि मनोनाश (समदृष्टि) लेकर आना। भेद बुद्धिपूर्वक जीव अर्थात हाथी से लेकर चींटी, गाय, कुत्ता, का देह रूपी ज्ञान छोड़ एक ब्रह्म-दृष्टि धार कर आना। ब्रह्म ज्ञानी बनकर आना "सर्वम् खल्विदं ब्रह्म" सब कुछ ब्रह्म ही है।

मुर्दा—'यह अज्ञानी है' यह भेद बुद्धि भी छोड़कर आना और समदृष्टि को मन रूपी हाँडी में भर कर लाना। शरीर का भाव छोड़कर आने को कहा है।

शिष्य यह सुनते ही प्रसन्नता से फूल उठा। उसका चेहरा भी चमक उठा उसको सच्चा ज्ञान होगया। वह सन्यासी से अब चौथी भिक्षा पूछने लगा। गुरुदेव का कथन है कि—

चौथी भिक्षा लकड़ी की लाना।
बाग वृक्ष के पास न जाना॥
सूखी गीली छोड़ कर आना।
ले आना गट्ठा भर के॥

सन्यासी अपना परिश्रम सफल देख कर कहने लगे। सुनो बेटा! इसका अर्थ है चौथी भिक्षा निष्काम रूपी लकड़ी ले आना। अर्थ यह है कि कामना रूपी बाग में अथवा वासना रूपी वृक्षों के पास मत जाना स्वर्ग अथवा ब्रह्मा आदि की भी वासना छोड़ कर आना अथवा निष्काम रूपी गट्ठा भर कर ले आना। मायावी वस्तु न लाना और न साधु-सन्तों से सांसारिक पदार्थ मांगना और न लाना निष्काम बन कर आना और सेवा कर मुक्ति रूपी फल पाना। यही चार भिक्षायें तुम्हारे गुरुदेव ने तुमसे लाने को कही हैं। अब तुम अपने गुरुदेव के पास जा सकते हो।

शिष्य गद्-गद् होकर सन्यासी के चरणों में गिर पड़ा और स्तुति करने लगा "धन्य-धन्य प्रभो—आपने मेरा बेड़ा पार कर दिया। आप आध्यात्मिक जगत के कर्णधार हैं आपके ही द्वारा संसार जीवित दीख रहा है। यदि सन्यासी न होते तो संसार निराश होकर तड़प-तड़प कर मृत्यु की गोद में सोते और सदैव जंगल अर्थात् जन्म-मरण के दुखद चक्र में ही पड़े रहते।

प्रत्येक मनुष्य अपने को सबसे ज्यादा बुद्धिमान समझता है।

प्रेषक— श्री रामजीवन चौधरी

मानव मात्र में एक स्वभाविक दुर्बलता होती है, वह सदैव यही सोचता है कि मैं जितना बुद्धिमान हूँ, उतना बुद्धिमान कोई भी नहीं। अपने विचारों की दृढ़ता से ही जो रूपान्तर किसी व्यक्ति विशेष में पाया जाता है तो हम कहते हैं अमुक व्यक्ति बहुत जिद्दी स्वभाव के हैं। किसी भी व्यवसायिक संस्था को ले लीजिये। उसके प्रबन्धक अथवा मालिक अपने आधीनस्थ कर्मचारियों के प्रति यह धारणा रखता है कि इन लोगों में खुद की कोई बुद्धि नहीं, कोई कार्य कुशलता नहीं, मेरी बुद्धि से ही ये सब यन्त्रवत् कार्य करते हैं, और उसी बुद्धि से ही इतना बड़ा कार्य सुचारु रूप से चलता है, इत्यादि।

उसी संस्था के कर्मचारी प्रायः अपने से उच्च-पदस्थ कर्मचारी या मालिक के प्रति ऐसी भावना रखते हैं कि न जाने ये लोग कैसे इतने ऊँचे पद पर पहुँच गये ? इनकी बुद्धि तो इस योग्य कदापि नहीं है। हमारा भाग्य बुरा है कि मेरे जैसा बुद्धिमान व्यक्ति इन जैसे मूर्ख व्यक्तियों के अधीनस्थ होकर कार्य कर रहा है।

इस तरह से जीवन के हर पहलू में हर व्यक्ति के विचार इसी प्रकारसे मिलते जुलते पाये जाते हैं। यदि लोग ऐसा स्वार्थ पूर्ण भाव छोड़कर एक दूसरे को समझने की चेष्टा करें, अपनी बुद्धि को ही सर्वाधिक महत्त्व न देकर दूसरों की बुद्धि का भी उपयोग करना सीखें तो कदाचित आज संसार में जितना अनर्थ होरहा है, जितना वैमनस्य फैल रहा है, जितनी अशान्ति का बोल-बाला है वह अवश्य कम हो जाय। सुख और शान्ति की समृद्धि के लिये निश्चय ही यह एक अचूक उपाय हो सकता है।

मनुष्य यही समझता है कि मैं यदि यह कार्य न करूं तो संसार में जैसे एक बड़ा भारी तूफान मच जायगा। दुनिया में अँधेरा छा जायगा। उस समय वह यह भूल जाता है कि कराने वाला कोई और ही है; जिसके इशारे से इस जगत का कार्य चलता है वही सबका मालिक है

स्वामी विवेकानन्द को पर्यटन काल में बम्बई प्रदेश में एक महाशय से परिचय हुआ जो कि किसी अंग्रेज के आधीनस्थ नौकरी किया करते थे। यद्यपि वह नौकरी ऊँचे पद की थी, किन्तु उन महाशय जी के साथ अंग्रेज अफसरों की सदैव तनातनी चलती रहती थी। वे महाशय मन ही मन उन अफसरों से ईर्ष्या करते और उनकी निन्दा किया करते थे ऐसी दशा में न तो वे अफसरों को स्पष्ट रूप से कुछ कह ही सकते थे और न नौकरी की माया का ही परित्याग कर सकते थे। एक दिन स्वामी विवेकानन्द जी ने उनसे कहा, "देखो तुम धन के लिये नौकरी करते हो और जो काम करते हो उसका पूरा मेहनताना भी पाते हो। तब फिर क्यों दिन रात छोटी मोटी बातों के लिये बवन्डर

मचाया करते हो कि मैं बन्धन में पड़ा हुआ हूँ।" किसी ने तुमको बाँधकर तो नहीं रखा है, जब चाहो छोड़ सकते हो। क्यों दिन रात मालिक की निन्दा किया करते हो? यदि सोचते हो कि तुम्हारी कोई और गति नहीं तब मालिक को दोष न देकर स्वयं को ही दोष दो। तुम्हारे नौकर रहने अथवा न रहने से उनकी कोई हानि नहीं। तुम्हारा स्थान रिक्त होते ही सैकड़ों आदमी उस पद के लिये उम्मीदवार खड़े हो जायँगें। इसलिये मन में अशान्ति को न बढ़ने दो। तुम्हारा जो कर्त्तव्य है, उसको शान्ति के साथ निभाते जाओ।" स्वामी जी ने फिर कहा, "यदि खुद भला तो दुनियाँ भली। आज से दूसरों का बुरा सोचना छोड़ दो, फिर देखो आज से तुम्हारे प्रति लोगों की भावना भी बदलती जायगी। हमारे भीतर जैसी भावना रहती है बाहर के जगत को भी हम वैसा ही देखते हैं।"

अपने विचारों की दृढ़ता रखने के लिये मनुष्य में जो हठधर्मी होती है उसके विषय में स्वामी जी एक उदाहरण दिया करते थे—

"एक राजा था। पड़ोसी राजा इस राज पर चढ़ाई करने आ रहा है, ऐसा सन्देश पाकर महाराज ने राज्य की रक्षा के उपाय ढूंढ़ निकालने के लिये एक मन्त्रणा सभा बुलाई और सबसे परामर्श किया कि रक्षा के क्या उपाय करना चाहिये। महाराज का प्रस्ताव सुनकर इंजीनियर ने कहा "राज्य की सीमा के चारों तरफ खाई खोदकर उसके आस पास मिट्टी की एक दृढ़ और ऊंची दीवार खींच देनी चाहिये" यह सुनकर बढ़ई ने कहा "ठीक है। लेकिन यह दीवार काठ की होने से अच्छी रहेगी।" चर्मकार ने कहा "नहीं काठ से तो चमड़ा मजबूत है, इसी लिये दीवाल चमड़े की ही बननी चाहिये। "लोहार ने यह सुनकर हंसते हुए कहा "चमड़ा और कितना मजबूत होगा? इससे तो लोहे की दीवाल मजबूत रहेगी? उसको छेदकर गोली नहीं आ सकती।" वकील मुख्तयारों ने कहा "महाराज, यह सब कुछ नहीं। शत्रु-पक्ष को युक्ति तथा तर्क से समझाना चाहिये कि इस तरह से बल पूर्वक दूसरे की सम्पत्ति को हड़पने का उनको कोई अधिकार नहीं। यह कार्य अन्याय युक्त और गैर कानूनी है।"

तब पण्डितों ने कहा "तुम सब लोग पागलों की सी बातें करते हो। पहले देवताओं को सन्तुष्ट करना होगा। महाराज आप यज्ञ कराइये, होम कीजिये मन्त्र-जाप कीजिये, शान्ति-पाठ कराइये। यह सब होने से आप देखेगें कि आप के राज्य और आप की प्रजा का कोई बाल भी नहीं बांका कर सकता।" इस तरह राज्य रक्षा के स्थान पर सभी ने अपने-अपने विचारों की दृढ़ता के लिये अनेक प्रकार से तर्कवितर्क किये और आपस में ही लड़ने-झगड़ने लगे और राजा शत्रु द्वारा पराजित हो गया।

तात्पर्य यह कि इस प्रकार अपने विचारों की जिद्द के कारण राष्ट्र का भी अहित हो सकता है, और यदि एक दूसरे को समझने की चेष्टा की जाय तो अपने अन्तःकरण की शुद्धि के साथ अपना देश भी शीघ्र ही उन्नति के शिखर पर पहुँच सकता है

पैसा अंटी में नहीं, माँगत महँ सकुचाय।
तिनके पीछे हरि फिरैं, कहुँ भूखे ना रहि जायँ॥

कहानी

विधाता का विधान

श्री रामस्वरूप जी गुप्त
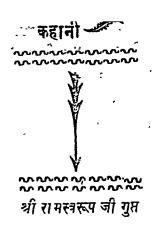
हरिदत्त ऐंड संस ज्वेलर्स का नाम प्रायः प्रान्त के अधिकांश व्यक्ति जानते हैं। सेठ हरिदत्त ने अपने पूर्वजों की कमाई को खोया नहीं, सहस्त्रों गुना बढ़ा दिया है। यूँ तो वे बहुत मिलनसार हैं, स्वाभाव भी अच्छा है। धन का मद जैसा सभी धनाढ्यों में होता है वैसा ही इनमें भी है। अपने व्यापार में हरिदत्त इतने कुशल हैं कि युवावस्था में ही उन्होंने जो नाम कमाया वैसा दूसरों को बुढ़ापे तक नसीब नहीं होता। लोगों का कहना है कि सेठ तकदीर का सिकन्दर है "मट्टी छूता है तो सोना बन जाती है।"

सर्वगुणसम्पन्ना और अनिंद्य सुन्दरी धर्मपत्नी को पाकर बहुत सुखी थे हरिदत्त जी किन्तु सब प्रकार के सुख होने पर भी इधर एक वर्ष से सेठ बहुत दुखी रहते थे। उनकी प्रियतमा का स्वास्थ्य दिनोदिन गिरता जा रहा है। वैद्यों और डाक्टरों ने बता दिया है कि यक्ष्मा होगया है इन्हें। प्रान्त के सभी प्रसिद्ध डाक्टरों को दिखा चुके। भुवाली के सेनिटोरियम में भी रख चुके किन्तु हालत दिनों दिन गिरती देखकर मन में भय का साम्राज्य बढ़ता जा रहा है। फीकी हंसी हंसकर जब पत्नी समझाने लगती तो स्वयं भी झूठी सान्त्वना दे देते हैं उसे। डाक्टर गांगुली ने जब यह कहा कि अब कोई आशा नहीं लेकिन यदि आप इन्हें स्वीटजरलैन्ड ले जायँ तो शायद कुछ आशा की जा सकती है। निराश हरिदत्त आजकल स्वीटजरलैन्ड जाने की बात सोच रहे हैं। प्रत्येक मानव इसी प्रकार की मृग-मरीचिका में आजीवन भटकता रहता है कि शायद अमुक डाक्टर की औषधि से अथवा अमुक स्थान पर ले जाने से मृत्यु नहीं होगी। किन्तु इस भ्रम का निवारण उस दिन होता है जब मृत्यु अपना विकराल मुख फैलाकर उसके प्रिय को ग्रास बना लेती है। तीन वर्ष के गोविन्द और दो वर्ष की श्यामा को छोड़कर, उनकी प्रथम पत्नी ने जब एक दिन अचानक परलोक यात्रा कर दी तो हरिदत्त किंकर्त्तव्यविमूढ़ होगये। आदर्श जीवन-सङ्गिनी के वियोग से उन्हें सारा संसार सूना सा लगने लगा। अपने मातृ-हीन बालकों को देखकर कभी-कभी अन्तर्वेदना से उनका मन छटपटाने लगता तो उन्हें दिवंगता पत्नी के अन्तिम शब्द याद आते—

"नाथ! मैं जारही हूँ मेरे अपराध क्षमा करना, मेरे पीछे इन बालकों की सम्भाल के लिये विवाह अवश्य कर लेना" —दो वर्ष तक तो किसी न किसी प्रकार बीते, किन्तु बच्चों की देखभाल, नातेरिश्तेदारों के सहारे कब तक चलती; परिस्थितियों से विवश होकर सेठ ने दूसरा विवाह कर लिया।

नई माता को देखकर गोविन्द और श्यामा को प्रसन्नता हुई।

"इन्हीं के कारण तुम्हें इस घर में आना पड़ा" —नव वधू ने अपने पति से सुना तो मन ही मन खिन्न हुई वह—"क्या मैं इस घर की लौंडी बाँदी

होकर आई हूँ"—ऐसा विचार उठा उसके मन में वाणी से कहने की बात नहीं थी यह, इसलिए गुमसुम बैठी रही वह।

हरिदत्त ने अनुमान किया, मेरी बात अच्छी नहीं लगी इसे। एक दीर्घ निश्वास लिया और धीरे-धीरे चले गये, बाहर बैठक में।

× × × ×

"अम्मा ने माला है"—सिसकती हुई नन्हीं सी श्यामा, पिता के वक्षस्थल से चिपट गई—"अरे! इसके गालों पर उंगलियाँ स्पष्ट उभर कर रह गई हैं, मासूम बच्ची को भी इतनी निर्दयता से पीटा जासकता है !" पिता की ममता आहत होकर तड़प उठी।

"भैया कहाँ है ?" बच्ची को पुचकारते हुए पिता ने भर्राये कंठ से पूछा "भैया, ललाई कलने गया है अम्मा छे"—पिता के आहत मन पर बालिका की तोतली वाणी ने मरहम का काम किया।

सौत के बालकों से दुर्व्यवहार की कहानियाँ तो बहुत सुनी थीं किन्तु अब अपने घर में ही ऐसी घटना देखकर भुक्तभोगी को बड़ी वेदना हुई।

"लल्ला को चलकर बचा लीजिये मालिक! नई मलकिन क्रोध में अन्धी होरही हैं।" रधिया ने आकर कहा, उसकी आँखें डबडबाई हुई थीं स्वर में कम्पन था, इस घर की कहारिन—बालिका थी वह।

तड़ित वेग से हरिदत्त उठे, भीतर जाकर जो कुछ देखा उसे देखने की स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी, उन्होंने देखा उनकी आँखों का तारा, दुलारा गोविन्द "अब नहीं कहूँगा, अब नहीं कहूँगा।" कह कर चिल्ला रहा है। रोनेसे उसकी आँखें बीर-बहूटी सी होरही हैं, गालों पर थप्पड़ों और पीठ पर पतली बेंत के चिन्ह उभर आए हैं और उसकी विमाता उसे पीटती जारही हैं।

"बस! खबरदार !! क्रोधावेग से हाँफते हुये हरिदत्त ने जोर का धक्का दिया अपनी पत्नी को—डाइन! पिशाचिनी !! क्या मेरे बच्चों की मौत बन कर आई है तू इस घर में—"

भय और ग्लानि से झुकी आँखें एक क्षण के लिये सिसकते हुए गोविन्द और श्यामा पर पड़ी और फिर पति की अंगारे जैसी रक्तिम आँखों से टकरा कर झुक गई, जैसे पृथ्वी के गर्भ में समाकर विनष्ट मान-मर्यादा को खोज रही हों··· मुझे क्या मालूम था ··· बाहर बैठक में ही बैठे हैं न जाने कैसा भूत चढ़ गया था मुझ पर······दस बीस रुपये की हानि में ऐसा पागल भी तो नहीं होना चाहिये······गाज पड़े इन हाथों पर······ सिंगारदान एक नहीं दस आजाते। पश्चात्ताप का प्रबल वेग, हृत्पिण्ड को धौंकनी सा बनाये दे रहा है।

"*क्या कारण है इस अत्याचार का*"—*कठोर वाणी* में गरज कर बोले हरिदत्त "क्या अधिकार है तुझे इन निरीह बालकों को सताने का, जिनकी मैया इन्हें तेरी दया के सहारे छोड़ इस संसार से चली गई! किस जन्म के बैर का बदला चुकाना है? क्या अपने उदर की सन्तान को तू इतनी बेदर्दी से पीट सकेगी? बोल उत्तर दे········"

वाणी के इस भयंकर आघात से तिलमिला गई वह······पृथ्वी फटे और मैं समा जाऊँ······ हाय! मैं पापिन यह भी भूल गई क्रोध में कि गोविन्द और श्यामा मेरी सौत की सन्तान हैं। पद्मा का अन्तर चीत्कार कर उठा—"इस पाप का दण्ड मिलना ही चाहिये—मिलना ही चाहिये······ टप टप टप टप आँसू की बूँदें धरती पर टपक पड़ीं—वह क्या उत्तर दे? क्या बोले? किस मुख से क्षमा माँगे? न जाने कितने जन्मों के पाप एक साथ उदय होगये आज।

संसार तो क्रिया पहिले देखता है और भावना बाद में, और भगवान् के दरबार में भावना के सामने क्रिया नगण्य है। पश्चात्ताप की अग्नि में तप्त होकर जब किसी अन्तःकरण की मलिनता नष्ट होती है तब उसका प्रकाश दूसरे पर पड़े बिना नहीं रहता। कुछ देर पहिले जो बालक अपनी विमाता को भयंकर रूप में देख रहे थे उन्हीं की इच्छा हुई कि रोती हुई अपनी अम्मा को चुप करावें। गोविन्द

तो अपने पिता के भय से चुपचाप खड़ा रहा किन्तु नन्हीं श्यामा बोल उठी "अम्मा लोती है"—पद्मा की अश्रुधारा तीव्र होगई, उसके मन में हुआ कि दोनों को अपने अंग में चिपका कर पहले वह फूट-फूट कर जीभर कर,रो ले······पत्नी के आँसुओं को पति ने ढोंग समझा "अब यह त्रियाचरित्र रहने दो"—हरिदत्त ने वाग्वाण छोड़ा।

क्रोध के आवेश में केवल अवगुण ही चमक-दमक कर हमारे सामने आते हैं। उस समय प्रतिपक्षी के समस्त गुण जैसे उस अग्नि में जल भुन कर राख हो जाते हैं। सन्तान की ममता ने हरिदत्त की बुद्धि को क्रोध के आवरण से ढक लिया। जैसे अब इस अपराध का कोई भी प्रायश्चित्त नहीं।

सहसा एकटक माता की ओर देखती हुई, श्यामा, अपने पिता के गले में बाहें डालकर रो पड़ी—"अम्मा अब नहीं मालेगी, तुम अम्मा को मालना मत"—निश्छल और निर्मल बच्ची के भीतर बैठकर जैसे पद्मा की मूर्तिमती भावना बोल उठी ···

यत्न से रुक-रुककर आँसुओं को टपकाने वाली पद्मा अब अपने आवेग को न रोकसकी, फफक कर बालकों की भाँति रो पड़ी और लपक कर दोनों को अपने वक्षस्थल से चिपका लिया। गंगा-यमुना और सरस्वती ने मिलकर करुणा की त्रिवेणीसी बहा दी।

× × ×

"क्या बात हुई थी बेटे !"—पुचकारते हुये गोविन्द से उसके पिता ने पूछाः—

"पिता जी ! श्यामा को जब अम्मा जी खूब पीटने लगीं तो मैंने उनसे कहा मेरी बहिन को मत पीटो। तुम हम लोगों की अम्मा नहीं हो, हमारी अम्मा भगवान के घर चली गई। पिता जी हमारे हैं तुम हमारी कोई नहीं, तो हमारी बहिन को क्यों मारती हो जब मैंने ऐसे कहा तो अम्मा जी ने श्यामा को छोड़ दिया और मुझे पीटने लगी। लेकिन मुझे ऐसा नहीं कहना चाहिये था कि तुम हमारी भी नहीं और कोई नहीं, क्यों न पिता जी ? ने प्रश्न किया

"हाँ बेटा तुम्हें ऐसा नहीं कहना चाहिये, खैर अब आगे से कभी न कहना अपनी अम्मा से। ऐसी कड़ी बात कहने की माफी तुमने अभी तक माँगी या नहीं—पिता ने पुत्र को समझाया।

हाँ पिता जी ! उसके दूसरे दिन मैंने अम्मा जी के पैर छूकर माफ कर देने के लिये कहा तो अम्मा जी मुझे गले से लगाकर रोने लगीं, फिर मैं भी रोया। अच्छा पिता जी, अब अम्मा से कुछ मत कहना—गोविन्द की आँखें छलछला उठीं।

"जाओ खेलो" पुचकार कर पिता ने कहाः—

गोविन्द के जाने पर सेठ ने रधिया से पूछा—"क्या बात हुई थी बेटी ! बिट्टी को क्यों मारा था मलकिन ने"

"बिटिया पलंग पर खेल रही थी, पलंग के पैताने सिंगारदान रक्खा था उसके शीशे में अपना मुँह देखने के लिए बार-बार उसपर चढ़ती थी। मलकिन ने मना किया, नहीं मानी। न जाने कैसे धक्का लगा कि सिंगारदान गिर गया, उसका शीशा चूर-चूर होगया और उस पर रक्खी तेल की बोतल बनारसी साड़ी पर गिर कर टूट गई। मालकिन साड़ी की तह लगा रही थीं, साड़ी बिलकुल सत्यानाश होगई इसीलिये उन्हें क्रोध आगया" "—रधिया ने पूरा समाचार सुना दिया, फिर कुछ रुक-रुक कर बोली—उसी दिन से मालकिन को न जाने क्या होगया है, गुम-सुम बनी रहती हैं, बात बात में रोने लगती हैं।

"अच्छा ! जाओ अपना काम करो"—रधिया चली गई मालिक का आदेश पाकर।

विनाशकारी तूफ़ान के बाद वातावरण में जैसी नीरवता छा जाती है, ऐसी ही दशा हरिदत्त के मन की होरही थी—टिक-टिक करती दीवाल की घड़ी इस नीरवता को भंग कर रही है। हरिदत्त की आँखें उठीं, उन्होंने देखा सामने दीवाल में टंगे तैलचित्र में उन्हें देख-देख कर जैसे उनकी दिवंगता पत्नी विद्रूप की हँसी हँस रही है।

× × × ×

हाई फ़ीवर में डिलीरियम होगया है बच्ची को! आप घबड़ायें नहीं सेठ जी! भगवान पर भरोसा रक्खें डॉक्टर ने अपना हैंडबेग उठाते हुए कहा—शाम को भी एक इंजेक्शन देने आऊँगा।

"तो अब आपकी दवा में नहीं, भगवान पर भरोसा करन पड़ेगा"—

"आप निराश न हों"—हैट को उठाकर मुनीम के द्वारा दिये हुए फीस के नोटों को सावधानी से कोट की भीतरी जेब में रखते हुई डाक्टर ने कहा। "अम्मा लोती है, अम्मा लोती है"—श्यामा बड़बड़ाई, तीव्र ज्वर में। कल रात से यही बकती है और जब अम्मा को अपने पास नहीं देखती तो बुरी तरह चीखती-चिल्लाती। डाक्टर चला गया। पद्मा के हृदय की धड़कनें, शान्त होने का नाम नहीं लेतीं। पूरे सोलह घंटे होगये हैं इसी प्रकार गोद में लिये बैठे हुए। रह-रह कर, उसके मन में उठता—हे भगवान! क्या होने वाला है? रूखे अस्त-व्यस्त बाल, सूखे मुख पर उड़ रहे हैं। आँखें एकटक बच्ची के मुख पर लगी हैं, उन आँखों से न जाने कितनी वर्षा होचुकी है।..................

"हाय! इस घर का रक्षक ही भक्षक बन गया। धिक्कार है मुझे। उस दिन के मेरे क्रोध ने ही मेरी बच्ची की ऐसी दशा कर दी। और पद्मा ....न जाने क्या होगा......भगवान् रक्षा करो......आत्म-धिक्कार से उनका तन-मन काँप गया।

"अब तुम जाकर आराम करो। कब तक बैठी रहोगी ऐसे?"—कण्ठावरोध के कारण रुक-रुककर बोले हरिदत्त "लाओ मुझे दो"—डबडबाई आँखें बरस पड़ीं।

पद्मा ने अपनी शुष्क आँख से देखा प्रेम और आत्म समर्पण के मोती; उसके देवता की करुणामयी आँखें बिखेर रही हैं।

पद्मा उन अमूल्य रत्नों का नष्ट होना सहन न कर सकी—फूट कर रो पड़ी किन्तु दूसरे ही क्षण दम्पति-हृदयों के सम्मिलन को क़राल काल ने झकझोर दिया.... अ ....म्मा.... आ कहकर खुली आँखों से बच्ची ने अपने माता-पिता को देखा पथराई आँखें खुली की खुली रह गईं, गर्दन एक ओर लुढ़क गई और प्राण पखेरू अनन्त की ओर उड़ गए। "हाय मेरी बच्ची" के हृदय विदारक चीत्कार के साथ पद्मा मूर्च्छित होगई, निस्तब्ध हरिदत्त का हृदय शत-शत वृश्चिक दंशनमयी वेदना से तड़प उठा।

× × ×

एक वर्ष बीत गया किन्तु हरिदत्त के मन से यह टीस न निकल सकी कि मेरे कारण ही ऐसा महान अनर्थ होगया। पद्मा सोचती कि मेरे अपराध का ही ऐसा भीषण परिणाम हुआ। निष्पाप गोविन्द कभी-कभी यह कहकर माता पिता को रुला देता कि "मैं अगर अम्मा से कुछ न कहता तो मेरी बहिन को रूठ कर भगवान् नहीं बुलाते।" हरिदत्त की आहत अन्तरात्मा शान्ति-लाभ के लिये कराह उठी। पूर्व जन्मों के आध्यात्मिक संस्कार जागृत हुए। उनका अधिकांश समय हरि-भजन में बीतने लगा, राग-रंग और वैभव से अरुचि बढ़ती गई। आश्चर्यजनक परिवर्त्तन होगया। उनके प्रत्येक क्रिया-कलाप में। समस्त आसुरी प्रवृत्तियाँ जैसे इस शोक-सरिता के प्रबल प्रवाह में बह गईं। पद्मा को सामने देखकर उनकी आँखें अपराधी की भाँति झुक जाती। पति-परायणा पद्मा सब कुछ समझती, ग्लानि और दुख के भार को हल्का करने के लिये एकान्त में, भीतर के उमड़ते तूफान को हल्का करती।

विधाता के इस क्रूर और करुण विधान से इस प्रसिद्ध जौहरी का मन संसार से ऊब उठा। बड़े मुनीम दो तीन बार जब बैठक में बुलाने आते तो उनकी मान-रक्षा की भावना से वह गद्दी पर चले जाते। एक दिन उपयुक्त समय पाकर मुनीम जी ने कहा—"भैया! एक प्रार्थना है आपसे"—मुनीम जी उनके पिता के समय से ४० वर्षों से इसी गद्दी की सेवा कर रहे हैं, गोद खिलाया है उन्होंने हरिदत्त को—

"राम-राम कैसी बात कहते हैं, आप तो मुझे आज्ञा दे सकते हैं, प्रार्थना क्यों? आप को तो सदा मैंने पिता के स्थान पर ही समझा है।"

वृद्ध मुनीम की आँखों से अपनत्व और कृतज्ञता छलक पड़ी, दो अश्रु बिन्दुओं के रूप में—"आप और बहूरानी जलवायु बदलने के लिये कुछ दिनों पर्यटन करें तो कैसा रहेगा?"—हितैषी मुनीम ने कहा।

प्रसन्नता से हरिदत्त का मुख खिल गया—"आप ने मेरे मन की बात कह दी, यात्रा का कार्य-

क्रम बना दीजिये, तीर्थों के दर्शनों का संकल्प भी कई दिनों से उठ रहा है।

अवनि और अम्बर में, शरत्-पूर्णिमा के चन्द्रदेव ने अपनी शुभ ज्योत्स्नामयी निस्सीम करुणा बिखेर दी। तापहारिणी गंगा की लोल लहरों में झलमल करती चाँदनी, ऊँचे-नीचे पत्थरों में टकराती जलराशि का कलकलनाद और तपोभूमि के पावन वातावरण ने दम्पति के अन्तर्हृदयों की ज्वालामयी जलन को शान्त कर दिया। पूर्व और दक्षिण भारत के प्रमुख तीर्थों का भ्रमण करते हुए, हरिदत्त अपनी पत्नी और गोविन्द के साथ गंगातट वर्ती इस सुरम्य आश्रम में कई दिनों से ठहरे हैं। आश्रम के अधिष्ठाता संत-प्रवर की पावनवाणी का प्रसाद छोड़कर जाने का संकल्प ही नहीं उठता। त्रिविधि तापों से संतप्त मानव को भयमुक्त करने वाले आश्रय दो ही हैं इस मृत्युलोक में, मंगलमय श्रीहरिः अथवा उनके नित्यावतार रूप अहैतुक-दयामय सन्त। सन्त-शिरोमणि की अलौकिक प्रेमाकर्षण शक्ति से प्रभावित दम्पति को ऐसा भान होता था जैसे जन्मजन्मान्तर के बिछुड़े माता-पिता इस रूप में मिल गये। परदुःख कातर सन्त-भगवान ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर उन्हें मन्त्र-दीक्षा दी। गुरु-भगवान के चरणामृत का पान कर दम्पति ने अपना मानव-जीवन सफल बनाया।

गोविन्द थक कर सो गया था। गुरुदेव की चरण-सेवा करते हुए हरिदत्त ने उनसे अपनी मानसिक व्यथा प्रकट की। पद्मा बाहर बराम्दे में श्री महाराज के लिये गोदुग्ध अंगीठी पर गर्म कर रही थी। शिष्य-दम्पति की वेदना-विगलित गाथा से प्रभावित होकर महाराज उठकर बैठ गये, उनकी उपदेशामृत निर्झरिणी प्रवाहित हो चली "भैया! मंगलमय प्रभु की सृष्टि में वस्तुतः कहीं भी दुःख का लेश नहीं। उनके किस विधान में क्या रहस्य छिपा है, इसे हमारी सीमित बुद्धि कैसे जान सकती है? माता अपने बालक की ताड़ना करती है किन्तु उसकी ताड़ना में शत्रु-भावना नहीं, हित भावना ही है। डाक्टर फोड़े का आपरेशन करता है किन्तु रोगी की हित-कामना से। इसी प्रकार पहिले तो यह समझने की बात है कि हम पर जो दुख आता है उसमें हमारी भलाई अवश्य छिपी है। तुम दोनों इस भ्रम में हो कि मेरे कारण श्यामा की अकाल मृत्यु होगई। इस बात को तो मन को निकाल ही दो। भगवान तो कोई निमित्त बनाकर ही इस कठपुतली संसार को नचा रहे हैं। विचार करो यदि यह घटना न हुई होती तो इस प्राप्त ऐश्वर्य और वैभव के अभिमान का नाश कैसे होता? कैसे तुम्हारा मन भगवान के चरणों में लगता? हमारी और तुम्हारी भेंट का निमित्त भी वही है। इन्हीं सब बातों पर विचार करने से तो हम इसी निश्चय पर पहुँचते हैं कि विधाता के इस विधान में तो तुम्हारे लिये मंगल ही मंगल है"..........

मंत्रमुग्ध से सुन रहे थे दोनों।

"भगवान! मैं कुछ पूछना चाहती हूँ"—पद्मा ने बड़े संकोच से कहा—

"हाँ हाँ बेटी! अवश्य पूछो—तुम्हारी शंका की लंका भस्म करके ही यहाँ से जाने देंगे तुम्हें—" श्री महाराज ने हंसते हुए कहा—

"भगवन! एक ऐसी झूठी आशा मेरे मन में छिपी है जिसे आज आपसे ही प्रकट कर रही हूँ! प्रायः नित्य रात्रि में इसी प्रकार के स्वप्न भी देखती हूँ कि मेरी श्यामा फिर से मुझे मिल जायगी"—पद्मा के स्वर में विश्वास की ध्वनि थी। हरिदत्त ने आश्चर्य से उसकी ओर देखा—

इच्छा-शक्ति की दृढ़ता से तो भगवान भी खिंचे चले आते हैं, फिर श्यामा ही अपनी माता से अधिक दिन दूर कैसे रह सकेगी"—महाराज जोर से हंसे

× × × ×

दो वर्ष बाद।

"बच्ची का जन्म हुआ है"—लेडी-सर्जन ने बाहर आकर प्रतीक्षा करते हुए हरिदत्त से कहा उन्हें भीतर जाने का उपक्रम करते देख उसने हँस कर रोका—"अभी नहीं"

और जब उन्होंने उस बच्ची को देखा तो हर्षोन्मत्त होकर चिल्ला पड़े "अरे! मेरी श्यामा लौट आई"—कन्या और दिवंगता श्यामा की आकृति में अद्भुत सामंजस्य था।

"मैं तो जानती थी मेरी श्यामा जरूर आयेगी मेरे पास"—पद्मा ने बच्ची को चूम लिया और उसका हर्ष आँखों में छलछला उठा। विधाता का रहस्य कौन जाने?

निवेदन

कार्यालय में प्रायः ऐसे कई पत्र आते हैं कि हमें अमुक अंक नहीं मिला। ऐसे पत्रों के आने पर उन ग्राहकों की सेवा में दुबारा अंक भेज दिये जाते हैं। स्वाधीन भारत में भी अपने पोस्टल विभाग के किन्हीं कर्मचारियों का ऐसा नैतिक पतन, वास्तव में दुख का विषय है। इतना तो आप विश्वास रक्खें ही कि यहाँ से सभी अंक बड़ी सावधानी से भेजे जाते हैं किन्तु बीच में गायब होने का स्पष्ट अर्थ यही है कि उसकी चोरी की गई। भगवान् ही जब तक इस अनैतिकता से पीछा छुड़ाने का कोई मार्ग न निकालें तब तक तो पोस्टल विभाग की दया पर ही अवलम्बित रहना होगा, और कोई चारा नहीं। अस्तु, संभव है बहुत से प्रेमियों ने हमें अपने अंक खो जाने की अभी तक सूचना ही न दी हो। उनसे हमारा निवेदन है कि इस वर्ष के जो अंक आपको न मिले हों उन्हें पत्र लिखकर अवश्य दुबारा मँगवा लीजिये, जिससे आपकी फ़ाइल अधूरी न रहे।

यद्यपि अंकों को दुबारा भेजने में 'परमार्थ' को आर्थिक हानि तो होती ही है किन्तु इसका उद्देश्य तो जनता-जनार्दन की सेवा ही है। हम अपनी सेवा की सफलता तो अपने प्रेमी ग्राहकों के सन्तोष में ही समझते हैं।

दिसम्बर का अगला अंक मिलने पर आपका इस वर्ष का चन्दा समाप्त हो जायगा। अक्टूबर के अङ्क में संलग्न मनीआर्डर फ़ार्म भी आपकी सेवा में भेजा गया था, दिसम्बर के अङ्क में भी मनीआर्डर फ़ार्म भेजा जायगा। यदि अभी तक आपने मनीआर्डर न भेजा हो तो कृपया शीघ्र ही भेज दीजिये। जिस क्रम से मनीआर्डर प्राप्त होंगे उसी क्रम से विशेषाङ्क, ग्राहकों की सेवा में भेजे जायँगे। अग्रिम रुपये आजाने से आप वी० पी० के पोस्टेज व्यय से मुक्त रहेंगे।

जनता-जनार्दन की इस आध्यात्मिक सेवा में, अपना सक्रिय सहयोग देने के लिये, कम से कम एक नवीन ग्राहक और बनाने का प्रयत्न करें। एक ग्राहक बना देना आप के लिये कोई बहुत बड़ी बात भी नहीं है। इस ज्ञान-यज्ञ में अपनी इस सेवा द्वारा आप भी पुण्य संचय करें, हमारी यही प्रार्थना है। हमारे पुराने प्रेमी होने के नाते केवल एक-एक नया ग्राहक बना भेजने का सहयोग अवश्य दें।

—व्यवस्थापक

ग्राहकों से नम्र निवेदन

आप के कर-कमलों में यह नवम्बर का अङ्क है। अगले मास के अङ्क के पश्चात् इस वर्ष की हमारी सेवा समाप्त हो जायगी। जनवरी मास में नये विशेषांक 'सुख-शान्ति अङ्क' से 'परमार्थ' के छठे वर्ष की सेवा प्रारम्भ होगी। 'परमार्थ' के द्वारा जनता-जनार्दन की जैसी, सुरुचिपूर्ण, एवं आध्यात्मिक सेवा हो रही है, वह आप से छिपी हुई नहीं है। भविष्य में इसे सर्वाङ्ग सुन्दर बनाने की कई योजनाएँ हैं, किन्तु उन्हें कार्यान्वित करने के लिये आर्थिक समस्या का समाधान होना आवश्यक है। 'परमार्थ' के प्रेमी ग्राहक होने के नाते आप भी परमार्थ-परिवार के एक सदस्य हैं। इसीलिये हमारा विनम्र निवेदन है कि आप पत्रिका के आजीवन सदस्य बनकर यदि इसके संरक्षक बन जायँ तो स्वस्थ और सबल 'परमार्थ' से जनता की अधिक अच्छी सेवा हो सकती है। संरक्षक बन जाने पर, आपको भी 'परमार्थ' की उन्नति के सम्बन्ध में अपनी सम्मति देने का पूर्ण अधिकार हो जायगा।

आजीवन सदस्य बनने के लिये कम से कम १०१) शुल्क रूप में भेजना आवश्यक है। इस सहायता से 'परमार्थ' की आर्थिक दृढ़ता के साथ ही आप की सेवा में 'परमार्थ' आजीवन पहुँचता रहेगा। आशा है आप हमारी इस प्रार्थना पर विचार करेंगे तथा अपने बन्धु-बान्धवों को भी आजीवन सदस्य बनने की प्रेरणा देंगे।

विनीत—

—व्यवस्थापक

मुद्रक तथा प्रकाशकः—अध्यक्ष परमार्थ प्रेस, पो० मुमुक्षु आश्रम, (शाहजहाँपुर)
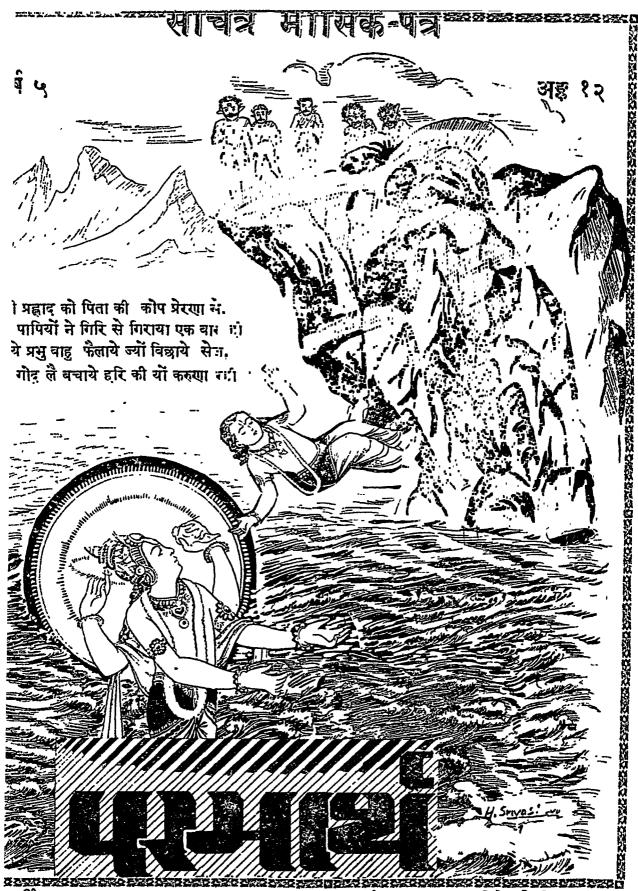
परमार्थ मासिक-पत्र

दैवी गुण विकासक, शान्ति संस्थापक, भक्ति ज्ञान, वैराग्य, सदाचार आदि अध्यात्मवाद प्रचारक, श्री दैवी सम्पद् महामण्डल का प्रमुख सुरुचिपूर्ण सचित्र मासिक-पत्र

संस्थापकः—

सम्पादकः—

स्वामी सदानन्द सरस्वती

राजाराम पाण्डेय 'मञ्जुल'

विषय सूची

सम्पादक-मण्डल—

पं० गयाप्रसाद त्रिपाठी शास्त्री, 'साहित्यरत्न, रामशंकर वर्मा एम० ए० "साहित्यरत्न", रामस्वरूप गुप्त।

आवश्यक-निवेदन

"परमार्थ" के पंचम वर्ष का यह अन्तिम अंक आपके कर कमलों में है। इसे प्राप्त करने के बाद आपका इस वर्ष का शुल्क समाप्त हुआ। आगामी वर्ष का विशेषांक "सुख शान्ति अंक" यथा समय आपकी सेवा में पहुँचेगा। नये वर्ष का शुल्क ५।।) भेजने के लिये इस अङ्क में संलग्न मनीआर्डर फार्म आपकी सेवा में जारहा है। यदि अभी तक आपने मनीआर्डर न भेजा हो, तो कृपया शीघ्र भेजदें। जिस क्रम से मनीआर्डर प्राप्त होंगे उसी क्रम से विशेषांक प्रेमी ग्राहकों की सेवा में भेजे जायँगे।

जिन ग्राहकों का वार्षिक चन्दा ५।।) मनीआर्डर द्वारा १५ जनवरी, १६५५ तक नहीं प्राप्त होगा, उनकी सेवा में विशेषांक वी० पी० द्वारा भेजा जायगा। ऐसी स्थिति में वी० पी० का खर्च लगभग ।≈) आपको अधिक देने होंगे। जिनके मनीआर्डर अग्रिम प्राप्त होजायँगे, उनको विशेषांक-रजिस्ट्री द्वारा भेजे जायँगे अर्थात् वे वी० पी० अथवा रजिस्ट्री डाक-खर्च से मुक्त रहेंगे।

यदि किन्हीं विशेष कारणों से आप आगामी वर्ष के ग्राहक न रहना चाहें, तो कृपया कार्यालय को मनाही कार्ड लिखकर तुरन्त सूचित करदें ताकि आपकी सेवा में सुख-शान्ति अंक वी० पी० द्वारा भेजने में 'परमार्थ' को व्यर्थ की हानि न उठानी पड़े। सार्वजनिक संस्था की पत्रिका होने के नाते 'परमार्थ' की हानि आपकी अपनी ही हानि है।

यदि वी० पी० आपकी सेवा में पहुँच जाय, तो उसे वापस कदापि न करें, वरन् कृपया उसे छुड़ा कर किसी अन्य सज्जन को ग्राहक बनाकर उसकी सूचना यहाँ भेजदें।

—व्यवस्थापक

भ्रातृ-भक्ति जनु तनु धरि आई ।।चले०।। ४

—श्री गयाप्रसाद त्रिपाठी "शास्त्री"
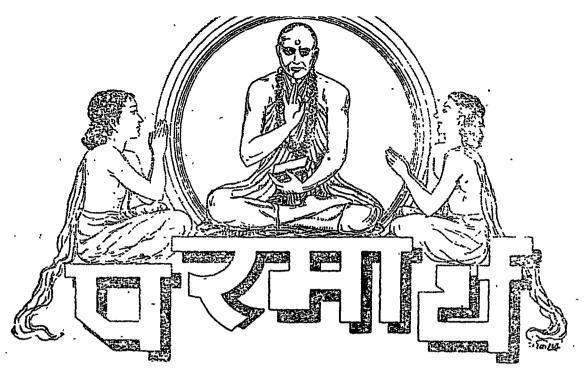
कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वानुसृतःस्वभावात् ।
करोमि यत्यत् सकलं परस्मै, नारायणायैव समर्पयेतत् ॥

वर्ष ५ | पो० मुमुक्षु आश्रम (शाहजहाँपुर) १५ दिसम्बर, १९५४ | अङ्क— १२

पौष कृष्ण ६ बुद्धवार सम्वत् २०११

चले भरत शुभ आशिष पाई ।

लै पादुका परम प्रिय प्रभु की ।
चले भरत शुभ आशिष पाई ॥चले०॥

विस्मित लषन, चकित चित सीता ।
राम हृदय नहिं प्रीति समाई ॥चले०॥ १

प्रकृति मगन, गुञ्जरित चहूँ दिशि ।
हरषि देव दुन्दुभी बजाई ॥चले०॥ २

धरि सिंहासन चरन पादुका ।
वन वसि, भरत, करत ठकुराई ॥चले०॥ ३

सुख सम्पति राजत कोसलपुर ।
भ्रातृ-भक्ति जनु तनु धरि आई ॥चले०॥ ४

—श्री गयाप्रसाद त्रिपाठी "शास्त्री"

परमार्थ-बिन्दु

विचार करो—पौधों की टहनियाँ तभी तक ऊँची ऊँची रहती हैं जब तक कि उन पर फल-फूल नहीं होते। जब वे फल-फूलों से लद जाती हैं तो क्या वे ऊँची की ऊँची ही बनी रहती हैं? कदापि नहीं। वे झुक जाती हैं। इसी प्रकार, निश्चय रक्खो, विद्या पढ़ने का यही फल है कि तुम्हारे जीवन में नम्रता आवे, व्यवहार में सदाचार-शिष्टाचार हो, और शरीर, वाणी, मन एवं धन सभी राष्ट्र, धर्म, गुरुजनों एवं घट-घट वासी भगवान की सेवा में लग जायँ। यदि नम्रता की जगह मद-अभिमान बढ़ता है, सदाचार-शिष्टाचार की जगह विलासिता, अनुशासनहीनता तथा दम्भ, छल, कपट होता है, माता-पिता, देश-धर्म, गुरुजन और भगवान में श्रद्धा-भक्ति की जगह नास्तिकता, उच्छृङ्खलता, आपस में वैमनस्य, राग-द्वेषआदि बढ़ता है तो सोचो तो सही, क्या यह विद्या हुई कि अविद्या? क्या इस प्रकार की विद्या पढ़ने वालों से वे अच्छे नहीं जो बेपढ़े होते हुए भी नीति मर्यादानुसार सदाचारपूर्वक खेती अथवा मजदूरी करते हैं?

विचार करो—पत्थर पर उन्नीस चोटें मारीं पर वह टूटा नहीं; परन्तु बीसवीं चोट लगते ही टूट कर कई टुकड़े होगये, तो क्या वे पूर्व की उन्नीस चोटें व्यर्थ गईं? कदापि नहीं। वास्तव में बीसवीं चोट की सफलता उन्हीं उन्नीस चोटों पर निर्भर थी। इसी प्रकार, निराश मत होना, तुम्हारा नित्य का साधन चाहे अल्प ही क्यों न हो वह व्यर्थ नहीं जावेगा—यथार्थ में साधन की सिद्धि तो इसी नित्य प्रति के साधन पर ही निर्भर है परन्तु ध्यान रहे कि साधन का लक्ष्य हो भगवत्-प्राप्ति।

विचार करो—क्या राजा कभी यह कहता फिरता है कि "मैं राजा हूँ, मैं राजा हूँ?" कदापि नहीं। परन्तु क्या उसके तेज व भय से ही मन्त्री, कोतवाल आदि नौकर उसकी इच्छानुसार काम करने में तनिक भी लापरवाही करते हैं? वे तो बेचारे हाथ जोड़े ताकते रहते हैं कि राजा साहब की कब क्या आज्ञा होती है जो फौरन तामील की जाय। इसीप्रकार, याद रक्खो, "मैं ब्रह्म हूँ मैं ब्रह्म हूँ" कहने की आवश्यकता नहीं है; इन महावाक्यों की धारणा करके इतने शक्तिमान बनजाओ कि मन-इन्द्रियाँ आदि सभी तुम्हारे वश में होजायँ और निरन्तर तुम्हारी आज्ञापालन में तत्पर रहें। यदि मन-इन्द्रियाँ तुम्हारी आज्ञा की जगह भोगों की बाट जोहती रहती हैं तो समझ लो 'ब्रह्म' नहीं 'भ्रम' है। अभी खूब वैराग्य-अभ्यास बढ़ाओ—अन्तःकरण शुद्ध करने के लिये खूब निस्वार्थ सेवा करो।

विचार करो—पतिव्रता स्त्री क्या दिनरात अपने पति का स्मरण ही करती रहती है? नहीं नहीं। पतिव्रता स्त्री वह है जो अपने पति की प्रसन्नता के लिये सभी कार्य करे:—यथा बच्चे का पालन-पोषण करे तो पति की प्रसन्नता के लिये, सास-ससुर की सेवा करे तो पति की प्रसन्नता के लिये, तथा भोजन-पानी सफाई आदि घर का काम-काज करे तो पति की प्रसन्नता के लिये, आदि। इसीप्रकार, निश्चय रक्खो, वास्तविक भक्त वह ही नहीं है जो दिन-रात जप-तप, पाठ-पूजा, ध्यान-आरती आदि ही करता है परन्तु वह है जो भगवान द्वारा दिये हुए स्त्री-पुत्र आदि तथा समस्त भूत प्राणियों की सेवा आदि कर्तव्यों का पालन तो करता है परन्तु करता है केवल अपने स्वामी-प्रियतम भगवान की प्रसन्नता के लिये।

"आनन्द"

आध्यात्मिक संस्मरण

सितम्बर के अङ्क से इस स्तम्भ का श्री गणेश हुआ था। प्रेमी पाठक-पाठिकाओं से निवेदन किया गया था कि वे अपने जीवन की वह सत्य घटना लिख भेजने की कृपा करें, जिसके प्रभाव से उन्हें आध्यात्मिक उन्नति, भगवान् के चरणों में अनुराग और चारित्रिक उत्कर्ष में प्रेरणा मिली हो। इन घटनाओं का प्रभाव पाठकों पर बहुत अच्छा पड़ता है। आप स्वयं भी लिखकर भेजें और अपने मित्रों से भी भेजने के लिये कहें। —

कान्यकुब्ज ब्राह्मण समाज में प्रायः शक्ति की अधिष्ठात्री देवी, दुर्गा की पूजा अधिक होती है। दुर्गा मैया को प्रसन्न करने के लिये, किसी विशेष पर्व पर दुर्गा के सामने बकरे की गर्दन काटने की प्रथा पहले बहुत थी। विश्वास था कि इस बलिदान से माता प्रसन्न होती है। यद्यपि इस वैज्ञानिक युग में यह धार्मिक हिंसा प्रवृत्ति नहीं के बराबर होगई है किन्तु आज भी उस रूढ़ि के पोषक जन मिलते हैं। आधुनिक विचारों के नवयुवक तो सदैव इस क्रूर प्रथा का विरोध करते आये हैं। मेरे कुटुम्ब में भी इस विचार के समर्थक युवकों ने इसका प्रबल विरोध किया।

संतोषकुमार के पुत्र का मुण्डन हुआ तो दकियानूसी वृद्धों और स्त्रियों ने बलि का समर्थन किया और हम लोगों ने प्रबल विरोध। हमारे विरोध करने पर भी, हमारी नजर बचाकर बलि का प्रबन्ध किया गया। चुरा कर बकरा लाया गया, और रोली-अक्षत फूल-माला से सजाकर वे लोग गुप्-चुप उसे देवी के मन्दिर में लेगये। जिस नवयुवक की नंगी तलवार से उस निरीह पशु की गर्दन कटने वाली थी, उसने पहिले तो हमारे विचारों का समर्थन किया था किन्तु न जाने कैसे उन लोगों के बहकावे में आकर बकरे की गर्दन काटने के लिये तैयार होगया। अस्तु, वे लोग मन्दिर पहुँचे। उस युवक की तलवार उठी किन्तु तलवार वाला हाथ नीचे आते-आते युवक की दशा विचित्र होगई। वह सहसा काँपने लगा, पसीने से तरबतर होगया। तलवार वाला हाथ झूल गया और उसे ऐसा लगा कि मैं पृथ्वी पर गिर जाऊँगा। साथ के लोगों ने उसे संभाला और मुख पर जल के छींटे दिये तो प्रकृतिस्थ होने पर उसने बताया कि मुझे तलवार उठाते ही ऐसा जान पड़ा कि देवी बहुत क्रुद्ध होकर कह रही हैं कि "क्या मैं जीव-हिंसा से प्रसन्न होती हूँ, मूर्ख कहीं का।" मेरी मन की आँखों ने देवी की क्रुद्ध मूर्ति के दर्शन किए हैं। मैं अब ऐसा कुकृत्य नहीं कर सकता। उस युवक की ऐसी दशा से सभी पर गहरा प्रभाव पड़ा और उसी समय से मेरे कुटुम्ब में बलि-प्रथा सदैव के लिये बन्द होगई।

मेरा तो पहिले से ही विश्वास है कि दयामयी दुर्गा तो सब जीवों की माता है वह कदापि निरीह पशु की हिंसा से प्रसन्न नहीं हो सकती।

—शम्भूनाथ मिश्र

एक बार अपनी मित्र मण्डली के साथ चित्रकूट जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वनवासी भगवान श्री राघवेन्द्र सरकार की चरण-धूलि से पावन स्थलों को देखकर और वहाँ की पुनीत गाथाओं को सुनकर नेत्र और श्रवण पवित्र हुए। चित्रकूट के आस-पास कई मील तक तीर्थों के दर्शन हैं उन्हीं में सरभंग का स्थान भी है। उस स्थान के दर्शनों की तीव्र लालसा लिये हमारी मित्र मण्डली एक युवा भील के पथ प्रदर्शन में आगे चली। मार्ग में दूर-दूर तक लम्बी लम्बी घास थी। सबसे आगे मैं चल रहा था। दुर्भाग्य से हमारा मार्ग-दर्शक भील, अपने गन्तव्य पथ को भूल कर भटक गया। हम लोग निराश हुए कि अब सरभंग स्थान के दर्शनों से वञ्चित रहेंगे। कदाचित् मार्ग मिल ही जाय इसी आशा से चलते रहे। सहसा एक ऐसे स्थान पर पहुँचे जहाँ आगे का मार्ग लम्बी घास से पूर्ण आच्छादित था। चलते चलते मेरे पैर यकायक एक स्थान पर ठिठक गये और ऐसा प्रतीत हुआ जैसे पृथ्वी ने उन्हें जकड़ लिया हो। कोई अज्ञात शक्ति जैसे बरबस मुझे रोक रही थी कि इससे आगे मत बढ़ो। साथी मित्र कहते थे, आगे चलिये। कई क्षणों तक किंकर्त्तव्य विमूढ़ सा खड़ा रहा। किसी आन्तरिक प्रेरणा से कदम दूसरी ओर उठ गये और कुछ दूर आगे घुमाव पर पहुँच कर देखा तो हम सब आश्चर्य और भय से अवाक् रह गये। जहाँ पर मैं सहसा रुक गया था उसके एक कदम आगे ही एक बहुत गहरा खड्ड था। यदि आगे पैर उठ जाते तो हड्डी पसली का भी पता न चलता। भील युवक ने कहा यह खाई तो बहुत गहरी है सुनते हैं कि यहाँ पर भगवान ने किसी राक्षस का वध किया था इस राक्षस ताल में गिर कर बहुत से प्राणियों ने अपने जीवन से हाथ धोये हैं। भगवान की कृपा से ही आप बच गये। मेरे शरीर में रोमांच हुआ दयामय प्रभु की इस अहैतुकी और अज्ञात कृपा से रोम रोम पुलकित हो गया। आखों ने प्यारे प्रभु के अलक्षित पावन चरणों में आँसुओं की श्रद्धांजलि अर्पित की। उस दिन से भगवान की कृपा में मेरा अटूट विश्वास है। न जाने किस रूप में और कैसे उनकी असीम कृपा हमारी रक्षा करती रहती है जिसे हम अपने चर्म चक्षुओं से देख नहीं पाते।

—कृष्णदेवनारायण एडवोकेट

सम्मति

यद्यपि मैं 'परमार्थ' का कई वर्षों से ग्राहक हूँ, कल्याण का भी पुराना ग्राहक हूँ। आपने अपनी 'परमार्थ पत्रिका' में सितम्बर सन १९५४से "आध्यात्मिक संस्मरण" नामक जो नवीन स्तम्भ आरम्भ किया है इससे मैं बहुत प्रभावित हुआ हूँ मुझे यह स्तम्भ अत्यंत रोचक लगा। इससे पत्र की रोचकता बढ़ गई है व नवीनता का संचार हुआ है। पाठकों की आध्यात्मिकता बढ़ेगी और दैवी सम्पत्ति के प्रसार को प्रोत्साहन मिलेगा, पत्र की सार्थकता प्रमाणित होगी। आध्यात्मिक पत्रिकाओं में समय-समय पर नवीनता प्रसारित करने की ओर सम्पादक का ध्यान अवश्य होना ही चाहिये। इस नवीनता के लिये आपको हार्दिक बधाई भेजता हूँ। मैंने अपने हृदय की प्रसन्नता के कारण—आपको इस बधाई का पात्र जानकर—यह आवश्यक समझा कि मैं लाल स्याही से पत्र लिखकर इसके महत्व को आप पर प्रदर्शित करूँ। —महेन्द्रप्रतापसिंह राठौर

मानव में दोष-दर्शन की दृष्टि स्वतः विद्यमान है, पर वह प्रमादवश उसका उपयोग अपने जीवन पर न करके अन्य पर करने लगता है जिसका परिणाम बड़ा ही भयंकर एवं दुखद सिद्ध होता है। पराये दोष देखने से सबसे बड़ी हानि यह होती है कि प्राणी अपने दोष देखने से वंचित होजाता है और मिथ्याभिमान में आबद्ध होकर हृदय में घृणा उत्पन्न कर लेता है। यद्यपि हृदय प्रीति का स्थल है घृणा का नहीं—पर ऐसा तभी सम्भव है जब मानव पराये दोष न देखकर अपने दोष देखने में सतत प्रयत्नशील बना रहे। अपने तथा पराये दोष देखने में एक बड़ा अन्तर यह है कि पराये दोष देखते समय हम दोषों से सम्बन्ध जोड़ लेते हैं जिससे कालान्तर में स्वयं दोषी बन जाते हैं; पर अपना दोष देखते ही हम अपने को दोषों से असंग कर लेते हैं जिससे स्वतः निर्दोषता आ जाती है जो सभी को प्रिय है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि दोष-दर्शन की दृष्टि का उपयोग केवल अपने ही जीवन पर करना है किसी अन्य पर नहीं।

× × ×

हम जिनके साथ रहते हैं उनकी बात पर विश्वास न करके अपना विश्वास खो बैठते हैं और फिर दुःखी होकर कहने लगते हैं कि हमारी बात का कोई विश्वास नहीं करता। परस्पर में अविश्वास होने से बड़ी उलझनें उत्पन्न हो जाती है—जीवन कलह का केन्द्र बन जाता है—अपना असत्य सत्य और दूसरों का सत्य असत्य प्रतीत होने लगता है और जीवन में खिन्नता, नीरसता एवं उत्साह हीनता आदि अनेक विकार भर जाते हैं। इस भयंकर परिस्थिति का परिवर्तन करने के लिये हमें अपनी प्रत्येक चेष्टा द्वारा सत्यता, मधुरता प्रियता एवं हित चिन्तन का परिचय देना चाहिये और अपने साथियों के असत् और कटुतापूर्ण व्यवहार की आलोचना न करते हुये, उनकी इच्छानुसार जैसा वे कहें सुन लेना चाहिये, जिससे उन्हें विश्वास हो जाय कि हमारी बात सहर्ष सुन ली जाती है। कुछ ही दिन में हमारे साथी अपने स्वभाव को स्वतः बदलने लगेंगे। यद्यपि हमें किसी के असत्य का अनुसरण नहीं करना है तथापि अपने सत्य के समान ही उसका आदर अवश्य करना है; क्योंकि किसी के असत्य को असत्य कहने का हमें अधिकार ही नहीं है। यदि कोई अपने असत्य को सत्य प्रकाशित करता है तो हमें हर्ष पूर्वक सुन लेना चाहिये, उसका अनादर पूर्वक कटुता पूर्ण उत्तर नहीं देना चाहिये। इसका परिणाम यह होगा कि उसका असत्य उसे स्वयं दीखने लगेगा और फिर वह बेचारा स्वतः ही विवश होकर असत्य का त्याग करने लगेगा क्योंकि अनादर के भय से ही प्राणी असत्य को

सत्य सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। हमारे आलोचक स्वभाव से हमारे साथ ही हमारे सत्य का अनादर और अपने असत्य का प्रतिपादन करने लगते हैं और इससे परस्पर संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। यदि हमें ठीक-ठीक सत्य का दर्शन होगया है तो हमें चाहिये कि हम साथी के असत्य को असत्य न कह कर उसे सत्य को देखने की दृष्टि प्रदान करें जिससे वह स्वयं अपने असत्य को देखकर अपने को सत्यार्थी बनाने के लिये तत्पर हो जाय।

※ प्रार्थना ※

दयामय ! जीवन-ज्योति जगा दो !
मन में उठे शोक-सागर की—
लहरों में मुस्कादो !
जीवन-ज्योति जगादो !!
दुःख-निशा का घोर अँधेरा।
तन-मन प्राण विकल उर मेरा।।
चिर विषाद की घनी कालिमा—
में तुम दीप जलादो !
जीवन-ज्योति जगादो !!
माया के ज्वर से पीड़ित हूँ,
असंतोष अशान्ति-ग्रसित हूँ।
शून्य-जगत के अन्तराल में—
निज सुषमा सरसादो !
जीवन ज्योति जगादो !!
सब आशाएँ छोड़ चुका हूँ,
जग के बन्धन तोड़ चुका हूँ।
शुष्क हृदय के कण-कण में—
अब अमृत-रस बरसादो !
जीवन-ज्योति जगादो !!
पग-पग पर काँटे बिखरे हैं,
प्रभो ! दीन-जन हम उलझे हैं।
कृपा-दृष्टि से हम सबके—
चुभते शूल मिटादो !
जीवन-ज्योति जगादो !!
प्रेम-भिखारी बनकर आया,
उर की भेंट चढ़ाने लाया,
हे करुणाकर ! देव हमारे—
अब तो निज भिक्षा दो !
जीवन-ज्योति जगादो !!

'—मलयज'

इच्छा शक्ति के चमत्कार

सफलता पाने के लिये कुछ ही रास्ते हैं उन्हीं रास्तों से लोग विजयी हो सकते हैं आप में दृढ़ इच्छा-शक्ति होनी चाहिये। आपको किसी काम से घृणा नहीं करनी चाहिये किसी भी ईमानदारी से किये गये काम से आपकी जाति घट नहीं सकती। ऊँचे कुल का लड़का बढ़ई का काम करने से बढ़ई नहीं हो जाता। क्या तुम बाधाओं का सामना कर सकते हो? क्या तुम नाकामयाब होने पर भी नाकामयाबी के कारणों को ढूँढ कर फिर से आगे बढ़ने के इच्छुक हो? क्या तुम अपने पैरों पर अपने को खड़ा करने की ताकत रखते हो? क्या तुम मनुष्य के महान भविष्य पर विश्वास करते हो? यदि हाँ, तो तुम्हारे मार्ग को गरीबी रोक नहीं सकती! भूख और प्यास तुम्हारी आकांक्षाओं को दबा नहीं सकती, धन और सहायता की कमी तुम्हारे उत्साह को नष्ट कर नहीं सकती, जनता की हँसी और मजाक से तुम अपने कार्यों को छोड़ नहीं सकते। तुम्हारे स्वागत के लिये कहीं दूरी पर नकली बादलों की ओट में छिपे हुए मन्दिर में सफलता की देवी खड़ी है; केवल दृढ़ता से उस ओर बढ़ने भरकी जरूरत है!

—स्वेट मार्डेन

प्राणायाम के अनुभूत प्रयोग

(श्री स्वामी शिवानन्द जी सरस्वती)

प्राणों पर विजय प्राप्त कीजिए

प्राणायाम के अभ्यास से योगी यथेष्ट रूप से प्राणों का संचय करता है।

यदि आप प्राणों को जीत सकते हैं तो आप विश्व की सम्पूर्ण शक्तियों पर विजय प्राप्त कर सकते हैं।

यदि आप प्राण को वश में कर लेंगे तो मन भी सहज ही वश में हो जायगा।

प्राण, मन और वीर्य में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है।

यदि आप शुक्र (वीर्य) शक्ति को वश में कर सकते हैं तो आप मन और प्राण को भी वश में कर सकते हैं।

यदि प्राण वश में हो गया तो फिर सब इन्द्रियाँ स्वयं ही वश में हो जायंगी।

श्वास प्राण का वाह्य प्रकट रूप है।

संसार में जो शक्तियाँ हैं वे सब प्रलयकाल के पुनः अन्त में महाप्राण में लय हो जाती हैं।

प्राण गति, आकर्षण-शक्ति और विद्युत् शक्ति को व्यक्त करता हैं।

नाड़ी-प्रवाह और विचार-शक्ति प्राण के व्यक्त स्वरूप हैं।

प्राणायाम क्या है?

प्राण का निरोध प्राणायाम है।

श्वास के रोकने से प्राण वश में होता है।

श्वास के अन्दर खींचने को पूरक कहते हैं। श्वास धारण को कुम्भक कहते हैं। श्वास बाहर निकालने को रेचक कहते हैं।

पूरक और रेचक के अन्तर को कुम्भक कहते हैं।

प्राणायाम स्त्री-पुरुष के लिये चाहे वे पूर्वीय देश के हों या पाश्चात्य देश के सब के पूर्ण रूप से अनुकूल है।

दिन में (चौबीस घंटे) कुल श्वास की संख्या २१६०० है। साधारणतया प्रत्येक व्यक्ति एक मिनट में १५ श्वास लेता है। कुम्भक के द्वारा श्वास रोकने से आयु बढ़ती है।

आरम्भ में पूरक और रेचक से कोमल प्राणायाम ही कीजिये।

पहला अभ्यास

किसी भी सुखासन में बैठ जाइये। मस्तक, ग्रीवा और शरीर को एक सीध में रखिये। दाहिने अंगूठे से दाहिनी नासिका को बन्द कर दीजिये। बाईं नासिका से श्वास को धीरे-धीरे सुख पूर्वक जितनी देर तक खींच सकें बहुत अन्दर खींचिये। फिर धीरे-धीरे उसी नासिका से श्वास को बाहर निकाल दीजिये। इस प्रकार छः बार कीजिये। यह एक चक्र है।

दाहिने हाथ की कनिष्ठिका और अनामिका के द्वारा अपनी बाईं नासिका को दबाइये और दाहिनी नासिका से धीरे-धीरे श्वास अन्दर खींचिये और

बाहर निकालिये। इस प्रकार छः बार कीजिये। यह एक चक्र है। इस प्रकार आप बारी-बारी छः चक्र कर सकते हैं और फिर उन्हें धीरे-धीरे ३० तक बढ़ा सकते हैं।

दूसरा अभ्यास

दोनों नासिकाओं से धीरे-धीरे सुख पूर्वक श्वास को अन्दर खींचिये। श्वास को अन्दर न रोकिये। इस प्रकार छः बार कीजिये। यह चक्र है। इस अभ्यास के तीन या चार चक्र आप नित्य कर सकते हैं।

तीसरा अभ्यास

बांई नासिका से श्वास को अन्दर खींचिये और दांई नासिका से धीरे-धीरे बाहर निकाल दीजिये। श्वास को भीतर न रोकिये।

फिर दाहिनी नासिका से श्वास अन्दर खींचिये और बांई से बाहर निकाल दीजिये। इस प्रकार बारी बारी से छः बार दुहराइये। यह एक चक्र है। ऐसे तीन या चार चक्र कर सकते हैं।

चौथा अभ्यास

एक महीने के पश्चात श्वास को जितना सुख पूर्वक रोक सकें अन्दर रोकिये। यह कुम्भक है।

बांई नासिका से श्वास को धीरे धीरे खूब अन्दर खींचिये, जितना सुख पूर्वक रोक सकें अन्दर रोकिये फिर धीरे धीरे दांई नासिका से बाहर निकाल दीजिये।

दांई नासिका से श्वास धीरे-धीरे अन्दर खींचिये, जितना हो सके सुख पूर्वक अन्दर रोकिये और फिर बांई नासिका से धीरे-धीरे बाहर निकाल दीजिये। इस विधि को बारी बारी से दुहराइये। यह सुख पूर्वक प्राणायाम हुआ। इसका अभ्यास आप नित्य कर सकते हैं। बारह चक्रों से आरम्भ कीजिये और धीरे-धीरे अपनी सुविधा के अनुसार की संख्या बढ़ाते जाइये।

कुम्भक से दीर्घ जीवन प्राप्त होता है, परन्तु इसका अभ्यास धीरे-धीरे करना चाहिये।

सुख पूर्वक प्राणायाम का अनुपात १:४:२ है जो धीरे धीरे १६:६४:३२ तक बढ़ाया जा सकता है।

एक मिनट से अधिक श्वास को भीतर न रोकिये।

आरम्भ में अनुपात के अनुसार चलने का प्रयत्न न करें। ज्यों-ज्यों आपका अभ्यास बढ़ता जायगा अनुपात अपने आप ही आने लगेगा।

पांचवां अभ्यास—शवासन प्राणायाम

पीठ के बल लेट जाइये। शरीर और मन को शिथिल कर दीजिये। गहरी श्वास लीजिये। श्वास को सुख पूर्वक अन्दर रोकिये और धीरे धीरे बाहर निकाल दीजिये। श्वास को अन्दर खींचते, रोकते और बाहर निकालते समय ओ३म् का मानसिक जप कीजिये। आप पूर्ण आनन्दित हो जायंगे।

छठा अभ्यास—भस्त्रिका

किसी भी सुखासन से बैठ जाइये, दस सेकण्ड तक खूब जोर जोर से पूरक और रेचक कीजिये, फिर गहरी श्वास लीजिये और धीरे धीरे बाहर निकाल दीजिये। यह एक चक्र है। ऐसे छः चक्र कीजिये।

भस्त्रिका गर्मी उत्पन्न करता है। अतः इसे शीत काल में करना चाहिये।

इस प्राणायाम के अभ्यास से दमा, क्षय तथा फेफड़े के अन्य रोग दूर होते हैं।

सातवां अभ्यास—कपालभाति

कपालभाति भस्त्रिका के सदृश ही है, परन्तु इसमें रेचक करते समय श्वास को एकदम झटके के साथ बाहर निकाल दिया जाता है।

वह श्वास सम्बन्धी नाड़ियों को नूतन बना

देता है। इसमें भी उन्हीं रोगों के हटाने की शक्ति है जो भस्त्रिका में हैं।

आठवां अभ्यास—उज्जायी

दोनों नासिकाओं से धीरे धीरे एक ही प्रकार से पूरक कीजिये जितना सुख से रोक सकें श्वास को अन्दर रोकिये और फिर दोनों नासिकाओं से धीरे धीरे बाहर निकाल दीजिये। पूरक और रेचक करते समय कण्ठ को कुछ कुछ बन्द करना चाहिये एक सामान्य और मधुर आवाज निकलेगी। यही उज्जायी है।

यह मस्तक की गर्मी को दूर करता है। इससे जठराग्नि बढ़ती है। कण्ठ और फेफड़े के रोग भी दूर होते हैं।

नवां अभ्यास—शीतकरी

अपनी जिह्वा को इस प्रकार मोड़िए कि उसका अग्रभाग ऊपर के तालू से जा लगे, फिर सी-सी की आवाज करते हुये हवा को मुंह के द्वारा भीतर भरिए। श्वास को रोकिए और फिर धीरे धीरे दोनों नासिकाओं से बाहर निकाल दीजिये। यही शीतकरी प्राणायाम है।

आप दांतों को अच्छी तरह से दबा कर भी मुंह के द्वारा श्वास को अन्दर खींच सकते हैं फिर उसे यथाशक्ति अन्दर रोककर नासिका द्वारा बाहर निकाल दें।

शीतकरी शरीर को ठण्डा रखता है। इसका अभ्यास ग्रीष्म ऋतु में किया जा सकता है। यह भूख, प्यास निद्रा और तन्द्रा को दूर करता है।

दसवां अभ्यास—शीतली

अपनी जिह्वा को ओष्ठों के बाहर फैला लीजिये नली की तरह मोड़िये और मुंह से सी सी की आवाज करते हुये हवा अन्दर भरिये, श्वास को यथाशक्ति अन्दर रोकिए और फिर धीरे धीरे नासिका द्वारा बाहर निकाल दीजिये।

शीतली से भी शरीर ठन्डा रहता है। यह रक्त को शुद्ध करता है। इसके प्रभाव भी शीतकरी के सदृश ही हैं।

ग्यारहवां अभ्यास—सूर्यभेद

बांई नासिका से पूरक कीजिये। दोनों नासिकाओं को बन्द कर लीजिये। सुख पूर्वक श्वास को अन्दर रोकिए। फिर धीरे धीरे रेचक कीजिये। कुम्भक का समय शनैः शनैः बढ़ाना पड़ेगा।

सूर्यभेद प्राणायाम मस्तिष्क के कोषाणुओं को शुद्ध कर उन्हें बल प्रदान करता है तथा अंतड़ियों के कृमि-समूह को नाश करता है।

बारहवां अभ्यास—बंधत्रय प्राणायाम

यह मूल, जालंधर और उड्डियान तीनों बंधों का एक जुट है। इसका अभ्यास सिद्धासन से बैठ कर प्राणायाम के समय किया जाता है। पूरक करते समय गुदाद्वार को रोकिये (मूलबन्ध)। कुम्भक करते समय ठोड़ी को छाती से चिपका दीजिये (जालंधर-बंध)। फिर मस्तक को ऊपर उठाइये, रेचक कीजिए और उदर को इस प्रकार अन्दर खींचिये कि वक्षस्थल की गुहा से जा लगे (उड्डियान)। ऐसे दस चक्रों का अभ्यास कीजिये।

बन्ध-त्रय प्राणायाम उदर के रोगों का नाश करता है। यह ब्रह्मचर्य के पालन में सहायता प्रदान करता है तथा बवासीर के रोग को नाश करता है।

तेरहवां अभ्यास—केवल कुम्भक

कुम्भक दो प्रकार का होता है अर्थात् सहित और केवल। जो पूरक और रेचक (जैसे सुख पूर्वक में) से जुड़ा रहता है वह सहित कुम्भक कहलाता है और जो इनसे रहित है वह केवल कुम्भक कहलाता है।

जब सहित कुम्भक पर पूरा अधिकार हो जाय तो फिर आप केवल कुम्भक का अभ्यास कीजिये। यथोचित समय के अभ्यास के बाद बिना पूरक व रेचक के अपने आप ही कुम्भक होने लगेगा।

चौदहवां अभ्यास—गहरी श्वास

खुली हवा में सुख से खड़े हो जाइये। हाथ को

जंघाओं पर रख लीजिये। शरीर के ऊपरी भाग को फैलाइए। छाती को सीधे ऊपर की ओर तानिए। फिर बहुत धीरे धीरे रेचक कीजिये।

यह अभ्यास फेफड़े व हृदय के रोगों को दूर करता है।

अभ्यास नम्बर दो की नाईं घूमते समय भी मन्द-मन्द गहरी श्वास लेने का अभ्यास किया जा सकता है।

प्राणों के द्वारा व्याधि-दमन

जो लोग प्राणायाम का अभ्यास करते हैं वे प्राणों को शरीर के पीड़ित भाग में संचालित कर अनेक व्याधियों को हटा सकते हैं। रोग नाश का संकल्प तीव्र इच्छा-शक्ति के साथ प्रभावित रहता है

रोगी के पास बैठ जाइए। आँखों को बन्द कर लीजिये। धीरे धीरे पूरक कीजिये। फिर श्वास को भीतर रोक लीजिये और प्राण को रोगी के रोग पीड़ित भाग से जुटाइए। वहाँ पर अपने मन को एकाग्र कर दीजिए और ओ३म् का मानसिक उच्चा-रण करते रहिये। उत्साह पूर्वक मन में धारणा करते जाइये कि प्राण रोगग्रस्त नाड़ियों में घुस रहा है और रोग का नाश कर रहा है।

जब आप स्वयं बीमार हो जायं तो अपने लिये भी ऐसा कर सकते हैं।

दूरस्थ रोगों का दूर करना

आप अपने ध्यान के कमरे में अकेले बैठ जाइये और जिस दिशा में रोगी रहता है ठीक उसी दिशा की ओर अपने प्राणों का संचालन कर वही विधान बार बार दुहरायें जो प्राणों के द्वारा व्याधि दमन नामक अभ्यास में ऊपर बताया गया है।

रोगी के साथ समय नियुक्त कर लीजिये। रोगी को पहले ही कह दीजिये कि जिस विशेष समय पर आप अपने प्राणों का उस पर प्रयोग कर रहे हैं उस समय वह भी आपके विचारों को ग्रहण करते रहने की मानसिक स्थिति बनाये रक्खे।

'प्राणों के द्वारा व्याधि दमन' नामक प्रयोग के लिये ब्राह्म-मुहूर्त्त का समय सबसे श्रेष्ठ है।

साधारण संकेत

प्राणायाम का अभ्यास नित्य प्रातःकाल में बहुत तड़के खाली पेट करना चाहिये।

प्राणायाम करते समय किसी भी स्थिति में कुछ भी परिश्रम नहीं करना चाहिये। आपको शान्ति तथा आनन्द ही आनन्द प्रतीत होना चाहिये।

पूरक या कुंभक करते समय तनिक भी आवाज नहीं होनी चाहिये।

जिस कमरे में आप प्राणायाम करें वह कमरा गीला नहीं होना चाहिये और न उसमें गन्दी वायु का प्रवेश ही हो। वह सूखा व हवादार होना चाहये।

आप किसी नदी या झील के पास, बगीचे के कोने में तथा किसी भी खुले स्थान में जब कि ठंडी हवा का झोंका न चलता हो, प्राणायाम कर सकते हैं

जिस दिन गर्मी अधिक हो प्राणायाम का अभ्यास न करें।

यदि आपको पसीना हो तो उसे अंगोछे से न पोंछ कर अपने हाथ से उसे अपने शरीर पर ही मल दीजिये। इससे आपका शरीर दृढ़ और हलका रहेगा।

ध्यान आरम्भ करने के पहले कुछ प्राणायाम के चक्रों का अभ्यास कीजिये।

साधारण लाभ

प्राणायाम के अभ्यास से रजोगुण और तमोगुण जो सतोगुणको आच्छादित करते हैं, दूर हो जाते हैं और मन एकाग्रता के योग्य हो जाता है।

प्राणायाम के अभ्यास से शरीर के रोग नष्ट हो जाते हैं तथा वह शरीर की नाड़ियों, ज्ञान-तन्तुओं को तरो-ताजा बना देता है।

प्राणायाम स्मरण शक्ति को बढ़ाता है तथा बुद्धि को तीव्र करता है।

प्राणायाम प्रबल वृत्तियों को शान्त करता है तथा मन और इन्द्रियों की बहिर्मुखी वृत्तियों को रोकता है।

जो प्राणायाम का अभ्यास करता है वह तीव्र क्षुधा, प्रसन्नता, शरीर का हलकापन, सुन्दर आकृति, पूर्णबल उच्च प्रकार का स्वास्थ्य, शौर्य तेज और मन की एकाग्रता प्राप्त करता है।

आदर्श मानव

(ताराचन्द्र पण्ड्या)

दुःख क्षुब्ध जीवन-अब्धि में, छोड़े न जो मुसकान को ।
सुख में न भूले भाग्य-छल को, मौत के तूफ़ान को ।।
मन इन्द्रियाँ रखता सदा जो, आत्म के अधिकार में ।
वह वीरवर आदर्श नर है, धन्य है संसार में ।

निज ज्ञान को जिसने न बेचा, स्वर्ण के बाज़ार में।
जिसकी रमी है बुद्धि केवल, मुक्ति के सुविचार में ।।
जो मानता है स्वार्थ अपना, अन्य के उपकार में ।
वह वीरवर आदर्श नर है, धन्य है संसार में ।।

अभिलाष जिस नर-जन्म की, सुर-वृन्द भी करते सभी ।
उसको विनश्वर वस्तुओं में, जो न खोता है कभी ।।
अमरेन्द्र से जो है बड़ा, सद्ज्ञानयुत आचार में ।
वह वीरवर आदर्श नर है, धन्य है संसार में ।।

जो ना बनाता दास पर को, ना किसी का दास है ।
है प्रेम जिसका अपरिमित, अविकार ज्यों आकाश है ।।
आनन्द को जो खोजता है, आत्म के भण्डार में ।
वह वीरवर आदर्श नर है, धन्य है संसार में ।।

जिसकी अपावन देह पावन, दीन सेवा से बनी ।
हितकर, मधुर जिसकी गिरा है, प्रेम अमृत से सनी ।।
मन, वच, करम हैं एक जिसके, सत्य के दरबार में ।
वह वीरवर आदर्श नर है, धन्य है संसार में ।।

कुछ मननशील वाणी

(लेखक—'शंकर')

सौन्दर्य प्रेम

"यदि सौन्दर्य से ही प्रेम करना है तो परमेश्वर के सौन्दर्य से प्रेम करो, सांसारिक सौन्दर्य से नहीं। परमेश्वर का सौन्दर्य महान् है, अतुल है और है अनिर्वचनीय। उसके सौन्दर्य से प्रीति करने से मोक्ष प्राप्त हो सकता है किन्तु सांसारिक-सौन्दर्य से नर्क।"

× × ×

जीवन सफल किसको हुआ ?

"जिसने परमात्मा को जान लिया, उसकी सत्ता को समझ लिया और माया को त्याग कर वैराग्य की ओर प्रेरित हो गया।"

× × ×

परमार्थ

'मानव का परम-धर्म है मोक्ष की प्राप्ति' मोक्ष की प्राप्ति के लिये उसे माया का त्याग करना है। माया-त्याग और ईश्वर-भक्ति का ही नाम परमार्थ है।'

× × ×

कल्याण करो

दूसरों के कल्याणार्थ यदि तुम्हें क्षति भी पहुँचे तो उसे श्रद्धापूर्वक सहन कर लो।

ऐसा करने से परमेश्वर प्रसन्न होता है।

× × ×

अहङ्कार

जो अपनी शक्ति पर घमण्ड करते हैं उन्हें नीचा अवश्य देखना पड़ता है।

अहङ्कार ही अप्रगति का मूल श्रोत है।

× × ×

कामना अविरल है।

कामना भोग से कभी शान्त नहीं होती वह तो निरन्तर बढ़ती जाती है जिस प्रकार अग्नि में घृत डालने से अग्नि बढ़ती है।

× × ×

पाप

पापी पैदा नहीं होते वरन् पाप कर्मों को अपनाने से पापी कहलाते हैं।

× × ×

सच्चा परोपकार

"यदि तुमने परोपकार किया है तो आत्म-प्रशंसा न करो वरन् उसे सदैव के लिये भूल जाओ।"

ऐसा करने से भगवान् शुभ फल देता है।

× × ×

बुद्धिमानी।

यदि नीचे गिरो तो स्वयं को दोष दो किन्तु यदि उन्नति हो तो ईश्वर को धन्यवाद दो और उसके गुण गाओ।

× × ×

भले कार्य तुरन्त करो।

यह मायावी संसार क्षणभंगुर है, नाशवान और अनित्य है। इसमें एक क्षण का भी भरोसा नहीं। अतएव जो कल्याण के काम हैं अथवा शुभ हैं उन्हें तुरन्त कर डालना चाहिये।

× × ×

वाक्-संयम

जहाँ तक हो कम बोलो, अधिक बोलने से मिथ्या बोलने की आदत हो जाती है। मिथ्या-भाषण एक महान् पाप है, ऐसा शास्त्रों ने बताया है। अतः वाणी का संयम भी मानवोन्नति का एक प्रमुख साधन है।

प्रारब्ध और पुरुषार्थ

पूज्य श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज

प्रायः अधिकांश मनुष्यों की ऐसी धारणा होती है कि "भगवान् जैसा चाहते हैं वैसा ही जीव करता है, उसी की मर्जी से संसार में सब कुछ हुआ करता है, प्रारब्ध में जो लिखा है वैसा होकर रहेगा"। 'राई घटे न तिल बढ़े' "मनुष्य की क्या सामर्थ्य है जो कुछ कर सके ....।" इसी प्रकार के विचारों का समर्थन करता हुआ मनुष्य सिद्धान्त की बातों का सदुपयोग न करके अधिकतर दुरुपयोग ही करता है। यही कारण है कि आज अकर्मण्यता और भाग्यवाद का अधिक बोलबाला है। अपनी मिथ्या मान्यताओं के समर्थन में ऐसे लोग रामायण आदि सद्ग्रन्थों के उदाहरण भी अपनी दलील में रखते हैं—"होइहि सोइ जो राम रचि राखा" "राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई" "अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।" आदि। भाग्य के भरोसे बैठे रहने वाले ऐसे लोग तकदीर की बाट जोहते हुये तदबीर को एक किनारे रख देते हैं। किन्तु वही लोग कभी कभी ऐसा भी कहते हैं कि "हम अगर ऐसा न करें तो घर का काम कैसे चले, गृहस्थी की पूर्ति कैसे हो"? इस प्रकार परस्पर विरोधी विचारों को शास्त्रों के प्रमाणों से पुष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। अर्थात् जिस उदाहरण की जिस स्थान पर आवश्यकता है वहाँ पर न देकर उसके विपरीत पक्ष के समर्थन में प्रयोग करते हैं। ऐसी व्यापक एवं भ्रामक धारणाओं की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप आज का मानव आलस्य और प्रमाद का गुलाम बन गया। हमें इस समस्या पर गम्भीरता पूर्वक विचार करना चाहिये।

यदि वास्तव में उपरोक्त बातों को ही प्रत्येक स्थिति में सत्य माना जाय तो फिर मनुष्य शरीर की महिमा और महत्त्व ही क्या? "बड़े भाग मानुष तनु पावा" वाली उक्ति तो व्यर्थ ही हो जायगी! परलोक-सुधार के लिये 'देव-दुर्लभ' अथवा 'साधन धाम' कहने की बात तो कुछ और ही संकेत कर रही है। हमारे पूर्वज मनीषियों एवं एकान्त-साधन निरत संत महापुरुषों ने अपनी अनुभूति को सद्ग्रन्थों और शास्त्रों के द्वारा सुस्पष्ट रूप से बताया है कि मोक्ष की प्राप्ति अथवा परलोक का सुधार तो मानव योनि में ही संभव है किन्तु भाग्य के भरोसे में न तो परलोक ही सुधर सकता है और न अपने हाथ पैर हिलाए बिना भगवान् ही कुछ कर सकते हैं। इसी प्रकार के लोगों को सावधान करने के लिये ही कदाचित पूज्यपाद गोस्वामी जी को लिखना पड़ा—

सो परत्र दुःख पावइ सिर धुनि-धुनि पछिताय।
कालहि कर्महि ईश्वरहि मिथ्या दोष लगाय॥

सिर धुन-धुनकर पछताने का अर्थ है, जो करना चाहिये था वह नहीं किया। अथवा जैसे कोई चलनी में दूध दुह कर अपने भाग्य की परीक्षा करे। यह बातें भी इसी प्रकार की हैं। चलनी में दूध दुहने से पहिले उसे सोचने के लिये भगवान ने बुद्धि तो दे ही दी थी कि चलनी में तो अनेक छेद हैं, इसमें दोहन करोगे तो सारा दूध पृथ्वी पर ही गिरेगा। इतने पर भी वह यदि कहता है कि दूध तो मेरे भाग्य में है ही नहीं, तो फिर यह उसकी मूर्खता नहीं तो क्या?

गहराई तक विचार करने से हम इसी निश्चय पर पहुँचेंगे कि हमें सबसे पहिले अपने कर्मों का

सुधार करना चाहिये। इसीलिये अध्यात्मवाद ने अन्तःकरण की शुद्धि को ही प्राथमिकता दी है। अन्तःकरण यदि अशुद्ध है तो कर्म भी अशुद्ध होंगे जिनका परिणाम दुःख अवश्यंभावी है। ठीक इसी प्रकार शुभ कर्मों का फल भी सुख के रूप में परिणत होकर मनुष्य के सामने आता है। भगवान श्रीकृष्ण ने अपने प्रिय सखा अर्जुन को समझाते हुए कहा प्यारे अर्जुन! यह मानव-शरीर तो कर्मों की खेती है, इसमें शुभ और अशुभ रूप कर्म बोये जाते हैं, समय पर उनके फल तो प्रगट होंगे ही।

"इदं शरीरं कौन्तेय, क्षेत्रमित्यभिधीयते"

गीता के इस उपदेश से भी विदित होता है कि मनुष्य स्वयं ही अपने सुख और दुख का आवाहन अपने कर्मों के द्वारा ही करता है। अर्थात् भगवान ने जो चाहा वह नहीं वरन् हमने जो चाहा वही हमें मिला। इसीलिये वैदिक-सनातन-धर्म ने पग-पग पर मनुष्य को सावधान किया है कि संत सद्गुरु एवं वेद और शास्त्रों की आज्ञा के अनुसार ही अपना जीवन बनाना चाहिये।

यः शास्त्रविधि मुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धि मवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

शास्त्र-मर्यादा के विरुद्ध मनमुखी चलने से मन इन्द्रियों को भले ही क्षणिक सुखों का आभास मिल जाय किन्तु वस्तुतः उसका लोक और परलोक दोनों ही बिगड़ जाते हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। महर्षि वशिष्ठ ने भगवान श्रीराम को उपदेश करके कहा हे राम जी!—"सन्तों का संग करना और उनकी आज्ञा से मन-इन्द्रियों को चलाना ही पुरुषार्थ है। जो इस पुरुषार्थ का आश्रय न करके भाग्य के भरोसे बैठा रहता है वह मनुष्यों में गर्दभ है।

योग वाशिष्ठ में आगे बताया है—"हे राम जी! सूर्य और चन्द्र पुरुषार्थ से ही संसार को प्रकाशित करते हैं, ब्रह्मा भी पुरुषार्थ से ही सृष्टि की रचना करते हैं इसलिए तुम्हें पुरुषार्थ का आश्रय लेना चाहिये।" योग वाशिष्ठ में तो यहाँ तक बताया गया है कि जिस व्यक्ति के हाथों में चरणामृत लेने की भी शक्ति नहीं है वह भी यदि पुरुषार्थ का आश्रय ले तो पर्वत को भी चूर-चूर कर सकता है। पूज्यपाद गोस्वामी जी ने भी इसी के समर्थन में कहा कि:—

कर्म प्रधान विश्व रचि राखा।
जो जस करइ सो तस फल चाखा॥

अर्थात पुरुषार्थ का आश्रय लेने से, पूर्व संचित निषिद्ध कर्म-समूह के फलरूप खोटी प्रारब्ध को भी मेटा सकता है। पूर्व के संस्कारों को मेटने की शक्ति यदि मानव योनि में प्राप्त न होती तो फिर यह क्यों कहा जाता—

मंत्र महा मणि विषय व्याल के।
मेटत कठिन कुअंक भाल के॥

जैसे एक पिता के दो पुत्र हों, वह दोनों के बल की परीक्षा करने के लिये दोनों की कुश्ती करावे तो दोनों में जो बली होगा वही जीतेगा। इसी प्रकार प्रारब्ध और पुरुषार्थ जीव के दो पुत्र हैं। पूर्व के पुरुषार्थ का नाम ही भाग्य है। जैसे दूध से दही बनता है, दही से दूध नहीं बन सकता। इसी प्रकार अपने पुरुषार्थ से ही भाग्य बनता है, भाग्य से पुरुषार्थ नहीं बनता। ताजी रोटी तो बासी हो जाती है किन्तु बासी रोटी ताजी नहीं हो सकती।

इतिहास के पृष्ठों को आदि से अन्त तक देख

❀ अनमोल—बोल ❀

'पहले कहना और बाद में करना' इसकी अपेक्षा 'पहले करना और फिर कहना' अधिक अच्छा है; लेकिन सबसे अच्छा तो 'करके चुप रहना' ही है।

—श्री अरण्डेल

जाइए आपको सभी महापुरुषों के चरित्रों में पुरुषार्थ का ही मूल मंत्र मिलेगा। पुरुषार्थ के अभाव में सिद्धता की प्राप्ति नितान्त असम्भव है। महर्षि वशिष्ठ के वाक्य हैं कि "हे राम जी! जिस प्रकार केसरी सिंह बल करके पिंजड़े को तोड़ मुक्त हो जाता है, इसी प्रकार दांत पर दांत रखकर प्रबल पुरुषार्थ के आश्रय से भवसागर से मुक्त हो जाओ" तात्पर्य यह कि पुरुषार्थ के कारण ही मानव-शरीर की श्रेष्ठता है अन्यथा पशु और मनुष्य में कोई अन्तर नहीं।

कोई विद्यार्थी यदि पढ़ाई में परिश्रम न करके भाग्य के भरोसे बैठ जाय तो क्या वह उत्तीर्ण होजायगा? कदापि नहीं। किसान अपने भाग्य के भरोसे न खेत को जोते और न जोत कर बीज डाले तो कितना अनाज पैदा होगा? कुछ नहीं। कोई दुकानदार अपनी दुकान न खोल कर हाथ पर हाथ धरे बैठा रहे और कहे कि भगवान की इच्छा होगी तो आमदनी होजायगी, तो आप उसे क्या कहेंगे? इन उदाहरणों से स्पष्ट ही भाग्य की दलील थोथी और निस्सार प्रतीत होती है। प्रारब्ध और पुरुषार्थ का समन्वय करने के लिये विद्यार्थी को चाहिये कि जी तोड़कर परिश्रम करे, समय का दुरुपयोग न करके अपनी वृत्तियाँ पढ़ाई में लगावे और परीक्षा दे। फल प्रकट होने से पूर्व किसी के प्रश्न करने पर वह कह सकता है कि 'होइहि सोइ जो राम रचि राखा।' किसान अपने खेत को जोते, बोवे, समय पर सिंचाई करे तब फसल की तैयारी के पहिले कह सकता है 'भगवान जो चाहेंगे सो होगा।' इस प्रकार के समन्वय से ही दोनों बातों का ठीक-ठीक सदुपयोग समझना चाहिये। इसके विपरीत धारणा तो भ्रामक है, असत्य है और जीवन को दुखों के गर्त में ले जाने वाली है।

पुरुषार्थ को सदैव अपने आगे, और भाग्य को सदैव पीछे रखो, तभी यह मानव-जीवन सफल होगा। पुरुषार्थ के बाद ही भाग्य का नम्बर आता है, पहले नहीं। यदि पूर्व के खोटे प्रारब्ध के फल स्वरूप, प्रबल पुरुषार्थ करने पर भी प्रतिकूल फल मिले तो यह कहना उचित है कि 'हमारे भाग्य में ही ऐसा था'। किन्तु प्रतिकूलता की चोट खाकर भी यह कदापि नहीं सोचना चाहिये कि अब पुरुषार्थ करना व्यर्थ है, भाग्य में ही ऐसा है। मनुष्य की महानता तो इसी में है कि वह यदि गिरे तो गिर कर उठ खड़ा हो। भाग्य को पीछे रखने से मन में सन्तोष और विवेक की जागृति होगी। भाग्य को आगे रखने से दुख के अतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं लग सकता। पुरुषार्थ करने पर भी जब हमारे सामने दुख और कष्ट आवें तभी भाग्य की ढाल से उन्हें सहर्ष रोक देना चाहिये। इस प्रकार के प्रयोग से कर्म में प्रवृत्ति होगी और जीवन सुखमय बन जायगा। उल्टे प्रयोग के कारण ही आज संसार में दुःखों की बाढ़ आई है।

अस्तु, दृढ़ इच्छा-शक्ति से भाग्य की मिथ्या मान्यताओं को ठुकरा कर तत्परता से अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए आगे बढ़ो। भाग्य के भूत को पीछे घूम कर भी न देखो। तब निश्चय ही सफलता की देवी तुम्हारा अभिषेक करेगी और तुम्हारा यह मानव-जीवन धन्य बन जायगा। इस बात का सदैव ध्यान रखना कि कर्म करते हुए तुम्हें कर्त्तापन का अभिमान न होने पावे। यंत्रवत कर्मरत रहो तो निश्चय ही भगवान तुम्हें शक्ति प्रदान करेंगे और यह संसार तुम्हारे आगे नतमस्तक होजायगा।

भक्त और भगवान्

(पू० श्री स्वामी भजनानन्द जी महाराज)

चतुर मदारी के आश्चर्यजनक खेलों को देख देखकर दर्शक विस्मय विमुग्ध होकर खेल के प्रसंग के साथ ही हंसने और रोने लगते हैं। किन्तु मदारी के जमूड़े पर उसके खेलों का वैसा प्रभाव नहीं पड़ता। ठीक इसी प्रकार इस संसार रूपी नाट्यशाला में मदारी रूपी भगवान् की माया के खेलों से उनका अनन्य भक्त रूपी जमूड़ा कभी प्रभावित नहीं होता है। वह तो मदारी के जमूड़े की भाँति माया के खेलों को सहज उदासीन भाव से देखता रहता है। मानसकार पूज्यपाद गोस्वामी जी ने इसी बात का प्रतिपादन करते हुये कहा:—

नट कृत विकट कपट खगराया।
नट सेवकहिं न व्यापहि माया॥
शिव चतुरानन देखि डराहीं।
अपर जीव केहि लेखे माहीं॥

आश्चर्य है कि शिव और ब्रह्मादिक भी जिस माया से भयभीत हो जाते हैं, उसी बलवती माया से भगवान का भक्त प्रभावित नहीं होता। लीला-पुरुषोत्तम भगवान श्रीकृष्ण ने भी इसी भाव को व्यक्त करते हुये अपने प्रिय सखा अर्जुन को प्रोत्साहन दिया:—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

जमूड़ा जैसे न तो उस खेल को सच मानता है और न दर्शकों की आश्चर्य भावना को सत्य समझता है, इसी प्रकार भगवान् का भक्त भी माया को असत्य और माया में लिप्त संसार को भ्रमित कहता है। वह सत्य मानता है केवल मायापति भगवान् को, वह तो कहता है:—

मोरे सबुइ एक तुम स्वामी।
दीनबन्धु उर अन्तर्यामी॥

ऐसे अनन्य भावना वाले भक्तों पर ही माया अपना प्रभाव डालने में सदैव असमर्थ रही है।

सो नर इन्द्रजाल नहिं भूला।
जा पर होइ सो नट अनुकूला॥

माया की प्रबलता को मिथ्या और धोखे की टट्टी बताने पर भी जब प्रभु के प्यारे भक्त संसार को उसी में उलझते और सिर धुनते हुये देखते हैं तो वह 'पर दुख कातर' भी उनके दुःख से दुःखी बनकर उन्हें सावधान करने की चेष्टा करते हैं। जब कोई उनकी बात सुनकर भी उस पर अमल नहीं करता तो खीझ कर कहते हैं:—

जाहिलों की क्या कहें, लुट गये आकिल यहाँ।
तुमको जो सूझे सो करना कहना मेरा काम हैं॥

एक राजा साहब विदेशों का भ्रमण करने के बाद अपनी रियासत में लौटे। मुसाहिबों ने एक मदारी के करतबों की प्रशंसा की। राजा साहब, उस मदारी के खेल देखने के लिये उत्सुक हुए। मदारी बुलाया गया और खेल प्रारम्भ हुआ। कई खेल दिखाकर उसने राजा साहब तथा दर्शकों को अचम्भे में डाल दिया। एक नया खेल दिखाने के लिये उसने राजा साहब से उनकी कलाई में बंधी घड़ी माँगी। राजा ने घड़ी दे दी। वह घड़ी राजा साहब विलायत से बहुत मूल्य में लाये थे। मदारी ने उस घड़ी को सबके सामने पत्थर पर रख

कर चूर-चूर कर दिया। बहुमूल्य घड़ी की ऐसी दुर्दशा देख राजा साहब बहुत क्रुद्ध होकर मदारी को भला-बुरा कहने लगे। राजा को कुपित देखकर मदारी ने हंसते हुए कहा—श्रीमान् जी ! पहले अपनी भीतरी जेब देख लीजिये तब मुझे दोष दीजिये। यदि मैं अपराधी सिद्ध होऊँ तो जो चाहे सजा दीजिये। घड़ी तो आपकी जेब में रक्खी है मुझ गरीब को व्यर्थ ही डाँट रहे हैं। राजा ने अपनी जेब टटोली तो लज्जित होगये, घड़ी उनकी जेब में मौजूद थी। राजा के उस क्रोध पर जमूड़ा खूब हंसा किन्तु मुसाहिबों ने राजा की हाँ में हाँ मिलाई। ठीक यही हाल भगवान के भक्तों का है। भगवान की माया के खेलों से उन्हें प्रसन्नता होती है। भले और बुरे हर खेल में वह भगवान की लीला का ही दर्शन करते हैं वह तो अपने प्यारे प्रभु से अपनत्व स्थापित करके मुक्त-कंठ से कहते हैं:—

तब से मोहि न व्यापी माया।
जब से रघुनायक अपनाया॥

भुर्जी के भाड़ से निकलने वाली गर्म वायु के समान लू के प्रबल झोंके भी जैसे खस की टट्टी से लगकर, भीतर बैठने वालों को शीतलता प्रदान करते हैं इसी प्रकार भगवान के आश्रित भक्त भी महान संकटों, विपत्तियों और प्रतिकूलताओं में उसकी कृपा का ही दिग्दर्शन करते हैं। भक्तों का इतिहास इस बात का साक्षी है कि उनकी प्रतिकूलताओं में भी भगवान् की असीम कृपा ही छिपी थी। सत्यसिन्धु महाराज हरिश्चन्द्र जब अनेक विपत्तियों को सहन कर अपने निश्चय पर दृढ़ रहे और जब अपनी प्रियतमा पत्नी को तलवार से कर्तव्य की बलिवेदी पर भेंट चढ़ाने को उद्यत हो गये, तो क्या उनकी चमचमाती तलवार में भगवान् की कृपा नहीं छिपी थी? विमाता के द्वारा झटके से पिता की गोद से बरबस उतारे जाने वाले बालक ध्रुव के लिए भगवान की दया क्या विमाता के क्रोध में नहीं छिपी थी? भक्ताग्रगण्य कविकुलचूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास जी की पत्नी के व्यंगोपदेश में क्या वे प्रियतम प्रभु छिपे नहीं बैठे थे? इसी प्रकार की अनेकानेक भक्त गाथाओं में प्रभु कृपा की सुन्दर झाँकी मिलती है जिससे स्पष्ट रूप से विदित होता है कि उनकी मार में भी कितना असीम प्यार समाया हुआ है! किन्तु ऐसी प्रतिकूलताओं और संकटों के आने पर भी जो उनकी महती कृपा का ही संपादन करते हैं उन्हें निश्चय ही आनन्द के महासिन्धु रूप भगवान की प्राप्ति होती है।

अतएव जिसने भगवान् को अपना लिया है उसकी आपत्तियाँ और विपत्तियाँ भी भगवान् की ही बन गई। जिस प्रकार अबोध बालक की रक्षा माता करती है, जिस प्रकार अपनी प्रियतमा पत्नी की देखभाल पति करता है, इसी प्रकार भगवान् भी अपने अनन्य भक्त की सदैव रक्षा करते रहते हैं। उनकी तो खुली घोषणा है:—

करहुँ सदा तिनकी रखवारी।
जिमि बालकहिं राखु महतारी॥

सफलता की कुंजी

किसी भी कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिये यह बहुत जरूरी है कि जिस काम को हाथ में ले लें, उसी में अपनी सारी शक्ति लगा दें। कोई भी व्यक्ति यदि किसी भी कला में श्रेष्ठ होना चाहता है तो उसे चाहिये कि अपने मन की सारी शक्तियों को उसी में लगा दे। सोकर उठने से लगाकर रात को बिछौने पर जाने तक केवल उसी का विचार करे।

—केनाल्ड

विद्यार्थी के फेल होने पर मास्टर, मुकद्मा हारने पर वकील और मरीज के मर जाने पर जैसे डाक्टर की बदनामी होती है, इसी प्रकार जब प्रभु का अनन्य भक्त, माया के प्रबल पाश में उलझकर पतन की ओर अग्रसर होने लगता है तब दयामय प्रभु, प्रतिकूलता के प्रयोग से भी उसकी रक्षा करते हैं। नारद का उदाहरण हमारे सामने है। नारी के मोह से व्याकुल नारद को भगवान् ने बन्दर की आकृति देकर उन्हें महान संकट से उबार लिया। अस्तु जैसे कुम्हार की ऊपरी थापी को देखकर यह अनुमान होता है कि इस घड़े की रक्षा में उसका भीतरी हाथ भी तो छिपा होगा। ऐसी दृढ़ धारणा बनाकर महान विपत्तियों के आने पर भी भगवान् की कृपा का सम्पादन करते हुए उनके मंगलमय चरणों का आश्रय नहीं छोड़ना चाहिये। तभी हमारा यह मानव-जीवन धन्य बन जायगा और हम उस दयामय की आनन्दमयी गोद के अधिकारी बनेंगे।

त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्

(श्री स्वामी योगीराज जी महाराज)

"संसार के कोने कोने में आज प्रत्येक प्राणी अशान्ति की भीषण ज्वाला में झुलस रहा है। अभाव और अशान्ति के विषाक्त कीटाणु हरी भरी स्वस्थ जगती की जड़ में प्रवेश कर गए हैं। सर्वत्र विषमता सुरसा की भाँति दुगुनी हो हो कर जन-भक्षण में लीन है। भौतिक स्वार्थों की परितृप्ति के निमित्त लोग कितने जघन्य और अवांछित कर्म करने लगे हैं! थोड़ा विचार तो करिये। आज एक सबल राष्ट्र दूसरे निर्बल राष्ट्र को इसलिए दबोच लेना चाहता है कि उसके प्रभुत्व को वह सदा के लिए स्वीकार करले। प्रजा-तन्त्र की आड़ में सार्वभौम साम्राज्य लिप्सा किस प्रकार छिपी बैठी है तथा व्यक्ति के अधिकारों का किस प्रकार शोषण हो रहा है। यह तो संसार के रङ्गमन्च पर होने वाले नित्य के अभिनय हैं। विश्व के उच्चतम विचारक आज शान्ति-वार्त्ता करते करते नहीं अघाते। तदर्थ उद्योग भी क्या कम हो रहे हैं। किन्तु परिणाम? वही भीषण महायुद्ध की रचना! पशुता का विकास!!

भौतिकवाद का सहारा लेकर आज की सभ्यता के तथाकथित पश्चिमी राष्ट्र विश्व की सुप्त चेतना को जागृत करने चले हैं और जन-प्रवृत्ति को उस ओर अधिक आकृष्ट भी किया है किन्तु इसके साथ यह भी कठोर सत्य है कि मानव ऐसे बीहड़ मार्ग में फँस गया है, जिसके आगे निविड़ अन्धकार है आगे का पथ उसे सूझता नहीं, वह व्याकुल होकर एक दम चीत्कार कर उठा है, यह सब मिथ्या है! एक प्रवञ्चना!!

एक ओर शान्ति का उपदेश, दूसरी ओर युद्ध की तैयारी! एक ओर मानव होने का दावा, दूसरी ओर पिशाचों से भी बढ़ कर कुकृत्य! कितनी मिथ्या संस्कृति को जन्म दिया जा रहा है! विज्ञान के बलबूते पर स्वयं 'सर्वेश होने का अहंभाव क्या मानव की शान्ति को छीनने वाला दुर्दान्त दानव नहीं? 'शङ्कर' से वरदान पा लेने वाले 'भस्मासुर' की भाँति यह "विज्ञान" जन्म देने वाले मानव के ही मस्तक पर पहिला परीक्षण नहीं करेगा क्या? नित्य अवतीर्ण होने वाले 'अणुबम' और 'उद्जन बम' क्या संसार की वनस्थली को हरी भरी छोड़ देंगे? "Eat' drink and be merry"

का यह "रोटीवाद" जन-जन को एक दूसरे से अलग नहीं कर रहा ?

'अस्तु' भोग-लिप्सा पर आधारित जन कल्याण की योजना वह सर्पिणी है जिसका डसा फिर सांसें नहीं भरता। अत: आओ एकबार आध्यात्मिकता की शीतल छाया में बैठें जहां चिर शान्ति है। त्याग की अमृतमयी गोदी में पल कर "सर्वभूतहितेरताः" की भावना जागृत होती है और अन्तत: "वसुधैव कुटुम्बकम्" में समाहित होकर "अहं ब्रह्मास्मि" का नाद "खल्विदं सर्वं ब्रह्म" में परिणित हो जाता है। कैसा सुन्दर 'अद्वैतवाद' निश्छल 'साम्यवाद' का स्वरूप धारण कर मानवता का पोषण करता है ऐसी लोकोत्तर अवस्था में न कोई शोषक रहता है और न कोई शोषित। न कहीं शोणित होता है और न पीड़ित। बस सभी एक लक्ष्य की ओर, एक परम्परा में, एक साथ प्रयत्न करते हुए दिखाई पड़ेंगे।

इसलिए शान्ति का आधार है 'त्याग'।

"त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्"

शरण तेरी आ चुका हूँ

छोड़कर तुझको अनेकों कष्ट हैं मैंने उठाये।
मधुर सुख की लालसा में द्वार कितने खटखटाये॥
खा चुका ठोकर अनेकों विपद से घबरा चुका हूँ।
शरण तेरी आ चुका हूँ॥

वासना के जाल में हर बार जाकर के फँसा था।
रूप के बाजार में बिन मोल आकर के बिका हूँ॥
सह चुका अगणित थपेड़े ग्लानि से अकुला चुका हूँ।
शरण तेरी आ चुका हूँ॥

पुत्र-धन-दारा सभी में समझ सुख के सकल साधन।
रात दिन करता रहा आराध्य से इनका अराधन॥
बान्धवों के प्रेम का भी खूब परिचय पा चुका हूँ।
शरण तेरी आ चुका हूँ॥

विरद सुनकर मैं तुम्हारा आज भगवन शरण आया।
विश्व के त्रयताप से हे नाथ हूँ मैं बहु छकाया॥
स्वीकार अब मैं ख्याति काफी पा चुका हूँ।
शरण तेरी आ चुका हूँ॥

"मीरा का प्रेम पथ"

लेखिका—'कुमारी कुसुम'

मेरे तो गिरिधर गुपाल दूसरो न कोई ।

जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई ॥

मीरा कृष्ण की अनन्य भक्त थीं, वह अपने संगीत की तन्मयता से आकाश-पाताल को एक साथ झंकृत कर देती थीं। मीरा के चित्त की प्रवृत्तियाँ बाल्यावस्था से ही गोपाल की ओर झुकी थीं। गिरधर गोपाल के सिवा इस जगत में अन्य किसी को नहीं समझती थीं।

उसका प्रियतम शीश पर चंद्रकला, एवं मोर-मुकट धारण किये, केसर-तिलक, कानों में कुंडल, गले में वैजन्तीमाला और तन पर पीताम्बर धारण किये है। वह मोहनी मूरत, कालिन्दी के तट पर कदम्ब के तले अपने मधुर अधरों से मुरली बजा रही है।

छलकते हुए सौन्दर्य-मधु का पान करने को मीरा के प्राण वेवसी से भर जाते हैं। इस अमर सौन्दर्य में वह सदा के लिये खो जाती है। वह उसके प्रेम की भिक्षा के लिये दर दर की ठोकरें खाती फिरती है। उसके अगाध और असीम प्रेम के केन्द्र विन्दु गिरधर गोपाल ही बन जाते हैं। उनके प्यार में मीरा ने अपना निजत्व गवां दिया।

वास्तव में प्रेम ही भगवान की सत्ता है प्रेम ही उनका रंग और रूप है। मीरा अपने को कृष्णार्पण कर चुकी। इस प्रकार धीरे धीरे मीरा विवाह योग्य हुई उसका विवाह राणा सांगा के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज के साथ सम्पन्न हुआ। मीरा ने इस अवसर पर गोपाल जी के ही साथ फेरे लिये। सखियों के पूछने पर उत्तर दिया—

ऐसे वर को क्या वरूं जो जन्में मर जाय ।

वर वरिये गोपाल जी चूड़लो अमर होजाय ॥

विवाह के अवसर पर काफी धन राशि देने पर भी मीरा प्रसन्न न रह सकी। भक्त अपने भगवान के प्रेम में एकाकार होकर समस्त संसार में खोज करता है परन्तु हरि के सिवा उसे अपना अधिक प्रिय कोई नहीं दीख पड़ता।

मीरा का सुहाग अजर और अमर था। उसे अपने सुहाग के लिये अन्य देवी देवताओं से याचना नहीं करनी पड़ती थी। पहले तो मीरा की भक्ति भावना को देखकर भोजराज अप्रसन्न हुए, परन्तु उसके अन्तर की सच्ची भावना को स्पर्श करने के उपरान्त उन्होंने रणछोर जी में स्वयं मंदिर बनवा दिया। भोजराज मीरा की पद-रचना से अत्यन्त प्रसन्न होने लगे। मीरा अपने पति को नित्य-नवीन रचना सुनाती थीं कुमार का हृदय एक स्वर्गीय आनन्द से परिपूर्ण हो जाता था।

मीरा अपना समस्त समय प्रभु की ही सेवा में बिताती थीं कभी बावरी हो हँसती, गातीं और कभी रोती थीं। उन्हें भोजन आदि की भी स्मृति नहीं रहती थी—

"हेरी म्हाँसु हरि बिन रह्यो न जाय"

धीरे धीरे उसका शरीर दुर्बल होने लगा। कुटुम्बी जनों ने समझा यह बीमार हो गई है वैद

बुलाये गये, किन्तु इस अलौकिक रोग की औषधि इस संसार में नहीं। मीरा उत्तर देती हैं:—

हे री मैं तो राम दिवानी, मेरो दरद न जाने कोय।
मीरा की प्रभु पीर मिटै जब, वैद सवंलिया होय॥

कैसा रोग है ? कैसा विलक्षण उन्माद है ! पर आत्म-निरीक्षण का पथ यह कितना पावन है उधर भक्त भगवान से मिलने को व्यथित है इधर हृदय की कालिमा धुल रही है। दृढ़ विश्वास ही तो प्रेमी जीवन का एक मात्र सहारा है। प्रेम में डूबी मीरा चारों ओर देख आई, किन्तु उसे अपने प्रियतम जैसा कहीं नहीं मिला। वह गोपाल के हाथ बिक जाती है वह सर्वदा उन्हीं की होकर जीती है—

मैं गिरधर के घर जाऊँ।
गिरधर मेरो सांचो प्रियतम,
देखत रूप लुभाऊँ॥

कालान्तर में भोजराज का देहावसान होगया। विक्रमादित्य सिंहासनारूढ़ हुए, इस समय तक मीरा के प्रेमोन्माद का प्रवाह प्रबल हो चुका था। वह वैधव्य जीवन से किञ्चित् नहीं घबराई। प्रभु के चरणों में उनका अटल-विमल अनुराग बढ़ता ही गया। परन्तु मीरा की इस कार्य प्रणाली से विक्रमादित्य रुष्ट हुए। मीरा को ऐसा करने से रोका, किन्तु वह तो पूर्ण रूपेण कृष्ण की दीवानी बन चुकी थीं।

अन्त में राणा ने पिटारी में सर्प और विष का प्याला भेजा, मीरा गोपालजी के गुणानुवाद गाने में मस्त थीं—

मीरा मगन भई हरिगुण गाय के।
सांप पिटारा राणा भेजा, मीरा हाथ दिया जाय॥
न्हाय धोय मीरा जब देखन लागी, सालिगराम गई पाय।
जहर को प्याला राणा भेज्यो अमृत दिया बनाय॥
न्हाय धोय मीरा लागी हो गई अमर अकाय।
सूली राणा भेज्यो मीरा दीज्यो सुवाय॥
साँझ भई मीरा सोवन लागी मानौ फूल बिछाय।
मीरा के प्रभु सदा सहाई राखे विघन हटाय॥

इन घटनाओं से मीरा का विश्वास प्रभु में दृढ़ होता ही गया वह क्षण-क्षण उस परम-पुरुष के लिये सिसक-सिसक कर रोने लगती—

"दर्शन बिन दूखण लागै नैन"

मीरा के पदों में उनकी आत्मा की सच्ची पुकार है जो आँसुओं से भीगी है—और आज तक आँसुओं से ही सींचकर पाला पोसा है—

असुंअन जल सींचि सींचि,
प्रेम बेलि बोई॥

भक्त की सच्ची पुकार ही तो भगवान को बाध्य कर देती है, उन्हें आना ही पड़ता है मीरा की दर्द भरी आवाज पर—

आज मैं देख्यो गिरधारी।
सुन्दर वदन मदन की शोभा, चितवन अनयारी॥

अपनी कल्पनाओं के संसार में प्रियतम की प्रेम-मूर्ति पाकर मीरा विभोर हो उठी। वह अपनी जीवन-नैय्या भंवर में डालकर भी निश्चिंत होगई, जब पतवार प्रभु के हाथ है, तो तूफान एवं लहरों का क्या भय करना.........?

वह नारी युग-युग से परम पुरुष के प्रेमालिंगन का सुख अपनाने को व्याकुल चली आ रही है संसार के बन्धन स्वयं ही कट जाते हैं, यह प्रवृत्ति मार्ग है। प्रवृत्ति-पथ में सब नाते "नातेसर्वभूतमयं" हरि से ही ओतप्रोत हो जाते हैं। फिर भी इस तपस्विनी का रोना आजीवन बना ही रहा।

प्रेम की साधना में प्राप्ति का कोई महत्त्व नहीं, प्रतीक्षा की घड़ियाँ ही मधुर प्रतीत होती हैं। यही कारण है उनका प्रेम व्यापक न होकर तीव्र है। अपने प्रेम पथ में गाती हुई चली आ रही है—

मैं जान्यो नहीं प्रभु को मिलन कैसे होई री।

आये मेरे सजना, फिर गये अंगना।
मैं अभागण सोई री॥

भक्तों के हृदय-वृन्दावन में मीरा की करताल ध्वनि गूँज रही है—

दर्शन बिन दूखण लागे नैन।
जब से तुम बिछुरे मोरे प्रभु जी,
कबहूँ न पायो चैन॥

प्रियतम के बिना मीरा का संसार सूना है, परन्तु फिर भी मीरा निराश नहीं है, जीवन की तुच्छता तथा गम्भीर दायित्व का ध्यान उसे सदैव रहा है। आज भी प्रेम के पथ में मीरा के नयन प्रतीक्षा के लिये ठहरे हैं और बार-बार मेवाड़ के महल पर चढ़कर प्रियतम के आगमन की बाट जोह रहे हैं वह यही चाहती है कि उसके मन में प्रेम की पीर बनी रहे। प्रेम की दारुण दशा ही प्रेमियों को आश्रय देती है। किसी अंग्रेजी कवि ने कहा है "Love is a pleasant woe." प्रेम ही सुखद वेदना है।

भगवान के प्रेम में दिवानी मीरा का अलौकिक प्रेम पथ प्रेम की कठिन घाटियों में प्रवेश करते हुए भी कितना मधुर एवं सरस बन गया। उन निर्जन घाटियों में भी आशा की किरणें क्रीड़ा करने लगीं। उस पथ पर चलने की प्रबल इच्छा मानव के हृदय में क्षण भर को जागृत हो ही जाती है। प्रभु के आवाहन एवं संकेत भरे आमंत्रण पर मीरा अभिसार करती है आज भी इन नयनों में मीरा की वह साकार प्रतिमा नृत्य करने लगती है कि उसके डगमगाते पग, रसास्वादन की प्रबल चाह लिये प्रेम-पथ में दीवानों की तरह बढ़ते ही चले आ रहे हैं। उसके तृषित अधर अमृत के लिये सदा बेचैन रहेंगे, प्रेम के इस निराले पंथ में।

सबसे बड़ा पापी

पाप करने वालों की अपेक्षा वे लोग अधिक नीच हैं जो पाप के प्रचार में सहायक बने हुए हैं ऐसे पाप के प्रचारकों में वे नीचातिनीच हैं जो धर्माचरण से कोसों दूर रह कर भी धार्मिकों का बाना धारण किये रहते हैं "मुँह में राम बगल में छुरी" इस कहावत को पूर्णतया चरितार्थ करते हैं। ईश्वर विरोधी नास्तिक तो अपनी नास्तिकता की ही डोंडी पीटता है, खुल्लमखुल्ला नास्तिकता का प्रचार करता है; अतएव उसके धोखे में कोई नहीं आसकता—परन्तु ऐसे दंभी धर्मध्वजी तो अपने आपको धर्मात्मा प्रगट करके धर्म की ओट में पाप करते हैं और इस प्रकार जनता को धोखा देते हैं। अस्तु ऐसे लोग सबसे अधिक खतरनाक हैं। इनके आचरणों को देखकर लोगों की धर्म और ईश्वर के प्रति आस्था हट जाती है। ऐसे लोगों से धोखा खाये हुए लोग सच्चे धार्मिकों से भी घृणा करने लगते हैं।

—एक सन्त

उपासना

(श्रीमती ज्ञानेन्द्रु 'सुषमा')

श्री स्वामी जी का व्याख्यान चल रहा था......

गोस्वामी जी की रामायण तो आज घर-घर के उपासना-मन्दिर की शोभा है, कौन सा ऐसा परिवार होगा जहां राम-नाम की कथा का अभाव हो। कम अथवा अधिक प्रत्येक घर में ही पूजा-अर्चना तो होती ही है, जो हिन्दुओं की नैतिक क्रिया के रूप में परम्परा से चली आ रही है। छोटे-छोटे शिशु भी अपने से बड़ों को ध्यान-मग्न देखकर उनका अनुकरण करने लगते हैं वही भाव, संस्कार रूप में धर्म के अन्तर्गत हृदय में आदि से ही स्थान पा लेता है। यह धार्मिकता की भावना ही भारतीय संस्कृति की आदि देन है। हमारे धुरंधर पूर्वज मुनियों के अनेकानेक तप, और अनुसन्धानों का महत्त्वशील परिणाम है। हमारी जागृति का आदि सन्देश है जिसके लिये भारत के बच्चे बच्चे के हृदय में ज्ञान है, अनुमान है, और सम्मान है।

इतना होते हुये भी, 'हमारी अर्चना का भाव' उद्देश्य, उसके प्रभाव, यह सब विरले ही विचारने की चेष्टा करते हैं! कारण "अत्यन्त विश्वास" किसी हद तक अन्धविश्वास की सीमा में भी लाया जा सकता है। हम उपासना क्यों करते हैं? केवल इसलिये कि हमारे पूर्वजों से होती चली आ रही है, या इसलिये कि अमुक फल की प्राप्ति हो सकेगी, या इसलिये कि पूजन के बहाने एक नैतिक क्रिया की पाबन्दी हो सकेगी? प्रश्न उलझा हुआ अवश्य है और इसका समाधान भी प्रत्येक व्यक्ति अपनी धारणानुसार कर लेता है तथा बड़े-बड़े आडम्बरों के साथ अपनी अर्चना की पूर्ति करके "सकल मनोरथ सिद्ध" समझ बैठता है।

परन्तु वास्तव में आज के युग में भी यदि हम अन्ध-विश्वास जैसी किसी लकीर के फकीर बने रहें तो यह हमारे बौद्धिक-विकास की कमी है। हमारा कोई भी कर्म यदि विवेक-बुद्धि से हीन है तो वह अवश्य मर्महीन और तत्त्वहीन है। विश्वास तो बहुत बड़ी शक्ति है, महान सहयोग है, किन्तु बौद्धिकता के साथ हमें विचारना है, 'उपासना' का अभिप्राय?

मेरे विचार से उपासना का अर्थ है, सहयोग, अवलम्ब और आधार! यह जीवन का पथ एक प्रशस्त मार्ग है जो जन्म से आरंभ होकर मृत्यु में समाप्त हो जाता है। यद्यपि कर्म-संस्कार तो जन्मजन्मांतरों तक चला करते हैं, किन्तु पार्थिव शरीर के नाश के साथ-साथ हमारी पार्थिव यात्रा तो समाप्त हो ही जाती है। इस यात्रा को सफलता से पूर्ण करने के हेतु हमें एक कुशल 'साथी' की आवश्यकता प्रतीत होती है जिसके सहारे हम अपने जीवन के क्षणों को एक 'शान्तिमय प्रसन्नता' के साथ व्यतीत

करके अपने गन्तव्य स्थान को पहुँच जावें। हमें थकान प्रतीत न हो, हमें उदासी न घेरे, हमारी यात्रा भार न बन जावे, अथवा हम अपना निर्दिष्ट मार्ग भूल न जायँ। अपनी जीवन-यात्रा की सफलता के हेतु हम उस कुशल साथी को खोजते हैं जो पार्थिवता से दूर, नैतिकता से पूर्ण, बल-पौरुष में महान शक्ति शाली, सर्वगुण सम्पन्न और पूर्ण पुरुषोत्तम है। उसकी असीम शक्ति का कण मात्र अवलम्ब पाकर ही हम बल प्राप्त करते हैं, शक्ति प्राप्त करते हैं, ज्योति प्राप्त करते हैं, जो हमें भटकने नहीं देती वरन इस दृढ़ता से बांह गहे रहती है कि जीवन भर के तीव्र से तीव्र प्रवाह में भी, विपरीत लहरियों के थपेड़ों से भी हम बह नहीं सकते, हम खो नहीं सकते, हमारा यह आधार, हमारा वह परम् साथी, हमारा वह परम् मित्र किसी भी स्थिति में हमें अकेला-असहाय-असमर्थ नहीं रहने देता। डूबते का सहारा बनकर वह हर प्रकार से हर रूप में, हर परिस्थिति में अपने साथ की लाज रखता, हमारे गंतव्य स्थान तक सुरक्षा सहित, हँसते-खेलते पहुँचा देता है। किन्तु ऐसा कुशल साथी कैसे प्राप्त हो सकता है? प्रत्येक लक्ष्य की प्राप्ति हेतु कुछ साधन, संयम, संचय करना अनिवार्य होता है। बिना परिश्रम के तो कोई भी कर्म सफल नहीं हो सकता। उद्देश्य प्राप्ति और लक्ष्य की पूर्ति तो बहुत गम्भीर योजना है। अतः उसी लक्ष्य की पूर्ति के हेतु उपासना एक साधन मात्र है। किन्तु यदि वास्तविक अर्थ से उपासना को भिन्न परिमाणों से तौला जाता है तो अवश्य ही परिणाम भी तदनुकूल ही होते हैं। किन्तु हमें यह भूलना नहीं चाहिये 'कर्म-संस्कार' जन्म-जन्मान्तर से चला आ रहा है। शरीर नष्ट हो जाता है, कर्म के बंधन जब तक पूर्ण योग को प्राप्त नहीं कर लेते समाप्त नहीं हो जाते तब तक और इसी कर्मचक्र की पूर्ति के हेतु मनुष्य बारम्बार जन्म धारण किया करता है 'लख-चौरासी' योनियों की धारणा भी इसी विश्वास के अनुसार है।

अब प्रश्न हो सकता है "जब कर्म-चक्र मनुष्य को पूर्ण करना ही होगा तो फिर उपासना का महत्त्व ही क्या"? वास्तविकता तो यह है कि एक कार्य को एक कुशल हाथ, एक स्वस्थ मस्तिष्क जितनी सुन्दरता से कर सकता है, एक दुर्बल और अस्वस्थ नहीं कर सकता। 'कार्य' एक सा हो सकता है अपने ढंग से करने का भेद सदैव वर्तमान रहता है इस भेद का कारण बौद्धिक और अबौद्धिक रूप में प्रमाणित भी किया जा चुका है, अतः यह प्रत्यक्ष सिद्ध है उस बौद्धिकता को प्राप्त करने के लिये हमें बल की आवश्यकता होती है। एक ज्योति की न्यूनता प्रतीत होती है जो हमारे दुर्बल हृदय को साहस, गम्भीरता, गति-शीलता प्रदान कर सके। इस शक्ति की प्राप्ति हमें एक मात्र साधन से उपलब्ध हो सकती है जिसे हम 'उपासना' कहते हैं। इस 'कर्म की जटिलता' की एक रोचक कहानी मुझे स्मरण हो आई" श्री स्वामी जी बोले, वह इस प्रकार है:-

"सन्त माधवदास, बहुत पहुँचे हुये साधू थे, प्रभु में उनका अपार विश्वास था। एकबार वे बहुत अस्वस्थ होगये। 'पेचिश' के कठिन रोग से पीड़ित होने के कारण वे दिन प्रति दिन दुर्बल होते चले गए। यहाँ तक कि उनको शौच भी शय्या पर ही होने लगा। उनकी लाचारी पर मनुष्य पसीजा या न पसीजा हो, प्रभु अवश्य अपनी क्षीर-शय्या त्याग कर एक १४ वर्ष के किशोर का रूप बनाकर रोगी माधवदास के पास पहुँचे और प्रार्थना की कि वह उनकी सेवा को किसी प्रकार भी स्वीकार कर लें। वह यद्यपि इस शालीनता और विनम्रता के लिये बहुत चकित हुये। किशोर की निस्वार्थ सेवा पर मन्त्रमुग्ध होकर चिन्तन भी करते रहे किन्तु प्रभु की इच्छा समझकर मौन हो गये। वह किशोर सेवा करता रहा। एक दिन दो दिन, एक सप्ताह, दो सप्ताह—एक मास, दो मास इसी प्रकार व्यतीत होते गये। सन्त माधवदास को

उसकी सेवा बहुत बड़ा आधार बन गई। उनकी परिचर्या का सब कार्य वही सँभालता था यहाँ तक कि नित्य ही उसे उनके मल से सने लंगोट और बिछावन को भी स्वच्छ करना पड़ता था। किन्तु वह थे पुरुषोत्तम, उन्हें 'बाँह गहे की लाज' रखनी थी, वह अपने भक्त की सहायता को क्यों न किसी भी रूप में करते।

जब माधवदास पूर्ण स्वस्थ होगये तब एक दिन उस किशोर ने कहा "महाराज अब हमें बिदा दीजिये। अब तो आपको मेरी सहायता की आवश्यकता नहीं है"। माधवदास के हृदय में ठेस लगी। वे उस किशोर की सेवाओं के बहुत कृतज्ञ थे। स्नेह के नाते उसे बहुत कुछ अपना आधार समझते थे। फिर भी वे साधु थे, सयंम साधन से युक्त शब्दों में बोले, "हे सज्जन मुझे अब भी विस्मय है कि तुम मेरे कौन हो जो तुमने मेरी अकारण इतनी महान सेवा की"। प्रभु उनकी विमुग्ध वाणी से पुलकित हो उठे—और अपने दिव्य-रूप में प्रकट होकर माधवदास से बोले "मेरा रूप देखना चाहते हो, देखो मैं वही हूँ जिसको तुमने अपने जीवन का आधार बनाया है" माधवदास मन्त्रमुग्ध हो प्रसन्नता से उनके चरणों पर गिरपड़े और नतशिर होकर बोले "महाराज मेरे लिये इतने कष्ट उठाए, आप तो शक्तिवान थे अपनी कृपा से उन्हें समाप्त ही क्यों न कर दिया। क्षण भर में व्याधि के हेतु इतने दिन आप ने मेरे साथ कष्ट भोगा"! प्रभु ने मुस्कराते अधरों से उत्तर दिया—कर्म के बन्धन तो समाप्त नहीं हो सकते, कर्म के भोग तो भोगने ही पड़ते हैं यदि इस जन्म में न भोगते तो वे उस जन्म के लिये टल जाते। मैंने विचारा व्यर्थ ही तुम्हें फिर फिर जन्म क्यों धारण करना पड़े, इसी बार में निवृत्त हो जाओ-इसी हेतु मैं तुम्हारी सेवा में स्वयं चला आया।

माधवदास इस गंभीर मर्म को विचार ही रहे थे कि वह दिव्य ज्योति विलीन हो गई, अन्तर्ध्यान होगई। इतना कहकर स्वामी जी अपने पूर्व प्रसंग पर पुनः लौटे और अपने कथन की पुष्टि करते हुये बोले "कर्म और उपासना" दोनों भिन्न-भिन्न होते हुये भी बहुत कुछ एक दूसरे पर आधारित हैं। उपासना से कर्म का मार्ग सुगम हो जाता है कर्म-सुकर्म बनकर कर्म-बन्धन की जटिलता को हल्का अवश्य कर देते हैं। दूसरी ओर युक्त-कर्म बनकर उसको अधिक दुरूह बनने से बचाने के हेतु उपासना एक सच्चा आधार है। यह उपासना जब मन की लगन बनकर भक्ति का रूप धारण करती है तो अवश्य ही ज्ञान के कपाट खुल जाते हैं। ज्ञान की प्राप्ति होते ही मनुष्य को दिव्य-दर्शनों का आभास होने लगता है। वही मनुष्य की परम गति है, लक्ष्य की पूर्ति है और चिर शान्ति की प्राप्ति है जो अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं हो सकती।"

इतना कहकर श्री स्वामी जी ने अपना विषय बदल दिया। मेरा भी उपासना का अभिप्राय स्पष्ट हो चुका था अतः उनकी पावन-वाणी के प्रति बहुत आदर सहित मैंने उनके विचारों की अपने हृदय में ग्रंथि बांध ली—

क्रोध पर विजय

यूनान के सन्त साक्रेटीज़ की स्त्री बड़ी कलहकारिणी थी। एक दिन उसने क्रोध में भरकर पतिपर जूठे पानी की बाल्टी उड़ेल दी। सन्त साक्रेटीज़ इतने पर भी बिगड़े नहीं परन्तु शान्त-भाव से हंसकर बोले, "गरजने के बाद पानी बरसा ही करता है।" बहुत से बन्धु-बान्धवों के सामने उसने एक दिन साक्रेटीज के मुँहपर तमाचा मार दिया। बन्धु-बान्धवों ने स्त्री को दण्ड देने के लिये बहुत उकसाया, परन्तु उनको गुस्सा नहीं आया, उन्होंने कहा—"मैं तुम लोगों के सामने तमाशा नहीं करना चाहता कि तुम लोग दूर खड़े देखते रहो और दो कुत्तों को लड़ते देखकर जैसे बच्चे ताली पीटा करते हैं तैसे ताली पीटो।"

(श्री रामस्वरूप जी गुप्त)
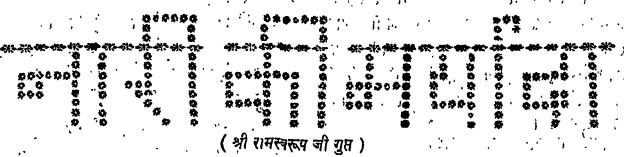
यह कहानी उन दिनों की है जब भारत में मुगल-साम्राज्य अपनी अन्तिम सांसें गिन रहा था। ईस्ट-इंडिया कम्पनी की आड़ में अंग्रेज अपनी जड़ें जमा रहे थे। अराजकता, लूट-मार और आतङ्क से नागरिक-जीवन अस्त-व्यस्त था। डाकू और लुटेरों से जान माल की रक्षा कठिन हो गई थी। ऐसे संक्रान्ति काल में मानव की प्रवृत्तियाँ प्राय: अपनी सुरक्षा की ओर ही अधिक लगती हैं किन्तु कुछ ऐसे भी लोकोत्तर प्राणी होते हैं जिन पर संकट और विपत्तियों का विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। उन दिनों भवानीदत्त जी ऐसे ही एक आदर्श पुरुष थे जिन्होंने अपनी चिन्ता का भार अपने मन-बुद्धि पर न डालकर अपने आराध्यदेव के चरणों में सौंप दिया था। वे अपने नियम के इतने पक्के थे कि उस सङ्कट-काल में भी उन्होंने ब्राह्म मुहूर्त्त में उठकर गंगा तटपर जाना बन्द नहीं किया। प्राय: उनकी पत्नी अनुनय-विनय करतीं कि घर पर ही भजन-पूजन कर लीजिये। भवानीदत्त मीठी झिड़की देते "तुम पागल हो! जिन्होंने यह शरीर दिया है वे ही इसकी रक्षा करेंगे"।

उनके पूर्वजों ने भगवती भागीरथी के सुरम्य तट पर भूतभावन भगवान् भोलानाथ का बहुत सुन्दर मन्दिर बनवाया था। वे नित्य, प्रात: गंगा-स्नान करके उसी मन्दिर में, भजन-पूजन करने जाते थे। ग्रीष्म, शिशिर, हेमन्त और वर्षाकाल का व्यवधान कभी उनके मार्ग का बाधक नहीं बना। प्राय रेशमी परिधान में त्रिपुंड लगाकर जब वे मन्दिर से बाहर निकलते तो उनका रक्ताभ तेजस्वी मुखमंडल देखकर पथिक को दया, करुणा और भगवत्-प्रेम की एक अज्ञात प्रेरणा मिलती थी। पीछे आने वाले भृत्यों के साथ अन्न, वस्त्र और फलों का भार रहता, अन्न-वस्त्र दीन भिक्षुकोंके लिये और फल नन्हे-मुन्ने बालकों के लिये। याचक उनकी बाट जोहते, बालक दौड़-दौड़ कर फल लेते, माताएं अपने घरों की खिड़कियों से उस देव-पुरुष के दर्शन करतीं, हाथ जोड़तीं और बालकों को सिखातीं कि सेठ दादा को प्रणाम करके आना।

भवानीदत्त कई गाँवों के जमीदार थे, अपनी प्रजा से सदैव उन्होंने सन्तानवत् व्यवहार किया। गुमाश्ते और कारिन्दों को कठोर आज्ञा थी कि प्रजा में हमारी ओर से असन्तोष की भावना स्वप्न में भी नहीं उठनी चाहिये। नगर और ग्राम के छोटे से छोटे आदमी के दुख-दर्द में सम्मिलित होने में उन्हें विशेष आनन्द की अनुभूति होती थी। ऐश्वर्य और माधुर्य के ऐसे अद्भुत सम्मिलन से उनकी कीर्त्ति दूर-दूर तक फैल गई थी।

उसी नगर में, कम्पनी-सरकार की ओर से नील की एक कोठी खोली गई थी। चिकनी चुपड़ी और मीठी बातों से बहुत थोड़े धन में वहाँ की जमीन, कम्पनी ने भवानीदत्त से ले ली। आश्वासन दिया गया कि कोठी खुलने पर जनता की बेकारी दूर होजायगी श्रमजीवियों को उचित पारिश्रमिक दिया जायगा। किन्तु थोड़े समय के पश्चात ही कम्पनी की शोषण-नीति आवरण-हीन हो गई। जी

तोड़ परिश्रम करने पर भी कठिनाई से उदर-पूर्ति होने पर श्रमजीवी संत्रस्त होउठे। बांड भर कर या अंगूठे के निशान लगाकर बेचारे कानूनी शिकंजे में जकड़ चुके थे, छोड़ भी तो नहीं सकते थे। परदुख-कातर, भवानीदत्त जब उनकी बातें सुनते तो दुखी होजाते। बात यहीं तक समाप्त नहीं थी, उन्हें विश्वस्त सूत्रों से यह भी पता लगा कि कोठी का बड़ा साहब चरित्रहीन है और नगर की बहू बेटियों का सतीत्व अरक्षित है।

× × ×

"मालिक अभी-अभी आराम करने गये हैं"—भीतर जाते जाते भवानीदत्त ने दर्बान के शब्द सुने वह किसी से कह रहा था—"भैया बलवन्त! तुम्हारे सर में तो बहुत चोट लगी है आँखें लाल वीर बहूटी होरही हैं बात क्या है?

आने वाला फूट कर रोतेरोते बोला—"यही सब तो सेठ दादा को सुनाने आया हूँ उसकी बात पूरी होने के पहिले ही भवानीदत्त लौट पड़े—"भीतर आओ बलवन्त! क्या मामला है?" आगन्तुक को पुकारा उन्होंने—

"मैं लुट गया सरकार"—बच्चों की भाँति चीखकर आने वाले युवक ने उनके दोनों पैर पकड़ लिये और उन्हें अश्रुधाराओं से धोने लगा—दोनों हाथों से पकड़ कर उठाते हुए झुकने पर उन्होंने देखा, उसके सर पर लाठियों के प्रहार से कई गहरे घाव होगये हैं, रुधिर की काली लकीरें गर्दन तक बहकर जम गई हैं, कुरता खून से तर-बतर है।

"मंगलसिंह"—दरबान को पुकारा उन्होंने

"हुकुम सरकार!"—हाथ जोड़े आया मंगलसिंह

"फौरन किसी को भेजो, जर्राह को अपने साथ लावे, मरहम पट्टी का सामान लेकर"—दरबान चला गया।

सान्त्वना से आश्वस्त होकर, रुदन के वेग को कुछ कम करते हुए उसने कहा—"अन्नदाता! मैं तो बर्बाद हो गया, फिरंगी के दस बारह लठैत रात को घर में घुस पड़े हम दोनों भाई आंगन में सो रहे थे। आहट पाकर उठे तो देखा कि मेरी घरवाली के मुख में कपड़ा ठूँस दिया गया है और उसे चारपाई से बांध कर ले जाना चाहते हैं। हम दोनों उन पर निहत्थे टूट पड़े। मेरी तो यह दशा हुई, जसवन्त ने अभी तक आँखें नहीं खोलीं। बंधन खोल कर, शायद हम दोनों को गिरता देख वह कुएँ में कूद पड़ी। अभी उसकी लाश भी ठिकाने नहीं लगा पाया हूँ, भाई भी बाँह तोड़कर और अकेले छोड़कर जाने वाला है"—हृदय-विदारक स्वर में बिलख-बिलख कर रोपड़ा वह—

"उठो बलवन्त!—तुम अकेले नहीं, मैं तुम्हारा हूँ, तुम्हारा बड़ा भाई"—दयालु भवानीदत्त ने उसे हृदय से लगाकर भर्राये कंठ से कहा—

"छिः! क्षत्रिय होकर आंसू बहा रहे हो तुम!"—चिक की आड़ से आवेशमयी वाणी में मालकिन ने कहा—तुम्हारी स्त्री ने सतीत्व की रक्षा में अपने प्राणों की भेंट चढ़ाई और तुम दोनों भाइयों ने अपने कर्त्तव्य का पालन किया है। अब तुम्हें उस नर-पिशाच को पाठ पढ़ाने के लिए कर्त्तव्य निश्चय करना चाहिए या स्त्रियों की भाँति आँसू बहाने चाहिए"—नारी की मर्यादा के अपमान से उस साध्वी का अन्तर चीत्कार कर उठा। सेठानी की ओजमयी वाणी ने अद्भुत चमत्कार किया। दीन-मलीन और दुःख सागर में डूबा हुआ क्षत्रिय युवक उठकर खड़ा हो गया, जैसे सोता हुआ सिंह जगा दिया हो किसी ने। उसकी जलती आँखों से जैसे अब स्फुलिंग निकलने ही वाले हों। होंठ फड़कने लगे, वीरत्व जाग गया।

"जय हो मातेश्वरी!"—मालकिन को लक्ष्य कर उसने पृथ्वी पर मस्तक टेक दिया—"आपने अपनी वाणी से जो कुछ मुझे प्रदान किया

उसका उपकार मैं कभी नहीं भूल सकता। आशीर्वाद दो माँ! कि तुम्हारा बालक तुम्हारी भावना के अनुसार अपने को बना सके"।

जर्राह अपनी पेटी से मरहम पट्टी का सामान निकाल कर चौकी पर फैला रहा था और बलवन्त उस बैठक से निकल कर तीव्रता से एक ओर चला जा रहा था। भवानीदत्त की पुकार उसके कानों तक नहीं पहुँची।

× × ×

उपस्थित जन-समुदाय को शान्त करते हुए सेठ ने कहा—"भाइयो! जोश के साथ अपने होश को न खोना ही बुद्धिमानी है। आवेश में आकर यदि हमने कोई ग़लत कदम उठाया तो परिणाम बहुत भयंकर होगा। इस घटना से प्रतिहिंसा का उभाड़ तो स्वाभाविक ही है किन्तु प्रतिशोध की प्रणाली जो आपके निश्चित की है मैं उससे सहमत नहीं हूँ। हमें शान्त होकर······" उनकी बात पूरी नहीं होने पाई थी कि एक युवक ने बीच में खड़े होकर टोका—"आप शान्त रहने की शिक्षा दे रहे हैं! आश्चर्य की बात है!! हमारी माँ-बहनों का अपमान होता रहे और हम शान्ति से बैठकर चुपचाप देखते रहें? पग-पग पर हमारे जीवन को संकटमय बनाने के कुचक्र होते रहें और हम शान्त रहें"??—कम्पित वाणी और क्रोधाग्नि से दहकती आंखों ने उपस्थित जन-समुदाय की प्रतिशोधमयी भावनाओं की ज्वाला में आहुति का काम किया।

"हम बदला लेंगे, फिरंगियों को मार भगाएंगे" कई कंठों से सामूहिक ध्वनि हुई"—

कोलाहल के कुछ शान्त होने पर गम्भीर वाणी से सेठ जी ने कहा—"मेरे युवक मित्रो! आपकी भावना का मैं आदर करता हूँ। आप मेरे तात्पर्य और योजना को पहिले समझ कर तब अपना निर्णय करें तो अधिक अच्छा रहेगा। आपकी और मेरी प्रणाली में जो स्पष्ट अन्तर है उसे आप स्वयं स्वीकार करेंगे। भावावेश में अभी हमने यदि अपनी प्रतिहिंसा को कार्यरूप में परिणित भी किया तो संभव है कुछ सफलता भी मिल जाय। उन्हें यहां से मारपीट कर भगा भी दें किन्तु इसके परिणाम पर आपने विचार नहीं किया। बाद में कम्पनी सरकार के गोरे सिपाही एक एक घर में घुसकर जो कर सकते हैं, उसके अनुमान से ही मैं कांप उठता हूँ। हमें तो अब ऐसा मार्ग पकड़ना चाहिए कि सांप मर जाय और अपनी लाठी भी न टूटे। बात सीधी और स्पष्ट थी। उफनते हुए दूध में विवेक रूपी जल का छींटा लगा। श्रोताओं ने अनुभव किया सेठ दादा ठीक कहते हैं।

"मेरी सम्मति से पीड़ित जनों और भुक्तभोगियों के प्रतिनिध कम्पनी सरकार के उच्चाधिकारियों के के सम्मुख अपनी दुर्गति-गाथा रक्खें और यदि उसका कोई प्रभाव न हो तो फिर हम लोग मिलकर कोई दूसरा निर्णय करलेंगे"—भवानीदत्त ने अपने विचार प्रगट किये।

"आपकी आज्ञा सिर माथे, किन्तु आप देख लेना दादा जी! अन्त में वही ढाक के तीन पात ही निकलेंगे। यहाँ यदि सांपनाथ हैं तो वहाँ नागनाथ बैठे हैं। लातों की देवी कभी बातों से थान पर आई हैं"?—युवक के नम्र विरोध में भी एक प्रकार से इस निर्णय के स्वीकार का आभास था।

× × ×

लगभग दो वर्ष बाद।

नीलकोठी के जिस दुराचारी और अत्याचारी गोरे साहब को लेकर दो वर्ष पहिले नगर में प्रतिहिंसा की तीव्र भावनाएँ भड़क उठी थीं, यत्र-तत्र आज पुनः उसी की चर्चा होरही है। भवानीदत्त के पुरुषार्थ ने कम्पनी-सरकार पर दबाव डालकर उसे वहाँ से हटवा दिया था। सुना जा रहा है कि अब वह फिर से आने वाला है क्योंकि दूसरे साहब के आने से कम्पनी सरकार को विशेष अर्थ-लाभ जो नहीं हुआ।

विश्वस्त सूत्रों से ऐसा समाचार पाकर भवानीदत्त चिंतित हुये। प्रमुख नागरिकों की गुप्त मंत्रणा हुई कि पुनः इस निर्णय को अमान्य करने के लिये कम्पनी सरकार से प्रार्थना की जाय।

प्रतिनिधि मंडल के प्रधान, भवानीदत्त ने जब गवर्नर के सामने नागरिकों का दृष्टिकोण रक्खा तो उसने अवज्ञा से उस मांग को ठुकराते हुये कहा—"हाम टुमारा मांग को पूरा करने साट समुंडर पार इण्डिया नहीं आया, हाम और कुछ सनना नहीं माँगटा, टुम सब लोग जा सकटा है"।

हताश होकर लौट आये सब।

वह नर-पिशाच गोरा पुनः उस नगरी में आगया। दो सप्ताह बाद ही वारदातें प्रारम्भ होने लगीं। उसके अर्थलोलुप गुर्गे, नित नई खोज की खबरें उसे देते। हत्या, अपराध और बलात्कार की अमानुषिक घटनाओं से जनता संत्रस्त हो उठी।

भवानीदत्त के सभी प्रयत्न विफल हुए। निराश और दीन-दुखियों की करुण पुकारों से उनके भावुक हृदय को बहुत ठेस लगी। भगवान आशुतोष के दर्बार में दुखी होकर वे प्रायः नित्य ही नगर को इस संकट से मुक्त होने की प्रार्थना करते थे।

× × ×

"बहादुर साथियो!"—सरदार बलवन्त ने अपने साथियों को सम्बोधित करते हुए कहा—मातृ भूमि के चरणों में अपने प्राणों की भेंट चढ़ाने का समय आगया। हम अपनी मां-बहनों की दुर्दशा कदापि नहीं देखेंगे। इस नीरव निस्तब्ध निशा में, गंगा-मैया के पावन तट पर हम प्रतिज्ञा करते हैं कि अपनी नगरी के इस अभिशाप को मिटा कर ही चैन की सांस लेंगे।"

अमावस्या की निविड़ अन्धकारमयी रजनी में, झनझन करती हुई नंगी तलवारें म्यानों से निकलीं और चमचमाती हुई ऊपर एकसाथ मिल गईं "भगवान एकलिंग की जय" से वह वन्य प्रदेश गूँज उठा।

पृथ्वी में गड़ी मशाल जल रही है। ऊँचे कगार की गहन अमराई में, नगर के नौनिहालों की यह गुप्त सभा होरही है। कगार से नीचे बालुका का विस्तीर्ण मैदान और सामने कलकलनादमयी पतित पावनी गंगा। गंगा के उस पार के टीलों से टकरा कर जयघोष का प्रत्यावर्तन हुआ, जैसे समस्त वातावरण ने उनकी इस प्रतिज्ञा की साक्षी दी हो। पूर्व दिशा में दूर पर सेठ भवानीदत्त के शिव-मंदिर की ध्वजा तीव्र वायु में फहरा रही है। रात्रि के दो पहर व्यतीत होचुके।

"भैया! मैंने एक बहुत भयानक खबर कल शाम को अपने गुप्तचर से सुनी है"—बलवन्त के छोटे भाई जसवन्त ने कहा

"क्या? क्या??—कई कण्ठों से एक साथ प्रश्न हुआ

"इस नर-पिशाच फिरंगी ने कम्पनी-सरकार के पास अपने सेठ दादा के सम्बन्ध में अनर्गल और असत्य बातें लिखकर भेजी हैं कि सेठ जनता में विद्रोह भड़काता है। मैंने तो यहाँ तक सुना है कि सेठ दादा की गिरफ्तारी का परवाना आज-कल में आने ही वाला है"—जसवन्त ने अपनी बात समाप्त की—

"सेठ दादा के रक्षा की लिये हम अपने प्राणों की भेंट चढ़ा देंगे"—बलवन्त ने अपना हाथ ऊँचा उठाकर घोषणा की।

साथियों ने एक स्वर से समर्थन किया। भवानीदत्त के आदर्श-जीवन, निश्छल-प्रेम और सहानुभूति ने नगर के नर-नारियों के हृदय जीत लिये थे। निस्वार्थ सेवा और त्याग की महिमा अपार है।

× × ×

फिरंगियों की दुरभिसन्धि के गुप्त समाचार पाकर सेठानी बहुत चिन्तित हुईं। गोरों के काले कारनामे नित नवीन रूप में सुनते-सुनते मन में भय और आशंकाएँ बढ़ती जारही थीं। न जाने किस समय क्या हो जाय! आज उन्होंने मन ही मन निश्चय किया कि अब उन्हें रात्रि में गंगातट पर नहीं जाने देंगी—सुना है, गोरे सैनिकों की एक टुकड़ी नगर में आई है।

प्रातःकाल के अपने नियम में परिवर्तन करने के लिये उन्होंने पतिदेव से बहुत प्रार्थना की तो भवानीदत्त ने कहा—"प्रिये! यही तो समय है अपनी परीक्षा का! इस समय यदि हम भय से कर्त्तव्य-विमुख होगये तो इसका अर्थ यह हुआ कि अब हमें जगन्नियंता भगवान् सदाशिव में नहीं वरन् अपनी सीमित शक्तियों में भरोसा अधिक है"। "तो मैं भी चला करूंगी आपके साथ"—सेठानी ने तर्क को मानकर अपना संशोधन उनके सामने रक्खा—

"यह भी ठीक नहीं, तुम्हारे साथ रहने से मेरी वृत्तियों में स्थिरता नहीं रहेगी"—सेठ जी ने सान्त्वना देते हुये कहा—"इस अमंगल में भी कोई रहस्य छिपा होगा, तुम चिन्ता मत करो भगवान भोलानाथ के भक्त का कभी अकल्याण नहीं होता"।

बलवन्त के दो गुप्तचर बाहर बैठक में उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। सेठ जी के आने पर दोनों हाथ जोड़कर खड़े होगये।

"दादा जी! हम लोग आप को एक बुरी खबर सुनाने आये हैं"—कान के समीप मुख लेजाकर युवक ने कहा—"गोरे सिपाही आज रात में इस कोठी को घेर लेंगे आप को सावधान करने के लिये सरदार ने हमें आप की सेवा में भेजा है"।

"सरदार थोड़ी देर में आप के दर्शन करेंगे कर"—दूसरे युवक ने कहा।

सदा प्रसन्न और शान्त-गम्भीर मुख मुद्रा पर चिन्ता और विषाद की रेखाएँ स्पष्ट हो गईं। विचारों की तन्मयता और भावी कर्त्तव्य की ऊहापोह में खोगए वह। दोनों युवक बैठक से उठकर किस समय चले गये इसका उन्हें किंचित भान नहीं हुआ।

"सरकार"!—दरबान ने दर्वाजे के समीप आकर कहा—"बलवन्त जी आपके दर्शन करना चाहते हैं"।

"आने दो"—तन्मयता भंग हुई, बलवन्त ने आकर पैर छुये!

"आज आप का आशीर्वाद लेने आया हूं दादा जी!"—बलवन्त ने उल्लासमयी वाणी में कहा—"समाचार तो आपने सुन ही लिये होंगे।

"हाँ अब परीक्षा का समय आ ही गया तो उससे पीछे क्यों हटना"—भवानीदत्त के ओठों पर अब स्वाभाविक मुस्कान थी।

'हम लोगों' ने जैसा कार्यक्रम बनाया है उसी के अनुसार आज आपको मेरी प्रार्थना स्वीकार करनी होगी"—बलवन्त ने हाथ जोड़कर कहा।

"तुम्हारी सभी बातें मानूंगा किन्तु यदि मेरे कारण किसी के प्राण संकट में पड़ने की संभावना होगी तो वह बात पहिले से ही असाह्य है"—भवानीदत्त ने हँसते हुए उत्तर दिया।

"आपको ऐसा निश्चय करने का कोई अधिकार नहीं"—जोशीले बलवन्त ने आवेश में कहा—"आप हमारे गुरु हैं, पूज्य हैं आपके शरीर के रक्त की एक-एक बूँद हमारी है, उसकी रक्षा के लिये एक नहीं, आज अनेक नवयुवकों ने अपने सर में कफन बाँध लिये हैं आशीर्वाद देने के अतिरिक्त आपके सभी अधिकार हमने अपने हाथ में ले लिये हैं"—

प्रेम के इस अपार सागर की थाह लेने में थके हुए भवानीदत्त की आँखों से प्रेमाश्रु उमड़ पड़े। उन्होंने बलवन्त को हृदय से लगा लिया। चिक की आड़ से सेठानी ने भी यह दृश्य देखा तो उस बुद्धिमती को वस्तुस्थिति समझने में अधिक विलम्ब नहीं हुआ। आज वह पर्दे के बाहर बैठक में आई। बलवन्त ने उठकर उस तेजस्विनी नारी के चरणों की धूलि मस्तक में लगाई "माँ! आज तुम्हारे बालक की परीक्षा होगी, आशीर्वाद लेने आया हूँ"—वह पुलक कर बोला—

वरदायिनी अम्बा दुर्गा की भाँति, उनका हाथ बलवन्त के मस्तक पर पहुँच गया। भावावेश में कुछ बोल नहीं सकीं, कंठावरोध होगया। दरबान को सावधान कर, बलवन्त ने भीतर से बैठक के किवाड़ बन्द किये और भवानीदत्त के कान के समीप मुख लेजाकर अपनी योजनाएँ सुनाईं। दुर्गादेवी तन्मयता से सुन रहीं थीं।

सेठ-दम्पत्ति, बलवन्त के कार्यक्रम से सिहर उठे। दोनों के बार-बार मना करने पर भी बलवन्त ने उनकी एक न मानी।

× × ×

"सेठानी जी को रात में गोरे सिपाही पकड़ कर लेगये!"—एक ने दूसरे से और दूसरे ने तीसरे से कहा, बात की बात में बिजली की भाँति यह बात नगर के एक कोने से दूसरे कोने तक फैल गई। क्रोध और प्रतिहिंसा से जनता उन्मत्त होउठी और दौड़ पड़ी नील-कोठी की ओर। मार्ग में बलवन्त के अश्वारोही युवक सड़क को घेर कर खड़े थे—

उन्होने समझाया—"आप शान्त होकर मार्ग के दोनो ओर खड़े हो जायँ, हमारी सेठानी जी पकड़ी नहीं गई हैं, घटना का भेद अभी कुछ देर में ही आप लोगों को विदित होजायगा......।

इन्हीं वीर युवकों ने, आततायियों से नगर की कुलवधुओं के सम्मान और सतीत्व की कई बार रक्षा की है। अपने उद्धारकों को आज रण-सज्जा के वीर वेश में देख कर आवेशमयी जनता ने "हर-हर महादेव" का घोष किया और उनकी बात मान कर सड़क के दोनो ओर शान्त होकर पंक्ति बद्ध खड़े होगये।

भगवान भुवन-भास्कर की प्रखर किरणें, अश्वारोहियों की पीठ पर पड़ी ढाल और म्यानों पर चमचमाती हुई दर्शकों को शौर्य का सन्देश दे रही थीं। सहसा बिगुल का तुमुल घोष हुआ, संकेत की ध्वनि को समझ कर अश्वारोही सावधान हुए। घोड़ों के मुख घूम गये और एक क्षण में सरपट दौड़ पड़े सबके सब। एक सवार ने आगे बढ़कर कहा—"आप लोग बहुत शीघ्र यहाँ से हट कर अपनी रक्षा करें, हमारे सर्दार घिर गये हैं, साथियों के सहित गोरे फ़ौजियों से लड़ते हुए इधर ही आरहे हैं, फ़ौरन हट जाइए"—जनता को सावधान कर वह सवार भी घोड़े को सरपट दौड़ाकर उसी ओर भागा—

वृक्षों और ऊंचे-ऊंचे टीलों की आड़ में शीघ्रता से जन-समूह छिप गया। "हर हर महादेव, सेठ दादा की जय, वीर बलवन्त की जय" का निनाद निकट आने लगा। बन्दूकों के फायरों, घोड़ों की टापों और तलवारों की झनझनाहट स्पष्ट होचली। लोगों ने धड़कते हुए हृदयों से, कठिनता पूर्वक कौतूहल को दबाकर उधर देखा सबके आगे वीर बलवन्त घोड़े की नंगी पीठ पर सवार है, दाँतों में लगाम दबी है, बाँये हाथ में चमचम करती लम्बी संगीन झंडे की भाँति ऊपर उठी है और उसकी नोक पर फिरंगी की कटी गर्दन और दाहिने हाथ में लहू से सनी दुधारी तलवार है। सबसे अधिक आश्चर्य की बात तो यह थी कि वीर बलवन्त जनानी साड़ी पहने था। बुद्धिमानों ने समझ लिया कि सेठानी की जगह रात को गोरों ने बलवन्त को ही पकड़ा था। घोड़े सरपट दौड़े आरहे हैं। वीरों का विजयोल्लास

वातावरण को मुक्ति का संदेश दे रहा था।

× × ×

बाल-वृद्ध और स्त्रियों से नगर दो दिन में ही शून्य होगया। बलवन्त के साथियों ने सबको सुरक्षा की दृष्टि से कहीं दूर भिजवा दिया। गवर्नर ने क्रोधान्ध होकर कई सौ गोरे सैनिक भेजे, विद्रोहियों को जिन्दा या मुर्दा पकड़ने के लिए। दानवी सेना ने रीते घरों को लूटा-खसोटा और आग लगाई। गुप्त स्थानों से छिपे वीरों के तीरों से बहुत से गोरे मारे गए। विद्रोह नायक बलवन्त और सेठ की खोज सरगर्मी से हुई किन्तु नगर का चप्पा-चप्पा छान डालने पर भी उनका पता नहीं चला।

देश के दुर्भाग्य से यहां कभी भी जयचन्द के वंशजों की कमी नहीं रही है। किसी अर्थलोलुप ने गोरे सेना-नायक को भेद बताया कि सेठ जी बड़े लड़के गंगातट वाले शिव मन्दिर में पकड़े जा सकते हैं। रातों-रात मन्दिर घेर लिया गया। उस अन्तिम परिणाम के लिए भी वे वीर सजग थे। सबके समझाने पर भी अडिग सेठ जी अपनी पत्नी दुर्गादेवी के साथ, अंगरक्षकों से घिरे हुए यथा समय शिव-मन्दिर में प्रविष्ट हुए। सेनानायक ने समझा अब शिकार फंदे में फँस गया। छिपे हुए सैनिक सीढ़ियों की ओर बढ़े, उसी समय छिपी तीरों की बौछार से, दस-बीस पृथ्वी पर लोटकर तड़पने लगे। बन्दूकों की धायँ धायँ, चीत्कारों और कोलाहल से वह पुण्य-स्थली गूंज उठी। पावन मन्दिर की चौखट की ओर बढ़ते हुए अपावन गोरे बलवन्त और यशवन्त के हिस्से में पड़े। दोनों वीरों ने दस बारह को यमालय भेज दिया। दो और बीस का सामना अधिक देर तक नहीं चल सका। यशवन्त को वीरगति प्राप्त हुई। बलवन्त के रोम रोम से रक्त की धाराएं प्रवाहित होरही थीं पांच छः गोरे चौखट तक पहुँच चुके थे।

"शिवशम्भो ! पुलयङ्कर !! महाकाल !!!—अब अपनी मंगलमय शरण में स्थान दो, तुम्हारे किंकर का शरीर इन म्लेच्छों के हाथ में न पड़ने पावे, यही मेरी अन्तिम प्रार्थना है"—सेठ ने आर्त्त-पुकार की।

नर-शार्दूल बलवन्त ने मन्दिर की चौखट पर गिरते गिरते आश्चर्य से देखा, गोरे सैनिक उल्टे पैरों से भाग रहे हैं। दो भयंकर सर्पों ने सेठ-दम्पति के मस्तकों पर रक्षाकवच की भांति अपने चौड़े फन फैला दिये हैं और मन्दिर से असंख्य छोटे बड़े सर्पों की सेना फूत्कार करती हुई बाहर निकल रही है। गोरों की सेना सर पर पैर रखकर भागी।

"जय शिवशम्भो! सेठ दादा की ज...य", कहते कहते नर-केसरी बलवन्त ने आनन्दातिरेक से अपनी आंखें सदैव के लिए मींच लीं।

× × ×

किंवदन्ती है कि भगवान शंकर के अनन्य भक्त सेठ दम्पति ने उसी मन्दिर में बैठे-बैठे अपने नश्वर शरीरों को छोड़ शिव लोक में शरण ली थी। यह भी सुना गया कि इन नर-पुंगवों की स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए कृतज्ञ नागरिकों ने शिव-मन्दिर के समीप ही चार समाधि मन्दिर बनवाए थे। बड़े बड़े पत्थरों में सेठ दादा, वीरवर बलन्त और यशवन्त की कीर्ति-गाथा लिखी गई थी। किन्तु सन सत्तावन के विप्लव में अंग्रेजों ने उन स्मृति-चिन्हों को विध्वंस कर दिया।

मर्यादा और नारी के सम्मान की इस अमर गाथा के साक्षी रूप में उस शिव मन्दिर की पताका तो आज भी फहरा रही है।

(१) दैवी-गुणपूर्ण, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य सदाचार समन्वित विचारों द्वारा जनता को परमार्थ पथ पर पहुँचाने का प्रयत्न करना ही इसका उद्देश्य है।

(२) 'परमार्थ' का नया वर्ष १५ जनवरी से आरम्भ होकर १५ दिसम्बर को समाप्त होता है, अतः ग्राहक जनवरी से ही बनाये जाते हैं। वर्ष के किसी भी महीने में ग्राहक बनाये जा सकते हैं किन्तु जनवरी के अंक के बाद निकले हुए तब तक के सब अंक उन्हें लेने होंगे 'परमार्थ' के बीच के किसी अंक से ग्राहक नहीं बनाये जाते; छः या तीन महीने के लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते।

(३) इसका विशेषाङ्कसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्ष में ५॥) और भारतवर्ष से बाहर के लिये ८) नियत हैं। बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता।

(४) ग्राहकों को चंदा मनीआर्डर द्वारा भेजना चाहिये। वी० पी० से अङ्क बहुत देर से जा पाते हैं और वी० पी० खर्चा ग्राहक को देना पड़ता है।

(५) इसमें बाहर के विज्ञापन किसी भी दर पर प्रकाशित नहीं किये जाते।

(६) कार्यालय से 'परमार्थ' दो तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहक के नाम से भेजा जाता है। यदि किसी मास का अंक मास के अन्तिम सप्ताह तक न पहुँचे तो अपने डाकघर से फौरन लिखा पढ़ी करनी चाहिये। डाकघर का उत्तर शिकायती पत्र के साथ न आने से दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलने में अड़चन हो सकती है।

(७) पता बदलने की सूचना कम से कम १५ दिन पहले कार्यालय में पहुँच जानी चाहिये। लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना व नया नाम-पता साफ-साफ लिखना चाहिये। महीने दो महीने के लिये पता बदलवाना हो, तो अपने पोस्ट मास्टर को ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये। पता बदलने की सूचना न मिलने पर अङ्क पुराने पते से चले जाने की अवस्था में दूसरी प्रति बिना मूल्य न भेजी जा सकेगी।

(८) ग्राहकों को अपना नाम-पता स्पष्ट लिखने के साथ साथ ग्राहक संख्या अवश्य लिखनी चाहिये। पत्र में आवश्यकता का उल्लेख का सर्वप्रथम करना चाहिये।

(९) पत्र के उत्तर के लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है। एक बात के लिये दुबारा पत्र देना हो तो उसमें पिछले पत्र की तिथि तथा विषय भी देना चाहिये।

(१०) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होने की सूचना मनीआर्डर आदि व्यवस्थापक के नाम 'परमार्थ' मुमुक्षु आश्रम शाहजहाँपुर के नाम से और सम्पादक से सम्बन्ध रखने वाले पत्रादि, सम्पादक "परमार्थ" मुमुक्षु आश्रम शाहजहाँपुर के नाम भेजने चाहिये।

(११) पुस्तकों सम्बन्धी पत्र मैनेजर पुस्तक विक्रय विभाग के नाम भेजना चाहिये। तथा पुस्तकों का मूल्य अग्रिम भेजना चाहिये।

(१२) स्वयं आकर ले जाने या एक साथ एक से अधिक अङ्क रजिस्ट्री से या रेल से माँगने वालों से चन्दा कम नहीं लिया जाता।

(१३) भगवद्गीता भक्तचरित्र, ज्ञान, वैराग्यादि दैवी गुण विकासक परमार्थ मार्ग में सहायक अध्यात्म-विषयक, आत्मपरहित लेखों के अतिरिक्त अन्य विषयों के लेख भेजने का कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखों को घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापने का सम्पादक को पूर्ण अधिकार है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। लेख में प्रकाशित मत के लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं है।

दन वाला अनुपम पुस्तकः—

(ले० श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज)

(सदाचार दो भागों में)

ईश्वर, धर्म एवं नीति की बातों को सरल प्रश्नोत्तर के रूप में समझाया गया है । बालकों के लिये विशेष उपयोगी है । मूल्य······।)

२—दैवी जीवन सोपान

नियमित दिनचर्या और; आसन-व्यायाम के वैज्ञानिक लाभ इसमें देखिये । मूल्य······।)

३—ब्रह्मचर्य साधन

ब्रह्मचर्य-पालन की क्रियात्मक युक्तियाँ भली भाँति समझायी गई हैं। चतुर्थ संस्करण मूल्य······।)

४—भक्ति के नव साधन

देवी शबरी को भगवान् श्रीराम द्वारा वर्णित नवधा-भक्ति की विशद व्याख्या एवं मंत्र जाप तथा मन को वश में करने के उपाय । द्वितीय संस्करण मूल्य······।)

५—सुखद लोक यात्रा

गृहस्थाश्रम में रहकर भी मानव जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करने की सरल युक्तियाँ । तृ० सं० मूल्य······।=)

६—साधन प्रदीप

'मैं' क्या हूँ 'शरीर' क्या है 'आत्मा' कौन है इत्यादि गूढ़ विषयों का सरल विवेचन । तृ० सं० मूल्य······।)

७—साधन सुधा

धर्म, आपद्धर्म और परमधर्म की सरल व्याख्या एवं प्रारब्ध और भगवान् में विश्वासकी युक्तियाँ मू० ।)

८—हम दिग्विजयी कैसे हों ?

संघर्षमय जीवन से उत्तीर्ण होकर साधक से सिद्ध बनने के उपाय एवं अजय-रथकी अनुपम व्याख्या । मू० ।।।)

९—आदर्श गृहस्थाश्रम

अपने गृहस्थाश्रम को नन्दन-कानन सा सुन्दर सुखद बनाने वाली अनुपम पुस्तक । मू०······।।।)

१०—नव महाव्रत

सत्य, अहिंसा, अस्तेय, आदि नव सद्गुणों की विस्तृत व्याख्या एवं व्यवहार में लाने की सुन्दर युक्तियाँ मू०······।=)

११—परमार्थ-पथ

साधकों के पाथेय और मार्ग की व्यावहारिक, हृदयग्राही एवं परमोपयोगी व्याख्या । मू०······।।।=)

१२—परलोक की बातें—दो भाग

हमारे मन में धर्म, ईश्वर, एवं आध्यात्मिक शंकाएँ जो प्रायः उठा करती हैं उनका सुन्दर और युक्तिपूर्ण समाधान इनमें देखिये ! दोनों का मू०······१)

१३—साधक पथ प्रदर्शक

साधकों को यह पुस्तक उनके साधन में मार्ग-दर्शक का काम करेगी । मू० ···।।।)

१४—रामराज्य की ओर

वर्तमान संकटापन्न समय में रामराज्य की कल्पना को मूर्त रूप देने की अनोखी युक्तियाँ एवं तत्कालीन स्वर्णिम युग का मनोहर वर्णन । मू०······।।-)

१५—नित्य उपयोगी संग्रह

दैनिक पूजन-हवन की विधियाँ एवं प्रार्थना मू०······=)

१६—आसन-प्राणायाम और सूर्यनमस्कार

सचित्र सरल भाषा में विधि व लाभ आदि । मू०।।।)

१७—परमार्थ मणिमाला—पाँच भाग

(ले० स्वामी भजनानन्द जी महाराज)

गागर में सागर के समान प्रत्येक भाग में १०८ उपदेशों की एक एक माला है । पाँचों भागों का मू० १।)

१८—परमार्थ बिन्दु (ले० आनन्द)

'बिन्दु में सिन्धु' के समान आध्यात्मिक विचारों को छोटे-छोटे घरेलू दृष्टान्तों द्वारा समझाया गया है । मू० ।=)

१९—सुख-दर्शन

(ले० स्वामी प्रकाशानन्द जी महाराज)

वेदान्त के उच्च अध्यात्म भावों को छोटे-छोटे रोचक कथानकों द्वारा समझाया गया है । मू० १।)

२०—शान्ति-दर्शन

सुख की खोज में भटकते निराश जनों को शान्ति-पथ की ओर ले जाने वालीअनुपम पुस्तक······ मूल्य १।।)

२१—योग रसायन

(ले० स्वामी सनातनदेव जी)

योग के सम्बन्ध का अनुपम ग्रन्थ है मू० १)

पुस्तकें मिलने का पता:—प्रकाशन-विभाग, पो० मुमुक्षु आश्रम, शाहजहाँपुर ।

नोटः—मूल्य व डाक खर्च अग्रिम भेजना आवश्यकीय है ।

संग्रह के योग्य, स्वाध्याय का अनुपम साहित्य

ब्रह्मचर्याङ्क (कई चित्रों सहित) मूल्य २॥)

इसमें ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में महान विभूतियों की अनुभूत विचार धारा है। इस विषय में आज तक जितनी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, उन सभी से यह संग्रह श्रेष्ठ है क्योंकि इसमें भारत के प्रमुख संत महात्माओं और विद्वानों के लेख हैं विशेषतः विद्यार्थियों तथा युवक-युवतियों के लिये तो यह अनुपम है। विवाह आदि माङ्गलिक अवसरों पर इसे अपने प्रियजनों को उपहार में दीजिये।

कर्त्तव्यांक (अनेक चित्रों सहित) मूल्य ३)

इस विशेषांक की उपयोगिता के सम्बन्ध में जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। कर्त्तव्य की जैसी विशद व्याख्या इसमें आपको मिलेगी वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। भारत के विख्यात संत महात्मा एवं विद्वानों के गवेषणापूर्ण लेखों से आप मुग्ध होजायँगे।

दुःखनिवारण अंक (अनेक चित्रों सहित) मूल्य ३॥)

दैहिक-दैविक और भौतिक तापों से सतप्त मानव को शान्ति का सुखद-सन्देश देने के लिये यह विशेषांक तो बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है। अपने दुःखों को दूर भगाने के लिये आप इसे आदि से अंत तक अवश्य पढ़िये। कृपालु संतों और विद्वानों की सामयिक और मनोवैज्ञानिक खोज आपको मुग्ध कर देगी।

चरित्र निर्माण अंक (अनेक चित्रों सहित) मूल्य ३॥)

मानव जीवन में सार वस्तु यदि कुछ है तो वह 'चरित्र' ही है। हमारे चरित्र की रक्षा कैसे हो सकती है? पतनोन्मुखी राष्ट्र की आहत आत्मा, अनैतिक शृंखला से कैसे मुक्त हो सकती है? इत्यादि अनेक सामयिक, सामाजिक और आध्यात्मिक समस्याओं का समाधान इस विशेषांक में देखिये। भारत के सुविख्यात संत-महात्मा, मंडलेश्वर चोटी के विद्वान् और राजनेताओं की परिमार्जित विचारधारा इस विशेषांक में देखकर आप मुग्ध होजायँगे। गाथाएँ और कविताएँ तो आपको मुग्ध कर लेंगी। स्वयं पढ़िए और प्रिय जनों को पढ़ाइए

इन विशेषांकों की थोड़ी प्रतियाँ हमारे स्टाक में शेष बची हैं। स्वाध्याय प्रेमी मंगाने में शीघ्रता करें क्योंकि समाप्त होने पर इनका पुनर्मुद्रण असम्भव है। प्रत्येक वर्ष के पूरे वर्ष की सजिल्द फाइल (विशेषांक सहित) का मूल्य केवल ... ६) है।

विनम्र निवेदन

'परमार्थ' के पंचम वर्ष का यह अन्तिम अङ्क आपके कर कमलों में है। इसके पश्चात हमारी इस वर्ष की सेवा के साथ-साथ आपका इस वर्ष का शुल्क भी समाप्त होगया। 'परमार्थ' के द्वारा सरल और सुबोध भाषा में ऊँचे आध्यात्मिक विचारों को, आपकी सेवा में पहुंचाने का हमारा प्रयास रहा है।

अपनी पाँच वर्षों की सेवा समाप्त कर आपका 'परमार्थ' जनवरी मास में, छठे वर्ष में प्रवेश कर रहा है। दुःख और अशान्ति से छटपटाते हुए मानव को सुख और शान्ति का अमर सन्देश देने के लिये इस वर्ष 'सुख-शान्ति अङ्क' प्रकाशित होने का निश्चय हुआ है। इस विशेषांक में भारत के तपःपूत एवं वन्दनीय सन्तों की कल्याणमयी लेखनी द्वारा गूढ़ातिगूढ़ तत्त्वों का अनुभवपूर्ण विवेचन सरल भाषा में आपको मिलेगा। भारत के सुविख्यात विद्वानों, महापुरुषों तथा राजनेताओं के सारगर्भित लेखों से आपको ऐसा सन्देश मिलेगा, जिनकी प्रेरणा से आपके दुखी और अशान्त जीवन में सुख और शान्ति की मन्दाकिनी प्रवाहित होने लगेगी। सारांश यह कि राष्ट्र के उत्थान में 'सुख-शान्ति अङ्क' का एक महत्त्वपूर्ण स्थान रहेगा।

अपने विशेषांक को सुरक्षित कराने के लिये प्रेमी ग्राहकों के मनीआर्डर इस वार दो मास पहिले से ही आने आरम्भ होगये हैं। आप भी अपनी प्रति सुरक्षित कराने के लिये, शीघ्र ही ५॥) का अग्रिम मनीआर्डर भेज दीजिये। यदि आपका मनीआर्डर पहिले आजायगा तो नियमानुसार वी० पी० के डाक-व्यय से आप सर्वथा मुक्त रहेंगे क्योंकि वी० पी० का पोस्टेज व्यय ग्राहक को ही देना होता है।

पत्र व्यवहार अथवा मनीआर्डर कूपन में अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिख दें। यदि नम्बर याद न हो तो 'नवीन' अथवा 'पुराने ग्राहक' लिखना न भूलें, इससे कार्यालय को सुविधा रहती है। अपना नाम और पता साफ-साफ लिखने की कृपा करें।

आप स्वयं तो इसके ग्राहक बनें ही साथ ही अपने सम्बन्धियों, प्रेमियों और मित्रों को भी 'परमार्थ' का ग्राहक बनाकर इसके प्रचार और प्रसार में अपना क्रियात्मक सहयोग प्रदान करें। अधिक नहीं तो कम से कम एक नवीन ग्राहक बना कर इस आध्यात्मिक ज्ञान-यज्ञ द्वारा पुण्य-संचय कीजिये। आपके प्रेममय सहयोग में 'परमार्थ' की सफलता सन्निहित है। एक नवीन ग्राहक बना देना आप के लिये कोई बड़ी बात भी नहीं है।

अन्त में हम अपने उन सुहृद बन्धुओं के आभारी हैं जिन्होंने निष्काम सेवा-भावना से 'परमार्थ' के ग्राहक बनाये हैं। उनके इस सहयोग का क्या प्रत्युपहार दिया जा सकता है? 'परमार्थ' के कार्य में जो सच्चे हृदय से सहायता करते हैं वे तो भगवत्कृपा के पात्र हैं ही। इस वार भी आशा है कि वे सभी प्रेमी बन्धु पूर्ववत् लगन पूर्वक, विशेष चेष्टा करके पुराने ग्राहकों से शुल्क शीघ्र भिजवायेंगे तथा नवीन ग्राहक बनाने का सतत् प्रयत्न करते रहेंगे:—

—*निवेदक*

सम्पादक

'परमार्थ' के संरक्षक अर्थात् आजीवन सदस्यों की नामावली

१—११००) श्री सेठ मटरूमल जी बाजोरिया, बम्बई।
२—११००) श्री बच्चूभाई कृष्णदास, बम्बई।
३—५००) श्री भागीरथमल रामस्वरूप, देहली।
४—५००) श्री साहू रामस्वरूप जी, बरेली।
५—२५१) श्री ठा० विजयपालसिंह जी, बिजनौर।
६—१०१) श्री रासबिहारी लाल जी वकील, बरेली।
७—१०१) श्री लाला शान्तीस्वरूप जी खण्डसारी, बरेली।
८—१०१) श्री पं० निरञ्जनलाल जी भगानिया, एडवोकेट, झरिया।
९—१०१) श्री सेठ हनुमानप्रसाद जी डालमिया, बम्बई।
१०—१०१) श्री कैलाशचन्द्र जी अग्रवाल, बरेली।
११—१०१) श्री मदनमोहन नाथ जी कुञ्जरू, कानपुर।
१२—१०१) श्री रामगोपाल जी मित्तल, फिरोजाबाद।
१३—१०१) श्री रामचन्द्र जी कैलाशचन्द्र जी, आगरा।
१४—१०१) श्री वंशीधर नन्दलाल जी, हाथरस।
१५—१०१) श्री रामदास जी अग्रवाल, बड़ागाँव।
१६—१०१) श्रीमती रानीसाहिबा (लखना) भगवती देवी, इलाहाबाद।
१७—१०१) श्रीमती राजकुमारी राधाकृष्ण जी रुइया, बम्बई।
१८—१०१) श्री रामस्वरूप जी खण्डेलवाल, बरेली।
१९—१०१) श्री रघुवीरसिंह जी अग्रवाल, नजीबाबाद।
२०—१०१) श्रीमती गुणवती देवी, न्यू देहली।
२१—२०१) बाई जी गोविन्दराम जी, फूटा कुआँ, मेरठ।

उपरोक्त महानुभावों के आर्थिक सहयोग से 'परमार्थ' को पर्याप्त बल मिला है उन्हें हार्दिक धन्यवाद देते हुए अन्य उदार प्रेमियों से विनम्र निवेदन है कि वे इस पुनीत ज्ञान-यज्ञ में अपना सहयोग देने के लिये 'परमार्थ' के संरक्षक बन कर पुण्य-संचय करें। जनता-जनार्दन की इस आध्यात्मिक सेवा के निमित्त 'परमार्थ' को पूर्ण स्वावलम्बी बना देना अत्यन्त आवश्यक है। संरक्षक अथवा आजीवन-सदस्य बनने के लिये उदारमना प्रेमियों को १०१) या इससे अधिक भेजना चाहिये।

मुद्रक तथा प्रकाशक:—अध्यक्ष परमार्थ प्रेस, पो० मुमुक्षु आश्रम, (शाहजहाँपुर)